श्री सरावगी चेरिटेबल फण्ड का यह आर्थिक अनुवाद स्वर्गीय स्वनामधन्य श्रावक श्री महादेवलालजी सरावगी एवं उनके सुयोग्य दिवगत पुत्र पन्नालालजी सरावगी एम० पी० की स्मृति में प्राप्त हुआ है। स्व० महादेवलालजी सरावगी तेरापंथ-सम्प्रदाय के एक अग्रगण्य श्रावक थे और कलकत्ता के प्रसिद्ध अधिष्ठान महादेव रामकुमार से सम्बन्धित थे। स्व० पन्नालालजी सरावगी एम० पी० महासभा एव साहित्य प्रकाशन समिति के बडे उत्साही एवं प्राणवान् सदस्य रहे। आगम-प्रकाशन योजना में उनकी आरंभ से ही अत्यन्त अभिरुचि रही।

साहित्य प्रकाशन समिति का गठन ता० १०-६-६२ के दिन हुआ। महासभा के सभापति (पदेन)—श्री जव्वरमलजी भण्डारी, श्री पन्नालालजी सरावगी, श्री प्रभुदयालजी डाबडीवाला, श्री सुगनचन्दजी आँचलिया, श्री हनूतमलजी सुराना, श्री जयचन्दलालजी दफ्तरी, श्री मोहनलालजी बाँठिया, श्री जयचन्दलालजी कोठारी, श्री सन्तोषचन्दजी बरड़िया, श्री मानिकचन्दजी सेठिया एवं सयोजक इसके सदस्य चुने गये। खेद है कि श्री सुगनचन्दजी आँचलिया एवं श्री पन्नालालजी सरावगी आज हमारे बीच नहीं रहे।

सभी सदस्यों का अपने-अपने ढग से प्रकाशन-कार्य में सहयोग रहा, उसके लिए मैं सबके प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में जिन-जिन ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है, उनके लेखक, सम्पादक एवं प्रकाशकों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आशा है दशवैकालिक का यह संस्करण पाठकों की दृष्टि में समुचित स्थान प्राप्त करेगा।

साहित्य-प्रकाशन-समिति
(जै० श्वे० तेरापथी महासभा)
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१
७ जनवरी, १९६४

श्रीचन्द रामपुरिया
संयोजक

निग्गंथं पावयणं

दसवेआलियं

(समूलत्थ टिप्पणं)

बीओ भागो

समर्पण

॥१॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग मे प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से॥

॥२॥

विलोडियं आगम दुद्ध मेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छं।
सज्झाय सज्झाण रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,
-जयाचार्य को विमल भाव से॥

॥३॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्वं॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल सघ मे मेरे मन मे।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन मे,
कालुगणी को विमल भाव से॥

विनयावनत:

आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथो से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमो का शोध-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगे। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य मे संलग्न हो गया। अत मेरे इस अन्तस्तोष मे मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति मे सविभागी रहे हैं। सक्षेप मे वह संविभाग इस प्रकार है :

विवेचक और सम्पादक	: :	मुनि नथमल
विशिष्ट सहयोगी	: :	मुनि मीठालाल
	: :	मुनि दुलहराज
पाठ-संपादन	: :	मुनि सुदर्शन
	: :	मुनि मधुकर
	: :	मुनि हीरालाल
संस्कृत छाया	: :	मुनि सुमेर
शब्द-सूची	: :	मुनि श्रीचन्द्र
	: :	साध्वी राजीमती
	: :	साध्वी कमलश्री
प्रतिलिपि	: :	मुनि सुमन
	: :	मुनि हंसराज
	: :	मुनि बसत

सविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

आचार्य तुलसी

भूमिका

आलोच्य विषय

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

ज्ञान पाँच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल। इनमें चार ज्ञान स्थाप्य हैं—वे केवल स्वार्थ है। परार्थज्ञान केवल एक है, वह है श्रुत। उसी के माध्यम से सारा विचार-विनिमय और प्रतिपादन होता है।[1] व्यापक अर्थ में श्रुत का प्रयोग शब्दात्मक और संकेतात्मक—दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों के अर्थ में होता है। अतएव उसके चौदह विकल्प बनते हैं[2]—

(१) अक्षर-श्रुत।
(२) अनक्षर-श्रुत।
(३) संज्ञी-श्रुत।
(४) असंज्ञी-श्रुत।
(५) सम्यक्-श्रुत।
(६) मिथ्या-श्रुत।
(७) सादि-श्रुत।
(८) अनादि-श्रुत।
(९) सपर्यवसित-श्रुत।
(१०) अपर्यवसित-श्रुत।
(११) गमिक-श्रुत।
(१२) अगमिक-श्रुत।
(१३) अंगप्रविष्ट-श्रुत।
(१४) अनंगप्रविष्ट-श्रुत।

संक्षेप में 'श्रुत' का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में होता है। वैदिक शास्त्रों को जैसे 'वेद' और बौद्ध शास्त्रों को जैसे 'पिटक' कहा जाता है, वैसे ही जैन-शास्त्रों को 'आगम' कहा जाता है। आगम के कर्त्ता विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। इसलिए शेष साहित्य से उनका वर्गीकरण भिन्न होता है।

कालक्रम के अनुसार आगमों का पहला वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का निरूपण है। दूसरा वर्गीकरण अनुयोगद्वार में मिलता है। वहाँ केवल द्वादशाङ्गी का नामोल्लेख मात्र है। तीसरा वर्गीकरण नन्दी का है, वह विस्तृत है। जान पड़ता है कि समवायांग और अनुयोगद्वार का वर्गीकरण प्रासङ्गिक है। नन्दी का वर्गीकरण आगम की सारी शाखाओं का निरूपण करने के ध्येय से किया हुआ है। वह इस प्रकार है—

१—अनुयोगद्वार सूत्र २ तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिस्संति णो समुद्दिस्संति णो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो'''अणुओगो य पवत्तइ।

२—नन्दी सूत्र ४[illegible] से किं तं सुयनाणपरोक्खं ''चोद्दसविहं पण्णत्तं तं जहा अक्खरसुयं' 'अणंगपविट्ठं।

- आगम
  - अंगप्रविष्ट
    - आचार
    - सूत्रकृत्
    - स्थान
    - समवाय
    - व्याख्याप्रज्ञप्ति
    - ज्ञाताधर्मकथा
    - उपाशकदशा
    - अन्तकृत्दशा
    - अनुत्तरोपपातिकदशा
    - प्रश्नव्याकरण
    - विपाक
    - दृष्टिवाद
  - अंगबाह्य
    - आवश्यक
      - सामायिक
      - चतुर्विंशतिस्तव
      - वन्दना
      - प्रतिक्रमण
      - कायोत्सर्ग
      - प्रत्याख्यान
    - आवश्यक व्यतिरिक्त
      - कालिक
        - उत्तराध्ययन
        - दशाश्रुतस्कध
        - कल्प
        - व्यवहार
        - निशीथ
        - महानिशीथ
        - ऋषिभाषित
        - जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
        - द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
        - चन्द्रप्रज्ञप्ति
        - क्षुल्लिका विमान-प्रविभक्ति
        - महल्लिका विमान-प्रविभक्ति
        - अङ्गचूलिका
        - वर्गचूलिका
        - विवाहचूलिका
        - अरुणोपपात
        - वरुणोपपात
        - गरुलोपपात
        - धरणोपपात
        - वेसमणोपपात
        - वेलन्धरोपपात
        - देविन्दोपपात
        - उत्थानश्रुत
        - समुत्थानश्रुत
        - नागपरियापनिका
        - निरयावलिका
        - कल्पिका
        - कल्पावतसिका
        - पुष्पिका
        - पुष्पचूलिका
        - वृष्णिदशा
      - उत्कालिक
        - दशवैकालिक
        - कल्पिकाकल्पिक
        - चुल्लकल्पश्रुत
        - महाकल्पश्रुत
        - औपपातिक
        - राजप्रश्नीय
        - जीवाभिगम
        - प्रज्ञापना
        - महाप्रज्ञापना
        - प्रमादाप्रमाद
        - नन्दी
        - अनुयोगद्वार
        - देवेन्द्रस्तव
        - तन्दुलवैचारिक
        - चन्द्रकवेध्यक
        - सूर्यप्रज्ञप्ति
        - पौरुषीमण्डल
        - मण्डलप्रवेश
        - विद्याचरणविनिश्चय
        - गणिविद्या
        - ध्यानविभक्ति
        - मरणविभक्ति
        - आत्मविशोधि
        - वीतरागश्रुत
        - सलेखनाश्रुत
        - विहारकल्प
        - चरणविधि
        - आतुरप्रत्याख्यान
        - महाप्रत्याख्यान

परिकर्म[1]

(१) सिद्ध श्रेणिका	(२) मनुष्य श्रेणिका	(३) पृष्ट श्रेणिका	(४) अवगाढ श्रेणिका	(५) उपसंपत् श्रेणिका
मातृका पद	मातृका पद	पृथक् आकाश पद	पृथक् आकाश पद	पृथक् आकाश पद
एकार्थिक पद	एकार्थिक पद	केतुभूत	केतुभूत	केतुभूत
अर्थ पद	अर्थ पद	राशिवद्ध	राशिवद्ध	राशिवद्ध
पृथक् आकाश पद	पृथक् आकाश पद	एकगुण	एकगुण	एकगुण
केतुभूत	केतुभूत	द्विगुण	द्विगुण	द्विगुण
राशिवद्ध	राशिवद्ध	त्रिगुण	त्रिगुण	त्रिगुण
एकगुण	एकगुण	केतुभूत	केतुभूत	केतुभूत
द्विगुण	द्विगुण	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह	प्रतिग्रह
त्रिगुण	त्रिगुण	ससार-प्रतिग्रह	ससार-प्रतिग्रह	ससार-प्रतिग्रह
केतुभूत	केतुभूत	नन्दावर्त	नन्दावर्त	नन्दावर्त
प्रतिग्रह	प्रतिग्रह	पृष्टावर्त	अवगाढावर्त	उपसपदावर्त
ससार-प्रतिग्रह	ससार-प्रतिग्रह			
नन्दावर्त	नन्दावर्त			
सिद्धावर्त	मनुष्यावर्त			

१—नंदी सूत्र ९०-९७

दृष्टिवाद

(६) विप्रहाण श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- ससार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- विप्रहाणावर्त

(७) च्युताच्युत श्रेणिका

- पृथक् आकाश पद
- केतुभूत
- राशिबद्ध
- एकगुण
- द्विगुण
- त्रिगुण
- केतुभूत
- प्रतिग्रह
- ससार-प्रतिग्रह
- नन्दावर्त
- च्युताच्युतावर्त

सूत्र[1]

- ऋजुसूत्र
- परिणतापरिणत
- बहुभगिक
- विजय चरित
- अनन्तर
- परम्पर
- समान
- सयूथ
- सभिन्न
- यथात्याग
- सौवस्तिकघट
- नन्दावर्त
- बहुल
- पृष्टापृष्ट
- यावर्त
- एवभूत
- द्व यावर्त
- वर्तमान पद
- समभिरूढ़
- सर्वतोभद्र
- पन्यास
- दुष्प्रतिग्रह

पूर्वगत[2]

- उत्पाद
- अग्रायणीय
- वीर्य
- अस्तिनास्तिप्रवाद
- ज्ञानप्रवाद
- सत्यप्रवाद
- आत्मप्रवाद
- कर्मप्रवाद
- प्रत्याख्यान
- विद्यानुप्रवाद
- अवन्ध्य
- प्राणायु
- क्रियाविशाल
- लोकविन्दुसार

अनुयोग[3]

मूलप्रथमानुयोग

गंडिकानुयोग[4]

- कुलकर गडिका
- तीर्थंकर गडिका
- चक्रवर्ती गडिका
- दशार्ह गडिका
- बलदेव गडिका
- वासुदेव गडिका
- गणधर गडिका
- भद्रबाहु गडिका
- तप कर्म गडिका
- हरिवश गडिका
- अवसर्पिणी गडिका
- उत्सर्पिणी गडिका
- चित्रान्तर गडिका

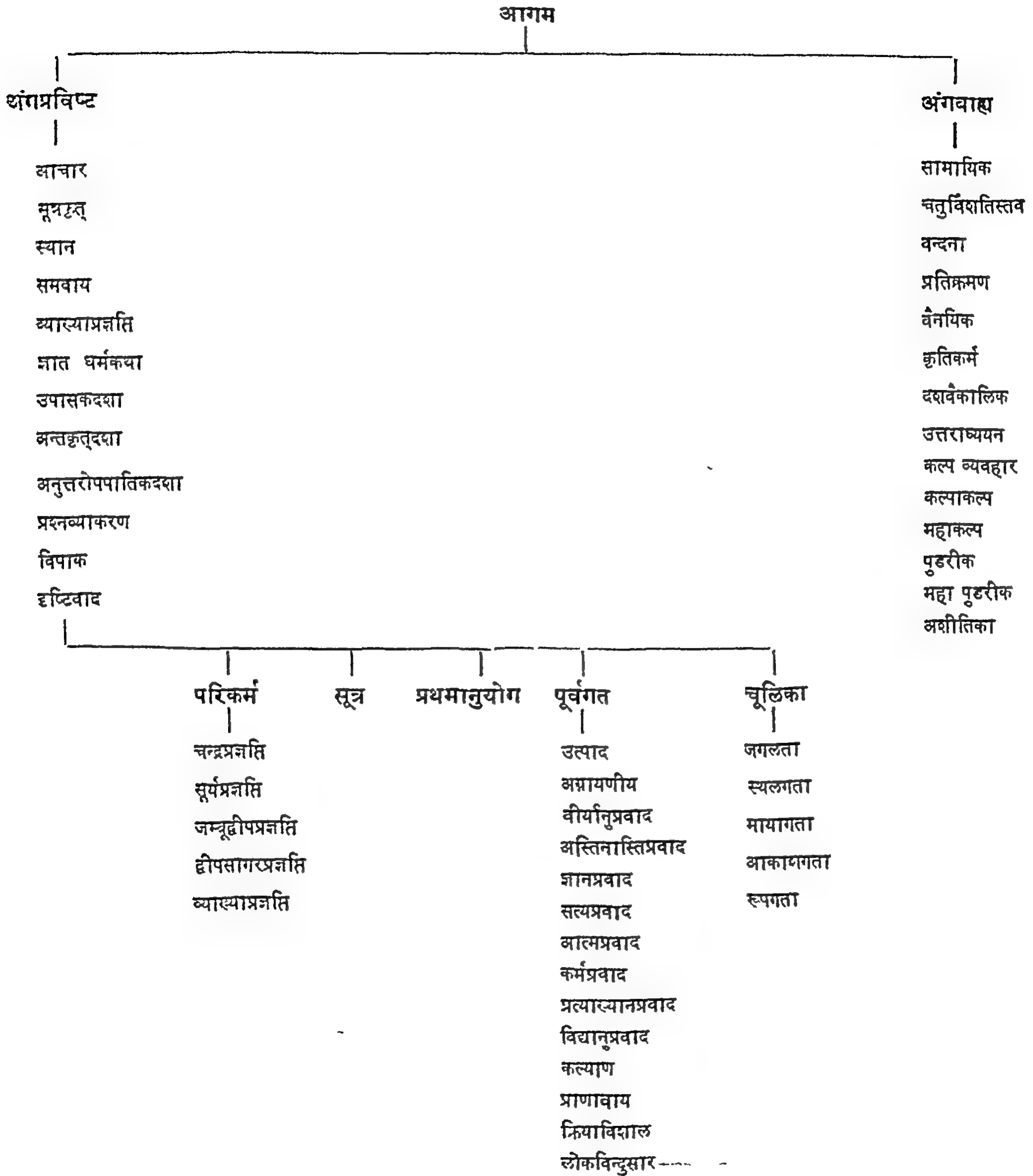
चूलि[5]

- उत्पादपूर्व — चार चूलिकायें
- अग्रायणीय — बारह चूलिकायें
- वीर्य — आठ चूलिकायें
- अस्तिनास्तिप्रवाद — दस चूलिकायें

१—नंदी सूत्र ९९। २—नदी सूत्र १०१। ३—नदी सूत्र ११६। ४—नदी सूत्र ११८। ५—चार पूर्वों के चूलिकायें है, शेप पूर्वों के चूलिकायें नहीं है। नंदी सूत्र ११९।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण

दिगम्बर परम्परा के अनुसार आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है[१] :—



१—तत्त्वार्थ सूत्र १-२० (श्रुतसागरीय वृत्ति)।

आगम-विच्छेद का क्रम

आगमों के ये वर्गीकरण प्राचीन हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आज कोई भी आगम उपलब्ध नही है। वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के पश्चात् अग साहित्य लुप्त हो गया। उसका क्रम इस प्रकार है[१]—

		तिलोयपण्णत्ती	धवला (वेदनाखंड)	जयधवला	आदि पुराण	श्रुतावतार	काल
केवली	१.	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	गौतम	३ केवली
	२.	सुधर्मा	लोहार्य	सुधर्मा	सुधर्मा	सुधर्मा	६२ वर्ष
	३.	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	जम्बू	
श्रुत केवली	१.	नन्दि	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णु	४ श्रुत केवली
	२.	नन्दिमित्र	नन्दि	नन्दिमित्र	नन्दिमित्र	नन्दि	१०० वर्ष
	३.	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजित	
	४.	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	गोवर्द्धन	
	५.	भद्रवाहु	भद्रवाहु	भद्रवाहु	भद्रवाहु	भद्रवाहु	
दशपूर्वधारी	१.	विशाख	विशाख	विशाखाचार्य	विशाख	विशाखदत्त	११ दशपूर्वधारी
	२.	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	प्रोष्ठिल	१८३ वर्ष
	३.	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय	
	४.	जय	जय	जयसेन	जय	जय	
	५.	नाग	नाग	नागसेन	नाग	नाग	
	६.	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	
	७.	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिसेन	धृतिषेण	
	८.	विजय	विजय	विजय	विजय	विजयसेन	
	९	बुद्धिल	बुद्धिल	बुद्धिल	बुद्धिल	बुद्धिमान्	
	१०.	गंगदेव	गगदेव	गगदेव	गंगदेव	गग	
	११.	सुधर्म	धर्मसेन	सुधर्म	सुधर्म	धर्म	
एकादशांगधारी	१.	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	नक्षत्र	५ एकादशांगधारी
	२.	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	जयपाल	२२० वर्ष
	३.	पांडु	पाडु	पांडु	पाडु	पांडु	
	४.	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	ध्रुवसेन	द्रुमसेन	
	५.	कसार्य	कस	कसाचार्य	कसार्य	कस	
आचारांगधारी	१.	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	सुभद्र	४ आचारांगधारी
	२.	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	यशोभद्र	अभयभद्र	११८ / ६८३ वर्ष
	३.	यशोवाहु	यशोवाहु	यशोवाहु	भद्रवाहु	जयवाहु	
	४.	लोहार्य	लोहाचार्य	लोहार्य	लोहार्य	लोहार्य	

दिगम्बर जैन कहते हैं कि अङ्ग-गत अर्द्धमागधी भाषा का वह मूल साहित्य प्रायः सर्व लुप्त हो गया। दृष्टिवाद अङ्ग के पूर्वगत-ग्रन्थ का कुछ अश ईस्वी प्रारभिक शताब्दी में श्रीधर सेनाचार्य को ज्ञात था। उन्होंने देखा कि यदि वह शेषांश भी लिपिवद्ध नहीं किया जायगा

१—जय धवला—प्रस्तावना पृष्ठ ४९।

तो जिनवाणी का सर्वथा अभाव हो जायगा। फलत उन्होंने श्री पुष्पदन्त और श्री भूतवलि सदश मेधावी ऋषियों को बुलाकर गिरिनार की चन्द्रगुफा में उसे लिपिबद्ध करा दिया। उन दोनों ऋषिवरों ने उस लिपिबद्ध श्रुतज्ञान को ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन सर्व संघ के समक्ष उपस्थित किया था। वह पवित्र दिन 'श्रुत पचमी' पर्व के नाम से प्रसिद्ध है और साहित्योद्धार का प्रेरक कारण वन रहा है[1]।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी आगमों का विच्छेद और ह्रास हुआ है फिर भी कुछ आगम आज भी उपलब्ध हैं। उनके विच्छेद और ह्रास का क्रम इस प्रकार है—

केवली :—

(१) सुधर्मा

(२) जम्बू

१४पूर्वी :—

(१) प्रभव

(२) शय्यभव

(३) यशोभद्र

(४) सभूत विजय

(५) भद्रवाहु (वीर निर्वाण—१५२-१७०)

(६) स्थूलभद्र[2] (वीर निर्वाण १७०-२१५) } सूत्रत १४ पूर्वी / अर्थत दस पूर्वी

दसपूर्वी:—

(१) महागिरी

(२) सुहस्ती

(३) गुण सुन्दर

(४) श्यामाचार्य

(५) स्कदिलाचार्य

(६) रेवती मित्र

(७) श्रीधर्म

(८) भद्रगुप्त

(९) श्रीगुप्त

(१०) विजय सूरि

तोसलिपुत्र आचार्य के शिष्य श्री आर्य रक्षित नौ पूर्व तथा दसवें पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे।[3] आर्य रक्षित के वशज आर्य नदिल (वि० ५९७)[4] भी ९॥ पूर्वी थे ऐसा उल्लेख मिलता है।[5] आर्य रक्षित के शिष्य दुर्वलिका पुष्यमित्र नौ पूर्वी थे।

---

१. धवला टीका भा० १, भूमिका पृ० १३-३२।

२. चौदह पूर्वो की तरह १३, १२, ११, पूर्वी की परम्परा रही हो—ऐसा इतिहास नहीं मिलता। सम्भव है ये चारों पूर्व एक साथ ही पढ़ाये जाते रहे हों। आचार्य द्रोण ने ओघनिर्युक्ति की टीका (पत्र ३) में यह उल्लेख किया है कि १४ पूर्वी के बाद १० पूर्वी ही होते हैं।

३. प्रभावक चरित्र—'आर्य रक्षित' श्लोक ८३-८४।

४. प्रबन्ध पर्यालोचन पृ० २०।

५. प्रभावक चरित्र—'आर्यनन्दिल'।

दस पूर्वी या ६-१० पूर्वी के वाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का एक पूर्वी के रूप में उल्लेख हुआ है। प्रश्न होता है कि क्या ६, ८, ७, ६ आदि पूर्वी भी हुए है या नही ? इस प्रश्न का ममुचित समाधान उल्लिखित नही मिलता। परन्तु यत्र-तत्र के विकीर्ण उल्लेखों से यह सभाव्य है कि ८, ७, ६ आदि पूर्वो के धारक अवश्य रहे हैं। जीतकल्प सूत्र की वृत्ति में ऐसा उल्लेख है कि आचार प्रकल्प से आठ पूर्व तक के धारक को श्रुत-व्यवहारी कहा है। इससे समव है कि आठ पूर्व तक के धारक अवश्य थे। इसके अतिरिक्त कई चूर्णियो के धारक पूर्व धर थे।[1]

"आर्य रक्षित, नन्दिलक्ष्मण, नाग हस्ति, रेवति नक्षत्र, सिंह सूरि—ये साढे नौ और उससे अल्प-अल्प पूर्व के ज्ञान वाले थे। स्कन्दिलाचार्य, श्री हिमवन्त क्षमाश्रमण, नागार्जुन सूरि—ये सभी समकालीन पूर्व वित् थे। श्री गोविन्द वाचक, सयमविष्णु, भूतदिन्न, लोहित्य सूरि, दुष्यगणि और देव वाचक—ये ११ अग तथा १ पूर्व से अधिक के ज्ञाता थे।[2]"

भगवती (२०.८) मे यह उल्लेख है कि तीर्थङ्कर सुविधिनाथ से तीर्थङ्कर शान्तिनाथ तक के आठ तीर्थङ्करो के सात अन्तरों में कालिक सूत्र का व्यवच्छेद हुआ। शेष तीर्थङ्करो के नही। दृष्टिवाद का विच्छेद महावीर से पूर्व-तीर्थङ्करों के समय में होता रहा है।

इसी प्रकरण में यह भी कहा गया है कि महावीर के निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष में पूर्व गत का विच्छेद हुआ और एक पूर्व को पूरा जानने वाला कोई न बचा।

यह भी माना जाता है कि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्त्ती आचार्यों में पूर्व-ज्ञान का कुछ अश अवश्य था। इसकी पुष्टि स्थान-स्थान पर उल्लिखित पूर्वों की पक्तियो तथा विषय-निरूपण से होती है।[3]

अर्द्ध नाराच सहनन और दस पूर्वों का ज्ञान वज्र स्वामी के साथ २ विच्छिन्न हो गया[4]।

प्रथम सहनन—वज्र ऋषभनाराच, प्रथम सस्थान—समचतुरस और अन्तर्-मुहूर्त्त में चौदह पूर्वों को सीखने का सामर्थ्य—ये तीनों स्थूलिभद्र के साथ-साथ व्युच्छिन्न हो गए।[5]

वज्र स्वामी के बाद तथा शीलाक सूरि से पूर्व आचारांग के 'महा परिज्ञा' अध्ययन का ह्रास हुआ। यह भी कहा जाता है कि इसी अध्ययन के आधार पर दूसरे श्रुत-स्कध की रचना हुई।

स्थानाग में वर्णित प्रश्न व्याकरण का स्वरूप उपलब्ध प्रश्न व्याकरण से अत्यन्त भिन्न है। उस मूल स्वरूप का कब, कैसे ह्रास हुआ, यह अज्ञात है।

इसी प्रकार ज्ञात धर्मकथा की अनेक उपाख्यायिकाओं का सर्वथा नाश हुआ है।

इस प्रकार द्वादशांगी के ह्रास और विच्छेद का यह सक्षिप्त चित्र है।

उपलब्ध आगम

आगमो की सख्या के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। उनमें तीन मुख्य है—

(१) ८४ आगम

(२) ४५ आगम

(३) ३२ आगम

---

१. सिद्ध चक्र वर्ष ४ अक १२ पृ० २८४।

२. जैन सत्य प्रकाश (वर्ष १, अंक १, पृ० १५)।

३. आव० नि० पत्र ४६६।

४. ....तम्मि य भयवं ते अद्धनारायं दस पुव्वा य वोच्छिन्ना। (आव० नि०......द्वितीय भाग पत्र ३६६)

५. आव० नि० द्वितीय भाग पत्र ३६५।

८४ आगम

श्रीमज्जयाचार्य के अनुसार ८४ आगम इस प्रकार है

उत्कालिक :—

(१) दशवैकालिक
(२) कल्पिकाकल्पिक
(३) क्षुल्लक कल्प
(४) महाकल्प
(५) औपपातिक
(६) राजप्रश्नीय
(७) जीवाभिगम
(८) प्रज्ञापना
(९) महाप्रज्ञापना
(१०) प्रमादाप्रमाद
(११) नदी
(१२) अनुयोगद्वार
(१३) देवेन्द्रस्तव
(१४) तन्दुल वैचारिक
(१५) चन्द्रवेध्यक
(१६) सूर्यप्रज्ञप्ति
(१७) पोरसीमडल
(१८) मडलप्रवेश
(१९) विद्याचरण विनिश्चय
(२०) गणिविद्या
(२१) ध्यान विभक्ति
(२२) मरण विभक्ति
(२३) आत्म विशोधि
(२४) वीतरागश्रुत
(२५) सलेखनाश्रुत
(२६) विहारकल्प
(२७) चरणविधि
(२८) आतुरप्रत्याख्यान
(२९) महाप्रत्याख्यान

कालिक :—

(१) उत्तराध्ययन
(२) दशाश्रुतस्कंध
(३) बृहत्कल्प
(४) व्यवहार
(५) निशीथ
) महानिशीथ
(७) ऋषिभाषित
(८) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
(९) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
(१०) चन्द्रप्रज्ञप्ति
(११) क्षुल्लिकाविमान विभक्ति
(१२) महतीविमान विभक्ति
(१३) अग चूलिका
(१४) वग चूलिका
(१५) विवाह चूलिका
(१५) अरुणोपपात
(१७) वरुणोपपात
(१८) गरुडोपपात
(१९) धरणोपपात
(२०) वैश्रमणोपपात
(२१) वेलन्धरोपपात
(२२) देवेन्द्रोपपात
(२३) उत्थानश्रुत
(५४) समुत्थानश्रुत
(२५) नागपरितापनिका
(२६) कल्पिका
(२७) कल्पवतसिका
(२८) पुष्पिका
(२९) पुष्प चूलिका
(३०) वृष्णी दशा

अंग :—

(१) आचार
(२) सूत्रकृत्
(३) स्थान
(४) समवाय

(५) भगवती
(६) ज्ञात धर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृत्‌दशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्न व्याकरण
(११) विपाक
(१२) दृष्टिवाद
(२९+३०+१२=७१)
(७२) आवश्यक[1]
(७३) अन्तकृत्‌दशा (अन्यवाचना का)
(७४) प्रश्नव्याकरणदशा
(७५) अनुत्तरोपपातिकदशा (अन्यवाचना का)
(७६) बन्धदशा
(७७) द्विगृद्धिदशा
(७८) दीर्घ दशा[2]
(७९) स्वप्न भावना
(८०) चारण भावना
(८१) तेजोनिसर्ग
(८२) आशीविष भावना
(८३) दृष्टि विष भावना[3]
(८४) ५५ अध्ययन कल्याणफल विपाक
५५ अध्ययन पापफल विपाक

४५ आगम[4]

अंग :—
(१) आचार
(२) सूत्र कृत्
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञात धर्म-कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृत्‌दशा
(९) अनुत्तरोपपातिकदशा
(१०) प्रश्नव्याकरण
(११) क्पाक

उपाग :—
(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्य प्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(७) चन्द्र प्रज्ञप्ति
(८) निरयावली
(९) कल्पावतसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णिदशा

प्रकीर्णक :—
(१) चतु शरण
(२) चन्द्रवेध्यक
(३) आतुरप्रत्याख्यान
(४) महाप्रत्याख्यान

---

१. उपरोक्त ७२ नाम नन्दी सूत्र में उपलब्ध होते हैं।
२. ये छह (७३ से ७८) स्थानांग (सूत्र २३४७) में हैं।
३. ये पाँच (७९ से ८३) व्यवहार में है।
४. समाचारी शतक : आगमस्थापनाधिकार (३८ वां)—समय सुंदरगणि विरचित।

(५) भक्तप्रत्याख्यान
(६) तन्दुल वैचालिक (वैचारिक)
(७) गणिविद्या
(८) मरणसमाधि
(९) देवेन्द्रस्तव
(१०) संस्तारक

छेद :—
(१) निशीथ
(२) महानिशीथ
(३) व्यवहार
(४) बृहत्कल्प
(५) जीतकल्प
(६) दशाश्रुतस्कंध

मूल :—
(१) ओघनिर्युक्ति
अथवा
आवश्यक निर्युक्ति
(२) पिण्डनिर्युक्ति
(३) दशवैकालिक
(४) उत्तराध्ययन
(५) नंदी
(६) अनुयोग द्वार

३२ आगम

अंग :—
(१) आचार
(२) सूत्रकृत्
(३) स्थान
(४) समवाय
(५) भगवती
(६) ज्ञात धर्म-कथा
(७) उपासक-दशा
(८) अन्तकृत्-दशा
(९) अनुत्तरोपपातिक-दशा
(१०) प्रश्न व्याकरण
(११) विपाक

उपांग :—
(१) औपपातिक
(२) राजप्रश्नीय
(३) जीवाभिगम
(४) प्रज्ञापना
(५) सूर्यप्रज्ञप्ति
(६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
(७) चन्द्र प्रज्ञप्ति
(८) निरयावली
(९) कल्पावतंसिका
(१०) पुष्पिका
(११) पुष्प चूलिका
(१२) वृष्णि दशा

मूल :—
(१) दशवैकालिक
(२) उत्तराध्ययन
(३) नन्दी
(४) अनुयोग द्वार

छेद :—
(१) निशीथ
(२) व्यवहार
(३) बृहत्कल्प
(४) दशाश्रुतस्कंध
(११+१२+४+४=३१)

(३२) आवश्यक
उपरोक्त विभागों में स्वतः प्रमाण केवल ग्यारह अंग ही हैं। शेष सब परतः प्रमाण हैं।

अनुयोग

व्याख्याक्रम व विषयगत वर्गीकरण की दृष्टि से आर्य रक्षित सूरि ने आगमों को चार भागों में वर्गीकृत किया—

(१) चरण-करणानुयोग—कालिक श्रुत ।

(२) धर्मानुयोग—ऋषि भाषित, उत्तराध्ययन आदि ।

(३) गणितानुयोग—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि ।

(४) द्रव्यानुयोग—दृष्टिवाद या सूत्रकृत् आदि ।

यह वर्गीकरण विषय-सादृश्य की दृष्टि से है । व्याख्याक्रम की दृष्टि से आगमो के दो रूप बनते हैं—

(१) अपृथक्त्वानुयोग ।

(२) पृथक्त्वानुयोग ।

आर्य रक्षित से पूर्व अपृथक्त्वानुयोग प्रचलित था । उसमें प्रत्येक सूत्र की चरण-करण, धर्म, गणित और द्रव्य की दृष्टि से व्याख्या की जाती थी । यह व्याख्या-क्रम बहुत जटिल और बहुत बुद्धि-स्मृति सापेक्ष था । आर्य रक्षित ने देखा दुर्बलिका पुष्यमित्र जैसा मेधावी मुनि भी इस व्याख्या-क्रम को याद रखने मे श्रान्त-क्लान्त हो रहा है तो अल्प मेधा वाले मुनि इसे कैसे याद रख पायेंगे । एक प्रेरणा मिली और उन्होने पृथक्त्वानुयोग का प्रवर्तन कर दिया । उसके अनुसार चरण-करण आदि विषयों की दृष्टि से आगमो का विभाजन हो गया ।[1]

सूत्रकृत् चूर्णि के अनुसार अपृथक्त्वानुयोग काल में प्रत्येक सूत्र की व्याख्या चरण-करण आदि चार अनुयोग तथा सात सौ नयो से की जाती थी । पृथक्त्वानुयोग काल में चारों अनुयोगों की व्याख्या पृथक् २ की जाने लगी ।[2]

वाचना

वीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष के मध्य में आगम साहित्य के सकलन की चार प्रमुख वाचनाएँ हुई ।

पहली वाचना—

वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी मे (वी० नि० के १६० वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में बारह वर्ष का भीषण दुष्काल पडा । उस समय श्रमण सघ छिन्न-भिन्न हो गया । अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गए । अन्यान्य दुविधाओ के कारण यथावस्थित सूत्र-परावर्तन नही हो सका, अत आगम ज्ञान की शृङ्खला टूट-सी गई । दुर्भिक्ष मिटा । उस काल में विद्यमान विशिष्ट आचार्य पाटलीपुत्र में एकत्रित हुए । ग्यारह अग एकत्रित किए । उस समय बारहवें अग के एकमात्र ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी थे और वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे । सघ के विशेष निवेदन पर स्थूलिभद्र मुनि को बारहवें अग की वाचना देना स्वीकार किया । उन्होंने दस पूर्व अर्थ सहित सीख लिए । ग्यारहवें पूर्व की वाचना चालू थी । बहिनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होने सिंह का रूप बनाया । भद्रबाहु ने इसे जान लिया । आगे वाचना बन्द कर दी । फिर विशेष आग्रह करने पर अन्तिम चार पूर्वो की वाचना दी, किन्तु अर्थ नही बताया । अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे । स्थूलिभद्र शाब्दिक-दृष्टि से चौदह पूर्वी थे किन्तु आर्थी-दृष्टि से दस पूर्वी ही थे ।

१—आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७३-७७४ : अपुहुत्ते अणुओगो चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पहुत्ताणुओगकरणे ते अत्था तओ उ वुच्छिन्ना ॥
देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ताकओ चउहा ॥

२—सूत्रकृत् चूर्णि पत्र ४ : जत्थएते चत्तारि अणुयोगा पिहप्पिह वक्खाणिज्जति पुहुत्ताणुयोगो, अपुहुत्ताणुजोगो पुण ज एक्केक्क सुत्तं एतेहिं चउहिं वि अणुयोगेहिंसत्तहिं णयसत्तेहिं वक्खाणिज्जति ।

दूसरी वाचना—

आगम-सकलन का दूसरा प्रयत्न वीर निर्वाण ८२७ और ८४० के मध्यकाल में हुआ।

उस काल में बारह वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष हुआ। भिक्षा मिलना अत्यन्त दुष्कर हो गया। साधु छिन्न-भिन्न हो गए। वे आहार की उचित गवेषणा में दूर-दूर देशों की ओर चल पड़े। अनेक बहुश्रुत तथा आगमधर मुनि दिवगत हो गए। भिक्षा की उचित प्राप्ति न होने के कारण आगम का अध्ययन-अध्यापन, धारण और प्रत्यावर्तन सभी अवरुद्ध हो गए। धीरे-धीरे श्रुत का ह्रास होने लगा। अतिशायी श्रुत का नाश हुआ। अग और उपांगों का भी अर्थ से ह्रास हुआ। उसका भी बहुत बडा भाग नष्ट हो गया। बारह वर्ष के इस दुष्काल के बाद सारा श्रमण सघ स्कदिलाचार्य की अध्यक्षता में मथुरा में एकत्रित हुआ। उस समय जिन-जिन श्रमणों को जितना-जितना स्मृति में था, उसका अनुसन्धान किया। इस प्रकार कालिक सूत्र और पूर्वगत के कुछ अश का सकलन हुआ। मथुरा में होने के कारण उसे "माथुरी वाचना" कहा गया। युग प्रधान आचार्य स्कदिल ने उस सकलित-श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी, अत वह अनुयोग उनका ही कहलाया। माथुरी वाचना को "स्कन्दिली वाचना" भी कहा गया।

मतान्तर के अनुसार यह भी माना जाता है कि दुर्भिक्ष के कारण किञ्चित् भी श्रुत नष्ट नहीं हुआ। उस समय सारा श्रुत विद्यमान था। किन्तु आचार्य स्कदिल के अतिरिक्त शेष सभी अनुयोगधर मुनि काल-कवलित हो गए थे। दुर्भिक्ष का अन्त होने पर आचार्य स्कदिल ने मथुरा में पुन अनुयोग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उसे "माथुरी वाचना" कहा गया। और वह सारा अनुयोग "स्कदिल" सम्बन्धी गिना गया।[1]

तीसरी वाचना—

इसी समय (वीर-निर्वाण ८२७-८४०) वल्लभी में आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में सघ एकत्रित हुआ। किन्तु वे बीच-बीच में बहुत कुछ भूल चुके थे। श्रुत की सम्पूर्ण व्यवच्छित्ति न हो जाय, इसलिए जो कुछ स्मृति में था उसे सकलित किया। उसे "वल्लभी वाचना" या "नागार्जुनीय वाचना" कहा गया।

चौथी वाचना—

वीर-निर्वाण की दसवी शताब्दी (९८० या ९९३ वर्ष) में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में वल्लभी में पुन श्रमण सघ एकत्रित हुआ। स्मृति-दौर्बल्य, परावर्तन की न्यूनता, धृति का ह्रास और परम्परा की व्यवच्छित्ति आदि-आदि कारणों से श्रुत का अधिकाश भाग नष्ट हो चुका था। किन्तु एकत्रित मुनियों को अवशिष्ट श्रुत की न्यून या अधिक, त्रुटित या अत्रुटित जो कुछ स्मृति थी उसकी व्यवस्थित सकलना की गई। देवर्द्धिगणी ने अपनी बुद्धि से उसकी सयोजना कर उसे पुस्तकारूढ किया। माथुरी तथा वल्लभी वाचनाओं के कण्ठगत आगमों को एकत्रित कर उन्हें एक रूपता देने का प्रयास हुआ। जहाँ अत्यन्त मतभेद रहा वहाँ माथुरी वाचना को मूल मानकर वल्लभी वाचना के पाठों को पाठान्तर में स्थान दिया गया। यही कारण है कि आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र-तत्र "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा उल्लेख हुआ है।

विद्वानों की मान्यता है कि इस सकलना से सारे आगमों को व्यवस्थित रूप मिला। भगवान महावीर के पश्चात् एक हजार वर्षों में घटित मुख्य घटनाओं का समावेश यत्र-तत्र आगमों में किया गया। जहाँ-जहाँ समान आलापकों का बार-बार पुनरावर्तन होता था, उन्हें सक्षिप्त कर एक दूसरे का पूर्ति-सकेत एक दूसरे आगम में किया गया।

वर्तमान में जो आगम उपलब्ध हैं वे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की वाचना के हैं। उसके पश्चात् उनमें सशोधन, परिवर्धन या परिवर्तन नहीं हुआ।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि उपलब्ध आगम एक ही आचार्य की सकलना हैं तो अनेक स्थानों में विसवाद क्यों?

१—(क) नदी गा० ३३ मलयगिरि वृत्ति पत्र ५१।
(ख) नंदी चूर्णि पत्र ८।

इसके दो कारण हो सकते है—

(१) जो श्रमण उस समय जीवित थे और जिन्हें जो-जो आगम कण्ठस्थ थे, उन्ही के अनुसार आगम सकलित किये गए। यह जानते हुए भी कि एक ही बात दो भिन्न आगमो में भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गई है, देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने उनमें हस्तक्षेप करना अपना अधिकार नही समझा।

(२) नौवीं शताब्दी में सम्पन्न हुई माथुरी तथा वल्लभी वाचना की परम्परा के अवशिष्ट श्रमणो को जैसा और जितना स्मृति में था उसे सकलित किया गया। वे श्रमण बीच-बीच में अनेक आलापक भूल भी गये हो—यह भी विसवादों का मुख्य कारण हो सकता है।[१]

ज्योतिष्करड की वृत्ति में कहा गया है कि वर्तमान में उपलब्ध अनुयोगद्वार सूत्र माथुरी वाचना का है और ज्योतिष्करण्ड के कर्त्ता वल्लभी वाचना की परम्परा के आचार्य थे। यही कारण है कि अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करड के सख्या स्थानों में अन्तर प्रतीत होता है।[१]

अनुयोग द्वार के अनुसार शीर्ष प्रहेलिका की सख्या १९३ अको की है और ज्योतिष्करड के अनुसार वह २५० अको की।

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ (लगभग १९५-१८२ ई०) में उच्छिन्न अगों के सकलन का प्रयास हुआ था। चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था। उसके सुप्रसिद्ध "हाथी गुम्फा" अभिलेख में यह उपलब्ध होता है कि उसने उडीसा के कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणों का एक सघ बुलाया और मौर्य काल में जो अग उच्छिन्न हो गए थे उन्हें उपस्थित किया।[२]

इस प्रकार आगम की व्यवस्थिति के लिए अनेक बार अनेक प्रयास हुए।

यह भी माना जाता है कि प्रत्येक अवसर्पिणी में चरम श्रुतधर आचार्य सूत्र-पाठ की मर्यादा करते हैं और वे दशवैकालिक का नवीन संस्करण प्रस्तुत करते हैं। यह अनादि सस्थिति है। इस अवसर्पिणी में अन्तिम श्रुतधर वज्र स्वामी थे। उन्होंने सर्वप्रथम सूत्र-पाठ की मर्यादा की। प्राचीन नामो में परिवर्तन कर मेघकुमार, जामालि आदि के नामो को स्थान दिया।[३]

इस मान्यता का प्राचीनतम आधार अन्वेषणीय है। आगम-सकलन का यह सक्षिप्त इतिहास है।

प्रस्तुत आगम : स्वरूप और परिचय

प्रस्तुत आगम का नाम दशवैकालिक है। इसके दस अध्ययन है और वह विकाल में रचा गया इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। इसके कर्त्ता श्रुतकेवली शय्यभव है। अपने पुत्र शिष्य—मनक के लिए उन्होंने इसकी रचना की। वीर सम्वत् ७२ के आस-पास "चम्पा" में इसकी रचना हुई। इसकी दो चूलिकाएँ हैं।

अध्ययनो के नाम, श्लोक सख्या और विषय इस प्रकार हैं—

अध्ययन	श्लोक संख्या	विषय
(१) द्रुम पुष्पिका[५]	५	धर्म-प्रशसा और माधुकरी वृत्ति।
(२) श्रामण्य पूर्वक	११	सयम मे धृति और उसकी साधना।
(३) क्षुल्लकाचार्य	१५	आचार और अनाचार का विवेक।
(४) धर्म-प्रज्ञप्ति या षड्जीवनिका	२८ तथा सूत्र २३	जीव-सयम तथा आत्म-सयम का विचार।

१—सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।

२—(क) सामाचारी शतक—आगम स्थापनाधिकार—३८ वां।
(ख) गच्छाचार पत्र ३-४।

३—जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओड़िसा रिसर्च सोसाइटी भा० १३ पृ० २३६।

४—प्रवचन परीक्षा विश्राम ४ गाथा ६७ पत्र ३०७-३०९।

५—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति में इसका नाम "वृक्ष कुसुम" दिया है। देखिए पृष्ठ १६ पाद-टिप्पणी ४।

(५) पिण्डैषणा	१५०	गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा की शुद्धि।
(६) महाचार	६८	महाचार का निरूपण।
(७) वाक्यशुद्धि	५७	भाषा-विवेक।
(८) आचार-प्रणिधि	६३	आचार का प्रणिधान।
(९) विनय-समाधि	६२ तथा सूत्र ७	विनय का निरूपण।
(१०) सभिक्षु	२१	भिक्षा के स्वरूप का वर्णन।
पहली चूलिका—रतिवाक्या	१८ और सूत्र १	सयम में अस्थिर होने पर पुन स्थिरीकरण का उपदेश।
दूसरी चूलिका—विविक्तचर्या	१६	विविक्तचर्या का उपदेश।

दशवैकालिक : विभिन्न आचार्यों की दृष्टि में

निर्युक्तिकार के अनुसार दशवैकालिक का समावेश चरण-करणानुयोग में होता है। इसका फलित अर्थ यह है कि इसका प्रतिपाद्य आचार है। वह दो प्रकार का होता है।[1]

(१) चरण—व्रत आदि।

(२) करण—पिंड-विशुद्धि आदि।

धवला के अनुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[2]

अगपण्णत्ति के अनुसार इसका विषय गोचर-विधि और पिंड-विशुद्धि है।[3]

तत्त्वार्थ की श्रुतसागरीय वृत्ति में इसे वृक्ष-कुसुम आदि का भेद कथक और यतियों के आचार का कथक कहा है।[4]

उक्त प्रतिपादन से दशवैकालिक का स्थूल रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है, किन्तु आचार्य शय्यभव ने आचार-गोचर की प्ररूपणा के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो का निरूपण किया है। जीव-विद्या, योग-विद्या आदि के अनेक सूक्ष्म बीज इसमें विद्यमान हैं।

दशवैकालिक का महत्त्व

दशवैकालिक अति प्रचलित और अति व्यवहृत आगम ग्रन्थ है। अनेक व्याख्याकारो ने अपने अभिमत की पुष्टि के लिए इसे उद्धृत किया है।[5]

इसके निर्माण के पश्चात् श्रुत के अध्ययनक्रम में भी परिवर्तन हुआ है। इसकी रचना के पूर्व आचाराग के बाद उत्तराध्ययन सूत्र पढा जाता था। किन्तु इसकी रचना होने पर दशवैकालिक के बाद उत्तराध्ययन पढा जाने लगा।[6] यह परिवर्तन यौक्तिक था। क्योकि साधु को

१—दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ४ · अपुहुत्त पुहुत्ताइ निद्दिसिउ एत्थ होइ अहिगारो।
चरण करणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति॥

२—धवला-संत प्ररूपणा पृ० ९७ : दसवेआलिय आचारगोयरविहिं वण्णेइ।

३—अगपण्णत्ति चूलिका गाथा २४ · जदि गोचरस्स विहिं पिंडविसुद्धिं च ज परूवेहि।
दसवेआलिय छत्त दह काला जत्थ सवुत्ता॥

४—तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति पृ० ६७ · वृक्षकुसुमादीनां दशानां भेदकथक यतीनामाचारकथकञ्च दशवैकालिकम्।

५—देखो उत्तरा० बृहद् वृत्ति, निशीथ चूर्णि आदि-आदि।

६—व्यवहार उद्देशक ३ भाष्य गाथा १७६ (मलयगिरि वृत्ति) आयारस्स उ उवरिं उत्तरज्झयणाउ आसि पुव्व तु।
दसवेआलिय उवरिं इयाणि किं ते न होंती उ॥

पूर्वमुत्तराध्यनानि आचारस्याप्याचारांगस्योपर्यासीरन् इदानीं दशवैकालिकस्योपरि पठितव्यानि। किं तानि तथारूपाणि न भवन्ति? भवन्त्येवेति भाव.।

सर्व प्रथम आचार का ज्ञान कराना आवश्यक होता है और उस समय वह आचारांग के अध्ययन-अध्यापन से कराया जाता था। परन्तु दशवैकालिक की रचना ने आचार-बोध को सहज और सुगम बना दिया और इसीलिए आचारांग का स्थान इसने ले लिया।

प्राचीन-काल में आचारांग के अन्तर्गत 'शस्त्र-परिज्ञा' अध्ययन को अर्थत जाने-पढे बिना साधु को महाव्रतो की विभागतः उपस्थापना नहीं दी जाती थी। किन्तु वाद में दशवैकालिक सूत्र के चौथे अध्ययन 'षड्जीवनिका' को अर्थत जानने-पढने के पश्चात् महाव्रतों की विभागत· उपस्थापना दी जाने लगी।[१]

प्राचीन परम्परा में आचारांग सूत्र के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक 'ब्रह्मचर्य' के 'आम गन्ध' सूत्र को जाने-पढे बिना कोई भी पिण्ड-कल्पी (भिक्षाग्राही) नही हो सकता था। परन्तु वाद में दशवैकालिक के पाँचवें अध्ययन 'पिण्डैषणा' को जानने-पढने वाला पिण्ड-कल्पी होने लगा।[२] दशवैकालिक के महत्त्व और सर्वग्राहिता को बताने वाले ये महत्त्वपूर्ण सकेत है।

निर्यूहण कृति

रचना दो प्रकार की होती है—स्वतन्त्र और निर्यूहण। दशवैकालिक निर्यूहण कृति है, स्वतत्र नहीं। आचार्य शय्यभव श्रुतकेवली थे। उन्होंने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया—यह एक मान्यता है।[३]

दशवैकालिक की निर्युक्ति के अनुसार चौथा अध्ययन—आत्म प्रवाद पूर्व से, पाँचवां अध्ययन—कर्म प्रवाद पूर्व से, सातवां अध्ययन—सत्य प्रवाद पूर्व से और शेष सभी अध्ययन—प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।

दूसरी मान्यता के अनुसार इसका निर्यूहण गणिपिटक द्वादशाङ्गी से किया गया।[४] किस अध्ययन का किस अग से उद्धरण किया गया, इसका कोई उल्लेख प्राप्त नही है। किन्तु तीसरे अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।९ से प्राप्त होता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृतांग १।११।७,८, आचारांग १।१ का क्वचित् सक्षेप और क्वचित् विस्तार है। पाँचवें अध्ययन का विषय आचारांग के दूसरे अध्ययन 'लोक विजय' के पाँचवें उद्देशक और आठवें 'विमोह' अध्ययन के दूसरे उद्देशक से प्राप्त होता है। छठा अध्ययन समवायांग १८ के 'वयछक्क कायछक्क' इस श्लोक का विस्तार है। सातवें अध्ययन के बीज आचाराग १।६।५ में मिलते हैं। आठवें अध्ययन का आंशिक विषय

१—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७५ : बितितमि बभचेरे पचम उद्देसे आमगधम्मि।
छत्तमि पिंडकप्पी इह पुण पिंडेसणाएओ ॥'

मलयगिरि टीका—पूर्वमाचाराङ्गान्तर्गते लोकविजयनाम्नि द्वितीयेऽध्ययने यो ब्रह्मचर्याख्य· पञ्चम उद्देशकस्तस्मिन् यदामगन्धिसूत्र सव्वामगध परिच्चय इति तस्मिन् सूत्रतोऽर्थतश्चाधीते पिण्डकल्पी आसीत्, । इह इदानीं पुनर्दशवैकालिकान्तर्गतायां पिण्डैषणायामपि सूत्रतोऽर्थतश्चाधीतायां पिण्डकल्पिक· क्रियते सोऽपि च भवति तादृश इति।

२—व्यवहार भाष्य उ० ३ गा० १७४ : पुव्व सत्थपरिण्णा अधीयपढियाइ होउ उवट्ठवणा।
इण्हि च्छज्जीवणया कि सा उ न होउ उवट्ठवणा ॥

मलयगिरि टीका—पूर्वं शस्त्रपरिज्ञायामाचाराङ्गान्तर्गतायामर्थतो ज्ञातायां पठितायां सूत्रत उपस्थापना अभूदिदानीं पुनः सा उपस्थापना किं षट्जीवनिकायां दशवैकालिकान्तर्गतायामधीतायां पठितायां च न भवति भवत्येवेत्यर्थ·।

३—दशवैकालिक निर्युक्ति गा० १६-१७ : आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्क छद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥

४—वही १८ : बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवाल संगाओ।
एअं किर णिज्जूढं मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥

स्थानांग ८।५९८,६०६,५१५ से मिलता है। आंशिक तुलना अन्यत्र भी प्राप्त होती है।[1]

आचारांग के दूसरे श्रुतस्कध की प्रथम चूला (अध्ययन १ और ४) से क्रमशः इसके पाँचवें और सातवें अध्ययन की तुलना होती है। किन्तु हमारे अभिमत में वह दशवैकालिक के बाद का निर्यूहण है। इसके दूसरे, नवें तथा दसवें अध्ययन का विषय उत्तराध्ययन के प्रथम और पन्द्रहवें अध्ययन से तुलित होता है, किन्तु वह अग-बाह्य आगम है।

यह सूत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओं में मान्य रहा है। श्वेताम्बर इसका समावेश उत्कालिक सूत्र में करते हुए चरण-करणानुयोग के विभाग में स्थापित करते हैं। इसे मूल सूत्र भी माना गया है। इसके कर्तृत्व के विषय में भी श्वेताम्बर साहित्य में प्रामाणिक ऊहापोह है। श्वेताम्बर आचार्यो ने इस पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, दीपिका, अवचूरी आदि-आदि व्याख्या-ग्रन्थ लिखे है।

दिगम्बर परम्परा में भी यह सूत्र प्रिय रहा है। धवला, जयधवला, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, तत्त्वार्थ श्रुतसागरीय वृत्ति आदि में इसके विषय का उल्लेख मिलता है, परन्तु इसके निश्चित कर्तृत्व तथा स्वरूप का कही भी विवरण प्राप्त नहीं होता। इसके कर्तृत्व का उल्लेख करते हुए "आरातीयै राचार्यै निर्यूढ"—इतना मात्र सकेत देते हैं। कब तक यह सूत्र उनको मान्य रहा और कब से यह अमान्य माना गया—यह प्रश्न आज भी असमाहित है।

व्याख्या-ग्रन्थ

दशवैकालिक की प्राचीनतम व्याख्या निर्युक्ति है। उसमें इसकी रचना के प्रयोजन, नामकरण, उद्धरण-स्थल, अध्ययनों के नाम, उनके विषय आदि का संक्षेप में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ उत्तरवर्ती सभी व्याख्या-ग्रन्थों का आधार रहा है। यह पद्यात्मक है। इसकी गाथाओं का परिमाण टीकाकार के अनुसार ३७१ है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु माने जाते है। इनका काल-मान विक्रम की पाँचवीं-छठीं शताब्दी है।

इसकी दूसरी पद्यात्मक व्याख्या भाष्य है। चूर्णिकार ने भाष्य का उल्लेख नही किया है। टीकाकार भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलों में प्रयोग करते हैं।[2] टीकाकार के अनुसार भाष्य की ६३ गाथाए है। इसके कर्त्ता की जानकारी हमें नही है। टीकाकार ने भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नही किया है।[3] वे निर्युक्तिकार के बाद और चूर्णिकार से पहले हुए है।

१—(क) आचाराङ्ग १।१।६।४९ :
सतिमे तसापाणा तजहा—अडया पोयया जराउया रसया ससेयया, समुच्छिया, उब्भियया उववाइया।

(क) दशवै० ४ सू० ९ :
अडया पोयया जराउया रसया ससेइमा सम्मुच्छिया उब्भिया उववाइया।

(ख) आचाराङ्ग १।२।४
ण मे देति ण कुप्पेज्जा।

(ख) दशवै० ५।२।२८ :
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा।

(ग) सूत्रकृत् १।२।२।१८ :
सामायिक माहुतस्स तं ज गिहिमत्तेऽसण ण भक्खति।

(ग) दशवै० ३।३ :
... गिहिमत्ते ... ।

२—(क) दशवै० हारिभद्रीय टीका प० ६४ भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति।

(ख) दशवै० हा० टी० प० १२० आह च भाष्यकार.।

(ग) दशवै० हा० टी० प० १२८ : व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेय। इसी प्रकार भाष्य के प्रयोग के लिए देखें—हा० टी० प० १२३, १२५, १२६, १२९, १३३, १३४ १४०, १६१, १६२, १७८।

३—दशवै० हा० टी० प० १३२. तामेव निर्युक्तिगाथां लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः।—एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्ति गाथायामनुपन्यस्तमप्युक्त सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेत्ति गाथार्थ.।

हरिभद्रसूरि ने जिन गाथाओ को भाष्यगत माना है, वे चूर्णि मे हैं। इससे जान पडता है कि भाष्यकार चूर्णिकार के पूर्ववर्ती हैं।

इसके बाद चूर्णियाँ लिखी गई हैं। अभी दो चूर्णियाँ प्राप्त है। एक के कर्त्ता अगस्त्यसिंह स्थविर है और दूसरी के कर्त्ता जिनदास महत्तर (वि० ७ वीं शताब्दी)। मुनि श्री पुण्यविजयजी के मतानुसार अगस्त्यसिंह की चूर्णि का रचना-काल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[1]

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि में तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति, व्यवहार भाष्य, कल्प भाष्य आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें अन्तिम रचनाएँ भाष्य हैं। उनके रचना-काल के आधार पर अगस्त्यसिंह का समय पुनः अन्वेषणीय है।

अगस्त्यसिंह ने पुस्तक रखने की औत्सर्गिक और आपवादिक—दोनो विधियो की चर्चा की है।[2] इस चर्चा का आरम्भ देवर्द्धिगणी ने आगम पुस्तकारूढ किए तब या उसके आस-पास हुआ होगा। अगस्त्यसिंह यदि देवर्द्धिगणी के उत्तरवर्ती और जिनदास के पूर्ववर्ती हो तो इनका समय विक्रम की ५-६ वी शताब्दी हो जाता है।

इन चूर्णियों के अतिरिक्त कोई प्राकृत व्याख्या और रही है पर वह अब उपलब्ध नही है। उसके अवशेष हरिभद्रसूरि की टीका में मिलते है।[3]

प्राकृत युग समाप्त हुआ और सस्कृत युग आया। आगम की व्याख्याएँ सस्कृत भाषा में लिखी जाने लगी। इस पर हरिभद्रसूरि ने सस्कृत में टीका लिखी। इनका समय विक्रम की आठवी शताब्दी है।

यापनीय संघ के अपराजितसूरि (या विजयाचार्य—विक्रम की आठवी शताब्दी) ने इसपर 'विजयोदया' नाम की टीका लिखी। इसका उल्लेख उन्होने स्वरचित आराधना की टीका में किया है।[4] परन्तु वह अभी उपलब्ध नही है। हरिभद्रसूरि की टीका को आधार मान कर तिलकाचार्य (१३-१४ वीं शताब्दी) ने टीका, माणिक्यशेखर (१५ वी शताब्दी) ने निर्युक्ति-दीपिका तथा समयसुन्दर (विक्रम १६११) ने दीपिका, विनयहस (विक्रम १५७३) ने वृत्ति, रामचन्द्रसूरि (विक्रम १६७८) ने वार्तिक और पायचन्द्रसूरि तथा धर्मसिंह मुनि (विक्रम १८ वी शताब्दी) ने गुजराती-राजस्थानी-मिश्रित भाषा में टब्बा लिखा। किन्तु इनमें कोई उल्लेखनीय नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नही है। ये सब सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से रचे गए है। इसकी महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ तीन ही है—दो चूर्णियाँ और तीसरी हारिभद्रीय वृत्ति।

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि इन सब में प्राचीनतम है इसलिए वह सर्वाधिक मूल-स्पर्शी है। जिनदास महत्तर अगस्त्यसिंह स्थविर के आस-पास भी चलते है और कही-कही इनसे दूर भी चले जाते हैं। टीकाकार तो कही-कही बहुत दूर चले जाते हैं। इनका उल्लेख यथास्थान टिप्पणियों में किया गया है।[5]

१—बृहत्कल्प भाष्य भाग-६ आमुख पृ० ४।

२—दशवैकालिक १।१ अगस्त्य चूर्णि : उवगरण संजमो—पोत्थएसु घेप्पतेसु असजमो महाधणमोल्लेसु वा दूसेसु, वज्जण तु सजमो, काल पडुच्च चरणकरणट्ठ अव्वोछित्तिनिमित्त गेण्हतस्स सजमो भवति।

३—हा० टी० प० १६५ तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगभावस्स मेहुण पीडिज्जइ, अणुवओगेण एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छण-अवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुणणायवेसाइदंसणे अदत्तादाण, ममत्तकरणे परिग्गहो, एव सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण संसयो उणिक्खमणे त्ति।

जिनदास चूर्णि (पृ० १७१) में इस आशय की जो पक्तियाँ हैं, वे इन पक्तियों से भिन्न है। जैसे—"जइ उणिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवति, अहवि ण उणिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुण पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसण न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—कि जोएसि ?, ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्तिकाउ अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्त करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।"

अगस्त्य चूर्णि की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—तस्स पीडा वयाण ताउ गयचित्तो रिय न सोहेतित्ति पाणातिवातो पुच्छितो किं जोएसित्ति ? अवलवति मुसावातो, अदत्तादाण मणणुण्णातो तित्थकरेहिंमिहुणे वि गयभावो मुच्छाए परिग्गहो वि।

४—गाथा ११९७ की वृत्ति : दशवैकालिकटीकायां श्री विजयोदयायां प्रपचिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।

५—उदाहरण के लिए देखो पृ० २६६ टि० १७७।

लगता है चूर्णि के रचना-काल में भी दशवैकालिक की परम्परा अविच्छिन्न नहीं रही थी। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अनेक स्थलों पर अर्थ के कई विकल्प किए हैं। उन्हें देखकर सहज ही जान पडता है कि वे मूल अर्थ के बारे में असदिग्ध नहीं हैं।

आर्य सुहस्ती ने एक बार जो आचार-शैथिल्य की परम्परा का सूत्र-पात किया वह आगे चल कर उग्र वन गया। ज्यों-ज्यों जैन आचार्य लोक-सग्रह की ओर अधिक झुके, त्यों-त्यों अपवादों की बाढ़ सी आ गई। वीर निर्वाण की नवी शताब्दी (८५०) में चैत्य-वास का प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शिथिलाचार की परम्परा बहुत ही उग्र हो गई। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी) के बाद चैत्य-वास का प्रभुत्व बढा और वह जैन परम्परा पर छा गया। अभयदेवसूरि ने इस स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है— "देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को मैं भाव-परम्परा मानता हूँ। इसके बाद शिथिलाचारियों ने अनेक द्रव्य परम्पराओं का प्रवर्तन कर दिया।"[१] आचार-शैथिल्य की परम्परा में जो ग्रन्थ लिखे गये, उनमें ऐसे अपवाद भी हैं जो आगम में प्राप्त नहीं हैं। प्रस्तुत आगम की चूर्णि और टीका तात्कालिक वातावरण से मुक्त नहीं हैं। इन्हें पढते समय इस तथ्य को नहीं भूल जाना चाहिए।

उत्सर्ग की भाति अपवाद भी मान्य होते हैं। पर उनकी भी एक निश्चित सीमा है। जिनका बनाया हुआ आगम प्रमाण होता है, उन्हीं के किए हुए अपवाद मान्य हो सकते हैं। वर्तमान में जो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, वे चतुर्दशपूर्वी या दसपूर्वी की नहीं हैं इसलिए उन्हें आगम (अर्थागम) की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

दोनों चूर्णियों में पाठ और अर्थ का भेद है। टीकाकार का मार्ग तो उनसे बहुत ही भिन्न है।

चैत्यवासी और सविग्न-पक्षके आपसी खिंचाव के कारण सभव है उन्हें (टीकाकार को) अगस्त्य चूर्णि उपलब्ध न हुई हो। उसके उपलब्ध होने पर भी यदि इतने बडे पाठ और अर्थ के भेदों का उल्लेख न किया हो तो यह बहुत बडे आश्चर्य की बात है। पर लगता यही है कि टीका-काल में टीकाकार के सामने अगत्त्यसिंह चूर्णि नहीं रही। यदि वह उनके सम्मुख होती तो टीका और चूर्णि में इतना अर्थ भेद नहीं होता। टीकाकार ने 'अन्ये तु', 'तथा च वृद्धसम्प्रदाय,' 'तथा च वृद्धव्याख्या' आदि के द्वारा जिनदास महत्तर का उल्लेख किया है[२] पर उनके नाम और चूर्णि का उल्लेख स्पष्ट नहीं किया।

हरिभद्रसूरि सविग्न पाक्षिक थे। इनका समय चैत्यवास के उत्कर्ष का समय है। पुस्तकों का सग्रह अधिकाशतया चैत्यवासियों के पास था। सविग्न पक्ष एक प्रकार से नया था। चैत्यवासी इसे मिटा देना चाहते थे। इस परिस्थिति में टीकाकार को पुस्तक-प्राप्ति की दुर्लभता रही हो, यह भी आश्चर्य की बात नहीं है।

आगमो की माथुरी और वल्लभी—ये दो वाचनाएँ हुईं। देवर्द्धिगणी ने आगमों को पुस्तकारूढ करते हुए उन दोनों का समन्वय किया। माथुरी में उससे भिन्न पाठ थे। उन्हें पाठ-भेद मान शेष अश को वल्लभी में समन्वित कर दिया। यह पाठ-भेद की परम्परा मिटी नहीं। कुछ आगमों के पाठ-भेद केवल आगमों की व्याख्याओ में उपलब्ध हैं। व्याख्याकार—"नागार्जुनीयास्तु एव पठन्ति" लिखकर उसका निर्देश करते रहे हैं और कुछ आगमो के पाठ-भेद मूल से ही सम्बद्ध रहे, इस कारण से उनका परम्परा-भेद चलता ही रहा। दशवैकालिक सम्भवतः इसी दूसरी कोटि का आगम है। इसकी उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन व्याख्या अगस्त्य चूर्णि है। उसमें अनेक स्थलो पर परम्परा-भेद का उल्लेख है।[३] इस सारी वस्तु सामग्री को देखते हुए लगता है कि चूर्णिकार और टीकाकार के सामने भिन्न-भिन्न परम्परा के आदर्श रहे हैं और टीकाकार ने अपनी परम्परा के आदर्श और व्याख्या-पद्धति को महत्त्व दिया हो और सम्भव है कि परम्परा-भेद के कारण चूर्णियो की उपेक्षा की हो। कल्पना की इस भूमिका पर पहुँचने के बाद चूर्णि और टीका के पाठ और अर्थ के भेद की पहेली सुलझ जाती है।

१—देवड्ढिखमासमणजा, परपर भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परपरा बहुहा॥

२—(क) हा० टी० प० ७, जि० चू० पृ० ४ 'अन्ये तु'।
(ख) हा० टी० प० १७१, जि० चू० पृ० १८०. 'एव च वृद्धसम्प्रदाय'।
(ग) हा० टी० प० १४२, १४३, जि० चू० पृ० १४१-१४२ : 'तथा च वृद्धव्याख्या'।

३—उदाहरण स्वरूप देखो पृ० २२१ टि० २६ तथा पृ० ३५२ टि० ७८।

अनुवाद और सम्पादन

हमने वि० स० २०१२ औरगाबाद में महावीर-जयन्ती के अवसर पर जैन-आगमो के हिन्दी अनुवाद और सम्पादन के निश्चय की घोषणा की। उसी चातुर्मास (उज्जैन) में आगमो की शब्द-सूची के निर्माण से कार्य का प्रारम्भ हुआ। साथ-साथ अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया गया। उसके लिए सबसे पहले दशवैकालिक को चुना गया।

लगभग सभी स्थलो के अनुवाद में हमने चूर्णि और टीका का अवलम्बन लिया है फिर भी सूत्र का अर्थ मूल-स्पर्शी रहे, इसलिए हमने व्याख्या-ग्रन्थो की अपेक्षा मूल आगमों का आधार अधिक लिया है। हमारा प्रमुख लक्ष्य यही रहा है कि आगमो के द्वारा ही आगमों की व्याख्या की जाए। आगम एक दूसरे से गुथे हुए हैं। एक विषय कही सक्षिप्त हुआ है तो कही विस्तृत। दशवैकालिक की रचना सक्षिप्त शैली की है। कही-कही केवल सकेत मात्र है। उन सांकेतिक शब्दो की व्याख्या के लिए आचाराङ्ग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) की चूलिका और निशीथ का उपयोग न किया जाय तो उनका आशय पकडने मे बडी कठिनाई होती है। इस कठिनाई का सामना टीकाकार को करना पडा। निदर्शन के लिए देखिए ५।१।६६ की टिप्पणी[1]। दशवैकालिक की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थ चूर्णि है। उसमें अनेक स्थलों पर वैकल्पिक अर्थ किए है। वहाँ चूर्णिकार का बौद्धिक विकास प्रस्फुटित हुआ है पर वे यह बताने में सफल न हो सके कि यहाँ सूत्रकार का निश्चित प्रतिपाद्य क्या है? उदाहरण के लिए देखिए ३।६ के उत्तरार्द्ध की टिप्पणी[2]।

अनुवाद को हमने यथासम्भव मूल-स्पर्शी रखने का यत्न किया है। उसका विशेष अर्थ टिप्पणियों में स्पष्ट किया है। व्याख्याकारों के अर्थ-भेद टिप्पणियो में दिए है। कालक्रम के अनुसार अर्थ कैसे परिवर्तित हुआ है, हमें बताने की आवश्यकता नही हुई किन्तु इसका इतिहास व्याख्या की पक्तिया स्वय बता रही है। कही-कही वैदिक और बौद्ध साहित्य से तुलना भी की है। जिन सूत्रो का पाठ-सशोधन करना शेष है, उनके उद्धरणो में सूत्रांक अन्य मुद्रित पुस्तको के अनुसार दिए है। इस प्रकार कुछ एक रूपो में यह कार्य सम्पन्न होता है।

यह प्रयत्न क्यों ?

दशवैकालिक की अनेक प्राचीन व्याख्याएँ है और हिन्दी में भी इसके कई अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं फिर नया प्रयत्न क्यों आवश्यक हुआ ? इसका समाधान हम शब्दो में देना नही चाहेंगे। वह इसके पारायण से ही मिल जाएगा।

सूत्र-पाठ के निर्णय में जो परिवर्तन हुआ है—कुछ श्लोक निकले है और कुछ नए आए है, कही शब्द बदले है और कही विभक्ति—उसके पीछे एक इतिहास है। 'धूवणेत्ति वमणे य' (३।६) इसका निर्धारण हो गया। 'धूवणे' को अलग माना गया और इति को अलग। उत्तराध्ययन (३५।४) में धूप से सुवासित घर में रहने का निपेध है। आचाराग (२।२।१३) में धूपन-जात से पैरो को धूपित करने का निषेध है। इस पर से लगा कि यहाँ भी उपाश्रय, शरीर और वस्त्र आदि के धूप खेने को अनाचार कहा है। अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक रूप में 'धूवणेत्ति' को एक शब्द माना भी गया है। पर उस ओर ध्यान आकृष्ट नही हुआ। एक दिन इसी सिलसिले में चरक का अवलोकन चल रहा था। प्रारम्भिक स्थलो में 'धूमनेत्र' शब्द पर ध्यान टिका और 'धूवणेत्ति' शब्द अब फिर आलोचनीय बन गया। उत्तराध्ययन के 'धूमणेत्त' की भी स्मृति हो आई। परामर्श चला और अन्तिम निर्णय यही हुआ कि 'धूवणेत्ति' को एक पद रखा जाए। फिर सूत्रकृतांग में 'णो धूमणेत्त परियापिएज्जा' जैसा स्पष्ट पाठ भी मिल गया। इस प्रकार अनेक शब्दों की खोज के पीछे घटनाए जुडी हुई है। अर्थ-चिन्तन में भी बहुधा ऐसा हुआ है। मौलिक अर्थ को ढूढ निकालने में तटस्थ दृष्टि से काम लिया जाए, वहां साम्प्रदायिक आग्रह का लेश भी न आए—यह दृष्टिकोण कार्यकाल के प्रारम्भ से ही रखा गया और उसकी पूर्ण सुरक्षा भी हुई है। परम्परा-भेद के स्थलो में कुछ अधिक चिन्तन हो, यह स्वाभाविक है। 'नियाग' का अर्थ करते समय हमें यह अनुभव हुआ। 'नियाग' का अर्थ हमारी परम्परा में एक घर से नित्य आहार लेना किया जाता है। प्राचीन सभी व्याख्याओ में इसका अर्थ—'निमत्रण पूर्वक एक घर से नित्य आहार लेना' मिला तो वह चिन्तन स्थल बन गया। हमने प्रयत्न किया कि इसका समर्थन किसी दूसरे स्रोत से हो जाए तो और अच्छा हो। एक दिन भगवती में 'अनाहूत' शब्द मिला। वृत्तिकार ने उसका वही अर्थ किया है, जो दशवैकालिक की व्याख्याओ में 'नियाग' का है। श्रीमज्जयाचार्य की 'भगवती की जोड'

१—देखिए पृ० २६६ टि० १७७

२—देखिए पृ० ८८—६१ टि० ३६ और ३७

(भगवती की पद्यात्मक व्याख्या) को देखा तो उसमें भी वही अर्थ मिला। फिर 'निमंत्रण पूर्वक' इस वाक्यांश के आगम सिद्ध होने में कोई सन्देह नहीं रहा[1]। इस प्रकार अनेक अर्थों के साथ कुछ इतिहास जुड़ा हुआ है।

हमने चाहा कि दशवैकालिक का प्रत्येक शब्द अर्थ की दृष्टि से स्पष्ट हो—अमुक शब्द वृक्ष-विशेष, फल-विशेष, आसन-विशेष, पात्र-विशेष का वाचक है, इस प्रकार अस्पष्ट न रहे। इस विषय में आज के युग की साधन-सामग्री ने हमें अपनी कल्पना को सफल बनाने का श्रेय दिया है।

तीन विभाग

दशवैकालिक को तीन विभागो में विभक्त किया गया है। प्रथम विभाग में 'एक समीक्षात्मक-अध्ययन' मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रमणी आदि हैं। द्वितीय विभाग में मूलपाठ, सस्कृतछाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण, शब्दानुक्रमणी आदि हैं। तृतीय विभाग में चूर्णि की कथाएँ हैं।

प्रथम भाग में दशवैकालिक का समग्र दृष्टि से अध्ययन होता है और द्वितीय भाग में गाथा-क्रम से। प्रथम भाग में निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति के विशिष्ट-स्थल हैं और द्वितीय भाग में विशद टिप्पणियाँ हैं। दोनों भाग अपने आप में स्वतन्त्र होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध है और परस्पर सबद्ध होते हुए भी अपने आपमें स्वतन्त्र हैं। इसीलिए क्वचित् कोई विषय पुनरुक्त भी है। पुनरुक्ति सर्वत्र अप्रिय नहीं होती, कही-कही वह रुचिकर भी होती है।

प्रथम विभाग के 'एक समीक्षात्मक अध्ययन' में दशवैकालिक सम्बन्धी अनेक विषयों की चर्चा हो चुकी है। इस तरह यह भूमिका और 'एक समीक्षात्मक अध्ययन'—दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए प्रस्तुत भूमिका में अध्ययनगत विषयो की चर्चा नहीं की गई। यहाँ 'एक समीक्षात्मक अध्ययन' के पाँच अध्यायो का विषयानुक्रम दिया जा रहा है जिस से उसकी रूपरेखा की कल्पना हो सके।

'एक समीक्षात्मक अध्ययन' के पहले अध्याय में निम्नलिखित विषय चर्चित है—

(१) आगम की परिभाषा, (२) आगम के वर्गीकरण में दशवैकालिक का स्थान, (३) दशवैकालिक के कर्त्ता, (४) रचना का उद्देश्य, (५) रचनाकार का जीवन-परिचय, (६) रचनाकाल, (७) नामकरण, (८) उपयोगिता और स्थापना, (९) रचना-शैली, (१०) व्याकरण विमर्श, (११) भाषा की दृष्टि से, (१२) शरीर-परामर्श, (१३) छन्द-विमर्श, (१४) चूलिका, (१५) दशवैकालिक और आचाराङ्ग चूलिका, (१६) दशवैकालिक और आचाराङ्ग चूलिका का तुलनात्मक अध्ययन और (१७) दशवैकालिक की उत्तरवती साहित्य में चर्चा।

उसके दूसरे अध्याय में निम्न विषयों की चर्चा है :

(१) समग्र दर्शन, (२) अहिंसा का दृष्टिकोण, (३) सयमी जीवन की सुरक्षा का दृष्टिकोण, (४) प्रवचन-गौरव का दृष्णिकोण, (५) परीषह-सहन का दृष्टिकोण, (६) निषेध हेतुओं का स्थूल विभाग, (७) विनय का दृष्टिकोण और (८) साधना में उत्कर्ष का दृष्टिकोण।

उसके तीसरे अध्याय के विषय इस प्रकार हैं

(१) जीवों का वर्गीकरण, (२) अहिंसा और समता, (३) पृथ्वी जगत् और अहिंसक निर्देश, (४) अप् जगत् और अहिंसक निर्देश, (५) तैजस् जगत् और अहिंसक निर्देश, (६) वायु जगत् और अहिंसक निर्देश, (७) वनस्पति जगत् और अहिंसक निर्देश, (८) त्रस जगत् और अहिंसक निर्देश, (९) सत्य के निर्देश, (१०) अचौर्य के निर्देश, (११) ब्रह्मचर्य के निर्देश, (१२) अपरिग्रह के निर्देश, (१३) चर्या और विहार, (१४) वेग निरोध, (१५) कैसे चले ?, (१६) कैसे बैठे ?, (१७) कैसे खड़ा रहे ?, (१८) कैसे बोले ?, (१९) भिक्षु की एषणा क्यों और कैसे ?, (२०) भिक्षा कैसे ले ?, (२१) कैसे खाए ?, (२२) इन्द्रिय और मनोनिग्रह के निर्देश, (२३) किस लिए ?, (२४) पूज्य कौन ?, (२५) भिक्षु कौन ?, (२६) स्थिरीकरण के सूत्र, (२७) विनय और (२८) मोक्ष का क्रम।

---

१ देखिए—नियाग (३।२) शब्द की टिप्पणी (पृ० ५६ टि० १०)।

चौथे अध्याय में निम्न विषय चर्चित हुए हैं :

(१) निक्षेप पद्धति—धर्म—अर्थ—अपाय—उपाय—आचार—पद—काय , (२) जैन शासन और परम्परा , (३) आहार चर्या ; (४) मुनि कैसा हो ? और (५) सभ्यता और संस्कृति ।

अध्ययन के पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत विषय इस प्रकार है :

(१) परिभाषाएँ ; (२) उपमा , (३) सूक्त और सुभाषित , (४) मुनि के विशेषण , (५) निरुक्त और (६) तुलनात्मक अध्ययन ।

साधुवाद

इस कार्य में तीन वर्ष लगे हैं । इसमें अनेक साधु-साध्वियो व श्रावको का योगदान है । इसके कुछ अध्ययनो के अनुवाद व टिप्पणियाँ तैयार करने में मुनि मीठालाल ने बहुत श्रम किया है । मुनि दुलहराज ने टिप्पणियों के सकलन व समग्र ग्रन्थ के समायोजन में सर्वाधिक प्रयत्न किया है । सस्कृत-छाया में मुनि सुमेरमल (लाडनू) का योग है । मुनि सुमन तथा कही-कहीं हसराज और बसत भी प्रतिलिपि करने में मुनि नथमल के सहयोगी रहे है । श्रीचन्दजी रामपुरिया ने इस कार्य में अपने तीव्र अध्यवसाय का नियोजन कर रखा है । मदनचन्दजी गोठी भी इस कार्य में सहयोगी रहे हैं । इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियो व श्रावको के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ सम्पन्न हुआ है ।

दशवैकालिक सूत्र के सर्वाङ्गीण सम्पादन का बहुत कुछ श्रेय शिष्य मुनि नथमल को ही मिलना चाहिए। क्योंकि इस कार्य में अहर्निश वे जिस मनोयोग से लगे हैं, इसीसे यह कार्य सम्पन्न हो सका है अन्यथा यह गुरुतर कार्य बड़ा दुरूह होता। इनकी वृत्ति मूलतः योगनिष्ठ होने से मन की एकाग्रता सहज बनी रहती है, साथ ही आगम का कार्य करते-करते अन्तर्-रहस्य पकड़ने में इनकी मेधा काफी पैनी हो गई है। विनय-शीलता, श्रम-परायणता और गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण भाव ने इनकी प्रगति में बड़ा सहयोग दिया है। यह वृत्ति इनकी बचपन से ही है। जब से मेरे पास आए, मैंने इनकी इस वृत्ति में क्रमशः वर्धमानता ही पाई है। इनकी कार्य-क्षमता और कर्तव्य-परता ने मुझे बहुत संतोष दिया है।

मैंने अपने संघ के ऐसे शिष्य साधु-साध्वियों के बल-बूते पर ही आगम के इस गुरुतर कार्य को उठाया है। अब मुझे विश्वास हो गया है कि मेरे शिष्य साधु-साध्वियों के निःस्वार्थ, विनीत एवं समर्पणात्मक सहयोग से इस बृहत् कार्य को असाधारण रूप से सम्पन्न कर सकूंगा।

मुनि पुण्यविजयजी का समय-समय पर सहयोग और परामर्श मिला है उसके लिए हम उनके कृतज्ञ है । उनका यह सकेत भी मिला था कि आगम कार्य यदि अहमदाबाद में किया जाय तो साधन-सामग्री की सुविधा हो सकती है ।

हमारा साधु-साध्वी वर्ग और श्रावक-समाज भी चिरकाल से दशवैकालिक की प्रतीक्षा में है । प्रारम्भिक कार्य होने के कारण कुछ समय अधिक लगा फिर भी हमें सतोष है कि इसे पढकर उसकी प्रतीक्षा सतुष्टि में परिणत होगी ।

आजकल जन-साधारण में ठोस साहित्य पढने की अभिरुचि कम है । उसका एक कारण उपयुक्त साहित्य की दुर्लभता भी है । मुझे विश्वास है कि चिरकालीन साधना के पश्चात् पठनीय सामग्री सुलभ हो रही है, उससे भी जन-जन लाभान्वित होगा ।

इस कार्य-सकलन में जिनका भी प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग रहा, उन सबके प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करता हूँ ।

भिक्षु-बोधि-स्थल
राजसमन्द
वि स.२०१६ फाल्गुन शुक्ला तृतीया

आचार्य तुलसी

प्रयुक्त ग्रन्थ एवं संकेत-सूची

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
	अगविज्जा	
अंग० चू०	अगपण्णत्ति चूलिका	
अंत०	अतगडदशा	
अ० चू०	अगस्त्यसिंह चूर्णि (दशवैकालिक)	
अग० चू०		
अ० वे०	अथर्व वेद	
अनु०	अनुयोगद्वार	
अनु० वृ०	अनुयोगद्वार वृत्ति	
अन्त०	अन्तकृद्दशा	
	अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिका	
अ० चि०	अभिधान चिन्तामणि	
अ० चिं०		
अमर०	अमरकोष	
अ० प्र०	हारिभद्रीय अष्टक प्रकरण	
	अष्टाध्यायी (पाणिनि)	
आ० अ०	आगम अठोत्तरी	
आ०	आचाराङ्ग	
आचा०		
आचा० नि०	आचाराङ्ग निर्युक्ति	
आचा० नि० वृ०	आचाराङ्ग निर्युक्ति वृत्ति	
आचा० वृ०	आचाराङ्ग वृत्ति	
आव०	आवश्यक	
आ० नि०	आवश्यक निर्युक्ति	
आ० हा० वृ०	आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति	
आव० हा० वृ०		
	आह्निक प्रकाश	
उत्त०	उत्तराध्ययन	
उत्त० चू०	उत्तराध्ययन चूर्णि	
उत्त० नि०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	
उत्त० ने० वृ०	उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रीय वृत्ति	
उत्त० बृ०	उत्तराध्ययन बृहद् वृत्ति	
उत्त० बृ० वृ०		
बृ० वृ०		
उत्त० स०	उत्तराध्ययन सर्वार्थसिद्धि टीका	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
उपा०	उपासकदशा	
उपा० टी	उपासकदशा टीका	
	ऋग्वेद	
ओ० नि० ओघ० नि०	ओघ निर्युक्ति	
ओ० नि० भा०	ओघ निर्युक्ति भाष्य	
ओ० नि० वृ०	ओघ निर्युक्ति वृत्ति	
औप०	औपपातिक	
औप० टी०	औपपातिक टीका	
	कठोपनिषद् शाङ्कर भाष्य	
कल्प०	कल्पसूत्र	
	कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक	
	कालीदास का भारत	
कौटि० अर्थ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र	
कौ० अ०	कौटलीय अर्थशास्त्र	
	गच्छाचार	
गीता० शा० भा०	गीता शाङ्कर भाष्य	
गोभिल स्मृ०	गोभिल स्मृति	
च०	चरक	
चरक सिद्धि०	चरक सिद्धिस्थानम्	
च० सू०	चरक सूत्रस्थानम्	
चू० (दश०)	चूलिका (दशवैकालिक)	
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषद्	
छान्दो० शा० भा०	छान्दोग्योपनिषद् शाङ्कर भाष्य	
जम्बू०	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	
ज० ध० धवला	जय धवला	
जा० प्र० ख०	जातक प्रथम खण्ड	
जि० चू०	जिनदास चूर्णि (दशवैकालिक)	
जीवा० वृ० जी० वृ०	जीवाभिगम वृत्ति	
जै० भा०	जैन भारती (साप्ताहिक पत्रिका)	
	जैन सत्य प्रकाश (पत्रिका)	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
जै० सि० दी० जै० सि०	जैन सिद्धान्त दीपिका	
ज्ञातृ०	ज्ञातधर्म कथा	
तत्त्वा०	तत्त्वार्थाधिगम सूत्र	
त० भा० तत्त्वा० भा०	तत्त्वार्थ भाष्य	
तत्त्वा० भा० टी०	तत्त्वार्थ भाष्य टीका	
दशवै० दश०	दसवेआलिय सुत्त दशवैकालिक	(के० वी० अभ्यङ्कर) (मनसुख लाल) (जी० घेलाभाई) (तिलकाचार्य वृत्ति)
दशवै० चू० दश० चू०	दशवैकालिक चूलिका	
दशवै० दी० दी०	दशवैकालिक दीपिका	
दश० नि०	दशवैकालिक निर्युक्ति	
दशा०	दशाश्रुत स्कन्ध	
दे० ना०	देशी नाममाला	
द्वा० कु०	द्वादश कुलक	
ध० ना० धन० नाम०	धनञ्जय नाममाला	
धम्म०	धम्मपद	
	धर्म निरपेक्ष भारत की प्रजातन्त्रात्मकपरम्पराएँ	
न० न० सू० नन्दी सू०	नन्दी सूत्र	
न० सू० गा०	नन्दी सूत्र गाथा	
नाया०	नायाधम्म कहा	
	नालन्दा विशाल शब्द सागर	
नि०	निशीथ	
नि० चू० उ०	निशीथ चूर्णि उद्देशक	
नि० चू०	निशीथ चूर्णि	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
नि० पी०	निशीथ पीठिका	
नि० भा०	निशीथ भाष्य	
नि० भा० गा०	निशीथ भाष्य गाथा	
नि० पी० भा० चू०	निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि	
नि० पी० भा०	निशीथ पीठिका भाष्य	
नि० गा०	निर्युक्ति गाथा (दशवैकालिक)	
	नृसिंह पुराण	
पन्न०	पन्नवणा	
पन्न० भा०	पन्नवणा भाष्य	
पाइ० ना०	पाइय नाममाला	
	पाइयसद्द महण्णव	
पा० भा०	पाणिनिकालीन भारत	
पा० व्या०	पाणिनि व्याकरण	
पि० नि०	पिण्ड निर्युक्ति	
पि० नि० वृ० / पि० नि० टी०	पिण्ड निर्युक्ति टीका	
प्रज्ञा०	प्रज्ञापना	
	प्रबन्ध पर्यालोचन	
	प्रभावक चरित्र	
	प्रवचन परीक्षा विश्राम	
प्रव० सारो० / प्र० सा०	प्रवचन सारोद्धार	
प्रव० टी०	प्रवचन सारोद्धार टीका	
प्रव०	प्रवराध्याय	
प्र० प्र० अव०	प्रशमरति प्रकरण अवचूरि	
प्र० प्र० / प्रशम०	प्रशमरति प्रकरण	
प्र० उ०	प्रश्न उपनिषद्	
प्रश्न० (आस्रव०)	प्रश्न व्याकरण आस्रवद्वार	
प्रश्न०	प्रश्नव्याकरण	
प्र० वृ०	प्रश्नव्याकरण वृत्ति	
प्रश्न० स०	प्रश्नव्याकरण सवरद्वार	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
	प्राचीन भारत	
	प्राचीन भारतीय मनोरंजन	
बृ० हि०	बृहद् हिन्दीकोष	
	ब्रह्मचर्य	
भग० जो०	भगवती जोड	
भग०	भगवती	
भग० टी० भग० वृ०	भगवती टीका	
भा० गा०	भाष्य गाथा	
भिक्षु ग्रन्थ ०	भिक्षुग्रन्थ रत्नाकर	
भिक्षु०	भिक्षु शब्दानुशासन	
	भिक्खुनो पात्तिमोख	
म० नि०	मज्झिम निकाय	
म० स्मृ०	मनुस्मृति	
म० भा० महा०	महाभारत	
महा० शा०	महाभारत शान्तिपर्व	
	महावग्गो (विनय पिटक)	
मूला०	मूलाचार	
मेघ० उ०	मेघदूत उत्तरार्द्ध	
	मोहत्यागाष्टकम्	
	यजुर्वेद	
	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	
	रस तरगिणी	
	लघुहारीत	
व० चं०	वनस्पति चन्द्रोदय	
व० स्मृ० वशिष्ठ०	वशिष्ठ स्मृति	
वि० पि०	विनय पिटक	
	विनय पिटक महावग्ग	
	,, ,, चुल्लवग्ग	
	,, ,, भिक्खुनी पातिमोक्ष छत्तवग्ग	
	,, ,, भिक्षु पातिमोक्ष	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
	व्र० पाति मोक्ष	
	विशुद्धि मार्ग भूमिका	
वि० पु०	विष्णु पुराण	
वृ० गौ० स्मृ०	वृद्ध गौतम स्मृति	
व्य० व्यव०	व्यवहार	
व्य० भा०	व्यवहार भाष्य	
व्य० भा० टी०	व्यवहार भाष्य टीका	
शा० नि० भू० शा० नि० शालि० नि०	शालिग्राम निघंटु भूषण	
शु० शुक्र० नी०	शुक्र नीति	
श्रमण०	श्रमण सूत्र	
	श्री महावीर कथा	
	षड् भाषा चन्द्रिका	
स० नि०	सयुक्त निकाय	
	सन्देह विषौषधि	
सम०	समवायाङ्ग	
सम० टी० सम० वृ०	समवायाङ्ग टीका	
	समाचारी शतक	
	समी साँझनो उपदेश (गो० जी० पटेल)	
	सिद्ध चक्र (पत्रिका)	
सु० नि०	सुत्त निपात	
सु० नि० (गुज०)	सुत्त निपात (गुजराती)	
सु०	सुश्रुत	
सु० चि०	सुश्रुत चिकित्सा स्थान	
सु० सू०	सुश्रुत सूत्र स्थान	
सू० सूत्र०	सूत्रकृताङ्ग	
सूत्र० चू०	सूत्रकृताङ्ग चूर्णि	

ग्रन्थ-संकेत	प्रयुक्त ग्रन्थ-नाम	विशेष
सूत्र० टी०	सूत्रकृताङ्ग टीका	
	स्कन्द पुराण	
स्था०	स्थानाङ्ग	
स्था० टी० स्था० वृ०	स्थानाङ्ग टीका	
स्मृ० अ०	स्मृति अर्थशास्त्र	
हल० हला०	हलायुध कोष	
हा० टी० प०	हारिभद्रीय टीका पत्र (दशवैकालिक)	
	हिन्दू राज्यतन्त्र (दूसरा खण्ड)	
हैम० हैमश०	हैम शब्दानुशासन	
	A Dictionery of Urdu, Classical Hindi & English	
	A Sanskrit English Dictionery	
	Dasavealiya Sutra	By K V. Abhyankar, M. A.
	Dasvaikalika Sutra · A Study	By M. V. Patwardhan.
	History of Dharmashastra	By P. V. Kane, M. A , LL. M.
	Journal of the Bihar & Orissa Research Society	
	The Book or Gradual Sayings	Translated by E. M. Hare
	The Book of the Discipline	(Sacred Books of the Buddhists) (Vol. XI)
	The Uttaradhyayan Sutra	By J. Charpentier, Ph. D.

अनुक्रमणिका

विषय-सूची

श्लोक ५१,५२ वनीपक के लिए किया हुआ आहार लेने का निषेध।
,, ५३,५४ श्रमण के लिए किया हुआ आहार लेने का निषेध।
,, ५५ औद्देशिक आदि दोष-युक्त आहार लेने का निषेध।
,, ५६ भोजन के उद्गम की परीक्षा-विधि और शुद्ध भोजन लेने का विधान।
,, ५७,५८ एषणा के सातवें दोष उन्मिश्र का वर्जन।
५९,६०, ६१,६२ एषणा के तीसरे दोष 'निक्षिप्त' का वर्जन।
,, ६३,६४ दायक-दोष-युक्त भिक्षा का निषेध।
,, ६५,६६ अस्थिर शिला, काष्ठ आदि पर पैर रखकर जाने का निषेध और उसका कारण।
,, ६७,६८,६९ उद्गम के तेरहवें दोष 'मालापहृत' का वर्जन और उसका कारण।
,, ७० सचित्त कन्द-मूल आदि लेने का निषेध।
,, ७१,७२ सचित्त रज-ससृष्ट आहार आदि लेने का निषेध।
,, ७३,७४ जिनमे खाने का भाग थोडा हो और फेंकना अधिक पडे, ऐसी वस्तुएँ लेने का निषेध।
,, ७५ तत्काल धोवन लेने का निषेध – एषणा के आठवें दोष 'अपरिणत' का वर्जन।
,, ७६-८१ परिणत धोवन लेने का विधान।
धोवन की उपयोगिता मे सन्देह होने पर चखकर लेने का विधान।
प्यास-शमन के लिए अनुपयोगी जल लेने का निषेध।
असावधानी से लब्ध अनुपयोगी जल के उपभोग का निषेध और उसके परठने की विधि।

३ भोगैषणा

भोजन करने की आपवादिक विधि :—

श्लोक ८२,८३ भिक्षा-काल मे भोजन करने की विधि।
,, ८४,८५,८६ आहार मे पडे हुए तिनके आदि को परठने की विधि।

भोजन करने की सामान्य विधि :—

,, ८७ उपाश्रय मे भोजन करने की विधि।
स्थान-प्रतिलेखनपूर्वक भिक्षा के विशोधन का सकेत।
,, ८८ उपाश्रय मे प्रवेश करने की विधि, ईर्यापथिकीपूर्वक कायोत्सर्ग करने का विधान।
,, ८९,९० गोचरी मे लगने वाले अतिचारों की यथाक्रम स्मृति और उनकी आलोचना करने की विधि।
,, ९१-९६ सम्यग् आलोचना न होने पर पुनः प्रतिक्रमण का विधान।
कायोत्सर्ग काल का चिन्तन।
कायोत्सर्ग पूरा करने और उसकी उत्तरकालीन विधि।
विश्राम-कालीन चिन्तन, साधुओं को भोजन के लिए निमत्रण, मह-भोजन या एकाकी भोजन, भोजन-पात्र और खाने की विधि।
,, ९७,९८,९९ मनोज्ञ या अमनोज्ञ भोजन में समभाव रखने का उपदेश।
,, १०० मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता और उनकी गति।

श्लोक ७ आचार के अठारह स्थानो का निर्देश।

पहला स्थान : अहिंसा

,, ८,९,१० अहिंसा की परिभाषा, जीव-बध न करने का उपदेश, अहिंसा के विचार का व्यावहारिक आधार।

दूसरा स्थान : सत्य

,, ११,१२ मृषावाद के कारण और मृषा न बोलने का उपदेश।
मृषावाद वर्जन के कारणों का निरूपण।

तीसरा स्थान : अचौर्य

,, १३,१४ अदत्त-ग्रहण का निषेध।

चौथा स्थान : ब्रह्मचर्य

,, १५,१६ अब्रह्मचर्य सेवन का निषेध और उसके कारण।

पाँचवाँ स्थान : अपरिग्रह

,, १७,१८ सन्निधि का निषेध, सन्निधि चाहने वाले श्रमण की गृहस्थ से तुलना।
,, १९ धर्मोपकरण रखने के कारणों का निषेध।
,, २० परिग्रह की परिभाषा।
,, २१ निर्ग्रन्थों के अममत्व का निरूपण।

छट्ठा स्थान : रात्रि-भोजन का त्याग

,, २२ एकभक्त भोजन का निर्देशन।
,, २३,२४,२५ रात्रि-भोजन का निषेध और उसके कारण।

सातवाँ स्थान : पृथ्वीकाय की यतना

,, २६,२७,२८ श्रमण पृथ्वीकाय की हिंसा नही करते।
दोष-दर्शन पूर्वक पृथ्वीकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

आठवाँ स्थान : अप्काय की यतना

,, २९,३०,३१ श्रमण अप्काय की हिंसा नही करते।
दोष-दर्शनपूर्वक अप्काय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

नवाँ स्थान : तेजस्काय की यतना

,, ३२ श्रमण अग्नि की हिंसा नही करते।
,, ३३,३४,३५ तेजस्काय की भयानकता का निरूपण।
दोष-दर्शनपूर्वक तेजस्काय की हिंसा का निषेध और उसका निरूपण।

दसवाँ स्थान वायुकाय की यतना

,, ३६ श्रमण वायु का समारम्भ नही करते।
,, ३७,३८,३९ विभिन्न साधनों से वायु उत्पन्न करने का निषेध। दोष-दर्शन पूर्वक वायुकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।

ग्यारहवाँ स्थान : वनस्पतिकाय की यतना

,, ४०,४१,४२ श्रमण वनस्पतिकाय की हिंसा नही करते।
दोष-दर्शन पूर्वक वनस्पतिकाय की हिंसा का निषेध और उसका परिणाम।



शुद्धि-पत्रक

(१)

अ० गा० चरण	अशुद्ध	शुद्ध
१।३।२	लाए	लोए
२।४।४ (छाया)	विनयेद्द	विनये
३।६।३ (छाया)	निर्वृतं	निर्वृत
३।१४।४	सिब्भंति	सिज्भंति
४।सू०६ (छाया)	उद्‌भिजाः	उद्‌भिदः
४।सू०१०	जाणामि	जाणामि
४।सू०११	सव्वाभ्रो	सव्वाओ
४।सू०१३	मणणं	मणेण
४।सू०१३ (छाया)	वहुं	बहु
४।सू०१३ (छाया)	अणुं	अणु
५(उ०१)४।४ (छाया)	पराक्रमे	परक्रमे
५(उ०१)६५।३	जेइ	जइ
६।२८।२ (छाया)	पृथ्त्री०	पृथ्वी०
६।३१।३ (छाया)	कार्यं	काय
६।३४।२ (छाया)	हव्व०	हव्य०
६।४६।४ (छाया)	संयम-म	सयमम
६।६२।२ (छाया)	ऊष्णेन	उष्णेन
६।६८।३ (छाया)	चन्द्रमा	चन्द्रमाः
६।६८।४ (छाया)	० यान्ति०	० यन्ति०
७।१५।३ (छाया)	भागिनेयि	भागिनेयि !
७।२७।१ (छाया)	प्रासादस्तम्भाभ्यां	प्रासादस्कम्भाभ्यां
७।५१।१	सीउण्ह	सीउण्हं
७।५२।४ (छाया)	वदेद	वदेद्‌
८।१०।२ (छाया)	च	वा
८।१६।३ (छाया)	यतेत्	यतेन
८।१८।२ (छाया)	'खेलं'	'क्ष्वेलं'
८।१६।३ (छाया)	भाषेत्	भाषेत
८।२३।२ (छाया)	दुगञ्छ	दुञ्छ०
६(उ०४) सू०७-५।२	मायट्ठिए	माययट्ठिए
१०।२०।३	निक्खम्मं	निक्खम्म

अ० गा० चरण	अशुद्ध	शुद्ध
चू०१।सू०१(पं०४)	गयकुस	गयकुस
चू०१।सू०१८।५ (छाया)	अप्टादशपद	अप्टादश पद
चू०१।१२।३	कुसील	कुसीला
चू०२।१।३ (छाया)	स पुण्याना	सपुण्यानां
चू०२।७।२	गया	गओ
चू०२।६।१ (छाया)	वया०	वैया०

(२)

पृष्ठ	उद्धरण, टिप्पण पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१०	उ० ३	८-१-१७१	८-१-२७१
१२	प० ७	गेरुक्य	गेरुक
१६	प० ४	दन्त	दान्त
२०	उ० १ प० २	घय सजुत्त	घयसजुत्त
२०	उ० १ पं० २	पिवित	पिवति
२०	उ० १ पं० ८	स	त
२०	उ० १ प० १३	जाति	जति
२५	प० ६	कहते	करते
२८	टि० १४	(पिट्ठि ··)	(विपिट्ठि)
३१	टि० २२	८।१।२८	८।१।२६
३५	प० १७	तेजसो०	तेऽजसो०
३६	प० ८	वह परिशिष्ट मे दी जा रही है ।	×
१३७	पं० १	कैछिट्ठ	कैठ
१७६	पं० ११	हिंसा	अहिसा
१८६	टि० १६६ के वाद	श्लोक २८	×
१८६	टि० १६७	श्लोक २८	×
१८६		श्लोक २६	श्लोक २८
२१६	प० १६	यानो	पानो
२२१	प० ३	'सति'	'सति'
३३१	प० ६	श्रुत,	श्रुत, अवधि
३८७	प० ६	सवहन योग्य	सवहन
३६६	प० १७	वन्न	धून्न
४०५	प० ६	अहिमक	नित्य अहिसक
४४६	प० ३	'विव'	'विय'

निग्गंथं पावयणं

दसवेआलियं

(दशवैकालिक)

भाग : २

पढमं अज्झयणं

दुमपुप्फिया

प्रथम अध्ययन

द्रुमपुष्पिका

आमुख

भारतीय चिन्तन का निचोड़ है—'अस्तिवाद'। 'आत्मा है'—यह उसका अमर घोष है। उसकी अन्तिम परिणति है—'मोक्षवाद'। 'आत्मा की मुक्ति संभव है'—यह उसकी चरम अनुभूति है। मोक्ष साध्य है। उसकी साधना है—'धर्म'।

धर्म क्या है ? क्या सभी धर्म मंगल हैं ? अनेक धर्मों में से मोक्ष-धर्म—सत्य-धर्म की पहचान कैसे हो ? ये चिर-चिंत्य प्रश्न रहे हैं। व्यामोह उत्पन्न करने वाले इन प्रश्नों का समुचित समाधान प्रथम श्लोक के दो चरणों में किया गया है। जो आत्मा का उत्कृष्ट हित साधता हो वह धर्म है। जिनसे यह हित नहीं सधता वे धर्म नहीं धर्माभास हैं।

'धर्म' का अर्थ है—धारण करनेवाला। मोक्ष का साधन वह धर्म है जो आत्मा के स्वभाव को धारण करे। जो विजातीय तत्त्व को धारण करे वह धर्म मोक्ष का साधन नहीं है। आत्मा का स्वभाव अहिंसा, संयम और तप है। साधना-काल में ये आत्मा की उपलब्धि के साधन रहते हैं और सिद्धि-काल में ये आत्मा के गुण—स्वभाव। साधना-काल में ये धर्म कहलाते हैं और सिद्धि-काल में आत्मा के गुण। पहले ये साधे जाते हैं फिर ये स्वयं सध जाते हैं।

मोक्ष परम मंगल है, इसलिए इसकी उपलब्धि के साधन को भी परम मंगल कहा गया है। वही धर्म परम मंगल है जो मोक्ष की उपलब्धि करा सके।

'धर्म' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग होता है और मोक्ष-धर्म की भी अनेक व्याख्याएँ हैं। इसलिए उसे कसोटी पर कसते हुए बताया गया है कि मोक्ष-धर्म वही है जिसके लक्षण अहिंसा, संयम और तप हों।

प्रश्न है—क्या ऐसे धर्म का पालन सम्भव है ? समाधान के शब्दों में कहा गया है—जिसका मन सदा धर्म में होता है उसके लिए उसका पालन भी सदा सम्भव है। जो इस लोक में निस्पृह होता है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

सिद्धि-काल में शरीर नहीं होता, वाणी और मन नहीं होते, इसलिए आत्मा स्वयं अहिंसा बन जाती है। साधना-काल में शरीर, वाणी और मन ये तीनों होते हैं। शरीर आहार बिना नहीं टिकता। आहार हिंसा के बिना निष्पन्न नहीं होता। यह जटिल स्थिति है। अब भला कोई कैसे पूरा अहिंसक बने ? जो अहिंसक नहीं, वह धार्मिक नहीं। धार्मिक के बिना धर्म कोरी कल्पना की वस्तु रह जाती है। साधना का पहला चरण इस उलझन से भरा है। शेष चार श्लोकों में इसी समस्या का समाधान दिया गया है। समाधान का स्वरूप माधुकरी वृत्ति है। तात्पर्य की भाषा में इसका अर्थ है :

(१) मधुकर अवधजीवी होता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए किसी प्रकार का समारम्भ, उपमर्दन या हनन नहीं करता। वैसे ही श्रमण-साधक भी अवधजीवी हो—किसी तरह का पचन-पाचन और उपमर्दन न करे।

(२) मधुकर पुष्पों से स्वभाव-सिद्ध रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण-साधक गृहस्थों के घरों से, जहाँ आहार-जल आदि स्वाभाविक रूप से बनते हैं, प्रासुक आहार ले।

(३) मधुकर फूलों को म्लान किये बिना थोड़ा-थोड़ा रस पीता है। वैसे ही श्रमण अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

(४) मधुकर उतना ही मधु ग्रहण करता है जितना कि उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है। वह दूसरे दिन के लिए कुछ संग्रह कर नहीं रखता। वैसे ही श्रमण संयम-निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ग्रहण करे—सञ्चय न करे।

(५) मधुकर किसी एक वृक्ष या फूल से ही रस ग्रहण नहीं करता परन्तु विविध वृक्ष और फूलों से रस ग्रहण करता है। वैसे ही श्रमण भी किसी एक गाँव, घर या व्यक्ति पर आश्रित न होकर सामुदानिक रूप से भिक्षा करे।

इस अध्ययन में द्रुम-पुष्प और मधुकर उपमान हैं तथा यथाकृत आहार और श्रमण उपमेय। यह देश उपमा है[1]। निर्युक्ति के अनुसार मधुकर की उपमा के दो हेतु हैं[2]: (१) अनियत-वृत्ति और (२) अहिंसा-पालन।

अनियत-वृत्ति का सूचन—'जे भवंति अणिस्सिया'[3] (१ ५) और अहिंसा पालन का सूचन—'न य पुप्फं किलामेइ, सोय पीणेइअप्पयं' (१ २) से होता है। द्रुम-पुष्प की उपमा का हेतु है—सहज निष्पन्नता। इसका सूचक 'अहागडेसु रीयन्ते, पुप्फेसु भमरा जहा' (१ ४) यह श्लोकार्द्ध है।

अहिंसा-पालन में श्रमण क्या ले और कैसे ले?—इन दोनों प्रश्नों पर विचार हुआ है और अनियत-वृत्ति में केवल कैसे ले? इसका विचार है। कैसे ले? यह दूसरा प्रश्न है। पहला प्रश्न है—क्या ले? इससे मधुकर की अपेक्षा द्रुम-पुष्प का सम्बन्ध निकटतम है।

भ्रमर के लिए सहजरूप से भोजन प्राप्ति का आधार द्रुम-पुष्प ही होता है। माधुकरी वृत्ति का मूल केन्द्र द्रुम-पुष्प है। उसके बिना वह नहीं सधती। द्रुम-पुष्प की इस अनिवार्यता के कारण 'द्रुम-पुष्पिका' शब्द समूची माधुकरी-वृत्ति का योग्यतम प्रतिनिधित्व करता है। इस अध्ययन में श्रमण को भ्रामरी-वृत्ति से आजीविका प्राप्त करने का बोध दिया गया है। चूँकि इस वृत्ति का सूचन द्रुम-पुष्पिका शब्द से अच्छी तरह होता है। अतः इसका नाम द्रुम-पुष्पिका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सूत्रकार का प्रधान प्रतिपाद्य माधुकरी-वृत्ति नहीं है, उनका मुख्य प्रतिपाद्य है धर्म के आचरण की सम्भवता। निःसन्देह यह अध्ययन अहिंसा और उसके प्रयोग का निदर्शन है। अहिंसा धर्म की पूर्ण आराधना करनेवाला श्रमण अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी हिंसा न करे, यथाकृत आहार ले, जीवन को संयम और तपोमय बनाकर धर्म और धार्मिक की एकता स्थापित करे।

धार्मिक का महत्त्व धर्म होता है। धर्म की प्रशंसा है, वह धार्मिक की प्रशंसा है और धार्मिक की प्रशंसा है वह धर्म की प्रशंसा है। धार्मिक और धर्म के इस अभेद को लक्षित कर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने कहा है—"पढमे धम्मपसंसा" (नि० गा० २०) पहले अध्ययन में धर्म की प्रशंसा—महिमा है।

१—(क) नि० गा० ६६ : जह भमरोत्ति य एत्थं दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे।

(ख) नि० गा० ६७ : एव भमराहरणे अणिययवित्तित्तण न सेसाण। गहणं...... . .. . ॥

२—नि० गा० १२६ : उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देसलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्तं अहिंसअणुपालणट्ठाए॥

३—हा० टी० प० ७२ : 'अनिश्रिताः' कुलादिषु अप्रतिबद्धा ।

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

दुमपुप्फिया : द्रुमपुष्पिका

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[१]धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो॥	धर्मः मङ्गलमुत्कृष्टम् अहिंसा संयमः तपः। देवा अपि तं नमस्यन्ति यस्य धर्मे सदा मनः॥ १॥	धर्म[२] उत्कृष्ट मंगल[३] है। अहिंसा[४], संयम[५] और तप[६] उसके लक्षण हैं[७]। जिसका मन सदा धर्म में रमा रहता है, उसे देव[८] भी नमस्कार करते हैं।
२—जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ[९] रसं। न य पुप्फं किलामेइ सो य पीणेइ अप्पयं॥	यथा द्रुमस्य पुष्पेषु भ्रमर आपिबति रसम्। न च पुष्पं क्लामयति स च प्रीणाति आत्मकम्॥ २॥	जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पों से थोड़ा-थोड़ा रस पीता है[९]—किसी पुष्पको[१०] म्लान नहीं करता[११] और अपने को भी तृप्त करता है—
३—एमेए[१२] समणा मुत्ता जे लाए संति साहुणो[१६]। विहंगमा व पुप्फेसु दाणभत्तेसणे रया॥	एवमेते समणा मुक्ताः ये लोके सन्ति साधवः। विहङ्गमा इव पुष्पेषु दानभक्तैषणे रताः॥ ३॥	उसी प्रकार लोक में जो मुक्त[१३] समण[१४] साधु[१६] हैं वे दानभक्त[१७]—दाता द्वारा दिये जानेवाले निर्दोष आहार—की एषणा में रत[१८] रहते हैं जैसे भ्रमर पुष्पों में।
४—वयं च वित्तिं लब्भामो न य कोइ उवहम्मई। अहागडेसु रीयंति पुप्फेसु भमरा जहा॥	वयं च वृत्तिं लप्स्यामहे न च कोऽप्युपहन्यते। यथाकृतेषु रीयन्ते पुष्पेषु भ्रमरा यथा॥ ४॥	हम[१९] इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो। श्रमण यथाकृत[२०]—सहज रूप से बना—आहार लेते हैं, जैसे भ्रमर पुष्पों से रस।
५—महुकारसमा बुद्धा जे भवंति अणिस्सिया। नाणापिंडरया दंता तेण वुच्चंति साहुणो॥ त्ति बेमि	मधुकर-समा बुद्धाः ये भवन्त्यनिश्रिताः। नाना-पिण्ड-रता दान्ताः तेन उच्यन्ते साधवः॥ ५॥ इति ब्रवीमि	जो बुद्ध पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित हैं[२१]—किसी एक पर आश्रित नहीं, नाना पिण्ड में रत हैं[२२] और जो दान्त हैं[२३] वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं[२४]। ऐसा मैं कहता हूँ।

★

टिप्पणियाँ : अध्ययन १

[टिप्पणियों में प्रयुक्त 'क' 'ख' 'ग' 'घ' संकेत क्रमशः श्लोक के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण के द्योतक है। ये सकेत चिन्हित-शब्द किम चरण मे है, इसके निर्देशक हैं।]

श्लोक १ :

१. तुलना :

'धम्मपद' (धम्मट्ठवग्गो १९.६) के निम्नलिखित श्लोक की इससे आंशिक तुलना होती है .

यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति॥

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम होता है।
उस मल रहित धीर भिक्षु को स्थविर कहा जाता है॥

२. धर्म (धम्मो क) :

'धृ' धातु का अर्थ है—धारण करना। उसके अन्त में 'मन्' या 'म' प्रत्यय लगने से 'धर्म' शब्द बनता है[1]। उत्पाद, व्यय और स्थिति—ये अवस्थाएँ जो द्रव्यों को धारण कर रखती हैं—उनके अस्तित्व को टिकाए रखती हैं—'द्रव्य-धर्म' कहलाती हैं[2]। गति में सहायक होना, स्थिति में सहायक होना, स्थान देने मे सहायक होना, मिलने और बिछुड़ने की शक्ति से सम्पन्न होना, जानने-देखने की क्षमता का होना, धर्म आदि पाँच अस्तिकायों के ये स्वभाव या लक्षण—जो उनके पृथक्त्व को सिद्ध करते हैं और उनके स्वरूप को स्थिर करते हैं—'अस्तिकाय-धर्म' कहे जाते हैं[3]। इसी तरह सुनना, देखना, सूंघना, स्वाद लेना और स्पर्श करना जो जिस इन्द्रिय का प्रचार—विषय होता है वह उसका 'इन्द्रिय-धर्म' कहलाता है[4]। विवाह्याविवाह्य, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेयादि के नियम—जो किसी स्थान की विवाह तथा खान-पान विषयक परम्परा के निर्णायक होते हैं—'गम्य-धर्म' कहलाते हैं। वस्त्राभूषणादि के रीति-रिवाज—जो किसी देश की रहन-सहन विषयक प्रथा के आधारभूत होते हैं—'देश-धर्म' कहलाते हैं। करादि के विधान—जो राज्य की आर्थिक-स्थिति को संतुलित रखते हैं—'राज्य-धर्म' कहलाते हैं। गणों की पारस्परिक व्यवस्था—जो गणों को संगठित रखती है—'गण-धर्म' कहलाती है। दण्डादि की विधि—जो राजसत्ता को सुरक्षित रखती है—'राज-धर्म' कहलाती है।

इस तरह द्रव्यों के पर्याय और गुण, इन्द्रियों के विषय तथा लौकिक रीति-रिवाज, देशाचार, व्यवस्था, विधान, दण्डनीति आदि सभी धर्म कहलाते हैं, पर यहाँ उपर्युक्त द्रव्य आदि धर्मों, गम्य आदि सावद्य लौकिक धर्मों और कुप्रावचनिक धर्मों को उत्कृष्ट नहीं कहा है[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० १४ 'धृञ् धारणे' अस्य धातोर्मन्प्रत्ययान्तस्येद रूप धर्म इति।
(ख) हा० टी० प० २० 'धृञ धारणे' इत्यस्य धातोर्मप्रत्ययान्तस्येद रूप धर्म इति।

२—नि० गा० ४८ दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स।

३—जि० चू० पृ० १६ अत्थि वेज्जति काया य अत्थिकाया, ते इमे पच, तेसिं पचण्हवि धम्मो णाम सब्भावो लक्खणति एगट्ठा'''' '।

४—जि० चू० पृ० १६ : पयारधम्मा णाम सोयाईण इन्दियाण जो जस्स विसयो सो पयारधम्मो भवइ '।

५—(क) नि० गा० ४०-४२ . दव्व च अत्थिकायप्पयारधम्मो अ भावधम्मो अ। दव्वस्स पज्जवा जे ते धम्मा तस्स दव्वस्स॥
धम्मत्थिकायधम्मो पयारधम्मो य विसयधम्मो य। लोइयकुप्पावयणिअ लोगुत्तर लोगऽणेगविहो॥
गम्मपसुदेसरज्जे पुरवरगामगणगोट्ठिराईण। सावज्जो उ कुतित्थियधम्मो न जिणेहि उ पसत्थो॥
(ख) नि० गा० ४२, हा० टी० प० २२ . कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव।
(ग) जि० चू० पृ० १७ . वज्जो णाम गरहिओ, सह वज्जेण सावज्जो भवइ।
(घ) नि० गा० ४२, हा० टी० प० २२ · अवद्यं—पाप सह अवद्येन सावद्यम्।

जो दुर्गति में नहीं पड़ने देता वह धर्म[1] यहाँ अभीष्ट है। ऐसा धर्म संयम में प्रवृत्ति और असंयम से निवृत्ति रूप है[2] तथा अहिंसा, संयम और तप लक्षणवाला है। उसे ही यहाँ उत्कृष्ट मंगल कहा है[3]।

३. उत्कृष्ट मंगल (मंगलमुक्किट्ठं क) :

जिससे हित हो, कल्याण सधता हो, उसे मंगल कहते हैं[4]। मंगल के दो भेद हैं :—(१) द्रव्य-मंगल—औपचारिक या नाममात्र के मंगल और (२) भाव-मंगल—वास्तविक मंगल। संसार में पूर्ण-कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शंखध्वनि, गीत, ग्रह आदि मंगल माने जाते हैं। इनसे धन-प्राप्ति, कार्य-सिद्धि आदि मानी जाती है। ये लौकिक-मंगल हैं—लोक-दृष्टि में मंगल हैं, पर ज्ञानी इन्हें मंगल नहीं कहते, क्योंकि इनमें आत्मा का कोई हित नहीं सधता। आत्मा के उत्कर्ष के साथ सम्बन्ध रखनेवाला मंगल 'भाव-मंगल' कहलाता है। धर्म आत्मा की शुद्धि या सिद्धि से सम्बन्धित है, अतः वह भाव-मंगल है[5]।

धर्म एकान्तिक और आत्यन्तिक मंगल है। वह ऐसा मंगल है जो सुख ही सुख रूप है। साथ ही वह दुःख का आत्यन्तिक क्षय करता है, जिससे उसके अंकुर नहीं रह पाते। द्रव्य मंगलों में एकान्तिक सुख व आत्यन्तिक दुःख-विनाश नहीं होता[6]। धर्म आत्मा की सिद्धि करनेवाला, उसे मोक्ष प्राप्त करानेवाला होता है (सिद्धि त्ति काऊण—नि० ४४)। वह भव—जन्म-मरण के बन्धनों को गलानेवाला—काटनेवाला होता है (भवगालनादिति—नि० ४४, हा० टी० प० २४)। संसार-बंधन से बड़ा कोई दुःख नहीं। संसार-मुक्ति से बड़ा कोई सुख नहीं। मुक्ति प्रदान करने के कारण धर्म उत्कृष्ट मंगल—अनुत्तर मंगल है[7]।

४. अहिंसा (अहिंसा ख) :

हिंसा का अर्थ है दुष्प्रयुक्त मन, वचन या काया के योगों से प्राण-व्यपरोपण करना[8]। अहिंसा हिंसा का प्रतिपक्ष है। जीवों का अतिपात न करना—अहिंसा है[9] अथवा प्राणातिपात-विरति अहिंसा है[10]। "जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सर्व जीवों को है। जैसे मैं जीने

१—जि० चू० पृ० १५ : यस्मात् जीव नरकतिर्यग्योनिकुमानुषदेवत्वेषु प्रपतत धारयतीति धर्मः। उक्त च—
"दुर्गति-प्रसृतान् जीवान्, यस्माद् धारयते ततः।
धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद् धर्म इति स्थितः॥"

२—जि० चू० पृ० १७ : असजमाउ नियत्ती सजममि य पवित्ती।

३—(क) नि० गा० ८९ : धम्मो गुणा अहिंसाइया उ ते परममंगल पइन्ना।
(ख) जि० चू० पृ० १५ : अहिंसातवसजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस णिद्देसोत्ति।

४—हा० टी० प० ३ : मग्यते हितमनेनेति मगल, मग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।

५—(क) नि० गा० ४४ : दव्वे भावेऽवि अ मगलाइ दव्वम्मि पुण्णकलसाई।
धम्मो उ भावमगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊण॥
(ख) जि० चू० पृ० १६ : जाणि दव्वाणि चेव लोगे मगलबुद्धीए घेप्पति जहा सिद्धत्थगदहिसालिअक्खयादीणि ताणि दव्वमंगलं, भावमगल पुण एसेव लोगुत्तरो धम्मो, जम्हा एत्थ ठियाणं जीवाण सिद्धी भवइ।

६—(क) जि० चू० पृ० १६ : दव्वमगल अणेगतिग अणच्चन्तिय च भवति, भावमगल पुण एगतिय अच्चंतियं च भवइ।
(ख) नि० गा० ४४, हा० टी० प० २४ : अयमेव चोत्कृष्ट—प्रधान मगलम्, एकान्तिकत्वात् आत्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिकत्वादनात्यन्तिकत्वाच्च।

७—जि० चू० पृ० १५ : उक्किट्ठ णाम अणुत्तर, ण तओ अण्ण उक्किट्ठयरति।

८—जि० चू० पृ० २० : मणवयणकाएहि जोएहि दुप्पउत्तेहि ज पाणववरोवण कज्जइ सा हिसा।

९—नि० गा० ४५ : हिंसाए पडिवक्खो होइ अहिंसऽजीवाइवाओत्ति॥

१०—(क) जि० चू० पृ० १५ : अहिंसा नाम पाणातिवायविरती।
(ख) दी० टीका पृ० १ : न हिंसा अहिंसा जीवदया प्राणातिपातविरतिः।

की कामना करता हूँ वैसे ही सब जीव जीने की इच्छा करते हैं, कोई मरने की नहीं। अतः मुझे किसी भी जीव को अल्प से अल्प पीड़ा भी नहीं पहुँचानी चाहिए"—ऐसी भावना को समता या आत्मौपम्य कहते हैं। 'सूत्रकृताङ्ग' में कहा है—"जैसे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, कंकर, ठिकरी आदि से मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दुःख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण-हरण करे तो मुझे दुःख होता है; जैसे मृत्यु से लगाकर रोम उखाड़ने तक से मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को होता है—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव व सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, उस पर अनुशासन नहीं करना चाहिए, उसे उद्विग्न नहीं करना चाहिए। यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है[1]।"

यहाँ 'अहिंसा' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत है। इसलिए मृषावाद विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन विरति, परिग्रह-विरति भी इसमें समाविष्ट हैं।

५. संयम (संजमो ख) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'संयम' का अर्थ है 'उपरम'। "राग-द्वेष से रहित हो एकीभाव—समभाव में स्थित होना संयम है[2]।" हरिभद्र सूरि ने संयम का अर्थ किया है—"आश्रवद्वारोपरम." अर्थात् कर्म आने के हिंसा, मृषा, अदत्त, मैथुन और परिग्रह ये जो पाँच द्वार हैं उनसे उपरमता—उनसे विरति। पर यहाँ 'संयम' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक प्रतीत होता है। हिंसा आदि पाँच अविरतियों—पापों का त्याग, कषायों पर विजय, इन्द्रियों का निग्रह, समितियों का—आवश्यक प्रवृत्तियों को करते समय विहित नियमों का—पालन तथा मन, वचन, काया की गुप्ति ये सब अर्थ 'संयम' शब्द में अन्तर्निहित हैं।

अहिंसा की परिभाषा "सर्व भूतेषु संयमो" मिलती है। संयम में भी हिंसा का त्याग आता है। क्योंकि वह हिंसा आदि आश्रवों से उपरमरूप कहा गया है। इस तरह जो अहिंसा है वही संयम है। अतः प्रश्न उठता है—फिर संयम का उल्लेख अलग क्यों किया गया ? जब अहिंसा ही तत्त्वतः संयम है तब संयम का अलग उल्लेख क्या अयुक्त नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि संयम के बिना अहिंसा टिक नहीं सकती। अहिंसा का अर्थ है सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच महाव्रत। संयम का अर्थ है उनकी रक्षा के लिए आवश्यक नियमों का पालन। इस प्रकार संयम का अहिंसा पर उपग्रहकारित्व है। दूसरी बात यह है—अहिंसा से केवल निवृत्ति का भाव परिलक्षित होता है। संयम में संयत प्रवृत्ति भी अन्तर्निहित है। संयमी के ही भावतः सम्पूर्ण अहिंसा हो सकती है, अतः धर्म के अवयव रूप में अहिंसा के साथ संयम का उल्लेख आवश्यक है और जरा भी अयुक्त नहीं[3]।

६. तप (तवो ख) :

जो आठ प्रकार की कर्म-ग्रन्थियों को तपाता है—उनका नाश करता है, उसे तप कहते हैं[4]। तप बारह प्रकार का कहा गया है :—(१) अनशन—आहार-जल आदि का एक दिन, अधिक दिन या जीवन-पर्यन्त के लिए त्याग करना अर्थात् उपवास आदि करना; (२) ऊनोदरता—आहार की मात्रा में कमी करना, पेट को कुछ भूखा रखना, क्रोधादि को न्यून करना, उपकरणों को न्यून करना;

१—सूत्र० २ १ १५।

२—जि० चू० पृ० १५ : संजमो नाम उवरमो, रागद्दोसविरहियस्स एगिभावे भवइत्ति।

३—(क) जि० चू० पृ० २० : सिस्सो आह—णणु जा चेव अहिंसा सो चेव संयमोऽवि। आयरियो आह—अहिंसागहणे पंच महव्वयाणि गहियाणि भवंति। संयमो पुण तीसे चेव अहिंसाए उवग्गहे वट्टइ। संपुण्णाय अहिंसाय संयमोवि तस्स भवइ।

(ख) नि० गा० ४६, हा० टी० प० २६ : आह—अहिंसैव तत्त्वतः संयम इतिकृत्वा तद्भेदेनास्याभिधानमयुक्तम्, न, संयमस्याहिंसाया एव उपग्रहकारित्वात्, संयमिन एव भावतः खल्वहिंसकत्वादिति कृतं प्रसंगेन।

४—जि० चू० पृ० १५ : तवो णाम तावयति अट्ठविहं कम्मगंठि, नासेतित्ति वुत्तं भवइ।

भिक्षाचर्या—अभिग्रहपूर्वक भिक्षा का संकोच करना ; (४) रस-परित्याग—दूध, मक्खन आदि रसों का त्याग तथा प्रणीत पान-भोजन का वर्जन ; (५) कायक्लेश—वीरासनादि उग्र आसनों में शरीर को स्थित करना ; (६) प्रतिसलीनता—इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में राग-द्वेष न करना; अनुदीर्ण क्रोधादि का निरोध तथा उदय में आए क्रोधादि को विफल करना, अकुशल मन आदि का निरोध और कुशल में प्रवृत्ति तथा स्त्री-पशु-नपुंसक-रहित एकान्त स्थान में वास, (७) प्रायश्चित्त—चित्त की विशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना, प्रतिक्रमण आदि करना; (८) विनय—देव, गुरु और धर्म का विनय—उनमें श्रद्धा और उनका सम्यक् आदर, सम्मान आदि करना, (९) वैयावृत्त्य—सयमी साधु की शुद्ध आहारादि से निरवद्य सेवा; (१०) स्वाध्याय—अध्यापन, प्रश्न, परिवर्त्तना—गुणना, अनुप्रेक्षा—चिन्तन और धर्मकथा; (११) ध्यान—आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान का त्याग कर धर्म-ध्यान या शुक्ल-ध्यान में आत्मा की स्थिरता और (१२) व्युत्सर्ग—काया की हलन-चलन आदि प्रवृत्तियों को छोड़ धर्म के लिये शरीर का व्युत्सर्ग करना।

७. लक्षण हैं :

प्रश्न होता है कि अहिंसा, सयम और तप से भिन्न कोई धर्म नहीं है और धर्म से भिन्न अहिंसा, सयम और तप नहीं हैं, फिर धर्म और अहिंसा आदि का पृथक् उल्लेख क्यों ?

इसका समाधान यह है कि 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। गम्य-धर्म आदि लौकिक-धर्म अहिंसात्मक नहीं होते। उन धर्मों से मोक्ष-धर्म को पृथक् करने के लिए इसके अहिंसा, सयम और तप ये लक्षण वतलाए गए हैं। तात्पर्य यह है कि जो धर्म अहिंसा, सयम और तपोमय है वही उत्कृष्ट मगल है, शेष धर्म उत्कृष्ट मगल नही हैं[1]। अहिंसात्मक धर्म ही निरवद्य है, शेष धर्म निरवद्य नही हैं।

दूसरी वात—धर्म और अहिंसा आदि में कार्य-कारण भाव है। अहिंसा, सयम और तप धर्म के कारण हैं। धर्म उनका कार्य है। कार्य कथञ्चित् भिन्न होता है, इसलिये धर्म और उसके कारण—अहिंसा, संयम और तप का पृथक् उल्लेख किया गया है।

घट और मिट्टी को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, इस दृष्टि से वे दोनों अभिन्न हैं, किन्तु घट मिट्टी से पूर्व नहीं होता, इस दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं। धर्म और अहिंसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता इसलिए ये अभिन्न हैं और अहिंसा के पूर्व धर्म नहीं होता इसलिये ये भिन्न भी हैं।

धर्म और अहिंसा के इस भेदात्मक सम्बन्ध को समझाने और अहिंसात्मक-धर्मों से हिंसात्मक-धर्म का पृथक्करण करने के लिए धर्म और अहिंसा आदि लक्षणों को अलग-अलग कहा गया है[2]।

१—नि० गा० ८६ धम्मो गुणा अहिसाइया उ ते परममङ्गल पइन्ना।

२—(क) जि० चू० पृ० ३७-३८ सीसो आह—'''धम्मग्गहणेण चेव अहिसासजमतवा घेप्पंति, कम्हा ? जम्हा अहिसा संजमे तवो चेव धम्मो भवइ, तम्हा अहिसासजमतवग्गहण पुनरुत्तं काऊण ण भणियव्वं। आचार्याह—अनैकान्तिकमेतत्, अहिसासजमतवा हि धर्मस्य कारणानि, धर्म कार्य, कारणाच्च कार्य स्याद् भिन्न, कथमिति ? अत्रोच्यते, अन्यत्कार्यं कारणात्, अभिधानवृत्तिप्रयोजनभेददर्शनात् घटपढवत् ' अहवा अहिसासजमतवगहणे सीसस्स संदेहो भवइ धम्मबहुत्वे कतरो एतेसि गम्मपसुदेसादीणं धम्माणं मगलमुकिट्ठं भवइ ? अहिसासजमतवग्गहणेण पुण नज्जइ जो अहिसासजमतवजुत्तो सो धम्मो मगलमुक्कट्ठ भवइ।

(ख) नि० गा० ४८, हा० टी० प० ३२ : धर्मग्रहणे सति अहिसासयमतपोग्रहणमयुक्त, तस्य अहिसासयमतपोरूपत्वाव्यभिचारादिति, उच्यते, न, अहिसादीनां धर्मकारणत्वाद्धर्मस्य च कार्यत्वात्कार्यकारणयोश्च कथञ्चिद्भेदात्, कथञ्चिद्भेदश्च तस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वात्, उक्त च—'णत्थि पुढवीविसिट्ठो घढोत्ति ज तेण जुज्जइ अणण्णो। जं पुण घडुत्ति पुव्व नासी पुढवीइ तो अन्नो।' गम्यादिधर्मव्यवच्छेदेन तत्स्वरूपज्ञापनार्थं वाऽहिसादिग्रहणमदुष्ट इति।

८. देव भी (देवा वि ग) :

जैन-धर्म में चार गति के जीव माने गये हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। इनमें देव[1] सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली और प्रभुत्ववाले होते हैं। साधारण लोग उनके अनुग्रह को पाने के लिए उनकी पूजा करते हैं। यहाँ कहा गया है कि जिसकी आत्मा धर्म में लीन रहती है उस धर्मात्मा की महिमा देवों से भी अधिक होती है, क्योंकि मनुष्य की तो बात ही क्या लोकपूज्य देव भी उसे नमस्कार करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि नरपति आदि तो धर्मी की पूजा करते ही हैं, महाऋद्धि-सम्पन्न देव भी उसकी पूजा करते हैं। यहाँ धर्म-पालन का यह आनुषङ्गिक फल बतलाया गया है। यहाँ यह बतलाया गया है कि धर्म से धर्मी की आत्मा के उत्कर्ष के साथ-साथ उसे असाधारण सांसारिक पूजा—मान-सम्मान आदि भी स्वयं प्राप्त होते हैं। पर यहाँ यह विवेक सीख लेना चाहिए कि धर्म से आनुषङ्गिक रूप में सांसारिक ऋद्धियाँ प्राप्त होने पर भी धर्म का पालन ऐसे सावद्य हेतु के लिए नहीं करना चाहिए। 'नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए'—निर्जरा—आत्मा को शुद्ध करने के सिवा अन्य किसी हेतु के लिए धर्म की आराधना न की जाय, यह भगवान् की आज्ञा है।

श्लोक २ :

९. थोड़ा-थोड़ा···पीता है (आवियइ ख) :

'आवियइ' का अर्थ है थोड़ा-थोड़ा पीना अर्थात् मर्यादापूर्वक पीना। तात्पर्य है—जिस प्रकार फूलों से रस-ग्रहण करने में भ्रमर मर्यादा से काम लेता है उसी प्रकार गृहस्थों से आहार की गवेषणा करते समय भिक्षु मर्यादा से काम ले—थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

१०. किसी पुष्प को (पुप्फं ग) :

द्वितीय श्लोक के प्रथम पाद में 'पुप्फेसु' बहुवचन में है। तीसरे पाद में 'पुप्फं' एकवचन में है। 'न य पुप्फं' का अर्थ है—एक भी पुष्प को नहीं—किसी भी पुष्प को नहीं।

११. म्लान नहीं करता (न य···किलामेइ ग) :

यह मधुकर की वृत्ति है कि वह फूल के रूप, वर्ण या गंध को हानि नहीं पहुँचाता। इसी प्रकार श्रमण भी किसी को खेद-खिन्न किये बिना, जो जितना प्रसन्न मन से दे उतना ले। 'धम्मपद' (पुप्फवग्गो ४ ६) में कहा है :

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसमादाय एवं गामे मुनी चरे॥

—जिस प्रकार फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुँचाये भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाँव में विचरण करे।

श्लोक ३ :

१२. (एमेए क) :

'अगस्त्य-चूर्णि' में 'एमेए' (एवम् एते) के 'एव' के 'व' का लोप माना है[2]। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'एवमेव' का रूप 'एमेव' बनता है[3]। 'एमेव' पाठ अधिक उपयुक्त है। किन्तु सभी आदर्शों और व्याख्याओं में 'एमेए' पाठ मिलता है, इसलिये मूल-पाठ उसीको माना है।

१—(क) जि० चू० पृ० १५ : देवा णाम दीव आगास तंमि आगासे जे वसंति ते देवा।
(ख) हा० टी० प० २०-२१ : "दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिस्वप्नकान्तिगतिषु" इत्यस्य धातोरच्प्रत्ययान्तस्य जनि देवा इति भवति। "दीव्यन्तीति देवा क्रीडन्तीत्यादि भावार्थः।
२—अ० चू० : वकार लोपो सिलोगपायाणुलोमेण।
३—हैमश० ८-१-२७१ : यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे व।

१३. मुक्त (मुत्ता क) :

पुरुष चार प्रकार के होते हैं[१]—

(१) बाह्य परिग्रह से मुक्त और आसक्ति से भी मुक्त।

(२) बाह्य परिग्रह से मुक्त किन्तु आसक्ति से मुक्त नहीं।

(३) बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं किन्तु आसक्ति से मुक्त।

(४) बाह्य परिग्रह से मुक्त नहीं और आसक्ति से भी मुक्त नहीं।

यहाँ 'मुक्त' का अर्थ है—ऐसे उत्तम श्रमण जो बाह्य-परिग्रह और आसक्ति दोनों से मुक्त होते हैं[२]।

१४. समण (समणा क) :

'समण' के संस्कृत रूप—समण, समनस्, श्रमण और शमन—ये चार हो सकते हैं।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' का अर्थ है सब जीवों को आत्म तुला की दृष्टि से देखनेवाला समता-सेवी[३]। 'समनस्' का अर्थ है राग-द्वेष रहित मनवाला—मध्यस्थवृत्ति[४]। ये दोनों आगम और नियुक्तिकालीन निरुक्त हैं। इनका सम्बन्ध 'सम' (सममणति और सममनस्) शब्द से ही रहा है। स्थानाङ्ग-वृत्ति में 'समन' का अर्थ पवित्र मनवाला भी किया गया है[५]। टीका-साहित्य में 'समण' को 'श्रम' धातु से जोड़ा गया और उसका संस्कृत रूप बना 'श्रमण'। उसका अर्थ किया गया है—तपस्या से खिन्न[६]—क्षीणकाय और तपस्वी[७]। 'शमन' की व्याख्या हमें अभी उपलब्ध नहीं है।

'समण' को कैसा होना चाहिए या 'समण' कौन हो सकता है—यह आगम और निर्युक्ति में उपमा द्वारा समझाया गया है[८]।

प्रवृत्तिलभ्य अर्थ—

'समण' की व्यापक परिभाषा 'सूत्रकृताङ्ग' में मिलती है—"जो अनिश्रित, अनिदान—फलाशंसा से रहित, आदानरहित, प्राणातिपात, मृषावाद, बहिस्तात्—अदत्त, मैथुन और परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष और सभी आस्रवों से विरत, दान्त, द्रव्य—मुक्त होने के योग्य और व्युत्सृष्ट-काय—शरीर के प्रति अनासक्त है, वह समण कहलाता है[९]।

१—स्था० ४ ४ ३६६ : चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तं० मुत्ते णाममेगे मुत्ते मुत्ते णाममेगे अमुत्ते, ४।

२—हा० टी० प० ६८ : 'मुक्ता' बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन।

३—नि० गा० १५४ : जह मम न पिय दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाण। न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो॥

४—नि० गा० १५५-१५६ : नत्थि य सि कोइ वेसो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु। एएण होइ समणो एसो अन्नोऽवि पज्जाओ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होइ पावमणो। सयणे य जणे य समो समो य माणावमाणेसु॥

५—स्था० ४ ४.३६३ अभयदेव टीका पृ० २६८ : सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्त्तत इति समनसः।

६—(क) श्रम तपसि खेदे।
(ख) सूत्र० १.१६.१ शीलांकाचार्य टीका प० २६३। श्राम्यति—तपसा खिद्यत इति कृत्वा श्रमण॥

७—हा० टी० प० ६८ : श्राम्यन्तीति श्रमणा, तपस्यन्तीत्यर्थ।

८—नि० गा० १५७ : उरग-गिरि-जलण-सागर-नहयल-तरुगणसमो य जो होइ। भमर-मिग-धरणि-जलरुह-रवि-पवणसमो जओ समणो॥

९—सूत्र० १ १६.२ एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाण च, अतिवाय च, मुसावाय च, बहिद्ध च, कोह च, माण च, मायं च, लोह च, पिज्ज च, दोस च, इच्चेव जओ जओ आदाण अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्व पडिविरते पाणाइवाया सिआदंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे।

पर्यायवाची नाम—

'समण' भिक्षु का पर्याय शब्द है। भिक्षु चौदह नामों से वचनीय है। उनमें पहला नाम 'समण' है। सब नाम इस प्रकार हैं—समण, माहन (ब्रह्मचारी या ब्राह्मण), क्षान्त, दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती (परमार्थ पंडित), विद्वान्, भिक्षु, रूक्ष, तीरार्थी और चरण-करण पारविद्[1]।

निर्युक्ति के अनुसार प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, परिव्राजक, समण, निर्ग्रन्थ, संयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्य, मुनि, क्षान्त, दान्त, विरत, रूक्ष और तीरार्थी (तीरस्थ)—ये 'समण' के पर्यायवाची नाम हैं[2]।

प्रकार—'समण' के पांच प्रकार हैं—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरुक्य और आजीवक[3]।

१५. संति साहुणो (ख):

'संति' के संस्कृत रूप 'संति' और 'शान्ति' दो बनते हैं। 'सन्ति' अस् धातु का बहुवचन है। 'सन्ति साहुणो' अर्थात् साधु हैं।

'शान्ति' के कई अर्थ उपलब्ध होते हैं—सिद्धि, उपशम, ज्ञान-दर्शन-चारित्र, अकुतोभय और निर्वाण। इस व्याख्या के अनुसार 'सन्ति साहुणो' का अर्थ होता है—सिद्धि आदि की साधना करनेवाला।

निर्युक्ति, चूर्णि और टीका में इसकी उक्त दोनों व्याख्याएँ मिलती हैं[4]।

आगम में 'सन्ति' हिंसा-विरति अथवा शान्ति के अर्थ में भी व्यवहृत हुआ है[5]। उसके अनुसार इसका अर्थ होता है—अहिंसा की साधना करनेवाला अथवा शान्ति की साधना करनेवाला। प्रस्तुत प्रकरण में 'समण' शब्द निर्ग्रन्थ श्रमण का द्योतक है।

१६. साधु हैं (साहुणो ख):

'साधु' शब्द का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के योग से अपवर्ग—मोक्ष की साधना करने वाला[6]। जो छः जीवनिकाय का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर उनकी हिंसा करने, कराने और अनुमोदन करने से सर्वथा विरत होते हैं तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों में सकल दुःख-क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं, वे साधु कहलाते हैं[7]।

१—सूत्र० २ १.१५ : उपसहारात्मक अग्र से भिक्खू परिणायकम्मे परिणायसंगे परिणायगेहवासे उवसंते समिए सहिए सया जए, सेव वयणिज्जे, तंजहा-समणेति वा, माहणेति वा, खंतेति वा, दंतेति वा, गुत्तेति वा, मुत्तेति वा, इसीति वा, मुणीति वा, कतीति वा, विऊति वा, भिक्खूति वा, लूहेति वा, तीरट्ठीति वा, चरण-करण-पारविउति बेमि।

२—(क) नि० गा० १५८ पव्वइए अणगारे पासंडे चरग तावसे भिक्खू। परिवाइये य समणे निग्गंथे संजए मुत्ते।

(ख) नि० गा० १५९ : तिन्ने ताई दविए मुणी य खंते य दंत विरए य। लूहे तीरट्ठेऽविय हवंति समणस्स नामाइं।

३—हा० टी० प० ६८ निग्गंथसक्कतावसगेरुयआजीव पंचहा समणा।

४—(क) हा० टी० प० ६८ : सन्ति—विद्यन्ते शान्ति—सिद्धिरुच्यते तां साधयन्तीति शान्तिसाधव।

(ख) अ० चू० : सन्ति—विज्जंति णेगंतरेसुवि एत्र धम्मता कहणत्थं, अहवा सन्ति—सिद्धि साधेंति संतिसाधव, उवसमो वा सन्ती त साहेंति सन्तिसाहवो। णेव्वाण-साहणेण साधव।

(ग) जि० चू० पृ० ६६ शान्तिनाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि अभिधीयन्ते, तामेव गुणविशिष्टां शान्ति साधयन्तीति साधव, अहवा सति अकुतोभय भण्णइ।

५—(क) सूत्र० १ ११ ११-१२ : उड्ढ अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा। सव्वत्थ विरतिं विज्जा, सन्ति निव्वाणमाहियं॥
पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई। मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो॥

(ख) उत्त० १२.४४ : कम्मेहा संजमजोगसंती। उत्त० १८.३८ : संती संतिकरे लोए।

६—नि० गा० १४६, हा० टी० प० ७६ : साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधव।

७—(क) नि० गा० ६३, हा० टी० प० ६३ . प्रव्रजिता. षड्जीवनिकायपरिज्ञानेन कृतकारितादिपरिवर्जनेन च।

(ख) भा० गा० १, हा० टी० प० ६३ : अहिंसाइएसु पंचसुवि। सब्भावेण जयन्ती॥

१७. दानभक्त (दाणभत्त ^घ) :

श्रमण साधु सर्वथा अपरिग्रही होता है। उसके पास रुपये-पैसे नहीं होते। शिष्य पूछता है—तब तो जैसे भ्रमर फूलों से रस पीता है वैसे ही साधु क्या वृक्षों के फल और कन्द-मूल आदि तोड़कर ग्रहण करें ? ज्ञानी कहते हैं—श्रमण फल-फूल, कन्द-मूल कैसे ग्रहण करेगा ? ये जीव हैं और वह सम्पूर्ण अहिंसा का व्रत ले चुका है। वृक्षों के फल आदि को ग्रहण करना वृक्ष-सन्तान की चोरी है। शिष्य पूछता है—तब क्या श्रमण आटा-दाल आदि माँग कर आहार पकाएं ? ज्ञानी कहते हैं—अग्नि जीव है। पचन-पाचन आदि क्रियाओं—आरंभों में अग्नि, जल आदि जीवों का हनन होगा। अहिंसक श्रमण ऐसा नहीं कर सकता। शिष्य पूछता है—तब श्रमण उदरपूर्ति कैसे करे ? ज्ञानी कहते हैं—वह दानभक्त-दत्तभक्त की गवेषणा करे। चोरी से बचने के लिये वह दाता द्वारा दिया हुआ ले। बिना दी हुई कोई चीज कहीं से न ले और दत्त ले—अर्थात् दाता के घर स्वप्रयोजन के लिए बना प्रासुक—निर्जीव ग्रहणयोग्य जो आहार-पानी हो वह ले[1]। ऐसा करने से वह अहिंसा-व्रत की अक्षुण्ण रक्षा कर सकेगा। शिष्य ने पूछा—भ्रमर बिना दिया हुआ कुसुम-रस पीते हैं और श्रमण दत्त ही ले सकता है, तब श्रमण को भ्रमर की उपमा क्यों दी गई है ? आचार्य कहते हैं—उपमा एकदेशीय होती है। इस उपमा में अनियतवर्त्तिता आदि धर्मों से श्रमण की भ्रमर के साथ तुलना होती है। किन्तु सभी धर्मों से नहीं। भ्रमर अदत्त रस भले ही पीता हो किन्तु श्रमण अदत्त लेने की इच्छा भी नहीं करते[2]।

१८. एषणा में रत (एसणे रया ^घ) :

साधु को आहारादि की खोज, प्राप्ति और भोजन के विषय में जो उपयोग—सावधानी रखनी होती है, उसे एषणा-समिति कहते हैं[3]। एषणा तीन प्रकार की होती हैं : (१) गोचर्या के लिये निकलने पर साधु आहार के कल्प्याकल्प्य के निर्णय के लिये जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे गो+एषणा=गवेषणा कहते हैं। (२) आहार आदि को ग्रहण करते समय साधु जिन-जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है, उसे ग्रहणैषणा कहते हैं। (३) मिले हुए आहार का भोजन करते समय साधु जिन नियमों का पालन अथवा दोषों का निवारण करता है, उन्हें परिभोगैषणा कहते हैं[4]। निर्युक्तिकार ने यहाँ प्रयुक्त 'एषणा' शब्द में तीनों एषणाओं को ग्रहण किया है[5]। अगस्त्यसिंह चूर्णि और हारिभद्रीय टीका में भी ऐसा ही अर्थ है[6]। जिनदास महत्तर 'एषणा' शब्द का अर्थ केवल गवेषणा करते हैं[7]। एषणा में रत होने का अर्थ है—एषणा-समिति के नियमों में तन्मय होना—पूर्ण उपयोग के साथ समस्त दोषों को टालकर गवेषणा आदि करना।

१—(क) नि० गा० १२३ : दाणेत्ति दत्तगिण्हण भत्ते भज सेव फासुगेगहणया। एसणतिगम्मि निरया उवसंहारस्स सुद्धि इमा॥

(ख) हा० टी० प० ६८ दानग्रहणाद्दत्त गृह्णन्ति नादत्तम्, भक्तग्रहणेन तदपि भक्त प्रासुक न पुनराधाकर्मादि।

(ग) तिलकाचार्य वृत्ति दानभक्तैषणे—दात्रा दानाय आनीतस्य भक्तस्य एषणे।

२—(क) नि० गा० १२६ : उवमा खलु एस कया पुव्वुत्ता देशलक्खणोवणया। अणिययवित्तिनिमित्त अहिंसअणुपालणट्ठाए॥

(ख) नि० गा० १२४ : अवि भमरमहुयरिगणा अविदिन्न आवियति कुसुमरसं। समणा पुण भगवतो नादिन्न भोत्तुमिच्छंति॥

३—उत्त० २४ . २ : इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय।

४—(क) उत्त० २४ : ११ गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य। आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥

(ख) उत्त० २४ : १२ . उग्गमुप्पायण पढमे बीए सोहेज्ज एसण। परिभोयम्मि चउक्क विसोहेज्ज जय जई॥

५—नि० गा० १२३ : एसणतिगम्मि निरया·· ॥

६—(क) अ० चू० : एषणे इति गवेषणा—गहण—घासेसणा सूइता।

(ख) हा० टी० प० ६८ : एषणाग्रहणेन गवेषणादित्रयपरिग्रहः।

७—जि० चू० पृ० ६७ : एसणागहणेण दसएसणादोसपरिसुद्ध गेण्हति, ते य इमे—तंजहा :—

सकियमक्खियनिक्खित्तपिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय एसणदोसा दस हवंति॥

श्लोक ४ :

१९. हम (वयं [क]) :

गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं कि यह हमारी प्रतिज्ञा है—"हम इस तरह से वृत्ति—भिक्षा प्राप्त करेंगे कि किसी जीव का उपहनन न हो।"

दूसरी बात—प्रथम पुरुष के प्रकरण में जो उत्तम पुरुष का प्रयोग हुआ है उसके आधार पर अन्य कल्पना भी की जा सकती है। ५।२।५ और ८।२० के श्लोक के साथ जैसे एक एक घटना जुड़ी हुई है, वैसे यहाँ भी कोई घटना जुड़ी हुई हो, यह सम्भव है। वहाँ (जि० चू० पृ० १९५,२८०) चूर्णिकार ने उसका उल्लेख किया है, यहाँ न किया हो। सम्भव है, इसके पीछे भी कोई घटना हो। जैसे कोई श्रमण भिक्षा के लिए किसी नवागन्तुक भक्त के घर पहुँचे। गृहस्वामी ने वन्दना की और भोजन लेने के लिए प्रार्थना की।

श्रमण ने पूछा—"भोजन हमारे लिए तो नहीं बनाया ?"

गृहस्वामी सकुचाता हुआ बोला—"इससे आपको क्या ? आप भोजन लीजिये।"

श्रमण ने कहा—"ऐसा नहीं हो सकता, हम उद्दिष्ट—अपने लिए बना भोजन नहीं ले सकते।"

गृहस्वामी—"उद्दिष्ट भोजन लेने से क्या होता है ?"

श्रमण—"उद्दिष्ट भोजन लेनेवाला श्रमण त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा के पाप से लिप्त होता है[1]।"

गृहस्वामी—"तो आप जीवन कैसे चलायेंगे ?"

श्रमण—"हम यथाकृत भोजन लेंगे।"

२०. यथाकृत (अहागडेसु [ग]) :

गृहस्थों के घर आहार, जल आदि उनके स्वय के उपयोग के लिए उत्पन्न होते रहते हैं। अग्नि तथा अन्य शस्त्र आदि से परिणत अनेक प्रासुक निर्जीव वस्तुएँ उनके घर रहती हैं। इन्हें 'यथाकृत' कहा जाता है[2]। इनमें से जो पदार्थ सेव्य हैं, उन्हें श्रमण लेते हैं।

उपमा की भाषा में—जैसे द्रुम स्वभावतः पुष्प और फल उत्पन्न करते हैं वैसे ही नागरिकों के गृहों में स्वभावतः आहार आदि निष्पन्न होते रहते हैं[3]। जैसे भ्रमर स्वभाव-प्रफुल्ल, प्रकृति-विकसित कुसुम से रस लेते हैं, वैसे ही श्रमण यथाकृत आहार लेते हैं[4]।

तृण के लिए वर्षा नहीं होती, हरिण के लिए तृण नहीं बढ़ते, मधुकर के लिए पेड़ पौधे पुष्पित नहीं होते[5]।

बहुत से ऐसे भी उद्यान हैं जहाँ मधुकर नहीं हैं, वहाँ भी पेड़-पौधे पुष्पित होते हैं। पुष्पित होना उनकी प्रकृति है[6]।

गृहस्थ श्रमणों के लिए भोजन नहीं पकाता। बहुत सारे गाँव और नगर ऐसे हैं जहाँ श्रमण नहीं जाते। भोजन वहाँ भी पकता है। भोजन पकाना गृहस्थ की प्रकृति है[7]। श्रमण ऐसे यथाकृत—सहज-सिद्ध भोजन की गवेषणा करते हैं, इसलिए वे हिंसा से लिप्त नहीं होते[8]।

१—(क) भा० गा० ३, हा० टी० प० ६४ · अप्फासुयकयकारियअणुमयउद्दिट्ठभोइणो हंदि। तसथावरहिंसाए जणा अकुसला उ लिप्पंति।
(ख) भा० गा० २, हा० टी० प० ६४ . ज भत्तपाणउवगरणवसहिसयणासणाइसु जयन्ति। फासुय अकयअकारियअणणुमयाणुद्दिट्ठभोई य।

२—हा० टी० प० ७२ . 'यथाकृतेषु' आत्मार्थमभिनिर्वर्तितेष्वाहारादिषु।

३—नि० गा० १२७ · जह दुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा। जह भमरा तह मुणिणो नवरि अदत्त न भुजति॥

४—नि० गा० १२८ कुसुमे सहावफुल्ले आहारन्ति भमरा जह तहा उ। भत्त सहावसिद्ध समणसुविहिया गवेसति॥

५—नि० गा० ९९ : वासइ न तणस्स कए न तण वड्ढइ कए मयकुलाण। न य रुक्खा सयसाला फुल्लति कए महुयराण॥

६—नि० गा० १०६ अत्थि बहू वणसडा भमरा जत्थ न उवेंति न वसति। तत्थऽवि पुप्फति दुमा पगई एसा दुमगणाण॥

७—नि० गा० ११३ · अत्थि बहुगामनगरा समणा जत्थ न उवेंति न वसति। तत्थवि रधति गिही पगई एसा गिहत्याण॥

८—नि० गा० १२९ . उवसहारो भमरा जह तह समणावि अवहजीवित्ति।

श्लोक ५ :

२१. अनिश्रित हैं (अणिस्सिया ख) :

मधुकर किसी एक फूल पर आश्रित नहीं होता। वह भिन्न-भिन्न फूलों से रस पीता है। कभी किसी पर जाता है और कभी किसी पर। उसकी वृत्ति अनियत होती है। श्रमण भी इसी तरह अनिश्चित हो। वह किसी एक पर निर्भर न हो। वह अप्रतिबद्ध हो[1]।

२२. नाना पिंड में रत हैं (नाणापिण्डरया ग) :

इसका अर्थ है, साधु—

(१) अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करे।

(२) कहाँ, किससे, किस प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो ले, इस तरह के अनेक अभिग्रहपूर्वक अथवा भिक्षाटन की नाना विधियों से भ्रमण करता हुआ ले[2]।

(३) विविध प्रकार का नीरस आहार ले[3]।

जो भिक्षु इस तरह किसी एक मनुष्य या घर पर आश्रित नहीं होता तथा आहार की गवेषणा में नाना प्रकार के वृत्तिसंक्षेप से काम लेता है वह हिंसा से सम्पूर्णतः बच जाता है और सच्चे अर्थ में साधुत्व को सिद्ध करता है।

२३. दान्त हैं (दंता ग) :

साधु के गुणों का उल्लेख करते हुए 'दान्त' शब्द का प्रयोग सूत्रों में अनेक स्थलों पर हुआ है। 'उत्तराध्ययन' में ८ और 'सूत्रकृताग' में ६ स्थलों पर यह शब्द व्यवहृत हुआ है। साधु दान्त हो, यह भगवान् को अत्यन्त अभीष्ट था। शीलाकाचार्य ने 'दान्त' शब्द का अर्थ किया है—इन्द्रियों को दमन करनेवाला[4]। चूर्णिकार भी यही अर्थ करते हैं। सूत्र के अनुसार 'दान्त' शब्द का अर्थ है—सयम और तप से आत्मा को दमन करनेवाला[5]। जो दूसरो के द्वारा वध और बन्धन से दमन किया जाता है, वह द्रव्य-दान्त होता है, भाव-दान्त नहीं। भाव-दान्त वह साधु है जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

यह शब्द लक्ष्य के बिना जो नानापिण्ड-रत जीव हैं उनसे साधु को पृथक् करता है। नानापिण्ड-रत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य से और भाव से। अश्व, गज आदि प्राणी लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत नही होते, इसलिये वे भाव से दान्त नही बनते। साधु लक्ष्यपूर्वक नानापिण्ड-रत होने के कारण भावतः दान्त होते हैं[6]।

१—जि० चू० पृ० ६८ : अणिस्सिया नाम अपडिबद्धा।

२—सूत्र० २.२ २४

३—(क) जि० चू० पृ० ६९ : णाणापिण्डरया णाम उक्खित्तचरगादी पिंडस्स अभिग्गहविसेसेण णाणाविधेसु रता, अहवा अंतपताईसु नाणा-विहेसु भोयणेसु रता, ण तेसु अरइ करेंति। भणितं चहे—

जं व तं च आसिय जत्थ व तत्थ व सुहोवगतनिद्दा। जेण व तेण सतुट्ठ धीर ! मुणिओ तुमे अप्पा॥

(ख) नि० गा० १२९: हा० टी० प० ७३ नाना—अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात्प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिंड—आहारपिण्ड, नाना चासौ पिंडश्च नानापिण्ड, अन्तप्रान्तादिर्वा, तस्मिन् रता—अनुद्वेगवन्त.।

४—सूत्र० १६. १ टी० पृ० ५५५ · दान्त इन्द्रियदमनेन।

५—उत्त० १ · १६ · वर मे अप्पा दन्तो सजमेण तवेण य। माह परेहि दम्मतो बंधणेहि वहेहि य॥

६—जि० चू० पृ० ६९ : णाणापिण्डरता दुविधा भवति, तजहा—दव्वओ भावओ य, दव्वओ आसहत्थिमादि, ते णो दन्ता भावओ, (साहवो पुणो) इदिएसु दन्ता।

२४. वे अपने इन्हीं गुणों से साधु कहलाते हैं (तेण वुच्चंति साहुणो घ) :

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—'गुणों से साधु होता है और गुणहीनता से असाधु।' इस अध्ययन में अप्रत्यक्ष रूप से साधु के कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण गुणों का उल्लेख है जिनसे साधु साधु कहलाता है। साधु अहिंसा, सयम और तपमय धर्म में रमा हुआ होना चाहिए। वह वाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त, शान्ति की साधना करनेवाला और दन्त होना चाहिए। वह अपनी आजीविका के लिए किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ न करे। वह अदत्त न ले। अपने सयमी-जीवन के निर्वाह के लिए वह भिक्षावृत्ति पर निर्भर हो। वह माधुकरी वृत्ति से भिक्षाचर्या करे। यथाकृत में से प्रासुक ले। वह किसी एक पर आश्रित न हो। यहाँ कहा गया है कि यही ऐसे गुण हैं जिनसे साधु साधु कहलाता है।

अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार 'तेण वुच्चति साहुणो' का भावार्थ है—वे नानापिण्डरत हैं, इसलिए साधु हैं[१]।

जिनदास लिखते हैं—श्रमण अपने हित के लिए त्रस-स्थावर जीवों की यतना रखते हैं इसलिए वे साधु हैं[२]।

एक प्रश्न उठता है कि जो अन्यतीर्थी हैं वे भी त्रस स्थावर जीवों की यतना करते हैं—अतः वे भी साधु क्यों नहीं होते? उसका उत्तर निर्युक्तिकार इस प्रकार देते हैं—'जो सद्भावपूर्वक त्रस स्थावर भूतों के हित के लिए यत्नवान होता है, वही साधु होता है[३]। अन्यतीर्थी सद्भावपूर्वक यतनायुक्त नहीं होते। वे छःकाय की यतना को नहीं जानते। वे उद्गम, उत्पातादि दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण नहीं करते। वे मधुकर की तरह अवधजीवी नहीं होते और न तीन गुप्तियों से युक्त होते हैं। उदाहरणस्वरूप कई श्रमण औद्देशिक आहार में, जिसमें कि जीवों की प्रत्यक्ष घात होती है, कर्मबन्ध नहीं मानते। कई श्रमणों का जीवन सूत्र ही है—"भोगों की प्राप्ति होने पर उनका उपभोग करना चाहिए"। ऐसे श्रमण अज्ञानरूपी महासमुद्र में डूबे हुए होते हैं। अत: उन्हें साधु कैसे कहा जाय[४]? साधु वे होते हैं—जो मन, वचन, काया और पाँचों इन्द्रियों का दमन करते हैं, ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कषायों को सयमित करते हैं तथा जो तप से युक्त होते हैं। ये साधु के सम्पूर्ण लक्षण हैं। इन्हीं से कोई साधु कहलाता है[५]। जिसमें ये गुण नहीं, वह साधु नहीं हो सकता। जो जिन वचन में अनुरक्त हैं, वे ही साधु हैं क्योंकि वे निर्कृति रहित और चरण-गुण से युक्त हैं[६]।

उपसहार में अगस्त्यसिंह कहते हैं—"अहिंसा, सयम, तप आदि साधनों से युक्त, मधुकरवत् अवध-आहारी साधु के द्वारा साधित धर्म ही उत्कृष्ट मगल होता है[७]।

१—अ० चू० जेण मधुकारसमा णाणापिंडरता य तेण कारणेण।

२—जि० चू० पृ० ७० . जेण कारणेण तसथावराण जीवाण अप्पणो य हियत्थ च भवइ तहा जयति अतो य ते साहुणो भण्णति।

३—नि० गा० १३० तसथावरभूयहिय जयति सब्भाविय साहू॥

४—(क) अ० चू० जति कोति भणेज्ज—तित्थतरिया वि अहिंसादिगुणजुत्ता इति तेसि पि धम्मो भविस्सति तत्थ समत्थमिदमुत्तर—ते छक्कायजतन ण जाणंति, ण वा उग्गमउप्पायणासुद्ध मधुकर वदणुवरोहि भुंजति, ण वा तिहि गुत्तीहि गुत्ता।

(ख) जि० चू० पृ० ७० जहा जइ कोई भणेज्जा परिव्वायगरत्तपडादिणो-तसथावरभूतहितत्थमप्पहितत्थ च जयता साहुणो भविस्सति, त च णेव भवइ, जेण ते सब्भावओ ण जयति, कह न जयति?, तत्थ सक्काणं ज उद्दिस्स सत्तोवघातो भवइ ण तत्थ तेसि कम्मबधो भवइ, परिव्वायगा नाम जइ किर तसि सद्दाइणो विसया इदियगोयर हव्वमागच्छति, भणिय तेसि 'इदियविसयपत्ताणं उवयोगो कायव्वो' एव ते अण्णाण महासमुद्दमोगाढा पडुप्पण्णभारिया जीवा ताणि आलबणाणि काऊण तमेव परिकिलेसावह गिहवास अवलवयति।

५—(क) नि० गा० १३५ काय वाय च मणं च इदियाइ च पच दमयति।
धारेति बभचेर सजमयति कसाए य॥

(ख) नि० गा० १३६ : ज च तवे उज्जुत्ता तेणेसि साहुलक्खण पुण्ण।
तो साहुणो त्ति भण्णति साहवो निगमण चेय॥

६—जि० चू० पृ० ७० ण तु सक्कादीण णियडिबहुलाणं, तम्हा जिणवयणरया साहुणो भवति।

७—अ० चू० (क) तम्हा अहिंसा-सयम तवसाहणोववेत मधुकरवय अणवज्जाहारसाधुसाहितो धम्मो मगल मुक्कट्ठ भवति।

(ख) तेहि समत्तसाधुलक्खणलक्खितेहि साधूहि साधितो ससारनित्थरणहेऊ सव्वदुक्खविमोक्खगमणसफलो धम्मो मगल मुक्कट्ठ भवति ति छट्ठ निद्दिट्ठ।

बीयं अज्झयणं
सामण्णपुव्वयं

द्वितीय अध्ययन
श्रामण्यपूर्वक

आमुख

जो संयम में श्रम करे—उसे श्रमण कहते हैं। श्रमण के भाव को—श्रमणत्व को—श्रामण्य कहते हैं।

बीज बिना वृक्ष नहीं होता—वृक्ष के पूर्व बीज होता है; दूध बिना दही नहीं होता—दही के पूर्व दूध होता है; समय बिना आवलिका नहीं होती—आवलिका के पूर्व समय होता है; दिवस बिना रात नहीं होती—रात के पूर्व दिन होता है। पूर्व दिशा के बिना अन्य दिशाएँ नहीं बनतीं—अन्य दिशाओं के पूर्व पूर्व दिशा होती है। प्रश्न है,—श्रामण्य के पूर्व क्या होता है?—वह कौन सी बात है जिसके बिना श्रामण्य नहीं होता, नहीं टिकता।

इस अध्ययन में जिस बात के बिना श्रामण्य नहीं होता—नहीं टिकता, उसकी चर्चा होने से इसका नाम श्रामण्यपूर्वक रखा गया है।

टीकाकार कहते है: "पहले अध्ययन में धर्म का वणन है। वह धृति बिना नहीं टिक सकता। अतः इस अध्ययन में धृति का प्रतिपादन है। कहा है :

जस्स धिई तस्स तवो जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा।
जे अधिइमत पुरिसा तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं॥

—जिसके धृति होती है, उसके तप होता है। जिसके तप होता है, उसको सुगति सुलभ है। जो अधृतिवान् पुरुष हैं, उनके लिए तप भी निश्चय ही दुर्लभ है।"

इसका अर्थ होता है : धृति—अहिंसा, संयम, तप और इनका समुदाय—श्रामण्य की जड़ है। श्रामण्य का मूल बीज धृति है। अध्ययन के पहले ही श्लोक में कहा है—"जो काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रामण्य का पालन कैसे कर सकेगा?" इस तरह काम-राग का निवारण करते रहना श्रामण्य का मूलाधार है—उसकी रक्षा का मूल कारण है।

साधु रथनेमि साध्वी राजीमती से विषय-सेवन की प्रार्थना करते हैं। उस समय साध्वी राजीमती उन्हें संयम में दृढ़ करने के लिए जो उपदेश देती है, अथवा इस कायरता के लिए उनकी जो समभावपूर्वक भर्त्सना करती है, वही बिना घटना-निर्देश के यहाँ अंकित है।

चूर्णि और टीकाकार सातवाँ, आठवाँ और नवाँ श्लोक ही राजीमती के मुंह से कहलाते हैं[१]। किन्तु लगता ऐसा है कि १ से ९ तक के श्लोक राजीमती द्वारा रथनेमि को कही गई उपदेशात्मक बातों के संकलन हैं। रथनेमि राजीमती से भोग की प्रार्थना करते हैं। वह उन्हें धिक्कारती है और संयम में फिर से स्थिर करने के लिए उन्हें (१) काम और श्रामण्य का विरोध (श्लोक १), (२) त्यागी का स्वरूप (श्लोक २-३) और (३) राग-विनयन का उपाय (श्लोक ४-५) बतलाती है। फिर संवेग भावना को जागृत करने के लिए उद्बोधक उपदेश देती है (श्लोक ६-९)। इसके बाद राजीमती के इस सारे कथन का जो असर हुआ उसका उल्लेख है (श्लोक १०)। अन्त में संकलनकर्त्ता का उपसंहारात्मक उपदेश है (श्लोक ११)।

१—देखिए पृ० २० पाद-टिप्पणी १

चूर्णिकार श्लोक ६ और ७ की व्याख्या में रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख निम्न रूप में करते हैं[१]

"[जब अरिष्टनेमि प्रव्रजित हो गये, उनके ज्येष्ठ-भ्राता रथनेमि राजीमती को प्रसन्न करने लगे, जिससे कि वह उन्हें चाहने लगें। भगवती राजीमती का मन काम-भोगों से निर्विण्ण—उदासीन हो चुका था। उसे यह मालूम हुआ। एकबार उसने मधु-घृत संयुक्त पेय पिया और जब रथनेमि आये तो मदनफल मुख में ले उसने उल्टी की और रथनेमि से बोली—"इस पेय को पीएँ।" रथनेमि बोले—"वमन किए हुए को कैसे पीऊँ?" राजीमती बोली—"यदि वमन किया हुआ नहीं पीते तो मैं भी अरिष्टनेमि स्वामी द्वारा वमन की हुई हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है?" इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा[२]। रथनेमि समझ गए और प्रव्रज्या ली। राजीमती भी उन्हें बोध दे प्रव्रजित हुई।

"बाद में किसी समय रथनेमि द्वारिका में भिक्षाटन कर वापस अरिष्टनेमि के पास आ रहे थे[३]।] रास्ते में वर्षा से घिर जाने से एक गुफा में प्रविष्ट हुए। राजीमती अरिष्टनेमि के वंदन के लिए गई थी। वन्दन कर वह वापस आ रही थी। रास्ते में वर्षा शुरू हो गई। भीग कर वह भी उसी गुफा में प्रविष्ट हुई, जहाँ रथनेमि थे। वहाँ उसने भीगे वस्त्रों को फैला दिया। उसके अंग-प्रत्यङ्गों को देख रथनेमि का भाव कलुषित हो गया। राजीमती ने अब उन्हें देखा। उनके अशुभ भाव को जानकर उसने उन्हें उपदेश दिया[४]।"

इस अध्ययन की सामग्री प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु में से ली गई है, ऐसी परम्परा धारणा है[५]। इस अध्ययन के कुछ श्लोक ७ से ११ 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २२ वे अध्ययन के श्लोक ४२, ४३, ४४, ४६, ४९ से अक्षरशः मिलते हैं[६]।

१—अ० चू० अरिट्ठणेमिसामिणो भाया रहणेमी भट्टारे पव्वइतं रायमतिं आराहेति 'जति इच्छेज्ज'। सा निव्विण्णकामभोगा तस्स विदिताभिप्पाया कल्लं मधु-घयसजुत्तं पेज्जं पिबितं आगते कुमारे मदणफलं मुहे पक्खिप्प पात्रीए छड्डु तुमुवणिमतेति—पिवसि पेज्जं ? तेण पडिवण्णे वतमुवणयति। तेण 'किमिदं' ? इति भणिते भणति-इदमवि एवं प्रकारमेव, भावतो हं भगवता परिच्चत्त त्ति वता, अतो तुज्झ मामभिलसतस्स

धिरत्थु ते जसोकामी जो तं जीवितकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे॥ ७॥

कयाति रहणेमी बारवतीतो भिक्खं हिंडिऊण सामिसगासमागच्छतो वद्दलाहतो एगं गुहमणुपविट्ठो। रातीमती य भगवतमभिवन्दिऊण सं लयणं गच्छती 'वासमुवगत' ति तामेव गुहामुवगता। स पुव्वपविट्ठमपेक्खमाणी उदओल्लमुपरिवत्थं णिप्पिलेऊ विसारेती विवसणोपरिसरीरा दिट्ठा कुमारेण, वियलियधिती जातो। सा हु भगवती सनिश्चलसत्ता तं दट्ठु तस्स वसकित्तिकित्तणेण संजमे धीतिसमुप्पायणत्थमाह —

अहं च भोगरातिस्स तं च सि अंधगवण्हिणो।
मा कुले गंधणा होमो संजमं णिहुओ चर॥ ८॥
जाति तं काहिसि भावं जा जा दच्छसि णारीतो।
वाताइद्धो व्व हढो अट्ठितप्पा भविस्सति॥ ९॥

२—चूर्णिकार और टीका के अनुसार ७ वां श्लोक कहा। देखिए पाद-टिप्पणी १।

३—उत्तराध्ययन सूत्र के २२ वें अध्ययन में अर्हत् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या का मार्मिक और विस्तृत वर्णन है। प्रसगवश रथनेमि और राजीमती के बीच घटी घटना का उल्लेख भी आया है। कोष्ठक के अन्दर का चूर्णि लिखित वर्णन उत्तराध्ययन में नहीं मिलता।

४—चूर्णिकार और टीका के अनुसार ८ वां और ९ वां श्लोक कहा। देखिए पाद-टिप्पणी १।

५—नि० गा० १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥

६—उत्तराध्ययन और दशवैकालिक दोनों सूत्रों पर अवलम्बित पूरी कथा के लिए देखिए—'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तक (द्वी० स०) पृ० ३९-४०

वीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वयं : श्रामण्यपूर्वक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[1]कहं नु कुज्जा सामण्णं जो कामे न निवारए। पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ ॥	कथं नु कुर्याच्छ्रामण्यं, यः कामान्न निवारयेत्। पदे पदे विषीदन्, सङ्कल्पस्य वशं गतः ॥१॥	जो मनुष्य संकल्प के वश हो,[2] पद-पद पर[3] विषाद-ग्रस्त[4] होता है[5] और काम[6]—विषय-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा[7] ?
२—वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य। अच्छन्दा जे न भुंजन्ति न से चाइ[11] त्ति वुच्चइ ॥	वस्त्रं गन्धं अलङ्कारं, स्त्रियः शयनानि च। अच्छन्दा ये न भुञ्जन्ति, न ते त्यागिन इत्युच्यते ॥२॥	जो वस्त्र, गंध, अलकार, स्त्रियों और पलङ्गों का परवश होने से, (या उनके अभाव में[8]) सेवन नहीं करता[9], वह त्यागी नहीं कहलाता[10]।
३—जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठिकुव्वई। साहीणे चयइ भोए से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥	यश्च कान्तान् प्रियान् भोगान्, लब्धान् विपृष्ठीकरोति। स्वाधीनः त्यजति भोगान्, स एव त्यागीत्युच्यते ॥३॥	त्यागी वह कहलाता है जो कान्त और प्रिय[12] भोग[13] उपलब्ध होने पर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है[14] और स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है[15]।
४—समाए पेहाए परिव्वयंतो सिया मणो निस्सरई बहिद्धा। न सा महं नोवि अहं पि तीसे इच्चेव[22] ताओ विणएज्ज रागं ॥	समया प्रेक्षया परिव्रजन् (तस्य), स्यान्मनो निःसरति बहिस्तात्। न सा मम नापि अहमपि तस्याः, इत्येवं तस्या विनयेद् रागम् ॥४॥	समदृष्टि पूर्वक[16] विचरते हुए भी[17] यदि कदाचित्[18] यह मन बाहर निकल जाय[19] तो यह विचार कर कि 'वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ,'[20] मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे[21]।
५—[23]आयावयाही चय सोउमल्लं कामे कमाही कमियं खु दुक्खं। छिन्दाहि दोसं विणएज्ज रागं एवं सुही होहिसि संपराए ॥	आतापय त्यज सौकुमार्यं, कामान् क्राम क्रान्तं खलु दुःखम्। छिन्धि दोषं विनयेद् रागं, एवं सुखी भविष्यसि सम्पराये ॥५॥	अपने को तपा[24]। सुकुमारता[25] का त्याग कर। काम—विषय-वासना का अतिक्रम कर। इससे दुःख अपने-आप क्रांत होगा। (संयम के प्रति) द्वेष-भाव[26] को छिन्न कर। (विषयों के प्रति) राग-भाव[27] को दूर कर। ऐसा करने से तू संसार में सुखी होगा[28]।

६—पक्खन्दे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं
कुले जाया अगन्धणे॥

प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं,
धूमकेतु दुरासदम्।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं,
कुले जाता अगन्धने॥६॥

अगधन कुल में उत्पन्न सर्प[२९] ज्वलित, विकराल[३०], धूमशिख[३१]—अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते[३२]।

७—[३३]धिरत्थु ते जसोकामी
जो तं जीवियकारणा।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे॥

धिगस्तु त्वा यशस्कामिन्,
यस्त्वं जीवितकारणात्।
वान्तमिच्छस्यापातुं,
श्रेयस्ते मरणं भवेत्॥७॥

हे यशःकामिन्![३४] धिक्कार है तुझे। जो तू भोगी-जीवन के लिए[३५] वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तेरा मरना श्रेय है[३६]।

८—अहं च भोयरायस्स
तं चऽसि अन्धगवण्हिणो।
मा कुले गन्धणा होमो
संजमं निहुओ चर॥

अहं च भोजराजस्य,
त्वं चाऽसि अन्धकवृष्णेः।
मा कुले गन्धनौ भूव,
संयमं निभृतश्चर॥८॥

मैं भोजराज की पुत्री हूँ[३७] और तू अंधकवृष्णि का पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हों[३८]। तू निभृत हो—स्थिर मन हो—संयम का पालन कर।

९—जइ तं काहिसि भावं
जा जा दच्छसि नारिओ।
वायाइद्धो व्व हडो
अट्ठियप्पा भविस्ससि॥

यदि त्वं करिष्यसि भावं,
या या द्रक्ष्यसि नारीः।
वाताविद्ध इव हटः,
अस्थितात्मा भविष्यसि॥९॥

यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट[३९] की तरह अस्थितात्मा हो जायेगा[४०]।

१०—तीसे सो वयणं सोच्चा
संजयाए सुभासियं।
अंकुसेण जहा नागो
धम्मे संपडिवाइओ॥

तस्याः स वचनं श्रुत्वा,
संयतायाः सुभाषितम्।
अंकुशेन यथा नागो,
धर्मे सम्प्रतिपादितः॥१०॥

संयमिनी के इन सुभाषित[४१] वचनों को सुनकर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गये, जैसे अंकुश से नाग[४२]—हाथी होता है।

११—एवं करेन्ति संबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से पुरिसोत्तमो॥
त्ति बेमि

एवं कुर्वन्ति सम्बुद्धाः,
पण्डिताः प्रविचक्षणाः।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः,
यथा स पुरुषोत्तमः॥११॥
इति ब्रवीमि।

सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण[४३] पुरुष ऐसा ही करते हैं—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे कि पुरुषोत्तम[४४] रथनेमि हुए।

मैं ऐसा कहता हूँ।

★

टिप्पणियाँ : अध्ययन २

श्लोक १ :

१. तुलना :

यह श्लोक 'सयुत्त-निकाय' के निम्न श्लोक के साथ अद्भुत सामञ्जस्य रखता है :

दुक्करं दुत्तितिक्खञ्च अब्यत्तेन हि सामञ्ञं। बहूहि तत्थ सम्बाधा यत्थ बालो विसीदतीति।
कतिहं चरेय्य सामञ्ञं चितं चे न निवारये। पदे पदे विसीदेय्य संकप्पानं वसानुगोति ॥

१.१७

इस श्लोक का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :

कितने दिनों तक श्रमण-भाव को पालेगा, यदि अपने चित्त को वश में नहीं ला सकता।
पद-पद में फिसल जायगा, इच्छाओं के अधीन रहने वाला ॥

—सयुक्त-निकाय १।२।७ पृ० ८

२. संकल्प के वश हो (संकप्पस्स वसं गओ घ) :

यहाँ सकल्प का अर्थ काम-अध्यवसाय है[१]। काम का मूल सकल्प है। सकल्प से काम और काम से विपाद यह इनके होने का क्रम है। सूक्त के रूप में यू कहा जा सकता है—"सकल्पाज्जायते कामो विषादो जायते ततः।"

सकल्प और काम का सम्बन्ध दरसाने के लिये 'अगस्त्य-चूर्णि' में एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

"काम! जानामि ते रूपं, सङ्कल्पात् किल जायसे।
न ते सङ्कल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥"

—काम! मै तुझे जानता हूँ। तू सकल्प से पैदा होता है। मैं तेरा सकल्प ही नही करूँगा। तू मेरे मन में फिर उत्पन्न कैसे होगा? नहीं हो सकेगा।

३. पद-पद पर (पए पए ग) :

स्पर्शन आदि इन्द्रिय, स्पर्श आदि इन्द्रियो के विषय, क्रोधादि कषाय, क्षुधा आदि परीषह, वेदना, असुखानुभूति और पशु आदि द्वारा कृत उपसर्ग अपराध-पद कहे गए हैं[२]। अपराध-पद अर्थात् ऐसे विकार-स्थल जहाँ हर समय मनुष्य के विचलित होने की सभावना रहती है।

४. विषाद-ग्रस्त (विसीयंतो ग) :

क्षुधा, तृषा, ठण्डक—सर्दी, गर्मी, डास—मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ—आहारादि का न मिलना, शय्या का अभाव—ऐसे परीषह—कष्ट साधु को होते ही रहते हैं। वध—मारे जाने, आक्रोश—कठोर वचन कहे जाने आदि के उपसर्ग—यातनाएँ उसके सामने आती

१—जि० चू० पृ० ७८ : सकप्पोत्ति वा छदोत्ति वा कामज्झवसायो।

२—नि० गा० १७५ : इदियविसयकसाया परीसहा वेयणा य उवसग्गा।
एए अवराहपया जत्थ विसीयति दुम्मेहा ॥

ही रहती हैं। रोग, तृण-स्पर्श की वेदना, उग्र विहार और मैल की असह्यता, एकान्त-वास के भय, एकान्त में स्त्रियों द्वारा अनुराग किया जाना, सत्कार-पुरस्कार की भावना, प्रज्ञा और ज्ञान के न होने से हीन भावना से उत्पन्न हुई ग्लानि आदि अनेक पद हैं—बातें हैं, जहाँ मनुष्य विचलित हो जाता है। परीषह, उपसर्ग और वेदना के समय आचार का भंग कर देना, खेद-खिन्न हो जाना, 'इससे तो पुनः गृहवास मे चला जाना अच्छा' ऐसा सोचना, अनुताप करना, इन्द्रियों के विषयों में फँस जाना, कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ कर बैठना—इसे विषाद-ग्रस्त होना कहते हैं। संयम और धर्म के प्रति अरुचि की भावना को उत्पन्न होने देना विषाद है।

५. पद-पद पर विषाद-ग्रस्त होता है (पए पए विसीयंतो ग) :

पद-पद पर विषाद-ग्रस्त होने की बात को समझाने के लिए एक कहानी मिलती है[1], जिसके पूर्वार्द्ध का सार इस प्रकार है—

एक वृद्ध पुरुष पुत्र सहित प्रव्रजित हुआ[2]। चेला वृद्ध साधु को अतीव इष्ट था। एक बार दुःख प्रकट करते हुए वह कहने लगा : "बिना जूते के चला नहीं जाता।" अनुकम्पावश वृद्ध ने उसे जूतों की छूट दी। तब चेला बोला : "ऊपर का तला ठण्ड से फटता है।" वृद्ध ने मोजे करा दिए। तब कहने लगा—"सिर अत्यन्त जलने लगता है।" वृद्ध ने—सिर ढकने के वस्त्र की आज्ञा दी। तब बोला—"भिक्षा के लिए नहीं घूमा जाता।" वृद्ध ने वहीं उसे लाकर देना शुरू किया। फिर बोला—"भूमि पर नहीं सोया जाता।" वृद्ध ने बिछौने की आज्ञा दी। फिर बोला—"लोच करना नहीं बनता।" वृद्ध ने क्षुर को काम में लाने की आज्ञा दी। फिर बोला—"बिना स्नान नहीं रहा जाता।" वृद्ध ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस तरह वृद्ध साधु स्नेहवश बालक साधु की इच्छानुसार करता जाता था। काल बीतने पर बालक साधु बोला—"मैं बिना स्त्री के नहीं रह सकता।" वृद्ध ने यह जानकर कि यह शठ और अयोग्य है, उसे अपने आश्रय से दूर कर दिया।

इच्छाओं के वश होनेवाला, इसी तरह बात-बात में शिथिल हो, कायरता दिखा, अपना विनाश करता है।

६. काम (कामे ख) :

काम दो प्रकार के हैं : द्रव्य-काम और भाव काम[3]। विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य—इष्ट शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं[4]। जो मोह के उदय के हेतु भूत द्रव्य हैं—जिनके सेवन से शब्दादि विषय उत्पन्न होते हैं, वे द्रव्य-काम हैं[5]।

भाव-काम दो तरह के हैं—इच्छा-काम और मदन-काम[6]।

१—(क) अ० चू०
(ख) जि० चू० पृ० ७८
(ग) हा० टी० पृ० ८६

२—हरिभद्र सूरि के अनुसार वह कोंकण देश का था (हा० टी० प० ८६)।

३—नि० गा० १६१ : नाम ठवणा कामा दव्वकामा य भावकामा य।

४—(क) जि० चू० पृ० ७५ : ते इट्ठा सद्दरसरूवगंधफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहिं कामा भवंति।
(ख) हा० टी० प० ८५ : शब्दरसरूपगन्धस्पर्शा मोहोदयाभिभूतैः सत्त्वैः काम्यन्त इति कामाः।

५—(क) नि० गा० १६२ : सद्दरसरूवगंधाफासा उदयकरा य जे दव्वा।
(ख) जि० चू० पृ० ७५ : जाणि य मोहोदयकारणाणि वियडमादीणि दव्वाणि तेहिं अब्भवहरिएहिं सद्दादिणो विसया उदिज्जंति एते दव्वकामा।
(ग) हा० टी० प० ८५ : मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकटमांसादीनि तान्यपि मदनकामाख्यभावकामहेतुत्वात् द्रव्यकामा इति।

६—नि० गा० १६२ : दुविहा य भावकामा इच्छाकामा मयणकामा॥

इच्छा अर्थात् एषणा—चित्त की अभिलाषा। अभिलाषा रूप काम को इच्छा-काम कहते हैं[१]। इच्छा प्रशस्त और अप्रशस्त दो तरह की होती है[२]। धर्म और मोक्ष की इच्छा प्रशस्त इच्छा है। युद्ध की इच्छा, राज्य की इच्छा, विषय-सेवन की इच्छा अप्रशस्त है[३]।

वेदोपयोग को मदन-काम कहते हैं[४]। वेदोदय से स्त्री का पुरुष की अभिलाषा करना अथवा पुरुषोदय से पुरुष का स्त्री की अभिलाषा करना तथा विषय-भोग मे प्रवृत्ति करना मदन-काम है। मदमय होना मदन-काम है[५]।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस प्रकरण मे काम शब्द मदन-काम का द्योतक है[६]।

चूर्णिकार और टीकाकार भी कहते हैं कि निर्युक्तिकार का यह कथन—"विषय-सुख मे आसक्त और काम-राग में प्रतिबद्ध जीव को काम धर्म से गिराते हैं। पण्डित काम को रोग कहते हैं। जो कामों की प्रार्थना करते हैं वे प्राणी निश्चय ही रोगों की प्रार्थना करते हैं[७]"—मदन-काम से सम्बन्धित है।

पर वास्तव में कहा जाय तो श्रमणत्व-पालन करने की शर्त के रूप में अप्रशस्त इच्छा-काम और मदन-काम, दोनों के समान रूप से निवारण करने की आवश्यकता है।

७. श्रमणत्व का पालन कैसे करेगा ? (कहं नु कुज्जा सामण्णं [क]) :

'अगस्त्य चूर्णि में' 'कह' शब्द को प्रकार वाचक माना है और बताया है कि उसका प्रयोग प्रश्न करने में किया जाता है। वहाँ 'नु' को 'वितर्क' वाचक माना है[८]। 'कह नु' का अर्थ होता है—किस प्रकार—कैसे ?

जिनदास के अनुसार 'कह नु' (स० कथ नु) का प्रयोग दो तरह से होता है। एक क्षेपार्थ में और दूसरा प्रश्न पूछने मे[९]। **कथ नु स राजा, यो न रक्षति'**—वह कैसा राजा, जो रक्षा न करे ! **'कथ नु स वैयाकरणो योऽपशब्दान् प्रयुङ्क्ते'**—वह कैसा वैयाकरण जो अपशब्दों का प्रयोग करे ! 'कह नु' का यह प्रयोग क्षेपार्थक है। **'कथ नु भगवन् जीवा सुखवेदनीयं कर्म्म बध्नंति,'**—भगवान् ! जीव सुखवेदनीय कर्म का बंधन कैसे करते हैं ? यहाँ 'कथ नु' का प्रयोग प्रश्नवाचक है। 'कह नु कुज्जा सामण्ण' मे इसका प्रयोग क्षेप—आक्षेप रूप में हुआ है। आक्षेपपूर्ण शब्दों में कहा गया है—वह श्रामण्य को कैसे निभाएगा जो काम का निवारण नही करता ! काम-राग का निवारण श्रामण्य-पालन की योग्यता की पहली कसौटी है।

जो ऐसे अपराध-पदों के सम्मुख खिन्न होता है, वह श्रामण्य का पालन नहीं कर सकता। शीलागों की रक्षा के लिए आवश्यक है कि सयमी अपराध-पदों के अवसर पर ग्लानि, खेद, मोह आदि की भावना न होने दे।

१—नि० १६२ हा० टी० प० ८५ तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलापरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा।

२—नि० गा० १६२ : इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य.

३—जि० चू० पृ० ७६ : तत्थ पसत्था इच्छा जहा धम्म कामयति मोक्ख कामयति, अपसत्था इच्छा रज्जं वा कामयति जुद्ध वा कामयति एवमादि इच्छाकामा।

४—नि० गा० १६३ : . . . . . .मयणमि वेयउवओगो।

५—(क) जि० चू० पृ० ७६ जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिस पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थी, एवमादी।
(ख) नि० १६२, १६३ हा० टी० प० ८५-८६ : मदयतीति तथा मदन —चित्रो मोहोदय स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामा मदनकामा 'वेद्यत इति वेद —स्त्रीवेदादिस्तदुपयोग —तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये, यथा स्त्रीवेदोदयेन पुरुष प्रार्थयत इत्यादि।

६—नि० गा० १६३ : . . . . मयणंमि वेयउवओगो।
तेणहिगारो तस्स उ वयति धीरा निरुत्तमिणं॥

७—नि० गा० १६४-१६५ : विसयसुहेसु पसत्त अबुहजणं कामरागपडिबद्ध।
उक्कामयति जीव धम्माओ तेण ते कामा॥
अन्नपि य से नामं कामा रोगत्ति पडिया बिंति।
कामे पत्थेमाणो रोगे पत्थेइ खलु जन्तू॥

८—अ० चू० : कह सद्दो प्रकारवाचीति नियमेण पुच्छाए वट्टति। णु—सद्दो वितक्के, प्रकार वियक्केति, केण णु प्रकारेण सो सामण्णं कुज्जा।

९—जि० चू० पृ० ७५ : कहणुत्ति—किं—केन प्रकारेण। . . .कथ नु शब्द क्षेपे प्रश्ने च वर्त्तते।

शिष्य ने पूछा—"भगवान् ! जो कान्त होते हैं, वे ही प्रिय होते हैं, फिर एक साथ दो विशेषण क्यों ?"

आचार्य ने कहा—"शिष्य ! (१) एक वस्तु कान्त होती है पर प्रिय नहीं होती। (२) एक वस्तु प्रिय होती है पर कान्त नहीं होती। (३) एक वस्तु प्रिय भी होती है और कान्त भी। (४) एक वस्तु न प्रिय होती है और न कान्त।"

शिष्य ने पूछा—"भगवन् ! इसका क्या कारण है ?"

आचार्य ने कहा—"शिष्य ! किसी व्यक्ति को कान्त वस्तु में कान्त-बुद्धि उत्पन्न होती है और किसी को अकान्त-वस्तु में भी कान्त-बुद्धि उत्पन्न होती है। एक वस्तु किसी एक के लिए कान्त होती है, वही दूसरे के लिए अकान्त होती है। क्रोध, असहिष्णुता अकृतज्ञता और मिथ्यात्वाभिनिवेश—बोध-विपर्यास—इन कारणों से व्यक्ति विद्यमान गुणों को नहीं देख पाता किन्तु अविद्यमान दोष देखने लग जाता है, कान्त में अकान्त की बुद्धि बन जाती है[1]। जो कान्त होता है, वह प्रिय होता है, ऐसा नियम नहीं है। इसलिए 'कान्त' और 'प्रिय' ये दोनों विशेषण सार्थक हैं[2]।

१३. भोग (भोए [क]) :

इन्द्रियों के विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का आसेवन भोग कहलाता है[3]।

भोग काम का उत्तरवर्ती है—पहले कामना होती है, फिर भोग होता है। इसलिए काम और भोग दोनों एकार्थक जैसे बने हुए हैं। आगमों में रूप और शब्द को काम तथा स्पर्श, रस और गन्ध को भोग कहा है। रूप चक्षु के साथ स्पृष्ट नहीं होता[4], शब्द श्रोत्र के साथ स्पृष्ट मात्र होता है[5] इसलिए चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय की अपेक्षा जीव कामी कहलाते हैं[6]।

स्पर्श, रस और गन्ध अपने ग्राहक इन्द्रियों के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं[7]। इसलिए स्पर्शन, रसन और घ्राण-इन्द्रिय की अपेक्षा जीव भोगी कहलाते हैं[8]। यह सूक्ष्म-दृष्टि है। यहाँ व्यवहार-स्पर्शी स्थूल दृष्टि से सभी विषयों के आसेवन को भोग कहा है।

१४. पीठ फेर लेता है (पिट्ठि कुव्वई [ख]) :

इसका भावार्थ है—भोगों का परित्याग करता है, उन्हे दूर से ही वर्जता है, उनकी ओर पीठ कर लेता है। उनके सम्मुख नहीं ताकता। उनसे मुह मोड लेता है[9]।

हरिभद्र सूरि ने यहाँ 'विपिट्ठि कुव्वइ' का अर्थ किया है "विविधै अनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः पृष्ठतः करोति—परित्यजति"—विविध—अनेक प्रकार की शुभभावना आदि से भोगों को पीठ पीछे करता है—उनका परित्याग करता है।

१—स्था० ४।४।३७० चउहिं ठाणेहिं सते गुणे णासेज्जा, तजहा कोहेण, पडिनिसेवेण, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिनिवेसेण।

२—जि० चू० पृ० ८२ एत्थ सीसो पुण चोएति णणु जे कता ते चेव पिया भवति ? आचार्य प्रत्युवाच—कता णामेगे णो पिया (१), पिया णामेगे णो कता (२), एगे पियावि कतावि (३), एगे णो पिया णो कता (४)। किं 'कारण' ? कस्सवि कंतेसु कतबुद्धी उप्पज्जइ, कस्सइ पुण अकंतेसुवि कतबुद्धी उप्पज्जइ, अहवा जे चेव अण्णस्स कता ते चेव अण्णस्स अकता।

३—जि० चू० पृ० ८२ भोगा—सद्दादयो विसया।

४—नन्दी सू० ३७ : गा० ७८ पुट्ठ सुणेइ सद्द रूव पुण पासई अपुट्ठ तु। गध रस च फास च बद्धपुट्ठ वियागरे॥

५—न० सू० ३७ : गा० ७८

६—भग० ७।७

७—न० सू० ३७ . गा० ७८

८—भग० ७।७ . सोइदियचक्खिदियाइ पडुच्च कामी घाणिदियजिब्भिदियफासिदियाइ पडुच्च भोगी।

९—(क) जि० चू० पृ० ८३ . तओ भोगाओ विविहेहिं सपण्णा विपट्ठीओ उ कुव्वइ, परिचयइत्ति वुत्त भवइ, अहवा विप्पट्ठि कुव्वतित्ति दूरओ विवज्जयती, अहवा विप्पट्ठिन्ति पच्छओ कुव्वइ, ण मग्गओ।

(ख) हा० टी० प० ९२ विविधम्-अनेकैः प्रकारैः शुभभावानादिभि पृष्ठत करोति, परित्यजति।

१५. स्वाधीनता पूर्वक भोगों का त्याग करता है (साहीणे चयइ भोए ग) :

प्रश्न है—जब 'लब्ध' शब्द है ही तब पुनः 'स्वाधीन' शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? क्या दोनों एकार्थक नहीं ?

चूर्णिकार के अनुसार 'लब्ध' शब्द का सम्बन्ध पदार्थों से है और स्वाधीन का सम्बन्ध भोक्ता से। स्वाधीन अर्थात् स्वस्थ और भोग-समर्थ। उन्मत्त, रोगी और प्रोषित पराधीन हैं[1]। वे अपनी परवशता के कारण भोगों का सेवन नहीं कर पाते। यह उनका त्याग नहीं है।

हरिभद्र सूरि ने व्याख्या में कहा है—किसी बन्धन में बंधे होने से नहीं, वियोगी होने से नहीं, परवश होने से नहीं, पर स्वाधीन होते हुए भी जो लब्ध भोगों का त्याग करता है, वह त्यागी है[2]।

जो विविध प्रकार के भोगों से सम्पन्न है, जो उन्हें भोगने में भी स्वाधीन है वह यदि अनेक प्रकार की शुभ भावना आदि से उनका परित्याग करता है तो वह त्यागी है।

व्याख्याकारों ने स्वाधीन भोगों को त्यागनेवाले व्यक्तियों के उदाहरण में भरत चक्रवर्ती आदि का नामोल्लेख किया है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि भरत और जम्बू जैसे स्वाधीन भोगों को परित्याग करनेवाले ही त्यागी हैं, तो क्या निर्धनावस्था में प्रव्रज्या लेकर अहिंसा आदि से युक्त हो श्रामण्य का सम्यक् रूप से पालन करनेवाले त्यागी नहीं हैं ? आचार्य उत्तर देते हैं—ऐसे प्रव्रजित भी दीन नहीं। वे भी तीन रत्नकोटि का परित्याग कर प्रव्रज्या होते हैं। लोक में अग्नि, जल और महिला—ये तीन सार रत्न हैं। इन्हें छोड़कर वे प्रव्रजित होते हैं, अतः वे त्यागी हैं। शिष्य पूछता है—ये रत्न कैसे हैं ? आचार्य दृष्टान्त देते हुए कहते हैं . एक लकड़हारा ने सुधर्म-स्वामी के समीप प्रव्रज्या ली। जब वह भिक्षा के लिए अटन करता तब लोग व्यंग में कहते—'यह लकड़हारा है जो प्रव्रजित हुआ है।' साधु बालक बुद्धि से आचार्य से बोला—'मुझे अन्यत्र ले-जायँ, मैं ताने नहीं सह सकता।' आचार्य ने अभयकुमार से कहा—'हम विहार करेंगे।' अभयकुमार बोला—'क्या यह क्षेत्र मासकल्प के योग्य नहीं कि उसके पहले ही आप विहार करने का विचार करते हैं ?' आचार्य ने सारी बातें कहीं। अभयकुमार बोला—'आप विराजें। मैं लोगों को युक्ति से निवारित करूँगा।' आचार्य वहीं विराजे। दूसरे दिन अभयकुमार ने तीन रत्नकोटि के ढिग स्थापित किये। नगर में उद्घोषणा कराई—'अभयकुमार दान देते हैं।' लोग आये। अभयकुमार बोले—'ये तीन रत्नकोटि के ढिग हैं। जो अग्नि, पानी और स्त्री—इन तीन को छोड़ेगा उसे मैं ये तीन रत्नकोटि दूंगा।' लोग बोले—'इनके बिना रत्नकोटियों से क्या प्रयोजन ?' अभयकुमार बोले—'तब क्यों व्यंग करते हो कि दीन लकड़हारा प्रव्रजित हुआ है ? उसके पास धन भले ही न हो, उसने तीन रत्नकोटि का परित्याग किया है।' लोग बोले—'स्वामिन् ! सत्य है।' आचार्य कहते हैं—इस तरह तीन सार पदार्थ—अग्नि, उदक और महिला को छोड़कर प्रव्रज्या लेनेवाला धनहीन व्यक्ति भी संयम में स्थित होने पर त्यागी कहलायेगा[3]।

श्लोक ४ :

१६. समदृष्टि पूर्वक (समाए पेहाए क) :

चूर्णि और टीका के अनुसार 'समाए' का अर्थ है—अपने और दूसरे को समान देखते हुए[4]। अपने और दूसरे में अन्तर न करते हुए। 'पेहाए' का अर्थ है प्रेक्षा, चिन्ता, भावना, ध्यान या दृष्टि पूर्वक।

१—जि० चू० पृ० ८३ : साहिणो णाम कल्लसरीरो, भोगसमत्थोत्ति वुत्त भवइ, न उम्मत्तो रोगिओ पवसिओ वा।

२—हा० टी० प० ९२ : स च न बन्धनबद्ध. प्रोषितो वा किन्तु ? 'स्वाधीन.' अपरायत्तः स्वाधीनानेव त्यजति भोगान्'..... स एव त्यागीत्युच्यते।

३—अ० चू०; जि० चू० पृ० ८४; हा० टी० प० ९३।

४—(क) जि० चू० पृ० ८४ : समा णाम परमप्पाण च सम पासइ, णो विसमं, पेहा णाम चिन्ता भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० ९३ : 'समया' आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा—दृष्टिस्तया प्रेक्षया—दृष्ट्या।

पर यहाँ 'समाए पेहाए' का अर्थ—'रूप-कुरूप में समभाव रखते हुए—राग-द्वेष की भावना न करते हुए'—अधिक संगत लगता है। समदृष्टि पूर्वक अर्थात् प्रशस्त ध्यान पूर्वक।

अगस्त्य चूर्णि में इसका वैकल्पिक पाठ 'समाय' माना है[1]। उस हालत में अर्थ होगा—"संयम के लिए प्रेक्षापूर्वक विचरते हुए।"

१७. (परिव्वयंतो क):

अगस्त्य चूर्णि में 'परिव्वयतो' के अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है[2]। वैकल्पिक रूप में इसे मन के साथ जोड़ा है[3]। इसका अनुवाद इन शब्दों में होगा—साम्य-चिंतन में रमता हुआ मन।

जिनदास महत्तर 'परिव्वयतो' को प्रथमा का एकवचन मानते हैं और अगले चरण से उसका सम्बन्ध जोड़ने के लिए 'तस्स' का अध्याहार करते हैं[4]।

१८. यदि कदाचित् (सिया ख):

अगस्त्य चूर्णि में 'सिया' शब्द का अर्थ 'यदि' किया गया है[5]। इसका अर्थ—स्यात्, कदाचित् भी मिलता है[6]। भावार्थ है: प्रशस्तध्यान-स्थान में वर्तते हुए भी यदि हठात् मोहनीय कर्म के उदय से[7]।

१९. मन बाहर निकल जाय (मणो निस्सरई बहिद्धा ख):

'बहिद्धा' का अर्थ है बहिस्तात्—बाहर। भावार्थ है—जैसे घर मनुष्य के रहने का स्थान होता है वैसे ही श्रमण-साधु के मन के रहने का स्थान संयम होता है। कदाचित् कर्मोदय से भुक्तभोगी होने पर पूर्व-क्रीड़ा के अनुस्मरण से अथवा अभुक्तभोगी होने पर कौतूहलवश मन—अंतःकरण—काबू में न रहे—संयमरूपी घर से बाहर निकल जाय[8]।

स्थानाङ्ग-टीका में 'बहिद्धा' का अर्थ "मैथुन" मिलता है[9]। यह अर्थ लेने से अर्थ होगा—मन मैथुन में प्रवृत्त हो जाय।

'कदाचित्' शब्द के भाव को समझाने तथा ऐसे समय में क्या कर्तव्य है इसको बताने के लिये चूर्णि और टीकाकार एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं[10]। मूल दृष्टान्त प्राकृत में है। उसका भावार्थ इस प्रकार है: "एक राजपुत्र बाहर उपस्थानशाला में खेल रहा था। एक दासी उसके पास से जल का भरा घड़ा लेकर निकली। राजपुत्र ने गोली मारकर उसके घड़े में छेद कर दिया। दासी रोने लगी। उसे रोती

१—अ० चू०: अहवा 'समाय' समो—संजमो तदत्थ पेहा—प्रेक्षा।

२—अ० चू०: वृत्तभंगभयात् अलक्खणो अणुस्सारो।

३—अ० चू०: अहवा तदेव मणोऽभिसंबज्झति।

४—जि० चू० पृ० ८४: परिव्वयतो णाम गामणगरादीणि उवदेसेण विचरतोत्ति वुत्तं भवइ तस्स।

५—अ० चू०: सिय सद्दो आसंकावादी 'जति' एतम्मि अत्थे वट्टति।

६—हा० टी० प० ९४ 'स्यात्' कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगते।

७—जि० चू० पृ० ८४: पसत्थेहिं झाणठाणेहिं वट्टं तस्स मोहणीयस्स कम्मस्स उदएणं।

८—(क) जि० चू० पृ० ८४: बहिद्धा नाम संजमाओ बाहिं गच्छइ, कहं? पुव्वरयाणुसरणेणं वा भुत्तभोइणो अभुत्तभोगिणो वा कोऊहलवत्तियाए।

(ख) हा० टी० प० ९४: 'बहिर्धा' बहिः भुक्तभोगिनः पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मनः—अन्तःकरणं निःसरति—निर्गच्छति बहिर्धा—संयमगेहाद्बहिरित्यर्थः।

९—स्था० ४ १. २६६ टी०: बहिद्धा—मैथुनम्।

१०—अ० चू०, जि० चू० पृ० ८४; हा० टी० ९४।

देख राजपुत्र ने फिर गोली चलाई। दासी सोचने लगी : यदि रक्षक ही भक्षक हो जाय तो पुकार कहाँ की जाय ? जलसे उत्पन्न अग्नि कैसे बुझायी जाय ? यह सोचकर दासी ने कर्दम की गोली से तत्क्षण ही उस घट-छिद्र को स्थगित कर दिया—ढक दिया। इसी तरह सयम में रमण करते हुए भी यदि सयमी का मन योगवश बाहर निकल जाय—भटकने लगे तो वह प्रशस्त परिणाम से उस अशुभ संकल्प रूपी छिद्र को चरित्र-जल के रक्षण के लिए शीघ्र ही स्थगित करे।"

२०. वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ (न सा महं नोवि अहं पि तीसे ग) :

यह भेद-चिन्तन का सूत्र है। लगभग सभी अध्यात्म-चिन्तकों ने भेद-चिन्तन को मोह-त्याग का बहुत बड़ा साधन माना है[1]। इसका प्रारम्भ बाहरी वस्तुओं से होता है और अन्त में वह 'अन्यच्छरीरमन्योऽहम्', यह मेरा शरीर मुझसे भिन्न है और मैं इससे भिन्न हूँ—यहाँ तक पहुँच जाता है। चूर्णिकार ने भेद को समझाने के लिए एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसका सार इस प्रकार है :

एक वणिक्-पुत्र था। उसने स्त्री छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण की। वह इस प्रकार घोष करता—"वह मेरी नहीं है और न मैं भी उसका हूँ।" ऐसा रटते रटते वह सोचने लगा—"वह मेरी है, मैं भी उसका हूँ। वह मुझ में अनुरक्त है। मैंने उसका त्याग क्यों किया ?" ऐसा विचार कर वह अपने उपकरणों को ले उस ग्राम में पहुँचा, जहाँ उसकी पूर्व स्त्री थी। उसने अपने पूर्व पति को पहचान लिया पर वह उसे न पहचान सका। वणिक्-पुत्र ने पूछा—"अमुक की पत्नी मर चुकी या जीवित है ?" उसका विचार था—यदि वह जीवित होगी तो प्रव्रज्या छोड़ दूगा, नहीं तो नहीं। स्त्री ने सोचा—यदि इसने प्रव्रज्या छोड दी तो दोनों ससार में भ्रमण करेंगे। यह सोच वह बोली—"वह दूसरे के साथ गई"। वह सोचने लगा—"जो पाठ मुझे सिखलाया गया वह ठीक है—"वह मेरी नहीं है और न मैं भी उसका हूँ।" इस तरह उसे पुनः परम सवेग उत्पन्न हुआ। वह बोला—"मैं वापस जाता हूँ।"

गाथा ४ में कहा गया है कि यदि कभी काम-राग जागृत हो जाय, तो इस तरह विचार कर सयमी सयम में स्थिर हो जाय। सयम में विषाद-प्राप्त आत्मा को ऐसे ही चिन्तन-मत्र से पुनः सयम में सुप्रतिष्ठित करे।

२१. विषय-राग को दूर करे (विणएज्ज रागं घ)

'राग' का अर्थ है रजित होना। ऐसे, चरित्र में भेद डालने वाले, प्रसंग के उपस्थित होने पर विषय-राग का विनयन करे, उसका दमन करे अर्थात् मन का निग्रह करे।

२२. (इच्चेव घ) :

मासादेर्वा—हेमश० ८।१।२८ अनेन एवंशब्दस्य अनुस्वारलोपः।

श्लोक ५ :

२३. श्लोक ५ :

इस श्लोक में विषयों को जीतने और भाव-समाधि प्राप्त करने के उपायो का सक्षिप्त विवरण है। इसमें निम्न उपाय बताये हैं—

(१) आतापना,

(२) सौकुमार्य का त्याग,

(३) द्वेष का उच्छेद और

(४) राग का विनयन

१—मोहत्यागाष्टकम् : अयं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्वं, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित्॥

मैथुन की उत्पत्ति चार कारणों से मानी गयी है[1]—(१) मांस-शोणित का उपचय—उसकी अधिकता, (२) मोहनीय कर्म का उदय, (३) मति—तद्विषयक बुद्धि और (४) तद्विषयक उपयोग। यहाँ इन सबसे बचने के उपाय बतलाये हैं।

२४. अपने को तपा (आयावयाहि क) :

मन का निग्रह उपचित शरीर से संभव नहीं होता[2]। अतः सर्व प्रथम कायबल-निग्रह का उपाय बताया गया है[3]—माँस और शोणित के उपचय—उनकी अधिकता को घटाने का मार्ग दिखाया है।

सर्दी-गर्मी में तितिक्षा रखना, शीत काल मे आवरणरहित होकर शीतसहना, ग्रीष्म काल में सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहना, आतापना तप है। उपलक्षण रूप से अन्य तप करने का भाव भी उसमें समाया हुआ है[4]। इसीलिए अर्थ किया—'अपने को तपा' अर्थात् तप कर।

२५. सुकुमारता (सोउमल्लं क) :

प्राकृत में सोउमल्ल, सोअमल्ल, सोगमल्ल, सोगुमल्ल ये चारों रूप मिलते हैं।

जो सुकुमार होता है उसे काम—विषयेच्छा सताने लगती है तथा वह स्त्रियों का काम्य हो जाता है। अतः सौकुमार्य को छोड़ने की आवश्यकता बतलाई है[5]।

२६. द्वेष-भाव (दोसं ग) :

संयम के प्रति अरुचिभाव—घृणा—अरति को द्वेष कहते हैं। अनिष्ट विषयों के प्रति घृणा को भी द्वेष कहा है[6]।

२७. राग-भाव (रागं ग) :

इष्ट शब्दादि विषयों के प्रति प्रेम-भाव—अनुराग को राग कहते हैं।

दुःख का मूल कामना है। राग-द्वेष कामना की उत्पत्ति के आन्तरिक हेतु हैं। पदार्थ-समूह, द्वेष, काल और सौकुमार्य ये उसकी उत्पत्ति के बाहरी हेतु हैं।

काम-विजय ही सुख है। इसीसे कहा है—काम को क्रांत कर, दुःख अपने आप क्रांत होगा।

१—जि० चू० पृ० ८४ "चउहि ठाणेहि मेहुण समुप्पज्जिज्जा, तं० चियमंससोणियत्ताए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मतीए, तदट्ठोवओगेण"।

२—जि० चू० पृ० ८५ : सो य न सक्कइ उवचियसरीरेण णिग्गहेउं।

३—जि० चू० पृ० ८५ : तम्हा कायबलनिग्गहे इमं सुत्तं भण्णइ।

४—(क) जि० चू० पृ० ८६ : एगग्गहणे तज्जाइयाण गहणंति न केवल आयावयाहि,—ऊणोदरियमवि करेहि।

(ख) हा० टी० प० ९५ : 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मितिन्यायाद्यथानुरूपमूनोदरतादेरपि विधिः।

५—(क) जि० चू० पृ० ८६ : सुकुमालभावो सोकमल्लं, सुकुमालस्स य कामेहिं इच्छा भवइ, कमणिज्जो य स्त्रीणां भवति सुकुमालः, तम्हा एवं सुकुमारभावं छड्डेहित्ति।

(ख) हा० टी० प० ९५ : सौकुमार्यात्कामेच्छा प्रवर्तते योषितां च प्रार्थनीयो भवति।

६—जि० चू० पृ० ८६ : ते य कामा सद्दादयो विसया तेसु अणिट्ठेसु दोसो छिंदियव्वो, इट्ठेसु वट्टंतो अप्पा विणयियव्वो ''..... रागो दोसो य कम्मबंधस्स हेउणो भवति, सव्वपयत्तेण ते वज्जणिज्जत्ति।

२८. संसार में सुखी होगा (सुही होहिसि संपराए घ)

'संपराय' शब्द के अर्थ ससार, परलोक, उत्तरकाल—भविष्य होते हैं[1]।

ससार में सुखी होगा, इसका अर्थ है : संसार दुःख-बहुल है। पर यदि तू चित्त-समाधि प्राप्त करने के उपर्युक्त उपायों को करता रहेगा तो मुक्ति पाने के पूर्व यहाँ सुखी रहेगा। भावार्थ है—जबतक मुक्ति प्राप्त नहीं होती, प्राणी को ससार में जन्म-जन्मान्तर करते रहना पड़ता है। इन जन्म-जन्मान्तरों में तू देव और मनुष्य योनि को प्राप्त करता हुआ उनमें सुखी रहेगा[2]।

चूर्णिकारों के अनुसार 'सपराय' शब्द का दूसरा अर्थ 'सग्राम' होता है। टीकाकार हरिभद्र सूरि ने मतान्तर के रूप में इसका उल्लेख किया है। यह अर्थ ग्रहण करने से तात्पर्य होगा—परीषह और उपसर्ग रूपी संग्राम में सुखी होगा—प्रसन्न मन रह सकेगा। अगर तू इन उपायों को करता रहेगा, रागद्वेष में मध्यस्थभाव प्राप्त करेगा तो जब कभी विकट सकट उपस्थित होगा तब तू उसमें विजयी हो सुखी रह सकेगा[3]।

प्रथम अर्थ से यह दूसरा अर्थ यहाँ अधिक सगत है। मोहोदय से मनुष्य विचलित हो जाता है। उस समय वह आत्मा की ओर ध्यान न दे विषय-सुख की ओर दौड़ने लगता है। ऐसे संकट के समय सयम में पुनः स्थिर होने के जो उपाय हैं उन्हीं का निर्देश इस श्लोक में है। जो इन उपायों को अपनाता है वह आत्म-सग्राम मे विजयी हो सुखी होता है।

श्लोक ६ :

२९. अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प (कुले जाया अगन्धणे घ) :

सर्प दो तरह के होते हैं। गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प वे हैं, जो डँसने के वाद मन्त्र से आकृष्ट किए जाने पर व्रण से मुह लगाकर विप को वापस पी लेते हैं। अगन्धन जाति के सर्प प्राण गवाँ देना पसन्द करते हैं पर छोडे हुए विष को वापस नहीं पीते[4]। अगधन सर्प की कथा 'विसवन्त जातक' (क्रमाक ६९) में मिलती है। उसका सार इस प्रकार है :

खाजा खाने के दिनों में, मनुष्य, सघ के लिए बहुत-सा खाजा लेकर आये। बहुत-सा (खाजा) बाकी बच गया। स्थविर से लोग कहने लगे,—"भन्ते! जो (भिक्षु) गाँव में गये हैं, उनका (हिस्सा) भी ले लें।" उस समय स्थविर का (एक) बालक—शिष्य

१—(क) अ० चू० सपराओ ससारो

(ख) जि० चू० पृ० ८६ . सपरातो—ससारो भरणइ।

(ग) कठोपनिषद् शांकरभाष्य १.२.६ : सम्पर ईयत इति सम्पराय परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजन साधनविशेष' शास्त्रीय साम्परायः।

(घ) हलायुध कोष ।

२—(क) अ० चू० . सपरायेवि दु क्ख बहुले देवमणुस्सेसु सुही भविस्ससि।

(ख) जि० चू० पृ० ८६ . जाव ण परिणेव्वाहिसि ताव दुक्खाउले ससारे सुही देवमणुएसु भविस्ससि।

(ग) हा० टी० प० ९५ ' यावदपवर्ग न प्राप्स्यसि तावत्सुखी भविष्यसि।

३—(क) अ० चू० ' जुद्ध वा सपराओ बावीस पवीस परीसहोव सग्ग जुद्ध लध्ध विजतो पर सुही भविस्ससि।

(ख) जि० चू० पृ० ८६ : जुत्त भरणइ, जया रागदोसेसु मज्झत्थो भविस्सति तओ (जिय) परीसहसंपराओ सुही भविस्ससिति।

(ग) हा० टी० प० ९५ 'सपराये' परीषहोपसर्गसग्राम इत्यन्ये।

४—(क) अ० चू० : गधणा अगधणाय सप्पा, गधणा हीणा, अगंधणा उत्तमा, ते उकातो विस न पिबंति मरता वि।

(ख) जि० चू० पृ० ८७ : तत्थ नागाणं दो जातीयो—गधणा य अगधणा य, तत्थ गधणा णाम जे डसिऊण गया मतेहिं आगच्छिया तमेव विस वणमुहट्ठिया पुणो आवियति ते, अगंधणा णाम मरणं ववसति ण य वतय आवियति।

(ग) हा० टी० प० ९५ ' नागानां हि भेदद्वय—गधनाश्चागन्धनाश्च—शेष जि० चू० वत्

गाँव में गया था। (लोगों ने) उसका हिस्सा स्थविर को दे दिया। स्थविर ने जब उसे खा लिया, तो वह लड़का आया। स्थविर ने उससे कहा—"आयुष्मान्। मैंने तेरे लिए रक्खा हुआ खाद्य खा लिया।" वह बोला—"भन्ते। मधुर चीज किसे अप्रिय लगती है?" महास्थविर को खेद हुआ। उन्होंने निश्चय किया—"अब इसके बाद (कभी) खाजा न खायेंगे।" यह बात भिक्षु-संघ में प्रगट हो गई। इसकी चर्चा हो रही थी। शास्ता ने पूछा—"भिक्षुओ। क्या बात कर रहे हो?" भिक्षुओं के बात कहने पर शास्ता ने कहा—"भिक्षुओ! एकबार छोड़ी हुई चीज को सारिपुत्र प्राण छोड़ने पर भी ग्रहण नहीं करता।" ऐसा कहकर शास्ता ने पूर्व जन्म की कथा कही—

"पूर्व समय में वाराणसी में (राजा) ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्त्व एक विष वैद्य कुल में उत्पन्न हो, वैद्यक से जीविका चलाते थे। एकबार एक देहाती को साँप ने डँस लिया। उसके रिस्तेदार देर न कर, जल्दी से वैद्य को बुला लाये। वैद्य ने पूछा—'दवा के जोर से विष को दूर करूँ? अथवा जिस साँप ने डँसा है, उसे बुलाकर, उसी से डँसे हुए स्थान से विष निकलवाऊँ?' लोगों ने कहा—'सर्प को बुलाकर विष निकलवाओ।' वैद्य ने साँप को बुलाकर पूछा—'इसे तूने डँसा है?' 'हाँ। मैंने ही'—साँप ने उत्तर दिया। 'अपने डँसे हुए स्थान से तू ही विष को निकाल।' साँप ने उत्तर दिया—'मैंने एकबार छोड़े हुए विष को फिर कभी ग्रहण नहीं किया, सो मैं अपने छोड़े हुए विष को नहीं निकालूँगा।' वैद्य ने लकडियाँ मँगवा आग बनाकर कहा—'यदि! अपने विष को नहीं निकालता तो इस आग में प्रवेश कर।' सर्प बोला: 'आग में प्रविष्ट हो जाऊँगा, लेकिन एकबार छोडे हुए अपने विष को फिर नहीं चाटूँगा।' यह कहकर उसने यह गाथा कही:

धिरत्थु तं विसं वन्तं, यमहं जीवितकारणा।
वन्तं पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वरं॥[1]

'धिक्कार है, उस विष को, जिसे जीवन की रक्षा के लिए एकबार उगलकर मैं फिर निगलूँ। ऐसे जीवन से मरना अच्छा है' यह कहकर सर्प अग्नि में प्रविष्ट होने के लिये तैयार हुआ। वैद्य ने उसे रोक, रोगी को औषधि तथा दवाई से निरोग कर दिया। फिर सर्प को सदाचारी बना, 'अब से किसी को दुःख न देना' कह कर छोड़ दिया।

"पूर्व जन्म का सर्प अब का सारिपुत्र है। 'एकबार छोडी हुई चीज को सारिपुत्र किस प्रकार प्राण छोडने पर भी फिर ग्रहण नहीं करता'—इस सम्बन्ध में यह उसके पूर्व जन्म की कथा है[2]।"

३०. विकराल (दुरासयं ख):

चूर्णिकार ने 'दुरासय' शब्द का अर्थ 'दहन-समर्थ' किया है। इनके अनुसार जिसका संयोग सहन करना दुष्कर हो वह दुरासद है[3]।

टीकाकार ने इसका अर्थ 'दुर्गम' किया है। जिसके समीप जाना कठिन हो उसे दुरासद कहा है[4]। 'विकराल' शब्द दोनों अर्थों की भावना को अभिव्यक्त करता है।

१—धिरत्थु, निन्दार्थक निपात है। तं विसं, उस विष को, यमहं जीवित कारणा (जिसे मैं (अपने) जीवन की रक्षा के लिये) वन्तं विसं (उगले हुए विष को) पच्चावमिस्सामि (निगलूँगा), उस उगले हुए विष को धिक्कार है। मतम्मे जीविता वरं, उस विष को फिर न निगलने के कारण, जो आग में प्रविष्ट होकर मरना है, वह मेरे जीवित रहने की अपेक्षा अच्छा है।—जातक प्र० ख० पृ० ४०४।

२—जातक प्र० ख० पृ० ४०३-४ से संक्षिप्त।

३—जि० चू० पृ० ८७ : दुरासयो नाम डहणसमत्थत्तण, दुक्खं तस्स संजोगो सहिज्जइ दुरासओ तेण।

४—हा० टी० प० ९५ : 'दुरासदं' दु:खेनासाद्यतेऽभिभूयत इति दुरासदस्तं, दुरभिभवमित्यर्थः।

३१. धूमशिख (धूमकेउं ख) :

चूर्णि के अनुसार यह 'जोइ'—ज्योति—अग्नि का ही दूसरा नाम है। धूम ही जिसका केतु हो उसको धूमकेतु कहते हैं और वह अग्नि ही होती है[1]। टीका के अनुसार यह 'ज्योति' शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है और इसका अर्थ है : जो ज्योति, उल्कादि रूप नहीं पर धूमकेतु, धूमचिन्ह, धूमध्वज वाली है[2] अर्थात् जिससे धुआँ निकल रहा है वह अग्नि।

३२. वापस पीने की इच्छा नहीं करते (नेच्छंति वन्तयं भोत्तुं ग) :

प्राण भले ही चले जाय पर अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प विष को वापस नहीं पीता। इस बात का सहारा ले राजीमती कहती है : साधु को सोचना चाहिए—अविरत होने पर तथा धर्म को नहीं जानने पर भी केवल कुल का अवलम्बन ले तिर्यञ्च अगन्धन सर्प अपने प्राण देने को तैयार हो जाता है पर वमन पीने जैसा घृणित काम नहीं करता। हम तो मनुष्य हैं, जिन-धर्म को जानते हैं फिर भला क्या हमें जाति-कुल के स्वाभिमान को त्याग, परित्यक्त भोगों का पुनः कायरतापूर्वक आसेवन करना चाहिए ? हम दारुण दुःख के हेतु त्यक्त भोगों का फिर से सेवन कैसे कर सकते हैं[4] ?

३३. श्लोक ७ से ११ :

इनकी तुलना के लिए देखिए 'उत्तराध्ययन' २२.४२, ४३, ४४, ४६, ४६।

श्लोक ७ :

३४. हे यशःकामिन् ! (जसोकामी क)

चूर्णि के अनुसार 'जसोकामी' शब्द का अर्थ है—हे क्षत्रिय[5] ! हरिभद्र सूरि ने इस शब्द को रोष में क्षत्रिय के आमन्त्रण का सूचक कहा है[6]। डा० यॉकोबी ने इसी कारण इसका अर्थ 'famous knight' किया है[7]।

अकार का प्रश्लेष मानने पर 'धिरत्थु तेऽजसोकामी' ऐसा पाठ बनता है[8]। उस हालत में—हे अयशःकामिन् !—ऐसा सम्बोधन बनेगा। 'यश' शब्द का अर्थ संयम भी होता है। अतः अर्थ होगा—हे असंयम के कामी ! धिक्कार है तुझे !

इस श्लोक के पहले चरण का अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—हे कामी ! तेरे यश को धिक्कार है !

१—जि० चू० पृ० ८७ : जोती अग्गी भण्णइ, धूमो तस्सेव परियायो, केऊ उस्सओ चिंध वा, सो धूमे केतू जस्स भवइ धूमकेऊ।

२—हा० टी० प० ९५ : अग्निं 'धूमकेतुं' धूमचिह्नं धूमध्वजं नोल्कादिरूपम्।

३—जि० चू० पृ० ८७ : साहुणावि चिंतेयव्वं जइ णामाविरएण होऊण धम्मं अयाणमाणेण कुलमवलंबतेण य जीवियं परिच्चत्तं ण य वन्तमावीतं, किमंगपुण मणुस्सेण जिणवयणं जाणमाणेण जातिकुलमत्तणो अणुगणितेण ? तहा करणीयं जेण सद्देण दोसे ण भवइ अवियं-मरणं अज्झवसियव्वं, ण य सीलविराहणं कुज्जा।

४—हा० टी० प० ९५ : यदि तावत्तिर्यञ्चोऽप्यभिमानमात्रादपि जीवितं परित्यजन्ति न च वान्तं भुञ्जते तत्कथमहं जिनवचनाभिज्ञो विपाकदारुणान् विषयान् वान्तान् भोक्ष्ये ?

५—जि० चू० पृ० ८८ : जसोकामिणो खत्तिया भण्णंति।

६—हा० टी० प० ९६ : हे यशस्कामिन्निति सासूयं क्षत्रियामन्त्रणम्।

७—The Uttaradhyayana Sutra P. 118

८—(क) जि० चू० पृ० ८८ : अहवा धिरत्थु ते अयसोकामी, गथलाघवत्थं अकारस्स लोवं काऊण एवं पढिज्जइ 'धिरत्थु तेऽजसोकामी'।
(ख) हा० टी० प० ९६ : अथवा अकारप्रश्लेषादयशस्कामिन्।

९—(क) हा० टी० प० १८८ : 'जस सारक्खमप्पणो (द० ५.२.३६)—यशःशब्देन संयमोऽभिधीयते।
(ख) भगवती श० ४१ उ० १ : तेण भंते जीवा ! किं आयजसेणं उववज्जंति ?......आत्मनः सम्बन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यशः—संयम आत्मयशस्तेन।

३५. भोगी-जीवन के लिए (जो तं जीवियकारणा ख) :

जिनदास गणि ने—'कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु के समान चचल जीवन के लिए'—ऐसा अर्थ किया है[1]। हरिभद्र सूरि ने—'असयमी जीवन के लिए'—ऐसा अर्थ किया है[2]।

३६. इससे तो तेरा मरना श्रेय है ! (सेयं ते मरणं भवे घ) :

जैसे जीने के लिए वमन की हुई वस्तु का पुन भोजन करने से मरना अधिक गौरवपूर्ण होता है, वैसे ही परित्यक्त भोगों को भोगने की अपेक्षा मरना ही श्रेयस्कर है।

भूखा मनुष्य कष्ट भले ही पाये पर धिक्कारा नहीं जा सकता, पर वमन को खानेवाला जीते-जी ही धिक्कारा जाता है। जो शील-भग करने की अपेक्षा मृत्यु को वरण करता है वह एक बार ही मृत्यु का कष्ट अनुभव करता है, पर अपने गौरव और धर्म की रक्षा कर लेता है। जो परित्यक्त भोगों का पुनः आसेवन करता है वह अनेक बार धिक्कारा जाकर बार-बार मृत्यु का अनुभव करता है। इतना ही नहीं वह अनादि और दीर्घ संसार-अटवी में नाना योनियों मे जन्म-मरण करता हुआ बार-बार कष्ट पाता है[3]। अतः मर्यादा का उल्लघन करने की अपेक्षा तो मरना श्रेय होता है[4]।

श्लोक ८ :

३७. मैं भोजराज की पुत्री हूँ (अहं च भोयरायस्स··· ख) :

राजीमती ने रथनेमि से कहा—मैं भोज-राज की सन्तान हूँ और तुम अन्धक-वृष्णि की सन्तान हो। यहाँ 'भोज' और 'अन्धक-वृष्णि' शब्द कुल—वश—वाचक हैं[5]।

हरिभद्र सूरी ने 'भोय' का सस्कृत रूप 'भोग' किया है। शान्त्याचार्य ने इसका रूप 'भोज' दिया है[6]। महाभारत[7] और कौटलीय अर्थशास्त्र[8] में 'भोज' शब्द का प्रयोग मिलता है। महाभारत[9] और विष्णुपुराण[10] के अनुसार 'भोज' यादवों का एक विभाग है। कृष्ण जिस संघ-राज्य का नेतृत्व करते थे, उसमें यादव, कुकुर, भोज, अन्धक और वृष्णि सम्मिलित थे[11]। जैनागमों के अनुसार कृष्ण, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजन्यों का आधिपत्य करते थे[12]। अन्धक-वृष्णियों के सघ-राज्य का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है[13]।

१—जि० चू० पृ० ८८ : जो तुम इमस्स कुसग्गजलबिंदुचचलस्स जीवियस्स अट्ठाए।

२—हा० टी० प० ९६ : 'जीवितकारणात्' असयमजीवितहेतो·।

३—जि० चू० पृ० ८७ अणाईए अणवदग्गे दीहमद्धे ससारकतारे तासु तासु जाईसु बहूणि जम्मणमरणाणि पावति।

४—हा० टी० प० ९६ : उत्क्रान्तमर्यादस्य 'श्रेयस्ते मरण भवेत्' शोभनतर तव मरण, न पुनरिदमकार्यासेवनमिति।

५—जि० चू० पृ० ८८ : भोगा खत्तियाण जातिविसेसो भण्णइ।
'तुम च तस्स तारिसस्स अधयवण्हिणो कुले पसूओ समुद्दविजयस्स पुत्तो।

६—उत्त० . २२.४३ वृ०।

७—म० भा० शान्तिपर्व : ८१ १४ : अक्रूरभोजप्रभवा।

८—कौ० अ० १ ६ ६ : यथा दाण्डक्यो नाम भोज कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमान सबन्धुराष्ट्रो विननाश।

९—म०भा० सभापर्व : १४ ३२

१०—विष्णुपुराण : ४ १३.७

११—म० भा० शान्तिपर्व : ८१.२९ . यादवा कुकुरा भोजा , सर्वे चान्धकवृष्णय।
त्वय्यायत्ता महाबाहो, लोका लोकेश्वराश्च ये॥

१२—अत० १ १ : तत्थ ण बारवईए णयरीए कण्हे नाम वासुदेवे राया परिवसइ। ··बलदेव-पामोक्खाण पचण्ह महावीराण, पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाण कुमारकोडीण ·· छप्पण्णाए बलवयसाहस्सीणं, उग्गसेण-पामोक्खाण सोलसण्ह रायसाहस्सीण आहेवच्च जाव· पालेमाणे विहरइ।

१३—अष्टाध्यायी (पाणिनि) . ६ २ ३४

यह द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि ये दो राजनैतिक-दल यहाँ का शासन चलाते थे। इस प्रकार की शासन-प्रणाली को विरुद्ध-राज्य कहा जाता रहा[1]।

अन्धकों के नेता अक्रूर थे। उनके दल के सदस्यों को 'अक्रूरवर्ग्य' और 'अक्रूरवर्गीण' कहा गया है। वृष्णियो के नेता वासुदेव थे। उनके दल के सदस्यों को 'वासुदेव वर्ग्य' और 'वासुदेव वर्गीण' कहा गया है[2]। भोजों के नेता उग्रसेन थे।

३८. कुल में गन्धन सर्प···न हों (मा कुले गंधणा होमो ग):

राजीमती कहती है—हम लोग दोनों ही महाकुल में उत्पन्न हैं। जिस तरह गंधन सर्प छोड़े हुए विष को वापस पी लेते हैं, उस तरह से हम परित्यक्त भोगों को पुनः सेवन करनेवाले न हो।

जिनदास महत्तर ने 'मा कुले गधणा होमो' के स्थान में 'मा कुलगधिणो होमो' ऐसा विकल्प पाठ बतलाकर 'कुलगधिणो' का अर्थ कुल-पूतना किया है अर्थात् कुल में पूतना की तरह कलक लगानेवाले न हों[3]।

श्लोक ६ :

३६. हट (हडो ग):

'सूत्रकृताङ्ग' में 'हड' को 'उदक-योनिक', 'उदक-सभव' वनस्पति कहा गया है। वहाँ उसका उल्लेख उदक, अवग, पणग, सेवाल, कलम्बुग के साथ किया गया है[4]। 'प्रज्ञापना' सूत्र में जलरुह वनस्पति के भेदों को बताते हुए उदक आदि के साथ 'हढ' का उल्लेख मिलता है[5]। इसी सूत्र में साधारण-शरीरी बादर-वनस्पतिकाय के प्रकारों को बताते हुए 'हढ' वनस्पति का नाम आया है[6]। 'आचाराङ्ग' निर्युक्ति में अनन्त-जीव वनस्पति के उदाहरण देते हुए सेवाल, कत्थ, भाणिका, अवक, पणक, किण्णव आदि के साथ 'हढ' का नामोल्लेख है[7]। इन समान उल्लेखों से मालूम होता है कि 'हड' वनस्पति 'हढ' नाम से भी जानी जाती थी।

हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ एक प्रकार की अबद्धमूल वनस्पति किया है[8]। जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ द्रह, तालाब आदि में होनेवाली एक प्रकार की छिन्नमूल वनस्पति किया है[9]। इससे पता चलता है कि 'हड' बिना मूल की जलीय वनस्पति है।

१—आचा० : २.३.१.१६६; २.११.१.४४१

२—कात्यायनकृत पाणिनि का वार्तिक : ४.२.१०४

३—जि० चू० पृ० ८६ : अहवा कुलगंधिणो कुलपूयणा मा भवामो।

४—सूत्र० (प० ३४६) २.३.५४ : अहावर पुरक्खाय इहेगतिया सत्ता उदगजोणिया उदगसभवा जाव कम्मनियाणेणं तत्थवुक्कमा णाणाविह-जोणिएसु उदएसु उदगत्ताए अवगत्ताए पणगत्ताए सेवालत्ताए कलंबुगत्ताए हडत्ताए कसेरुगत्ताए···विउट्टन्ति।

५—प्रज्ञा० (पृ० १०५) १.४३ : से कि त जलरुहा ?, जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा—उदए, अवए, पणए, सेवाले, कलंबुया, हढे य।

६—प्रज्ञा० (पृ० १०८-६) १.४५ : से कि त साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया ? साहारणसरीरबादरवणस्सइकाइया अणेगविहा पन्नत्ता। तजहा···किमिरासि भद्दमुत्था णंगलई पेलुगा इय। किण्हे पउले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी ॥६॥

७—आचा० (पृ० ५४) नि० गा० १४१ :

सेवालकत्थभाणियअवए पणए य किंनए य हढे।
एए अणन्तजीवा भणिया अण्णे अणेगविहा ॥

८—हा० टी० प० ६७ : अबद्धमूलो वनस्पतिविशेषः।

६—जि० चू० ८६ : हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिपु छिण्णमूलो भवति।

'सुश्रुत' में सेवाल के साथ 'हट', तृण, पद्मपत्र आदि का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि संस्कृत में 'हड' का नाम 'हट' प्रचलित रहा। यहाँ हट से आच्छादित जल को दूषित माना है[1]। इससे यह निष्कर्ष सहज ही निकलता है कि 'हड' वनस्पति जल को आच्छादित कर रहती है। 'हढ' को संस्कृत में 'हठ' भी कहा गया है[2]।

'हड' वनस्पति का अर्थ कई अनुवादों में घास[3] अथवा वृक्ष[4] किया गया है। पर उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि ये दोनों अर्थ अशुद्ध हैं।

'हट' का अर्थ जलकुम्भी किया गया है[5]। इसकी पत्तियाँ बहुत बड़ी, कडी और मोटी होती हैं। ऊपर की सतह मोम जैसी चिकनी होती है। इसलिए पानी में डूबने की अपेक्षा यह आसानी से तैरती रहती है। जलकुम्भी के आठ पर्यायवाची नाम उपलब्ध हैं[6]।

४०. अस्थितात्मा हो जायगा (अट्ठियप्पा भविस्ससि घ) :

राजीमती इस श्लोक में जो कहती है उसका सार इस प्रकार है : हड वनस्पति के मूल नहीं होता। वायु के एक हल्के से स्पर्श से ही यह वनस्पति जल में इधर-उधर बहने लगती है। इसी तरह यदि तू दृष्ट नारी के प्रति अनुराग करने लगेगा तो संयम में अवद्धमूल होने से तुझे संसार-समुद्र में प्रमाद-पवन से प्रेरित हो इधर-उधर भव-भ्रमण करते रहना पडेगा[7]।

पृथ्वी अनन्त स्त्री-रत्नों से परिपूर्ण है। जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ दृष्टिगोचर होंगी। उन्हें देख कर यदि तू उनके प्रति ऐसा भाव[8] करने लगेगा जैसा कि तू मेरे प्रति कर रहा है तो संयम में अवद्धमूल हो, श्रमण-गुणों से रिक्त हो, केवल द्रव्यलिंगधारी हो जायगा[9]।

१—सुश्रुत० (सूत्रस्थान) ४५.७ : तत्र यत् पङ्कशैवालहटतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं शशिसूर्यकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टञ्च तद्व्यापन्नमिति विद्यात्।

२—आचा० (पृ० ५४) नि० गा० १४१ की टीका : सेवालकत्थभाणिकाऽवकपनककिण्वहठादयोऽनन्तजीवा गदिता।

३—(क) Das (का० वा० अभ्यङ्कर) नोट्स पृ० १२ : The writer of the Vritti explains it as a kind of grass which leans before every breeze that comes from any direction.

(ख) समीसांजनो उपदेश (गो० जी० पटेल) पृ० १६ : ऊंडां मूल न होवाने कारणे वायुथी आम तेम फेंकातां 'हड' नामना घास''।

४—दश० (जी० घेलाभाई) पत्र ६ : हढ नामा वृक्ष समुद्रनें कीनारे होय छे। तेनुं मूल बराबर होतुं नथी, अने माथे भार घणो होय छे अने समुद्रने कीनारे पवननुं जोर घणुं होवाथी ते वृक्ष उखडीने समुद्रमां पडे अने त्यां हेराफेरा कर्या करे।

५—सुश्रुत० (सूत्रस्थान) ४५.७ : पाद-टिप्पणी नं० १ में उद्धृत अंश का अर्थ —हट जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेष इत्येके।

६—शा० नि० पृ० १२३० :

कुम्भिका वारिपर्णी च, वारिमूली खमूलिका।
आकाशमूली कुतृण, कुमुदा जलवल्कलम्॥

७—हा० टी० प० ९७ : सकलदुःखक्षयनिबन्धनेषु संयमगुणेष्व(प्रति)बद्धमूलत्वात् संसारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति।

८—(क) जि० चू० पृ० ८९ : भाव करेहिसि—प्रार्थनां अभिप्रायम्।

(ख) हा० टी० प० ९७ : भाव—अभिप्रायं प्रार्थनामित्यर्थः, ''एता शोभना एताश्चाशोभना अत सेवे काममित्येवंभूत भाव।

९—जि० चू० पृ० ८९ : हढो ''वातेण य आइद्धो इओ इओ य निज्जइ, तहा तुमपि एवं करेंतो संजमे अबद्धमूलो समणगुणपरिहीणो केवलं दव्वलिंगधारी भविस्ससि।

श्लोक १० :

४१. सुभाषित (सुभासियं ख) :

यह वचन (वयण) का विशेषण है। इसका अर्थ है—अच्छे कहे हुए। राजीमती के वचन संसार-भय से उद्विग्न करनेवाले[१], संवेग—वैराग्य उत्पन्न करने वाले हैं[२] अतः सुभाषित कहे गये हैं।

४२. जैसे अंकुश से नाग (अंकुसेण जहा नागो ग) :

जिस तरह अकुश से अनुशासित हाथी शीघ्र ही रास्ते पर आ जाता है उसी तरह से राजीमती के वैराग्योत्पादक उपदेश से रथनेमि का मन पुनः सयम में स्थिर हो गया। अकुश से हाथी कैसे स्थिर होता है इस पर चूर्णिकार एवं हरिभद्र सूरि एक कथा देते हैं। वह परिशिष्ट में दी जा रही है।

श्लोक ११ :

४३. संबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण (संबुद्धा, पंडिया पवियक्खणा क-ख) :

प्रायः प्रतियों में 'सबुद्धा' पाठ मिलता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र में भी 'संबुद्धा' पाठ ही है[३]। पर चूर्णिकार ने 'सपण्णा' पाठ स्वीकार कर व्याख्या की है।

चूर्णिकार के अनुसार 'सप्राज्ञ' का अर्थ है—प्रज्ञा—बुद्धि से सम्पन्न[४]। 'पण्डित' का अर्थ है—परित्यक्त भोगों के प्रत्याचरण में दोषों को जाननेवाला[५]। 'प्रविचक्षण' का अर्थ है—पाप-भीरु—जो ससार-भय से उद्विग्न हो, थोड़ा भी पाप करना नही चाहता[६]।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख 'संबुद्धा' पाठ वाली प्रतियाँ ही रहीं। उन्होंने निम्न रूप से व्याख्या की है :

'सबुद्ध'—'बुद्ध' बुद्धिमान को कहते हैं। जो बुद्धिमान सम्यक्-दर्शन सहित होता है, वह संबुद्ध कहलाता है। विषयों के स्वभाव को जाननेवाला सम्यक्-दृष्टि—'सबुद्ध' है। 'पण्डित'—जो सम्यक्-ज्ञान से सम्पन्न हो। 'प्रविचक्षण'—जो सम्यक्-चारित्र से युक्त हो[७]।

हरिभद्र सूरि के सम्मुख चूर्णिकार से प्रायः मिलती हुई व्याख्या भी थी, जिसका उल्लेख उन्होंने मतान्तर के रूप में किया है[८]।

यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि चूर्णिकार कृत व्याख्या ही अधिक सगत और प्रसंगोपेत है।

४४. पुरुषोत्तम (पुरिसोत्तमो घ) :

प्रश्न है—प्रव्रजित होने पर भी रथनेमि विषय की अभिलाषा करने लगे फिर उन्हे पुरुषोत्तम क्यों कहा गया है? इसका उत्तर

१—जि० चू० पृ० ९१ : संसारभउव्वेगकरेहिं वयणेहि।

२—हा० टी० प० ९७ : 'सुभाषित' सवेगनिबन्धनम्।

३—उत्त० २२.४६

४—जि० चू० पृ० ९२ : सपण्णा णाम पण्णा—बुद्धी भण्णइ, तीय बुद्धीय उववेता सपण्णा भण्णति।

५—जि० चू० पृ० ९२ : पंडिया णाम चत्ताण भोगाणं पडियाइणे जे दोसा परिजाणती पडिया।

६—जि० चू० पृ० ९२ : पविक्खणा णामावज्जभीरू भण्णति, वज्जभीरुणो णाम ससारभउव्विग्गा थोवमवि पावं णेच्छंति।

७—हा० टी० प० ९९ : 'सबुद्धा' बुद्धिमन्तो बुद्धा· सम्यग्-दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धाः सबुद्धा—विदितविषयस्वभावा., सम्यग्दृष्टय.···पण्डिता —सम्यग्ज्ञानवन्त· प्रविचक्षणाः—चरणपरिणामवन्त.।

८—हा० टी० प० ९९ : अन्ये तु व्याचक्षते—संबुद्धाः सामान्येन बुद्धिमन्त· पण्डिता वान्तभोगासेवनदोषज्ञाः प्रविचक्षणा अवद्यमीरव।

इस प्रकार है : मन में अभिलाषा होने पर कापुरुष अभिलाषा के अनुरूप ही चेष्टा करता है पर पुरुषार्थी पुरुष मोहोदय के वश ऐसा सकल्प उपस्थित होने पर भी आत्मा को जीत लेता है—उसे पाप से वापस मोड़ लेता है। गिरती हुई आत्मा को पुनः स्थिर कर रथनेमि ने जो प्रबल पुरुषार्थ दिखाया उसी कारण उन्हें पुरुषोत्तम कहा है। राजीमती के उपदेश को सुन कर धर्म मे पुनः स्थिर होने के बाद उनकी अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा गया है : "मनगुप्त, वचनगुप्त, कायगुप्त तथा जितेन्द्रिय हो उन दृढव्रती रथनेमि ने निश्चलता से जीवन-पर्यन्त श्रमण-धर्म का पालन किया। उग्र तप का आचरण कर वे केवलज्ञानी हुए और सर्व कर्मों का क्षय कर अनुत्तर सिद्ध गति को प्राप्त किया[1]।" इस कारण से भी वे पुरुषोत्तम थे।

१—उत्त० २२.४७,४८ :

मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्णं निच्चलं फासे जावज्जीवं दढव्वओ॥
उग्गं तवं चरित्ताणं जाया दोण्णि वि केवली।
सव्वं कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं॥

तइयं अज्झयणं

खुड्डियायारकहा

तृतीय अध्ययन

क्षुल्लकाचार-कथा

आमुख

समूचे ज्ञान का सार आचार है। धर्म में जिसकी धृति नहीं होती उसके लिए आचार और अनाचार का भेद महत्त्व नहीं रखता। जो धर्म में धृतिमान है वह आचार को निभाता है और अनाचार से बचता है[1]। निष्कर्ष की भाषा में अहिंसा आचार और हिंसा अनाचार है[2]। शास्त्र की भाषा में जो अनुष्ठान मोक्ष के लिए हो या जो व्यवहार शास्त्र-विहित हो वह आचार है और शेष अनाचार।

आचरणीय वस्तु पाँच हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य। इसलिए आचार पाँच बनते हैं—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार[3]।

आचार से आत्मा संयत होती है अथवा जिसकी आत्मा संयम से सुस्थित होती है वही आचार का पालन करता है। संयम की स्थिरता और आचार का गहरा सम्बन्ध है। अनाचार आचार का प्रतिपक्ष है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य का शास्त्र-विधि के प्रतिकूल जो अनुष्ठान है वह अनाचार है। मूल संख्या में ये भी पाँच हैं। विवक्षा-भेद से आचार और अनाचार—इन दोनों के अपार भेद हैं।

'अनाचार' का अर्थ है प्रतिषिद्ध-कर्म, परिज्ञातव्य—प्रत्याख्यातव्य-कर्म या अनाचीर्ण-कर्म। आचार धर्म या कर्तव्य है और अनाचार अधर्म या अकर्तव्य।

इस अध्ययन में अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया है, इसलिए इसका नाम 'आचार-कथा' है। इसी सूत्र के छठे अध्ययन (महाचार-कथा) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचार का संक्षिप्त प्रतिपादन है, इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लकाचार-कथा' है[4]।

सूत्रकार ने संख्या-निर्देश के बिना अनाचारों का उल्लेख किया है। चूर्णिद्वय तथा वृत्ति में भी संख्या का निर्देश नहीं है। दीपिकाकार चौवन की संख्या का उल्लेख करते हैं[5]। इस परम्परा के अनुसार निर्ग्रन्थ के चौवन अनाचारों की तालिका इस प्रकार बनती है :

१—(क) अ० चू० : धम्मे धितिमतो आयारसुट्ठितस्स फलोवदरिसणोवसंहारे।

(ख) अ० चू० : इदाणि तु विसेसो णियमिज्जति—धिती आयारे करणीय त्ति।

(ग) जि० चू० पृ० ६२ : इदाणि दढधितियस्स आयारो भाणितव्वो, अहवा सा धिती कहिं करेय्या ?, आयारे।

(घ) हा० टी० प० १०० : इह तु सा धृतिराचारे कार्या नत्वनाचारे, अयमेवात्मसंयमोपाय इत्येतदुच्यते, उक्तञ्च—

"तस्यात्मा संयतो यो हि, सदाचारे रतः सदा।
स एव धृतिमान् धर्मस्तस्यैव च जिनोदितः॥"

२—सूत्र० १.११.१० : एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया॥

३—(क) स्था० ५.२.४३२ : पंचविधे आयारे प० तं० णाणायारे दंसणायारे चरित्तायारे तपायारे वीरीयायारे।

(ख) नि० गा० १८१ : दंसणनाणचरित्ते तवआयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो पंचविहो होइ नायव्वो॥

४—नि० गा० १७८ : एएसि महंताणं पडिवक्खे खुड्डया होंति॥

५—दी० पृ० ७ : सर्वमेतत् पूर्वोक्तं चतुःपञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकादिकं यदनन्तरमुक्तं तत् सर्वमनाचारितं ज्ञातव्यम्।

वर्जन गर्व-दृष्टि से है। कुछ का वर्जन गृही-सम्पर्क की दृष्टि से है। कुछ का वर्जन अधिकरण-पोषण की दृष्टि से है। इस त ये अनाचार नाना दृष्टि-बिन्दुओं की अपेक्षा से निर्धारित हैं[1]।

उत्सर्ग-विधि से—सामान्य-निरूपण की पद्धति से यहाँ जितने भी अग्राह्य, अभोग्य, अकरणीय कार्य बताये गये हैं वे स अनाचार हैं। अपवाद-विधि के अनुसार विशेष परिस्थिति में कुछेक अनाचीर्ण अनाचीर्ण नहीं रह जाते। जो कार्य मूलत. साव हैं या जिनका हिंसा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, वे हर परिस्थिति में अनाचीर्ण हैं। उदाहरणस्वरूप सचित्त भोजन, रात्रि-भोज स्नानादि। जिनका निषेध विशेष विशुद्धि या संयम की उग्र साधना की दृष्टि से हुआ है वे विशेष परिस्थिति में अनाचीर्ण न रहते। उदाहरणस्वरूप गृहान्तर-निषद्या, ब्रह्मचर्य की दृष्टि से तथा दूसरों के मन में शङ्का न पड़े इस दृष्टि से अनाचार है रुग्णावस्था, वृद्धावस्था आदि में ब्रह्मचर्य-भङ्ग अथवा दूसरे के शंका की संभावना न रहने से स्थविर के लिए यह अनाचार नहीं अंजन-विभूषा, शृङ्गार की दृष्टि से हर समय अनाचार है पर नेत्र-रोग की अवस्था में यह अनाचार नहीं[3]। सौन्दर्य के लिए वम वस्तिकर्म, विरेचन अनाचार हैं। रुग्णावस्था में ये अनाचार नहीं। शोभा या गौरव के लिए छत्र-धारण अनाचार है। आत आदि के निवारण के लिए भी इसका व्यवहार अनाचार है, पर स्थविर के लिए नहीं[4]।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन नवें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु से उद्धृत है[5]।

१—अ० चू० : उद्देसियादि विभूसणत अणायरणकारणाणि उद्देसिते सत्तवहो, कीनकडे गवादि अहिकरण, णीताए तदट्ठमुपक्खडण, आह छक्कायवहो, रातिभत्ते सत्तविराहना, सिणाणे विभूसाउप्पीलावणादि, गध-मल्ले सहुमघाय-उड्डाहा, वीयणे सपादिमवाउवह सण्णिहीए पिपीलियादिवहो गिहिमत्ते आउक्कायवहो हिय-णट्ठे य दवावण, रायपिण्डे सबाहेण विराहणा उक्कोसलभे य एसणाघाते सवाहणे सुत्त अत्थपलिमथो [अ] तब्भावणां च [दतपधोवणे] दत विभूसा, सम्पुच्छणे पावाणुमोदण, सलोयणेण बभपीडा, अट्ठावय-णालीयाए गेण्हणादत्तो उड्डाहो य छत्ते उड्डाहो गव्वो य, तिगिच्छे सुत्त अत्थपलिमथो, उवाहणाहि गव्वादि, जोति समारम कायवहो, सेज्जातरपिंडे एसणा दोसा, आसदी-पलियकेसु सुसिरदोसा, गिहतरणिसेज्जाए अगुत्ती बभचेरस्स सकादतो य, [गाउच्चट्टणा गायविभूसा] गिहिणो वेतावडिए अहिकरण आजीववित्ती अणिस्सगता, तत्तानिव्वुडभोइयत्ते सत्तवहो, आउसरणे उप्पन्नाणाणि मूलादिग्गहणे वणस्सतिघातो, सोवच्चलादीण पुढविकायवहो, धूवणादि विभूसा। एते दोसा इति।

२—दश० ६.५९ : तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पइ। जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो॥

३—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०), पृ० ३४१ निन्व रास १ ६३

कारण विनांइ साधव्यां, काजल घाले आंख्यां रे मांहि कें।
अणाचारणी त्यांनें कही, दसवीकालक तीजा अधेन रे मांहि के॥

४—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ३१३ जिनाग्या री चौपई ५.१५ :

छत्त वा कह्यो छे ते तों छत्तरडो रे, ते कयलादिक नों कर राखे नांम रे।
ते राखे छे सी तापादिक टालवा रे, और मूतलब रो नहीं छें कांम रे॥

५—नि० गा० १७ : अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ।

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लकाचार-कथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजमे सुट्ठिअप्पाणं विप्पमुक्काण ताइणं । तेसिमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं ॥	संयमे सुस्थितात्मना विप्रमुक्तानां त्रायिणाम् । तेषामेतदनाचीर्णं निर्ग्रन्थाना महर्षीणाम् ॥१॥	जो संयम में सुस्थितात्मा है,[1] जो विप्रमुक्त है[2], जो त्राता हैं[3],—उन निर्ग्रन्थ[4] महर्षियों[5] के लिए[6] ये (निम्नलिखित) अनाचीर्ण हैं[7] (अग्राह्य हैं, असेव्य हैं, अकरणीय हैं)।
२—उद्देसियं कीयगडं नियागमभिहडाणि य । राइभत्ते सिणाणे य गंधमल्ले य वीयणे ॥	औद्देशिकं क्रीतकृतं नित्याग्रमभिहृतानि च । रात्रिभक्तं स्नानं च गन्धमाल्ये च वीजनम् ॥२॥	**औद्देशिक**[8]—निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया। **क्रीतकृत**[9]—निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया। **नित्याग्र**[10]—आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला आहार। **अभिहृत**[11]—निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया। **रात्रि-भक्त**[12]—रात्रि-भोजन। **स्नान**[13]—नहाना। **गंध**—गध सूंघना या गन्ध द्रव्य का विलेपन करना। **माल्य**[14]—माला पहनना। **वीजन**[15]—पंखा झलना।
३—सन्निही गिहिमत्ते य रायपिंडे किमिच्छए । संबाहणा दंतपहोयणा य संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥	संनिधिर्गृहयमत्र च राजपिण्डः किमिच्छक । सम्बाधनं दन्तप्रधावनं च संप्रच्छनं देहप्रलोकन च ॥३॥	**सन्निधि**[16]—खाद्य-वस्तु का सग्रह करना—रात-वासी रखना। **गृहि-अमत्र**[17]—गृहस्थ के पात्र में भोजन करना। **राज-पिण्ड**—मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा लेना। **किमिच्छक**[18]—'कौन क्या चाहता है?' यों पूछकर दिया जानेवाला राजकीय-भोजन आदि लेना। **संबाधन**[19]—अङ्ग-मर्दन। **दत-प्रधावन**[20]—दात पखारना। **संप्रच्छन**[21]—गृहस्थ को कुशल पूछना (सप्रोञ्छन—शरीर के अवयवों को पोंछना)। **देह-प्रलोकन**[22]—दर्पण आदि में शरीर देखना।

४—अट्ठावए य नालीय
छत्तस्स य धारणट्ठाए।
तेगिच्छं पाणहा पाए
समारंभं च जोइणो ॥

अष्टापदश्च नालिका
छत्रस्य धारणमनर्थाय।
चैकित्स्यमुपानहौ पादयोः
समारम्भश्च ज्योतिषः ॥४॥

अष्टापद[23]—शतरंज खेलना। नालिका[24]—नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना। छत्र[25]—विशेष प्रयोजन के बिना छत्र धारण करना। चैकित्स्य[26]—रोग का प्रतिकार करना, चिकित्सा करना। उपानत्[27]—पैरों में जूते पहनना। ज्योतिः समारम्भ[28]—अग्नि जलाना।

५—सेज्जायरपिंडं च
आसंदीपलियंकए।
गिहंतरनिसेज्जा य
गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥

शय्यातरपिण्डश्च
आसन्दी-पर्य(ल्य)ङ्ककः।
गृहान्तरनिषद्या च
गात्रस्योद्वर्तनानि च ॥५॥

शय्यातरपिण्ड[29]—स्थान-दाता के घर से भिक्षा लेना। आसंदी[30]—पर्यङ्क[31]—आसंदी और पलंग पर बैठना। गृहान्तर-निषद्या[32]—भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना। गात्र-उद्वर्त्तन[33]—उबटन करना।

६—गिहिणो वेयावडियं
जा य आजीववित्तिया।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं
आउरस्सरणाणि य ॥

गृहिणो वैयापृत्यं
या च आजीववृत्तिता।
तप्ताऽनिर्वृतभोजित्वं
आतुरस्मरणानि च ॥६॥

गृहि-वैयापृत्य[34]—गृहस्थ को भोजन का संविभाग देना, गृहस्थ की सेवा करना। आजीववृत्तिता[35]—जाति, कुल, गण, शिल्प और कर्म का अवलम्बन ले भिक्षा प्राप्त करना। तप्तानिर्वृतभोजित्व[36]—अर्द्ध पक्व सजीव वस्तु का उपभोग करना। आतुर-स्मरण[37]—आतुर दशा में भुक्त भोगों का स्मरण करना।

७—मूलए सिंगबेरे य
उच्छुखंडे अनिव्वुडे।
कंदे मूले य सच्चित्ते
फले बीए य आमए ॥

मूलकं शृंगबेरं च
इक्षुखण्डमनिर्वृतम्।
कन्दो मूलं च सचित्तं
फलं बीजं चामकम् ॥७॥

अनिर्वृत[38] मूलक—सजीव मूली लेना व खाना। अनिर्वृत शृङ्गबेर—सजीव अदरक लेना व खाना। अनिर्वृत इक्षु-खण्ड[39]—सजीव इक्षु-खंड लेना व खाना। सचित्त कंद[40]—सजीव कंद लेना व खाना। सचित्त मूल—सजीव मूल लेना व खाना। आमक फल—अपक्व फल लेना व खाना। आमक बीज[41]—अपक्व बीज लेना व खाना

८—सोवच्चले सिंधवे लोणे
रोमालोणे य आमए।
सामुद्दे पंसुखारे य
कालालोणे य आमए॥

सौवर्चलं सैन्धवं लवणं
रुमालवण चामकम्।
सामुद्रं पांशुक्षारश्च
काललवणं चामकम्॥८॥

आमक सौवर्चल[42]—अपक्व सौवर्चल नमक लेना व खाना। **सैन्धव**—अपक्व सैन्धव नमक लेना व खाना। **रुमा लवण**—अपक्व रुमा नमक लेना व खाना। **सामुद्र**—अपक्व समुद्र का नमक लेना व खाना। **पांशु-क्षार**—अपक्व ऊषर-भूमि का नमक लेना व खाना। **काल लवण**—अपक्व कृष्ण-नमक लेना व खाना।

९—धूव-णेत्ति वमणे य
वत्थीकम्म विरेयणे।
अंजणे दंतवणे य
गायाभंगविभूसणे॥

धूम-नेत्रं वमनञ्च
वस्तिकर्म विरेचनम्।
अंजनं दन्तवणं च
गात्राभ्यङ्गविभूषणे॥९॥

धूम-नेत्र[43]—धूम्र-पान की नलिका रखना। **वमन**—रोग की सभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना। **वस्ति-कर्म**—रोग की सभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए अपान-मार्ग से तैल आदि चढ़ाना। **विरेचन**[44]—रोग की सभावना के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए विरेचन करना। **अंजन**—आँखों में अजन आँजना। **दंतवण**[45]—दाँतों को दतौन से घिसना, **गात्र-अभ्यङ्ग**[46]—तैल-मर्दन करना। **विभूषण**[47]—शरीर को अलङ्कृत करना

१०—सव्वमेयमणाइण्णं
निग्गंथाण महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं
लहुभूयविहारिणं॥

सर्वमेतदनाचीर्णं
निर्ग्रन्थाना महर्षीणाम्।
संयमे च युक्ताना
लघुभूतविहारिणाम्॥१०॥

ये सब महर्षिनिर्ग्रन्थों के लिए—जो संयम में लीन[48] और वायु की तरह मुक्त विहारी है[49]—अनाचीर्ण है।

११—पंचासवपरिन्नाया
तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा
निग्गंथा उज्जुदंसिणो॥

परिज्ञातपञ्चाश्रवाः
त्रिगुप्ताः षट्सु संयताः।
पञ्चनिग्रहणा धीराः
निर्ग्रन्था ऋजुदर्शिनः॥११॥

पंचाश्रव का निरोध करनेवाले,[50] तीन गुप्तियों से गुप्त,[51] छः प्रकार के जीवों के प्रति संयत,[52] पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले,[53] धीर[54] निर्ग्रन्थ ऋजुदर्शी[55] होते हैं।

१२—आयावयंति गिम्हेसु
हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा
संजया सुसमाहिया ॥

आतापयन्ति ग्रीष्मेषु
हेमन्तेष्वप्रावृताः ।
वर्षासु प्रतिसंलीनाः
संयताः सुसमाहिताः ॥१२॥

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म में सूर्य की आतापना लेते हैं, हेमन्त में खुले बदन रहते हैं और वर्षा में प्रतिसंलीन होते हैं[56]—एक स्थान में रहते हैं।

१३—परीसहरिऊदंता
धुयमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमंति महेसिणो ॥

दान्तपरिषहरिपवः
धुतमोहा जितेन्द्रियाः ।
सर्वदुःखप्रहाणार्थं
प्रक्रामन्ति महर्षयः ॥१३॥

परीषहरूपी रिपुओं का दमन करने वाले,[57] धुत-मोह[58] जितेन्द्रिय महर्षि सर्व दुःखों के प्रहाण[59]—नाश के लिए पराक्रम करते हैं[60]।

१४—दुक्कराइं करेत्ताणं
दुस्सहाइं सहेत्तु य ।
केइत्थ देवलोएसु
केई सिज्झंति नीरया ॥

दुष्कराणि कृत्वा
दुस्सहानि सहित्वा च ।
केचिदत्र देवलोकेषु
केचित् सिध्यन्ति नीरजसः ॥१४॥

दुष्कर[61] को करते हुए और दुःसह[62] को सहते हुए उन निर्ग्रन्थों में से कई देवलोक जाते हैं और कई नीरज[63]—कर्म-रहित हो सिद्ध होते हैं।

१५—खवित्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता
ताइणो परिनिव्वुडा ॥
त्ति बेमि

क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि
संयमेन तपसा च ।
सिद्धिमार्गमनुप्राप्ता
त्रायिणः परिनिर्वृताः ॥१५॥
इति ब्रवीमि ।

स्व और पर के त्राता निर्ग्रन्थ संयम और तप द्वारा पूर्व-संचित कर्मों का क्षयकर,[64] सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर[65] परिनिर्वृत[66]—मुक्त होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

★

टिप्पणियाँ : अध्ययन ३

श्लोक १ :

१. सुस्थितात्मा हैं (सुट्ठिअप्पाणं क) :

इसका अर्थ है अच्छी तरह स्थित आत्मावाले। संयम में सुस्थितात्मा अर्थात् जिनकी आत्मा संयम में भली-भाँति—आगम की रीति के अनुसार—स्थित—टिकी हुई—रमी हुई है[1]।

अध्ययन २ श्लोक ९ में 'अट्ठिअप्पा' शब्द व्यवहृत है[2]। 'सुट्ठिअप्पा' शब्द ठीक उसका विपर्ययवाची है।

२. विप्रमुक्त हैं (विप्पमुक्काण ख) :

वि—विविध प्रकार से; प्र—प्रकर्ष से; मुक्त–रहित हैं। जो विविध प्रकार से—तीन करण और तीन योग के सर्व भङ्गों से, तथा तीव्र भाव के साथ बाह्याभ्यन्तर ग्रंथ—परिग्रह को छोड़ चुके हैं, उन्हें विप्रमुक्त कहते हैं[3]। 'विप्रमुक्त' शब्द अन्य आगमों में भी अनेक स्थलों पर व्यवहृत हुआ है[4]। उन स्थलों को देखने से इस शब्द का अर्थ सब संयोगों से मुक्त, सर्व संग से मुक्त होता है।

कई स्थलों पर 'सव्वओ विप्पमुक्के' शब्द भी मिलता है जिसका—अर्थ है सर्वतः मुक्त।

३. त्राता हैं (ताइणं ख) :

'ताई', 'तायी' शब्द आगमों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं[5]। 'तायिण' के संस्कृत रूप 'त्रायिणाम्' और 'तायिनाम्' दो होते हैं।

१—(क) अ० चू० . तम्मि संजमे सोभणं ठितो अप्पा जेसिं ते सजमे सुट्ठितप्पाणो।

(ख) जि० चू० पृ० ११० . सयमे शोभनेन प्रकारेण स्थितः आत्मा येषां ते भवति सयमे सुस्थितात्मान ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मान.।

२—'अट्ठिअप्पा' शब्द पर टिप्पणी के लिए देखिए पृ० ३८—अ० २ : श्लोक ९ टि० ४०।

३—(क) अ० चू० : विप्पमुक्काण—अब्भितर-बाहिरगंथबंधणविविहप्पगारमुक्काण विप्पमुक्काण।

(ख) जि० चू० पृ० ११०-११ : विविहेण बाहिरब्भंतरेण गंथेण मुक्काण।

(ग) हा० टी० प० ११६ : विविधम्—अनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण—भावसार मुक्ता —परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ता ।

४—(क) उत्त० १.१ · संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥

(ख) वही ११.१ : संजोगा विप्पमुक्कस्स, अणगारस्स भिक्खुणो।
आयारं पाउकरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे॥

(ग) वही १८.५४ : कहिं धीरे अहेऊहिं, अत्ताणं परियावसे।
सव्वसंगविनिम्मुक्के, सिद्धे भवइ नीरए॥

(घ) वही १५.१६ : असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते, जिइंदिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी, चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू॥

(ङ) वही ६.१६ : बहु खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ॥

५—(क) दश० ३.१५; ६.३६,६६;

(ख) उत्त० ११ ३१; २३.१०; ८.९

(ग) सूत्र० १।२.२.१७; १।२ २ २४; १।१४ २६, २।६.२४, २।६.२०, २।६ ५५

६. उन…के लिए (तेसिं ग) :

श्लोक २ से ६ में अनेक कार्यों को अनाचीर्ण कहा है। प्रथम श्लोक में बताया है कि ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए अनाचीर्ण हैं[1]। प्रश्न हो सकता है—ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए ही अनाचीर्ण क्यों कहे गए ? इसका उत्तर निर्ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त महर्षि, संयम में सुस्थित, विप्रमुक्त, त्रायी आदि विशेषणों में है। निर्ग्रन्थ महान् की एषणा में रत होता है। वह महाव्रती होता है—संयम में अच्छी तरह स्थित होता है। वह विप्रमुक्त होता है। अहिंसक होता है। बाद के श्लोकों में बताए गये कार्य सावद्य, आरम्भ और हिंसा-बहुल हैं, निर्ग्रन्थ संयमी के जीवन से विपरीत हैं, गृहस्थों द्वारा आचरित हैं। अतीत में निर्ग्रन्थ महर्षियों ने उनका कभी आचरण नहीं किया। इन सब कारणों से मुक्ति की कामना से उत्कट साधना में प्रवृत्त निर्ग्रन्थों के लिए ये अनाचीर्ण हैं।

श्रमण अनेक प्रकार के होते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण को कैसे पहचाना जाय—यह एक प्रश्न है जो नवागन्तुक उपस्थित करता है। आचार्य बतलाते हैं—निम्नलिखित बातें ऐसी हैं जो निर्ग्रन्थ द्वारा अनाचरित हैं। जिनके जीवन में उनका सेवन पाया जाता हो वे श्रमण निर्ग्रन्थ नहीं हैं। जिनके जीवन में वे आचरित नहीं हैं वे श्रमण निर्ग्रन्थ हैं। इन चिह्नों से तुम निर्ग्रन्थ श्रमण को पहचानो। निम्न वर्णित अनाचीर्णों के द्वारा निर्ग्रन्थ श्रमण का लिङ्ग निर्धारित करते हुए उसकी विशेषताएँ प्रतिपादित कर दी गई हैं।

७. अनाचीर्ण हैं (अणाइण्णं ग) :

'अनाचरित'। शब्दार्थ होता है आचरण नहीं किया गया, पर भावार्थ है—आचरण नहीं करने योग्य—अकल्प्य। जो वस्तुएँ, बातें या क्रियाएँ इस अध्ययन में बताई गई हैं वे अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य और अकरणीय हैं। अतीत में निर्ग्रन्थों द्वारा ये कार्य अनाचरित रहे अतः वर्तमान में भी ये अनाचीर्ण हैं[2]।

श्लोक २ से ६ तक में उल्लिखित कार्यों के लिए अकल्प्य, अग्राह्य, असेव्य, अभोग्य, अकरणीय आदि भावों में से जहाँ जो लागू हो उस भाव का अध्याहार समझना चाहिए।

श्लोक २ :

८. औद्देशिक (उद्देसियं क) :

इसकी परिभाषा दो प्रकार से मिलती है :—(१) निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से अथवा (२) परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्तु अथवा मकान आदि औद्देशिक कहलाता है[3]। ऐसी वस्तु या भोजन निर्ग्रन्थ-

---

१—(क) अ० चू० : तेसिं पुव्व भणिताणं बाहिर-अब्भतरगथबन्धन-विप्पमुक्काण आयपरोभयतातिण एत ज उवरि एतम्मि अज्झयणे भणिणहिति त पच्चक्ख दरिसेति।

(ख) जि० चू० पृ० १११ : तेसिं पुव्वनिद्दिट्ठाण सजमेठिनाण बाहिब्भतरगथविमुक्काण आयपरोभयतातीण एय नाम ज उवरि एयमि अज्झयणे भणिणहिति एय जेसिमणाइण्ण।

(ग) हा० टी० प० ११६ : तेषामिद—वक्ष्यमाणलक्षण।

२—(क) अ० चू० : अणाचिण्ण अकप्प। अणाचिण्णमिति ज अतीतकालनिद्देस करेति त आयपरोभयतातिणिदरिसणत्य, ज पुव्व रिसीहि अणातिण्ण त कहमायरितव्व ?

(ख) जि० चू० पृ० १११ : अणाइण्ण णाम अकप्पणिज्जति वुत्त भवइ, अणाइण्णगहणेण जमेन अतीतकालग्गहण करेइ त आयपरोभयतातीणं कीरइ, किं कारणं ?, जइ ताव अम्ह पुव्वपुरिसेहिं अणातिण्ण त कहमम्हे आयरिस्सामोत्ति ?

(ग) हा० टी० प० ११६ : अनाचरितम्—अकल्प्य।

३—(क) जि० चू० पृ० १११ : उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय, साधुनिमित्त आरभोत्ति वुत्त भवति।

(ख) अ० चू० : उद्देसित ज उद्दिस्स कज्जति

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'उद्देसिय' ति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देश तत्र भवमौद्देशिक।

श्रमण के लिए अनाचीर्ण है—अग्राह्य और असेव्य है। इसी आगम (५.१ ४७-५४) में कहा गया है—"जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्य के विषय में साधु इस प्रकार जान ले कि वह दान के लिए, पुण्य के लिए, याचकों के लिए तथा श्रमणों—भिक्षुओं के लिए बनाया गया है तो वह भक्त-पान उसके लिए अग्राह्य होता है। अतः साधु दाता से कहे—'इस तरह का आहार मुझे नहीं कल्पता'।" इसी तरह औद्देशिक ग्रहण का वर्जन अनेक स्थानों पर आया है[1]। औद्देशिक का गम्भीर विवेचन आचार्य भिक्षु ने अपनी साधु-आचार की ढालों में अनेक स्थलों पर किया है। इस विषय के अनेक सूत्र-सन्दर्भ वहाँ सगृहीत हैं[2]।

भगवान् महावीर स्वामी का अभिमत था—'जो भिक्षु औद्देशिक आहार की गवेषणा करता है वह उद्दिष्ट-आहार बनाने में होने वाली त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा की अनुमोदना करता है—**'वहं ते समणुजाणन्ति'**[3]। उन्होंने उद्दिष्ट-आहार को हिंसा और सावद्य से युक्त होने के कारण साधु के लिए अग्राह्य बताया[4]।

बौद्ध भिक्षु उद्दिष्ट खाते थे। इस सम्बन्ध में अनेक घटनाएँ प्राप्त हैं। उनमें से एक यह है :—

बुद्ध वाराणसी से विहार कर साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के महान् भिक्षु सघ के साथ अधकविंद की ओर चारिका के लिए चले। उस समय जनपद के लोग बहुत-सा नमक, तेल, तन्दुल और खाने की चीजें गाड़ियों पर रख 'जब हमारी बारी आएगी तब भोजन करायेंगे'—सोच बुद्ध सहित भिक्षु-सघ के पीछे-पीछे चलते थे। बुद्ध अधकविंद पहुंचे। एक ब्राह्मण को बारी न मिलने से ऐसा हुआ—'पीछे-पीछे चलते हुए दो महीने से अधिक हो गए बारी नही मिल रही है। मैं अकेला हूँ, मेरे घर के बहुत से काम की हानि हो रही है। क्यों न मैं भोजन परसने को देखूँ? जो परसने में न हो उसको मै दूँ।' ब्राह्मण ने भोजन में यवागू और लड्डू को न देखा। तब ब्राह्मण आनन्द के पास गया और बोला :—'तो आनन्द! भोजन में यवागू और लड्डू मैंने नही देखा। यदि मै यवागू और लड्डू को तैयार कराऊँ तो क्या आप गौतम उसे स्वीकार करेंगे?' 'ब्राह्मण। मैं इसे भगवान् से पूछूँगा।' आनन्द ने सभी बातें बुद्ध से कहीं। बुद्ध ने कहा : 'तो आनन्द! वह ब्राह्मण तैयार करे।' आनन्द ने कहा—'तो ब्राह्मण तैयार करो।' ब्राह्मण दूसरे दिन बहुत-सा यवागू और लड्डू तैयार करा बुद्ध के पास लाया। बुद्ध और सारे सघ ने इन्हें ग्रहण किया[5]।

इस घटना से स्पष्ट है कि बौद्ध साधु अपने उद्देश्य से बनाया खाते थे और अपने लिए बनवा भी लेते थे।

६. क्रीतकृत (कीयगडं क) :

चूर्णि के अनुसार जो दूसरे से खरीदकर दी जाय वह वस्तु 'क्रीतकृत'[6] कहलाती है। टीका के अनुसार जो साधु के लिए क्रय की गई हो—खरीदी गई हो वह क्रीत, जो उससे निर्वर्तित है—कृत है—बनी हुई है—वह क्रीतकृत[7] है। इस शब्द के अर्थ—साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु अथवा साधु के निमित्त खरीद की हुई वस्तु से बनाई हुई वस्तु—दोनों होते हैं। क्रीतकृत का वर्जन भी हिंसा-परिहार की दृष्टि से ही है। इस अनाचीर्ण का विस्तृत वर्णन आचार्य भिक्षु कृत साधु-आचार की ढालों में मिलता है[8]। आगामों में जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्जन है वहाँ-वहाँ प्रायः सर्वत्र ही क्रीतकृत का वर्जन जुड़ा हुआ है। बौद्ध भिक्षु क्रीतकृत लेते थे; उसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं।

१—(क) दश० ५.१.५५; ६.४८-४९; ८ २३, १०.४
(ख) प्रश्न० (सवर-द्वार) १,५
(ग) सूत्र० १.९.१४
(घ) उत्त० २०.४७
२—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८८८-८९ आ० चौ० : २९ १—२२
३—दश० ६.४८
४—प्रश्न० (संवर-द्वार) २.५
५—विनयपिटक महावग्ग ६.४.३ पृ० २३४ से सक्षिप्त
६—(क) अ० चू० · कीतकड ज किणिऊण दिज्जति
(ख) जि० चू० पृ० १११ : क्रेतुम् अन्यसत्क यत्क्रेतु दीयते क्रीतकृत।
७—हा० टी० प० ११६ : क्रयणं—क्रीत, भावे निष्ठाप्रत्ययः, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृत—निर्वर्तितं क्रीतकृत।
८—भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८८९-९० आचार री चौपाई : २९.२४-३१

१०. नित्याग्र (नियागं [क]) :

जहाँ-जहाँ औद्देशिक का वर्जन है वहाँ-वहाँ 'नियाग' का भी वर्जन है।

आगमों में 'नियाग' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है। 'नियागट्ठी' और 'नियाग-पडिवण्ण' ये भिक्षु के विशेषण हैं। 'उत्तराध्ययन', 'आचाराङ्ग' और 'सूत्रकृताङ्ग' में व्याख्याकारों ने 'नियाग' का अर्थ मोक्ष, सयम या मोक्ष-मार्ग किया है।

अनाचार के प्रकरण में 'नियाग' तीसरा अनाचार है। छठे अध्ययन के ४६ वें श्लोक में भी इसका उल्लेख हुआ है। दोनों चूर्णिकार छठे अध्ययन मे प्रयुक्त 'नियाग' शब्द के अर्थ की जानकारी के लिए तीसरे अध्ययन की ओर सकेत करते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में उन्होंने 'नियाग' का अर्थ इस प्रकार किया है—आदरपूर्वक निमन्त्रित होकर किसी एक घर से प्रतिदिन भिक्षा लेना 'नियाग', 'नियतता' या 'निबन्ध' नाम का अनाचार है। सहज-भाव से, निमन्त्रण के विना प्रतिदिन किसी घर की भिक्षा लेना 'नियाग' नहीं है[१]। टीकाकार ने दोनों स्थलो पर 'नियाग' का अर्थ किया है, जो चूर्णिकारों के अभिमत से भिन्न नहीं है[२]।

आचार्य भिक्षु ने 'नियाग' का अर्थ नित्यपिण्ड—प्रतिदिन एक घर का आहार लेना किया है[३]। चूर्णिकार और टीकाकार के समय तक 'नियाग' शब्द का अर्थ यह नहीं हुआ। अवचूरिकार ने टीकाकार का ही अनुसरण किया है[४]। दीपिकाकार इसका अर्थ 'आमन्त्रित-पिण्ड का ग्रहण' करते हैं, 'नित्य' शब्द का प्रयोग नहीं करते[५]।

स्तवकों (टबों) में भी यही अर्थ रहा है। अर्थ की यह परम्परा छूटकर 'एक घर का आहार सदा नही लेना' यह परम्परा कब चली, इसका मूल 'नित्य-पिण्ड' शब्द है। स्थानकवासी सप्रदाय में सम्भवतः 'नित्य-पिण्ड' का उक्त अर्थ ही प्रचलित था।

निशीथ-भाष्यकार ने एक प्रश्न खड़ा किया—जो भोजन प्रतिदिन गृहस्थ अपने लिए बनाता है, उसके लिए यदि निमन्त्रण दिया जाय, तो उसमें कौन-सा दोष है[६]? इसका समाधान उन्होंने इन शब्दों में किया—निमन्त्रण में अवश्य देने की बात होती है इसलिए वहाँ स्थापना, आधाकर्म, क्रीत, प्रामित्य आदि दोषों की सम्भावना है। इसलिए स्वभाविक भोजन भी निमन्त्रणपूर्वक नहीं लेना चाहिए[७]। आचार्य भिक्षु को भी प्रतिदिन एक घर का आहार लेने में कोई मौलिक-दोष प्रतीत नही हुआ। उन्होंने कहा—इसका निषेध शिथिलता-निवारण के लिए किया गया है[८]।

'दशवैकालिक' में जो अनाचार गिनाये हैं उनका प्रायश्चित निशीथ सूत्र में बतलाया गया है। वहाँ 'नियोग' के स्थान मे 'णितिय अग्गपिंड' ऐसा पाठ है[९]। चूर्णिकार ने 'णितिय' का अर्थ शाश्वत और 'अग्र' का अर्थ प्रधान किया है तथा वैकल्पिक रूप मे 'अग्रपिण्ड' का अर्थ प्रथम वार दिये जाने वाला भोजन किया है[१०]।

१—(क) अ० चू० . नियाग-प्रतिणियत ज निव्यधकरण, ण तु ज अहासमावतीए दिणे दिणे भिक्खागहण।
(ख) जि० चू० पृ० १११, ११२ नियाग नाम निययत्ति वुत्त भवति, त तु यदा आयरेण आमतिओ भवइ, जहा भगव ! तुब्मेहिं मम दिणे दिणे अणुग्गहो कायव्वो तदा तस्स अब्भुवगच्छतस्स नियाग भवति, ण तु जत्थ अहाभावेण दिणे दिणे भिक्खा लब्भइ।

२—(क) हा० टी० प० ११६ : 'नियाग' मित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहण नित्य न तु अनामन्त्रितस्य।
(ख) दश० ६ ४८ हा० टी० प० २०३ · 'नियाग' ति—नित्यमामन्त्रित पिण्ड।

३—(क) भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ७८२ आ० री चौ० १.११ :
नितको वहरे एकण घर को, ज्यारां मे एक आहार जी। दसवेकालक तीजा में कह्यो, साधु नें अणाचार जी॥
(ख) भिक्षु-ग्रन्थ० (प्र० ख०) पृ० ८६०-६१ २६ ३२—४५

४—दश० ३ २ अव० · नित्य निमन्त्रितस्य पिण्डम्—नित्य-पिण्डम्।

५—दी० ३ २ · आमन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणम्।

६—नि० भा० १००३।

७—नि० भा० १००४-६।

८—आधाकर्मी ने मोलरो लीधो, ओतो निश्चय उघाडो असुध।
पिण नित्य पिंड तो ढीला पडता जाणने वरज्यो आ तो तीर्थंकरा री बुद्ध॥

९—नि० २ : ३२ जे भिक्खू णितिय अग्गपिंड भुंजत वा सातिज्जति।

१०—नि० २ : ३२ का भा० णितिय—धुव सासयमित्यर्थं, अग्र-वर-प्रधान, अहवा ज पढम दिज्जति सो पुण भत्तट्ठोवा भिक्खामे वा होज्जा।

भाष्यकार ने 'णितिय-अग्गपिंड' के कल्पाकल्प के लिए चार विकल्प उपस्थित किये हैं—निमन्त्रण, प्रेरणा, परिमाण और स्वाभाविक। गृहस्थ साधु को निमन्त्रण देता है—भगवन्! आप मेरे घर आएँ और भोजन लें—यह निमन्त्रण है। साधु कहता है—मैं अनुग्रह करूँ तो तू मुझे क्या देगा? गृहस्थ कहता है—जो आपको चाहिए वही दूँगा। साधु कहता है—घर पर चले जाने पर तू देगा या नहीं? गृहस्थ कहता है—दूँगा। यह प्रेरणा या उत्पीड़न है। इसके बाद साधु कहता है—तू कितना देगा और कितने समय तक देगा? यह परिमाण है। ये तीनों विकल्प जहाँ किए जायँ वह 'णितिय-पिंड' साधु के लिए अग्राह्य है। और जहाँ ये तीनों विकल्प न हों, गृहस्थ के अपने लिए बना हुआ सहज-भोजन हो और साधु सहज-भाव से भिक्षा के लिए चला जाये, वैसी स्थिति में 'णितिय-अग्गपिंड' अग्राह्य नहीं है[1]।

इसके अगले चार सूत्रों में क्रमशः नित्य-पिंड, नित्य-अपार्ध, नित्य-भाग और नित्य-अपार्ध-भाग का भोग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[2]। इनका निषेध भी निमन्त्रण आदि पूर्वक नित्य भिक्षा ग्रहण के प्रसंग में किया गया है।

निशीथ का यह अर्थ 'दशवैकालिक' के अर्थ से भिन्न नहीं है। शब्द-भेद अवश्य है। 'दशवैकालिक' में इस अर्थ का वाचक 'नियाग' शब्द है। जबकि निशीथ में इसके लिए 'णितिय-अग्गपिंड' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। निशीथ-भाष्य (१००७) की चूर्णि में 'णितिय-अग्गपिंड' के स्थान में 'णीयग्ग' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। यहाँ 'णीयग्ग' शब्द विशेष मननीय है। इसका सस्कृत-रूप होगा 'नित्याग्र'। 'नित्याग्र' का प्राकृत-रूप 'णितिय-अग्ग' और 'णीयग्ग' दोनों हो सकते हैं। सम्भवतः 'नियाग' शब्द 'णीयग्ग' का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार 'णियग्ग' और 'णितिय-अग्ग' के रूप में 'दशवैकालिक' और 'निशीथ' का शाब्दिक-भेद भी मिट जाता है।

कुछ आचार्य 'नियाग' का सस्कृत-रूप 'नित्याक'[4] या 'नित्य' करते हैं, किन्तु उक्त प्रमाणों के आधार पर इसका सस्कृत-रूप 'नित्याग्र' होना चाहिए। निशीथ चूर्णिकार ने 'नित्याग्र पिंड' के अर्थ में निमन्त्रणादि-पिंड और निकाचना-पिंड का प्रयोग किया है[5]। इनके अनुसार 'नित्याग्र' का अर्थ नियमित-रूप से ग्राह्य-भोजन या निमन्त्रण-पूर्वक ग्राह्य भोजन होता है।

'नियाग' नित्याग्रपिण्ड का संक्षिप्त रूप है। 'पिंड' का अर्थ अग्र में ही अन्तर्निहित किया गया है। यहाँ 'अग्र' का अर्थ अपरिभुक्त[6], प्रधान अथवा प्रथम हो सकता है[7]।

'णितिय-अग्ग' का 'नियाग' के रूप में परिवर्तन इस क्रम से हुआ होगा—णितिय-अग्ग = णिइय-अग्ग = णीय-अग्ग = णीयग्ग = णियग्ग = णियाग।

इसका दूसरा विकल्प यह है कि 'नियाग' का संस्कृत-रूप 'नियाग' ही माना जाए। 'यज्' का एक अर्थ दान है। जहाँ दान निश्चित हो वह घर 'नियाग' है[8]।

बौद्ध-साहित्य में 'अग्ग' शब्द का घर के अर्थ में प्रयोग हुआ है[9]। इस दृष्टि से 'नित्याग्र' का अर्थ 'नित्य-गृह' (नियत घर से भिक्षा लेना) भी किया जा सकता है। 'अग्र' का अर्थ प्रथम मानकर इसका अर्थ किया जाए तो जहाँ नित्य (नियमतः) अग्र-पिण्ड दिया जाए वहाँ भिक्षा लेना अनाचार है—यह भी हो सकता है।

१—नि० भा० १०००-१००२

२—नि० २.३४—३६ जे भिक्ख णितिय पिंड भुंजइ ; भुंजत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू णितिय अवड्ढभाग भुंजइ; भुंजत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू णितिय भाग भुंजइ, भुंजत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू णितिय अवड्ढभाग भुंजइ, भुंजतं वा सातिज्जति।

३—नि० भा० १००७ : ताहे णीयग्गपिंड गेण्हति

४—उत्तराध्ययन २०.४७ की बृहद्वृत्ति

५—नि० भा० १००५ चू० : तस्मान्निमन्त्रणादि-पिण्डो वर्ज्य·
नि० भा० १००६ चू० : कारणे पुण णिकायणा-पिंड गेण्हेज्ज

६—जी० चू०।

७—नि० चू० २.३२ : 'अग्रं' वर प्रधान

८—निश्चितो नियतो यागो दानं यत्र तन्नियागम्।

९—खुग्ग—क्षौर-गृह।

'आचाराङ्ग' में कहा है[1]—जिन कुलों में नित्य-पिण्ड, अग्र-पिण्ड, नित्य-भाग, नित्य अपार्ध-भाग दिया जाए वहाँ मुनि भिक्षा के लिए न जाए। इससे जान पड़ता है कि उस समय अनेक कुलों में प्रतिदिन नियत-रूप से भोजन देने का प्रचलन था जो नित्य-पिण्ड कहलाता था और कुछ कुलों में प्रतिदिन के भोजन का कुछ अंश ब्राह्मण या पुरोहित के लिए अलग रखा जाता था, वह अग्र-पिण्ड, अग्रासन, अग्र-कूर और अग्राहार कहलाता था[2]। नित्य-दान वाले कुलों में प्रतिदिन बहुत याचक नियत-भोजन पाने के लिए आते रहते थे[3]। उन्हें पूर्ण-पोष, अर्ध-पोष या चतुर्थांश-पोष दिया जाता था[4]। नित्याग्र-पिण्ड और नित्य-पिण्ड से वस्तु के अंतर की सूचना मिलती है। जो श्रेष्ठ आहार निमन्त्रण-पूर्वक नित्य दिया जाता था उसके लिए 'नित्याग्र-पिण्ड' और जो साधारण भोजन नित्य दिया जाता था उसके लिए 'नित्य-पिण्ड' का प्रयोग हुआ होगा।

पाणिनि ने प्रतिदिन नियमित-रूप से दिए जाने वाले भोजन को नियुक्त-भोजन कहा है[5]। इसके अनुसार जिस व्यक्ति को पहले नियमित रूप से भोजन दिया जाए वह 'आग्रभोजनिक' कहलाता है। इस सूत्र में पाणिनि ने 'अग्र-पिण्ड' की सामाजिक परम्परा के अनुसार व्यक्तियों के नाम-करण का निर्देश किया है। साधारण याचक स्वयं नियत भोजन लेने चले जाते थे। ब्राह्मण, पुरोहित और श्रमणों को आमन्त्रण या निमन्त्रण दिया जाता था। पुरोहितों के लिए निमन्त्रण को अस्वीकार करना दोष माना जाता था। बौद्ध-श्रमण निमन्त्रण पाकर भोजन करने जाते थे। भगवान् महावीर ने निमन्त्रणपूर्वक भिक्षा लेने का निषेध किया। भाष्य, चूर्णि और टीकाकार ने 'नियाग' का अर्थ आमन्त्रण-पूर्वक दिया जाने वाला भोजन किया है। उसका आधार 'भगवती' में मिलता है। वहाँ विशुद्ध-भोजन का एक विशेषण अनाहूत है[6]। वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—अनित्य-पिण्ड, अनभ्याहृत, और अस्पर्धादत्त[7]। श्रीमद् जयाचार्य का अभिप्राय भी वृत्तिकार से भिन्न नहीं है[8]। 'प्रश्नव्याकरण' (संवर द्वार १) में भी इसी अर्थ में 'अणाहूय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'नियाग' और 'आहूत' का अर्थ एक ही है।

बौद्ध विनयपिटक में एक प्रसंग है जिससे 'नियाग'—नित्य आमन्त्रित का अर्थ स्पष्ट हो जाता है : "शाक्य महानाम के पास प्रचुर दवाइयाँ थीं। उसने बुद्ध का अभिवादन कर कहा—'भन्ते! मैं भिक्षु-संघ को चार महीने के लिए दवाइयाँ ग्रहण करने के लिए निमंत्रित करना चाहता हूँ।' बुद्ध ने निमन्त्रण की आज्ञा दी। पर भिक्षुओं ने उसके निमन्त्रण से दवाइयाँ नहीं लीं। बुद्ध ने कहा—'भन्ते! भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ चार महीने तक दवाइयाँ ग्रहण करने के निमन्त्रण को स्वीकार करने की।' दवाइयाँ काफी बच गईं। महानाम ने पुनः चार महीने के लिए दवाइयाँ लेने का निमन्त्रण किया। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ पुनः चार महीने के लिए निमन्त्रण को स्वीकार करने की (punapavarna)। दवाइयाँ फिर भी बच गईं। महानाम ने जीवन भर दवाइयाँ लेने का निमन्त्रण स्वीकार करने की विनती की। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ! अनुमति देता हूँ जीवन भर दवाइयाँ ग्रहण करने के निमन्त्रण को स्वीकार करने की (niccapavarana)'।"[9]

१—आचा० २ २ १ १५ . इमेसु खलु कुलेसु णितिए पिंडे दिज्जइ णितिए अग्गपिंडे दिज्जइ, णितिए भाए दिज्जइ अवड्ढभाए दिज्जइ तहप्पगाराइं कुलाइं णितियाइं णितिओमाणाइं णो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज्ज वा निक्खमिज्ज वा

२—आचा० २ १.१.१६ वृ० : शाल्योदनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यते सोऽग्रपिण्ड

३—आचा० २.१.१.१६ : तहप्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइओमाणाइं

४—आचा० २.१.१.१६

५—पाणिनि अष्टाध्यायी ४ ४.४६ तदस्मै दीयते नियुक्तम्

६—भग० ७ १ सू० २७० पृ० २६३ . अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीयकडमणुद्दिट्ठं।

७—उक्त सूत्र की टीका पृ० २६३. न च विद्यते आहूतमाह्वानमामन्त्रणं नित्यं मद्गृहे पोषमात्रमन्नं ग्राह्यमित्येवं रूपं कर्मकराद्याकारणं वा साधुप्रार्थं स्थानान्तरादन्नाद्यानयनाय यत्र सोऽनाहूतः अनित्यपिण्डोऽनभ्याहृतो वेत्यर्थः, स्पर्धा वा आहूतं तन्निषेधादनाहूतो दायकेना-ऽस्पर्धया दीयमानमित्यर्थः।

८—भग० जो० ढाल ११४ गाथा ४३ : गृही कहै नित्य प्रति मुज घर वहिरीयै रे, तें नित्य पिंड न लेवै मुनिराय रे।
अथवा साहमो आण्यो लेवै नहीं रे, ए अणाहूय नो अर्थ कहाय रे॥

९—Sacred Books of the Buddhists Vol XI. Book of The Discipline Part II pp. 369 378

इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षु स्थायी निमंत्रण पर एक ही घर से रोज-रोज दवाइयाँ ला सकते थे। भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं के लिए ऐसा करना अनाचीर्ण बतलाया है।

११. अभिहृत (अभिहडाणि ख) :

आगमों में जहाँ-जहाँ औद्देशिक, क्रीतकृत आदि का वर्णन है वहाँ अभिहृत का भी वर्णन है।

अभिहृत का शाब्दिक अर्थ है—सम्मुख लाया हुआ। अनाचीर्ण के रूप में इसका अर्थ है—साधु के निमित्त—उसको देने के लिये गृहस्थ द्वारा अपने ग्राम, घर आदि से उसके अभिमुख लाई हुई वस्तु[1]। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निशीथ में मिलता है। वहाँ बताया है कि कोई गृहस्थ भिक्षु के निमित्त तीन घरों के आगे से आहार लाये तो उसे लेने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[2]। तीन घरों की सीमा भी वही मान्य है जहाँ से दाता की देने की प्रवृत्ति देखी जा सकती हो[3]। पिण्ड-निर्युक्ति में सौ हाथ या उससे कम हाथ की दूरी से लाया हुआ आहार आचीर्ण माना है[4]। वह भी उस स्थिति में जबकि उस सीमा में तीन घरों से अधिक घर न हों।

'अभिहडाणि' शब्द बहुवचन में है। चूर्णि और टीकाकार के अभिमत से अभिहृत के प्रकारों की सूचना देने के लिए ही बहुवचन का प्रयोग किया है[5]। पिण्ड-निर्युक्ति और निशीथ-भाष्य में इनके अनेक प्रकार बतलाए हैं[6]।

बौद्ध-भिक्षु अभिहृत लेते थे। इसकी अनेक घटनाएँ मिलती हैं। एक घटना इस प्रकार है :

१—(क) अ० चू० : अभिहड जं अभिमुहाणीत उवस्सए आणेऊण दिण्ण

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : अभिहड णाम अभिमुखमानीत।

(ग) हा० टी० प० ११६ : स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृत।

२—नि० ३.१५ : जे भिक्खू गाहावइ-कुल पिण्डवाय-पडियाए अणुपविट्ठे समाणे पर ति-घरतराओ असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाण पडिग्गाहेति पडिग्गाहेंत वा सातिज्जति।

३—पि० नि० ३ ४४ : आइन्नमि (३) तिगिहा ते चिय उवओगपुव्वागा

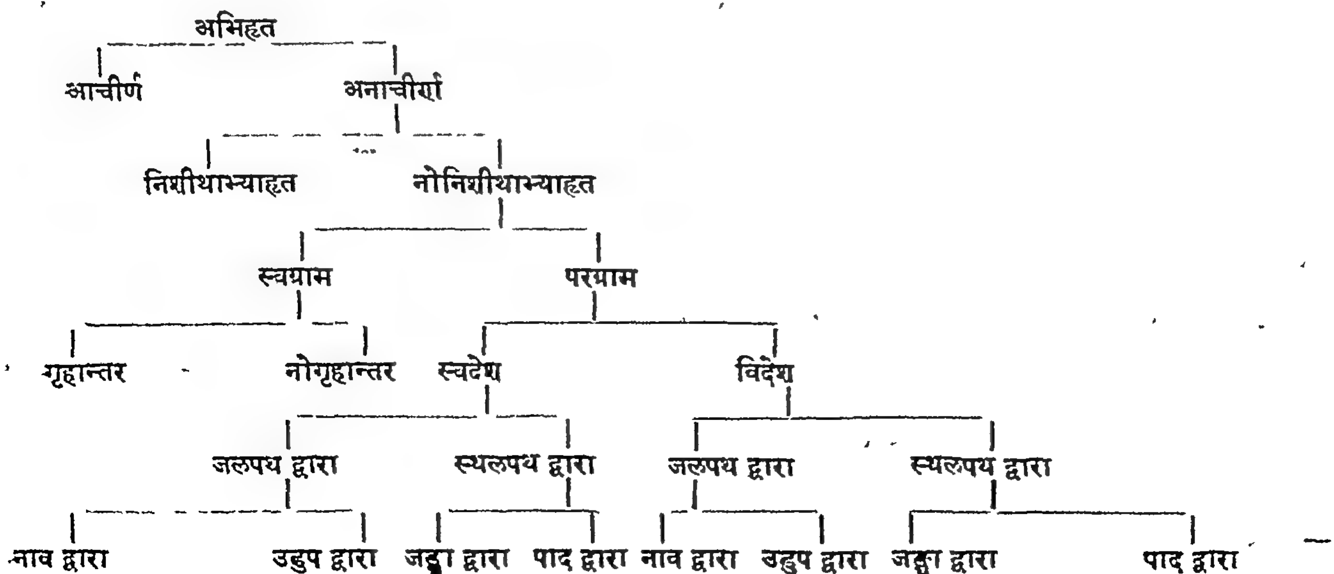
४—पि० नि० ३.४४ : हत्थसय खलुदेसो आरेण होई देसदेसोय

५—(क) जि० चू० पृ० ११२ : अभिहडाणित्ति बहुवयणेण अभिहडभेदा दरिसिता भवन्ति

(ख) हा० टी० प० ११६ : बहुवचन स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम्।

(ग) अ० चू०: अहवा अभिहड भेद संबणत्थ, सग्गाम परग्गामे निसिहाभिहड च नो नीसीहं च णिसिहाभिहड ठप्पं णोय णिसीह तु वोच्छामि॥

६—पि० नि० ३२६—४६, नि० भा० १४८३—८८



"एक वार एक ब्राह्मण ने नये तिलों और नये मधु को बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को प्रदान करने के विचार से बुद्ध को भोजन के लिए निमन्त्रित किया। वह इन चीजों को देना भूल गया कि बुद्ध और भिक्षु-संघ वापस चले गए। जाने के थोड़ी ही देर बाद ब्राह्मण को अपनी भूल याद आई। उसको विचार आया : 'क्यों न मैं नये तिलों और नये मधु को कुण्डों और घड़ों में भर आराम में ले चलूँ।' ऐसा ही कर उसने बुद्ध से कहा—'भो गौतम ! जिनके लिए मैंने बुद्ध-सहित भिक्षु-सघ को निमन्त्रित किया था उन्हीं नये तिलों और नये मधु को देना मैं भूल गया। आप गौतम उन नये तिलों और मधु को स्वीकार करें।' बुद्ध ने कहा : 'भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ वहाँ से (गृहपति के घर से) लाए हुए भोजन की पूर्ति हो जाने पर भी अतिरिक्त न हो तो उसका भोजन करने की'।"[1]

यह अभिहृत का अच्छा उदाहरण है। भगवान् महावीर ऐसे अभिहृत को हिंसायुक्त मानते थे[2] और इसका लेना साधु के लिए अकल्प्य घोषित किया था।

'अगस्त्य चूर्णि' में 'णियागा—ऽभिहडाणि य' 'णियाग अभिहडाणि य' ये पाठान्तर मिलते हैं। यहाँ समास के कारण प्राकृत में बहुवचन के व्यवहार मे कोई दोष नहीं।

औद्देशिक यावत् अभिहृत · औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग और अभिहृत का निषेध अनेक स्थलों पर आया है। इसी आगम मे देखिए—५।१ ५५ , ६ ४७-५० , ८ २३। 'उत्तराध्ययन' (२० ४८) में भी इनका वर्जन है। 'सूत्रकृताङ्ग' में अनेक स्थलों पर है। इस विषय में महावीर के समकालीन बुद्ध का क्या अभिप्राय था सम्पूर्णतः जान लेना आवश्यक है। हम यहाँ ऐसी घटना का उल्लेख करते हैं जो बडी ही मनोरजक है और जिससे बौद्ध और जैन नियमों के विषय में एक तुलनात्मक प्रकाश पड़ता है। घटना इस प्रकार है :

"निगठ सिंह सेनापति बुद्ध के दर्शन के लिए गया। समझ कर उपासक बना। शास्ता के शासन में स्वतन्त्र हो तथागत से बोला : 'भन्ते ! भिक्षु-सघ के साथ मेरा कल का भोजन स्वीकार करें।' तथागत ने मौन से स्वीकार किया। सिंह सेनापति स्वीकृति जान तथागत को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया।

तब सिंह सेनापति ने एक आदमी से कहा— 'जा तू तैयार मांस को देख तो।'

तब सिंह सेनापति ने उस रात के बीतने पर अपने घर में उत्तम खाद्य-भोज्य तैयार करा, तथागत को काल की सूचना दी। तथागत वहाँ जा भिक्षु सघ के साथ बिछे आसन पर बैठे।

उस समय बहुत से निगठ वैशाली में एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरास्ते से दूसरे चौरास्ते पर, बाँह उठाकर चिल्लाते थे— 'आज सिंह सेनापति ने मोटे पशु को मार कर, श्रमण गौतम के लिये भोजन पकाया, श्रमण गौतम जान-बूझ कर (अपने ही) उद्देश्य से किये, उस मास को खाता है।'

तब किसी पुरुष ने सिंह सेनापति के कान में यह बात डाली।

सिंह बोला : 'जाने दो आर्यो ! चिरकाल से आयुष्मान् (निगठ) बुद्ध, धर्म, सघ की निंदा चाहनेवाले हैं। यह असत्, तुच्छ, मिथ्या=अ-भूत निंदा करते नहीं शरमाते। हम तो (अपने) प्राण के लिये भी जान-बूझ कर प्राण न मारेंगे।'

सिंह सेनापति ने बुद्ध सहित भिक्षु-सघ को अपने हाथ से उत्तम खाद्य-भोज्य से सतर्पित कर, परिपूर्ण किया।

तब तथागत ने इसी संबन्ध में इसी प्रकरण में धार्मिक कथा कह भिक्षुओं को सबोधित किया—'भिक्षुओ ! जान-बूझ कर (अपने) उद्देश्य से बने मास को नहीं खाना चाहिये। जो खाये उसे दुक्कट का दोष हो। भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ (अपने लिये मारे को) देखे, सुने, सदेह-युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की'।"[3]

इस घटना से निम्नलिखित बातें फलित होती हैं : (१) सिंह ने किसी प्राणी को नहीं मारा था, (२) उसने बाजार से सीधा मांस मँगवाकर उसका भोजन बनाया था, (३) सीधा मांस लाकर बौद्ध-भिक्षुओं के लिए भोजन बना खिलाना बुद्ध की दृष्टि में औद्देशिक नहीं

१—विनय पिटक · महावग्ग ६ ३.११ पृ० २२८ से सक्षिप्त

२—दश० ६ ४८

३—विनय पिटक : महावग्ग · ६.४ ८ पृ० २४४ से सक्षिप्त

था, (४) पशु को मार कर मांस तैयार करना ही बुद्ध-दृष्टि में औद्देशिक था और (५) अशुद्ध मांस टालने के लिए बुद्ध ने जो तीन नियम दिये वे जैनों की आलोचना के परिणाम थे। उससे पहले ऐसा कोई नियम नहीं था।

उपर्युक्त घटना इस बात का प्रमाण है कि बुद्ध और बौद्ध-भिक्षु निमन्त्रण स्वीकार कर आमन्त्रित भोजन ग्रहण करते थे। त्रिपिटक में इसके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं[1]। संघ-भेद की दृष्टि से देवदत्त ने श्रमण गौतम बुद्ध से जो पाँच बातें मांगी थीं उनमें एक यह भी थी कि भिक्षु जिन्दगी भर पिण्डपातिक (भिक्षा मांग कर खाने वाले) रहें। जो निमन्त्रण खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया[2]। इससे यह स्पष्ट ही है कि निमन्त्रण स्वीकार करने का रिवाज बौद्ध-संघ में शुरू से ही था। बुद्ध स्वयं पहले दिन निमन्त्रण स्वीकार करते और दूसरे दिन सैकड़ों भिक्षुओं के साथ भोजन करते। बौद्ध श्रमणोपासक भोजन के लिए बाजार से वस्तुएँ खरीदते, उससे खाद्य वस्तुएँ बनाते। यह सब भिक्षु-संघ को उद्देश्यकर होता था और बुद्ध अथवा बौद्ध-भिक्षुओं की जानकारी के बाहर भी नहीं हो सकता था। इसे वे खाते थे। इस तरह निमन्त्रण स्वीकार करने से बौद्ध-भिक्षु औद्देशिक, क्रीतकृत, नियाग और अभिहृत चारों प्रकार के आहार का सेवन करते थे, यह भी स्पष्ट ही है। देवदत्त ने दूसरी बात यह रक्खी थी कि भिक्षु जिन्दगी भर मछली-मांस न खायें, जो खाये उसे दोष हो। बुद्ध ने इसे भी स्वीकार नहीं किया और बोले : "अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित इन तीन कोटि से परिशुद्ध मांस की मैंने अनुज्ञा दी है[3]।" इसका अर्थ भी इतना ही था कि उपासक द्वारा पशु नहीं मारा जाना चाहिए। उपासक ने भिक्षुओं के लिए पशु मारा है—यदि भिक्षु यह देख ले, सुन ले अथवा उसे इसकी शंका हो जाय तो वह ग्रहण न करे अन्यथा वह ग्रहण कर सकता है[4]।

बौद्ध-भिक्षुओं को खिलाने के लिए सीधा मांस खरीद कर उसे पकाया जा सकता था—यह सिंह सेनापति की घटना से स्वयं ही सिद्ध है। ऐसा करनेवाले के पाप नहीं माना जाता था उलटा पुण्य माना जाता था; यह भी निम्नलिखित घटना से प्रकट होगा :

"एक श्रद्धालु तरुण महामात्य ने दूसरे दिन के लिए बुद्ध सहित भिक्षु-संघ को निमंत्रित किया। उसे हुआ कि साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के लिए साढ़े बारह सौ थालियाँ तैयार कराऊँ और एक-एक भिक्षु के लिए एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। रात बीत जाने पर ऐसा ही कर उसने तथागत को सूचना दी—'भन्ते! भोजन का काल है, भात तैयार है।' तथागत जा भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर बैठे। महामात्य चौके में भिक्षुओं को परोसने लगा। भिक्षु बोले : 'आवुस! थोड़ा दो। आवुस! थोड़ा दो।' 'भन्ते! यह श्रद्धालु महामात्य तरुण है—यह सोच थोड़ा-थोड़ा मत लीजिए। मैंने बहुत खाद्य-भोज्य तैयार किया है, साढ़े बारह सौ मांस की थालियाँ तैयार की हैं जिससे कि एक-एक भिक्षु को एक-एक मांस की थाली प्रदान करूँ। भन्ते! खूब इच्छापूर्वक ग्रहण कीजिये।' 'आवुस! हमने सबेरे ही भोज्य यवागू और मधुगोलक खा लिया है, इसलिए थोड़ा-थोड़ा ले रहे हैं।' महामात्य असंतुष्ट हो भिक्षुओं के पात्रों को भरता चला गया—'खाओ या ले जाओ। खाओ या ले जाओ।'

"तथागत सतर्पित हो वापस लौटे। महामात्य को पछतावा हुआ कि उसने भिक्षुओं के पात्रों को भर उन्हें यह कहा कि खाओ या ले जाओ। वह तथागत के पास आया और अपने पछतावे की बात बता पूछने लगा—'मैंने पुण्य अधिक कमाया या अपुण्य?' तथागत बोले : 'आवुस! जो कि तूने दूसरे दिन के लिए बुद्ध-सहित भिक्षु-संघ को निमंत्रित किया इससे तूने बहुत पुण्य उपार्जित किया। जो कि तेरे यहाँ एक-एक भिक्षु ने एक-एक दान ग्रहण किया इस बात से तूने बहुत पुण्य कमाया। स्वर्ग का आराधन किया।' 'लाभ है मुझे, सुलाभ हुआ मुझे, मैंने बहुत पुण्य कमाया, स्वर्ग का आराधन किया'—सोच हर्षित हो तथागत को अभिवादन कर महामात्य प्रदक्षिणा कर चला गया[5]।"

यह घटना इस बात पर सुन्दर प्रकाश डालती है कि उपर्युक्त औद्देशिक, क्रीतकृत और नियाग आहार बौद्ध-भिक्षुओं के लिए वर्जनीय नहीं थे।

१—Sacred Books of The Buddhists Vol XI Book of The Discipline part II & III : Indexes pp 421 & 480 See "Invitation".

२—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ७.२.७ पृ० ४८८

३—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ७.२.७ पृ० ४८८

४—उपर्युक्त स्थल।

५—विनयपिटक : महावग्ग ६.७.५ पृ० २३५-३६ से संक्षिप्त।

बुद्ध और महावीर के भिक्षा-नियमों का अन्तर उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। महावीर औद्देशिक आदि चारों प्रकार के आहार ग्रहण में ही नहीं, अन्य वस्तुओं के ग्रहण में भी स्पष्ट हिंसा मानते जब कि बुद्ध ऐसा कोई दोष नहीं देखते थे और आहार की तरह ही अन्य ऐसी वस्तुएँ ग्रहण करते थे। बौद्ध-संघ के लिए विहार आदि बनाये जाते थे और बुद्ध तथा बौद्ध-भिक्षु उनमें रहते थे[1] जबकि महावीर औद्देशिक मकान में नहीं ठहरते थे।

महावीर की विचारधारा को व्यक्त करते हुए उनके सिद्धान्त का अच्छी तरह निचोड़ करनेवाले सेज्जभव लिखते हैं : "महर्षि ने कहा है—'जो कोई नियाग, क्रीत, औद्देशिक और अभिहृत को ग्रहण करता है वह प्राणी-वध की अनुमोदना करता है।' अतः जो स्थितात्मा धर्मजीवी निर्ग्रन्थ हैं वे नियाग यावत् अभिहृत अनशन आदि का वर्जन करते हैं।"

महावीर के इन नियमों में अहिंसा का सूक्ष्म दर्शन और गंभीर विवेक है। जहाँ सूक्ष्म भी हिंसा उन्हें मालूम दी वहाँ उससे बचने का मार्ग उन्होंने ढूँढ़ बताया। सूक्ष्म हिंसा से बचाने के लिए ही उन्होंने भिक्षुओं से कहा था : "गृहस्थों द्वारा अनेक प्रकार के शस्त्रों से लोक-प्रयोजन के लिए कर्म-समारम्भ किये जाते हैं। गृहस्थ अपने लिए, पुत्रों के लिए, पुत्रियों के लिए, पुत्र-वधुओं के लिए, ज्ञातियों के लिए, धात्रियों के लिए, दासों के लिए, दासियों के लिए, कर्मकरों के लिए, कर्मकरियों के लिए, अतिथियों के लिए, विभिन्न उपहारों या उत्सवों के लिए, शाम के भोजन के लिए, प्रातःराश—कलेवे के लिए, संसार के किसी न-किसी मानव के भोजन के लिए, सन्निधि-संचय करते हैं। भिक्षा के लिए उठा हुआ आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी अनगार सर्व प्रकार के आमगंध—औद्देशिक आदि आहार को जान उसे ग्रहण न करे, न कराए, न उसके ग्रहण का अनुमोदन करे, निरामगंध होकर विचरण करे[2]।"

१२. रात्रि-भक्त (राइभत्ते ग) :

रात्रि में आहार करना। रात्रि-भक्त के चार विकल्प होते हैं—(१) दिन में लाकर दूसरे दिन, दिन में खाना ; (२) दिन में लाकर रात्रि में खाना ; (३) रात में लाकर दिन में खाना और (४) रात में लाकर रात में खाना। इन चारों का ही निषेध है[3]। जो सूर्यास्त होते-होते भोजन करता है उसे पापी-श्रमण कहा है[4]। रात्रि-भोजन वर्जन को श्रामण्य का अविभाज्य अङ्ग माना है। रात में चारों आहारों में से किसी एक को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता[5]।

१३. स्नान (सिणाणे ग) :

स्नान दो तरह के होते हैं—देश-स्नान और सर्व-स्नान। शौच स्थानों के सिवा आँखों के भौं तक का भी धोना देश-स्नान है। सारे शरीर का स्नान सर्व-स्नान कहलाता है[6]। दोनों प्रकार के स्नान अनाचीर्ण हैं।

१—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ६.३.१ पृ० ४६१-६२

२—आचा० १.२.५ ८८

३—(क) अ० चू० : त रातिभत्त चतुव्विह, तं जहा—दिवा घेत्तु बितियदिवसे दिता भुंजति १ दिवा घेत्तु राति भुंजति २ राति घेत्तु दिवा भुंजति ३ राति घेत्तु राति भुजति ४।

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : तत्थ रायभत्त चउव्विह, त०—दिया गेण्हित्ता बितियदिवसे भुजति १ दिया घेत्तु राइं भुंजइ २ राइ घेत्तु दिया भुजइ ३ राइ घेत्तु राइ भुजइ ४।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'रात्रिभक्त' रात्रिभोजन दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम्।

४—उत्त० १७.१६ : अत्यन्तम्मि य सूरम्मि आहारेइ अभिक्खण।
चोइओ परिचोएइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥

५—उत्त० १६.३० : चउव्विहे वि आहारे राईभोयणवज्जणा।

६—(क) अ० चू० : सिणाण दुविह देसतो सव्वतो वा। देससिणाण लेवाड मोत्तूणं जं णेत्त त्ति, सव्वसिणाण जं ससीसोगहाति।

(ख) जि० चू० पृ० ११२ : सिणाण दुविह भवति, त०—देससिणाण सव्वसिणाण च, तत्थ देससिणाण लेवाडय मोत्तूण सेस अच्छिपम्हपक्खालणमेत्तमवि देससिणाण भवइ, सव्वसिणाण जो ससीसतो गहाइ।

(ग) हा० टी० प० ११६-१७ : 'स्नान च'—देशसर्वभेदभिन्नं, देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि, सर्वस्नान तु प्रतीत।

स्नान-वर्जन में भी अहिंसा की दृष्टि ही प्रधान है। इसी सूत्र (६.६१-६३) में यह दृष्टि बड़े सुन्दर रूप में प्रकट होती है। वहाँ कहा गया है—"रोगी अथवा निरोग जो भी साधु स्नान की इच्छा करता है वह आचार से गिर जाता है और उसका जीवन संयम-हीन होता है। अतः उष्ण अथवा शीत किसी जल से निर्ग्रन्थ स्नान नहीं करते। यह घोर अस्नान-व्रत यावज्जीवन के लिए है।" जैन-आगमों में स्नान का वर्जन अनेक स्थलों पर आया है[1]।

स्नान के विषय में बुद्ध ने जो नियम दिया वह भी यहाँ जान लेना आवश्यक है। प्रारम्भ में स्नान के विषय में कोई निषेधात्मक नियम बौद्ध-संघ में था, ऐसा प्रतीत नहीं होता। बौद्ध-साधु नदियों तक में स्नान करते थे, ऐसा उल्लेख है। स्नान-विषयक नियम की रचना का इतिहास इस प्रकार है—उस समय भिक्षु तपोदा में स्नान किया करते थे। एक बार मगध के राजा सेणिय-बिम्बिसार तपोदा में स्नान करने के लिए गए। बौद्ध-साधुओं को स्नान करते देख वे एक ओर प्रतीक्षा करते रहे। साधु रात्रि तक स्नान करते रहे। उनके स्नान कर चुकने पर सेणिय बिम्बिसार ने स्नान किया। नगर का द्वार बन्द हो चुका था। देर हो जाने से राजा को नगर के बाहर ही रात बितानी पड़ी। सुबह होते ही गन्ध-विलेपन किए वे तथागत के पास पहुँचे और अभिनन्दन कर एक ओर बैठ गए। बुद्ध ने पूछा—'आवुस! इतने सुबह गन्ध-विलेपन किए कैसे आए?' सेणिय-बिम्बिसार ने सारी बात कही। बुद्ध ने धार्मिक-कथा कह सेणिय-बिम्बिसार को प्रसन्न किया। उनके चले जाने के बाद बुद्ध ने भिक्षु-संघ को बुलाकर पूछा—'क्या यह सत्य है कि राजा को देख चुकने के बाद भी तुम लोग स्नान करते रहे?' 'सत्य है भन्ते!' भिक्षुओं ने जवाब दिया। बुद्ध ने नियम दिया: 'जो भिक्षु १५ दिन के अन्तर से पहले स्नान करेगा उसे पाचित्तिय का दोष लगेगा।' इस नियम के बन जाने पर गर्मी के दिनों में भिक्षु स्नान नहीं करते थे। गात्र पसीने से भर जाता इससे सोने के कपड़े गन्दे हो जाते थे। यह बात बुद्ध के सामने लाई गई। बुद्ध ने अपवाद किया—'गर्मी के दिनों में १५ दिन से कम अन्तर पर भी स्नान किया जा सकता है।' इसी तरह रोगी के लिए यह छूट दी। मरम्मत में लगे साधुओं के लिए यह छूट दी। वर्षा और आँधी के समय में यह छूट दी[2]।

महावीर का नियम था—"गर्मी से पीड़ित होने पर भी साधु स्नान करने की इच्छा न करे[3]।" उनकी अहिंसा उनसे स्नान के विषय में कोई अपवाद नहीं करा सकी। बुद्ध की मध्यम प्रतिपदा-बुद्धि सुविधा-असुविधा का विचार करती हुई अपवाद गढ़ती गई।

भगवान् के समय में शीतोदक-सेवन से मोक्ष पाना माना जाता था। इसके विरुद्ध उन्होंने जोरदार आवाज में कहा था—"प्रातः स्नान आदि से मोक्ष नहीं है[4]।" उन्होंने कहा था—"सायकाल और प्रातःकाल जल का स्पर्श करते हुए जल-स्पर्श से जो मोक्ष की प्राप्ति कहते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि जल-स्पर्श से मुक्ति हो तो जल में रहने वाले अनेक जीव मुक्त हो जाएँ! जो जल-स्नान में मुक्ति कहते हैं वे अस्थान में कुशल हैं। जल यदि कर्म-मल को हरेगा तो सुख-पुण्य को भी हर लेगा। इसलिए स्नान से मोक्ष कहना मनोरथ मात्र है। मंद पुरुष अन्धे नेताओं का अनुसरण कर केवल प्राणियों की हिंसा करते हैं। पाप-कर्म करने वाले पापी के उस पाप को अगर शीतोदक हर सकता तब तो जल के जीवों की घात करने वाले जल-जन्तु भी मुक्ति प्राप्त कर लेते। जल से सिद्धि बतलाने वाले मृषा बोलते हैं। अज्ञान को दूर कर देख कि त्रस और स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं। तू त्रस और स्थावर जीवों की घात की क्रिया न कर। जो अचित्त जल से भी स्नान करता है वह नाग्न्य से—श्रमणभाव से दूर है[5]।"

१—उत्त० २.६, १५.८, आचा० २.२.२.१, २.१३; सूत्र० १.७.२१-२२, १.९.१३

२—Sacred Book of The Buddhists Vol. XI Part II LVII pp 400-405.

३—उत्त० २.९ : उण्हाहितत्ते मेहावी सिणाणं वि नो पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा न वीएज्जा य अप्पयं॥

४—सूत्र० १.७.१३ : पाओसिणाणादिसु णत्थि मोक्खो।

५—सूत्र० १.७.१२-२२

१४. गंध, माल्य (गन्धमल्ले [घ]) :

गन्ध—इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ[१]। माल्य—फूलों की माला[२]। इन दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग अनेक स्थलों पर मिलता है। गन्ध-माल्य साधु के लिए अनाचीर्ण है, यह उल्लेख भी अनेक स्थलों पर मिलता है[३]।

'प्रश्नव्याकरण' में पृथ्वीकाय आदि जीवों की हिंसा कैसे होती है यह बताया गया है। वहाँ उल्लेख है कि गन्ध-माल्य के लिए मूढ, दारुण-मति लोग वनस्पतिकाय के प्राणियों का घात करते हैं[४]। गन्ध बनाने में फूल या वनस्पति विशेष का मर्दन, घर्षण करना पड़ता है। माला में वनस्पतिकाय के जीवों का विनाश प्रत्यक्ष है। गन्ध-माल्य का निषेध वनस्पतिकाय और तदाश्रित अन्य त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से बचने की दृष्टि से भी किया गया है। विभूषा-त्याग और अपरिग्रह-महाव्रत की रक्षा की दृष्टि भी इसमें है। साधु को नाना पदार्थों की मनोज्ञ और भद्र सुगन्ध में आसक्त नही होना चाहिए—ऐसा कहा है[५]। चूर्णि और टीका में मालाएँ चार प्रकार की बताई गई हैं—ग्रथित, वेष्टित, पूरिम और सघातिम[६]। बौद्ध-आगम विनयपिटक में अनेक प्रकार की मालाओं का उल्लेख है[७]।

१५. वीजन (वीयणे [घ]) :

तालवृन्तादि द्वारा शरीर अथवा ओदनादि को हवा डालना वीजन है[८]।

जैन-दर्शन में षड्जीवनिकायवाद एक विशेष वाद है[९]। इसके अनुसार वायु भी जीव है[१०]। तालवृन्त, पखा, व्यजन, मयूरपत्त आदि पंखों से उत्पन्न वायु के द्वारा सजीव वायु का हनन होता है तथा संपातिम जीव मारे जाते हैं[११]। इसीलिए व्यजन का व्यवहार साधु के लिए अनाचीर्ण कहा है। इसी आगम में अन्य स्थलों[१२] तथा अन्य आगमो में भी[१३] स्थान-स्थान पर इसका निषेध किया गया है। भीषण गर्मी में निर्ग्रन्थ साधु पखी आदि से हवा नहीं ले सकता[१४]।

१—(क) अ० चू० : गंधा कोट्ठ पुडादतो।
   (ख) जि० चू० पृ० ११२ : गधग्गहणेण कोट्टपुडाइणो गधा गहिया।
   (ग) हा० टी० प० ११७ : गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रह।

२—(क) अ० चू० : मल्ल गथिम-पूरिम-सघातिम।
   (ख) जि० चू० पृ० ११२ : मल्लग्गहणेण गथिमवेढिमपूरिमसघाइम चउव्विहपि मल्ल गहित।
   (ग) हा० टी० प० ११७ : माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्माल्यस्य।

३—सूत्र० १.९.१२

४—प्रश्न० १.१ : गध-मल्ल अणुलेवण'''एवमादिएहिं बहुहिं कारणसतेहिं हिंसति ते तरुगणे, भणिता एवमादी सत्ते सत्तपरिवज्जिया उवहणति, दढमूढा दारुणमती।

५—प्रश्न० २.५

६—देखिए ऊपर पाद-टि० २

७—विनयपिटक : चुल्लवग्ग १ ३.१ पृ० ३४६

८—(क) अ० चू० : वीयण सरीरस्स भत्तातिणो वा उक्खेवादीहिं।
   (ख) जि० चू० पृ० ११२ . वीयणं णाम घम्मत्तो अत्ताण ओदणादि वा तालवेंटादीहिं वीयेति।
   (ग) हा० टी० प० ११७ : वीजन तालवृन्तादिना घर्म एव।

९—दश० ४, आचा० १.१

१०—दश० ४ : वाऊ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

११—(क) प्रश्न १.१ : सुप्प वियण तालयट पेहुण मुह करयल सागपत्त वत्थमाइएहिं अणिलं हिंसति।
   (ख) अ० चू० : वीयणे सपातिमवायुवहो।

१२—दश० ४.१० ; ६.३८-४० ; ८.९

१३—आ० १.१.७ ; सूत्र० १.९.८-९ ; १.९.१८

१४—उत्त० २.९ (पृ० ६३ पाद-टि० ३ में उद्धृत)।

श्लोक ३ :

१६. सन्निधि (सन्निही क) :

सन्निधि का वर्जन अनेक स्थलों पर मिलता है। सन्निधि-संचय का त्याग श्रामण्य का एक प्रमुख अंग माना गया है।[१] कहा है—"संयमी मुनि लेश मात्र भी संग्रह न करे[२]।" "संग्रह करना लोभ का अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी वस्तु के संग्रह की कामना करता है वह गृहस्थ है साधु नहीं—ऐसा मैं मानता हूँ[३]।"

सन्निधि शब्द बौद्ध-त्रिपिटकों में भी मिलता है। बौद्ध-साधु आरम्भ में सन्निधि करते थे। संग्रह न करने के विषय में कोई विशेष नियम नहीं था। सर्वप्रथम नियम बनाया गया उसका इतिहास इस प्रकार है—उस समय श्रमण वेलथसीस,[४] आनन्द के गुरु, जगल में ठहरे हुए थे। वे भिक्षा के लिए निकले और पक्के चावल लेकर आराम में वापस आए। चावलों को सूखा दिया। जब जरूरत होती पानी से भिगो कर खाते। अनेक दिनों के बाद फिर वे ग्राम में भिक्षा के लिए निकले। साधुओं ने पूछा—'इतने दिनों के बाद आप भिक्षा के लिए कैसे आए?' उन्होंने सारी बातें कही। साधुओं ने पूछा—'क्या आप सन्निधिकारक भोजन करते हैं?' 'हाँ, भन्ते।' यह बात बुद्ध के कानों तक पहुची। बुद्ध ने नियम बनाया—'जो भी सन्निधिकारक भोजन खाएगा उसे पाचित्तिय दोष होगा[५]।' रोगी साधु को छूट थी : 'भिक्षु को घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड (......) आदि रोगी भिक्षुओं के सेवन करने लायक पथ्य (भैषज्य) को ग्रहण कर अधिक से अधिक सप्ताह भर रखकर भोग कर लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने से उसे निस्सग्गियपाचित्तिय है[६]।'

रोगी साधु के लिए भी भगवान् महावीर का नियम था—"साधु को अनेक प्रकार के रोग-आतंक उत्पन्न हों, वात-पित्त-कफ का प्रकोप हो, सन्निपात हो, तनिक भी शान्ति न हो, यहाँ तक कि जीवन का अन्त कर देने वाले रोग उपस्थित हो जाएँ तो भी उसको अपने लिए या अन्य के लिए औषध, भैषज्य, आहार-पानी का संचय करना नहीं कल्पता[७]।"

१७. गृहि-अमत्र (गिहिमत्ते क) :

अमत्र या मात्र का अर्थ है भाजन, बरतन। गृहि-अमत्र का अर्थ है गृहस्थ का भाजन[८]। सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"दूसरे के (गृहस्थ के) बरतन में साधु अन्न या जल कभी न भोगे[९]।" इस नियम का मूलाधार अहिंसा की दृष्टि है। दशवैकालिक अ० ६ गा०

१—उत्त० १९.३० सन्निहीसचओ चेव वज्जेयव्वो सुदुक्कर।
२—(क) दश० ८.२४ : सन्निहि च न कुव्वेज्जा अणुमायपि संजए।
(ख) उत्त० ६.१५ : सन्निहि च न कुव्वेज्जा लेवमायाए संजए।
३—दश० ६.१८
४—ये हजार जटिल साधुओं के स्थविर नेता थे।
५—Sacred Books of the Buddhists Vol. VI : Book of Discipline Part II.pp. 338-340.
६—विनयपिटक : भिक्षु-पातिमोक्ष ४.२३
७—प्रश्न० २.५ पृ० २७७-२७८ : जपि य समणस्स सुविहियस्स उ रोगायके बहुप्पकारमि समुप्पन्ने वाताहिक-पित्त-सिभ-अतिरित्त कुविय तह सन्निवातजाते व उदयपत्ते उज्जल-बल-विउल-तिउल-कक्खड-पगाढ-दुक्खे असुभ-कडुय फरुसे चडफल-विवागे महब्भये जीवियत करणे सव्वसरीर-परितावण करे न कप्पति तारिसे वि तह अप्पणो परस्स वा ओसह भेसज्ज, भत्त-पाण च तपि सन्निहिकयं।
८—(क) अ० चू० : अत्र गिहिमत्तं गिहिभायणं कसपत्तादि।
(ख) जि० चू० पृ० ११२ : गिहिमत्त गिहिभायणति।
(ग) हा० टी० प० ११७ : 'गृहिमात्र' गृहस्थभाजन।
९—सूत्र० १.९.२० : परमत्ते अन्नपाणं, ण भुजेज्ज कयाइवि।

५०-५१ में कहा है : "ऐसा करनेवाला आचार से भ्रष्ट होता है। गृहस्थ बरतनों को धोते हैं, जिनमें सचित्त जल का आरम्भ होता है। बरतनों के धोवन के जल को यत्रतत्र गिराने से जीवों की हिंसा होती है। इसमें असंयम है।" साधु के निमित्त गृहस्थ को पहले या बाद में कोई सावद्य क्रिया—हलन-चलन न करनी पड़े—यह भी इसका लक्ष्य है[१]।

निर्ग्रन्थ-साधु ग्लान साधुओं के लिए आहार आदि लाते और उन्हें देते। अन्य दर्शनी आलोचना करते : "तुम लोग एक दूसरे में मूर्छित हो और गृहस्थ के समान व्यवहार करते हो जो रोगी को इस प्रकार पिण्डपात लाकर देते हो। तुम लोग सरागी हो—एक दूसरे के वश में रहते हो, सत्पथ और सद्भाव से हीन हो। अतः तुम इस संसार का पार नहीं पा सकते।" संघजीवी और मोक्ष-विशारद भिक्षु को इसका किस प्रकार उत्तर देना चाहिए यह बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भिक्षुओ! ऐसा आक्षेप करने वालों को तुम कहना—'तुम लोग दो पक्षों का सेवन करते हो। तुम लोग गृहस्थ के पात्रों में भोजन करते हो तथा रोगी साधु के लिए गृहस्थ द्वारा लाया हुआ भोजन ग्रहण करते हो। इस तरह बीज और कच्चे जल तथा उस साधु के लिए जो उद्दिष्ट किया है उसका उपभोग करते हो। तुम लोग सद्विवेक से रहित और असमाहित हो, तीव्र अभिताप से उपलिप्त हो। व्रण को अत्यन्त खुजलाना अच्छा नहीं क्योंकि उससे उसमें विकार उत्पन्न होता है। अपने को अपरिग्रही मान तुम भिक्षा-पात्र नहीं रखते, उससे तुम्हें अशुद्ध आहार का परिभोग करना पड़ रहा है। यह तर्क कि गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार करना श्रेय है और भिक्षु के द्वारा लाया हुआ नहीं, उतना ही दुर्बल है जितना कि बाँस का अग्रभाग। 'साधु को दान देकर उसका उपकार करना चाहिए'—यह जो धर्म-देशना है वह सारंभी—गृहस्थों को शुद्ध करने वाली है, साधुओं को नहीं—तुम्हारी यह दृष्टि भी उचित नहीं है। भगवान् के द्वारा पहले कभी भी इस दृष्टि से देशना नहीं की गई थी कि एषणा में अनुपयुक्त गृहस्थ ग्लान साधु का वैयावृत्त्य करे, एषणा में उपयुक्त साधु न करे[२]।" इस प्रसंग में जहाँ औद्देशिक और अभिहृत का खण्डन है वहाँ गृहस्थ के पात्र में भोजन करने पर भी आक्षेप है। इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट है कि अन्य श्रमण गृहि-पात्र में भोजन करते थे।

१८. राजपिण्ड, किमिच्छक (रायपिंडे किमिच्छए ख) :

अगस्त्य सिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने 'किमिच्छक' को 'राजपिण्ड' का विशेषण माना है[३] और हरिभद्र सूरि 'किमिच्छक' को 'राजपिण्ड' का विशेषण भी मानते हैं और विकल्प के रूप में स्वतन्त्र भी[४]।

दोनों चूर्णिकारों के अभिमत से 'किमिच्छक-राजपिण्ड'—यह एक अनाचार है। इसका अर्थ है—राजा याचक को, वह जो चाहे वही दे उस पिण्ड—आहार का नाम है 'किमिच्छक-राजपिण्ड'।

टीकाकार के अनुसार—कौन क्या चाहता है? यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन आदि 'किमिच्छक' कहलाता है।

'निशीथ' में राजपिण्ड के ग्रहण और भोग का चातुर्मासिक-प्रायश्चित्त बतलाया है[५]। यहाँ 'किमिच्छक' शब्द का कोई उल्लेख नहीं है।

१—दश० ६.५२

२—सूत्र० १.३ ३.८-१९ का सार।

३—(क) अ० चू० : मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिंडो। रायपिंडे-किमिच्छए—राया जो जं इच्छति तस्स तं देति—एस रायपिंडो किमिच्छतो। 'तहिणियत्तत्थ'—एसणा रक्खणाय एतंसि अणातिण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० ११२-१३ : मुद्धाभिसित्तरण्णो'' पिंड—रायपिंड, सो य किमिच्छओ जति भवति,—किमिच्छिओ नाम राया किर पिंडं देंतो गेण्हतस्स इच्छिय दलेइ, अतो सो रायपिंडो गेहिपडिसेहणत्थ एसणारक्खणत्थ य न कप्पइ।

४—हा० टी० प० ११७ : राजपिण्डो—नृपाहार', क' किमिच्छतीत्येव यो दीयते स किमिच्छक', राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन।

५—नि० ६.१-२ : जे भिक्खू रायपिण्ड गेण्हइ गेण्हत वा सातिज्जति।

जे भिक्खू रायपिण्ड भुजइ भुंजत वा सातिज्जति।

इस प्रसङ्ग में राजा का अर्थ 'मुर्धाभिषिक्त राजा' किया है।

निशीथ-चूर्णि के अनुसार सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाह सहित जो राजा राज्य-भोग करता है, उसका पिण्ड नहीं लेना चाहिए। अन्य राजाओं के लिए विकल्प है—दोष की सम्भावना हो तो न लिया जाए और सम्भावना न हो तो ले लिया जाए[1]।

राजघर का सरस भोजन खाते रहने से रस-लोलुपता न बढ़ जाय और 'ऐसा आहार अन्यत्र मिलना कठिन है' यों सोच मुनि अनेषणीय आहार लेने न लग जाय—इन सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर 'राजपिण्ड' लेने का निषेध किया है। यह विधान एषणा शुद्धि की रक्षा के लिए है[2]। ये दोनों कारण उक्त दोनों सूत्रों की चूर्णियों में समान हैं। इनके द्वारा 'किमिच्छक' और 'राजपिण्ड' के पृथक् या अपृथक् होने का निर्णय नहीं किया जा सकता।

निशीथ-चूर्णिकार ने आकीर्ण दोष को प्रमुख बतलाया है। राज-प्रासाद में सेनापति आदि आते-जाते रहते हैं। वहाँ मुनि के पात्र आदि फूटने की तथा चोट लगने की सम्भावना रहती है इसलिए 'राजपिण्ड' नहीं लेना चाहिए आदि-आदि[3]।

'निशीथ' के आठवें उद्देशक मे 'राजपिण्ड' से सम्बन्ध रखने वाले छः सूत्र हैं[4] और नवें उद्देशक में बाईस सूत्र हैं[5]। 'दशवैकालिक' में इन सबका निषेध 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' इन दो शब्दों में मिलता है। मुख्यतया 'राजपिण्ड' शब्द राजकीय भोजन का अर्थ देता है और 'किमिच्छक' शब्द 'अनाथपिण्ड', 'कृपणपिण्ड' और 'वनीपकपिण्ड' (निशीथ ८.१९) का अर्थ देता है। किन्तु सामान्यतः 'राजपिण्ड' शब्द में राजा के अपने निजी भोजन और 'राजसत्क' भोजन—राजा के द्वारा दिए जाने वाले सभी प्रकार के भोजन, जिनका उल्लेख निशीथ के उक्त-सूत्रों में हुआ है—का सग्रह होता है। व्याख्या-काल में 'राजपिण्ड' का दुहरा प्रयोग हो सकता है—स्वतन्त्र रूप में और 'किमिच्छक' के विशेष्य के रूप में। इसलिए हमने 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को केवल विशेष्य-विशेषण न मानकर दो पृथक् अनाचार माना है और 'किमिच्छक' की व्याख्या के समय दोनों को विशेष्य-विशेषण के रूप में संयुक्त भी माना है।

१९. संबाधन (संबाहणा ग) :

इसका अर्थ है—मर्दन। सबाधन चार प्रकार के होते हैं :

(१) अस्थि-सुख—हड्डियों को आराम देने वाला।

(२) मास-सुख—मास को आराम देने वाला।

(३) त्वक्-सुख—चमड़ी को आराम देने वाला।

(४) रोम-सुख—रोओं को आराम देने वाला[6]।

१—नि० भा० गा० २४९७ चू०।

२—देखिए पृ० ६६ पाद-टि० ३

३—नि० भा० गा० २५०३-२५१०

४—नि० ८.१४-१९

५—नि० ९.१,२,६,८,१०,११,१३ १९,२१-२९

६—(क) अ० चू० : सवाधणा अट्ठिसुहा मससुहा तयासुहा रोमसुहा।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : सवाहणा नाम चउव्विहा भवति, तजहा—अट्ठिसुहा मससुहा तयासुहा रोमसुहा एव संवाहण सय न करेइ परेण न कारवेइ करेंतपि अन्न न समणुजाणामि।

(ग) हा० टी० प० ११७ : तथा 'संबाधनम्' अस्थिमांसत्वग्रोमसुखतया चतुर्विध मर्दन।

२०. दंत-प्रधावन (दंतपहोयणा ग) :

देखिए 'दतवण' शब्द की टिप्पणी ४५

२१. संप्रच्छन (संपुच्छणा घ) :

'संपुच्छगो' पाठान्तर है। 'सपुच्छणा' का सस्कृत रूप 'सप्रश्न' और 'सपुछगो' का सस्कृत 'सप्रोञ्छक' होता है। इस अनाचीर्ण के कई अर्थ मिलते हैं .

(१) अपने अग-अवयवों के बारे में दूसरे से पूछना। जो अङ्ग-अवयव स्वय न दीख पड़ते हों, जैसे आँख, सिर, पीठ आदि उनके बारे में दूसरे से पूछना—ये सुन्दर लगते हैं या नहीं ? मैं कैसा दिखाई दे रहा हूँ ? आदि, आदि।

(२) गृहस्थों से सावद्य आरम्भ सम्बन्धी प्रश्न करना।

(३) शरीर पर गिरी हुई रज को पोंछना, लूहना।

(४) अमुक ने यह कार्य किया या नहीं, यह दूसरे व्यक्ति (गृहस्थ) के द्वारा पुछवाना।

(५) रोगी (गृहस्थ) से पूछना—तुम कैसे हो, कैसे नहीं हो अर्थात् (गृहस्थ) रोगी से कुशल प्रश्न करना।

'अगस्त्य चूर्णि' में प्रथम तीनों अर्थ दिये हैं। तीसरा अर्थ 'सपुछगो' पाठान्तर मानकर किया है[१]। जिनदास महत्तर ने केवल पहला अर्थ किया है[२]। हरिभद्र सूरि ने पहले दो अर्थ किये हैं[३]। 'सूत्रकृताङ्ग चूर्णि' में पाँचों अर्थ मिलते है[४]। शीलाङ्कसूरि ने प्रथम तीन अर्थ दिये हैं[५]।

चूर्णिकार और टीकाकार इस शब्द के बारे में संदिग्ध हैं। अतः इसके निर्णय का कोई निश्चित आधार नहीं मिलता कि यह अनाचार 'सपुच्छण' है या 'संपुंछगो'। इसके विकल्प से भी कई अर्थ मिलते हैं। इसलिए सूत्रकार का प्रतिपाद्य क्या है यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। एक बात यहाँ अवश्य ध्यान देने योग्य है कि छेद सूत्रों में 'सपुच्छण' के प्रायश्चित्त की कोई चर्चा नहीं मिलती किन्तु शरीर को संवारने और मैल आदि उतारने पर प्रायश्चित्त का विधान किया है[६]।

'संपुछग' का सम्बन्ध जल्ल परीषह से होना चाहिए। पक, रज, मैल आदि को सहना जल्ल-परीषह है[७]।

१—(क) अ० चू० सपुच्छण—जे अगावयवा सय न पेच्छति अच्छि सिर-पिट्ठमादि ते पर पुच्छति—'सोभत्ति वा ण व त्ति'—अहवा गिहीण सावज्जारंभा कता पुच्छति।

(ख) अ० चू० . अहवा एव पाढो "सपुंछगो" कहचि अगे रय पडित पुछति लूहेति।

२—जि० चू० पृ० ११३ सपुच्छणा णाम अप्पणो अगावयवाणि आपुच्छमाणो पर पुच्छइ।

३—हा० टी० प० ११७ : 'सप्रश्न '—सावद्यो गृहस्थविषय , राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूप ।

४—सूत्र० १ ६ २१ चू० . सपुच्छण णाम किं तत्कृत न कृत वा पुच्छावेति अगणे ' 'ग्लान वा पुच्छति—किं ते वट्टति ? ण वट्टइ वा ?

५—सूत्र० १.६ २१ टी० पृ० १८२ . तत्र गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं आत्मीयशरीरावयवप्रच्छ (पुञ्छ) न वा।

६—(क) नि० ३ २२ जे भिक्खू अप्पणो काय आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा।

(ख) नि० ३ ६७ . जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेय वा जल्ल वा पक वा मल वा नीहरेज्ज वा विसोहेज्ज वा।

७—उत्त० २.३६-३७ : किलिन्नगाए मेहावी पकेण व रएण वा।
घिंसु वा परियावेण साय नो परिदेवए॥
वेएज्ज निज्जरापेही आरिय धम्मणुत्तर।
जाव सरीरभेउ त्ति जल्ल काएण धारए॥

संबाधन, दंत-प्रधावन और देह-प्रलोकन ये सारे शरीर से सम्बन्धित हैं और संपुच्छ(पुंछ)ण इनके साथ में है इसलिए यह भी शरीर से सम्बन्धित होना चाहिए। निशीथ के छः सूत्रों से इस विचार की पुष्टि होती है[1]। वहाँ क्रमशः शरीर के प्रमार्जन, संबाधन, अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन और रंगने का प्रायश्चित्त कहा गया है।

२२. देह-प्रलोकन (देहपलोयणा [घ]):

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है दर्पण में रूप निरखना। हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है 'दर्पण आदि' में शरीर देखना[2]। शरीर पात्र, दर्पण, तलवार, मणि, जल, तेल, मधु, घी, फाणित—राब, मद्य और चर्बी में देखा जा सकता है। इनमें शरीर देखना अनाचार है और निर्ग्रन्थ के ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है[3]।

श्लोक ४ :

२३. अष्टापद (अट्ठावए [क]):

दशवैकालिक के व्याख्याकारों ने इसके तीन अर्थ किये हैं।

(१) द्यूत[4]।

१—नि० ३.२२-२७ : जे भिक्खू अप्पणो काय आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो काय सबाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा, सबाहेंतं वा पलिमद्देंत वा सातिज्जति॥
जे भिक्खू अप्पणो काय तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा, णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिगेज्ज वा, मक्खेत वा भिलिगेंत वा सातिज्जति॥
जे भिक्खू अप्पणो काय लोद्धेण वा कक्केण वा उल्लोलेज्ज वा उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलेंतं वा उवट्टेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो कायं सीयोदग-वियडेण वा उसिणोदग-वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा, उच्छोलेंत वा पधोवेंतं वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अप्पणो काय फुमेज्ज वा रएज्ज वा, फुमेतं वा रएतं, वा सातिज्जति।

२—(क) अ० चू० : पलोयणा अंगमगाइ पलोएति 'सोभति ण वा ?'
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : पलोयणा नाम अद्दागे रूवनिरिक्खण ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : 'देहप्रलोकन च' आदर्शादावनाचरितम्।

३—नि० १३.३१-४१ : जे भिक्खू मत्तए अत्ताण देहइ, देहंतं वा सातिज्जति।
" " अद्दाए अप्पाणं " " " "
" " असीए " " " " "
" " मणिए " " " " "
" " कुड्डापाणे " " " " "
" " तेल्ले " " " " "
" " महुए " " " " "
" " सप्पिए " " " " "
" " फाणिए " " " " "
" " मज्जए " " " " "
" " वसाए " " " " "

४—जि० चू० पृ० ११३ : अट्ठावयं जूयं भण्णइ।

जैन साहित्य में नालिका का अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है इसलिए ये कल्पनाएँ हो सकती हैं।

जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति (२) में बहत्तर कलाओं का नाम है। वहाँ द्यूत (जूय) दसवीं, अष्टापद (अट्ठावय) तेरहवीं और नालिका खेल (नालिया खेड) नालिका खेल छियासठवीं कला है। वृत्तिकार ने द्यूत का अर्थ साधारण जुआ, अष्टापद का अर्थ सारी फलक से खेला जानेवाला जुआ और नालिका खेल का अर्थ इच्छानुकूल पासा डालने के लिए नालिका का प्रयोग किया जाए वैसा द्यूत किया है[1]।

इससे लगता है कि अनाचार के प्रकरण में नालिका का अर्थ द्यूत विशेष ही है।

२५. छत्र धारण करना (छत्तस्स य धारणट्ठाए ख) :

वर्षा, आतप निवारण के लिए जिसका प्रयोग किया जाय, उसे 'छत्र' कहते हैं[2]। सूत्रकृताङ्ग में कहा है—"छत्र को कर्मोत्पादन का कारण समझ विज्ञ उसका त्याग करे[3]।" प्रश्नव्याकरण में छाता रखना साधु के लिए अकल्प्य कहा है[4]। यहाँ छत्र-धारण को अनाचरित कहा है। इससे प्रकट है कि साधु के लिए छत्र का धारण करना निषिद्ध रहा।

आचाराङ्ग में कहा है—श्रमण जिनके साथ रहे उनकी अनुमति लिए बिना उनके छत्र यावत् चर्म-छेदनक को न ले[5]। इससे प्रकट होता है कि साधु छत्र रखते और धारण करते थे।

आगमों के इन विरोधी विधानों की परस्पर संगति क्या है, यह एक प्रश्न है। कोई समाधान दिया जाय उसके पहले निम्न विवेचनों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) चूर्णियों में कहा है—"अकारण में छत्र धारण करना नहीं कल्पता, कारण में कल्पता है[6]।" कारण क्या समझना चाहिए, इस विषय में चूर्णियों में कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यदि वर्षा और आतप को ही कारण माना जाय और इनके निवारण के लिए छत्र-धारण करना कल्पता हो तो यह अनाचार ही नहीं टिकता क्योंकि इन परिस्थितियों के अतिरिक्त ऐसी कोई दूसरी परिस्थिति साधारणतः कल्पित नहीं की जा सकती जब छाता लगाया जाता हो। ऐसी परिस्थिति में चूर्णियों द्वारा प्रयुक्त 'कारण' शब्द किसी विशेष परिस्थिति का द्योतक

१—दशवैकालिक के व्याख्याकार और जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति के व्याख्याकार नालिका के अर्थ में एकमत नहीं। ये उनके व्याख्या शब्दों से (जो यहाँ उद्धृत हैं) जाना जा सकता है.

(क) जम्बू० वृत्ति . द्यूत सामान्यत प्रतितम् ' 'अष्टापद सारिफलकद्यूत तद्विषयककला नालिकाखेल द्यूतविशेष मां भू दिष्ट दायाद्विपरीत पाशक निपतन्मितिनालिकानाम यत्र पाशक पात्यते द्यूत ग्रहणे सत्यपि अभिनिवेशे निबन्धनत्वेन नालिका खेलन प्राधान्य ज्ञापनार्थं भेदेन ग्रह ।

(ख) हा० टी० प० ११७ · अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यप्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेन उपादानम्, अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधति, अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणम्, अष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति।

२—(क) अ० चू० : छत्त आतववारणं।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ छत्त नाम वासायवनिवारणं।

३—सूत्र० १. ६.१८ . पाणहाओ य छत्त च, × × × ×।

× × × ×, त विज्ज परिजाणिया ॥

आतपादिनिवारणाय छत्र 'तदेतत्सर्वं 'विद्वान्'—पण्डित कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ।

४—प्रश्न० स० ५ पृ० २७२ : न जाण-जुग्ग-सयणाइ ण छत्तक' ' 'कप्पइ मणसावि परिघेत्तु

५—आचा० २ १ ३७८ . जेहिवि सद्धिं सपव्वइए तेसिपि जाइ भिक्खू छत्तग वा मत्तय वा दडग वा जाव चम्मछेयणग वा तेसि पुव्वामेव उग्गह अणणुण्णविय अपडिलेहिय २ अपमज्जिय २ णो उग्गिण्हिज्जा वा परिगिण्हिज्ज वा × × ×।

६—(क) अग० चू० . तस्स धारणमकारणे ण कप्पति

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : छत्त '' 'अकारणे धरिउ न कप्पइ, कारणेण पुण कप्पति।

होना चाहिए; वर्षा या आतप जैसी परिस्थितियों का नहीं। इस बात की पुष्टि स्वयं पाठ से ही हो जाती है। यहाँ पाठ में 'छत्तस्स य' के बाद में 'धारणट्ठाए' शब्द और है। 'अट्ठाए' का तात्पर्य—अर्थ या प्रयोजन है। भावार्थ हुआ अर्थ या प्रयोजन से छत्ते का धारण करना अर्थात् धूप या वर्षा से बचने के लिए छत्र का धारण करना अनाचार है[1]।

(२) टीकाकार लिखते हैं—अनर्थ—विना मतलब अपने या दूसरे पर छत्र का धारण करना अनाचार है—आगाढ़ रोगी आदि के द्वारा छत्र-धारण अनाचार नहीं है[2]। प्रश्न हो सकता है टीकाकार अनर्थ छत्र धारण करने का अर्थ कहाँ से लाए ? इसका स्पष्टीकरण स्वय टीकाकार ने ही कर दिया है। उनके मत से सूत्र-पाठ अर्थ की दृष्टि से "छत्तस्स य धारणमणट्ठाए" है। किन्तु पद-रचना की दृष्टि से प्राकृत शैली के अनुसार अनुस्वार, अकार और नकार का लोप करने से "छत्तस्स य धारणट्ठाए" ऐसा पद शेष रहा है। साथ ही वह कहते हैं—परम्परा से ऐसा ही पाठ मान कर अर्थ किया जाता रहा है। अतः श्रुति-प्रमाण भी इसके पक्ष में है[3]। इस तरह टीकाकार ने 'अट्ठाए' के स्थान में 'अणट्ठाए' शब्द ग्रहण कर अर्थ किया है। उनके अनुसार गाढ़ रोगादि अवस्था में छत्र धारण किया जा सकता है और वह अनाचार नहीं।

(३) आगमो में इस सम्बन्ध मे अन्यत्र प्रकाश नहीं मिलता। केवल व्यवहार सूत्र में कहा है: "स्थविरों को छत्र रखना कल्पता है[4]।"

उपर्युक्त विवेचन से निम्न निष्कर्ष निकलता है :

(१) वर्षा और आतप निवारण के लिए साधु के द्वारा छत्र धारण करना अनाचार है।

(२) शोभा महिमा के लिए छत्र-धारण करना अनाचार है।

(३) गाढ रोगादि की अवस्था में छत्र धारण करना अनाचार नहीं।

(४) स्थविर के लिए भी छत्र धारण करना अनाचार नहीं।

ये नियम स्थविर कल्पी साधु को लक्ष्यकर किए गए हैं। जिन-कल्पी के लिए हर हालत में छत्र-धारण करना अनाचार है।

छत्ता धारण करने के विषय में बौद्ध-भिक्षुओं के नियम इस प्रकार हैं। नीरोग अवस्था में छत्ता धारण करना भिक्षुणी के लिए दोषकारक था[5]।

भिक्षु पहले छत्ता धारण नहीं करते थे। एक बार सघ को छत्ता मिला। बुद्ध ने छत्ते की अनुमति दी। षड्वर्गीय भिक्षु छत्ता लेकर टहलते थे। उस समय एक बौद्ध उपासक बहुत से यात्री आजीवकों के अनुयायियों के साथ बाग में गया था। उन आजीवक-अनुयायियों ने षड्वर्गीय भिक्षुओ को छत्ता धारण किये आते देखा। देखकर वे उस उपासक से बोले : "आवुसो ! यह तुम्हारे भदन्त हैं, छत्ता धारण करके आ रहे हैं, जैसे कि गणक महामात्य।" उपासक बोला : "आर्यो ! ये भिक्षु नहीं हैं, ये परिव्राजक हैं।" पर पास में आने पर वे बौद्ध-भिक्षु ही निकले। उपासक हैरान हुआ—"कैसे भदन्त छत्ता धारण कर टहलते हैं !" भिक्षुओं ने उपासक के हैरान होने की बात बुद्ध से कही। बुद्ध ने नियम किया—"भिक्षुओ ! छत्ता न धारण करना चाहिए। यह दुक्कट का दोष है।" बाद में रोगी को छत्ते के धारण की अनुमति दी। बाद में अरोगी को आराम में और आराम के पास छत्ता धारण की अनुमति दी[6]।

१—मिलावें : Dasavealiva sutta (K. V. Abhyankar) 1938 : Notes chap. III p. 11 : "The writer of the vritti translates the word as धारणमर्थाय, and explains it as 'holding the umbrella for a purpose'"

२—हा० टी० प० ११७ : 'छत्रस्य च' लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं पर वा प्रति अनर्थाय इति, आगाढग्लानाद्यालम्बन मुक्त्वाऽनाचरितम्।

३—हा० टी० प० ११७ : प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथाश्रुतिप्रामाण्यादिति।

४—व्यव० ८.५ : थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दडए वा भडए वा छत्तए वा।

५—विनयपिटक : भिक्खुनी-पातिमोक्ख : छत्त-वग्ग ऽऽ ४.८४ पृ० ५७

६—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५ऽऽ३.३ पृ० ४३८-३९

तरह नीम, कुटज, तुलसी, कपास आदि के पत्तों तथा विडंग, पिप्पली आदि फलों को रखने और सेवन करने की छूट थी। अ-मनुष्य वाले रोग में कच्चे मास और कच्चे खून खाने-पीने की अनुमति थी[१]। निर्ग्रन्थ-श्रमण ऐसी चिकित्सा कभी नहीं कर सकते थे।

चिकित्सा का एक अन्य अर्थ वैद्यवृत्ति—गृहस्थों की चिकित्सा करना भी है।

उत्तराध्ययन में कहा है—"जो मंत्र, मूल—जड़ी-बूटी और विविध वैद्यचिन्ता—वैद्यक-उपचार नहीं करता वह भिक्षु है[२]।"

सोलह उत्पादन दोषों में एक दोष चिकित्सा भी है[३]। उसका अर्थ है—औषधादि बताकर आहार प्राप्त करना। साधु के लिए इस प्रकार आहार की गवेषणा करना वर्जित है[४]। आगम में स्पष्ट कहा है—भिक्षु चिकित्सा, मन्त्र, मूल, भैषज्य के हेतु से भिक्षा प्राप्त न करे[५]। चिकित्सा शास्त्र को श्रमण के लिए पापश्रुत कहा है[६]। गृहस्थों की चिकित्सा करना अनाचार है—यह असदिग्ध है। समवतः चिकित्सा अनाचार से यह चिकित्सा अभिप्रेत हो।

२७. उपानत् (पाणहा ग) :

पाठान्तर रूप में 'पाहणा' शब्द मिलता है[७]। इसका पर्यायवाची शब्द 'वाहणा' का प्रयोग भी आगमों में है[८]। सूत्रकृताङ्ग में 'पाणहा' शब्द है[९]। 'पाहणा' शब्द प्राकृत 'उवाहणा' का संक्षिप्त रूप है। 'पाहणा' और 'पाणहा' में 'ण' और 'ह' का व्यत्यय है। इसका अर्थ है—पादुका, पाद-रक्षिका अथवा पाद-त्राण[१०]। साधु के लिए काष्ठ और चमड़े के जूते धारण करना अनाचार है।

व्यवहार सूत्र में स्थविर को चर्म-व्यवहार की अनुमति है[११]। स्थविर के लिए जैसे छत्र धारण करना अनाचार नहीं है, वैसे ही चर्म रखना भी अनाचार नहीं है।

अगस्त्य मुनि के अनुसार स्वस्थ के लिए 'उपानह्' का निषेध है। जिनदास के मत से शरीर की अस्वस्थ अवस्था में पैरों के या चक्षुओं के दुर्बल होने पर 'उपानह्' पहनने में कोई दोष नहीं। असमर्थ अवस्था में प्रयोजन उपस्थित होने पर पैरों में जूते धारण किये जा सकते हैं अन्य काल में नहीं[१२]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'आपत् काल' में जूता पहनने का कल्प है[१३]।

१—विनयपिटक · महावग्ग ६ ऽऽ १ ७-१० पृ० २१६-१८

२—उत्त० १५.८ : मन्त मूल विविहं वेज्जचिन्तं, · ·· · · ·।
· · ·· · · · · ·, त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

३—पि० नि० : धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।

४—नि० १३ ६६ · जे भिक्खू तिगिच्छापिडं भुजइ भुजत वा सातिज्जति।

५—प्रश्न० स० १ पृ० १९५ · न तिगिच्छामतमूलमेसज्जकज्जहेउ ···भिक्ख गवेसियव्व।

६—स्था० ९.३.६७८ . नवविधे पावसुयपसगे प ०त० उप्पाते, निमित्ते, मते, आतिक्खते, तिगिच्छते। कला आवरणे ऽन्नाणे मिच्छापावतणेति त ॥।

७—(क) दश० सूत्रम् (जिनयश सूरिजी ग्रन्थरत्नमालाया प्रथम (१) सूत्रम्)
(ख) श्रीदशवैकालिक सूत्रम् (मनसुखलाल द्वारा प्रकाशित), आदि

८—(क) नाया० अ० १५ पृ० १५६ : अणुवाहणस्स ओवाहणाओ दलयइ
(ख) भग० २.१ पृ० २३२ . वाहणाउ य पाउयाउ य।

९—सूत्र० १.९ १८ पाणहाओ य ·। ··त विज्ज परिजाणिया ॥

१०—(क) सूत्र० १.९.१८ टी० प० १८१ : उपानहौ—काष्ठपादुके।
(ख) भग० २ १ टी० : पादरक्षिकाम्।
(ग) अ० चू० उवाहणा पाद-त्राणम्।

११—व्यव० ८.५ · थेराण थेर-भूमि-पत्ताण कप्पइ·· चम्मे वा · ··।

१२—(क) अ० चू० · पद्यते येन गम्यते यदुक्त नीरोगस्स नीरोगो वा पादो।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ · उवाहणाओ लोगसिद्धाओ चेव, ····पायग्गहणेण अकल्लसरीरस्स गहणं कयं भवइ, दुब्बलपाओ चक्खुदुब्बलो वा उवाहणाओ आविधेज्जा ण दोसो भवइत्ति, किंचपादग्गहणेण एत दंसेति-परिग्गहिया उवाहणाओ असमत्थेण पओयणे उप्पण्णे पाएसु कायव्वा, ण उण सेसकाल।

१३—हा० टी० प० ११७ · तथोपानहौ पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायक, न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन।

'पाणहा' के बाद 'पाए' शब्द है। प्रश्न उठता है जूते पैरों में ही पहने जाते हैं; हाथ में या गले आदि में नहीं। फिर 'पाणहा पाए'—'पैरों में उपानत्' ऐसा क्यों लिखा? इसका उत्तर यह है कि गमन निरोग के पैरों से ही हो सकता है। 'पाद' शब्द निरोग शरीर का सूचक है। भाव यह है कि निरोग श्रमण द्वारा 'उपानत्' धारण करना अनाचार है[1]।

बौद्ध-भिक्षुओं के जूता पहनने के नियम के विषय में बौद्ध-आगम 'विनयपिटक' में निम्नलिखित उल्लेख मिलते हैं[2]।

सोण कोटीविंश को अर्हत्व की प्राप्ति हुई उसके बाद बुद्ध बोले—"सोण! तू सुकुमार है। तेरे लिए एक तल्ले के जूते की अनुमति देता हूँ।" सोण बोला—"यदि भगवान् भिक्षु-संघ के लिए अनुमति दें तो मैं भी इस्तेमाल करूँगा, अन्यथा नहीं।" बुद्ध ने भिक्षु-संघ को एक तल्ले वाले जूते की अनुमति दी और एक से अधिक तल्ले वाले जूते के धारण करने में दुक्कट दोष घोषित किया।

बाद में बुद्ध ने पहन कर छोड़े हुए बहुत तल्ले के जूते की भी अनुमति दी। नये बहुत तल्लेवाले जूते पहनना दुक्कट दोष था। आराम में जूते पहनने की मनाही थी। बाद में विशेष अवस्थामें आराम में जूते पहनने की अनुमति दी। पहले बौद्ध-भिक्षु जूते पहनकर गाँव में प्रवेश करते थे। बाद में बुद्ध ने ऐसा न करने का नियम किया। बाद में रोगियों के लिए छूट दी।

बौद्ध-भिक्षु नीले-पीले आदि रंग तथा नीली-पीली आदि पत्तीवाले जूते पहनते। बुद्ध ने दुक्कट का दोष बता उन्हें रोक दिया। इसी तरह ऍड़ी ढँकनेवाले पुट-बद्ध, पलि गुंठिम, रुईदार, तीतर के पखों जैसे, मेंढ़े के सींग से बँधे, बकरे के सींग से बँधे, बिच्छू के डंक की तरह नोकवाले, मोर-पख सिये, चित्र जूते के धारण में भी बुद्ध ने दुक्कट दोष ठहराया। उन्होंने सिंह-चर्म, व्याघ्र-चर्म, चीते के चर्म, हरिण के चर्म, उद्‌बिलाव के चर्म, बिल्ली के चर्म, कालक-चर्म, उल्लू के चर्म से परिष्कृत जूतों को पहनने की मनाही की।

खट-खट आवाज करनेवाले काठ के खड़ाऊँ धारण करने में दुक्कट दोष माना जाता था। भिक्षु ताड़ के पौधों को कटवा, ताड़ के पत्तों की पादुका बनवा कर धारण करते थे। पत्तों के काटने से ताड के पौधे सूख जाते। लोग चर्चा करते—शाक्य-पुत्रीय श्रमण एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करते हैं। बुद्ध के पास यह बात पहुंची। बुद्ध बोले—"भिक्षुओ! (कितने ही) मनुष्य वृक्षों में जीव का ख्याल रखते हैं। ताल के पत्र की पादुका नहीं धारण करनी चाहिए। जो धारण करे उसे दुक्कट का दोष हो।"

भिक्षु बांस के पौधों को कटवाकर उनकी पादुका बनवा धारण करने लगे। बुद्ध ने उपर्युक्त कारण से रुकावट की। इसी तरह तृण, मज, वल्वज, हिंताल, कमल, कम्बल की पादुका के मण्डन में लगे रहनेवाले भिक्षुओं को इनके धारण की मनाही की। स्वर्णमयी, रौप्यमयी, मणिमयी, वैदूर्यमयी, स्फटिकमयी, कासमयी, काँचमयी, रांगे की, शीशे की, ताँबे की पादुकाओं और काची तक पहुँचनेवाली पादुका की भी मनाही हुई।

नित्य रहने की जगह पर तीन प्रकार की पादुकाओं के—चलने की, पेशाब-पाखाने की और आचमन की—इस्तेमाल की अनुमति थी।

२८. ज्योति-समारम्भ (समारंभं च जोइणो [घ]):

ज्योति अग्नि को कहते हैं। अग्नि का समारम्भ करना अनाचार है[3]। इसी आगम में बाद में कहा है[4]—"साधु अग्नि को

१—(क) अ० चू० : उवाहणा पादत्राणं पाए। एतं किं भण्णति? सामण्णे विसेस ण (? विसेसण) जुत्तं निस्सामण्णं पाद एव उवाहणा भवति ण हत्थादौ, भण्णति—इसके बाद देखिए पृ० ७६ पाद-टिप्पणी १२ (क)।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : सीसो आह—पाहणागहणेण चेव नज्जइ-जातो पाहणाओ ताओ पाएछु भवति, ण पुण ताओ गलए आविधिज्जंति, ता किमत्थ पायग्गहणति, आयरिओ भणइ—इसके बाद देखिए पृ० ७६ पाद-टिप्पणी १२ (ख) का 'पादग्गहणेण' से लेकर 'काल' शब्द तक का अंश।

२—विनयपिटक : महावग्ग : ५ऽऽ१.३-११ पृ० २०४ से २०८ तथा महावग्ग : ५ऽऽ२.८ पृ० २११।

३—(क) अ० चू० : जोती अग्गी तस्स ज समारभणं।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ : जोई अग्गी भण्णइ, तस्स अग्गिणो जं समारम्भणं।

४—दश० ६.३२-३३

सुलगाने की कभी इच्छा नहीं करता। यह बड़ा ही पापकारी शस्त्र है। यह लोहे के अस्त्र-शस्त्रों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और सब ओर से दुराश्रय है। यह सब दिशा-अनुदिशा में दहन करता है। यह प्राणियों के लिए बड़ा आघात है, इसमें जरा भी संदेह नहीं। इसलिए संयमी मुनि प्रकाश व शीत-निवारण आदि के लिए किंचित् मात्र भी अग्नि का आरम्भ न करे और इसे दुर्गति को बढ़ानेवाला दोष जानकर इसका यावज्जीवन के लिए त्याग करे।" उत्तराध्ययन सूत्र में भी ऐसा ही कहा है[१]। 'अग्नि-समारम्भ' शब्द में अग्नि के अन्तर्गत उसके सब रूप—अङ्गार, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात, शुद्ध अग्नि और उल्का आ जाते हैं। 'समारम्भ' शब्द में सींचना, संघट्ट करना, भेदन करना, उज्ज्वलित करना, प्रज्वलित करना, बुझाना आदि सब भाव समाते हैं। अग्नि-समारम्भ करने में—कराना और अनुमोदन करना ये भाव भी सन्निहित हैं[२]। भगवान् महावीर का कहना था—"पकाना, पकवाना, जलाना, जलवाना, उजाला करना या बुझाना आदि कारणों से तेजस्काय की हिंसा होती है। ऐसे सब कारण साधु-जीवन में न रहें[३]।" आचारांग सूत्र में इस विषय पर बड़ा गंभीर प्रकाश है। वहाँ कहा गया है : "जो पुरुष अग्निकाय के जीवों के अस्तित्व का अपलाप करता है, वह अपनी आत्मा का अपलाप करता है। जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है वह अग्निकाय के जीवों का अपलाप करता है। जो अग्नि के स्वरूप को जानता है, वह असंयम के स्वरूप को जानता है और जो असंयम के स्वरूप को जानता है, वह अग्नि के स्वरूप को जानता है। जो प्रमादी है, वह प्राणियों को दण्ड देनेवाला है। अग्निकाय का आरम्भ, करनेवाले के लिए अहित का कारण है, अबोधि का कारण है। यह ग्रन्थ है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है[४]।"

महात्मा बुद्ध ने अग्नि-ताप का निषेध विशेष परिस्थिति में किया था। एक बार बौद्ध-भिक्षु थोथे बड़े ठूँठ को जलाकर सर्दी के दिनों में अपने को तपा रहे थे। उसके अन्दर रहा हुआ काला नाग अग्नि से झुलस गया। वह बाहर निकल भिक्षुओं के पीछे दौड़ने लगा। भिक्षु इधर-उधर दौड़ने लगे। यह बात बुद्ध तक पहुँची। बुद्ध ने नियम दिया—"जो भिक्षु तापने की इच्छा से अग्नि जलायेगा, अथवा जलवायेगा, उसे पाचित्तिय का दोष होगा।" इस नियम से रोगी भिक्षुओं को कष्ट होने लगा। बुद्ध ने उनके लिए अपवाद कर दिया। उपर्युक्त नियम के कारण भिक्षु आताप-घर और स्नान-घर में दीपक नहीं जलाते थे। बुद्ध ने समुचित कारण से अग्नि जलाने और जलवाने की अनुमति दी। आरामों में दीपक जलाये जाते थे[५]।

महावीर का नियम था—"शीत-निवारण के लिए पास में वस्त्र आदि नहीं हैं और न घर ही है इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ—भिक्षु ऐसा विचार भी न करे[६]।" "भिक्षु स्पर्शनेन्द्रिय को मनोज्ञ एवं सुखकारक स्पर्श से संवृत करे। उसे शीतकाल में अग्नि-सेवन—शीत ऋतु के अनुकूल सुखदायी स्पर्श में आसक्त नहीं होना चाहिए[७]।" उन्होंने कहा—"जो पुरुष माता और पिता को छोड़कर श्रमण व्रत धारण करके भी अग्निकाय का समारंभ करते हैं और जो अपने लिए भूतों की हिंसा करते हैं, वे कुशीलधर्मी हैं[८]।" "अग्नि को उज्ज्वलित

१—उत्त० ३५.१२ : विसप्पे सव्वओ-धारे बहू पाणविणासणे।
नत्थि जोइसमे सत्थे तम्हा जोइं न दीवए॥

२—दश० ४.२० तथा ८.८

३—प्रश्न० (आस्रव-द्वार) १.३ पृ० १३ : पयण-पयावण-जलावण-विदंसणेहिं अगणिं।

४—आचा० १.१.४ : जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ। जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे। जे पमत्ते गुणट्ठीए से हु दंडेत्ति पवुच्चइ। ... तं से अहियाए तं से अबोहियाए, एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए।

५—Sacred Books of the Buddhists vol XI Book of the Discipline part II LVI p p. 398 400

६—उत्त० २.७ : न मे निवारणं अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खू न चिन्तए॥

७—प्रश्न० (संवर-द्वार) ५ पृ० ३०१ : सिसिरकाले अंगारपतावणा य आयवनिद्धमउयसीयउसिणलहुया य जे उउसुहफासा अंगसुहनिव्वुइकरा ते अन्नेसु य एवमादिएसु फासेसु मणुन्नभद्दएसु न तेसु समणेण सज्जियव्वं न रज्जियव्वं न गिज्झियव्वं, न मुज्झियव्वं।

८—सूत्र० १.७.५ : जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाते॥

करने वाला प्राणियों की घात करता है और आग बुझाने वाला मुख्यतया अग्निकाय के जीवों की घात करता है। धर्म को सीख मेधावी पण्डित अग्नि का समारभ न करे। अग्नि का समारभ करने वाला पृथ्वी, तृण और काठ में रहनेवाले जीवों का दहन करता है[1]।"

भगवान् महावीर के समय में बड़े-बड़े यज्ञ—होम होते थे। उनसे मोक्ष माना जाता था। उनमें महान् अग्नि-समारभ होता था। महावीर ने उनका तीव्र विरोध किया था। उन्होंने कहा—"कई मूढ हुत से—अग्नि-होम से मोक्ष कहते हैं[2]। प्रातःकाल और सायंकाल अग्नि का स्पर्श करते हुए जो हुत से—होम से मुक्ति बतलाते हैं वे मिथ्यात्वी हैं। यदि इस प्रकार सिद्धि हो तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुम्हार, लुहार आदि की सिद्धि सहज हो जाए[3]। अग्नि-होम से सिद्धि माननेवाले बिना परीक्षा किये ही ऐसा कहते हैं। इस तरह सिद्धि नहीं होती। ज्ञान प्राप्त कर देखो—त्रस, स्थावर सब प्राणी सुखाभिलाषी हैं····· [4]।"

श्लोक ५ :

२६. शय्यातरपिण्ड (सेज्जायरपिंडं [क]) :

'सेज्जायर' शब्द के सस्कृत रूप तीन बनते हैं—शय्याकर, शय्याधर और शय्यातर। शय्या को बनाने वाला, शय्या को धारण करने वाला और श्रमण को शय्या देकर भव-समुद्र को तैरने वाला—ये क्रमशः इन तीनों के अर्थ हैं[5]। यहाँ 'शय्यातर' रूप से अभिप्राय है[6]।

शय्यातर का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ है—वह गृह-स्वामी जिसके घर में श्रमण ठहरे हुए हों[7]।

शय्यातर कौन होता है ? कब होता है ? उसकी कितनी वस्तुएँ अग्राह्य होती हैं ? आदि प्रश्नों की चर्चा भाष्य ग्रन्थों में विस्तार-पूर्वक है। निशीथ-भाष्य के अनुसार उपाश्रय का स्वामी अथवा उसके द्वारा संदिष्ट कोई दूसरा व्यक्ति शय्यातर होता है[8]।

१—सूत्र० १.७.६-१७ : उज्जालओ पाण निवातएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पडिए अगणि समारभिज्जा॥
पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य सपाइम सपयति।
ससेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभन्ते॥

२—सूत्र० १.७.१२ : ···· ' हुएण एगे पवयति मोक्खं॥

३—सूत्र० १.७.१८ : हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति, साय च पाय अगणि फुसंता।
एव सिया सिद्धि हवेज तम्हा, अगणि फुसताण कुकम्मिणपि॥

४—सूत्र० १.७.१९ : अपरिक्ख दिट्ठ ण हु एव सिद्धी, एहिति ते घायमबुज्झमाणा।
भूएहि जाण पडिलेह सात, विज्ज गहाय तसथावरेहि॥

५—नि० भा० गा० २.४५-४६ पृ० १३१ : सेज्जाकर-दातारा तिण्णि वि जुगव वक्खाणेति—
अगमकरणादगार, तस्स हु जोगेण होति सागारी।
सेज्जा करणा सेज्जाकरो उ दाता तु तहाणा॥

"अगमा" रुक्खा, तेहि कत "अगार" घर तेण सह जस्स जोगो सो सागरिउ त्ति भण्णति। जम्हा सो सिज्ज करेति तम्हा सो सिज्जाकरो भण्णति। जम्हा सो साहूण सेज्ज ददाति तेण भण्णति सेज्जादाता। जम्हा सेज्ज पडमाणि छज्ज-लेप्पमादीहि धरेति तम्हा सेज्जाधरो अहवा—सेज्जादाणपाहण्णतो अप्पाण णरकादिसु पडत धरेति त्ति तम्हा सेज्जाधरो। सेज्जाए सरक्खण सगोवणं, जेण तरति काउ तेण सेज्जातरो। अहवा—तत्थ वसहीए साहुणो ठिता ते वि सारक्खिउ तरति, तेण सेज्जादाणेण भवसमुद्द तरति त्ति सिज्जातरो।

६—(क) अ० चू० : सेज्जा वसती, स पुण सेज्जादाणेण ससार तरति सेज्जातरो, तस्स भिक्खा सेज्जातरपिंडो।
(ख) जि० चू० पृ० ११३ : आश्रयोऽभिधीयते, तेण उ तस्स य दाणेण साहूण ससार नरतीति सेज्जातरो तस्स पिंडो, भिक्खत्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११७ : शय्या—वसतिस्तया तरति ससार इति शय्यातर —साधुवसतिदाता, तत्पिण्ड.।

७—हा० टी० प० ११७ पा०-टि० ६ (ग)।

८—नि० भा० गा० ११४४ : सेज्जातरो पभू वा, पभुसदिट्ठो व होति कातव्वो।

शय्यातर कब होता है? इस विषय में अनेक मत हैं। निशीथ-भाष्यकार ने उन सबका संकलन किया है[1]। भाष्यकार का अपना मत यह है कि श्रमण रात में जिस उपाश्रय में रहे, सोए और चरमावश्यक कार्य करे उसका स्वामी शय्यातर होता है[2]।

शय्यातर के अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य होते हैं। तिनका, राख, पाट-बाजोट आदि ग्राह्य होते हैं[3]।

१—नि० भा० गा० ११४६-४७ चू० : एत्थ णेगमणय-पक्खासिता आहु।

एक्को भणति—अणुण्णविए उवस्सए सागारिओ भवति।

अण्णो भणति—जता सागारियस्स उग्गह पविठ्ठा।

अण्णो भणति—जता अगण पविट्ठा।

अण्णो भणति—जता पाउग्ग तणडगलादि अणुणयवित।

अण्णो भणति—जता वसहिं पविठ्ठा।

अण्णो भणति—जदा दोद्धियादिभडय दाणाति कुल्लट्ठवणाए व ठवियाए।

अण्णो भणति—जता सज्झाय आढत्ता काउं।

अण्णो भणति—जता उवओग काउ भिक्खाए गता।

अण्णो भणति—जता भुंजिउमारद्धा।

अण्णो भणति—भायणेसु निक्खित्तेसु।

अण्णो भणति—जता देवसिय आवस्सय कतं।

अण्णो अणति—रातीए पढमे जामे गते।

अण्णो भणति—बितिए।

अण्णो भणति—ततिए।

अण्णो भणति—चउत्थे।

२—नि० भा० ११४८ चू० : जत्थ राउ ट्ठिता तत्थेव सुत्ता तत्थेव चरिमावस्सय कय तो सेज्जातरो भवति।

३—नि० भा० गा० ११५१-५४ चू० दुविह चउव्विह छव्विह, अट्ठविहो होति बारसविधो वा।
सेज्जातरस्स पिंडो, तव्वतिरित्तो अपिंडो उ॥

दुविह चउव्विह छव्विह च एगगाहाए वक्खाणेति—

आधारोवधि दुविधो, विदु अण्ण पाण ओहुवग्गहिओ।
असणादि चउरो ओहे, उवग्गहे छव्विधो एसो॥

आहारो उवकरण च एस दुविहो। वे दुया चउरो त्ति, सो इमो—अण्णं पाणं ओहिय उवग्गहिय च। असणादि चउरो ओहिए उवग्गहिए य, एसो छव्विहो।

इमो अट्ठविहो—

असणे पाणे वत्थे, पाते सूयादिगा य चउरट्ठा।
असणादी वत्थादी, सूयादि चउक्कगा तिण्णि॥

असणे पाणे वत्थे पादे, छत्ती आदि जेसि ते सूतीयादिगा—सूती पिप्पलगो नखरदनी कण्णसोहणय। इमो बारसविहो—असणाइया चत्तारि, वत्थाइया चत्तारि, सूतियादिया चत्तारि, एते तिण्णि चउक्का बारस भवति।

इमो पुणो अपिंडो— तण-डगल-छार-मल्लग, सेज्जा-संथार-पीढ-लेवादी।
सेज्जातरपिंडेसो, ण होति सेहोव सोवधि उ॥

लेवादी, आदिसद्दातो, कुडमुहादि, एसो सव्वो सेज्जातरपिंडो ण भवति। जति सेज्जायरस्स पुत्तो भूया वा वत्थपायसहिता पव्वएज्जा सो सेज्जातरपिंडो ण भवति।

शय्यातर का पिण्ड लेने का निषेध उद्गम-शुद्धि आदि कई दृष्टियों से किया गया है[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ एक वैकल्पिक पाठ माना है—"पाठ विसेसो—'सेज्जातर पिंडं च, आसएणं परिवज्जए'।" इसके अनुसार—"शय्यातर-पिण्ड लेना जैसे अनाचार है, वैसे ही उसके घर से लगे हुए सात घरों का पिण्ड लेना भी अनाचार है। इसलिए श्रमण को शय्यातर का तथा उसके समीपवर्ती सात घरों का पिंड नहीं लेना चाहिए[2]।"

जिनदास महत्तर ने भी इस पाठान्तर व इसकी व्याख्या का उल्लेख किया है[3]। किन्तु टीका में इसका उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृताङ्ग में 'शय्यातर' के स्थान में 'सागारियपिण्ड' का उल्लेख है[4]। टीकाकार ने इसका एक अर्थ—सागारिक पिण्ड—अर्थात् शय्यातर का पिण्ड किया है[5]।

३०. आसंदी (आसंदी ख) :

यह एक प्रकार के बैठने का आसन है[6]। शीलाङ्क सूरि ने आसन्दी का अर्थ वर्द्धी, मूंज, पाट या सन के सूत से गुंथी हुई खटिया किया है[7]। निशीथ-भाष्य-चूर्णि में काष्ठमय आसंदक का उल्लेख मिलता है[8]। जायसवालजी ने भी 'हिन्दू राज्य-तन्त्र' में इसकी चर्चा की है—"आविद् या घोषणा के उपरांत राजा काठ के सिंहासन (आसदी) पर आरूढ़ होता है, जिस पर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है[9]। आगे चलकर हाथी-दांत और सोने के सिंहासन बनने लगे थे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था (देखो महाभारत (कुंभ) शान्ति पर्व ३६, २. ४. १३. १४)। यद्यपि वह (खदिर की) लकडी का बनता था, परन्तु जैसा कि ब्राह्मणों के विवरण से जान पडता है, विस्तृत और विशाल हुआ करता था[10]।"

कोषकार वेत्रासन को आसदी मानते हैं[11]। अथर्ववेद में आसंदी का सावयव वर्णन मिलता है—

१५.३.१ : स संवत्सरो मूर्ध्वो अतिष्ठत् तं देवा अब्रुवन् व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥

वह संवत्सर (या मवत्सर भर से उपर) खड़ा रहा। उससे देवों ने पूछा : व्रात्य तू क्यों खड़ा है ?

१—नि० भा० गा० ११५६, ११६८ : तित्थकरपडिकुट्ठो, आणा-अण्णाय-उग्गमो ण सुज्झे।
अविमुत्ति अलाघवता, दुल्लभ सेज्जा य वोच्छेदो ॥
थल-देउलियट्ठाणं, सति कालं दट्ठु दट्ठु तहिं गमण।
णिग्गते वसही भुंजण, अण्णे उब्भामगा ऽऽउट्टा ॥

२— अ० चू० : एतम्मि पाढे सेज्जातरपिंड इति भणिते किं पुणो भण्णति—"आसण्णं परिवज्जए ?" विसेसो दरिसिज्जति—जाणि वि तदासण्णाणि सेज्जातर तुल्लाणि ताणि सत्त वज्जेतव्वाणि।

३— जि० चू० पृ० ११३-४ · अहवा एत सुत्त एव पढिज्जइ 'सिज्जातरपिंड च आसन्नं परिवज्जए'। सेज्जातरपिंडं च, एतेण चेव सिद्धे ज पुणो आसन्नग्गहण करेइ त जाणिवि तस्स गिहाणि सत्त अणंतरासण्णाणि ताणिवि। सेज्जातरतुल्लाणि दट्ठव्वाणि, तेहिंतोवि परओ अन्नाणि सत्त वज्जेयव्वाणि।

४—सूत्र० १.६ १६ · सागरिय च पिंड च, त विज्ज परिजाणिया।

५—सूत्र १.६.१६ टीका प० १८१ : 'सागारिकः' शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहार।

६—(क) अ० चू० ३ ५ : आसदी—उपविसण , अ० चू० ६ ५३ : आसदी—आसणं।
(ख) सूत्र० १ ६.२१ टीका प० १८२ : 'आसन्दी' त्यासनविशेष ।

७—सूत्र० १.४.२. १५ टी० प० ११८ : 'आसदिय च नवसुत्तं'—आसदिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकाम्'...... नव—प्रत्यग्र सूत्र वल्कवलित यस्यां सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद्वध्रचर्मावनद्धां वा।

८—नि० भा० गा० १७२३ चू० : आसंदगो कट्ठमओ अज्झुसिरो लब्भति।

९—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८।

१०—हिन्दू राज्य-तंत्र (दूसरा खण्ड) पृष्ठ ४८ का पाद-टिप्पण।

११—अ० चि० ३.३४८ : स्याद् वेत्रासनमासन्दी।

१५.३.२ : सो ऽब्रवीदासन्दीं मे स भरन्त्विति ॥ वह बोला मेरे लिए आसन्दी (विनी हुई चौकी) लाओ।

१५.३.२ : तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ उस व्रात्य के लिए (वह देव गण) आसन्दी लाए।

१५.३.४ : तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥
उसके (आसदी के) ग्रीष्म और वसन्त दो पाये थे, शरद् और वर्षा दो पाये थे।
ऐसा मानना चाहिए कि शिशिर और हेमन्त ऋतु की गणना शरद् में कर ली गई है।

१५.३.५ : बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥
बृहत् और रथन्तर, अनूच्य और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव तिरश्च्य थे।
(दाहिने-बायें की लकड़ियों को अनूच्य तथा सिरहाने-पैंताने की लकड़ियों को तिरश्च्य कहते हैं।)

१५.३.६ : ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः ॥ ऋक्, प्राञ्च और यजु तिर्यञ्च हुए।
(ऋग्वेद के मंत्र सीधे सूत (ताना) और यजुर्वेद के मंत्र तिरछे सूत (बाना) हुए।)

१५.३.७ : वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम् ॥
वेद आस्तरण (बिछौना) और ब्रह्म उपबर्हण (सिरहाना, तकिया) हुआ। (ब्रह्म से अथर्वाङ्गिरस मंत्रों से तात्पर्य है।)

१५.३.८ : सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ साम आसाद और उद्गीथ अपश्रय था।
(आसाद बैठने की जगह और अपश्रय टेकने के हत्थों को कहते हैं। उद्गीथ प्रणव (ओंकार) का नाम है।)

१५.३.९ : तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ उस आसन्दी के ऊपर व्रात्य चढ़ा।
इसके लिए वैदिक पाठावली पृष्ठ १८५ और ३३६ भी देखिए।

३१. पर्यङ्क (पलियंकए ख):

जो सोने के काम में आए, उसे पर्यङ्क कहते हैं[१]। अर्थात् खटिया, पलग आदि।

इसी सूत्र (६.५४-५६) में इसके पीछे रही हुई भावना का बड़ा सुन्दर उद्घाटन हुआ है। वहाँ कहा गया है : "आसन, पलग, खाट और आशालक आदि का प्रतिलेखन होना बड़ा कठिन है। इनमें गंभीर छिद्र होते हैं, इससे प्राणियों की प्रतिलेखना करना कठिन होता है। अतः सर्वज्ञों के वचनों को माननेवाला न इन पर बैठे, न सोए।"

सूत्रकृताङ्ग में भी आसदी-पर्यङ्क को त्याज्य कहा है[२]।

मञ्च, आशालक, निषद्या, पीठ को भी आसदी-पर्यङ्क के अन्तर्गत समझना चाहिए[३]।

बौद्ध-विनयपिटक में आसदी, पलग को उच्चशयन कहा है और दुक्कट का दोष बता उनके धारण का निषेध किया है[४]। पर चमड़े से बंधी हुई गृहस्थों की चारपाइयों या चौकियों पर बैठने की भिक्षुओं को अनुमति थी, लेटने की नहीं[५]।

३२. गृहान्तर-निषद्या (गिहंतरनिसेज्जा ग):

इसका अर्थ है भिक्षाटन करते समय गृहस्थ के घर में बैठना।

१—(क) अ० चू० : पलियको सयणिज्ज।
(ख) सूत्र० १.६.२१ टीका प० १८२—'पर्यंक' शयनविशेषः।

२—सूत्र० १.६.२१ : आसदी पलियके य, ·· ··· ··· ···।
·· ·· ··· ···, त विज्ज परिजाणिया ॥

३—दश० ६.५४, ५५

४—विनयपिटक : महावग्ग ५ ऽ५२.४ पृ० २०६।

५—विनयपिटक : महावग्ग ५ ऽ५२.८ पृ० २१०-११।

जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ किया है—घर में अथवा दो घरों के अन्तर में बैठना[1]। शीलाकाचार्य ने भी ऐसा ही अर्थ किया है[2]। बृहत्कल्प-भाष्य में गृहान्तर के दो प्रकार बतलाए हैं—सद्भाव गृह-अन्तर और असद्भाव गृह-अन्तर। दो घरों के मध्य को सद्भाव-गृह-अन्तर और एक ही घर के मध्य को असद्भाव-गृह-अन्तर माना है[3]।

दशवैकालिक सूत्र (५.२.८) में कहा है : "गोचराग्र में प्रविष्ट मुनि कहीं न बैठे"—(गोयरग्गपविट्ठो उ, न निसीएज्ज कत्थई)। 'कहीं' शब्द का अर्थ जिनदास महत्तर ने घर, देवकुल, सभा, प्रपा आदि-आदि किया है[4]। हरिभद्र सूरि ने भी 'कहीं' का ऐसा ही अर्थ किया है[5]।

दशवैकालिक सूत्र (६.५७, ५९) में कहा है : "गोचराग्र में प्रविष्ट होने पर जो मुनि घर में बैठता है, वह अनाचार को प्राप्त होता है, अतः उसका वर्जन करना चाहिए।"

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'गृहान्तर' शब्द का अर्थ उपाश्रय से भिन्न घर किया है[6]। सूत्रकृताङ्ग (१.९.२९) में कहा है : "साधु पर-गृह में न बैठे (परगेहे ण णिसीयए)। यहाँ गृहान्तर के स्थान में 'पर-गृह' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शीलाङ्क सूरि ने 'पर-गृह' का अर्थ गृहस्थ का घर किया है[7]।

उत्तराध्ययन सूत्र में जहाँ श्रमण ठहरा हुआ हो उस स्थान के लिए 'स्व-गृह' और उसके अतिरिक्त घरों के लिए 'पर-गृह' शब्द का प्रयोग किया गया है[8]। दशवैकालिक में भी 'परागार' शब्द का प्रयोग हुआ है[9]। उक्त सन्दर्भों के आधार पर 'गृहान्तर' का अर्थ 'पर-गृह'—उपाश्रय से भिन्न गृह होता है। यहाँ 'अन्तर' शब्द बीच के अर्थ में नहीं है किन्तु 'दूसरे के' अर्थ में प्रयुक्त है—जैसे—रूपान्तर, अवस्थान्तर आदि। अतः "दो घरों के अन्तर में बैठना" यह अर्थ यहाँ नही घटता।

'गृहान्तर-निषद्या' का निषेध 'गोचराग्र-प्रविष्ट' श्रमण के लिए है, या साधारण स्थिति में, इसकी चर्चा अगस्त्यसिंह स्थविर ने नहीं की है और आगम में गोचराग्र-प्रविष्ट मुनि के लिए यह अनाचार है, यह स्पष्ट है।

१—(क) जि० चू० पृ० ११४ : गिहं चेव गिहंतरं तंमि गिहे निसेज्जा न कप्पइ, निसेज्जा णाम जमि निसत्थो अच्छइ, अहवा दोण्हं अंतरे, एत्थ गोचरग्गगतस्स णिसेज्जा ण कप्पइ, चकारग्गहणेण निवेसणवाडगादि सूइया, गोयरग्गगतेण न णिसियव्वंति।

(ख) हा० टी० प० ११७ : तथा गृहान्तरनिषद्या अनाचरिता, गृहमेव गृहान्तर गृहयोर्वा अपान्तराल तत्रोपवेशनम्, च शब्दा-त्पाटकादिपरिग्रहः।

२—सूत्र० १.९.२१ टीका प० १८२ : णिसिज्जं च गिहंतरे—गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसन वा सयमविराधनाभयात्परिहरेत्।

३—बृहत्० भा० गा० २९३१ : सब्भावमसब्भावं, मज्झमसब्भावतो उ पासेणं।

निव्वाहिमनिव्वाहिं, ओकमइंतेसु सब्भावं॥

मध्य द्विधा—सद्भावमध्यमसद्भावमध्य च। तत्र सद्भावमध्यं नाम—यत्र गृहपतिगृहस्य पार्श्वेन गम्यते आगम्यते वा छिण्डि-कयेत्यर्थ., "ओकमइंतेसु" त्ति गृहस्थानाम् ओकः—गृह सयताः सयतानां च गृहस्था मध्येन यत्र 'अतियन्ति' प्रविशन्ति उपलक्षणत्वाद् निर्गच्छन्ति वा तदेतदुभयमपि सद्भावत.—परमार्थतो मध्य सद्भावमध्यम्।

४—जि० चू० पृ० १९५ : गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्व कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि।

५—हा० टी० प० १८४ : भिक्षार्थं प्रविष्ट······नोपविशेत् "क्वचिद्" गृहदेवकुलादौ।

६—अ० चू० : गिहंतरं पडिस्सपातो बाहिं ज गिह, गेयतीति गिहं, गिह अतर च गिहतर गिहंतरनिसेज्जा ज उवविट्ठो अच्छति, च सद्देण वाडगसाहि-निवेसणादीसु।

७—सूत्र० १.९ २९ टीका प० १८४ : साधुर्भिक्षादिनिमित्त ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत्।

८—उत्त० १७.१८ : सय गेह परिच्चज्ज परगेहसि वावरे।

··················पावसमणि त्ति वुच्चई॥

९—(क) दश० ८.१९ : पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोयणस्स वा।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : अगारं गिह भण्णइ, परस्स अगार परागार।

(ग) हा० टी० प० २३१ : 'पविसित्तु' सूत्र, प्रविश्य 'परागार' परगृह।

इन सब आधारों पर ही यहाँ 'गृहान्तर-निषद्या' का अर्थ—"भिक्षा करते समय गृहस्थ के घर बैठना" केवल इतना ही किया है।

जयाचार्य ने शयन-गृह, रसोई-घर, पानी-घर, स्नान-गृह आदि ऐसे स्थानों को, जहाँ बैठना श्रमण के लिए उचित न हो, गृहान्तर या अन्तर-घर माना है[1]।

निशीथ[2] और उत्तराध्ययन[3] में 'गिहि-निसीजा' (गृही-निषद्या) शब्द मिलता है। शान्त्याचार्य ने इसका अर्थ पलग आदि शय्या किया है[4]। इसलिए यह गृहान्तर से भिन्न अनाचार है।

यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि रोगी-वृद्ध-तपस्वी के लिए 'गृहान्तर-निषद्या' अनाचार नहीं है। प्रस्तुत आगम (६.६०) और सूत्रकृताङ्ग[5] के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

'गृहान्तर-निषद्या' को अनाचार क्यों कहा इस विषय में दशवैकालिक (६. ५७-५६) में अच्छा प्रकाश डाला है। वहाँ कहा है : "इससे ब्रह्मचर्य को विपत्ति होती है। प्राणियों का अवध काल में वध होता है। दीन भिक्षार्थियों को बाधा पहुँचती है। गृहस्थों को क्रोध उत्पन्न होता है। कुशील की वृद्धि होती है।" इन सब कारणों से 'गृहान्तर-निषद्या' का वर्जन है।

३३. गात्र-उद्वर्तन (गायस्सुव्वट्टणाणि घ) :

शरीर में पीठी (उवटन) आदि का मलना गात्र-उद्वर्तन कहलाता है[6]। इसी आगम में (६ ६४-६७) में विभूषा—शरीर-शोभा—को वर्जनीय बताकर उसके अन्तर्गत गात्र-उद्वर्तन का निषेध किया गया है। वहाँ कहा गया है : "सयमी पुरुष स्नान-चूर्ण, कल्क, लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीर के उवटन के लिए कदापि सेवन नहीं करते। शरीर-विभूषा सावद्य-बहुल है। इससे गाढ़ कर्म-बन्धन होता है।" इस अनाचीर्ण का उल्लेख सूत्रकृताङ्ग में भी हुआ है[7]।

श्लोक ६ :

३४. गृहि-वैयापृत्य (गिहिणो वेयावडियं क)

'वेयावडिय' शब्द का संस्कृत रूप 'वैयापृत्य' होता है[8]। गृहि-वैयापृत्य को यहाँ अनाचरित कहा है। इसी सूत्र की दूसरी चूलिका के ६ वें श्लोक में स्पष्ट निषेध है—"गिहीणो वेयावडिय न कुज्जा"—मुनि गृहियों का वैयापृत्य न करे।

उपर्युक्त दोनों ही स्थलों पर चूर्णिकार और टीकाकार की व्याख्याएँ प्राप्त हैं। उनका सार नीचे दिया जाता है :

१—अगस्त्यसिंह स्थविर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ का उपकार करने में प्रवृत्त होना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहि-व्यापारकरण—गृहस्थ का व्यापार करना अथवा उसका असंयम की अनुमोदना करनेवाला प्रीतिजनक उपकार करना[9]।

१—सन्देह विषौषधी पत्र ३८।

२—नि० १२ १२ . जे भिक्खू गिहिनिसेज्जं वाहेइ वाहेंतं वा सातिज्जति।

३—उत्त० १७ १६ . गिहिनिसेज्जं च वाहेइ पावसमणि त्ति वुच्चई॥

४—बृहद् वृत्ति : गृहिणां निषद्या पर्यङ्क तूल्यादि शय्या।

५—सूत्र० १ ६ २६ · नन्नत्थ अंतराएण, परगेहे ण णिसीयए।

६—(क) अ० चू० : गात सरीरं तस्स उव्वट्टणं अब्भगणुव्वलणादीणि।
  (ख) जि० चू० पृ० ११४ : गातं णाम सरीरं भण्णइ, तस्स उव्वट्टणं ण कप्पइ।
  (ग) हा० टी० प० ११७ · गात्रस्य-कायस्योद्वर्तनानि।

७—सूत्र० १ ६ १५ : आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धवघायकम्मगं।
  उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया॥

८—हा० टी० प० ११७ · गृहस्थस्य 'वैयावृत्त्यम्'।

६—(क) अ० चू० : गिहीणं वेयावडितं जं तेसिं उवकारे वट्टति।
  (ख) वही : गिहीणो वेयावडियं नाम तव्वावारकरणं तेसिं प्रीतिजणणं उपकारं असंजमाणुमोदणं न कुज्जा।

२—जिनदास महत्तर ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के साथ अन्नपानादि का संविभाग करना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों का आदर करना, उनका प्रीतिजनक असंयम की अनुमोदना करने वाला उपकार करना[1]।

हरिभद्र सूरि ने पहले स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थ को अन्नादि देना। दूसरे स्थल पर अर्थ किया है—गृहस्थों के उपकार के लिए उनके कर्म को स्वय करना[2]।

अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन में 'वैयापृत्य' का प्रयोग उपकार करने की व्यापक प्रवृत्ति में हुआ है—ऐसा लगता है और जिनदास महत्तर तथा हरिभद्र सूरि की व्याख्या से ऐसा लगता है कि इसका यहाँ प्रयोग—अन्नपान के संविभाग के अर्थ में हुआ है।

सूत्रकृताङ्ग (१.६) में इस अनाचार का नामोल्लेख नहीं मिलता, पर लक्षण रूप से इसका वर्णन वहाँ आया है। वहीं श्लोक २३ में कहा है—"भिक्षु अपनी संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए अन्नपान ग्रहण करता है उसे दूसरों को—गृहस्थों को—देना अनाचार है[3]।"

उत्तराध्ययन सूत्र के बारहवें अध्ययन में 'वेयावडिय' शब्द दो जगह व्यवहृत है[4]। वहाँ इसका अर्थ अनिष्ट निवारण के लिए अर्थात् परिचर्या के लिए व्यापृत होना है। अध्यापक की बात सुन बहुत से कुमार दौड़ आये और भिक्षा के लिए ब्रह्मवाडे में आये, ऋषि हरिकेशी को दण्ड, बेंत और चाबुक से मारने लगे। ऋषि हरिकेशी का 'वैयापृत्य' करने के लिए यक्ष कुमारों को रोकने लगा[5]। यक्ष ने कुमारों को बुरी तरह पीटा। पुरोहित ने मुनि से माफी मागी। उसने कहा—"ऋषि महाकृपालु होते हैं। वे कोप नही करते।" ऋषि बोले—"मेरे मन में न तो पहले द्वेष था न अब है और न आगे होगा, किन्तु यक्ष मेरा 'वैयापृत्य' करता है, उसीने इन कुमारों को पीटा है[6]।" आगमों में 'वेयावच्च' शब्द भी मिलता है[7]। इसका सस्कृत रूप 'वैयावृत्त्य' है। इसका अर्थ

१—(क) जि० चू० पृ० ११४ : गिहिवेयावडीय ज गिहीण अण्णपाणादीहिं विसूरंताण विसविभागकरण, एयं वेयावडिय भण्णइ।

(ख) वही पृ० ३७३ : गिह-पुत्तदार त जस्स अत्थि सो गिही, एगवयण जातीअत्थमवदिस्सति, तस्स गिहिणो "वेयावडिय न कुज्जा" वेयावडिय नाम तथाऽऽदरकरण, तेसिं वा पीतिजणणं, उपकारक असजमाणुमोदण ण कुज्जा।

२—(क) हा० टी० प० ११७ व्यावृत्तभावो—वैयावृत्त्य, गृहस्थं प्रति अन्नादिसपादनम्।

(ख) हा० टी० प० २८१ : 'गृहिणो' गृहस्थस्य 'वैयावृत्त्य' गृहिभावोपकाराय तत्कर्मस्वात्मनो व्यावृत्तभाव न कुर्यात्, स्वपरोभयाश्रेय. समायोजनदोपात्।

३—सूत्र० १.६.२३ : जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाण तहाविहं।
अणुप्पयाणमन्नेसि, त विज्ज परिजाणिया॥

४—उत्त० १२.२४,३२ :
एयाइ तीसे वयणाइ सोच्चा पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइं।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति॥
पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडिय करेन्ति तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

५—उत्त० १२.२४ बृ० प० ३६५ : वैयावृत्त्यार्थमेतत् प्रत्यनीकनिवारणलक्षणे प्रयोजने व्यावृत्ता भवाम इत्येवमर्थम्।

६—उत्त० १२.३२ बृ० प० ३६७ : वैयावृत्त्य प्रत्यनीक प्रतिघात रूपम्।

७—(क) उत्त० २९.४३ : वेयावच्चेण भन्ते जीवे किं जणयइ। वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्त कम्म निबन्धइ।

(ख) उत्त० ३०.३० : पायच्छित्त विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाण च विओसग्गो एसो अब्भिन्तरो तवो॥

(ग) स्था० ५.३ ५११ टी० प० ३४६ : वेयावच्च वावडभावो इह धम्मसाहणणिमित्तं।
अण्णाइयाण विहिणा संपायणमेस भावत्थो॥

(घ) भग० २५.७ पृ० २८०

(ङ) औप० सू० ३० पृ० २६

उत्तराध्ययन में कहा गया है—जो शिल्प-जीवी नहीं होता, वह भिक्षु है[1]। इसी तरह कृषि आदि कर्म करने का भी वर्जन है। जब गृहस्थावस्था के कर्म, शिल्प आदि का उल्लेख कर या परिचय दे भिक्षा प्राप्त करना अनाचार है, तब कृषि आदि कर्म व सूचि आदि शिल्पों द्वारा आजीविका न करना साधु का सहज धर्म हो जाता है।

व्यवहार भाष्य में जो आजीव से उपजीवन करता है उसे कुशील कहा है[2]। आजीववृत्तिता उत्पादन दोषों में से एक है[3]। निशीथ सूत्र में आजीवपिण्ड—आजीववृत्तिता से प्राप्त आहार—खानेवाले श्रमण के लिए प्रायश्चित्त का विधान है[4]। भाष्य में कहा है—जो ऐसे आहार का सेवन करता है वह आज्ञा-भंग, अनवस्था, मिथ्यात्व और विराधन का भागी होता है[5]।

जाति आदि के आश्रय से न जीनेवाला साधु 'मुधाजीवी' कहा गया है[6]। जो 'मुधाजीवी' होता है वह सद्-गति को प्राप्त करता है[7]। जो श्रमण 'मुधाजीवी' नहीं होता वह जिह्वा-लोलुप बन श्रामण्य को नष्ट कर डालता है। इसलिए आजीववृत्तिता अनाचार है।

साधु सदा याचित ग्रहण करता है कभी भी अयाचित नहीं[8]। अतः उसे गृहस्थ के यहाँ गवेषणा के लिए जाना होता है। संभव है गृहस्थ के घर में देने योग्य अनेक वस्तुओं के होने पर भी वह साधु को न दे अथवा अल्प दे अथवा हल्की वस्तु दे। यह अलाभ परीषह है। जो भिक्षु गृहस्थावस्था के कुल आदि का उल्लेख कर या परिचय दे उनके सहारे भिक्षा प्राप्त करता है, वह एक तरह की दीनवृत्ति का परिचय देता है। इसलिए भी आजीववृत्तिता अनाचार है।

३६. तप्तानिर्वृतभोजित्व (तत्तानिव्वुडभोइत्तं ग) :

तप्त और अनिर्वृत इन दो शब्दों का समास मिश्र—सचित्त-अचित्त—वस्तु का अर्थ जताने के लिए हुआ है। जितनी दृश्य वस्तुएँ हैं वे पहले सचित्त होती हैं। उनमें से जब जीव च्युत हो जाते हैं, केवल शरीर रह जाते हैं, तब वे वस्तुएँ अचित्त बन जाती हैं। जीवों का च्यवन काल-मर्यादा के अनुसार स्वयं होता है और विरोधी-पदार्थ के संयोग से काल-मर्यादा से पहले भी हो सकता है। जीवों की मृत्यु के कारण-भूत विरोधी पदार्थ शस्त्र कहलाते हैं। अग्नि—मिट्टी, जल, वनस्पति और त्रस जीवों का शस्त्र है। जल और वनस्पति सचित्त होते हैं। अग्नि से उबालने पर ये अचित्त हो जाते हैं। किन्तु ये पूर्ण-मात्रा में उबाले हुए न हों उस स्थिति में मिश्र बन जाते हैं—कुछ जीव मरते हैं कुछ नहीं मरते इसलिए वे सचित्त-अचित्त बन जाते हैं। इस प्रकार के पदार्थ को तप्तानिर्वृत कहा जाता है[9]।

५.२.२२ में तप्तानिर्वृत जल लेने का निषेध मिलता है। ८.६ में 'तत्तफासुय' जल लेने की आज्ञा दी है। इससे स्पष्ट होता है कि केवल गर्म होने मात्र से जल अचित्त नहीं होता। किन्तु वह पूर्ण-मात्रा में गर्म होने से अचित्त होता है। मात्रा की पूर्णता के बारे में चूर्णिकार और टीकाकार का आशय यह है कि त्रिदण्डोद्वृत्त—तीन बार उबलने पर ही जल अचित्त होता है, अन्यथा नहीं[10]।

१—उत्त० १५.१६ : असिप्पजीवी'' · ''स भिक्खू।

२—देखिए पृ० ८६ · पाद-टि० ८

३—श्रमण सू० पृ० ४३२ · धाई दूई निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए॥

४—नि० १३.६७ जे भिक्खू आजीवियपिंड भुंजति भुंजत वा सातिज्जति।

५—नि० भा० गा० ४४१० : जे भिक्खाऽऽजीवपिंड, गिण्हेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्त-विराधणं पावे॥

६—हा० टी० प० १८१। 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याधनाजीवक इत्यन्ये।

७—दश० ५.१.१०० · मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छन्ति सोग्गइ।

८—उत्त० २.२८ : सव्वं से जाइयं होइ नत्थि किंचि अजाइयं।

९—अ० चू० : जाव णातीवअगणिपरिणत त तत्तअपरिणिव्वुढ।

१०—(क) अ० चू० : अहवा तत्तमवि तिन्नि वारे अणुव्वत अणिव्वुड

(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा तत्तमवि जाहे तिण्णि वाराणि न उव्वत्तं भवइ ताहे त अनिव्वुड, सचित्तति वुत्त भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११७ : 'तप्तानिर्वृतभोजित्वम्'—तप्तं च तदनिर्वृतं च—अत्रिदण्डोद्वृत्तं चेति विग्रहः, उदकमिति विशेषणान्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्व—मिश्रसचित्तोदकभोजित्वम् इत्यर्थः।

दश० ५.२.२२ में 'वियडं वा तत्तनिव्वुडं' और ८.६ में 'उसिणोदगं तत्तफासुयं'—इन दोनों स्थलों में क्रमशः तप्तानिर्वृत्त जल का निषेध और तप्तप्रासुक जल का विधान है। किन्तु प्रस्तुत स्थल में तप्तानिर्वृत्त के साथ भोजित्व शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिए इसका सम्बन्ध भक्त और पान दोनों से है। इसलिए एक बार भुने हुए शमी—धान्य को लेने का निषेध किया गया है[1]। गर्म होने के बाद ठंडा हुआ पानी कुछ समय में फिर सचित्त हो जाता है उसे भी 'तप्तानिर्वृत्त' कहा गया है।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार ग्रीष्म-काल में एक दिन-रात के बाद गर्म पानी फिर सचित्त हो जाता है। तथा हेमन्त और वर्षा-ऋतु में पूर्वाह्न में गर्म किया हुआ जल अपराह्न में सचित्त हो जाता है[2]। जिनदास महत्तर का भी यही अभिमत रहा है। टीकाकार ने इसके बारे में कोई चर्चा नहीं की है। ओघनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में अचित्त वस्तु के फिर से सचित्त होने का वर्णन मिलता है। जल की योनि अचित्त भी होती है[3]।

सूत्रकृताङ्ग (२.३.५६) के अनुसार जल के जीव दो प्रकार के होते हैं—वात-योनिक और उदक-योनिक। उदक-योनिक जल के जीव उदक में ही पैदा होते हैं। वे सचित्त उदक में ही पैदा हों, अचित्त में नहीं हों ऐसे विभाग का आधार नहीं मिलता क्योंकि वह अचित्त-योनिक भी है। इसलिए यह सूक्ष्म-दृष्टि से विमर्शनीय है। प्राणी-विज्ञान की दृष्टि से यह बहुत ही महत्त्व का है।

भगवान् महावीर ने कहा है[4]—"साधु के सामने ऐसे अवसर, ऐसे तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं—'अन्य दर्शनियों द्वारा मोक्ष का सम्बन्ध खाने-पीने के साथ नहीं जोड़ा गया है और न सचित्त-अचित्त के साथ। पूर्व में तप तपने वाले तपोधन कच्चे जल का सेवन कर ही मोक्ष प्राप्त हुए। वैसे ही नमि आहार न कर सिद्ध हुए और रामगुप्त ने आहार कर सिद्धि प्राप्त की। बाहुक कच्चा जल पीकर सिद्ध हुए और तारागण ऋषि ने परिणत जल पीकर सिद्धि प्राप्त की। आसिल ऋषि, देविल ऋषि तथा द्वैपायन और पराशर जैसे जगत विख्यात और सर्व सम्मत महापुरुष कच्चे जल, बीज और हरि वनस्पति का भोजन कर सिद्ध हो चुके हैं'।" उन्होंने पुनः कहा है—"यह सुनकर मन्द बुद्धि साधु उसी प्रकार विषादादि को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार कि बोझ आदि से लदा हुआ गधा, अथवा अग्नि आदि उपद्रवों के अवसर पर लकड़ी के सहारे चलने वाला लूला पुरुष।" महावीर के उपदेश का सार है कि अन्य दर्शनियों के द्वारा सिद्धान्तों की ऐसी आलोचना होने पर घबराना नहीं चाहिए। उत्तराध्ययन में कहा है—"अनाचार से घृणा करने वाला

१—दश० ५.२.२०

२—(क) अ० चू० : अहवा तत्त पाणितं पुणो सीतलीभूत आउकायपरिणाम जाति तं अपरिणय अणिव्वुड गिम्हे अहोरतेण सच्चित्ती भवति, हेमन्ते-वासासु पुव्वण्हे कतं अवरण्हे।

(ख) जि० चू० पृ० ११४ : तत्त पाणीय तं पुणो सीतलीभूतमनिव्वुड भण्णइ, त च न गिण्हे, रत्तिं पज्जुसिय सचित्तीभवइ, हेमंतवासासु पुव्वण्हे कय अवरण्हे सचित्ती भवति, एवं सचित्तं जो भुंजइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ।

३—स्था० ३. १ १४० : तिविहा जोणी पण्णत्ता तंजहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया। एव एगिंदियाण विगलिंदियाण समुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं संमुच्छिममणुस्साण य।

४—सूत्र० १.३.४.१-५ :
आहंसु महापुरिसा, पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति॥
अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ।
बाहुए उदगं भोच्चा, तम्हा नारायणे रिसी॥
असिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥
एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता।
भोच्चा बीओदग सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं॥
तत्थ मंदा विसीअंति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे॥

लज्जावान् सयमी प्यास से पीड़ित होने पर सचित्त जल का सेवन न करे किन्तु प्रासुक पानी की गवेषणा करे। निर्जन मार्ग से जाता हुआ मुनि तीव्र प्यास से व्याकुल हो जाय तथा मुँह सूखने लगे तो भी दीनतारहित होकर कष्ट सहन करे[1]।"

३७. आतुर-स्मरण (आउरस्सरणाणि घ):

सूत्रकृताङ्ग में केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग मिलता है[2]। पर वहाँ चर्चित विषय की समानता से[3] यह स्पष्ट है कि 'सरण' शब्द से 'आउरस्सरण' ही अभिप्रेत है। उत्तराध्ययन में 'आउरे सरण' पाठ मिलता है[4]।

'सरण' शब्द के सस्कृत रूप 'स्मरण' और शरण ये दो बनते हैं[5]। स्मरण का अर्थ है—याद करना और शरण के अर्थ हैं—(१) त्राण और (२) घर—आश्रय—स्थान[6]।

इन दो रूपो के आधार से पाँच-अर्थ निकलते हैं :

(१) केवल 'सरण' शब्द का प्रयोग होने से सूत्रकृताङ्ग की चूर्णि में इसका अर्थ पूर्व-मुक्त काम-क्रीड़ा का स्मरण किया है[7]। शीलाङ्क सूरि को भी यह अर्थ अभिप्रेत है[8]।

(२) दशवैकालिक के चूर्णिकार अगस्त्यसिंह ने 'आउर' शब्द जुड़ा होने से इसका अर्थ क्षुधा आदि से पीड़ित होने पर पूर्व-भुक्त वस्तुओं का स्मरण करना किया है[9]। जिनदास और हरिभद्र सूरि को भी यही अर्थ अभिप्रेत है[10]।

(३) उत्तराध्ययन के वृत्तिकार नेमिचन्द्र सूरि ने इसका अर्थ—रोगातुर होने पर माता-पिता आदि का स्मरण करना किया है[11]।

(४) दशवैकालिक की चूर्णियों में 'शरण' का भयातुर को शरण देना ऐसा अर्थ है। हरिभद्र सूरि ने दोषातुरों को आश्रय देना अर्थ किया है[12]।

१—उत्त० २.४,५ : तओ पुट्ठो पिवासाए दोगुछी लज्जसजए।
सीओदग न सेविज्जा वियडस्सेसण चरे॥
छिन्नावाएसु पन्थेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहा दीणे त तितिक्खे परीसह॥

२—सूत्र० १ ६ २१ : आसदी पलियंके य, णिसिज्ज च गिहतरे।
सपुच्छण सरण वा, त विज्ज परिजाणिया॥

३—सूत्र० १ ६ १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, २०

४—उत्त० १५.८ : मन्त मूल विविहं वेज्जचिन्त वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाण।
आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

५—हा० टी० प० ११७-१८ आतुरस्मरणानि ' '''आतुरशरणानि वा।

६—अ० चि० ४ : ५७

७—सरण पुव्वरतपुव्वकीलियाण।

८—सू० १ ६ २१ टीका प० १८२ : पूर्वक्रीडितस्मरण।

९—अ० चू० छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेण सितोदकादिपुव्वभुत्तसरण।

१०—(क) जि० चू० पृ० ११४ : आउरीभूतस्स पुव्वभुत्ताणुसरण।

(ख) हा० टी० प० ११७ : क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि।

११—उत्त० १५ ८ ने० टी० प० २१७ : सुब्व्यत्ययाद् 'आतुरस्य' रोगपीडितस्य 'स्मरण 'हा तात ! हा मात !' इत्यादिरूपम्।

१२—(क) अ० चू० : सत्तूहिं वा अभिभूतस्स सरण भवति वारेत्ति तोवास वा देति अहवा सरणं आरोग्गसाला, तत्थ पवेसो गिलाणस्स।

(ख) जि० चू० पृ० ११४ : अहवा सत्तूहिं अभिभूतस्स सरणं देइ, सरणं णाम उवस्सए ठाणंति वुत्तं भवइ '''''अहवा आउरसरणाणित्ति आरोग्यसालाओ भण्णंति।

(ग) हा० टी० प० ११८ : आतुरशरणानि वा—दोषातुराश्रयदानानि।

(५) रुग्ण होने पर आतुरालय या आरोग्यशाला में भर्ती होना यह अर्थ भी प्राप्त है[1]।

इस प्रकार 'आउस्सरण' के पाँच-अर्थ हो जाते हैं। तीन 'स्मरण' रूप के आधार पर और दो 'शरण' रूप के आधार पर।

'आतुर' शब्द का अर्थ है—'पीड़ित'। काम, क्षुधा, भय आदि से मनुष्य आतुर होता है और आतुर दशा में वह उक्त प्रकार की सावद्य चेष्टाएँ करता है। किन्तु निर्ग्रन्थ के लिए ऐसा करना अनाचार है।

प्रश्न उठता है—शत्रुओं से अभिभूत को शरण देना अनाचार क्यों है? इसके उत्तर में चूर्णिकार कहते हैं—"जो साधु स्थान—आश्रय देता है, उसे अधिकरण दोष होता है। यह एक बात है। दूसरी बात यह है कि उसके शत्रु को प्रद्वेष होता है[2]।" इसी तरह आरोग्यशाला में प्रवेश करना साधु को न कल्पने से अनाचार है[3]।

श्लोक ७ :

३८. अनिर्वृ त, सचित्त, आमक (अणिव्वुडे ख, सच्चित्ते ग , आमए घ)

इन तीनों का एक ही अर्थ है। जिस वस्तु पर शस्त्रादि का व्यवहार तो हुआ है पर जो प्रासुक—जीव-रहित—नहीं हो पायी हो उसे अनिर्वृ त कहते हैं। 'निर्वृ त' का अर्थ है शान्त। अनिर्वृ त—अर्थात् जिससे प्राण अलग नहीं हुए हैं—अपरिणत। जिस पर शस्त्र का प्रयोग नहीं हुआ, अतः जो वस्तु मूलतः ही सजीव है उसे सचित्त कहते हैं। आमक का अर्थ है—कच्चा। जो फलादि कच्चे हैं, वे भी सचित्त होते हैं[4]। इस तरह 'अनिर्वृ त' और 'आमक' ये दोनों शब्द सचित्त के पर्यायवाची हैं। ये तीनों शब्द सजीवता के द्योतक हैं।

३९. इक्षु-खण्ड (उच्छुखंडे ख) :

यहाँ सचित्त इक्षु-खण्ड के ग्रहण को अनाचार कहा है। ५.१.७३ में इक्षु-खण्ड लेने का जो निषेध है, उसका कारण इससे भिन्न है। उसमें फेंकने का अंश अधिक होने से वहाँ उसे अग्राह्य कहा है।

चूर्णिकार द्वय और टीका के अनुसार जिसमें दो पोर विद्यमान हों, वह इक्षु-खण्ड सचित्त ही रहता है[5]।

४०. कंद मूल (कंदे मूले ग) :

कद-मूल तथा मूल-कंद ये दो भिन्न प्रयोग हैं। जहाँ मूल और कद ऐसा प्रयोग होता है वहाँ वे वृक्ष आदि की क्रमिक अवस्था

१—देखिए—पृ० ६० पाद-टि० १२

२—(क) अ० चू० : वारेति वा तोवासं वा देति तत्थ अधिकरण दोसा, पदोस वा ते सत्तू जाएज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ११४ : तत्थ उवस्सए ठाणं देंतस्स अहिकरणदोसो भवति सो वा तस्स सत्तु पओसमावज्जेज्जा।

३—जि० चू० पृ० ११४ : तत्थ न कप्पइ गिलाणस्स पविसिउ एतमवि तेसिं अणाइण्णं।

४—(क) अ० चू० : अणिव्वुड त पुण जीवअविप्पजढ, निव्वुडो सांतो मतो ; आमग अपरिणत ; आमगं सचित्त।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : निव्वुड पुण जीवविप्पजढं भण्णइ, जहा निव्वातो जीवो, पसंतोत्तिवुत्त भवइ......... ......आमग भवति असत्यपरिणय।
(ग) हा० टी० प० ११८ : अनिर्वृ तम्—अपरिणतम् ;...... ......आमक सचित्तं।

५—(क) अ० चू० : उच्छुखड दोसु पोरेसु धरमाणेसु अणिव्वुड।
(ख) जि० चू० पृ ११५ : उच्छुखंडमवि दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अनिव्वुडं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'इक्षुखण्डं' चापरिणत द्विपर्वान्त यद्वर्तते।

के योधक होते हैं। वृक्ष का सबसे निचला भाग मूल और उसके ऊपर का भाग कद कहलाता है। जहाँ कद और मूल ऐसा प्रयोग होता है वहाँ कद का अर्थ शकरकद आदि कन्दिल जड और मूल का अर्थ सामान्य जड़ होता है[१]।

४१. बीज (बीए घ) :

बीज का अर्थ गेहूँ, तिलादि धान्य विशेष है[२]।

श्लोक ८ :

४२. सौवर्चल (सोवचले क)

इस श्लोक में सौवर्चल, सैन्धव, रोमा लवण, सामुद्र, पांशुक्षार और काला लवण ये छः प्रकार के लवण बतलाए गए हैं।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार सौवर्चल नमक उत्तरापथ के एक पर्वत की खान से निकलता था[३]। जिनदास महत्तर इसकी खानों को सेंधा नमक की खानों के बीच-बीच में बतलाते हैं[४]। चरक के अनुसार यह कृत्रिम है[५]।

सैन्धव नमक सिन्धु-देश (सिंध-प्रदेश) के पर्वत की खान से पैदा होता है[६]। आचार्य हेमचन्द्र ने सैन्धव को नदी-भव माना है[७]। सैन्धव के बाद लोण शब्द आया है। चूर्णिकार उसे सैन्धव का विशेष्य मानते हैं और हरिभद्र सूरि उसे सांभर के लवण का वाचक मानते हैं[८]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार जो रूमा में हो वह रोमा लवण है[९]। रोमक या रूमा-भव को कुछ कोषकार सामान्य नमक का वाचक मानते हैं और कुछ सांभर नमक का[१०]। किन्तु रूमा का अर्थ है लवण की खान[११]। जिनदास महत्तर रूमा देश में होनेवाला नमक रूमा लवण इतना ही लिख उसे छोड देते हैं[१२]। किन्तु वह कहाँ था, उसकी चर्चा नहीं करते।

सामुद्र—साभर के लवण को सामुद्र कहते हैं। समुद्र के जल को क्यारियों में छोडकर जमाया जानेवाला नमक सामुद्र है[१३]।

१—(क) अ० चू० कदा चमकादतो।
(ख) हा० टी० प० ११८ : 'कन्दो'—वज्रकन्दादि' मूल च'—सट्टामूलादि।

२—(क) अ० चू० : बीओ धण्णविसेसो।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ · बीजा गोधूमतिलादिणो।

३—अ० चू० : सोवच्चल उतरावहे पव्वतस्स लवणखाणीसु सभवति।

४—जि० चू० पृ० ११५ · सोवच्चल नाम सेंधवलोणपव्वयस्स अंतरतरेसु लोणखाणीओ भवति।

५—चरक० (सूत्र०) २७ २९६ पृ० २५० पाद-टि० १ · सौवर्चल प्रसारणीकल्कभक्तलवणसयोगात्। अग्नि दाहेन निर्वृतम्। इति डल्हण'।
आयुर्वेद के आचार्य सौवर्चल और बिड़ लवण को कृत्रिम मानते है—देखो रसतरगिणी।

६—(क) अ० चू० : सेन्धव सेन्धवलोणपव्वते सभवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ - सेंधव नाम सिंधवलोणपव्वए तत्थ सिंधवलोण भवइ।

७—अ० चि० ४.७ · सैंधव तु नदी भवम्।

८—हा० टी० प० ११८ · 'लवण च' सांभरिलवण।

९—अ० चू० : रूमालोण रूमाए भवति।

१०—अ० चि० ४.८ की रत्नप्रभा व्याख्या।

११—अ० चि० ४ ७ : रूमा लवणखानिः स्यात्।

१२—जि० चू० पृ० ११५ : रूमालोण रूमाविसए भवइ।

१३—(क) अ० चू० : सांभरीलोण सामुद्द, समुद्दपाणीयरिणे केदारादिकतमावट्टत लवण भवति।
(ख) जि० चू० पृ० ११५ : समुद्दलोण समुद्दपाणीय त खड्डीए निरुभतूण रिणभूमीए आरिज्जमाण लोण भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११८ : सामुद्द—समुद्दलवणमेव।

पांशुक्षार[1]—खारी-मिट्टी (नोनी-मिट्टी) से निकाला हुआ नमक[2]।

काला नमक—चूर्णिकार के अनुसार कृष्ण नमक सैन्धव-पर्वत के बीच-बीच की खानों में होता है[3]। कोषकारों ने कृष्ण नमक को सौवर्चल का ही एक प्रकार माना है, उसके लिए तिलक शब्द है[4]।

चरक में काले नमक और सौंचल (सौवर्चल) को गुण में समान माना गया है। काले नमक में गन्ध नहीं होती—सौवर्चल से इसमें यही भेद है[5]। चक्र ने काले नमक का दक्षिण-समुद्र के समीप होना बतलाया है[6]।

श्लोक ९ :

४३. धूम-नेत्र (धूव-णेत्ति क) :

शिर-रोग से बचने के लिए धूम्र-पान करना अथवा धूम्र-पान की शलाका रखना अथवा शरीर व वस्त्र को धूप खेना—यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है[7], जो क्रमशः धूम, धूम-नेत्र और धूपन शब्द के आधार पर हुई है।

धूम-नेत्र का निषेध उत्तराध्ययन में भी मिलता है[8]। यद्यपि टीकाकारों ने धूम और नेत्र को पृथक् मानकर व्याख्या की है पर वह अभ्रान्त नहीं है। नेत्र को पृथक् मानने के कारण उन्हें उसका अर्थ अञ्जन करना पड़ा[9], जो कि बलात् लाया हुआ-सा लगता है।

जिनदास महत्तर के अनुसार रोग की आशंका व शोक आदि से बचने के लिए अथवा मानसिक-आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग किया जाता था[10]।

निशीथ में अन्य तीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा घर पर लगे धूम को उतरवाने वाले भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[11]। भाष्यकार के अनुसार दद्रु आदि की औषध के रूप में धूम का प्रयोग होता था[12]।

१—चरक० सूत्र० २७.३०६ टीका : पांशुज पूर्वसमुद्रजम्।

२—(क) अ० चू० : पंसुखारो ऊसो कड्डिज्जतो अट्टुप्प भवति।

(ख) जि० चू० पृ० ११५ : पंसुखारो ऊसो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० ११८ : पांशुक्षारश्च' ऊपरलवण।

३—(क) अ० चू० : तस्सेव सेन्धवपव्वतस्स अंतरंतरेसु (कालालोण) खाणीसु संभवति।

(ख) जि० चू० पृ० ११५ : तस्सेव सेन्धवपव्वयस्स अंतरंतरेसु काला लोण खाणीओ भवति।

४—अ० चि० ४ ६ : सौवर्चलेऽक्ष रुचक दुर्गन्धं शूलनाशनम्, कृष्णे तु तत्र तिलक' '' ''''।

५—चरक० सूत्र० २७.२९८ : न काललवणे गन्ध सौवर्चलगुणाश्च ते।

६—चरक० सूत्र० २७.२९६ पाद-टि० १ : चक्रस्तु काललवणटीकायां काललवण सौवर्चलमेवागन्ध दक्षिणसमुद्रसमीपे भवतीत्याह।

७—अ० चू० : धूम पिबति 'मा सिररोगातिणो भविस्सति' आरोगपडिकम्म, अहवा "धूमणे" त्ति धूमपानसलागा, धूवेति वा अप्पाणं वत्थाणि वा।

८—उत्त० १५.८ : ....वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाण।
आउरे सरण तिगिच्छिय च त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू॥

९—उत्त० १५.८ नेमि० वृ० प० २१७ : 'नेत्त' त्ति नेत्रशब्देन नेत्तसंस्कारकमिह समीराञ्जनादि गृह्यते।

१०—जि० चू० पृ० ११५ : धूवणेत्ति नाम आरोग्गपडिकम्म करेइ धूमपि, इमाए सोगाइणो न भविस्सति, अहवा अन्नं वत्थाणि वा धवेई।

११—नि० १.५७ : जे भिक्खू गिहधूमं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसाडावेइ, परिसाडावेंतं वा सातिज्जति।

१२—(क) नि० भा० गा० ७९८ : घरधूमोसहकज्जे, दद्दु किडिभेदकच्छुअगताडी।
घरधूमम्मि णिवधो, तज्जातिअ सूयणट्ठाए॥

(ख) चरक० सूत्र० ३.४-६ पृ० २९ : कुष्ठ, दद्रु, भगन्दर, अर्श, पामा आदि रोगों के नाश के लिए छह योग बतलाए हैं। उनमें छठे योग मे और वस्तुओं साथ गृह-धूम भी है—

मनःशीलाले गृहधूम एला काशीसमुस्ताजुनरोध्रसर्जा.॥ ४॥
कुष्ठानि कृच्छ्राणि नव किलास सुरेन्द्रलुप्त किटिम सदद्रु।
भगन्दरार्शांस्यपचीं सपामां हन्युः प्रयुक्तास्त्वचिरान्नराणाम्॥ ६॥

यह उल्लेख गृह-धूम के लिए है किन्तु अनाचार के प्रकरण में जो धूम-नेत्र (धूम्र-पान की नली) का उल्लेख है, उसका सम्बन्ध चरकोक्त वैरेचनिक, स्नैहिक और प्रायोगिक धूम से है। प्रतिदिन धूम-पानार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को प्रायोगिकी-वर्ति, स्नेहनार्थ उपयुक्त होनेवाली वर्ति को स्नैहिकी-वर्ति और दोष-विरेचन के लिए उपयुक्त होनेवाली वर्ति को वैरेचनिकी-वर्ति कहा जाता है। प्रायोगिकी-वर्ति के पान की विधि इस प्रकार बतलाई गई है—घी आदि स्नेह से चुपड़ कर वर्ति का एक पार्श्व धूम-नेत्र पर लगाएँ और दूसरे पार्श्व पर आग लगाएँ। इस हितकर प्रायोगिकी-वर्ति द्वारा धूम-पान करें[1]।

उत्तराध्ययन के व्याख्याकारों ने धूम को मेनसिल आदि से सम्बन्धित माना है[2]। चरक में मेनसिल आदि के धूम को शिरो-विरेचन करने वाला माना गया है[3]।

धूम-नेत्र कैसा होना चाहिए, किसका होना चाहिए और कितना बड़ा होना चाहिए तथा धूम-पान क्यों और कब करना चाहिए, इनका पूरा विवरण प्रस्तुत प्रकरण में है। सुश्रुत के चिकित्सा-स्थान के चालीसवें अध्याय में धूम का विशद वर्णन है। वहाँ धूम के पाँच प्रकार बतलाए हैं।

चरकोक्त तीन प्रकारों के अतिरिक्त 'सघ्न' और 'वामनीय' ये दो और हैं।

सूत्रकृताङ्ग मे धूपन और धूम-पान दोनों का निषेध है[4]। शीलाङ्क सूरि ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि मुनि शरीर और वस्त्र को धूप न दे और खाँसी आदि को मिटाने के लिए योग-वर्ति-निष्पादित धूम न पीए[5]।

सूत्रकार ने धूप के अर्थ में 'धूवण' का प्रयोग किया है और सर्वनाम के द्वारा धूम के अर्थ में उसीको ग्रहण किया है। इससे जान पड़ता है कि तात्कालिक साहित्य मे धूप और धूम दोनों के लिए 'धूवण' शब्द का प्रयोग प्रचलित था। हरिभद्र सूरि ने भी इसका उल्लेख किया है।

प्रस्तुत श्लोक में केवल 'धूवण' शब्द का ही प्रयोग होता तो इसके धूप और धूम ये दोनों अर्थ हो जाते, किन्तु यहाँ 'धूव-णेत्ति' शब्द का प्रयोग है इसलिए इसका सम्बन्ध धूम-पान से ही होना चाहिए। वमन, विरेचन और वस्ति-कर्म के साथ 'धूम-नेत्र' का निकट सम्बन्ध है[6]। इसलिए प्रकरण की दृष्टि से भी 'धूपन' की अपेक्षा 'धूम-नेत्र' अधिक उपयुक्त है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'धूवणेत्ति' पाठ को मूल माना है[7] और 'धूमणेत्ति' को पाठान्तर। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ 'धूवणेत्ति' मान कर उसका संस्कृत रूप धूपन किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसका अर्थ धूम-पान भी किया है[8]। अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकारों के अनुसार मुख्य अर्थ धूम-पान है और धूप-खेना गौण अर्थ है। टीकाकार के अभिमत में धूप-खेना मुख्य अर्थ है और धूम-पान गौण। इस स्थिति में मूल पाठ का निश्चय करना कठिन होता है, किन्तु इसके साथ जुड़े हुए 'इत्ति' शब्द

१—चरक० सूत्र० ५.२१ : शुष्कां निगर्भां तां वर्ति धूमनेत्रार्पितां नर. ।
स्नेहाक्तामग्निसम्प्लुष्टां पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ॥

२—उत्त० १५.८ नेमि० वृ० प० २१७ धूम—मन शिलादिसम्बन्धि।

३—चरक० सूत्र० ५.२३ श्वेता जोतिष्मती चैव हरिताल मनःशिला ।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूम शीर्पविरेचनम् ॥

४—(क) सूत्र० २ १ १५ प० २६७ . णो धूवणे, णो त परिआविएज्जा।
(ख) वही २.४ ६७ प० ३७० णो धूवणित्त पिआइते।

५—सूत्र० २.१.१५ टी० प० २६६ : तथा नो शरीरस्य स्वीयवस्त्राणां वा धूपन कुर्यात् नापि कासाद्यपनयनार्थं त धूम योगवर्तिनिष्पादितमापिबेदिति।

६—चरक० सूत्र० ५.१७-३७

७—अ० चू० धूवणेत्ति सिलोगो।

८—हा० टी० प० ११८ · धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्, प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते।

की अर्थ-हीनता और उत्तराध्ययन में प्रयुक्त 'धूमणेत्त' के आधार[1] पर ऐसा लगता है कि मूल पाठ 'धूमणेत्त' या 'धूवणेत्त' रहा है। बाद में प्रतिलिपि होते-होते यह 'धूवणे' त्ति के रूप में बदल गया—ऐसा सम्भव है। प्राकृत के लिङ्ग अतन्त्र होते हैं, इसलिए सम्भव है यह 'धूवणेत्ति' या 'धूमणेत्ति' भी रहा हो।

बौद्ध-भिक्षु धूम-पान करने लगे तब महात्मा बुद्ध ने उन्हे धूम-नेत्र की अनुमति दी[2]। फिर भिक्षु सुवर्ण, रौप्य आदि के धूम-नेत्र रखने लगे[3]। इससे लगता है कि भिक्षुओं और सन्यासियों में धूम-पान के लिए धूम-नेत्र रखने की प्रथा थी, किन्तु भगवान् महावीर ने अपने निर्ग्रन्थों को इसे रखने की अनुमति नहीं दी।

४४. वमन, वस्तिकर्म, विरेचन (वमणे य[क] ···वत्थीकम्म विरेयणे[ख]) :

वमन का अर्थ है उल्टी करना, मदनफल आदि के प्रयोग से आहार को बाहर निकालना। इसे ऊर्ध्व-विरेक कहा है[4]।

अपान-मार्ग के द्वारा स्नेह आदि के प्रक्षेप को वस्तिकर्म कहा जाता है। आयुर्वेद में विभिन्न प्रकार के वस्तिकर्मों का उल्लेख मिलता है[5]। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार चर्म की नली को 'वस्ति' कहते हैं। उसके द्वारा स्नेह का चढ़ाना वस्तिकर्म है[6]। जिनदास और हरिभद्र ने भी यही अर्थ किया है[7]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार वस्तिकर्म कटि-वात, अर्श आदि को मिटाने के लिए किया जाता था[8]। विरेचन का अर्थ है—जुलाव के द्वारा मल को दूर करना। इसे अधो-विरेक कहा है[9]। इन्हें यहाँ अतिचार कहा है। इनका निषेध सूत्रकृताङ्ग में भी आया है[10]।

निशीथ-भाष्यकार के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए नहीं किन्तु मेरा वर्ण सुन्दर हो जाय, स्वर मधुर हो जाय, बल बढ़े अथवा मैं दीर्घ-आयु बनूं, मैं कृश होऊँ या स्थूल होऊँ—इन निमित्तों से वमन, विरेचन आदि करने वाला भिक्षु प्रायश्चित्त का भागी होता है[11]।

चूर्णिकारों ने वमन, विरेचन और वस्तिकर्म को अरोग-प्रतिकर्म कहा है। जिनदास ने रोग न हो, इस निमित्त से इनका सेवन

१—देखो पृ० ९३ पाद-टि० नं० ८

२—विनयपिटक : महावग्ग ६.२.७ : अनुजानामि, भिक्खवे, धूमनेत्त ति।

३—विनयपिटक : महावग्ग ६.२.७ : भिक्खू उच्चावचानि धूमनेत्तानि धारेन्ति—सोवण्णमयं रूपियमय।

४—(क) अ० चू० : वमणं छड्डण।

(ख) हा० टी० प० ११८ : वमन मदनफलादिना।

(ग) सूत्र० १.९.१२ टी० प० १८० : वमनम्—ऊर्ध्वविरेक।

५—चरक० सिद्धि० १

६—अ० चू० : वत्थीणिरोहादिदाणत्थं चम्ममयो णलियाउत्तो कीरति तेण कम्म अपाणाण सिणेहदिदाण वत्थिकम्म।

७—(क) जि० चू० पृ० ११५ : वत्थीकम्म नाम वत्थी दइओ भण्णइ, तेण दइएण घयाईणि अधिट्ठाणे दिज्जति।

(ख) हा० टी० प० ११८ : वस्तिकर्म्म पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदान।

८—नि० भा० गा० ४३३० चूर्णि पृ० ३६२ : कडिवायअरिसविणासणत्थं च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाण वत्थिकम्म।

९—(क) अ० चू० : विरेयणं कसायादीहिं सोधण।

(ख) हा० टी० प० ११८ : विरेचन दन्त्यादिना।

(ग) सूत्र० १.९.१२ टी० प० १८० : विरेचन—निरूहात्मकमधोविरेको।

१०—सूत्र० १.९.१२ : धोयण रयण चेव, वत्थीकम्मं विरेयणं।
वमणजण पलीमंथं, त विज्ज परिजाणिया॥

११—नि० भा० गा० ४३३१ : वण्ण-सर-रूव-मेहा, वगवलीपलित-णासणट्ठा वा।
दीहाउ तट्ठता वा, थूल-किसट्ठा व तं कुज्जा॥

अकल्प्य कहा है[1]। इसी आधार पर हमने इन तीनों शब्दों के अनुवाद के साथ 'रोग की सम्भावना से बचने के लिए, रूप, बल आदि को बनाए रखने के लिए' जोड़ा है।

निशीथ में वमन, विरेचन के प्रायश्चित्त-सूत्र के अनन्तर अरोग प्रतिकर्म का प्रायश्चित्त सूत्र है[2]।

रोग की सभावना से बचने की आकांक्षा और वर्ण, बल आदि की आकांक्षा भिन्न-भिन्न हैं।

वमन, वस्तिकर्म, विरेचन के निषेध के कारण ये दोनो प्रयोजन रहे हैं, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

४५. दंतवण (दंतवणे ग) :

श्लोक ३ में 'दन्तपहोयणा' अनाचार का उल्लेख है और यहाँ 'दन्तवणे' का। दोनों में समानता होने से यहाँ सयुक्त विवेचन किया जा रहा है।

'दन्तपहोयणा' का सस्कृत रूप 'दन्तप्रधावन' होता है। इसके निम्न अर्थ मिलते हैं

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इस शब्द का अर्थ काष्ठ, पानी आदि से दाँतों को पखालना किया है[3]।

(२) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दांतों का अंगुली आदि से प्रक्षालन करना किया है[4]। अगुली आदि में दन्तकाष्ठ शामिल नहीं है। उसका उल्लेख उन्होंने 'दन्तवण' के अर्थ मे किया है।

उक्त दोनों अर्थों में यह पार्थक्य ध्यान देने जैसा है। 'दन्तवण' के निम्न अर्थ किये गये हैं

(१) अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ दांतों की विभूषा करना किया है[5]।

(२) जिनदास ने इसे 'लोकप्रसिद्ध' कहकर इसके अर्थ पर कोई प्रकाश नहीं डाला। सभवत· उनका आशय दतवन से है।

(३) हरिभद्र सूरि ने इसका अर्थ दतकाष्ठ किया है[6]।

जिससे दांतों का मल घिस कर उतारा जाता है उसे दतकाष्ठ कहते हैं[7]।

'दतवण' शब्द देशी प्रतीत होता है। वनस्पति, वृक्ष आदि के अर्थ मे 'वन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सभव है काष्ठ या लकड़ी के अर्थ मे भी इसका प्रयोग होता हो। यदि इसे सस्कृत-सम माना जाय तो दत-पवन से दत-अवण=दतवण हो सकता है।

जिस काष्ठ खण्ड से दात पवित्र किये जाते हैं उसे दन्त (पा)वन कहा गया है[8]।

दतवन अनाचार का अर्थ दातुन करना होता है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने दोनो अनाचारों का अर्थ विलकुल भिन्न किया है पर 'दन्तवण' शब्द पर से 'दांतों की विभूषा' करना—यह

१—(क) अ० चू० : एतानि अरोग्गपडिकम्माणि रूवबलत्थमणातिण्ण।

(ख) जि० चू० पृ० ११५ एयाणि आरोग्गपरिकम्मनिमित्त वा ण कप्पइ।

२—नि० १३.४२, ४३, ४४ : जे भिक्खू वमण करेइ, करेत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू विरेयण करेइ, करेत वा सातिज्जति।
जे भिक्खू अरोगियपडिकम्म करेति, करेंत वा सातिज्जति।

३—(क) अ० चू० : दतपहोवण दताण कट्ठोदकादीहिं पक्खालण।

(ख) जि० चू० पृ० ११३ - दतपहोयणं णाम दताण कट्ठोदगादीहिं पक्खालणं।

४—हा० टी० प० ११७ : 'दन्तप्रधावन' चाङ्गुल्यादिना क्षालन।

५—अ० चू० : दंतमण दसणाण विभूषा।

६—हा० टी० प० ११८ : दन्तकाष्ठ च प्रतीत।

७—उपा० १.५ टी० पृ० ७ : दन्तमलापकर्षणकाष्ठम्।

८—प्रव० ४ .२१० टी० प० ५१ : दन्ता पूयन्ते—पवित्रा क्रियन्ते येन काष्ठखण्डेन तद्दन्तपावनम्।

नहीं निकला। हरिभद्र सूरि ने अंगुली और काष्ठ का भेद कर दोनों अनाचारों के अर्थों के पार्थक्य को रखा है, वह ठीक प्रतीत होता है।

सूत्रकृताङ्ग में 'दंतपक्खालण' शब्द मिलता है[1]। जिससे दांतों का प्रक्षालन किया जाता है—दांत मल-रहित किये जाते हैं, उस काष्ठ को दंत-प्रक्षालन कहते हैं[2]। कदम्ब काष्ठादि से दांतों को साफ करना भी दंत-प्रक्षालन है[3]।

शाब्दिक दृष्टि से विचार किया जाय तो दंतप्रधावन के अर्थ, दंत-प्रक्षालन की तरह, दतौन और दांतों को धोना दोनों हो सकते हैं जब कि दंतवन का अर्थ दतौन ही होता है। दोनों अनाचारों के अर्थ-पार्थक्य की दृष्टि से यहाँ 'दंतप्रधावन' का अर्थ दांतों को धोना और 'दंतवन' का अर्थ दातुन करना किया है।

सूत्रकृताङ्ग में कहा है : 'णो दंत पक्खालणेण दंत पक्खालेज्जा'। शीलाङ्क सूरि ने इसका अर्थ किया है—मुनि कदम्ब आदि के प्रक्षालन—दतौन से दांतों का प्रक्षालन न करे—उन्हें न धोए। यहाँ 'प्रक्षालन' शब्द के दोनों अर्थों का एक साथ प्रयोग है[4]। यह दोनों अनाचारों के अर्थ को समाविष्ट करता है।

अनाचारों की प्रायश्चित्त विधि निशीथ सूत्र में मिलती है। वहाँ दांतों से सम्बन्ध रखने वाले तीन सूत्र हैं[5]।

(१) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतों को एक दिन या प्रतिदिन घिसता है, वह दोष का भागी होता है।

(२) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतों का एक दिन या प्रतिदिन प्रक्षालन करता है या प्रधावन करता है, वह दोष का भागी होता है।

(३) जो भिक्षु विभूषा के लिए अपने दांतों को फूँक मारता है या रंगता है, वह दोष का भागी होता है।

इससे प्रकट है कि किसी एक दिन या प्रतिदिन दंतमंजन करना, दांतों को धोना, दंतवन करना, फूँक मारना और रंगना ये सब साधु के लिए निषिद्ध कार्य हैं इन कार्यों को करनेवाला साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

प्रो० अभ्यंकर ने 'दंतमण्ण' पाठ मान उसका अर्थ दांतों को रंगना किया है। यदि ऐसा पाठ हो तो उसकी आर्थिक तुलना निशीथ के दन्त-राग से हो सकती है।

आचार्य वट्टकेर ने प्रक्षालन, घर्षण आदि सारी क्रियाओं का 'दंतमण' शब्द से संग्रह किया है—अंगुली, नख, अवलेखिनी (दतौन) काली (तृण विशेष), पैनी, कंकणी, वृक्ष की छाल (वल्कल) आदि से दांत के मैल को शुद्ध नहीं करना, यह इन्द्रिय-संयम की रक्षा करने वाला 'अदंतमन' मूल गुणव्रत है[6]।

बौद्ध-भिक्षु पहले दंतवन नहीं करते थे। दंतवन करने से—(१) आँखों को लाभ होता है, (२) मुख में दुर्गन्ध नहीं होती, (३) रस वाहिनी नालियाँ शुद्ध होती हैं, (४) कफ और पित्त भोजन से नहीं लिपटते, (५) भोजन में रुचि होती है—ये पाँच गुण बता बुद्ध ने भिक्षुओं को दंतवन की अनुमति दी। भिक्षु लम्बी दंतवन करते थे और उसीसे श्रामणेरों को पीटते थे। 'दुक्कट' का दोष बता

१—सूत्र० १.९.१३ : गंधमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया॥

२—सूत्र० १.४.२.११ टी० प० ११८ : दन्ता प्रक्षाल्यन्ते—अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं दन्तकाष्ठम्।

३—सूत्र० १.९.१३ टी० प० १८० 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना।

४—सूत्र० २.१.१४ टी० प० २९९ : नो दन्तप्रक्षालनेन कदम्बादि काष्ठेन दन्तान् प्रक्षालयेत्।

५—नि० १५.१३१-३२ : जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते आघसेज्ज वा पघसेज्ज वा,……सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा,……सातिज्जति।
जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो दंते फूमेज्ज वा रएज्ज वा,……सातिज्जति।

६—मूलाचार : अंगुलि, णहावलेहिणी, कालीहिं पासाण-छल्लियादीहिं।
दंतमला सोहणाय, संजमगुत्ती अदंतमण॥

बुद्ध ने उत्कृष्ट में आठ अंगुल तक के दतवन की और जघन्य में चार अंगुल के दतवन की अनुमति दी[१]।

हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचारी के लिए दन्तधावन वर्जित है[२]। यतियों के लिए दन्तधावन का वैसा ही विधान रहा है जैसा कि गृहस्थों के लिए[३]। वहाँ दन्तधावन को स्नान के पहले रक्खा है और उसे स्नान और सन्ध्या का अङ्ग न मान केवल मुख-शुद्धि का स्वतंत्र हेतु माना है[४]। दतधावन की विधि इस प्रकार बताई गई है—अमुक वृक्ष की छाल सहित टहनी को ले। उसका अमुक लम्बा टुकड़ा करे। दांतों से उसका अग्रभाग कूंचे और कूंचा हो जाने पर दन्तकाष्ठ के उस अग्रभाग से दांतों को मलकर उन्हें साफ करे[५]। इस तरह दन्तधावन का अर्थ दन्तकाष्ठ से दांतों को साफ करना होता है और उसका वही अर्थ है जो अगस्त्यसिंह ने दन्तप्रधावना का किया है।

हिन्दू-शास्त्रों में दन्तधावन और दन्तप्रक्षालन के अर्थों में अन्तर मालूम देता है। केवल जल से मुख शुद्धि करना प्रक्षालन है और दन्तकाष्ठ से दाँत साफ करना दन्तधावन है[६]। नदी में या घर पर दन्तप्रक्षालन करने पर मंत्र का उच्चारण नहीं करना पड़ता पर दन्तधावन करने पर मंत्रोच्चारण करना पड़ता है : "हे वनस्पति ! मुझे लम्बी आयु, बल, यश, वर्चस्, सन्तान, पशु, धन, ब्रह्म (वेद), प्रज्ञा और मेधा प्रदान कर[७]।"

प्रतिपदा, पर्व-तिथियाँ (पूर्णिमा, अष्टमी, चतुर्दशी), छठ और नवमी के दिनों में दन्तधावन वर्जित कहा है[८]। श्राद्ध दिन, यज्ञ दिन, नियम दिन-उपवास या व्रत के दिनों में भी इसकी मनाही है[९]। इसीसे स्पष्ट है कि दन्तप्रधावन का हिन्दू शास्त्रों में भी धार्मिक क्रिया के रूप में विधान नहीं है। शुद्धि की क्रिया के रूप में ही उसका स्थान है।

१—विनयपिटक : चुल्लवग्ग ५.५.२ पृ० ४४४।

२—वशिष्ठ० ७.१५ : खट्वाशयनदन्तधावनप्रक्षालनाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी।

३—History of Dharmasastra vol II part II p 964 : Ascetics have to perform saucha brushing the teeth, bath, just as house-holders have to do

४—आह्निकप्रकाश पृ० १२१ : अत्र सध्यायां स्नाने च दन्तधावनस्य नाङ्गत्वम्'''इति वृद्धशातातपवचनेन स्वतंत्रस्यैव शुद्धि-हेतुयाभिधानात्।

५—गोभिलस्मृति १.१३८ : नारद्याद्युक्तवार्क्षं यदष्टाङ्गुलमपाटितम्।
सत्वच दंतकाष्ठं स्यात्तदग्रेण प्रधावयेत्॥

६—(क) गोभिलस्मृति १.१३७ : दन्तान् प्रक्षाल्य नद्यादौ गृहे चेत्तदमन्त्रवत्।
(ख) वही १.१३६ : परिजप्य च मन्त्रेण भक्षयेद्दन्तधावनम्॥

७—(क) गोभिलस्मृति १.१३७।
(ख) वही १.१३६।
(ग) वही १.१४० आयुर्बलं यशो वर्चः प्रजां पशून् वसूनि च।
ब्रह्म प्रज्ञां च मेधां च त्वं नो देहि वनस्पते॥

८—(क) लघुहारीत ४ पृ० १८३।
(ख) नृसिंह पुराण ५८.५०-५२ :
प्रतिपत्पर्वषष्ठीषु नवम्यां चैव सत्तमाः।
दन्तानां काष्ठसंयोगाद्दहत्या सप्तमं कुलम्॥
अभावे दन्तकाष्ठानां प्रतिषिद्धदिनेषु च।
अपां द्वादशगण्डूषैर्मुखशुद्धिं समाचरेत॥

९—स्मृति अर्थसार पृ० २५।

४६. गात्र-अभ्यङ्ग (गायाभंग घ) :

शरीर के तेलादि की मालिश करना[1]। निशीथ से पता चलता है कि उस समय गात्राभ्यङ्ग तैल, घृत, वसा—चर्बी और नवनीत से किया जाता था[2]।

४७. विभूषण (विभूसणे घ) :

सुन्दर-परिधान, अलङ्कार और शरीर की साजसज्जा, नख और केश काटना, वाल सवारना आदि विभूषा हैं[3]।

चरक में इसे 'सम्प्रसादन' कहा है।

केश, श्मश्रु (दाढी, मूँछ) तथा नखों को काटने से पुष्टि, वृष्यता और आयु की वृद्धि होती है तथा पुरुष पवित्र एवं सुन्दर रूप वाला हो जाता है[4]। 'सम्प्रसाधनम्' पाठ स्वीकार करने पर केश आदि को कटवाने से तथा कंघी देने से उपर्युक्त लाभ होते हैं।

निशीथ (तृतीय अ०) में अभ्यङ्ग, उद्वर्तन, प्रक्षालन आदि के लिए मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और भाष्य तथा परम्परा के अनुसार रोग-प्रतिकार के लिए ये विहित भी हैं। सम्भवतः इसमें सभी श्वेताम्बर एक मत हैं। विभूषा के निमित्त अभ्यङ्ग आदि करने वाले श्रमण के लिए चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[5]।

इस प्रायश्चित्त-भेद और पारंपरिक-अपवाद से जान पड़ता है कि सामान्यतः अभ्यङ्ग आदि निषिद्ध हैं; रोग-प्रतिकार के लिए निषिद्ध नहीं भी हैं और विभूषा के लिए सर्वथा निषिद्ध हैं। इसलिए विभूषा को स्वतन्त्र अनाचार माना गया है।

विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। भगवान् ने कहा है कि ब्रह्मचारी को विभूषानुपाती नहीं होना चाहिए। विभूषा करने वाला स्त्री-जन के द्वारा प्रार्थनीय होता है। स्त्रियों की प्रार्थना पाकर वह ब्रह्मचर्य में सविग्ध हो जाता है और आखिर में फिसल जाता है। विभूषा-वर्जन ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए नवी वाड है[6]। महाचार-कथा का अठारहवाँ वर्ज्य स्थान है (६ ६४-६६)। आत्म-गवेषी पुरुष के लिए विभूषा को तालपुट विषय कहा है (८ ५६)।

दश० (६.६५) में कहा है : "नग्न, मुंडित और दीर्घ रोम, नख वाले ब्रह्मचारी श्रमण के लिए विभूषा का कोई प्रयोजन ही नहीं है।" विभूषण जो अनाचार है उसमें सम्प्रसादन, सुन्दर-परिधान और अलङ्कार इन सबका समावेश हो जाता है।

१—(क) अ० चू० : गायब्भंगो सरीरब्भंगणमद्दणाईणि।
(ख) हा० टी० प० ११८ : गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना।

२—नि० ३.१८ : जे भिक्खू अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेतं वा भिलिंगेंतं वा सातिज्जति।

३—अ० चू० : विभूसण अलंकरणं।

४—चरक० सूत्र० ५.६६ : पौष्टिक वृष्यमायुष्य, शुचि रूपविराजनम्।
केशश्मश्रुनखादीनां कल्पन सम्प्रसादनम्॥

५—नि० १५.१०८ : जे भिक्खू विभूसावडियाए अप्पणो काय तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा भिलिंगेज्ज वा मक्खेंत वा भिलिंगेंतं वा सातिज्जति।

६—उत्त० १६.६ : नो विभूसाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। त कहमिति चे। आयरियाह। विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ ण इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे सका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्माय वा पाउणिज्जा दीहकालिय वा रोगायकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा।

श्लोक १० :

४८. संयम में लीन (संजमम्मि य जुत्ताणं ग) :

'युक्त' शब्द के सबद्ध, उद्युक्त, सहित, समन्वित आदि अनेक अर्थ होते हैं[१]। गीता (६.८) के शांकर-भाष्य में इसका अर्थ समाहित किया है[२]। हमने इसका अनुवाद 'लीन' किया है। तात्पर्यार्थ में संयम में लीन और समाहित एक ही हैं।

जिनदास महत्तर ने 'संजमम्मि य जुत्ताणं' के स्थान में 'सजम अणुपालता' ऐसा पाठ स्वीकार किया है। 'सजम अणुपालेंति'—ऐसा पाठ भी मिलता है। इसका अर्थ है—सयम का अनुपालन करते हैं, उसकी रक्षा करते हैं[३]।

४९. वायु की तरह मुक्त विहारी (लहुभूयविहारिणं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'लघु' का अर्थ वायु और 'भूत' का अर्थ सदृश किया है। जो वायु की तरह प्रतिबन्ध रहित विचरण करता हो वह 'लघुभूतविहारी' कहलाता है[४]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि भी ऐसा ही अर्थ करते हैं[५]।

आचाराङ्ग में 'लहुभूयगामी' शब्द मिलता है[६]। वृत्तिकार ने 'लहुभूय' का अर्थ 'मोक्ष' या 'संयम' किया है[७]। उनके अनुसार 'लघुभूतविहारी' का अर्थ मोक्ष के लिए विहार करने वाला या संयम में विचरण करने वाला हो सकता है।

श्लोक ११ :

५०. पंचाश्रव का निरोध करनेवाले (पंचासवपरिन्नाया क) :

जिनसे आत्मा में कर्मों का प्रवेश होता है उन्हें आश्रव कहते हैं। हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह—ये पाँच आश्रव हैं—इनसे आत्मा में कर्मों का स्राव होता है[८]।

आगम में कहा है : "प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन से जो विरत होता है वह अनाश्रव होता है। साथ ही जो पाँच समिति और तीन गुप्तियों से गुप्त है, कषायरहित है, जितेन्द्रिय है, गौरवशून्य है, निःशल्य है, वह अनाश्रव है[९]।"

१—हा० टी० प० ११८ : युक्तानाम्—अभियुक्तानां।

२—गीता शां० भा० ६.८ पृ० १७७ : 'युक्त इत्युच्यते योगी'—युक्त समाहितः।

३—जि० चू० पृ० ११५ : सजमो पुव्वभणिओ, अणुपालयति णाम त सजम रक्खयति।

४—अ० चू० : लहुभूतविहारिण लहु ज ण गुरु स पुण वायु, लहुभूतो लहुसरिसो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो तहा अपडिबद्धगामिणो।

५—(क) जि० चू० पृ० ११५ : भूता णाम तुल्ला, लहुभूतो लहु वाऊ तेण तुल्लो विहारो जेसिं ते लहुभूतविहारिणो।
(ख) हा० टी० प० ११८ : लघुभूतो—वायु, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिण.।

६—आचा० १.३.२ ७ : छिदिज्ज सोय लहुभूयगामी।

७—आचा० १.३.२ ७ वृत्ति पृ० १४८ : 'लघुभूतो' मोक्ष, सयमो वा त गन्तु शीलमस्येति लघुभूतगामी।

८—(क) अ० चू० : पच आसवा पाणातिवातादीणि पच आसवदाराणि।
(ख) जि० चू० पृ० ११५-६ : 'पच' त्ति सखा, आसवगहणेण हिंसादीणि पच कम्मस्सासवदाराणि गहियाणि।
(ग) हा० टी० प० ११८ : 'पञ्चाश्रवा' हिंसादय।

९—उत्त० ३०.२-३ : पाणिवहमुसावायाअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो॥
पचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो॥

आगमों में (१) मिथ्यात्व—मिथ्या दृष्टि, (२) अविरत—अत्याग, (३) प्रमाद—धर्म के प्रति अरुचि—अनुत्साह, (४) कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ और (५) योग—हिंसा, झूठ आदि प्रवृत्तियाँ—इनको भी आश्रव कहा है। हिंसा आदि पाँच योगाश्रव के भेद हैं।

'परिज्ञाता'—परिज्ञा दो हैं—ज्ञान-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा। जो पंचाश्रव के विषय में दोनों परिज्ञाओं से युक्त है—वह पंचाश्रवपरिज्ञाता कहलाता है[1]। किसी एक वस्तु को जानना ज्ञान-परिज्ञा है। पाप कर्मों को जानकर उन्हें नहीं करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है। निश्चयवक्तव्यता से जो पाप को जानकर पाप नहीं करता वही पापकर्म और आत्मा का परिज्ञाता है और जानते हुए भी जो पाप का आचरण करता है, वह पाप का परिज्ञाता नहीं है ; क्योंकि वह बालक की तरह अज्ञानी है। बालक अहित को नहीं जानता हुआ अहित में प्रवृत्त होता हुआ एकांत अज्ञानी होता है पर वह तो पाप को जानता हुआ उससे निवृत्त नहीं होता और उसमें अभिरमण करता है, फिर वह अज्ञानी कैसे नहीं कहा जायगा[2] ? पंचाश्रवपरिज्ञाता—अर्थात् जो पाँच आश्रवों को अच्छी तरह जानकर उन्हें छोड़ चुका है—उनका निरोध कर चुका है।

५१. तीन गुप्तियों से गुप्त (तिगुत्ता ख) :

मन, वचन और काया—इन तीनो का अच्छी तरह निग्रह करना क्रमशः मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियों से रक्षित है, वह त्रिगुप्त कहलाता है[3]।

५२. छः प्रकार के जीवों के प्रति संयत (छसु संजया ख) :

पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि, वनस्पति और त्रस प्राणी ये छः प्रकार के जीव हैं। इनके प्रति मन, वचन और काया से संयत—उपरत[4]।

१—(क) अ० चू० : परिण्णा दुविहा—जाणणापरिण्णा पच्चक्खाणपरिण्णा य, जे जाणणापरिण्णाए जाणिऊण पच्चक्खाणपरिण्णाए ठिता ते पंचासवपरिणाता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : ताणि दुविहपरिण्णाए परिण्णाताणि, जाणणापरिण्णाए पच्चक्खाणपरिण्णाए य ते पचासवा परिण्णाया भवंति।

(ग) हा० टी० प० ११८ : 'परिज्ञाता' द्विविधया परिज्ञया—ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परि—समन्तात् ज्ञाता यैस्ते पञ्चाश्रव-परिज्ञाता.।

२—जि० चू० पृ० ११६ : तत्थ जाणणापरिण्णा णाम जो ज किंचि अत्थं जाणइ सा तस्स जाणणापरिण्णा भवति, जहा पड जाणतस्स पडपरिण्णा भवति, घड जाणतस्स घडपरिण्णा भवति,. ..एसा जाणणापरिण्णा, पच्चक्खाणपरिण्णा नाम पावं कम्म जाणिऊण तस्स पावस्स ज अकरणं सा पच्चक्खाणपरिण्णा भवति, किंच—तेण चेवेक्केण पाव कम्म अप्पा य परिण्णाओ भवइ जो पावं नाऊण न करेइ, जो पुण जाणित्तावि पाव आयरइ तेण निच्छयवत्तव्वयाए पाव न परिण्णायं भवइ, कहं ? सो बालो इव अजाणओ दट्ठव्वो, जहा बालो अहिय अयाणमाणो अहिए पवत्तमाणो एगंतेणेव अयाणओ भवइ तहा सोवि पाव जाणिऊण ताओ पावाओ न णियत्तइ तंमि पावे अभिरमइ।

३—(क) अ० चू० : मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : तिविहेण मणवयणकायजोगे सम्मं निग्गहपरमा।

(ग) हा० टी० प० ११८ : 'त्रिगुप्ता' मनोवाक्कायगुप्तिभिः गुप्ता।

४—(क) अ० चू० : छसुपुढविकायादिसु त्रिकरणएकभावेण जता सजता।

(ख) जि० चू० पृ० ११६ : छसु पुढविकायाइसु सोहणेणं पगारेणं जता संजता।

(ग) हा० टी० प० ११८ : षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यताः।

५३. पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करने वाले (पंचनिग्गहणा ग) :

श्रोत्र-इन्द्रिय (कान), चक्षु-इन्द्रिय (आँख), घ्राण-इन्द्रिय (नाक), रसना-इन्द्रिय (जिह्वा) और स्पर्शन-इन्द्रिय (त्वचा)—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँच इन्द्रियों का दमन करनेवाले—पचनिग्रही कहलाते हैं[1]।

५४. धीर (धीरा ग) :

धीर और शूर एकार्थक हैं[2]। जो बुद्धिमान् हैं, स्थिर हैं, वे धीर कहलाते हैं[3]। स्थविर अगस्त्य सिंह ने 'वीरा' पाठ माना है, जिसका अर्थ शूर विक्रान्त होता है[4]।

५५. ऋजुदर्शी (उज्जुदंसिणो घ) :

'उज्जु' का अर्थ सयम और सम है। जो केवल सयम को देखते हैं—सयम का ध्यान रखते हैं तथा जो स्व और पर में समभाव रखते हैं, उन्हें 'उज्जुदंसिणो' कहते हैं[5]। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है। अगस्त्य सिंह स्थविर ने इसके राग-द्वेष रहित, अविग्रहगति-दर्शी और मोक्षमार्गदर्शी अर्थ भी किए हैं[6]।

मोक्ष का सीधा रास्ता सयम है। जो सयम में ऐसा विश्वास रखते हैं उन्हें ऋजुदर्शी कहते हैं[7]।

श्लोक १२ :

५६. ग्रीष्म में···प्रतिसंलीन होते हैं (आयावयंति···पडिसंलीणा क-ग) :

श्रमण की ऋतु-चर्या में तपस्या का प्राधान्य होता है। जिस ऋतु में जो परिस्थिति सयम में बाधा उत्पन्न करे उसे उसके प्रतिकूल आचरण द्वारा जीता जाए। श्रमण की ऋतुचर्या के विधान का आधार यही है। ऋतु के मुख्य विभाग तीन हैं : ग्रीष्म, हेमन्त और वर्षा। ग्रीष्म ऋतु में आतापना लेने का विधान है। श्रमण को ग्रीष्म ऋतु में स्थान, मौन और वीरासन आदि अनेक प्रकार के तप करने चाहिए। यह उनके लिए है जो आतापना न ले सकें और जो आतापना ले सकते हों उन्हें सूर्य के सामने मुह कर, एक पैर पर दूसरा पर टिका कर—एक पादासन कर, खड़े-खड़े आतपना लेनी चाहिए[8]। जिनदास महत्तर ने उकडू आसन में आतापना की मुख्यता दी है। जो वैसा न कर सकें वे अन्य तप करें[9]।

१—(क) अ० चू० : पच सोतादीणि इदियाणि णिगिण्हति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : पचण्ह इदियाण निग्गहणता।
(ग) हा० टी० प० ११६ : निगृह्णन्तीति निग्रहणा कर्तरि ल्युट् पञ्चानां निग्रहणा पञ्चनिग्रहणाः, पञ्चानामितीन्द्रियाणां।

२—जि० चू० पृ० ११६ : धीरा णाम धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा।

३—हा० टी० प० ११६ : 'धीरा' बुद्धिमन्त स्थिरा वा।

४—अ० चू० : वीरा सूरा विक्रान्ता।

५—जि० चू० पृ० ११६ : उज्जु—सजमो भण्णइ तमेव एग पासतीति तेण उज्जुदंसिणो, अहवा उज्जुत्ति सम भण्णइ, समसप्पाण पर च पासतित्ति उज्जुदंसिणो।

६—अ० चू० : उज्जु—सजमो समया वा, उज्जू—राग दोसपक्खविरहिता अविग्गहगती वा, उज्जू—मोक्खमग्गो त पस्सतीति उज्जुदंसिणो, एव च ते भगवतो गच्छविरहिता उज्जुदंसिणो।

७—हा० टी० प० ११६ : 'ऋजुदर्शिन' इति ऋजुर्मोक्ष प्रति ऋजुत्वात्सयमस्त पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिन —सयम-प्रतिबद्धा।

८—(क) अ० चू० : गिम्हासु ठाण मोणवीरासणादि अणेग विध तव करेति, विसेसेण तु सूराभिमुहा एगपादट्ठिता उद्धबाहू आतावेंति।
(ख) हा० टी० प० ११६ : आतापयन्ति—ऊर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति।

९—जि० चू० पृ० ११६ : गिम्हेसु उद्धबाहुउक्कुडुगासणादीहिं आयावेंति, जेवि न आयावेंति ते अण्ण तवविसेस कुव्वन्ति।

हेमन्त ऋतु में अप्रावृत होकर प्रतिमा-स्थित होना चाहिए। यदि अप्रावृत न हो सके तो प्रावरण सीमित करना चाहिए[1]।

वर्षा ऋतु में पवन रहित स्थान में रहना चाहिए, ग्रामानुग्राम विहार नहीं करना चाहिए[2]। स्नेह—सूक्ष्म जल के स्पर्श से बचने के लिए शिशिर में निवात-लयन का प्रसंग आ सकता है। भगवान् महावीर शिशिर में छाया में बैठकर और ग्रीष्म में ऊकड़ू आसन से बैठ, सूर्याभिमुख हो आतापना लेते थे[3]।

श्लोक १३ :

५७. परीषह (परीसह क) :

मोक्ष-मार्ग से च्युत न होने तथा कर्मों की निर्जरा के लिए जिन्हें सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिए वे परीषह हैं[4]। वे क्षुधा, तृषा आदि बाईस हैं[5]।

५८. धुत-मोह (धुयमोहा ख) :

अगस्त्य सिंह ने 'धुतमोह' का अर्थ विकीर्णमोह, जिनदास ने जितमोह और टीकाकार ने विक्षिप्तमोह किया है। मोह का अर्थ अज्ञान किया गया है[6]। 'धुत' शब्द के कम्पित, त्यक्त, उच्छलित आदि अनेक अर्थ होते हैं।

जैन और बौद्ध साहित्य में 'धुत' शब्द बहुत व्यवहृत है। आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कध) के छठे अध्ययन का नाम भी 'धुय' है। नियुक्तिकार के अनुसार जो कर्मों को धुनता है, प्रकम्पित करता है, उसे भाव-धुत कहते हैं[7]। इसी अध्ययन में 'धुतवाद' शब्द मिलता है[8]। 'धुतवाद' का अर्थ है, कर्म को नाश करने वाला वाद।

बौद्ध-साहित्य में 'धुत' 'धुतांग' 'धुतांगवादी' 'धुतगुण' 'धुतवाद' 'धुतवादी' आदि विभिन्न प्रकार से यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्लेशों के अपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत तापस होते थे। जिनको वैखानस कहते थे। बौद्ध-भिक्षुओं में भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतांग' कहते हैं। 'धुतांग' १३ होते हैं : वृक्षमूल-निकेतन, अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकासवास, पांशु-कूल-धारण आदि।

१—(क) अ० चू० : हेमते अग्गिणिवातसरणविरहिता तहा तवो वीरिय संपण्णा अवगुता पडिम ठायति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : हेमंते पुण अपंगुला पडिम ठायति, जेवि सिसिरे णावगुडिता पडिम ठायति तेवि विधीए पाउणति।
(ग) हा० टी० प० ११६ : 'हेमन्तेषु' शीतकालेषु 'अप्रावृता' इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति।

२—(क) अ० चू० : सदा इंदियनोइंदियपरिसमल्लीणा विसेसेण सिणेहसंघट्टपरिहरणत्थ णिवातलतणगता वासासु पडिसंलीणा गामाणुगाम दूतिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० ११६ : वासासु पडिसल्लीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थ, तवविसेसेसु उज्जमती, नो गामनगराइसु विहरति।
(ग) हा० टी० प० ११६ : वर्षाकालेषु 'सलीना' इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।

३—आचा० १.९.४.९७-९८ : सिसिरंमि एगया भगव छायाए झाइ आसीय।
आयावइ य गिम्हाण अच्छइ उक्कुडुए अभित्तावे॥

४—तत्त्वा० ९ ८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

५—उत्त० द्वि० अध्य०

६—(क) अ० चू० : धुतमोहा विकिण्णमोहा। मोहो मोहणीयमण्णाणं वा।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ 'धुयमोहा' नाम जितमोहत्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० ११६ : 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थ, मोह—अज्ञानम्।

७—आचा० नि० गा० २५१ : जो विहुणइ कम्माइं भावधुय त वियाणाहि॥

८—आचा० १.६.१.१७६ : आयाण भो सुस्सूस ! भो धुयवाय पवेयइस्सामि।

५६. सर्व दुःखों के (सव्वदुक्ख ग) :

चूर्णियों और टीका में इसका अर्थ सर्व शारीरिक और मानसिक दुःख किया गया है[1]। उत्तराध्ययन के अनुसार जन्म, जरा, रोग और मरण दुःख हैं। यह संसार ही दुःख है जहाँ प्राणी क्लिष्ट होते हैं[2]। उत्तराध्ययन में एक जगह प्रश्न किया है : "शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अव्याबाध स्थान कौन-सा है ?" इसका उत्तर दिया है : "लोकाग्र पर एक ऐसा ध्रुव स्थान है जहाँ जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना नहीं हैं। यही सिद्धि-स्थान या निर्वाण क्षेत्र, शिव और अव्याबाध है[3]।"

उत्तराध्ययन में अन्यत्र कहा है—"कर्म ही जन्म और मरण के मूल हैं। जन्म और मरण ये ही दुःख हैं[4]।"

जितेन्द्रिय महर्षि जन्म-मरण के दुःखों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् उनके आधार-भूत कर्मों के क्षय के लिए प्रयत्न करते हैं। कर्मों के क्षय से सारे दुःख अपने आप क्षय को प्राप्त हो जाते हैं।

६०. (पक्कमंति महेसिणो घ) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान पर 'ते वदंति सिवं गतिं' यह पाठ है और अध्ययन की समाप्ति इसीसे होती है। उसके अनुसार कुछ आचार्य अग्रिम दो श्लोकों को वृत्तिगत मानते हैं और कई आचार्य उन्हें मूल-सूत्र मानते हैं। जो उन्हें मूल मानते हैं उनके अनुसार तेरहवें श्लोक का चतुर्थ चरण 'पक्कमंति महेसिणो'[5] है।

'ते वदंति सिवं गतिं' का अर्थ है—वे शिवगति को प्राप्त होते हैं।

१—(क) अ० चू० : सारीर-माणसाणि अणेगागाराणि सव्वदुक्खाणि।

(ख) जि० चू० पृ० ११७ सव्वदुक्खप्पहीणट्ठानाम सव्वेसिं सारीरमाणसाण दुक्खाण पहाणाय, खमणनिमित्तंति वुत्त भवइ।

(ग) हा० टी० प० ११६ : 'सर्वदुःखप्रक्षयार्थं' शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्त।

२—उत्त० १६.१५ : जम्म दुक्ख जरा दुक्ख रोगाणि मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारो जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥

३—उत्त० २३ ८०-८४ :

सारीरमाणसे दुक्खे बज्झमाणाण पाणिण।
खेम सिवमणाबाह ठाण किं मन्नसी मुणी॥
अत्थि एग धुव ठाण लोगग्गमि दुरारुह।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू वाहिणो वेयणा तहा॥
ठाणे य इइ के वुत्ते केसी गोयममब्बवी।
केसिमेव बुवत तु गोयमो इणमब्बवी॥
निव्वाण ति अबाह ति सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेम सिव अणाबाह ज चरन्ति महेसिणो॥
त ठाण सासय वास लोयग्गमि दुरारुह।
ज सपत्ता न सोयन्ति भवोहन्तकरा मुणी॥

४—उत्त० ३२ ७ : कम्म च जाईमरणस्स मूल दुक्ख च जाईमरण वयन्ति।

५—अ० चू० : 'ते वदति सिव गतिं' : "केसिंचि "सिव गति वदती" ति एतेण फलोवदरिसणोवसंहारेण परिसमत्तमिणमज्झयणं, इति बेमि त्ति सद्दो जं पुव्वभणित, तेसिं वृत्तिगतमिदमुपरितण सिलोकदुय। केसिंचि सूत्रम्, जेसिं सूत्र, ते पढति सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमति महेसिणो।

श्लोक १४ :

६१. दुष्कर (दुक्कराइं क) :

टीका के अनुसार औद्देशिकादि के त्याग आदि दुष्कर हैं[1]। श्रामण्य में क्या-क्या दुष्कर हैं इसका गम्भीर निरूपण उत्तराध्ययन में है[2]।

६२. दुःसह (दुस्सहाइं ख) :

आतापना, आक्रोश, तर्जना, ताड़ना आदि दुःसह्य हैं[3]। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है : "बहुत-सारे परीषह दुःसह होते हैं। कायर मनुष्य उनसे विषाद को प्राप्त होता है। भिक्षु उनके उपस्थित होने पर व्यथा-ग्रस्त नहीं होता जिस तरह की नागराज संग्राम के मोर्चे पर। उनके सहन करने से भिक्षु पूर्व संचित रज का क्षय कर देता है[4]।"

६३. नीरज (नीरिया घ) :

सांसारिक प्राणी की आत्मा में कर्म-पुद्गलों की रज, कुंपी में काजल की तरह, भरी हुई होती है। उसे सम्पूर्ण बाहर निकाल—कर्म-रहित हो। अर्थात् अष्टविध कर्मों का ऐकान्तिक आत्यन्तिक क्षय कर[5]। 'केइ सिज्झन्ति नीरया' की तुलना उत्तराध्ययन के (१८.५४ के चौथे चरण) 'सिद्धे भवइ नीरए' के साथ होती है।

श्लोक १५ :

६४. संयम और तप द्वारा...कर्मों का क्षयकर (खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य क, ख) :

जो इसी भव में मोक्ष नहीं पाते वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं। वहाँ से पुनः मनुष्य-भव में उत्पन्न होते हैं। मनुष्य-भव में वे संयम और तप द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

कर्मक्षय के दो तरीके हैं—एक नये कर्मों का प्रवेश न होने देना, दूसरा संचित कर्मों का क्षय करना। संयम संवर है। वह नये कर्मों के प्रवेश को—आश्रव को रोक देता है। तप पुराने कर्मों को झाड़ देता है। वह निर्जरा है।

"जिस तरह महा तलाब के जल जाने के मार्गों को रोक देने पर उत्सिंचन और धूप से वह सूख जाता है उसी तरह निराश्रवसंयत के करोड़ों भवों के सञ्चित पाप कर्म तप से निर्जरा को प्राप्त होते हैं[6]।"

१—(क) अ० चू० : दुक्करं कज्जति दुक्कराणि ताइं करेंता।
(ख) हा० टी० प० ११६ : दुष्कराणिकृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि।

२—उत्त० १६.२४-४२

३—(क) अ० चू० : 'आतावयति गिम्हासु' एवमादीणि दुस्सहादीणि [सहेत्तु य]।
(ख) जि० चू० पृ० ११७ : आतापनाअकडूयनाक्रोशतर्जनाताडनाधिसहनादीनि, दूसहाइं सहिउं।
(ग) हा० टी० प० ११६ दुःसहानि सहित्वाऽऽतापनादीनि।

४—उत्त० २१.१७-१८ : परीसहा दुव्विसहा अणेगे सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू संगामसीसे इव नागराया॥
... ... ।
... ... रयाइं खेवेज्ज पुरे कयाइं॥

५—(क) जि० चू० पृ० ११७ : णीरया नाम अट्ठकम्मपगडीविमुक्का भण्णंति।
(ख) हा० टी० प० ११६ : 'नीरजस्का' इति अष्टविधकर्मविप्रमुक्ताः, न तु एकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ताः।

६—उत्त० ३०.५-६ : जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे। उस्सिंचणाए तवणाए कमेणं सोसणा भवे॥
एवं तु संजयस्सावि पावकम्मनिरासवे। भवकोडीसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ॥

इस तरह संयम और तप आत्म-शुद्धि के दो मार्ग हैं। संयम और तप के साधनों से धर्माराधना करने का उल्लेख अन्यत्र भी है[१]। भावार्थ है—मनुष्य-भव प्राप्त कर संयम और तप के द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ मनुष्य पूर्व कर्मों का क्रमशः क्षय करता हुआ उत्तरोत्तर सिद्धि-मार्ग को प्राप्त करता है[२]।

६५. सिद्धि-मार्ग को प्राप्त कर (सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता ग) :

अर्थात्—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी सिद्धि मार्ग को प्राप्त कर[३]—उसकी साधना करते हुए।

केशी ने गौतम से पूछा : "लोक में कुपथ बहुत हैं, जिनके अनुसरण से जन नाश को प्राप्त होते हैं। वह कौन-सा मार्ग है जिस पर आप उपस्थित हैं और नाश को प्राप्त नहीं होंगे?" गौतम ने उत्तर दिया : "मुझे मार्ग और उन्मार्ग दोनों का ज्ञान है।" "वह मार्ग कौन-सा है?" केशी ने पूछा। गौतम बोले : "जिनाख्यात मार्ग सन्मार्ग है। यही उत्तम मार्ग है। और सब उन्मार्ग हैं[४]।"

उत्तराध्ययन में 'मोक्खमग्गगई'—मोक्षमार्गगति नामक २८ वाँ अध्याय है। वहाँ जिनाख्यात मोक्षमार्ग—सिद्धिमार्ग को चार कारणों से संयुक्त और ज्ञानदर्शन लक्षणवाला कहा है[५]। वहाँ कहा है : "श्रेष्ठदर्शी जिन ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपको मार्ग कहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के मार्ग को प्राप्त कर जीव सुगति को जाते हैं। दर्शन-रहित व्यक्ति के ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चरण-गुण नहीं होता, चरण-गुण से हीन के मोक्ष नहीं होता। जिसके मोक्ष नहीं उसे निर्वाण नहीं होता। ज्ञान से भाव जाने जाते हैं। दर्शन से उन पर श्रद्धा की जाती है। चारित्र से कर्मों का निग्रह किया जाता है। तप से आत्मा को कर्म-मल से रिक्त कर शुद्ध किया जाता है[६]।"

६६. परिनिर्वृत (परिनिव्वुडा घ) :

'परिनिर्वृत' का अर्थ है जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त[७]। भवधारण करने में सहायभूत घाति कर्मों का सर्व प्रकार से क्षय कर जन्मादि से रहित होना[८]। हरिभद्र सूरि ने मूल पाठ की टीका 'परिनिर्वान्ति' की है और 'परिनिव्वुड' को पाठान्तर माना है। 'परिनिर्वान्ति' का अर्थ सब प्रकार से सिद्धि को प्राप्त होते हैं—किया है[९]।

१—उत्त० १६ ७७, २५ ४५, २८ ३६

२—जि० चू० पृ० ११७ : सिद्धिमग्गमणुपत्ता नाम जहा ते तवनियमेहिं कम्मरयत्तणट्ठमब्भुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता भण्णंति।

३—(क) अ० चू० : सिद्धिमग्ग दरिसण-नाण-चरित्तमत्त अणुप्पत्ता।

(ख) हा० टी० प० ११६ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ता।

४—उत्त० २३.६०,६३ : कुप्पहा बहवो लोए जेहिं नासन्ति जन्तुणो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते त न नाससि गोयमा॥
कुप्पवयणपासण्डी सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्ग तु जिणक्खाय एस मग्गे हि उत्तमे॥

५—उत्त० २८.१ : मोक्खमग्गगइ तच्च सुणेह जिणभासिय।
चउकारणसजुत्त नाणदसणलक्खण॥

६—उत्त० २८.२,३,३०,३५ : नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदसिहिं॥
नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा।
एयमग्गमणुप्पत्ता जीवा गच्छन्ति सोग्गइ॥
नादसणिस्स नाण नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण॥
नाणेण जाणई भावे दसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ तवेण परिसुज्झई॥

७—जि० चू० पृ० ११७ : परिनिव्वुडा नाम जाइजरामरणरोगादीहिं सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति वुत्त भवइ।

८—अ० चू० : परिणिव्वुता समता णिव्वुता सव्वप्पकारोघाति-भवधारणकम्मपरिक्खते।

९—हा० टी० प० ११६ : 'परिनिर्वान्ति' सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति, अन्ये तु पठन्ति 'परिनिव्वुड' त्ति, तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायान्।

श्लोक १४ और १५ में मुक्ति-क्रम की एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। दुष्कर को करते हुए और दुःसह को सहते हुए श्रमण वर्तमान जन्म में ही यदि सब कर्मों का क्षय कर देता है तब तो वह उसी भव में सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यदि सब कर्मों का क्षय नही कर पाता तो देवलोक में उत्पन्न होता है। वहाँ से च्यवकर वह पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है। सुकुल को प्राप्त करता है। धर्म के साधन उसे सुलभ होते हैं। जिन प्ररूपित धर्म को पुन. पाता है, इस तरह सयम और तप से कर्मों का क्षय करता हुआ वह सम्पूर्ण सिद्धि-मार्ग—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—को प्राप्त हो अवशेष कर्मों का क्षय कर जरा-मरण-रोग आदि सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित हो मुक्त होता है। जघन्यतः एक भव में और उत्कृष्टतः सात-आठ भव ग्रहण कर मुक्त होता है[1]। इस क्रम का उल्लेख आगमों में अनेक स्थलों पर है[2]।

इस अध्ययन के श्लोक १३ और १५ की तुलना उत्तराध्ययन के निम्नलिखित श्लोको से होती है :

खवेत्ता पुव्वकम्माइं सजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमन्ति महेसिणो[3] ॥
खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
जयघोसविजयघोसा सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं[4] ॥

१—(अ) अ० चू० : कदाति अणतरे उक्कोसेण सत्त-ऽट्ठभवग्गणेसु सुकुलपच्चायाता वोधिमुवभित्ता।

(ख) जि० चू० पृ० ११७ : केइ पुण तेण भवग्गहणेण सिज्झति,'' तत्थ जे तेणेव भवग्गहणेण न सिज्झति ते वेमाणिएसु उववज्जति, तत्तोवि य चइऊण धम्मचरणकाले पुव्वकयसावसेसेण सुकुलेसु पच्चाययति, तओ पुणोवि जिणपण्णत्तं धम्मं पडिवज्जिऊण जहण्णेण एगेण भवग्गहणेण उक्कोसेण सत्तहि भवग्गहणेहि 'जाणि तेसिं तत्थ सावसेसणि कम्माणि ताणि सजमतवेहि खविऊण'' जहा ते तवनियमेहि कम्मखवणट्ठमब्भुज्जुत्ता अओ ते सिद्धिमग्गमणुपत्ता''' 'जाइजरामरणरोगादीहि सव्वप्पगारेणवि विप्पमुक्कत्ति।

(ग) हा० टी० प० ११६ : टीका में भी ऐसे ही क्रम का उल्लेख है।

२—उत्त० ३ १४-२०

३—वही २८ ३६

४—वही २५.४५

चउत्थं अज्झयणं

छज्जीवणिया

चतुर्थ अध्ययन

षड्जीवनिका

आमुख

श्रामण्य का आधार है आचार। आचार का अर्थ है अहिंसा। अहिंसा अर्थात् सभी जीवों के प्रति संयम—

अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्व जीवेसु संजमो ॥ (दश० ६.८)

जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव और अजीव दोनों को नहीं जानता, वह संयम को कैसे जानेगा ?

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहिइ संजमं ॥ (दश० ४.१२)

संयम का स्वरूप जानने के लिए जीव-अजीव का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए आचार-निरूपण के पश्चात् जीव-निकाय का निरूपण क्रम-प्राप्त है।

इस अध्ययन में अजीव का साक्षात् वर्णन नहीं है। इस अध्ययन के नाम—"छज्जीवणियं"—में जीव-निकाय के निरूपण की ही प्रधानता है ; किन्तु अजीव को न जानने वाला संयम को नहीं जानता (दश० ४.१२) और निर्युक्तिकार के अनुसार इसका पहला अधिकार है जीवाजीवाभिगम (दश० नि० ४ २१६) इसलिए अजीव का प्रतिपादन अपेक्षित है। अहिंसा या संयम के प्रकरण में अजीव के जिस प्रकार को जानना आवश्यक है वह है पुद्‌गल।

पुद्‌गल-जगत् सूक्ष्म भी है और स्थूल भी। हमारा अधिक सम्बन्ध स्थूल पुद्‌गल-जगत् से है। हमारा दृश्य और उपभोग्य ससार स्थूल पुद्‌गल-जगत् है। वह या तो जीवच्छरीर है या जीव-मुक्त शरीर। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस(चर)—ये जीवों के शरीर हैं। जीवच्युत होने पर ये जीव-मुक्त शरीर बन जाते हैं।

"अन्नत्थ सत्थ परिणएणं" इस वाक्य के द्वारा इन दोनों दशाओं का दिशा-निर्देश किया गया है। शस्त्र-परिणति या मारक वस्तु के संयोग से पूर्व ये पृथ्वी, पानी आदि पदार्थ सजीव होते हैं और उनके संयोग से जीवच्युत हो जाते हैं—निर्जीव बन जाते हैं। तात्पर्य की भाषा मे पृथ्वी, पानी आदि की शस्त्र-परिणति की पूर्ववर्ती दशा सजीव है और उत्तरवर्ती दशा अजीव। इस प्रकार उक्त वाक्य इन दोनों दशाओं का निर्देश करता है। इसलिए जीव और अजीव दोनो का अभिगम स्वतः फलित हो जाता है।

पहले ज्ञान होता है फिर अहिंसा—"पढमं नाणं तओ दया" (दश० ४ १०)। ज्ञान के विकास के साथ-साथ अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा साधन है। साध्य के पहले चरण से उसका प्रारम्भ होता है और उसका पूरा विकास होता है साध्य-सिद्धि के अन्तिम चरण में। जीव और अजीव का अभिगम अहिंसा का आधार है और उसका फल है—मुक्ति। इन दोनों के बीच में होता है उनका साधना-क्रम। इस विषय-वस्तु के आधार पर निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन को पाँच (अजीवाभिगम को पृथक् माना जाए तो छह) अधिकारों—प्रकरणों मे विभक्त किया है—

जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाइ अहिगारा ॥ (दश० नि० ४ २१६)

नवें सूत्र तक जीव और अजीव का अभिगम है। दसवें से सत्रहवें सूत्र तक चारित्र-धर्म के स्वीकार की पद्धति का निरूपण है। अठारहवें से तेइसवें सूत्र तक यतना का वर्णन है। पहले से ग्यारहवें श्लोक तक बन्ध और अबन्ध की प्रक्रिया का उपदेश है। बारहवें श्लोक से पचीसवें श्लोक तक धर्म-फल की चर्चा है। मुक्ति का अधिकारी साधक ही होता है असाधक नहीं, इसलिए वह मुक्ति-मार्ग की आराधना करे, विराधना से बचे,—इस उपसंहारात्मक वाणी के साथ-साथ अध्ययन समाप्त हो जाता है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्म-प्रज्ञप्ति, चरित्र-धर्म, चरण और धर्म—ये छहों 'षड्जीवनिका' के पर्यायवाची शब्द हैं :—

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे अ एगट्ठा॥ (दश० नि० ४.२३३)

मुक्ति का आरोह-क्रम जानने की दृष्टि से यह अध्ययन बहुत उपयोगी है। निर्युक्तिकार के मतानुसार यह आत्म-प्रवाद (सातवें) पूर्व से उद्धृत किया गया है—

आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती॥ (दश० नि० १.१६)

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।	श्रुत मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह खलु षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्म-प्रज्ञप्तिः ॥ १ ॥	१—आयुष्मन्[1] ! मैंने सुना है उन भगवान् ने[2] इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में निश्चय ही षड्जीवनिका नामक अध्ययन काश्यप-गोत्री[3] श्रमण भगवान् महावीर द्वारा[4] प्रवेदित[5] सु-आख्यात[6] और सु-प्रज्ञप्त[7] है। इस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन[8] का पठन[9] मेरे लिए[10] श्रेय है।
२—कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती।	कतरा खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्म-प्रज्ञप्तिः ॥ २ ॥	२—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन कौन-सा है जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है ?
३—इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणं धम्मपन्नत्ती तं जहा—पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तस-काइया।	इयं खलु सा षड्जीवनिका नामाध्ययनं श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता स्वाख्याता सुप्रज्ञप्ता श्रेयो मेऽध्येतुमध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः तद्यथा—पृथिविकायिकाः अप्कायिकाः तेजस्कायिकाः वायुकायिकाः वनस्पति-कायिकाः त्रसकायिकाः ॥ ३ ॥	३—वह षड्जीवनिका नामक अध्ययन—जो काश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त है, जिस धर्म-प्रज्ञप्ति अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेय है—यह है जैसे—पृथ्वीकायिक, अप्-कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वन-स्पतिकायिक और त्रसकायिक[11]।

४—पुढवी चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।

पृथिवी चित्तवती आख्याता अनेकजीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणतायाः ॥ ४ ॥

४—शस्त्र[१२]-परिणति से पूर्व[१३] पृथ्वी चित्तवती[१४] कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली[१५] है।

५—आऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।

आपश्चित्तवत्यः आख्याता अनेक-जीवा पृथक्सत्त्वा अन्यत्र शस्त्र-परिणताभ्यः ॥ ५ ॥

५—शस्त्र-परिणति से पूर्व अप् चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाला है।

६—तेऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।

तेजश्चित्तवत् आख्यातम् अनेक-जीवम् पृथक्सत्त्वम् अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥ ६ ॥

६—शस्त्र-परिणति से पूर्व तेजस् चित्तवान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाला है।

७—वाऊ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।

वायुश्चित्तवान् आख्यातः, अनेक-जीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् ॥ ७ ॥

७—शस्त्र-परिणति से पूर्व वायु चित्त-वान् कहा गया है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाला है।

८—वणस्सई चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीय-रुहा सम्मुच्छिमा तणलया वणस्सइ-काइया सबीया चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता अन्नत्थ सत्थ-परिणएणं।

वनस्पतिश्चित्तवान् आख्यातः अनेकजीवः पृथक्सत्त्वः अन्यत्र शस्त्र-परिणतात् तद्यथा—अग्रबीजाः मूल-बीजाः पर्वबीजाः स्कन्धबीजाः बीज-रुहा सम्मूर्च्छिमाः तृणलताः वनस्पति-कायिकाः सबीजाः चित्तवन्त आख्याताः अनेकजीवाः पृथक्सत्त्वाः अन्यत्र शस्त्र-परिणतेभ्यः ॥ ८ ॥

८—शस्त्र-परिणति से पूर्व वनस्पति चित्तवती कही गई है। वह अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली है, उसके प्रकार ये हैं—अग्र-बीज,[१६] मूल-बीज, पर्व-बीज, स्कन्ध-बीज, बीज-रुह, सम्मूर्छिम,[१७] तृण[१८] और लता[१९]।

शस्त्र-परिणति से पूर्व बीजपर्यन्त[२०] वनस्पति-कायिक चित्तवान् कहे गए हैं। वे अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाले हैं।

९—से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया। जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया जे य कीडपयंगा जा य कुंथु पिवीलिया सव्वे बेइंदिया सव्वे तेइंदिया सव्वे चउरिंदिया सव्वे पंचिंदिया सव्वे तिरिक्खजोणिया सव्वे नेरइया सव्वे मणुया सव्वे देवा सव्वे पाणा परमाहम्मिया एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओ त्ति पवुच्चई।

अथ ये पुनरिमे अनेके बहवः त्रसाः प्राणिनः तद्यथा—अण्डजाः पोतजाः जरायुजाः रसजाः संस्वेदजाः सम्मूर्च्छिमाः उद्भिजाः औपपातिकाः। येषां केषाञ्चित् प्राणिनाम् अभिक्रान्तम् प्रतिक्रान्तम् सङ्कुचितम् प्रसारितम् रुतम् भ्रान्तम् त्रस्तम् पलायितम्, आगतिगति-विज्ञातारः ये च कीटपतङ्गाः याश्चकुंथु-पिपीलिकाः सर्वे द्वीन्द्रियाः सर्वे त्रीन्द्रियाः सर्वे चतुरिन्द्रियाः सर्वे पञ्चेन्द्रियाः सर्वे तिर्यग्योनिकाः सर्वे नैरयिकाः सर्वे मनुजाः सर्वे देवाः सर्वे प्राणाः परम-धार्मिकाः एष खलु षष्ठो जीवनिकायस्त्रसकाय इति प्रोच्यते ॥९॥

९—और ये जो अनेक बहु त्रस प्राणी हैं,[२१] जैसे—अण्डज,[२२] पोतज,[२३] जरायुज,[२४] रसज,[२५] संस्वेदज,[२६] सम्मूर्च्छनज,[२७] उद्भिज,[२८] औपपातिक[२९] वे छठे जीव-निकाय में आते हैं। जिन किन्हीं प्राणियों में सामने जाना, पीछे हटना, सकुचित होना, फैलना, शब्द करना, इधर-उधर जाना, भयभीत होना, दौड़ना—ये क्रियाएँ हैं और जो आगति एवं गति के विज्ञाता हैं वे त्रस हैं और जो कीट, पतग, कुथु, पपीलिका सब दो इन्द्रिय वाले जीव, सब तीन इन्द्रिय वाले जीव, सब चार इन्द्रिय वाले जीव, सब पाँच इन्द्रिय वाले जीव, सब तिर्यक्-योनिक, सब नैरयिक, सब मनुष्य, सब देव और सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं[३०]। यह छठा जीवनिकाय त्रस-काय कहलाता है।

१०—इच्चेसिं छण्हं जीव-निकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा नेवन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

इत्येषां षण्णा जीवनिकायानां नैव स्वयं दण्डं समारभेत, नैवान्यैर्दण्डं समारम्भयेत् दण्डं समारभमाणानप्य-न्यान् न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि तस्य भदन्त! प्रति-क्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥१०॥

१०—इन[३१] छः जीव-निकायों के प्रति स्वयं दण्ड-समारम्भ[३२] नहीं करना चाहिए, दूसरों से दण्ड-समारम्भ नहीं कराना चाहिए और दण्ड-समारम्भ करने वालों का अनुमोदन नहीं करना चाहिए। यावज्जीवन के लिए[३३] तीन करण तीन योग से[३४]—मन से, वचन से, काया से[३५]—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नही करूँगा।

भते[३६]! मैं अतीत में किए[३७] दण्ड-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ,[३८] उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ[३९] और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ[४०]।

१५—अहावरे पंचमे भंते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं सव्वं भंते ! परिग्गहं पच्चक्खामि—से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा, नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा नेवन्नेहिं परिग्गहं परिगेण्हावेज्जा परिग्गहं परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

पंचमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ।

अथापरे पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते परिग्रहाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! परिग्रहं प्रत्याख्यामि—अथ ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वा अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा—नैव स्वयं परिग्रहं परिगृह्णामि, नैवान्यैः परिग्रहं परिग्राहयामि, परिग्रहं परिगृह्णतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

पञ्चमे भदन्त ! महाव्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् परिग्रहाद्विरमणम् ॥ १५ ॥

१५—भंते ! इसके पश्चात् पाँचवें महाव्रत में परिग्रह[५८] की विरति होती है ।

भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ । गाँव में, नगर में या अरण्य में—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—किसी भी परिग्रह का ग्रहण मैं स्वयं नहीं करूँगा, दूसरों से परिग्रह का ग्रहण नहीं कराऊँगा और परिग्रह का ग्रहण करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के परिग्रह से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भंते ! मैं पाँचवें महाव्रत में सर्व परिग्रह से विरत हुआ हूँ ।

१६—अहावरे छट्ठे भंते ! वए राईभोयणाओ वेरमणं सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि—से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, नेव सयं राइं भुंजेज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा राइं भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

छट्ठे भंते ! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ।

अथापरे षष्ठे भदन्त ! व्रते रात्रिभोजनाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! रात्रिभोजनं प्रत्याख्यामि—अथ अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा—नैव स्वयं रात्रौ भुञ्जे, नैवान्यान् रात्रौ भोजयामि, रात्रौ भुञ्जानानप्यन्यान् न समनुजानामि यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ।

षष्ठे भदन्त ! व्रते उपस्थितोऽस्मि सर्वस्माद् रात्रिभोजनाद्विरमणम् ॥१६॥

१६—भंते ! इसके पश्चात् छठे व्रत में रात्रि-भोजन[५९] की विरति होती है ।

भंते ! मैं सब प्रकार के रात्रि-भोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ । अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य[६०]—किसी भी वस्तु को रात्रि में मैं स्वयं नहीं खाऊँगा, दूसरों को नहीं खिलाऊँगा और खाने वालों का अनुमोदन भी नहीं करूँगा, यावज्जीवन के लिए तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा

भंते ! मैं अतीत के रात्रि-भोजन से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

भंते ! मैं छठे व्रत में सर्व रात्रि-भोजन से विरत हुआ हूँ ।

१७—इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राईभोयणवेरमण छट्ठाइं अत्त-हियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ।

इत्येतानि पञ्च महाव्रतानि रात्रि-भोजन-विरमण षष्ठानि आत्म-हितार्थं उपसम्पद्य विहरामि ॥ १७ ॥

१७—मैं इन पाँच महाव्रतों और रात्रि-भोजन विरति रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए[61] अंगीकार कर विहार करता हूँ[62] ।

१८—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से पुढविं वा भित्तिं वा सिलं वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थं हत्थेण वा पाएण वा कट्ठेण वा किलिंचेण वा अंगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा, न आलिहेज्जा न विलिहेज्जा न घट्टेज्जा न भिंदेज्जा अन्नं न आलिहावेज्जा न विलिहावेज्जा न घट्टावेज्जा न भिंदावेज्जा अन्नं आलिहंतं वा विलिहंतं वा घट्टंतं वा भिंदंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत - प्रतिहत - प्रत्याख्यात- पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ पृथिवीं वा भित्तिं वा शिला वा लेष्टुं वा ससरक्षं वा कायं ससरक्षं वा वस्त्रं हस्तेन वा पादेन वा काष्ठेन वा कलिञ्चेन वा अङ्गुल्या वा शलाकया वा शलाकाहस्तेन वा—नालिखेत् न विलिखेत् न घट्टयेत् न भिन्द्यात् अन्येन नालेखयेत् न विलेखयेत् न घट्टयेत् न भेदयेत् अन्यमालिखन्तं वा विलिखन्तं वा घट्टयन्तं वा भिन्दन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीव त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्य न समनुजानामि । तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ १८ ॥

१८—सयत-विरत-प्रतिहत- प्रत्याख्यात-पापकर्मा[63] भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में,[64] सोते या जागते, एकान्त में या परिषद में—पृथ्वी,[65] भित्ति,[66] शिला,[67] ढेले,[68] सचित्त-रज से संसृष्ट[69] काय अथवा सचित्त-रज से संसृष्ट वस्त्र का हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच,[70] अँगुली, शलाका अथवा शलाका-समूह[71] से न आलेखन[72] करे, न विलेखन[73] करे, न घट्टन[74] करे और न भेदन[75] करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए, आलेखन, विलेखन, घट्टन या भेदन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा ।

भंते ! मैं अतीत के पृथ्वी-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।

१६—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थं ससिणिद्धं वा कायं ससिणिद्धं वा वत्थं, न आमुसेज्जा न संफुसेज्जा न आवीलेज्जा न पवीलेज्जा न अक्खोडेज्जा न पक्खोडेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं न आमुसावेज्जा न संफुसावेज्जा न आवीलावेज्जा न पवीलावेज्जा न अक्खोडावेज्जा न पक्खोडावेज्जा न आयावेज्जा न पयावेज्जा अन्नं आमुसंतं वा संफुसंतं वा आवीलंतं वा पवीलंतं वा अक्खोडंतं वा पक्खोडंतं वा आयावंतं वा पयावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा सयत विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ उदक वा 'ओसं' वा हिम वा महिका वा करकं वा 'हरतनुकं' वा शुद्धोदक वा उदकार्द्र वा काय उदकार्द्र वा वस्त्रं सस्निग्ध वा काय सस्निग्ध वा वस्त्र—नाऽऽमृशेत् न सम्मृशेत नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेत् न प्रस्फोटयेन् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत अन्येन नाऽऽमर्शयेन् न संस्पर्शयेत् नाऽऽपीडयेत् न प्रपीडयेत् नाऽऽस्फोटयेन् न प्रस्फोटयेत् नाऽऽतापयेत् न प्रतापयेत् अन्यमामृशन्त वा सस्पृशन्त वा आपीडयन्तं वा प्रपीडयन्तं वा आस्फोटयन्तं वा प्रस्फोटयन्त वा आतापयन्तं वा प्रतापयन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीव त्रिविध त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मान व्युत्सृजामि॥ १६॥

१६—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—उदक,[७६] ओस,[७७] हिम,[७८] धूँअर,[७९] ओले,[८०] भूमि का भेद कर निकले हुए जल बिन्दु,[८१] शुद्ध उदक,[८२] जल से भीगे[८३] शरीर अथवा जल से भीगे वस्त्र, जल से स्निग्ध[८४] शरीर अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र का न आमर्श करे, न संस्पर्श[८५] करे, न आपीडन करे, न प्रपीडन करे[८६], न आस्फोटन करे, न प्रस्फोटन करे,[८७] न आतापन करे और न प्रतापन[८८] करे, दूसरों से न आमर्श कराए, न संस्पर्श कराए, न आपीडन कराए, न प्रपीडन कराए, न आस्फोटन कराए, न प्रस्फोटन कराए, न आतापन कराए, न प्रतापन कराए। आमर्श, संस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के जल-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२०—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय पावकम्मे दिया वा राओ वा एगवो वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से अगणिं वा इंगालं वा मुम्मुरं वा अच्चिं वा जालं वा अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा, न उंजेज्जा न घट्टेज्जा न उज्जालेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं न उंजावेज्जा न घट्टावेज्जा न उज्जालावेज्जा न निव्वावेज्जा अन्नं उंजतं वा घट्टंतं वा उज्जालंतं वा निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ अग्निं वा अङ्गारं वा मुर्मुरं वा अर्चिर्वा ज्वालां वा अलातं वा शुद्धाग्निं वा उल्कां वा—नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत् अन्येन नोत्सेचयेत् न घट्टयेत् नोज्ज्वालयेत् न निर्वापयेत् अन्य मुत्सिञ्चन्तं वा घट्टयन्तं वा उज्ज्वालयन्तं वा निर्वापयन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २० ॥

२०—संयत-विरत-प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—अग्नि,[८९] अंगारे,[९०] मुर्मुर,[९१] अर्चि,[९२] ज्वाला,[९३] अलात,[९४] शुद्ध अग्नि,[९५] अथवा उल्का[९६] का न उत्सेचन[९७] करे, न घट्टन[९८] करे, न उज्ज्वालन[९९] करे और न निर्वाण[१००] करे; न दूसरों से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए और न निर्वाण कराए; उत्सेचन, घट्टन, उज्ज्वालन या निर्वाण करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भन्ते! मै अतीत के अग्नि समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२१—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से सिएण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं, न फुमेज्जा न वीएज्जा अन्नं न फुमावेज्जा न वीयावेज्जा अन्नं फुमंतं वा वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा संयत-विरत - प्रतिहत - प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ सितेन वा विधुवनेन वा तालवृन्तेन वा पत्रेण वा शाखया वा शाखाभङ्गेन वा 'पेहुणेण' वा 'पेहुण'हस्तेन वा चेलेन वा चेलकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा आत्मनो वा कायं बाह्यं वाऽपि पुद्गलं—न फूत्कुर्यात् न व्यजेत् अन्येन न फूत्कारयेत् न व्याजयेत् अन्यं फूत्कुर्वन्तं वा व्यजन्तं वा न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥२१॥

२१—सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—चामर,[१०१] पखे,[१०२] वीजन,[१०३] पत्र,[१०४] शाखा, शाखा के टुकड़े, मोर-पंख,[१०५] मोर-पिच्छी,[१०६] वस्त्र, वस्त्र के पल्ले,[१०७] हाथ या मुँह से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों[१०८] को फूंक न दे, हवा न करे; दूसरों से फूंक न दिलाए, हवा न कराए, फूंक देने वाले या हवा करने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते! मैं अतीत के वायु-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२२—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खाय-पावकम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से बीएसु वा बीय-पइट्ठिएसु वा रूढेसु वा रूढपइट्ठिएसु वा जाएसु वा जायपइट्ठिएसु वा हरिएसु वा हरियपइट्ठिएसु वा छिन्नेसु वा छिन्नपइट्ठिएसु वा सच्चित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा, न गच्छेज्जा न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा न तुयट्टेज्जा अन्नं न गच्छावेज्जा न चिट्ठावेज्जा न निसीयावेज्जा न तुयट्टावेज्जा अन्नं गच्छंतं वा चिट्ठंतं वा निसीयंतं वा तुयट्टंतं वा न समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा सयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ बीजेषु वा बीज-प्रतिष्ठितेषु वा रूढेषु वा रूढप्रतिष्ठितेषु वा जातेषु वा जातप्रतिष्ठितेषु वा हरितेषु वा हरितप्रतिष्ठितेषु वा छिन्नेषु वा छिन्नप्रतिष्ठितेषु वा सचित्तकोल-प्रतिनिश्रितेषु वा—न गच्छेत् न तिष्ठेत् न निषीदेत् न त्वग्वर्तेत अन्यं न गमयेत् न स्थापयेत् न निषादयेत् न त्वग्वर्तयेत् अन्यं गच्छन्तं वा तिष्ठन्तं वा निषीदन्तं वा त्वग्वर्तमानं वा—न समनुजानीयात् यावज्जीवं त्रिविधं त्रिविधेन—मनसा वाचा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामि। तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि ॥ २२ ॥

२२—संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त में या परिषद् में—बीजों पर, बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, स्फुटित बीजों पर,[१०९] स्फुटित बीजों पर रखी हुई वस्तुओं पर, पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर,[११०] पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर स्थित वस्तुओं पर, हरित पर, हरित पर रखी हुई वस्तुओं पर, छिन्न वनस्पति के अंगों पर,[१११] छिन्न वनस्पति के अंगों पर रखी हुई वस्तुओं पर, अण्डों एव काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर[११२] न चले, न खड़ा रहे, न बैठे, न सोये,[११३] दूसरों को न चलाए, न खड़ा करे, न बैठाए, न सुलाए; चलने, खड़ा रहने, बैठने या सोने वाले का अनुमोदन न करे, यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से—मन से, वचन से, काया से—न करूँगा, न कराऊँगा और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करूँगा।

भंते ! मैं अतीत के वनस्पति-समारम्भ से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

२३—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपाव-कम्मे दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा—से कीडं वा पयंगं वा कुंथु वा पिवीलियं वा हत्थंसि वा पायंसि वा बाहुंसि वा ऊरुंसि वा उदरंसि वा सीसंसि वा वत्थंसि वा पडिग्गहंमि वा रयहरणंसि वा गोच्छगंसि वा उंडगंसि वा दंडगंसि वा पीढगंसि वा फलगंसि वा सेज्जंसि वा संथारगंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा नो णं संघायमावज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्वा भिक्षुकी वा सयत-विरत - प्रतिहत - प्रत्याख्यात- पापकर्मा दिवा वा रात्रौ वा एकको वा परिषद्गतो वा सुप्तो वा जाग्रद्वा—अथ कीट वा पतङ्गं वा कुन्थुं वा पिपीलिकां वा हस्ते वा पादे वा बाहौ वा ऊरौ वा उदरे वा शीर्षे वा वस्त्रे वा प्रतिग्रहे वा रजोहरणे वा गुच्छके वा 'उन्दुके' वा दण्डके वा पीठके वा फलके वा शय्यायां वा सस्तारके वा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे उपकरण-जाते ततः सयतमेव प्रतिलिख्य प्रति-लिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य एकान्तमपनयेत् नैनं संघातमापादयेत् ॥ २३ ॥

२३—सयत-विरत -प्रतिहत प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन में या रात में, सोते या जागते, एकान्त मे या परिषद् में—कीट, पतग, कुथु या पिपीलिका हाथ, पैर, बाहु, ऊरु, उदर, सिर,[114] वस्त्र, पात्र, रजोहरण,[115] गोच्छग,[116] उन्दक, दण्डक[117] पीठ, फलक,[118] शय्या या सस्तारक[119] पर तथा उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर[120] चढ़ जाए तो सावधानी पूर्वक[121] धीमे-धीमे प्रतिलेखन कर, प्रमार्जन कर, उन्हें वहाँ से हटा एकान्त में[122] रख दे किन्तु उनका सघात[123] न करे—आपस में एक दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचे वैसे न रखे।

१—अजयं चरमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधइ पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतं चरंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ १ ॥

१—अयतना पूर्वक चलने वाला त्रस और स्थावर[124] जीवो की हिंसा करता है[125]। उससे पाप-कर्म का बंध होता है[126]। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[127]।

२—अजयं चिट्ठमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतं तिष्ठंस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ २ ॥

२—अयतना पूर्वक खड़ा होने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३—अजयं आसमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतमासीनस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ३ ॥

३—अयतनापूर्वक बैठने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४—अजयं सयमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतं शयानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ४ ॥

४—अयतनापूर्वक सोने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

५—अजयं भुंजमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतं भुञ्जानस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ५ ॥

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाला त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६—अजयं भासमाणो उ
पाणभूयाइं हिंसई ।
बंधई पावयं कम्मं
तं से होइ कडुयं-फलं ॥

अयतं भाषमाणस्तु
प्राणभूतानि हिनस्ति ।
बध्नाति पापकं कर्म
तत्तस्य भवति कटुक-फलम् ॥ ६ ॥

६—अयतनापूर्वक बोलने वाला[१२८] त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करता है। उससे पाप-कर्म का बंध होता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है[१२९]।

७—कहं चरे कहं चिट्ठे
कहमासे कहं सए ।
कहं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

कथं चरेत् कथं तिष्ठेत्,
कथमासीत कथं शयीत ।
कथं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ७ ॥

७—कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्धन न हो[१३०]।

८—[१३१]जयं चरे जयं चिट्ठे
जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधई ॥

यतं चरेद् यतं तिष्ठेद्
यतमासीत यतं शयीत ।
यतं भुञ्जानो भाषमाणः
पापं कर्म न बध्नाति ॥ ८ ॥

८—यतनापूर्वक चलने,[१३२] यतनापूर्वक खड़ा होने,[१३३] यतनापूर्वक बैठने,[१३४] यतनापूर्वक सोने,[१३५] यतनापूर्वक खाने[१३६] और यतनापूर्वक बोलने[१३७] वाला पाप-कर्म का बन्धन नहीं करता।

९—सव्वभूयप्पभूयस्स
सम्मं भूयाइ पासओ ।
पिहियासवस्स दंतस्स
पावं कम्मं न बंधई ॥

सर्वभूतात्मभूतस्य
सम्यग् भूतानि पश्यतः ।
पिहितास्रवस्य दान्तस्य
पापं कर्म न बध्यते ॥ ९ ॥

९—जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है, जो सब जीवों को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है उसके पाप-कर्म का बन्धन नहीं होता[१३८]।

१०—[१३९]पढमं नाणं तओ दया
एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही
किं वा नाहिइ छेय पावगं॥

प्रथमं ज्ञानं ततो दया
एव तिष्ठति सर्व संयतः।
अज्ञानी किं करिष्यति
किं वा ज्ञास्यति छेक-पापकम् ॥१०॥

१०—पहले ज्ञान फिर दया[१४०]—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं[१४१]। अज्ञानी क्या करेगा?[१४२] वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप?[१४३]

११—सोच्चा जाणइ कल्लाणं
सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा
जं छेयं तं समायरे॥

श्रुत्वा जानाति कल्याणं
श्रुत्वा जानाति पापकम्।
उभयमपि जानाति श्रुत्वा
यच्छेकं तत्समाचरेत् ॥११॥

११—जीव सुन कर[१४४] कल्याण को[१४५] जानता है और सुनकर ही पाप को[१४६] जानता है। कल्याण और पाप[१४७] सुनकर ही जाने जाते हैं। वह उनमें जो श्रेय है उसीका आचरण करे।

१२—जो जीवे वि न याणाइ
अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो
कहं सो नाहिइ संजमं॥

यो जीवानपि न जानाति
अजीवानपि न जानाति।
जीवाऽजीवानजानन्
कथं स ज्ञास्यति संयमम् ॥१२॥

१२—जो जीवों को भी नहीं जानता, अजीवों को भी नहीं जानता वह जीव और अजीव को न जानने वाला संयम को कैसे जानेगा?

१३—जो जीवे वि वियाणाइ
अजीवे वि वियाणई।
जीवाजीवे वियाणंतो
सो हु नाहिइ संजमं॥

यो जीवानपि विजानाति
अजीवानपि विजानाति।
जीवाऽजीवान् विजानन्
स हि ज्ञास्यति संयमम् ॥१३॥

१३—जो जीवों को भी जानता है, अजीवों को भी जानता है वही, जीव और अजीव दोनों को जानने वाला ही, संयम को जान सकेगा[१४८]।

१४—जया जीवे अजीवे य
दो वि एए वियाणई।
तया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई॥

यदा जीवानजीवांश्च
द्वावप्येतौ विजानाति।
तदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति ॥१४॥

१४—जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनों को जान लेता है तब वह सब जीवों की बहुविध गतियों को भी जान लेता है[१४९]।

१५—जया गइं बहुविहं
सव्वजीवाण जाणई।
तया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई॥

यदा गतिं बहुविधां
सर्वजीवानां जानाति।
तदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति ॥१५॥

१५—जब मनुष्य सब जीवों की बहुविध गतियों को जान लेता है तब वह पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है[१५०]।

१६—जया पुण्णं च पावं च
बंधं मोक्खं च जाणई।
तया निव्विदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे॥

यदा पुण्यं च पापं च
बन्धं मोक्षं च जानाति।
तदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान् ॥१६॥

१६—जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष को जान लेता है तब जो भी देवों और मनुष्यों के भोग हैं उनसे विरक्त हो जाता है[१५१]।

१७—जया निव्विंदए भोए
जे दिव्वे जे य माणुसे ।
तया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ॥

यदा निर्विन्ते भोगान्
यान् दिव्यान् याँश्च मानुषान् ।
तदा त्यजति संयोगं
साभ्यन्तर-बाह्यम् ॥ १७ ॥

१७—जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से विरक्त हो जाता है तब वह आभ्यन्तर और बाह्य सयोग को त्याग देता है[१५२] ।

१८—जया चयइ संजोगं
सब्भिंतरबाहिरं ।
तया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ॥

यदा त्यजति संयोगं
साभ्यन्तर-बाह्यम् ।
तदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ॥ १८ ॥

१८—जब मनुष्य आभ्यन्तर और बाह्य सयोगों को त्याग देता है तब वह मुड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है[१५३] ।

१९—जया मुंडे भवित्ताणं
पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ॥

यदा मुण्डो भूत्वा
प्रव्रजत्यनगारताम् ।
तदा संवरमुत्कृष्टं
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ॥ १९ ॥

१९—जब मनुष्य मुड होकर अनगार-वृत्ति को स्वीकार करता है तब वह उत्कृष्ट सवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[१५४] ।

२०—जया संवरमुक्किट्ठं
धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ॥

यदा संवरमुत्कृष्टं
धर्मं स्पृशत्यनुत्तरम् ।
तदा धुनाति कर्मरजः
अबोधि-कलुष-कृतम् ॥ २० ॥

२०—जब मनुष्य उत्कृष्ट संवरात्मक अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है तब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है[१५५] ।

२१—जया धुणइ कम्मरयं
अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ॥

यदा धुनाति कर्मरज
अबोधि-कलुष-कृतम् ।
तदा सर्वत्रगं ज्ञानं
दर्शनं चाभिगच्छति ॥ २१ ॥

२१—जब वह अबोधि-रूप पाप द्वारा सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर देता है तब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है[१५६] ।

२२—जया सव्वत्तगं नाणं
दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ॥

यदा सर्वत्रगं ज्ञानं
दर्शनं चाभिगच्छति ।
तदा लोकमलोकं च
जिनो जानाति केवली ॥ २२ ॥

२२—जब वह सर्वत्र-गामी ज्ञान और दर्शन—केवलज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है[१५७] ।

२३—जया लोगमलोगं च
जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई ॥

यदा लोकमलोकं च
जिनो जानाति केवली ।
तदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

२३—जब वह जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है तब वह योगों का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है[१५८] ।

२४—जया जोगे निरुंभित्ता
सेलेसिं पडिवज्जई।
तया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

यदा योगान् निरुध्य
शैलेशीं प्रतिपद्यते।
तदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः ॥ २४ ॥

२४—जब वह योग का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है तब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त करता है[159]।

२५—जया कम्मं खवित्ताणं
सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोग मत्थयत्थो
सिद्धो हवइ सासओ ॥

यदा कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं गच्छति नीरजाः।
तदा लोकमस्तकस्थः
सिद्धो भवति शाश्वतः ॥ २५ ॥

२५—जब वह कर्मों का क्षय कर रज-मुक्त बन सिद्धि को प्राप्त होता है तब वह लोक के मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है[160]।

२६—सुहसायगस्स समणस्स
सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स
दुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

सुखस्वादकस्य श्रमणस्य
साताकुलकस्य निकामशायिनः।
उत्क्षालनाप्रधाविनः
दुर्लभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥ २६ ॥

२६—जो श्रमण सुख का रसिक[161], सात के लिए आकुल[162], अकाल में सोने वाला[163] और हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला[164] होता है उसके लिए सुगति दुर्लभ है।

२७—तवोगुणपहाणस्स
उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स
सुलहा सुग्गइ तारिसगस्स ॥

तपोगुणप्रधानस्य
ऋजुमति क्षान्तिसंयमरतस्य।
परीषहान् जयतः
सुलभा सुगतिस्तादृशकस्य ॥ २७ ॥

२७—जो श्रमण तपो-गुण से प्रधान, ऋजुमति,[165] क्षान्ति तथा संयम में रत और परीषहों को[166] जीतने वाला होता है उसके लिए सुगति सुलभ है।

[[167]पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमर-भवणाइं।
जेसिं पिओ तवो संजमो य
खन्ती य बम्भचेरं च ॥]

[पश्चादपि ते प्रयाताः
क्षिप्रं गच्छन्ति अमरभवनानि।
येषां प्रियं तपः संयमश्च
क्षान्तिश्च ब्रह्मचर्यं च ॥]

[जिन्हें तप, संयम, क्षमा, और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं वे शीघ्र ही स्वर्ग को प्राप्त होते हैं—भले ही वे पिछली अवस्था में प्रव्रजित हुए हों।]

२८—इच्चेयं छज्जीवणियं
सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुलहं लभित्तु सामण्णं
कम्मुणा न विराहेज्जासि ॥
त्ति बेमि ॥

इत्येतां षड्जीवनिकां
सम्यग्-दृष्टिः सदा यतः।
दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं
कर्मणा न विराधयेत् ॥ २८ ॥
इति ब्रवीमि।

२८—दुर्लभ श्रमण्य-भाव को प्राप्त कर सम्यक्-दृष्टि[168] और सतत-सावधान श्रमण इस षड्जीवनिका की कर्मणा[169]—मन, वचन और काया से—विराधना[170] न करे। ऐसा मैं कहता हूँ।

अध्ययन ४ : टिप्पणियां

सूत्र : १

१. आयुष्मन्! (आउसं!) :

इस शब्द के द्वारा शिष्य को आमन्त्रित किया गया है। जिसके आयु हो उसे आयुष्मान् कहते हैं। उसको आमन्त्रित करने का शब्द है 'आयुष्मन्!'[1] 'आउस' शब्द द्वारा शिष्य को सम्बोधित करने की पद्धति जैन आगमों में अनेक स्थलों पर देखी जाती है। तथागत बुद्ध भी 'आवुसो' शब्द द्वारा ही शिष्यों को सम्बोधित करते थे[2]। प्रश्न हो सकता है—शिष्य को आमन्त्रण करने के लिए यह शब्द ही क्यों चुना गया। इसका उत्तर है—योग्य शिष्य के सब गुणों में प्रधान गुण दीर्घ-आयु ही है। जिसके दीर्घायु होती है वही पहले ज्ञान को प्राप्त कर बाद में दूसरों को दे सकता है। इस तरह शासन-परम्परा अनवच्छिन्न बनती है[3]। 'आयुष्मन्' शब्द देश-कुल-शीलादि समस्त गुणों का सांकेतिक शब्द है। आयुष्मन्! अर्थात् उत्तम देश, कुल, शीलादि समस्त गुण से संयुक्त दीर्घायुवाला!

हरिभद्र सूरि लिखते हैं[4]—"प्रधानगुणनिष्पन्न आमन्त्रण वचन का आशय यह है कि गुणवान शिष्य को आगम-रहस्य देना चाहिए, अगुणी को नहीं। कहा है—'जिस प्रकार कच्चे घडे में भरा हुआ जल उस घडे का ही विनाश कर देता है वैसे ही गुण रहित को दिया हुआ सिद्धान्त-रहस्य उस अल्पाधार का ही विनाश करता है'।"

'आउस' शब्द की एक व्याख्या उपर्युक्त है। विकल्प व्याख्याओं का इस प्रकार उल्लेख मिलता है :

१—'आउसं' के बाद के 'तेणं' शब्द को साथ लेकर 'आउसंतेण' को 'भगवया' शब्द का विशेषण मानने से दूसरा अर्थ होता है—मैंने सुना चिरजीवी भगवान ने ऐसा कहा है अथवा भगवान् ने साक्षात् ऐसा कहा है[5]।

२—'आवसंतेणं' पाठान्तर मानने से तीसरा अर्थ होता है—गुरुकुल में रहते हुए मैंने सुना भगवान ने ऐसा कहा है[6]।

३—'आमुसतेणं' पाठान्तर मानने से अर्थ होता है—सिर से चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने सुना भगवान ने ऐसा कहा है[7]।

१—जि० चू० पृ० १३० : आयुस् प्रातिपदिकं प्रथमाछ., आयु अस्यास्ति मतुप्प्रत्ययः, आयुष्मान्!, आयुष्मन्नित्यनेन शिष्यस्यामन्त्रण।

२—विनयपिटक १ऽऽ३.१४ पृ० १२५।

३—जि० चू० पृ० १३०-१ : अनेन ''' '' गुणाश्च देशकुलशीलादिका अन्वाख्याता भवंति, दीर्घायुष्कत्वं च सर्वेषां गुणानां प्रतिविशिष्टतमं, कह ?, जम्हा दिग्घायू सीसो उ नाण अन्नेसिपि भवियाण दाहिति, ततो य अव्वोच्छित्ती सासणस्स कया भविस्सइत्ति, तम्हा आउसतग्गहणं कयति।

४—हा० टी० प० १३७ : प्रधानगुणनिष्पन्नेनामन्त्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्य देय नागुणवत इत्याह, तदनुकम्पा-प्रवृत्तेरित्ति, उक्तं च—

"आमे घडे निहित्तं जहा जल त घड विणासेइ।
इअ सिद्धतरहस्स अप्पाहारं विणासेइ॥"

५—(क) जि० चू० पृ० १३१ : इय मयाऽऽयुषि समेतेन तीर्थकरेण जीवमानेन कथित, एप द्वितीय. विकल्प.।

(ख) हा० टी० प० १३७ : 'आउसतेण' ति भगवत एव विशेपणम्, आयुष्मता भगवता—चिरजीविनेत्यर्थ., मङ्गलवचनं चैतद्, अथवा जीवता साक्षादेव।

६—(क) जि० चू० पृ० १३१ : श्रुत मया गुरुकुलसमीपावस्थितेन तृतीयो विकल्पः।

(ख) हा० टी० प० १३७ : अथवा 'आवसतेणं' ति गुरुमूलमावसता।

७—(क) जि० चू० पृ० १३१ : इय मया एयमज्झयणं आउसतेणं भगवत पादौ आमृपता।

(ख) हा० टी० प० १३७ : अथवा 'आमुसतेणं' आमृशता भगवत्पादारविन्दयुगलमुत्तमाङ्गेन।

२. उन भगवान् ने (तेणं भगवया) :

'भग' शब्द का प्रयोग ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न इन छः अर्थों में होता है। कहा है :

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णां भग इतीङ्गना॥

जिसके यश आदि होते हैं उसे भगवान कहते हैं[1]।

'आयुष्मन्! मैंने सुना उन भगवान ने इस प्रकार कहा' (सुयं मे आउस तेणं भगवया एवमक्खायं)—इस वाक्य के 'उन भगवान्' शब्दों को टीकाकार हरिभद्र सूरि ने महावीर का द्योतक माना है[2]। चूर्णिकार जिनदास का भी ऐसा ही आशय है[3]। परन्तु यह ठीक नहीं लगता। ऐसा करने से बाद के सलग्न वाक्य—'इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया' की पूर्व वाक्य के साथ संगति नहीं बैठती। अतः पहले वाक्य के भगवान् शब्द को सूत्रकार के द्वारा अपने प्रज्ञापक आचार्य के लिए प्रयुक्त माना जाय तो व्याख्या का क्रम अधिक सगत हो सकता है। उत्तराध्ययन के सोलहवें और इस सूत्र के नवें अध्ययन में इसका आधार भी मिलता है। वहाँ अन्य प्रसगों में क्रमशः निम्न पाठ मिलते हैं :

१—सुय मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवतेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता (उत्त० १६ १)

२—सुय मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता (दश० ६.४.१)

हरिभद्र सूरि दशवैकालिक सूत्र के इस स्थल की टीका में 'थेरेहिं' शब्द का अर्थ स्थविर गणधर करते हैं[4]। स्थविर की प्रज्ञप्ति को तीर्थङ्कर के मुह से सुनने का प्रसग ही नहीं आता। ऐसी हालत में उक्त दोनों स्थलों में प्रयुक्त प्रथम 'भगवान्' शब्द का अर्थ महावीर अथवा तीर्थङ्कर नहीं हो सकता। यहाँ भगवान् शब्द का प्रयोग सूत्रकार के प्रज्ञापक आचार्य के लिए हुआ है। उक्त दोनों स्थलों पर सूत्रकार ने अपने प्रज्ञापक आचार्य के लिए 'भगवान्' शब्द का एक वचनात्मक और तत्त्व-निरूपक स्थविरों के लिए उसका बहुवचनात्मक प्रयोग किया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि भगवान् शब्द का दो बार होने वाला प्रयोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए है। इसी तरह प्रस्तुत प्रकरण में भी 'उन भगवान्' शब्दों का सम्बन्ध प्रज्ञापक आचार्य से बैठता है। वे भगवान् महावीर के द्योतक नहीं ठहरते।

३. काश्यप-गोत्री (कासवेणं) :

'काश्यप' शब्द श्रमण भगवान् महावीर के विशेषण रूप से अनेक स्थलों पर व्यवहृत मिलता है। अनेक जगह भगवान महावीर को केवल 'काश्यप' शब्द से सकेतित किया है[5]। भगवान् महावीर काश्यप क्यों कहलाए—इस विषय में दो कारण मिलते हैं :

१—जि० चू० पृ० १३१ : भगशब्देन ऐश्वर्यरूपयशःश्रीधर्मप्रयत्ना अभिधीयंते, ते यस्यास्ति स भगवान्, भगो जसादी भण्णइ, सो जस्स अत्थि सो भगव भण्णइ।

२—हा० टी० प० १३६ : 'तेनें' ति भुवनभर्तृः परामर्श तेन भगवता वर्धमानस्वामिनेत्यर्थः।

३—(क) जि० चू० पृ० १३१ : तेन भगवता—तिलोगबंधुणा।

(ख) वही पृ० १३२ : 'सुय मे आउसंतेण' एवं णज्जति समणेण भगवया महावीरेण एयमज्झयण पन्नत्तमिति किं पुण गहण कयमिति?, आयरिओ भणइ—×× तत्थ नामठवणादव्वाणं पडिसेहनिमित्त भावसमणभावभगवंतमहावीरग्गहणनिमित्तं पुणोगहणं कयं।

४—हा० टी० प० २४४ : 'स्थविरैः' गणधरैः 'भगवद्भिः' परमैश्वर्यादियुक्तैश्चत्वारि 'विनयसमाधिस्थानानि' विनयसमाधिभेदरूपाणि 'प्रज्ञप्तानि' प्ररूपितानि।

५—(क) सूत्र० १ ६.७, १.१४ २१, १ ३ २.१४, १.५ १.२; १.११ ५,३२।

(ख) भग० १५ ८७, ८६।

(ग) उत्त० २.१, ४६; २६.१।

(घ) आचा० २.२४.६६२, १००३।

(ट) कल्प० १०६।

(च) कल्प० १०८।

१—भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप था। इसलिए वे काश्यप कहलाते थे[1]।

२—काश्य का अर्थ इक्षु-रस होता है। उसका पान करने वाले को काश्यप कहते हैं। भगवान् ऋषभ ने इक्षु-रस का पान किया था अतः वे काश्यप कहलाये। उनके गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति इसी कारण काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर २४ वें तीर्थङ्कर थे। अतः वे निश्चय ही प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ के धर्म-वंश या विद्या-वंश में उत्पन्न कहे जा सकते हैं। इसलिए उन्हें काश्यप कहा है[2]।

धनञ्जय नाममाला में भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप वतलाया है[3]। भाष्यकार ने काश्य का अर्थ क्षत्रिय-तेज किया है और उसकी रक्षा करने वाले को काश्यप कहा है[4]। भगवान् ऋषभ के वाद जो तीर्थङ्कर हुए वे भी सामान्य रूप से काश्यप कहलाने लगे। भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे अतः उनका नाम अन्त्य काश्यप मिलता है[5]।

४. श्रमण···महावीर द्वारा (समणेणं···महावीरेणं) :

आचाराङ्ग के चौवीसवें अध्ययन में चौवीसवें तीर्थङ्कर के तीन नाम वतलाए हैं। उनमें दूसरा नाम 'समण' और तीसरा नाम 'महावीर' है। सहज समभाव आदि गुण-समुदाय से सम्पन्न होने के कारण वे 'समण' कहलाए। भयकर भय-भैरव तथा अचेलकता आदि कठोर परीषहों को सहन करने के कारण देवों ने उनका नाम महावीर रखा[6]।

'समण' शब्द की व्याख्या के लिए देखिए पृ० ११-१२ अ० १ टि० १४।

यश और गुणों में महान् वीर होने से भगवान् का नाम महावीर पड़ा[7]। जो शूर विक्रान्त होता है उसे वीर कहते हैं। कषायादि महान् आन्तरिक शत्रुओं को जीतने से भगवान् महा विक्रान्त—महावीर कहलाए[8]। कहा है—

विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते।
तपोवीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृत ॥

अर्थात् जो कर्मों को विदीर्ण करता है, तपपूर्वक रहता है, जो इस प्रकार तप और वीर्य से युक्त होता है, वह वीर होता है। इन गुणों में महान् वीर वे महावीर[9]।

५. प्रवेदित (पवेइया) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—अच्छी तरह विज्ञात—अच्छी तरह जाना हुआ[10]। हरिभद्र सूरि के अनुसार केवलज्ञान

१—(क) जि० चू० पृ० १३२ : काश्यप गोत्त कुल यस्य सोऽय काशपगोत्तो तेण काशपगोत्तेण।
(ख) हा० टी० प० १३७ : 'काश्यपेने' ति काश्यपसगोत्रेण।

२—(क) अ० चू० : कास—उच्छू, तस्स विकारो—कास्यः रस, सो जस्स पाणं सो कासवो उसभ स्वामी, तस्स जो गोत्तजाता ते कासवा तेण वद्धमाण स्वामी कासवो तेण कासवेण।
(ख) जि० चू० पृ० १३२ : काशो नाम इक्खु भण्णइ, जम्हा त इक्खु पिवति तेन काश्यपा अभिधीयते।

३—धन० नाम० ११४ पृ० ५७ : वर्षीयान् वृषभो ज्यायान् पुरुराद्य प्रजापति।
ऐक्ष्वाकु (क) काश्यपो ब्रह्मा गौतमो नाभिजोऽग्रजः॥

४—धन० नाम० पृ० ५७ : काश्य क्षत्रियतेज पातीति काश्यप। तथा च महापुराणे—"काश्यमित्युच्यते तेजः काश्यपस्तस्य पालनात्"।

५—धन० नाम० ११५ पृ० ५८ : सन्मतिर्महतीर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥

६—आचा० २.३ ४०० प० ३८९ : सहसमइए समणे भीम भयभेरव उराल अचलय परीसहसहत्तिकट्टु देवेहिं से नाम कयं समणे भगव महावीरे।

७—जि० चू० पृ० १३२ : महत्तो यसोगुणेहिं वीरोत्ति महावीरो।

८—हा० टी० प० १३७ : 'महावीरेण'—'शूर वीर विक्रान्ता' विति कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः।

९—हा० टी० प० १३७ : महांश्चासौ वीरश्च महावीर।

१०—अ० चू० : विद ज्ञाने साधुवेदिता पवेदिता—साधुविण्णाता।

के आलोक द्वारा स्वयं अच्छी तरह वेदित—जाना हुआ प्रवेदित है[१]। जिनदास ने इस शब्द का अर्थ किया है—विविध रूप से—अनेक प्रकार से कथित[२]।

६—सु-आख्यात (सुयक्खाया) :

इसका अर्थ है भली भाँति कहा[३]। यह बात अति प्रसिद्ध है कि भगवान् महावीर ने देव, मनुष्य और असुरों की सम्मिलित परिषद में जो प्रथम भाषण दिया वह षड्जीवनिका अध्ययन है[४]।

७—सु-प्रज्ञप्त (सुपन्नत्ता) :

'सु-प्रज्ञप्त का अर्थ है—जिस प्रकार प्ररूपित किया गया है उसी प्रकार आचीर्ण किया गया। जो उपदिष्ट तो है पर आचीर्ण नहीं है वह सु-प्रज्ञप्त नहीं कहलाता[५]।

प्रवेदित, सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त का संयुक्त अर्थ है—भगवान् ने षड्जीवनिका को जाना, उसका उपदेश किया और जैसे उपदेश किया वैसे स्वयं उसका आचरण किया।

८—धर्म-प्रज्ञप्ति (धम्मपन्नत्ती) :

'छज्जीवणिया' अध्ययन का ही दूसरा नाम 'धर्म-प्रज्ञप्ति' है[६]। जिससे धर्म जाना जाय उसे धर्म-प्रज्ञप्ति कहते हैं[७]।

९—पठन (अहिज्जिउं) :

अध्ययन करना[८]। पाठ करना, सुनना, विचारना—ये सब भाव 'अहिज्जिउ' शब्द में निहित हैं[९]।

१०—मेरे लिए (मे) :

'मे' शब्द का एक अर्थ है—अपनी आत्मा के लिए—स्वयं के लिए[१०]। कई व्याख्याकार 'मे' को सामान्य 'आत्मा' के स्थान में

१—हा० टी० प० १३७ : स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदिता—विज्ञातेत्यर्थः।

२—जि० चू० पृ० १३२ : प्रवेदिता नाम विविहमनेकप्पकारं कथितेत्युक्तं भवति।

३—(क) जि० चू० पृ० १३२ : सोभणेण पगारेण अक्खाता सुट्ठु वा अक्खाया।

(ख) हा० टी० प० १३७ : सदेवमनुष्यासुरायां पर्षदि सुष्ठु आख्याता, स्वाख्याता।

४—श्री महावीर कथा पृ० २१६।

५—(क) जि० चू० पृ० १३२ : जहेव परूविया तहेव आइण्णावि, इतरहा जइ उवदिसिऊण न तहा आयरंतो तो नो सुपण्णत्ता होंतित्ति।

(ग) हा० टी० प० १३७ : सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथैव आख्याता तथैव सुष्ठु—सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासेवितेत्यर्थः, अनेकार्थत्वाद्धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः।

६—हा० टी० प० १३८ : अन्ये तु व्याचक्षते—अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति।

७—(क) अ० चू० : धम्मो पण्णविज्जए जाए सा धम्मपण्णत्ती, अज्झयण विसेसो।

(ख) जि० चू० पृ० १३२ : धम्मो पण्णविज्जमाणो विज्जति जत्थ सा धम्मपन्नत्ती।

(ग) हा० टी० प० १३८ : 'धर्मप्रज्ञप्तिः' प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः।

८—जि० चू० पृ० १३२ : अहिज्जिउं नाम अज्झाइउं।

९—हा० टी० प० १३८ : 'अध्येतुं' मिति पठितुं श्रोतुं भावयितुम्।

१०—(क) जि० चू० पृ० १३२ : 'मे' त्ति अत्तणो निद्देसे।

(ख) हा० टी० प० १३८ : ममेत्यात्म निर्देशः।

प्रयुक्त मानते हैं—ऐसा उल्लेख हरिभद्र सूरि ने किया है[1]। यह अर्थ ग्रहण करने से अनुवाद होगा—'इस धर्म-प्रशप्ति अध्ययन का पठन आत्मा के लिए श्रेय है।' यह अनुवाद सब सूत्रों के लिए उपयुक्त है।

सूत्र ३ :

११. पृथ्वी-कायिक.........त्रस-कायिक (पुढविकाइया.........तसकाइया) :

जिन छः प्रकार के जीव-निकाय का उल्लेख है, उनका क्रमशः वर्णन इस प्रकार है :

(१) काठिन्य आदि लक्षण से जानी जानेवाली पृथ्वी ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को पृथ्वीकाय कहते हैं पृथ्वीकाय जीव ही पृथ्वीकायिक कहलाते हैं[2]। मिट्टी, बालू, लवण, सोना, चाँदी, अभ्र आदि पृथ्वीकायिक जीवों के प्रकार हैं। इनकी विस्तृत तालिका उत्तराध्ययन में मिलती है[3]।

(२) प्रवाहशील द्रव—जल ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को अप्काय कहते हैं। अप्काय जीव ही अप्कायिक कहलाते हैं[4]। शुद्धोदक, ओस, हरतनु, महिका, हिम—ये सब अप्कायिक जीवों के प्रकार हैं[5]।

(३) उष्णलक्षण तेज ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को तेजस्काय कहते हैं। तेजस्काय जीव ही तेजस्कायिक कहलाते हैं[6]। अगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उल्काग्नि, विद्युत आदि तेजस्कायिक जीवों के प्रकार हैं[7]।

(४) चलनधर्मा वायु ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वायुकाय कहते हैं। वायुकाय जीव ही वायुकायिक कहलाते हैं[8]। उत्कलिका वायु, मण्डलिकावायु, घनवायु, गुंजावायु, संवर्तकवायु आदि वायुकायिक जीव हैं[9]।

(५) लतादि रूप वनस्पति ही जिनका काय—शरीर होता है उन जीवों को वनस्पतिकाय कहते हैं। वनस्पतिकाय जीव ही वनस्पतिकायिक कहलाते हैं[10]। वृक्ष, गुच्छ, लता, फल, तृण, आलू, मूली आदि वनस्पतिकायिक जीवों के प्रकार हैं[11]।

(६) त्रसनशील को त्रस कहते है। त्रस ही जिनका काय—शरीर है उन जीवों को त्रसकाय कहते हैं। त्रसकाय जीव ही त्रसकायिक कहलाते है[12]। कृमि, शख, कुथु, पिपीलिका, मक्खी, मच्छर आदि तथा मनुष्य, पशु-पक्षी, तिर्यञ्च, देव और नैरयिक जीव त्रसजीव हैं[13]।

स्वार्थ में इकण् प्रत्यय होने पर पृथ्वीकाय आदि से पृथ्वीकायिक आदि शब्द बनते हैं[14]।

१—हा० टी० प० १३७ : छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये।

२—हा० टी० प० १३८ पृथिवी—काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता सैव काय —शरीर येषां ते पृथिवीकायाः पृथिवीकाया एव पृथिवीकायिका ।

३—उत्त० ३६.७२-७७।

४—हा० टी० प० १३८ आपो—द्रवाः प्रतीता एव ता एव काय.—शरीर येषां तेऽप्काया. अप्काया एव अप्कायिका.।

५—उत्त० ३६.८५।

६—हा० टी० प० १३८ : तेज—उष्णलक्षण प्रतीत तदेव काय.—शरीरं येषां ते तेज.कायः तेज.काया एव तेज'कायिका'।

७—उत्त० ३६.११०-१।

८—हा० टी० प० १३८ : वायु'—चलनधर्मा प्रतीत एव स एव कायः—शरीर येषां ते वायुकायाः वायुकाया एव वायुकायिकाः।

९—उत्त० ३६.११८-९।

१०—हा०टी०प० १३८ . वनस्पतिः—लतादिरूप. प्रतीत , स एव काय'—शरीर येषां ते वनस्पतिकाया',वनस्पतिकाया एव वनस्पतिकायिकाः।

११—उत्त० ३६.९४-६।

१२—हा० टी० प० १३८ : एव त्रसनशीलास्त्रसा —प्रतीता एव, त्रसा. कायाः—शरीराणि येषां ते त्रसकाया., त्रसकाया एव त्रसकायिका.।

१३—उत्त० ३६.१२८-१२९ ; १३६-१३८ ; १४६-१४८, १५५।

१४—हा० टी० प० १३८ : स्वार्थिकष्ठक्।

सूत्र : ४

१२. शस्त्र (सत्थ) :

घातक पदार्थ को शस्त्र कहा जाता है। वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वकाय-शस्त्र, परकाय-शस्त्र और उभयकाय-शस्त्र। एक प्रकार की मिट्टी से दूसरी प्रकार की मिट्टी के जीवों की घात होती है। वहाँ मिट्टी उन जीवों के लिए स्वकाय-शस्त्र है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के भेद से एक काय दूसरे काय का शस्त्र हो जाता है। पानी, अग्नि आदि से मिट्टी के जीवों की घात होती है। वे उनके लिए परकाय-शस्त्र हैं। स्वकाय और परकाय दोनों सयुक्त रूप से घातक होते हैं तब उन्हें उभयकाय शस्त्र कहा जाता है[१]। जिस प्रकार काली मिट्टी जल के स्पर्श, रस, गध आदि से धोली मिट्टी की शस्त्र है।

१३. शस्त्र-परिणति से पूर्व (अन्नत्थ सत्थपरिणएणं) :

पूर्व शब्द 'अन्नत्थ' का भावानुवाद है। यहाँ 'अन्नत्थ'—अन्यत्र—शब्द का प्रयोग 'वर्जनकर—छोड़ कर' अर्थ में है। 'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं' का शाब्दिक अनुवाद होगा—शस्त्र-परिणत पृथ्वी को छोड कर—उसके सिवा अन्य पृथ्वी 'चित्तमत' होती है[२]।

'अन्यत्र' शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—अन्यत्र भीष्माद् गाङ्गेयाद् अन्यत्र च हनूमत.।

१४. चित्तवती (चित्तमंतं) :

चित्त का अर्थ है जीव अथवा चेतना। पृथ्वी, जल आदि में जीव अथवा चेतना होती है इसलिए उन्हें चित्तवत् कहा गया है[३]।

'चित्तमत' के स्थान में वैकल्पिक पाठ 'चित्तमत्त' है। इसका सस्कृत रूप चित्तमात्र होता है[४]। मात्र शब्द के स्तोक और

१—(क) दश० नि० २३१, हा० टी० प० १३६ : किंचित्स्वकायशस्त्र, यथा कृष्णा मृद् नीलादिमृद शस्त्रम्, एव गन्धरसस्पर्शभेदेऽपि शस्त्र-योजना कार्या, तथा 'किञ्चित्परकाये' ति परकायशस्त्र, यथा पृथ्वी अप्तेज प्रभृतीनाम् अप्तेज प्रभृतयो वा पृथिव्या:, 'तदुभय किञ्चि' दिति किञ्चित्तदुभयशस्त्र भवति, यथा कृष्णा मृद् उदकस्य स्पर्शरसगन्धादिभि पाण्डुमृदश्च, यदा कृष्णमृदा कलुषितमुदक भवति तदाऽसौ कृष्णमृद् उदकस्य पाण्डुमृदश्च शस्त्र भवति।

(ख) जि० चू० पृ० १३७ : किंची ताव दव्वसत्थ सकायसत्थ किंचि परकायसत्थ किंचि उभयकायसत्थति, तत्थ सकायसत्थ जहा किण्हमट्टिया नीलमट्टियाए सत्थ, एव पचवण्णादि परोप्पर सत्थ भवति, जहा य वण्णा तहा गधरसफासावि भाणियव्वा, परकायसत्थ नाम पुढविकायो आउकायस्स सत्थ पुढविकायो तेउकायस्स पुढविकाओ वाउकायस्स पुढविकाओ वणस्सइकायस्स पुढविकाओ तसकायस्स, एव सव्वे परोप्पर सत्थ भवति. उभयसत्थं णाम जाहे किण्हमट्टियाए कलुसियमुदग भवइ जाव परिणया।

२—(क) अ० चू० : अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ, किं परिवज्जइयइ? सत्थपरिणय पुढविं मोत्तूण जा अण्णा पुढवी सा चित्तमता इति त परिवज्जयति।

(ग) हा० टी० प० १३८-९ 'अन्यत्र शस्त्रपरिणताया'—शस्त्रपरिणतां पृथिवीं विहाय—परित्यज्यान्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थ।

३—(क) जि० चू० पृ० १३५ चित्त जीवो भण्णइ, त चित्त जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमता, चेयणाभावो भण्णइ, सो चेयणाभावो जाए पुढवीए अत्थि सा चित्तमता।

(ख) हा० टी० प० १३८ : 'चित्तवती' ति चित्त—जीवलक्षण तदस्या अस्तीति चित्तवती—सजीवेत्यर्थ।

४—(क) जि० चू० पृ० १३५ : अहवा एव पढिज्जइ 'पुढवि चित्तमता अक्खाया'।

(ख) हा० टी० प० १३८ : पाठान्तर वा 'पुढवी चित्तमत्तमक्खाया'।

परिमाण ये दो अर्थ माने हैं। प्रस्तुत विषय में 'मात्र' शब्द स्तोकवाची है[1]। पृथ्वीकाय आदि पाँच जीवनिकायों में चैतन्य स्तोक—थोड़ा-अल्प-विकसित है। उनमें उच्छ्वास, निमेष आदि जीव के व्यक्त चिह्न नहीं हैं[2]।

'मत्त' का अर्थ मूर्च्छित भी किया है। जिस प्रकार चित्त के विघातक कारणों से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है वैसे ही ज्ञानावरण के प्रबलतम उदय से पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है। इनके चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है[3]।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी-पचेन्द्रिय-तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम-मनुष्य, गर्भज-तिर्यञ्च, गर्भज-मनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवन-वासी देव, ज्योतिष्क देव और वैमानिक देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान के देव) इन सबके चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता है। एकेन्द्रियों में चैतन्य इन सबसे जघन्य होता है[4]।

१५. अनेक जीव और पृथक् सत्त्वों वाली (अणेगजीवा पुढोसत्ता) :

जीव या आत्मा एक नहीं है किन्तु संख्या दृष्टि से अनन्त है। वनस्पति के सिवाय शेष पाँच जीव-निकायों में से प्रत्येक में असंख्य-असंख्य जीव हैं और वनस्पतिकाय में अनन्त जीव हैं। यहाँ असंख्य और अनन्त दोनों के लिए 'अनेक' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार वेदों में 'पृथिवी देवता आपो देवता' द्वारा पृथ्वी आदि को एक-एक माना है उस प्रकार जैन-दर्शन नहीं मानता। वहाँ पृथ्वी आदि प्रत्येक को अनेक-जीव माना है[5]। यहाँ तक कि मिट्टी के कण, जल की बूँद और अग्नि की चिनगारी में असंख्य जीव होते हैं।

१—(क) अ० चू० : इह मेत्ता सद्दा थोवे।

(ख) जि० चू० पृ० १३५ : चित्तं चेयणाभावो चेव भण्णइ, मत्तासद्दो दोसु अत्थेसु वट्टइ, तं०—थोवे वा परिणामे वा, थोवओ जहा सरिसवतिभागमत्तमणेण दत्त, परिमाणे परमोही अलोगे लोगप्पमाणमेत्ताइ खंडाइ जाणइ पासइ, इह पुण मत्तासद्दो थोवे वट्टइ।

(ग) हा० टी० प० १३८ : अत्र मात्रशब्द. स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति।

२—(क) जि० चू० पृ० १३६ : चित्तमात्रमेव तेषां पृथिवीकायिनां जीवितलक्षणं, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यन्ते।

(ख) हा० टी० प० १३८ : ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्तेत्यर्थ।

३—(क) अ० चू० : अहवा चित्त मत्त मतेसि ते चित्तमेता अहवा चित्तमता नाम जारिसा पुरिस्स मज्जपीतविसोवभुत्तस्स अहिभक्खिय मुच्छादीहिं।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अभिभूतस्स चित्तमत्ता तओ पुढविक्काइयाण कम्मोदएण पावयरी, तत्थ सव्व जहण्णय चित्त एगिंदियाण।

(ग) हा० टी० प० १३८ : तथा च प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्य चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्।

४—(क) अ० चू० : सव्व जहण्ण चित्त एगिंदियाण ततो विसुद्धतर वेइन्दियाण ततो तेइन्दियाण ततो चोइन्दियाण ततो असन्निपंचि-दितिरिक्खजोणिताण, समूच्छिम मणूसाण य, ततो गब्भवक्कतियतिरियाण, ततो गब्भवक्कतिय मणूसाण, ततो वाणमतराणं, ततो भवणवासिण ततो जोतिसियाण ततो सोधम्मताण जाव सव्वुक्कस अणुत्तरोववातियाणं देवाण।

(ख) जि० चू० पृ० १३६ : तत्थ सव्वजहण्णय चित्त एगिंदियाण, तओ विसुद्धयर बेइंदियाण, तओ विसुद्धतराग तेइंदियाण, तओ विसुद्धयराग चउरिंदियाण, तओ असण्णीण पचेंदियाण समुच्छिममणुयाण य, तओ सुद्धतराग पंचिंदियतिरियाण, तओ गब्भवक्कतियमणुयाणं, तओ वाणमंतराण, तओ भवणवासीण ततो जोइसियाण, ततो सोधम्माण जाव सव्वुक्कोस अणुत्तरो-ववाइयाण देवाणत्ति।

५—(क) जि० चू० पृ० १३६ : अणेगे जीवा नाम न जहा वेदिएहिं एगो जीवो पुढवित्ति, उक्तं—"पृथिवी देवता आपो देवता" इत्येवमादि, इह पुण जिणसासणे अणेगे जीवा पुढवी भवति।

(ख) हा० टी० प० १३८ : इय च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्यां साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकानां 'पृथिवी देवते' त्येवमादिवचनप्रामाण्यादिति।

इनका एक शरीर दृश्य नहीं बनता। इनके शरीरों का पिण्ड ही हमें दिख सकता है[1]।

अनेक जीवों को मानने पर भी कई सब में एक ही भूतात्मा मानते हैं। उनका कहना है—जैसे चन्द्रमा एक होने पर भी जल में भिन्न-भिन्न दिखाई देता है इसी तरह एक ही भूतात्मा जीवों में भिन्न-भिन्न दिखाई देती है[2]। जैन-दर्शन में प्रत्येक जीव-निकायों के जीवों में स्वरूप की सत्ता है। वे किसी एक ही महान् आत्मा के अवयव नहीं हैं, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है इसीलिए वे पृथक्सत्त्व हैं। जिनमें पृथक्भूत सत्त्व—आत्मा हो उन्हें पृथक्सत्त्व कहते हैं। इनकी अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि अँगुल के असख्येय भाग मात्र में अनेक जीव समा जाते हैं। यदि इन्हें सिलादि पर वांटा जाय तो कुछ पिसते हैं कुछ नहीं पिसते। इससे इनका पृथक् सत्त्व सिद्ध होता है[3]।

मुक्तिवाद और मितात्मवाद ये दोनों आपस में टकराते हैं। आत्मा मित होगी तो या तो मुक्त आत्माओं को फिर से जन्म लेना होगा या ससार जीव-शून्य हो जाएगा। ये दोनों प्रमाण संगत नहीं हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे काव्य की भाषा में यों गाया है—

"मुक्तोऽपि वाभ्येतु भव भवो वा,
भवस्थशून्योऽस्तु मितात्मवादे।
षड्जीवकायं त्वमनन्तसंख्य-
माख्यस्तथा नाथ यथा न दोषः[4] ॥"

सूत्र ८ :

१६. अग्र-बीज···(अग्गबीया···) :

वनस्पति के भिन्न-भिन्न भेद उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर किए गए हैं। उनके उत्पादक भाग को बीज कहा जाता है। वे विभिन्न होते हैं। 'कोरटक' आदि के बीज उनके अग्र भाग होते हैं इसलिए वे अग्रबीज कहलाते हैं[5]। उत्पल-कद आदि के मूल ही उनके बीज हैं इसलिए वे मूलबीज कहलाते हैं[6]। इक्षु आदि के पर्व ही बीज हैं इसलिए वे 'पर्वबीज' कहलाते हैं[7]।

१—(क) अ० चू० : ताणि पुण असखेज्जाणि समुदिताणि चक्खुविसयमागच्छति।
(ख) जि० चू० पृ० १३६ : असखेज्जाण पुण पुढविजीवाण सरीराणि सहिताणि चक्खुविसयमागच्छतित्ति।

२—हा० टी० प० १३८ : अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूतात्मापेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेके—"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थित। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥" अत आह—'पृथक्सत्वा' पृथग्भूता सत्त्वा—आत्मानो यस्यां सा पृथक्सत्त्वा।

३—(क) जि० चू० पृ० १३६ पुढो सत्ता नाम पुढविकम्मो दएण सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिह चऽवत्थियत्ति वुत्त भवइ।
(ख) हा० टी० प० १३८ : अङ्गुलासख्येय भागमात्रावगाहनया पारमार्थिक्याऽनेकजीवसमाश्रितेति भाव।

४—अन्य योगव्यच्छेदद्वात्रिंशिका श्लो० २६।

५—(क) अ० चू० : कोरटगादीणि अग्गाणि रुप्पति ते अग्गबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ अग्गबीया नाम अग्ग—बीयाणि जेसि ते अग्गबीया जहा कोरेटगादी, तेसि अग्गाणि रुप्पति।
(ग) हा० टी० प० १३९ : अग्र बीज येषां ते अग्रबीजा —कोरण्टकादय।

६—(क) अ० चू० : कदलि कदादि मूलबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ मूलबीया नाम उप्पलकदादी।
(ग) हा० टी० प० १३९ : मूल बीज येषां ते मूलबीजा—उत्पलकन्दादय।

७—(क) अ० चू० : इक्खु आदि पोरबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : पोरबीया नाम उक्खुमादी।
(ग) हा० टी० प० १३९ : पर्व बीज येषां ते पर्वबीजा—इक्ष्वादय।

थूहर, अश्वत्थ, कैछिट्ट आदि के स्कंध ही बीज हैं इसलिए वे 'स्कंधबीज' कहलाते हैं[1]। शालि, गेहूँ आदि 'बीजरुह' कहलाते हैं[2]।

१७. सम्मूर्च्छिम (सम्मुच्छिमा) :

पद्मिनी, तृण आदि जो प्रसिद्ध बीज के विना उत्पन्न होते हैं वे 'सम्मूर्च्छिम' कहलाते हैं[3]।

१८. तृण (तण) :

घास मात्र को तृण कहा जाता है। दूब, काश, नागरमोथा, कुश अथवा दर्भ, उशीर आदि प्रसिद्ध घास हैं। 'तृण' शब्द के द्वारा सभी प्रकार के तृणों का ग्रहण किया गया है[4]।

१९. लता (लया) :

पृथ्वी पर या किसी बड़े पेड़ पर लिपट कर ऊपर फैलने वाले पौधे को लता कहा जाता है। 'लता' शब्द के द्वारा सभी लताओं का ग्रहण किया गया है[5]।

२०. बीजपर्यन्त (सबीया) :

वनस्पति के दस प्रकार होते हैं—मूल, कद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। मूल की अंतिम परिणति बीज में होती है इसलिए 'स-बीज' शब्द वनस्पति के इन दसों प्रकारों का संग्राहक है[6]।

इसी सूत्र (८.२) में 'सबीयग' शब्द के द्वारा वनस्पति के इन्हीं दस भेदों को ग्रहण किया गया है[7]।

शीलाङ्क सूरि ने 'सबीयग' के द्वारा केवल 'अनाज' का ग्रहण किया है[8]।

१—(क) अ० चू० : णिहुमादि खंदबीया।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : खधबीया नाम अस्सोत्थकविट्ठसल्लादिमायी।
(ग) हा० टी० प० १३९ : स्कन्धो बीज येषां ते स्कंधबीजा.—शल्लक्यादय.।

२—(क) अ० चू० : सालिमादि वीयरुहा।
(ख) जि० चू० १३८ : बीयरुहा नाम सालीवीहीमादी।
(ग) हा० टी० प० १३९ : बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहाः—शाल्यादयः।

३—(क) अ० चू० : पउमिणिमादि उदगपुढविसिणेहसमुच्छणा समुच्छिमा।
(ख) जि० चू० पृ० १३८ : समुच्छिमानाम जे विणा बीयेण पुढविवरिसादीणि कारणाणि पप्प उट्ठेंति।
(ग) हा० टी० प० १४० : समूर्च्छन्तीति सम्मूर्च्छिमाः—प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवीवर्षादिसमुद्भवास्तथाविधास्तृणादय, न चैते न सभवन्ति, दग्धभूमावपि संभवात्।

४—जि० चू० पृ० १३८ : तत्थ तणग्गहणेण तणभेया गहिया।

५—जि० चू० पृ० १३८ : लतागहणेण लताभेदा गहिया।

६—(क) जि० चू० पृ० १३९ : सबीयग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइकाइयस्स बीयपज्जवसाणा दस भेदा गहिया भवति—तजहा—
मूले कदे खधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥
(ख) अ० चू० . सबीया इति बीयावसाणा दस वणस्सति भेदा सगहतो दरिसिता।

७—जि० चू० पृ० २७४ : सबीयगहणेण मूलकन्दादिबीयपज्जवसाणस्स पुव्वभणितस्स दसपगारस्स वणप्फतिणो गहणं।

८—सूत्र० १.९.८ टी० प० १७९ : 'पुढवी उ अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा' सह बीजैर्वर्तन्त इति सबीजाः, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि।

सूत्र ६ :

२१. अनेक बहु त्रस प्राणी (अणेगे बहवे तसा पाणा) :

त्रस जीवों की द्वीन्द्रिय आदि अनेक जातियाँ होती हैं और प्रत्येक जाति में बहुत प्रकार के जीव होते हैं इसलिए उनके पीछे अनेक और बहु ये दो विशेषण प्रयुक्त किए हैं[1]। इनमें उच्छ्वासादि विद्यमान होते हैं अतः ये प्राणी कहलाते हैं[2]।

त्रस दो प्रकार के होते हैं—लब्धि-त्रस और गति-त्रस। जिन जीवों में साभिप्राय गति करने की शक्ति होती है वे लब्धि-त्रस होते हैं और जिनमें अभिप्रायपूर्वक गति नहीं होती केवल गति मात्र होती है वे गति-त्रस कहलाते हैं। अग्नि और वायु को सूत्रों में त्रस कहा है पर वे गति-त्रस हैं। जिन्हें उदार त्रस प्राणी कहा है वे लब्धि-त्रस हैं[3]। प्रस्तुत सूत्र में त्रस के जो लक्षण बतलाए हैं वे लब्धि-त्रस के हैं।

२२. अण्डज (अंडया) :

अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि अण्डज कहलाते हैं[4]।

२३. पोतज (पोयया) :

'पोत' का अर्थ शिशु है। जो शिशु रूप में उत्पन्न होते हैं, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता वे पोतज कहलाते हैं। हाथी, चर्म-जलौका आदि पोतज प्राणी हैं[5]।

२४. जरायुज (जराउया) :

जन्म के समय में जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं वे जरायुज कहलाते हैं। भैंस, गाय आदि इसी रूप में उत्पन्न होते हैं। जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली है जो शिशु को आवृत किए रहती है[6]।

१—(क) अ० चू० : 'अणेगा' अनेग भेदा बेइन्दियादतो। 'बहवे' इति बहुभेदा जाति-कुलकोडि-जोणी-पमुहसतसहस्सेहिं पुणरवि संखेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अणेगे नाम एक्कमि चेव जातिभेदे असंखेज्जा जीवा इति।
(ग) हा० टी० प० १४१ : अनेके—द्वीन्द्रियादिभेदेन बहव एकैकस्यां जातौ।

२—(क) अ० चू० : 'पाणा' इति जीवा: प्राणन्ति वा निःश्वसन्ति वा। जोणी भेदेणोपदरिसिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० १३६ : पाणा नाम भूतेति वा एगट्ठा।
(ग) हा० टी० प० १४१ : प्राणा—उच्छ्वासादय एषां विद्यन्त इति प्राणिन:।

३—स्था० ३ २.१६४ : तिविहा तसा प० त०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा।

४—(क) अ० चू० : अण्डजाता 'अण्डजा' मयूरादय।
(ख) जि० चू० पृ० १३६ : अंडसभवा अंडजा जहा हंसमयूरायिणो।
(ग) हा० टी० प० १४१ : पक्षिगृहकोकिलादय।

५—(क) अ० चू० पोतमिव सूयते 'पोतजा' वल्गुलीमादय.।
(ख) जि० चू० पृ० १३६ : पोतया नाम वग्गुलिमाइणो।
(ग) हा० टी० प० १४१ : पोता एव जायन्त इति पोतजा ··· ··········ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलौकाप्रभृतय:।

६—(क) अ० चू० : जराउवेढिता जायति 'जराउजा' गवादय।
(ख) जि० चू० पृ० १३६-४० : जराउया नाम जे जरवेढिया जायति जहा गोमहिसादि।
(ग) हा० टी० प० १४१ : जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजा—गोमहिष्यजाविकमनुष्यादय.।

२५. रसज (रसया) :

छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म शरीरी जीव रसज कहलाते हैं[1]।

२६. संस्वेदज (संसेइमा) :

पसीने से उत्पन्न होने वाले खटमल, यूका—जूँ आदि जीव संस्वेदज कहलाते हैं[2]।

२७. सम्मूर्च्छनज (सम्मुच्छिमा) :

सम्मूर्च्छनज से उत्पन्न—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले शलभ, चींटी, मक्खी आदि जीव सम्मूर्च्छनज कहलाते हैं[3]। सम्मूर्च्छिम मातृ-पितृहीन प्रजनन है। यह सर्दी, गर्मी आदि बाहरी कारणों का संयोग पाकर उत्पन्न होता है। सम्मूर्च्छन का शाब्दिक अर्थ है घना होने, बढने या फैलने की क्रिया। जो जीव गर्भ के बिना उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं और फैलते हैं वे 'सम्मूर्च्छनज' या सम्मूर्च्छिम कहलाते हैं। वनस्पति जीवों के सभी प्रकार 'सम्मूर्च्छिम' होते हैं। फिर भी उत्पादक अवयवों के विवक्षा भेद से केवल उन्हीं को सम्मूर्च्छिम कहा गया है जिनका बीज प्रसिद्ध न हो और जो पृथ्वी, पानी और स्नेह के उचित योग से उत्पन्न होते हों।

इसी प्रकार रसज, सस्वेदज और उद्भिज ये सभी प्राणी 'सम्मूर्च्छिम' हैं। फिर भी उत्पत्ति की विशेष सामग्री को ध्यान में रख कर इन्हें 'सम्मूर्च्छिम' से पृथक् माना गया है। चार इन्द्रिय तक के सभी जीव सम्मूर्च्छिम ही होते हैं और पञ्चेन्द्रिय जीव भी सम्मूर्च्छिम होते हैं। इसकी योनि पृथक्-पृथक् होती है जैसे—पानी की योनि पवन है, घास की योनि पृथ्वी और पानी है। इनमें कई जीव स्वतन्त्र भाव से उत्पन्न होते हैं और कई अपनी जाति के पूर्वोत्पन्न जीवों के संसर्ग से। ये संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले जीव गर्भज समझे जाते हैं किन्तु वास्तव में वे गर्भज नहीं होते। उनमें गर्भज जीव का लक्षण मानसिक ज्ञान नही मिलता। सम्मूर्च्छिम और गर्भज जीवो में भेद करने वाला मन है। जिनके मन होता है वे गर्भज और जिनके मन नहीं होता वे सम्मूर्च्छिम होते हैं।

२८. उद्भिज (उब्भिया) :

पृथ्वी को भेद कर उत्पन्न होने वाले पतग, खञ्जरीट (शरद् ऋतु से शीतकाल तक दिखाई देने वाला एक प्रसिद्ध पक्षी) आदि उद्भिज्ज या उद्भिज कहलाते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० : रसा से भवति रसजा, तक्रादौ सुहुमसरीरा।
(ख) जि० चू० पृ० १४० : रसया नाम तक्कबिलमाइसु भवति।
(ग) हा० टी० प० १४१ रसाज्जाता रसजा —तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूक्ष्मा भवन्ति।

२—(क) अ० चू० : 'सस्वेदजा' यूगादत·।
(ख) जि० चू० पृ० १४० . ससेयणा नाम जूयादी।
(ग) हा० टी० प० १४१ : सस्वेदाज्जाता इति सस्वेदजा—मत्कुणयूकाशतपदिकादय·।

३—(क) अ० चू० : सम्मुच्छिमा करीसादिसु मच्छिकादतो भवति।
(ख) जि० चू० पृ० १४० : समुच्छिमा नाम करीसादिसमुच्छिया।
(ग) हा० टी० प० १४१ . समूर्च्छनाज्जाता समूर्च्छनजा·—शलभपिपीलिकामक्षिकाशालूकादयः।

४—(क) अ० चू० 'उब्भिता' भूमिं भिंदिऊण निद्धावंति सलभादयो।
(ख) जि० चू० पृ० १४० : उब्भिया नाम भूमिं भेत्तूणं पंखालया सत्ता उप्पज्जति।
(ग) हा० टी० प० १४१ : उद्भेदाज्जन्म येषां ते उद्भेदाः, अथवा उद्भेदनमुद्भित् उद्भिज्जन्म येषां ते उद्भिज्जा·—पतङ्गखञ्जरीटपारिप्लवादय·।

छान्दोग्योपनिषद् में पक्षी आदि भूतों के तीन बीज माने हैं—अण्डज, जीवज और उद्भिज्ज[1]। शाङ्कर भाष्य में 'जीवज' का अर्थ जरायुज किया है[2]। स्वेदज और संशोकज का यथा सम्भव अण्डज और उद्भिज्ज में अन्तर्भाव किया है[3]। उद्भिज्ज—जो पृथ्वी को ऊपर की ओर भेदन करता है उसे उद्भिद् यानी स्थावर कहते हैं, उससे उत्पन्न हुए का नाम उद्भिज्ज है, अथवा धाना (बीज) उद्भिद् है उससे उत्पन्न हुआ उद्भिज्ज स्थावर-बीज अर्थात् स्थावरों का बीज है[4]।

ऊष्मा से उत्पन्न होने वाले बीजों को सशोकज माना गया है। जैन-दृष्टि से इसका सम्मूर्च्छिम में अन्तर्भाव हो सकता है।

२६. औपपातिक (उववाइया) :

उपपात का अर्थ है अचानक घटित होने वाली घटना। देवता और नारकीय जीव एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते इसीलिए इन्हें औपपातिक—अकस्मात् उत्पन्न होने वाला कहा जाता है[5]। इनके मन होता है इसलिए ये सम्मूर्च्छिम नहीं हैं। इनके माता-पिता नहीं होते इसलिए ये गर्भज भी नहीं हैं। इनकी औत्पत्तिक-योग्यता पूर्वोक्त सभी से भिन्न है इसीलिए इनकी जन्म-पद्धति को स्वतन्त्र नाम दिया गया है।

ऊपर में वर्णित पृथ्वीकायिक से लेकर वनस्पतिकायिक पर्यंत जीव स्थावर कहलाते हैं।

त्रस जीवों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। जन्म के प्रकार की दृष्टि से जो वर्गीकरण होता है वही अण्डज आदि रूप है।

३०. सब प्राणी सुख के इच्छुक हैं (सव्वे पाणा परमाहम्मिया) :

'परम' का अर्थ प्रधान है। जो प्रधान है वह सुख है। 'अपरम' का अर्थ है न्यून। जो न्यून है वह दुःख है। 'धर्म' का अर्थ है स्वभाव। परम जिनका धर्म है अर्थात् सुख जिनका स्वभाव है वे परम-धार्मिक कहलाते हैं[6]। दोनों चूर्णियों में 'पर-धम्मिता' ऐसा पाठान्तर है। एक जीव से दूसरा जीव 'पर' होता है। जो एक का धर्म है वही पर का है—दूसरे का है। सुख की जो अभिलाषा एक जीव में है वही पर में है—शेष सब जीवों में है। इस दृष्टि से जीवों को 'पर-धार्मिक' कहा जाता है[7]।

१—छान्दो० ६ ३ १ : तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डज जीवजमुद्भिज्जमिति।

२—वही शाङ्कर भा० जीवाज्जात जीवजं जरायुजमित्येतत्पुरुषपश्वादि।

३—वही : स्वेदजसंशोकजयोरण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासम्भवमन्तर्भाव ।

४—वही : उद्भिज्जमुद्भिनत्तीत्युद्भित्स्थावर ततो जातमुद्भिज्जधानावोद्भित्ततो जायत इत्युद्भिज्ज स्थावरबीज स्थावराणां बीजमित्यर्थः"।

५—(क) अ० चू० : 'उववातिया' नारग-देवा।

(ख) जि० चू० पृ० १४० : उववाइया नाम नारगदेवा।

(ग) हा० टी० प० १४१ : उपपाताज्जाता उपपातजाः अथवा उपपाते भवा औपपातिका—देवा नारकाश्च।

६—(क) अ० चू० : सव्वेपाणा 'परमाहम्मिया'। परम पहाणं, त च सुहं। अपरम ऊण तं पुण दुक्ख। धम्मोसभावो। परमो धम्मो जेसि ते परमधम्मिता। यदुक्तम्—सुख स्वभावा।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : परमाहम्मिया नाम अपरम दुक्ख परम सुह भण्णइ, सव्वे पाणा परमाधम्मिया—सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्त भवइ।

(ग) हा० टी० प० १४२ : परमधर्माण इति—अत्र परम-सुख तद्धर्माणः सुखधर्माण—सुखाभिलाषिण इत्यर्थ।

७—(क) अ० चू० : पाठ विसेसो परधम्मिता—पराजाति जाति पडुच्च सेसा, जो तप्परेसि धम्मो सो तेसि। जहा एगस्स अभिलाम-प्रीतिप्पभितीणि सम्भवति तहा सेसाण वि अतो पारधम्मिता।

(ख) जि० चू० पृ० १४१ : अहवा एय सुत्त एव पढिज्जइ 'सव्वे पाणा परमाहम्मिया' इक्किक्कस्स जीवस्स सेसा जीवभेदा परा, ते य सव्वे सुहाभिकंखिणोत्ति वुत्त भवति, जो तेसि एक्कस्स धम्मो सो सेसाणपिचिकाऊण सव्वे पाणा परमाहम्मिया।

दोनों चूर्णिकार 'सव्वे' शब्द के द्वारा केवल त्रस जीवों का ग्रहण करते हैं। किन्तु टीकाकार उसे त्रस और स्थावर दोनों प्रकार के जीवों का संग्राहक मानते हैं[1]।

सुख की अभिलाषा प्राणी का सामान्य लक्षण है। त्रस और स्थावर सभी जीव सुखाकांक्षी होते हैं। इसलिए 'परमाहम्मिया' केवल त्रस जीवों का ही विशेषण क्यों ? यह प्रश्न होता है। टीकाकार इसे त्रस और स्थावर दोनों का विशेषण मान उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं। किन्तु वहाँ एक दूसरा प्रश्न और खड़ा हो जाता है वह यह है—प्रस्तुत सूत्र में त्रस जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें त्रस जीवों के लक्षण और प्रकार बतलाए गए हैं। इसलिए यहाँ स्थावर का संग्रहण प्रासंगिक नहीं लगता। इन दोनों बाधाओं को पार करने का एक तीसरा मार्ग है। उसके अनुसार 'पाणा परमाहम्मिया' का अर्थ वह नहीं होता, जो चूर्णि और टीकाकार ने किया है। यहाँ 'पाणा' शब्द का अर्थ मातग[2] और 'परमाहम्मिया' का अर्थ परमाधार्मिक देव होना चाहिए[3]। जिस प्रकार तिर्यग्-योनिक, नैरयिक, मनुष्य और देव ये त्रस जीवों के प्रकार बतलाए हैं उसी प्रकार परमाधार्मिक भी उन्हीं का एक प्रकार है। परमाधार्मिकों का शेष सब जीवों से पृथक् उल्लेख आवश्यक[4] और उत्तराध्ययन[5] आगम में मिलता है। बहुत संभव है यहाँ भी उनका और सब जीवों से पृथक् उल्लेख किया गया हो। 'पाणा परमाहम्मिया' का उक्त अर्थ करने पर इसका अनुवाद और पूर्वापर संगति इस प्रकार होगी—सब मनुष्य और सब मातग स्थानीय परमाधार्मिक हैं—वे त्रस हैं।

सूत्र : १०

३१. इन (इच्चेसिं—सं० इति + एषां) :

'इति' शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में होता है—जैसे आमंत्रण में, परिसमाप्ति में और उपपद—पूर्व वृत्तान्त या पुरावृत्त को बताने के लिए। 'धम्मएति वा उवएसएति वा' यहाँ 'इति' शब्द का व्यवहार प्रथम अर्थ में है। 'इति खलु समणे भगवं ! महावीरे' यहाँ इस शब्द का प्रयोग द्वितीय अर्थ में है। प्रस्तुत प्रसंग में जिनदास गणि के अनुसार इस शब्द का प्रयोग तीसरे अर्थ में हुआ है। 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त षट्-जीवनिकाय।

हरिभद्र सूरि के अनुसार यहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग हेतु अर्थ में हुआ है। उनके अनुसार 'इति' शब्द 'सर्व प्राणी सुख के इच्छुक हैं' इस हेतु का द्योतक है[6]।

१—हा० टी० प० १४२ : 'सर्वे प्राणिनः परमधर्माण' इति सर्व एते प्राणिनो—द्वीन्द्रियादयः पृथिव्यादयश्च।

२—पाइ० ना० १०५ : मायगा तह जणगमापाणा।

३—सम० १५ टीका प० २६ : तत्र परमाश्च तेऽधार्मिकाश्च सक्लिष्टपरिणामत्वात्परमाधार्मिकाः—असुरविशेषाः।

४—आव० ४.६ : चउद्दसहिं भूय-गामेहिं, पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं।

५—उत्त० ३१.१२ : किरियासु भूयगामेसु परमाहम्मिएसु य।
जे भिक्खू जयई निच्चं से न अच्छइ मण्डले॥

६—(क) अ० चू० : इतिसद्दो अणेगत्थो अत्थि, हेतौ—वरिसतीति धावति, एवमत्थो—इति 'ब्रह्मवादिनो' वदंति, आद्यर्थे—इत्याह भगवां नास्तिकः, परिसमाप्तौ—अ अ इति, प्रकारे—इति बहुविह—मुक्खा। इह इतिसद्दो प्रकारे—पुढविक्काितयादिसु किण्हमट्टितादिप्रकारेसु, अहवा हेतौ—जम्हा परधम्मिया सुहसाया दुक्खपडिकूला। 'इच्चेतेसु', एतेसु अणंतराणुक्कंतं पच्चक्खमुपदंसिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२ : इतिसद्दो अणेगेसु अत्थेसु वट्टइ, त—आमंतणे परिसमत्तीए उवप्पदरिसणे य, आमतणे जहा धम्मएति वा उवएसएति वा एवमादी, परिसमत्तीए जहा 'इति खलु समणे भगव ! महावीरे' एयमादी, उवप्पदरिसणे जहा 'इच्चेए पंचविहे ववहारे' एत्थ पुण इच्चेतेहिं एसो सद्दो उवप्पदरिसणे दट्ठव्वो, किं उवप्पदरिसयति ?, जे एते जीवाभिगमस्स छ भेया भणिया।

(ग) हा० टी० प० १४२ : 'इच्चेसिं' इत्यादि, सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना।

'इच्चेतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं' अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति मानी है[१]। टीकाकार को 'इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं' यह पाठ अभिमत है और उनके अनुसार यहाँ सप्तमी विभक्ति के अर्थ में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है[२]।

३२. दण्ड-समारम्भ (दंडं समारंभेज्जा) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दण्ड' का अर्थ शरीर आदि का निग्रह—दमन करना किया है[३]। जिनदास[४] चूर्णि और टीका[५] में इसका अर्थ संघट्टन, परितापन आदि किया है। कौटिल्य ने इसके तीन अर्थ किए हैं : वध—प्राणहरण, परिक्लेश—बन्धन-ताड़नादि से क्लेश उत्पन्न करना और अर्थ-हरण—धनापहरण[६]।

'दण्ड' शब्द का अर्थ यहाँ बहुत ही व्यापक है। मन, वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति जो दुःख-जनक या परिताप जनक हो दण्ड शब्द के अन्तर्गत है। समारम्भ का अर्थ है करना।

३३. यावज्जीवन के लिए (जावज्जीवाए) :

'यावजीवन' अर्थात् जीवन भर के लिए। जब तक शरीर में प्राण रहे उस समय तक के लिए[७]। हरिभद्र सूरि के अनुसार 'इच्चेसिं...... ...न समणुजाणेज्जा' तक के शब्द आचार्य के हैं[८]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'इच्चेसिं'' '''तिविहं तिविहेणं' तक के शब्द आचार्य के हैं[९]।

३४. तीन करण तीन योग से (तिविहं तिविहेणं) :

क्रिया के तीन प्रकार हैं—करना, कराना और अनुमोदन करना। इन्हें योग कहा जाता है। क्रिया के साधन भी तीन होते हैं—मन, वाणी और शरीर। इन्हें करण कहा जाता है। स्थानाङ्ग में इन्हें करण, योग और प्रयोग कहा है[१०]।

१—अ० चू० : हिसद्दो सत्तम्यर्थंतेव।

२—(क) अ० चू० : 'एतेहिं छहिं जीवनिकाएहिं'।
(ख) हा० टी० प० १४३ : 'एतेषां षण्णां जीवनिकायाना'मिति, सुपां सुपो भवन्तीति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

३—अ० चू० : दण्डोसरीरादिनिग्गहो।

४—जि० चू० पृ० १४२ : दण्डो संघट्टणपरितावणादि।

५—हा० टी० प० १४३ : 'दण्ड' संघट्टनपरितापनादिलक्षणम्।

६—कौटलीय अर्थ० २.१०.२८ : वध परिक्लेशोऽर्थहरण दण्ड इति (व्याख्या)—वधो व्यापादन,परिक्लेशो बन्धनताडनादिभिर्दुःखोत्पादनम्, अर्थ-हरणं धनापहार', इद त्रय दण्ड।

७—(क) अ० चू० : असमारभकालावधारणमिदम्—'जावजीवाए' जाव पाणा धारति।
(ख) जि० चू० पृ० १४२ : सीसो भणइ—केच्चिरं कालं ?, आयरिओ भणइ—जावजीवाए, ण उ जहा लोइयाण चिन्नवओ होऊण पच्छा पडिसेवइ, किन्तु अम्हाणं जावजीवाए वट्टति।
(ग) हा० टी० प० १४३ : जीवन जीवा यावज्जीवा यावज्जीवम्—आप्राणोपरमात्।

८—हा० टी० प० १४३ : 'न समनुजानीयात्' नानुमोदयेदिति विधायक भगवद्वचनम्।

९—जि० चू० पृ० १४२-४३ : आयरिओ भणइ—जावजीवाए........'तिविहं तिविहेण'ति मय मणसा न चिंतयइ'...... ''इत्थुरंगं न करेइ।

१०—स्था० ३.१.१२४ : तिविहे जोगे—मणजोगे, वतिजोगे, कायजोगे।
तिविहे पओगे—मणपओगे, वतिपओगे, कायपओगे।
तिविहे करणे—मणकरणे, वतिकरणे, कायकरणे।

हरिभद्र सूरि ने 'त्रिविध' से कृत, कारित और अनुमति का तथा 'त्रिविधेन' से मन, वाणी और शरीर इन तीन करणों का ग्रहण किया है[1]। यहाँ अगस्त्यसिंह मुनि की परम्परा दूसरी है। वे 'तिविहं' से मन, वाणी और शरीर का तथा 'तिविहेण' से कृत, कारित और अनुमति का ग्रहण करते हैं[2]। इसके अनुसार कृत, कारित और अनुमोदन को करण तथा मन, वाणी और शरीर को योग कहा जाता है। आगम की भाषा में योग का अर्थ है मन, वाणी और शरीर का कर्म। साधारण दृष्टि से यह क्रिया है किन्तु जितना भी किया जाता है, कराया जाता है और अनुमोदन किया जाता है उसका साधन मन, वाणी और शरीर ही है। इस दृष्टि से इन्हें करण भी कहा जा सकता है। जहाँ क्रिया और क्रिया के हेतु की अभेद विवक्षा हो वहाँ ये क्रिया या योग कहलाते हैं और जहाँ उनकी भेद विवक्षा हो वहाँ ये करण कहलाते हैं। इसलिए इन्हें कहीं योग और कहीं करण कहा गया है[3]।

३५. मन से, वचन से, काया से (मणेणं वायाए काएणं) :

मन, वचन और काया—कृत, कारित और अनुमोदन—इनके योग से हिंसा के नौ विकल्प बनते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

जो दूसरे को मारने के लिए सोचे कि मैं इसे कैसे मारूँ? वह मन के द्वारा हिंसा करता है। वह इसे मार डाले—ऐसा सोचना मन के द्वारा हिंसा कराना है। कोई किसी को मार रहा हो—उससे सन्तुष्ट होना—राजी होना मन के द्वारा हिंसा का अनुमोदन है।

वैसा बोलना जिससे कोई दूसरा मर जाए—वचन से हिंसा करना है। किसी को मारने का आदेश देना—वचन से हिंसा कराना है। अच्छा मारा—यह कहना वचन से हिंसा का अनुमोदन है।

स्वय किसी को मारे—यह कायिक हिंसा है। हाथ आदि से किसी को मरवाने का सकेत करना—काय से हिंसा कराना है। कोई किसी को मारे—उसकी शारीरिक संकेतों से प्रशसा करना—काय से हिंसा का अनुमोदन है[4]।

'मणेण···न समणुजाणामि' इन शब्दों में शिष्य कहता है—मैं मन, वचन, काया से षट्-जीवनिकाय के जीवों के प्रति दड-समारम नही करूँगा, नहीं कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा[5]।

१—हा० टी० प० १४३ : 'त्रिविधं त्रिविधेने'ति तिस्रो विधा—विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधं', दण्ड इति गम्यते, त त्रिविधेन—करणेन, एतदुपन्यस्यति—मनसा वाचा कायेन।

२—अ० चू० : तिविहं ति मणो-वयण-कातो। तिविहेण ति करण-कारावणा-अणुमोयणाणि।

३—भगवती जोड़ श० १५ दु० १११-११२ : अथवा तिविहेण तिकौ, त्रिविध त्रिभेदे शुद्ध।
करण करावण अनुमति, द्वितीय अर्थ अनिरुद्ध॥
त्रिकरण शुद्धेण कह्यौ, मन,वच,काया जोय।
ए तीनूंई जोग तसू, शुद्ध करी अवलोय॥

४—(क) अ० चू० : मणेण दंड करेति—सयं मारण चिन्तयति कहमहं मारेज्जामि, मणेण कारयति—जदि एसो मारेज्जा, मणसा अणुमोदति—मारेंतस्स तुस्सति, वायाए पाणातिवात करेति—त न भणति जेण अद्वितीए मरति, वायाए कारेति—मारणं सदिसति, वायाए अणुमोदति—सट्ठु हतो, कातेण मारेति—सयमाहणति, काएण कारयति—पाणिप्पहारादिणा, काएणाणुमोदति—मारेंत छोढिकादिना पसंसति।

(ख) जि० चू० पृ० १४२-१४३ : सय मणसा न चितयइ जहा वहयामित्ति, वायाएवि न एव भणइ—जहा एस वहेज्जउ, कायण सय न परिहणति, अन्नस्सवि णेत्तादीहिं णो तारिस भाव दरिसयइ जहा परो तस्स माणसिय णाऊण सत्तोवघायं करेइ, वायाएवि संदेस न देइ जहा त धाएहित्ति, काएणवि णो हत्थादिणा सण्णेइ जहा एय मारयाहि, घातंतंपि अण्ण दट्ठूण मणसा तुट्ठिं न करेइ, वायाएवि पुच्छिओ संतो अणुमइं न देइ, काएणावि परेण पुच्छिओ सतो हत्थुक्खेवं न करेइ।

५—हा० टी० प० १४३ : मनसा वाचा कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव, अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः।

३६. भंते (भंते) :

यह गुरु का सम्बोधन है। टीकाकार ने इसके संस्कृत रूप तीन दिए हैं—भदन्त, भवान्त और भयान्त[1]। व्रत-ग्रहण गुरु के साक्ष्य से होता है। इसलिए शिष्य गुरु को सम्बोधित कर अपनी भावना का निवेदन करता है[2]।

इस सम्बोधन की उत्पत्ति के विषय में चूर्णिकार कहते हैं: गणधरों ने भगवान से अर्थ सुन कर व्रत ग्रहण किये उस समय उन्होंने 'भंते' शब्द का व्यवहार किया तभी से इसका प्रयोग गुरु को आमन्त्रण करने के लिए होता आ रहा है[3]।

३७. अतीत में किये (तस्स) :

गत काल में दण्ड-समारम्भ किये हैं उनसे[4]। सम्बन्ध या अवयव में षष्ठी का प्रयोग है।

३८. निवृत्त होता हूँ (पडिक्कमामि) :

अकरणीय कार्य के परिहार की जैन-प्रक्रिया इस प्रकार है—अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और अनागत का प्रत्याख्यान। प्रतिक्रमण का अर्थ है अतीतकालीन पाप-कर्म से निवृत्त होना[5]।

३९. निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ (निंदामि गरिहामि) :

निन्दा का अर्थ आत्मालोचन है। वह अपने आप किया जाता है। दूसरों के समक्ष जो निन्दा की जाती है उसे गर्हा कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने निन्दा तथा गर्हा में यही भेद बताया है[6]। पहले जो अज्ञान भाव से किया हो उसके सम्बन्ध में पश्चात्ताप से हृदय में दाह का अनुभव करना—जैसे मैंने बुरा किया, बुरा कराया, बुरा अनुमोदन किया—वह निन्दा है। गर्हा का अर्थ है भूत, वर्तमान और आगामी काल में न करने के लिए उद्यत होना[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १४३ : 'भंते !'त्ति भयव भवान्त एवमादी भगवतो आमंतणं।
(ख) हा० टी० प० १४४ : भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम्, भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुतिः।
(ग) अ० चू० : भन्ते ! इति भगवतो आमंतणं।

२—हा० टी० प० १४४ : एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम्।

३—(क) अ० चू० : गणहरा भगवतो सकासे अत्थं सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहु—तस्स भंते० ! जहा जे वि इमम्मि काले ते वि वताइं पडिवज्जमाणा एवं भणंति—तस्स भंते !
(ख) जि० चू० पृ० १४३ : गणहरा भगवओ सगासे अत्थं सोऊण वताणि पडिवज्जमाणा एवमाहु।

४—(क) अ० चू० : तस्स त्ति दंडसमारंभस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १४३ : 'तस्स' त्ति नाम जो सो परितावणादि दंडो।
(ग) हा० टी० प० १४४ : तस्येत्यधिकृतो दण्डः सम्बध्यते, संबन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी।

५—(क) अ० चू० : पडिक्कमामि, प्रतीपं क्रमामि—णियत्तामि।
(ख) जि० चू० पृ० १४३ : पडिक्कमामि नाम ताओ दंडाओ नियत्तामित्ति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १४४ : योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य सम्बन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति। ...प्रतिक्रामामीति भूताद्दण्डान्निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति, तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति।

६—हा० टी० प० १४४ : 'निन्दामि गर्हामी' ति, अत्रात्मसाक्षिकी निन्दा परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सोच्यते।

७—(क) अ० चू० : जं पुव्वमण्णाणेण कतं तस्स णिंदामि "णिदि कुत्सायाम्" इति कुत्सामि। गरहामि "गर्ह परिभाषणे" इति पगासी करेमि।
(ख) जि० चू० पृ० १४३ : जं पुण पुव्विं अन्नाणभावेण कयं तं णिंदामिनामा ! 'हा ! दुट्ठु कयं हा ! दुट्ठु कारियं अणुमयंपि हा दुट्ठु' अतो २ डज्झइ हियय पच्छाणुतावेण ॥१॥ 'गरिहामि' णाम तिविहं तीताणागतवट्टमाणेसु कालेसु अकरणयाए अब्भुट्ठेमि।

४०. आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ (अप्पाणं वोसिरामि) :

आत्मा हेय या उपादेय कुछ भी नहीं है। उसकी प्रवृत्तियाँ हेय या उपादेय बनती हैं। साधना की दृष्टि से हिंसा आदि असत्-प्रवृत्तियाँ, जिनसे आत्मा का बन्धन होता है, हेय हैं और अहिंसा आदि सत्-प्रवृत्तियाँ एवं संवर उपादेय हैं।

साधक कहता है—मैं अतीत काल में असत्-प्रवृत्तियों में प्रवृत्त आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ अर्थात् आत्मा की असत्-प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ[1]।

प्रश्न किया जा सकता है कि अतीत के दण्ड का ही यहाँ प्रतिक्रमण यावत् व्युत्सर्ग किया है अतः वर्तमान दण्ड का संवर और अनागत दण्ड का प्रत्याख्यान यहाँ नहीं होता। टीकाकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—ऐसी बात नहीं है। 'न करोमि' आदि से वर्तमान के सवर और भविष्यत् के प्रत्याख्यान की सिद्धि होती है[2]।

'तस्स भंते···वोसिरामि' दण्ड समारम न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद शिष्य जो भावना प्रकट करता है वह उपर्युक्त शब्दों में व्यक्त है।

सूत्र ४-६ में षट्‌जीवनिकायों का वर्णन है। प्रस्तुत अनुच्छेद में इन षट्-जीवनिकायों के प्रति दण्ड-समारंभ के प्रत्याख्यान का उल्लेख है। यह क्रम आकस्मिक नहीं पर सम्पूर्णतः वैज्ञानिक और अनुभव पूर्ण है। जिसको जीवों का ज्ञान नहीं होता, उनके अस्तित्व में श्रद्धा-विश्वास नहीं होता, वह व्यक्ति जीवन-व्यवहार में उनके प्रति सयमी, अहिंसक अथवा चारित्रवान नहीं हो सकता। कहा है—"जो जिन-प्ररूपित पृथ्वीकायादि जीवों के अस्तित्व में श्रद्धा नहीं करता वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नहीं होता। जिसे जीवों में श्रद्धा होती है वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है।"

व्रत ग्रहण के पूर्व जीवों के ज्ञान और उनमें विश्वास की कितनी आवश्यकता है, इसको बताने के लिए निम्नलिखित दृष्टान्त मिलते हैं :

१—जैसे मलीन वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता और स्वच्छ वस्त्र पर सुन्दर रंग चढता है, उसी तरह जिसे जीवों का ज्ञान नहीं होता, जिसे उनके अस्तित्व में शका होती है वह अहिंसा आदि महाव्रतों के योग्य नहीं होता। जिसे जीवों का ज्ञान और उनमें श्रद्धा होती है वह उपस्थापन के योग्य होता है और उसीके व्रत सुन्दर और स्थिर होते हैं।

२—जिस प्रकार प्रासाद-निर्माण के पूर्व भूमि को परिष्कृत कर देने से भवन स्थिर और सुन्दर होता है और अपरिष्कृत भूमि पर असुन्दर और अस्थिर होता है, उसी तरह मिथ्यात्व की परिशुद्धि किये बिना व्रत ग्रहण करने पर व्रत टिक नहीं पाते।

३—जिस तरह रोगी को औषधि देने के पूर्व उसे वमन-विरेचन कराने से औषधि लागू पड़ती है, उसी तरह जीवो के अस्तित्व में श्रद्धा रखते हुए जो व्रत ग्रहण करता है उसके महाव्रत स्थिर होते हैं।

साराश यह है—जो जीवों के विषय में कहा गया है, उसे जानकर, उसकी परीक्षा कर मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदित रूप से जो षट्‌जीव-निकाय के प्रति दण्ड-समारम्भ का परिहार करता है वही चारित्र के योग्य होता है।

कहा है—"अशोधित शिष्य को व्रतारोहण नहीं कराना चाहिए, शोधित को कराना चाहिए। अशोधित को व्रतारूढ़ कराने से

१—(क) अ० चू० अप्पाण सव्वसत्ताण दरिसिज्जए, ओसिरामि विविहेहिं प्रकारेहिं सव्वावत्थं परिच्चयामि। दंड-समारंभपरिहरणं चरित्तधम्मप्पमुहमिद।

(ख) हा० टी० प० १४४ : 'आत्मानम्' अतीतदण्डकारिणमश्लाघ्य 'व्युत्सृजामी'ति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः उच्छब्दो भृशार्थः सृजामीति—त्यजामि, ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामीति।

२—हा० टी० प० १४४ : आह—यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं न प्रत्युत्पन्नसवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति, नैतदेवं, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति।

गुरु को दोष लगता है। शोधित को व्रतारूढ कराने से अगर वह पालन नहीं करता तो उसका दोष शिष्य को लगता है, गुरु को नहीं लगता[1] ।"

सूत्र : ११

इसके पूर्व अनुच्छेद में शिष्य द्वारा सार्वत्रिक रूप से दण्ड-समारम्भ का प्रत्याख्यान किया गया है। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये प्राणियों के प्रति सूक्ष्म दण्ड हैं। इन वृत्तियों से दूसरे जीवों को परिताप होता है। प्रस्तुत तथा बाद के चार सूत्रों में प्राणातिपात आदि सूक्ष्म दण्डों के त्याग की शिष्य द्वारा स्वतंत्र प्रतिज्ञाएँ की गई हैं[2] ।

४१. पहले (पढमे) :

यह जैन-सिद्धान्त है कि कोई वस्तु अपने आपमें अमुक प्रकार की नहीं कही जा सकती। किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा से ही वह उस प्रकार की कही जा सकती है। उदाहरणस्वरूप कोई वस्तु स्वय में हल्की या भारी नहीं कही जा सकती। वह अन्य भारी वस्तु की अपेक्षा से ही हल्की और अन्य हल्की वस्तु की अपेक्षा से ही भारी कही जा सकती है। यहाँ जो 'पढमे'—पहले शब्द का प्रयोग है वह

१—(क) जि० चू० पृ० १४३-४४ : जो ऐसो दडनिक्खेवो एवं महव्वयारुहणं त किं सव्वेसिं अविसेसियाण महव्वयारुहण कीरति उदाहो परिक्खिऊण ?, आयरिओ भणइ—जो इमाणि कारणाणि सद्दहइ, 'जीवे पुढविकाए न सद्दहइ जे जिणेहिं पण्णत्ते। अणभिगय-पुण्णपावो ण सो उवट्ठावणे जोगो ॥ १ ॥ एवं आउक्काइए जीवे एव जाव तसकाइए जीवे, एयारिसस्स पुण समारुभिज्जति, तं०— 'पुढविकाइए जीवे सद्दहइ जे जिणेहिं पण्णत्ते। अभिगतपुण्णपावो सो उवट्ठावणाजोगो' ॥ १ ॥ एव आउक्काइए जीवे एव जाव तसकाइए जीवे, अभिगतपुण्णपावो सो उवट्ठावणाजोगो, छज्जीवनिकाए पढियाए ताहे परिक्खिज्जइ, किं ?—परिहरइ ण परिहरइत्ति, जइ परिहरइ तो उवट्ठाविज्जइ, इतरो न उवट्ठाविज्जति, कह ?, जह मइलो पडो रगिओ न सुंदरो भवइ सो, इयरो रगिज्जमाणो सुंदरो भवइ, एव जइ असद्दहियाए छज्जीवनियाए उवट्ठाविज्जइ तो महव्वयाणि न धरेइ, सद्दहियाए छज्जीवणियाए उवट्ठाविज्जमाणे थिरया भवति सुंदरो य भवइ, जहा वा पासादो कज्जमाणो जइ कयवर सोहित्ता कज्जइ तो सुंदरो य थिरो य भवइ, असोहिए पुण अथिरो भवइ, एव कयवरयाणीए मिच्छत्ते असोहिए उवट्ठाविज्जइ तो महव्वयाणि न थिराणि भवति, जहा आउरस्स ओसहं वियरिज्जइ त जइ वमणविरेयणाणि काऊण दिज्जइ तो लग्गइ, एव जइ सद्दहितादिसु उवट्ठाविज्जति ता धरेइ महव्वए असद्दहिताए अथिराणि भवति, जम्हा एते दोसा तम्हा पढियाए कहियाए सद्दहियाए परिक्खिते परिहरिए, अभिगते णाम जति अपव्वावणिज्जाण पगणनरो ण भवति ताहे विसुद्धो उवट्ठाविज्जति, तस्स य महव्वयाणि अभणियाणि न णज्जति तओ ताणि भण्णति।

(ख) हा० टी० प० १४५ : अनेन व्रतार्थपरिज्ञानादिगुणयुक्त उपस्थानार्ह इत्येतदाह, उक्त च—

पढिए य कहिय अहिगय परिहरउवठावणाइ जोगोत्ति।
छक्क तीहिं विसुद्ध परिहर णवएण भेदेण ॥ १ ॥
पढपासाउरमादी दिट्ठता होंति वयसमारुहणे।
जह मलिणाइसु दोसा सुद्धाइसु णेवमिहइपि ॥ २ ॥

इत्यादि, एतेसिं लेसुद्देसेण सीसहियट्ठयाए अत्थो भण्णइ—पढियाए सत्थपरिण्णाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा, कहियाए अत्थओ, अभिगयाए सम परिक्खिऊण—परिहरइ छज्जीवणियाए मणवयणकाएहिं कयकारावियाणुमइभेदेण, तओ ठाविज्जइ, ण अन्नहा। इमे य इत्थ पढादी दिट्ठता—मइलो पडो ण रगिज्जइ सोहिओ रगिज्जइ, असोहिए मूलपाए पासाओ ण किज्जइ सोहिए किज्जइ, वमणाईहिं असोहिए आउरे ओसह न दिज्जइ सोहिए दिज्जइ, असठविए रयणे पडिबन्धो न किज्जइ सठविए किज्जइ, एव पढियकहियाईहिं असोहिए सीसे ण वयारोवण किज्जइ, "असोहिए य करणे गुरुणो दोसा, सोहियापालणे सिस्सस्स दोसो त्ति कयं पसगेण।

२—हा० टी० प० १४४ : अय चात्मप्रतिपत्त्यर्हो दण्डनिक्षेप सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषत पञ्चमहाव्रत-रूपतयाऽभ्यङ्गीकर्तव्य इति महाव्रतान्याह।

भी बाद कि अन्य मृषावाद आदि की अपेक्षा से है[1]। सूत्रक्रम के प्रमाण से पहला महाव्रत सर्व प्राणातिपातविरमण व्रत है।

४२. महाव्रत (महव्वए) :

'व्रत' का अर्थ है विरति[2]। वह असत् प्रवृत्ति की होती है। उसके पाँच प्रकार हैं—प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति, अदत्तादान-विरति, मैथुन-विरति और परिग्रह-विरति। अकरण, निवृत्ति, उपरम और विरति ये पर्याय-वाची शब्द हैं[3]। 'व्रत' शब्द का प्रयोग निवृत्ति और प्रवृत्ति—दोनों अर्थों में होता है। 'वृषलान्न व्रतयति' का अर्थ है वह शूद्र के अन्न का परिहार करता है। 'पयो व्रतयति'—का अर्थ है कोई व्यक्ति केवल दूध पीता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं खाता। इसी प्रकार असत्-प्रवृत्ति का परिहार और सत्-प्रवृत्ति का आसेवन—इन दोनों अर्थों में व्रत शब्द का प्रयोग किया गया है। जो प्रवृत्ति निवृत्ति-पूर्वक होती है वही सत् होती है। इस प्रधानता की दृष्टि से व्रत का अर्थ उसमें अन्तर्हित होता है[4]।

व्रत शब्द साधारण है। वह विरति-मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इसके अणु और महान् ये दो भेद विरति की अपूर्णता तथा पूर्णता के आधार पर किए गए हैं। मन, वचन और शरीर से न करना, न कराना और न अनुमोदन करना—ये नौ विकल्प हैं। जहाँ ये समग्र होते हैं वहाँ विरति पूर्ण होती है। इनमें से कुछ एक विकल्पों द्वारा जो विरति की जाती है वह अपूर्ण होती है। अपूर्ण विरति अणुव्रत तथा पूर्ण विरति महाव्रत कहलाती है[5]। साधु त्रिविध पापों का त्याग करते हैं अतः उनके व्रत महाव्रत होते हैं। श्रावक के त्रिविध द्विविध रूप से प्रत्याख्यान होने से देशविरति होती है अतः उनके व्रत अणु होते हैं[6]। यहाँ प्राणातिपात-विरति आदि को महाव्रत और रात्रि-भोजन विरति को व्रत कहा गया है। यह व्रत शब्द अणुव्रत और महाव्रत दोनों से भिन्न है। ये दोनों मूल-गुण हैं परन्तु रात्रि-भोजन मूल-गुण नहीं है। व्रत शब्द का यह प्रयोग सामान्य विरति के अर्थ में है। मूल-गुण—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—पाँच हैं। महाव्रत इन्हीं की संज्ञा है।

४३. प्राणातिपात से विरमण होता है (पाणाइवायाओ वेरमणं) :

इन्द्रिय, आयु आदि प्राण कहलाते हैं। प्राणातिपात का अर्थ है प्राणी के प्राणों का अतिपात करना—जीव से प्राणों का

१—(क) जि० चू० पृ० १४४ : पढमति नाम सेसाणि मुसावादादीणि पडुच्च एतं पढम भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १४४ : सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमणं प्रथमम्।
(ग) अ० चू० : पढमे इति आवेक्खिग सेसाणि पडुच्च आदिल्ल पढमे एसा सत्तमी तम्मि उट्ठावणाधारविवक्खणा।
२—तत्त्वा० ७.१ : हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
३—तत्त्वा० ७.१ भा० : अकरण निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।
४—तत्त्वा० ७.१ भा० सि० टी० : व्रतशब्द. शिष्टसमाचारात् निवृत्तौ प्रवृत्तौ च प्रयुज्यते लोके। निवृत्ते चेद्धिसातो विरतिः—निवृत्तिर्व्रतं, यथा—वृषलान्न व्रतयति—परिहरति। वृषलान्नान्निवर्तत इति, ज्ञात्वा प्राणिन प्राणातिपातादेर्निवर्तते। केवलमहिंसादिलक्षणं तु क्रियाकलाप नानुतिष्ठतीति तदनुष्ठानप्रवृत्त्यर्थश्च व्रतशब्द.। पयोव्रतयतीति यथा, पयोऽभ्यवहार एव प्रवर्तते नान्यत्रेति, एव हिंसादिभ्यो निवृत्त. शास्त्रविहितक्रियानुष्ठान एव प्रवर्तते, अतो निवृत्तिप्रवृत्तिक्रियासाध्य कर्मक्षपणमिति प्रतिपादयति।''प्राधान्यात् तु निवृत्तिरेव साक्षाद् प्राणातिपातादिभ्योदर्शिता, तत्पूर्विका च प्रवृत्तिर्गम्यमाना। अन्यथा तु निवृत्तिर्निष्फलैव स्यादिति।
५—तत्त्वा० ७ २ भा० : एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रत, सर्वतो विरतिर्महाव्रतमिति।
६—(क) जि० चू० पृ० १४४ : महव्वय नाम महत वतं, महव्वय कथ? सावगवयाणि खुड्डगाणि, ताणि पडुच्च साहूण वयाणि महंताणि भवंति।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : जम्हा य भगवतो साधवो तिविह तिविहेण पच्चक्खायति तम्हा तेसिं महव्वयाणि भवंति, सावयाण पुण तिविहं दुविह पच्चक्खायमाणाणं देसविरईए खुड्डलगाणि वयाणि भवंति।
(ग) हा० टी० प० १४४ : महच्च तद्व्रत च महाव्रत, महत्त्व चास्य श्रावकसयध्यणुव्रतापेक्षयेति।
(घ) अ० चू० : सकले महति वते महव्वते।

वियोग करना। केवल जीवों को मारना ही अतिपात नहीं है—उनको किसी प्रकार का कष्ट देना भी प्राणातिपात है[1]। पहले महाव्रत का स्वरूप है—प्राणातिपात विरमण।

विरमण का अर्थ है—ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक प्राणातिपात न करना—सम्यक्‌ज्ञान और श्रद्धापूर्वक उससे सर्वथा निवृत्त होना[2]।

४४. सर्व (सव्वं) :

श्रावक व्रत ग्रहण करते समय प्राणातिपात की कुछ छूट रख लेता है उस तरह परिस्थूर नहीं पर सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सर्व अर्थात् निरवशेष—अर्द्ध या त्रिभाग नहीं[3]। जैसे ब्राह्मण को नहीं मारूँगा—यह देश त्याग है। मैं किसी प्राणी को मन-वचन-काया और कृत-कारित-अनुमोदन रूप से नहीं मारूँगा यह—सर्व प्राणातिपात का त्याग है।

प्रत्याख्यान में 'प्रति' शब्द निषेध अर्थ में है। 'आ' अभिमुख अर्थ में है और 'ख्या' धातु कहने के अर्थ में। उसका अर्थ है—प्रतीप अभिमुख कथन करना। प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ अर्थात् प्राणातिपात के प्रतीप—अभिमुख कथन करता हूँ—प्राणातिपात न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। अथवा मैं संवृतात्मा वर्तमान में समता रखते हुए अनागत पाप के प्रतिषेध के लिये आदरपूर्वक—भावपूर्वक अभिधान करता हूँ। साम्प्रतकाल में संवृतात्मा अनागत काल में पाप न करने के लिये प्रत्याख्यान करता है—व्रतारोपण करता है[4]।

४५. सूक्ष्म या स्थूल (सुहुमं वा वायरं वा) :

जिस जीव की शरीर-अवगाहना अति अल्प होती है, उसे सूक्ष्म जीव कहा है। और जिस जीव की शरीर-अवगाहना स्थूल होती है उसे वादर कहा गया है। सूक्ष्म नाम कर्मोदय के कारण जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे यहाँ नहीं ग्रहण किया गया है क्योंकि ऐसे जीव की अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि उसकी काया द्वारा हिंसा संभव नहीं। जो स्थूल दृष्टि से सूक्ष्म या स्थूल अवगाहना वाले जीव हैं, उन्हें ही यहाँ क्रम से सूक्ष्म या वादर कहा है[5]।

१—(क) अ० चू० : पाणातिवाता [तो] अतिवातो हिंसण ततो एसा पचमी अपादाणे भयहेतुलक्खणा वा, भीतार्थानां भयहेतुरिति।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ पाणाइवाओ नाम इंदिया आउप्पाणादिणो छव्विहो पाणा य जेसिं अत्थि ते पाणिणो भण्णंति, तेसिं पाणाणमइवाओ तेहिं पाणेहिं सह विसजोगकरणन्ति वुत्त भवइ।
(ग) हा० टी० प० १४४ . प्राणा—इन्द्रियादय तेषामतिपातः प्राणातिपात —जीवस्य महादुःखोत्पादनं, न तु जीवातिपात एव।

२—(क) अ० चू० : वेरमणं नियत्तण, ज वेरमण एत महव्वतमितिपढमाविभत्तिनिद्देसो।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : तओ पाणाइवायाओ वेरमण, पाणाइवायवेरमण नाम नाउं सद्दहिऊण पाणातिवायस्स अकरणं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १४४ : विरमण नाम सम्यग्ज्ञानश्रद्धानपूर्वक सर्वथा निवर्तनम्।

३—(क) अ० चू० : सव्वं ण विसेसेण, यथा लोके—न ब्राह्मणो हन्तव्यः।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सव्व नाम तमेरिस पाणाइवाय सव्व—निरवसेस पच्चक्खामि नो अद्ध तिभाग वा पच्चक्खामि।
(ग) हा० टी० प० १४४ : सर्वमिति—निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव।

४—(क) अ० चू : पाणातिवातमिति च पच्चक्खाण, ततो नियत्तण।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सपइकाल संवरियप्पणो अणागते अकरणणिमित्त पच्चक्खाणं।
(ग) हा० टी० प० १४४-४५ : प्रत्याख्यामीति प्रतिशब्द प्रतिषेधे आङाभिमुख्ये ख्या प्रकथने, प्रतीपमभिमुखं ख्यापनं प्राणातिपातस्य करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा—प्रत्याचक्षे—संवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधान करोमीत्यर्थ।

५—(क) अ० चू० : सुहुमं अतीव अप्पसरीर त वा, बात रातीति 'बातरो' महासरीरो त वा।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सुहुम नाम जं सरीरावगाहणाए सुट्ठ अप्पमिति।
(ग) हा० टी० प० १४५ : अत्र सूक्ष्मोऽल्प परिगृह्यते न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्म, तस्य कायेन व्यापादनासम्भवात्।

४६. त्रस या स्थावर (तसं वा थावरं वा) :

जो सूक्ष्म और वादर जीव कहे गये हैं उनमें से प्रत्येक के दो भेद होते हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवों की परिभाषा पहले आ चुकी है। जो त्रास का अनुभव करते हैं उन्हें त्रस कहते हैं। जो एक ही स्थान पर अवस्थित रहते हैं उन्हें स्थावर कहते हैं। कुंथु आदि सूक्ष्म त्रस हैं और गाय आदि वादर त्रस हैं। साधारण वनस्पति आदि-सूक्ष्म स्थावर हैं और पृथ्वी आदि वादर स्थावर हैं[1]।

'सुहम वा वायर वा तसं वा थावरं वा' इसके पूर्व 'से' शब्द है। 'से' शब्द का प्रयोग निर्देश में होता है। यहाँ यह शब्द पूर्वोक्त 'प्राणातिपात' की ओर निर्देश करता है। वह प्राणातिपात सूक्ष्म शरीर अथवा वादर शरीर के प्रति होता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह आत्मा का निर्देश करता है।

हरिभद्र सूरि के अनुसार यह शब्द मागधी भाषा का है। इसका शब्दार्थ है—अथ। इसका प्रयोग किसी बात के कहने के आरम्भ में किया जाता है[2]।

४७. (अइवाएज्जा) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार 'अइवाएज्जा' शब्द 'अतिपातयामि' के अर्थ में प्रयुक्त है। प्राकृत शैली में आर्ष-प्रयोगों में ऐसा होता है।

इस प्रकार सभी महाव्रत और व्रत में जो पाठ है उसे टीकाकार ने प्रथम पुरुष मान प्राकृत शैली के अनुसार उसका उत्तम पुरुष में परिवर्तन किया है[3]। अगस्त्य चूर्णि में सर्वत्र उत्तम पुरुष के प्रयोग हैं, जैसे—'नेव सयं पाणे अइवाएमि'। उत्तम पुरुष का भी 'अइवाएज्जा' रूप बनता है[4]। इसलिए पुरुष परिवर्तन की आवश्यकता भी नहीं है। उक्त स्थलों में प्रथम पुरुष की क्रिया मानी जाए तो उसकी सगति यों होगी—'पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं' से लेकर 'नेव सयं' के पहले का कथन शिष्य की ओर से है और 'नेव सयं' से आचार्य उपदेश देते हैं और 'न करेमि' से शिष्य आचार्य के उपदेशानुसार प्रतिज्ञा ग्रहण करता है। उपदेश की भाषा का प्रकार सूत्रकृताङ्ग (२.१.१५) में भी यही है।

आचाराङ्ग में महाव्रत प्रत्याख्यान की भाषा इस प्रकार है—"पढमं भंते ! महव्वयं पच्चक्खामि—सव्वं पाणाइवायं से सुहुमं वा वायरं वा तसं वा थावरं वा—नेव सयं पाणाइवायं करिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा। तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।" (आचाराङ्ग २ चू० ३.१५)

१—(क) अ० चू० : 'तस वा' "त्रसी उद्वेजने" त्रस्यतीति त्रसः तं वा, 'थावरो' जो थाणातो ण विचलति त वा, वा सद्दो विकप्पे, सव्वे पगारा ण हंतव्वा। वेदिका पुण "क्षुद्रजन्तुपु णत्थि पाणातिवातो" त्ति एतस्स विसेसणत्थ सुहुमातिवयण। जीवस्स असखेज्ज-पदेसत्ते सव्वे सुहुम-वायर विसेसा सरीरदव्वगता इति सुहुम-वायरसंसद्दणेण एगग्गहणे समाणजातीयसूलणमिति।

(ख) जि० चू० पृ० १४६-४७ : तत्थ जे ते सुहुमा बादरा य ते दुविहा त०—तसा य थावरा वा, तत्थ तसंतीति तसा, जे एगमि ठाणे अवट्ठिया चिट्ठति ते थावरा भण्णति।

(ग) हा० टी० प० १४५ : स चैकैको द्विधा—त्रसः स्थावरश्च, सूक्ष्मत्रस. कुन्थ्वादि. स्थावरो वनस्पत्यादि:, वादरस्त्रसो गवादिः स्थावरः पृथिव्यादि.।

२—(क) अ० चू० : से इति वयणाधारेण अप्पणो निद्देसं करेति, सो अहमेव अब्भुवगम्म कत पच्चक्खाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १४६ : 'से' त्ति निद्देसे वट्टइ, किं निद्दिसति ?, जो सो पाणातिवाओ तं निद्दिसेइ, से य पाणाइवाए सुहुमसरीरेसु वा वादरसरीरेसु वा होज्जा।

(ग) हा० टी० प० १४५ : 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धः अथ शब्दार्थः, स चोपन्यासे।

३—(क) जि० चू० पृ० १४७ : पाणेहिं णो विसजोएज्जा।

(ख) हा० टी० प० १४५ : 'णेव सयं पाणे अइवाएज्ज' त्ति प्राकृतशैल्या छान्दसत्वात्, 'तिङां तिङो भवन्ती' ति न्यायात् नैव स्वयं प्राणिनः अतिपातयामि, नैवान्यैः प्राणिनोऽतिपातयामि, प्राणिनोऽतिपातयतोऽप्यन्यान्न समनुजानामि।

४—हैमश० ३.१७७ वृ० : यथा तृतीयत्रये। अइवाएज्जा। अइवायावेज्जा। न समणुजाणामि। न समणुजाणेज्जा वा।

स्वीकृत पाठ का अगस्त्य चूर्णि में पाठान्तर के रूप में उल्लेख हुआ है। पाँच महाव्रत और छट्ठे व्रत में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार जो पाठ-भेद है उसका अनुवाद इस प्रकार है :—

"भंते ! मैं प्राणातिपात-विरति रूप पहले महाव्रत को ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ···। भंते ! मैं पहले महाव्रत में प्राणातिपात से विरत हुआ हूँ।"

यही क्रम सभी महाव्रतों और व्रत का है।

४८-४९—मैं स्वयं नहीं करूँगा···अनुमोदन भी नहीं करूँगा (नेव सयं पाणे अइवाएज्जा···न समणुजाणेज्जा) :

इस तरह त्रिविध त्रिविध—तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान करनेवाले के ४९ भङ्ग से त्याग होते हैं। इन भङ्गों का विस्तार इस प्रकार है[१] :

१—करण १ योग १, प्रतीक-अङ्क ११, भङ्ग ९ :

१	करूँ	नहीं	मन से	१
२	करूँ	नहीं	वचन से	२
३	करूँ	नहीं	काया से	३
४	कराऊँ	नहीं	मन से	४
५	कराऊँ	नहीं	वचन से	५
६	कराऊँ	नहीं	काया से	६
७	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	७
८	अनुमोदूँ	नहीं	वचन से	८
९	अनुमोदूँ	नहीं	काया से	९

२—करण १ योग २, प्रतीक-अङ्क १२, भङ्ग ९ :

१	करूँ	नहीं	मन से	वचन से	१०
२	करूँ	नहीं	मन से	काया से	११
३	करूँ	नहीं	वचन से	काया से	१२
४	कराऊँ	नहीं	मन से	वचन से	१३
५	कराऊँ	नहीं	मन से	काया से	१४
६	कराऊँ	नहीं	वचन से	काया से	१५
७	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	वचन से	१६
८	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	काया से	१७
९	अनुमोदूँ	नहीं	वचन से	काया से	१८

३—करण १ योग ३, प्रतीक-अङ्क १३, भङ्ग ३ :

१	करूँ	नहीं	मन से	वचन से	काया से	१९
२	कराऊँ	नहीं	मन से	वचन से	काया से	२०
३	अनुमोदूँ	नहीं	मन से	वचन से	काया से	२१

१—हा० टी० प० १५० : "तिन्नि तिया तिन्नि दुया तिन्निक्केक्का य होंति जोएसु।
तिदुएक्कं तिदुएक्कं तिदुएक्कं चेव करणाइं ॥"

४—करण २ योग १, प्रतीक-अङ्क २१, भङ्ग ६ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से		२२
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	वचन से		२३
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	काया से		२४
४	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से		२५
५	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से		२६
६	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से		२७
७	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से		२८
८	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से		२९
९	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से		३०

५—करण २ योग २, प्रतीक-अङ्क २२, भङ्ग ६ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	३१
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	वचन से	काया से	३२
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	काया से	३३
४	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३४
५	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	३५
६	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३६
७	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	३७
८	कराऊँ नही	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	३८
९	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	३९

६—करण २ योग ३, प्रतीक-अङ्क २३, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४०
२	करूँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४१
३	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४२

७—करण ३ योग १, प्रतीक-अङ्क ३१, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	४३
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	४४
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	काया से	४५

८—करण ३ योग २, प्रतीक-अङ्क ३२, भङ्ग ३ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	४६
२	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	काया से	४७
३	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	वचन से	काया से	४८

९—करण ३ योग ३, प्रतीक-अङ्क ३३, भङ्ग १ :

१	करूँ नहीं	कराऊँ नहीं	अनुमोदूँ नहीं	मन से	वचन से	काया से	४९

इन ४६ भङ्गों को अतीत, अनागत और वर्तमान इन तीन से गुणन करने पर १४७ भङ्ग होते हैं। इससे अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान होता है [1]। कहा है—"प्रत्याख्यान सम्बन्धी १४७ भङ्ग होते हैं। जो इन भङ्गों से प्रत्याख्यान करता है वह कुशल है और अन्य सब अकुशल हैं[2]।"

प्रश्न हो सकता है अन्य व्रतों की अपेक्षा प्राणातिपात विरमण व्रत को पहले क्यों रखा गया? इसका उत्तर चूर्णिकारद्वय इस प्रकार देते हैं—"अहिंसा मूलव्रत है। अहिंसा परम धर्म है। शेष महाव्रत उत्तरगुण हैं, उसको पुष्ट करने वाले हैं, उसी के अनुपालन के लिए प्ररूपित हैं[3]।"

सूत्र १२ :

५०. मृषा-वाद (मुसावायाओ) :

मृषा-वाद चार प्रकार का होता है[4] :

१—सद्भाव प्रतिषेध : जो है उसके विषय में कहना कि यह नहीं है। जैसे जीव आदि हैं, उनके विषय में कहना कि जीव नहीं है, पुण्य नहीं है, पाप नहीं है, बन्ध नहीं है, मोक्ष नहीं है आदि।

१—(क) हा० टी० प० १५१ : "लद्धफलमाणमेयं भगा उ हवंति अउणपन्नास।
तीयाणागयसंपतिगुणियं कालेण होइ इमं॥ १॥
सीयालं भगसयं, कह? कालतिएण होंति गुणणा उ।
तीतस्स पडिक्कमणं पच्चुप्पन्नस्स संवरणं॥ २॥
पच्चक्खाणं च तहा होइ य एमस्स एस गुणणा उ।
कालतिएण भणियं जिणगणधरवायएहिं च॥ ३॥"

(ख) अ० चू० : एते सव्वे वि संकलिज्जंति—तिविहं अमुयतेहिं सत्त लद्धा, दुविहं तिविहेण तिण्णि, एते सकलिता जाता दस। दुविहं दुविहेण णव लद्धा, ते दससु पक्खित्ता जाता एकूणवीसं। दुविहं एक्कविहेण णव लद्धा, ते एगूणवीसाए पक्खित्ता जाता अट्ठावीसं। एक्कविहं तिविहेण तिण्णि अट्ठावीसाए पक्खित्ता जाता एक्कतीसा। एक्कविहं दुविहेण णव लद्धा एक्कतीसाए पक्खित्ता जाता चत्तालीसं। एक्कविहं एक्कविहेण णव चत्तालीसाए पक्खित्ता जाता एगूणपण्णा। एते पडुप्पण्ण संवरेति, एगूणपण्णा अतीतं णिंदति, एतेच्चेव तहा अणागतं पच्चक्खाति, तिण्णि एगूणपण्णातो सत्तयत्तालं भगसतं।

एत्थ पढमभगो साधूण जुज्जति तेण अधिकारो, सेसा सावगाण सभवतो उच्चारितसरूव त्ति परूवणं। पाणातिपात पच्चक्खाणं सविकल्पं भणितं।

२—दश० नि० गा० २६६ : सीयालं भगसयं पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं।
सो पच्चक्खाणकुसलो सेसा सव्वे अकुसलाओ उ॥

३—(क) अ० चू० : महव्वतादौ पाणातिवाताओ वेरमणं पहाणो मूलगुण इति, जेण 'अहिंसा परमो धम्मो' सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति तदणंतरं। कमपडिनिग्गमणत्थं पडुच्चारण मुक्तार्थस्य 'पढमे भंते! महव्वते पाणातिवातातो वेरमणं'।

(ख) जि० चू० पृ० १४७ : सीसो आह—किं कारणं सेसाणि वयाणि मोत्तूण पाणाइवायवेरमणं पढमं भणियंति?, आयरिओ भणइ—एयं मूलवयं 'अहिंसा परमो धम्मो' त्ति सेसाणि पुण महव्वयाणि उत्तरगुणा, एतस्स चेव अणुपालणत्थं परूवियाणि।

४—(क) अ० चू० : मुसावातो तिविहो, तं० सब्भावपडिसेहो १ अभूतुब्भावणं २ अन्नत्तरं ३। सब्भावपडिसेहो जहा 'नत्थि जीवे' एवमादि १। अभूतुब्भावणं 'अत्थि, सव्वगतो पुण' २। अन्नतरं गावि महिसिं भणति एवमादि ३।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ : तत्थ मुसावाओ चउव्विहो, तं०—सब्भावपडिसेहो असब्भूयुब्भावणं अत्थंतरं गरहा, तत्थ सब्भावपडिसेहो णाम जहा णत्थि जीवो नत्थि पुण्णं नत्थि पावं नत्थि बंधो णत्थि मोक्खो एवमादी, असब्भूयुब्भावणं नाम जहा अत्थि जीवो (सव्ववावी) सामागतंदुलमेत्तो वा एवमादी, पयत्थंतरं नाम जो गाविं भणइ एसो आसोत्ति, गरहा णाम 'तहेव काणं काणित्ति' एवमादी।

२—असद्भाव उद्भावन : जो नहीं है उसके विषय में कहना कि यह है। जैसे आत्मा के सर्वगत, सर्वव्यापी न होने पर भी उसे वैसा बतलाना अथवा उसे श्यामाक तन्दुल के तुल्य कहना।

३—अर्थान्तर : एक वस्तु को अन्य बताना। जैसे गाय को घोड़ा कहना आदि।

४—गर्हा : जैसे काने को काना कहना।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मिथ्या भाषण के पहले तीन भेद हैं।

५१. क्रोध से या लोभ से...... (कोहा वा लोहा वा......) :

यहाँ मृषावाद के चार कारण बतलाये हैं। वास्तव में मनुष्य क्रोधादि की भावनाओं से ही झूठ बोलता है। यहाँ जो चार कारण बतलाये हैं वे उपलक्षण मात्र हैं। क्रोध के कथन द्वारा मान को भी सूचित कर दिया गया है। लोभ का कथन कर माया के ग्रहण की सूचना दी है। भय और हास्य के ग्रहण से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि का ग्रहण होता है[1]। इस तरह मृषावाद अनेक वृत्तियों से बोला जाता है। यही बात अन्य पापों के सम्बन्ध में लागू होती है।

सूत्र १३ :

५२. अदत्तादान (अदिन्नादाणाओ) :

बिना दिया हुआ लेने की बुद्धि से दूसरे के द्वारा परिगृहीत अथवा अपरिगृहीत तृण, काष्ठ आदि द्रव्य मात्र का ग्रहण करना अदत्तादान है[2]।

५३. गाँव में...अरण्य में (गामे वा नगरे वा रण्णे वा) :

ये शब्द क्षेत्र के द्योतक हैं। इन शब्दों के प्रयोग का भावार्थ है किसी भी जगह—किसी भी क्षेत्र में। जो बुद्धि आदि गुणों को ग्रस्त करे, उसे ग्राम कहते हैं[3]। जहाँ कर न हो उसे नकर—नगर कहते हैं[4]। काननादि को अरण्य कहते हैं[5]।

५४. अल्प या बहुत (अप्पं वा बहुं वा) :

अल्प के दो भेद होते हैं[6]—(१) मूल्य में अल्प—जैसे जिसका मूल्य एक कौड़ी हो (२) परिमाण में अल्प—जैसे एक एरण्ड-

१—(क) अ० चू० : मुसावातवेरमण कारणाणि इमाणि—से कोहा वा लोभा वा भता वा हासा वा, "दोसा विभागे समाणासता" इति कोहे माणो अंतग्गतो, एवं लोभे माता, भत—हस्सेसु पेज्ज—कलहादतो सविसेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १४८ : सो य मुसावाओ एतेहिं कारणेहिं भासिज्जइ—'से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा' कोहग्गहणेण माणस्सवि गहणं कय, लोभग्गहणेण माया गहिया, भयहासगहणेण पेज्जदोसकलहअब्भक्खाणाइणो गहिया, कोहाइग्गहणेण भावओ गहणं कय, एगग्गहणेण गहणे तज्जातीयाणमितिकाउं सेसावि दव्वखेत्तकाला गहिया।

(ग) हा० टी० प० १४६ : 'क्रोधाद्वा लोभाद्वे'त्यनेनाद्यन्तग्रहणान्मानमायापरिग्रहः, 'भयाद्वा हास्याद्वा' इत्यनेन तु प्रेमद्वेष कलहाभ्याख्यानादिपरिग्रह।

२—(क) अ० चू० : परेहिं परिग्गहितस्स वा अपरिग्गहितस्स वा, अणणुण्णातस्स गहणमदिण्णादाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १४९ : सीसो भणइ—त अदिण्णादाणं केरिस भवइ?, आयरिओ भणइ—ज अदिण्णादाणबुद्धीए परेहिं परिग्गहियस्स वा अपरिग्गहियस्स वा तणकट्ठाइदव्वजातस्स गहणं करेइ तमदिण्णादाणं भवइ।

३—हा० टी० प० १४७ : ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः।

४—हा० टी० प० १४७ : नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम्।

५—हा० टी० प० १४७ . अरण्णं—काननादि।

६—(क) अ० चू० : अप्पं परिमाणतो मुल्लतो वा; परिमाणतो जहा एगा सुवण्णा गुंजा, मुल्लतो कवड्डितामुल्लं वत्थुं। बहुं परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो सहस्सपमाण मुल्लतो एक्क वेरुलितं।

(ख) जि० चू० पृ० १४९ : अप्प परिमाणओ य मुल्लओय, तत्थ परिमाणओ जहा एग एरंडकट्ठ एवमादि, मुल्लओ जस्स एगो कवड्डओ मूल्लं वा अप्पमुल्लं, बहुं नाम परिमाणओ मुल्लओ य, परिमाणओ जहा तिण्णि चत्तारिवि वइरा वेरुलिया, मुल्लओ एगमवि वेरुलिय महामोल्लं।

(ग) हा० टी० प० १४७ : अल्प—मूल्यत एरण्डकाष्ठादि बहु—वज्रादि।

काष्ठ। इसी तरह 'बहुत' के भी दो भेद होते हैं—(१) मूल्य में अधिक—जैसे वैडूर्य (२) परिमाण में अधिक—जैसे तीन चार वैडूर्य।

५५. सूक्ष्म या स्थूल (अणुं वा थूलं वा) :

सूक्ष्म—जैसे मूलक की पत्ती अथवा काष्ठ की चिरपट आदि। स्थूल—जैसे सुवर्ण का टुकड़ा अथवा उपकरण आदि[1]।

५६. सचित्त या अचित्त (चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा) :

चेतन अथवा अचेतन। पदार्थ तीन तरह के होते हैं : चेतन, अचेतन और मिश्र। चेतन—जैसे मनुष्यादि। अचेतन—जैसे भूषणादि। मिश्र—जैसे अलङ्कारों से विभूषित मनुष्यादि[2]।

सूत्र : १४

५७. देव·······तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन (मेहुणं···दिव्वं वा···तिरिक्खजोणियं वा) :

ये शब्द द्रव्य के द्योतक हैं। मैथुन दो तरह का होता है—(१) रूप में (२) रूपसहित द्रव्य में। रूप में अर्थात् निर्जीव वस्तुओं के साथ—जैसे प्रतिमा या मृत शरीर के साथ। रूप सहित मैथुन तीन प्रकार का होता है—दिव्य, मानुषिक और तिर्यञ्च सम्बन्धी। देवी—अप्सरा सम्बन्धी मैथुन को दिव्य कहते हैं। नारी से सम्बन्धित मैथुन को मानुषिक और पशु-पक्षि आदि के साथ के मैथुन को तिर्यञ्च विषयक मैथुन कहते हैं। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर ने विकल्प अर्थ भी दिया है—रूप—अर्थात् आभरण रहित, रूपसहित अर्थात् आभरण सहित[3]।

सूत्र : १५

५८. परिग्रह की (परिग्गहाओ) :

चेतन-अचेतन पदार्थों में मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० : अणु तण-कट्ठादि, थूल कोयवगादी।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : अणु मूलगपत्तादी अहवा कट्ठ कलिंच वा एवमादि, थूल सुवण्णखोडी वेरुलिया वा उवगरण।
(ग) हा० टी० प० १४७ : अणु—प्रमाणतो वज्रादि स्थूलम्—एरण्डकाष्ठादि।

२—(क) अ० चू० : चित्तमतं गवादि। अचित्तमंत करिसावणादी।
(ख) जि० चू० पृ० १४६ : सव्वपेय सचित्त वा होज्जा अचित्त वा होज्जा मिस्सय वा, तत्थ सचित्त मणुयादि अचित्त काहावणादि मीसग ते चेव मणुयाइ अलंकियविभूसिया।
(ग) हा० टी० प० १४७ : चेतनाचेतनमित्यर्थ।

३—(क) अ० चू० : दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दिट्ठतो दव्वेसु, रूव पडिमामयसरीरादि, रूवसहगतं सजीव अहवा रूवं आभरणविरहितं, रूवसहगत, आभरणसहित।
(ख) जि० चू० पृ० १५० : दव्वओ मेहुण रूवेसु वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु, तत्थ रूवेत्ति णिज्जीवे भवइ, पडिमाए वा मयसरीरे वा, रूवसहगय तिविह भवति, तं०—दिव्व माणुस तिरिक्खजोणियति, अहवा रूव भूसणवज्जिय, सहगय भूसणेण सह।
(ग) हा० टी० प० १४८ : देवीनामिदं दैवम्, अप्सरोऽमरसम्बन्धीतिभाव:, एतच्च रूपेषु वा रूपसहगतेषु वा द्रव्येषु भवति, तत्र रूपाणि—निर्जीवानि प्रतिमारूपाण्युच्यन्ते, रूपसहगतानि तु सजीवानि, भूषणविकलानि वा रूपाणि भूषणसहितानि तु रूपसहगतानि, एवं मानुषं तैर्यग्योनं च वेदितव्यमिति।

४—जि० चू० पृ० १५१ : सो य परिग्गहो चेयणाचेयणेसु दव्वेसु मुच्छानिमित्तो भवइ।

सूत्र : १६

५६. रात्रि-भोजन की (राईभोयणाओ) :

रात में भोजन करना इसी सूत्र के तृतीय अध्ययन में अनाचीर्ण कहा गया है। प्रस्तुत अध्याय में रात्रि-भोजन-विरमण को साधु का छठा व्रत कहा है। सर्व प्राणातिपात-विरमण आदि पाँच विरमणों का स्वरूप बताते हुए उन्हें महाव्रत कहा है जबकि सर्व रात्रि-भोजन-विरमण को केवल 'व्रत' कहा है। उत्तराध्ययन (२३वें अध्ययन) में केशी गौतम का सवाद आया है जिसमें श्रमण भगवान् महावीर के मार्ग को 'पाँच शिक्षा वाला' और पार्श्व के मार्ग को 'चार याम-वाला' कहा है (गा० १२, २३)। आचाराङ्ग सूत्र (२.१५) में तथा प्रश्नव्याकरण सूत्र में संवरों के रूप में केवल पाँच महाव्रत और उनकी भावनाओं का ही उल्लेख है। वहाँ रात्रि-भोजन-विरमण का अलग उल्लेख नहीं। जहाँ-जहाँ प्रव्रज्या ग्रहण के प्रसंग हैं प्रायः सर्वत्र पाँच महाव्रत ग्रहण करने का ही उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि सर्व हिंसा आदि के त्याग की तरह रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को याम, शिक्षा या महाव्रत के रूप में मानने की परम्परा नहीं थी।

दूसरी ओर इसी सूत्र के छट्ठे अध्ययन में श्रमण के लिए जिन १८ गुणों की अखण्ड साधना करने का विधान किया है, उनमें सर्व प्रथम छः व्रतों (वयछक्क) का उल्लेख है और सर्व प्राणातिपात यावत् रात्रि-भोजन-विरमण पर समान रूप से जोर दिया है। उत्तराध्ययन सूत्र (अ० १६) में साधु के अनेक कठोर गुणों—आचार का—उल्लेख करते हुए प्राणातिपात-विरति आदि पाँच सर्व विरतियों के साथ ही रात्रि-भोजन-त्याग—सर्व प्रकार के आहार का रात्रि में वर्जन—का भी उल्लेख आया है और उसे महाव्रतों की तरह ही दुष्कर कहा है। रात्रि-भोजन का अपवाद भी कहीं नहीं मिलता वैसी हालत में प्रथम पाँच विरमणों को महाव्रत कहने और रात्रि-भोजन-विरमण को व्रत कहने में आचरण की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं यह स्पष्ट है। रात्रि-भोजन-विरमण सर्व हिंसा-त्याग आदि महाव्रतों की रक्षा के लिए ही है इसलिए साधु के प्रथम पाँच व्रतों को प्रधान गुणों के रूप में लेकर उन्हें महाव्रत और सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत को उत्तर—सहकारी गुणरूप मान उसे मूलगुणों से पृथक् समझाने के लिए केवल 'व्रत' की संज्ञा दी है। हालाँकि उसका पालन एक साधु के लिए उतना ही अनिवार्य माना है जितना कि अन्य महाव्रतों का। मैथुन-सेवन करने की तरह ही रात्रि-भोजन करने वाला भी अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सर्व रात्रि-भोजन-विरमण व्रत के विषय में इसी सूत्र (६.२३-२५) में बड़ी ही सुन्दर गाथाएँ मिलती हैं।

रात्रि-भोजन-विरमण व्रत में सन्निहित अहिंसा-दृष्टि स्वयं स्पष्ट है।

रात को आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति (देख-देख कर चलने) का पालन नहीं हो सकता तथा रात में आहार का सग्रह करना अपरिग्रह की मर्यादा का बाधक है। इन सभी कारणों से रात्रि-भोजन का निषेध किया गया है। आलोकित पान-भोजन और ईर्यासमिति अहिंसा महाव्रत की भावनाएँ हैं[1]।

दशवैकालिक (६.१७) में सन्निधि को परिग्रह माना है और उत्तराध्ययन (१६.३०) में रात्रि-भोजन और सन्निधि सञ्चय के वर्जन को दुष्कर कहा है। वहाँ इनके परिग्रह रूप की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

पाँच महाव्रत मूल गुण हैं, रात्रि-भोजन-विरमण उत्तरगुण है। फिर भी यह मूल गुणों की रक्षा का हेतु है; इसलिए इसका मूल गुणों के साथ प्रतिपादन किया गया है—ऐसा अगस्त्यसिंह स्थविर मानते हैं[2]।

जिनदास महत्तर के अनुसार प्रथम और चरम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजुजड और वक्रजड होते हैं, इसलिए वे महाव्रतों की तरह मानते हुए इसका (रात्रि-भोजन-विरमण का) पालन करें—इस दृष्टि से इसे महाव्रतों के साथ बताया गया है। मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के मुनियों के

१—(क) आचा० २.३.१।
(ख) प्रश्न० स० १।

२—अ० चू० : किं रातीभोयण मूलगुणः उतरगुणः ? उत्तरगुण एवाय। तहावि सव्वमूलगुणरक्खाहेतुत्ति मूलगुणसम्भूत पढिज्जति।

लिए इसे उत्तरगुण कहा गया है। क्योंकि वे ऋजुप्रज्ञ होते हैं इसलिए सरलता से छोड़ देते हैं[1]। टीकाकार ने इसे ऋजुजड़ और वक्रजड़ मुनि की अपेक्षा से मूल गुण माना है[2]।

६०. अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा):

१—अशन—क्षुधा मिटाने के लिए जिस वस्तु का भोजन किया जाता है, उसे अशन कहते हैं। जैसे कूर—ओदनादि।

२—पान—जो पीया जाय उसे पान कहते हैं। जैसे मृद्वीका—द्राक्षा का जल आदि।

३—खाद्य जो खाया जाय उसे खादिम या खाद्य कहते हैं। जैसे मोदक, खर्जूरादि।

४—स्वाद्य—जिसका स्वाद लिया जाय उसे स्वादिम अथवा स्वाद्य कहते हैं। जैसे ताम्बूल, सोंठ आदि[3]।

प्राणातिपात आदि पाँच पाप और रात्रि-भोजन के द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव की दृष्टि से चार विभाग होते हैं। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार एक परम्परा इस विभाग चतुष्टयी को मूल-पाठ में स्वीकृत करती है और दूसरी परम्परा उसे 'वृत्ति' का अंग मानती है[4]। जो इस विभाग चतुष्टयी के प्ररूपक वाक्य-खंड को सूत्रगत स्वीकार करते हैं उनके अनुसार सूत्र-पाठ इस प्रकार होगा—'थावरं वा। जहा सेत पाणिपाते चतुविहे, तं०—दव्वतो, खेत्ततो, कालतो, भावातो नेव सयं पाएे........।' यह क्रम सभी महाव्रतों और छठे व्रत का है।

प्राणातिपात द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टिकोणों से व्यवच्छिन्न होता है[5]:

१—द्रव्य-दृष्टि से उसका विषय छह जीवनिकाय है। हिंसा सूक्ष्म बादर छः प्रकार के जीवों की होती है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय समूचा लोक है। लोक में ही हिंसा सम्भव है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय सर्वकाल है। रात व दिन सब समय हिंसा हो सकती है।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है। जैसे मांस के लिए राग से हिंसा होती है। शत्रु का हनन द्वेषवश होता है।

मृषावाद के चार विभाग इस प्रकार हैं[6]:

१—द्रव्य-दृष्टि से मृषावाद का विषय सब द्रव्य हैं, क्योंकि मृषावचन चेतन तथा अचेतन सभी द्रव्यों के विषय में बोला जा सकता है।

१—जि० चू० पृ० १५३ . पुरिमजिणकाले पुरिसा उज्जुजडा पच्छिमजिणकाले पुरिसा वकजडा, अतो निमित्त महव्वयाण उवरि ठविय, जेण त महव्वयमिव मन्नता ण पिल्लेहिंति, मज्झिमगाण पुण एय उत्तरगुणेसु कहियं, किं कारण?, जेण ते उज्जुपण्णत्तणेण सह चेव परिहरति।

२—हा० टी० प० १५० एतच्च रात्रिभोजन प्रथमचरमतीर्थकरतीर्थयो ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं, मध्यमतीर्थकरतीर्थेषु पुनः ऋजुप्रज्ञपुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति।

३—(क) अ० चू० : ओदणादि असण, मुद्दितापाणगातीपाण, मोदगादी खादिम, पिप्पलिमादि सादिमं।

(ख) जि० चू० पृ० १५२ : असिज्जइ खुहितेहिं ज तमसण जहा कूरो एवमादीनि, पिज्जतीति पाण, जहा मुद्दियापाणग एवमाइ, खज्जतीति खादिम, जहा मोदओ एवमादि, सादिज्जति सादिम, जहा सुंठिगुलादी।

(ग) हा० टी० प० १४६ : अश्यत इत्यशनम्—ओदनादि, पीयत इति पानं—मृद्वीकापानादि। खाद्यत इति खाद्य—खर्जूरादि। स्वाद्यत इति स्वाद्य—ताम्बूलादि।

४—अ० चू० : के ति सुत्त मिम पढति, के ति वृत्तिगत विसेसति।

५—जि० चू० पृ० १४७ : इयाणिं एस एव पाणाइवाओ चउव्विहो सवित्थरो भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, दव्वओ छसु जीवनिकाएसु सुहुमबादरेसु भवति, खेत्तओ सव्वलोगे, किं कारण?, जेण सव्वलोए तस्स पाणाइवायस्स उप्पत्ती अत्थि, कालओ दिया वा राओ वा ते चेव सुहुमबादरा जीवा ववरोविज्जति, भावओ रागेण वा दोसेण वा, तत्थ रागेण मंसादीणं अट्ठाए, अहवा रागेण कोइ कंचि अणुमरति, दोसेण चिंतिय मारेइ।

६—जि० चू० पृ० १४८ : इयाणि एस चउव्विहो मुसावाओ सवित्थरो भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ सव्वदव्वेसु मुसावाओ भवइ, खेत्तओ लोगे वा अलोगे वा, णो भणेज्जा अणतपएसिओ लोगो एवमादी, अलोगे अत्थि जीवा पोग्गला एवमादी, कालओ दिया वा राओ वा मुसावाय भणेज्जा, भावओ कोहेण अब्भक्खाण देज्जा एवमादी।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय लोक तथा अलोक दोनों हैं, क्योंकि मृषावाद के विषय ये दोनों बन सकते हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४—भाव दृष्टि से उसके हेतु क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि हैं।

अदत्तादान के चार विभाग इस प्रकार हैं[1] :

१—द्रव्य-दृष्टि से अदत्तादान का विषय पदार्थ है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय अरण्य, ग्राम आदि हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग द्वेष है।

मैथुन के चार विभाग इस प्रकार हैं[2] :

१—द्रव्य-दृष्टि से मैथुन का विषय चेतन और अचेतन पदार्थ हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय तीनों लोक हैं।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय दिन और रात हैं।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

परिग्रह के चार विभाग इस प्रकार हैं[3] :

१—द्रव्य-दृष्टि से परिग्रह का विषय सर्व द्रव्य हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय पूर्ण लोक है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय रात और दिन हैं।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

रात्रि-भोजन के चार विभाग इस प्रकार होते हैं[4]।

१—द्रव्य-दृष्टि से रात्रि-भोजन का विषय अशन आदि वस्तु-समूह है।

२—क्षेत्र-दृष्टि से उसका विषय मनुष्य लोक है।

३—काल-दृष्टि से उसका विषय रात्रि है।

४—भाव-दृष्टि से उसका हेतु राग-द्वेष है।

सूत्र : १७

६१. आत्महित के लिए (अत्तहियट्ठयाए) :

आत्महित का अर्थ मोक्ष है। मुनि मोक्ष के लिए या उत्कृष्ट मङ्गलमय धर्म के लिए महाव्रत और व्रत को स्वीकार करता है।

१—जि० चू० पृ० १४६ : चउव्विहपि अदिण्णादाण वित्थरओ भण्णति, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ ताव अप्पं वा बहुं वा अणु वा थूल वा चित्तमंत वा अचित्तमंत वा गेण्हेज्जा,……खेत्तओ जमेतं दव्वओ भणियं एयं गामे वा णगरे वा गेण्हेज्जा अरण्णे वा, कालओ दिया वा राओ वा गेण्हेज्जा, भावओ अप्पग्घे वा।

२—जि० चू० पृ० १५० : चउव्विहपि मेहुण वित्थरओ भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ य, तत्थ दव्वओ मेहुणं रूवेछ वा रूवसहगएसु वा दव्वेसु,……खेत्तओ उड्ढमहोतिरिएसु,……कालओ मेहुणं दिया वा राओ वा, भावओ रागेण वा दोसेण वा होज्जा।

३—जि० चू० पृ० १५१ : चउव्विहोवि परिग्गहो वित्थरओ भण्णइ—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ सव्वदव्वेहिं,……खेत्तओ सव्वलोगे,……कालओ दिया वा राओ वा, भावओ अप्पग्घ वा महग्घं वा ममाएज्जा।

४—जि० चू० पृ० १५२ : चउव्विहंपि राईइ भोयण वित्थरओ भण्णइ, तं०—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ, तत्थ दव्वओ असणं वा,……खेत्तओ समयखेत्ते……कालओ राइ भुंजेज्जा, भावओ चउभंगो।

अन्य हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव होता है। आत्महित से बढ़कर कोई सुख नहीं है इसलिए भगवान ने इहलौकिक सुख-समृद्धि के लिए आचार को प्रतिपन्न करने की अनुज्ञा नहीं दी। पौद्‌गलिक सुख अनैकान्तिक हैं। उनके पीछे दुःख का प्रबल संयोग होता है। पौद्‌गलिक सुख के जगत् में ऐश्वर्य का तरतमभाव होता है—ईश्वर, ईश्वरतर और ईश्वरतम। इसी प्रकार हीन, मध्यम और उत्कृष्ट अवस्थाएँ होती हैं। मोक्ष-जगत् में ये दोष नहीं होते। इसलिए समदर्शी श्रमण के लिए आत्महित—मोक्ष ही उपास्य होता है और वह उसी की सिद्धि के लिए महाव्रतों का कठोर मार्ग अङ्गीकार करता है[1]।

६२. अंगीकार कर विहार करता हूँ (उवसंपज्जित्ताणं विहरामि) :

उपसपद्य का अर्थ है—समीप में अंगीकार कर अर्थात् आप (गुरु) के समीप ग्रहण कर सुसाधु की विधि के अनुसार विचरण करता हूँ। हरिभद्र सूरि कहते हैं ऐसा न करने पर लिए हुए व्रत अभाव को प्राप्त होते हैं। भावार्थ है—आरोपित व्रतों का अच्छी तरह अनुपालन करते हुए अप्रतिबद्ध विहार से ग्राम, नगर, पत्तन आदि में विहार करूँगा।

चूर्णिकारों ने इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार दिया है—"गणधर भगवान् से पंच महाव्रतों के अर्थ को सुनकर ऐसा कहते हैं—'इन्हें ग्रहण कर विहार करेंगे[2]'।"

सूत्र : १८

६३. संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा (संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे) :

सत्रह प्रकार के संयम में अच्छी तरह अवस्थित को संयत कहते हैं[3]।

अगस्त्यसिंह के अनुसार पापों से निवृत्त भिक्षु विरत कहलाता है[4]। जिनदास और हरिभद्र सूरि के अभिमत से बारह प्रकार के तप में अनेक प्रकार से रत भिक्षु विरत कहलाता है[5]।

१—(क) अ० चू० अत्तहियट्ठताए अप्पणोहितं जो धम्मो मगलमिति भणितो तदट्ठं।

(ख) जि० चू० पृ० १५३ : अत्तहिय नाम मोक्खो भण्णइ, सेसाणि देवादीणि ठाणाणि बहुदुक्खाणि अप्पसुहाणि य, कह ?, जम्हा तत्थवि इस्सरो इस्सरतरो इस्सरतमो एवमादी हीणमज्झिमउत्तिमविसेसा उवलब्भंति, अणेगंतियाणि य सोक्खाणि, मोक्खे य एते दोसा नत्थि, तम्हा तस्स अट्ठाए एयाणि पंच महव्वयाणि राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

(ग) हा० टी० प० १५० आत्महितो—मोक्षस्तदर्थम्, अनेनान्यार्थं तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादिभावात्।

२—(क) अ० चू० : "उवसंपज्जित्ताण विहरामि" "समानकर्तृकयो पूर्वकाले" इति 'उपसंपद्य विहरामि' महव्वताणि परिवज्जंतम्स वयणं, गणहराण वा सुत्तीकरेंताण।

(ख) हा० टी० प० १५० : 'उपसंपद्य' सामीप्येनाङ्गीकृत्य व्रतानि 'विहरामि' सुसाधुविहारेण, तदभावे चाङ्गीकृतानामपि व्रतानामभावात्।

(ग) जि० चू० पृ० १५३ : उवसंपज्जित्ताण विहरामि नाम ताणि आरुहिऊण अणुपालयंतो अब्भुज्जएण विहारेण अणिस्सिय गामनगरपट्टणाईणि विहरिस्सामि। अहवा गणहरा भगवतो सगासे पंचमहव्वयाणं अत्थं सोऊण एवं भणंति—'उवसंपज्जित्ताणं विहरिस्सामि'।

३—(क) अ० चू० : संजतो एगीभावेण सत्तरसविहे संजमे ठितो।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : संजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे संजमे अवट्ठिओ संजतो भवति।

(ग) हा० टी० प० १५२ : सामस्त्येन यतः संयतः—सप्तदश प्रकारसंयमोपेतः।

४—अ० चू० : पावेहिन्तो विरतो पडिनियत्तो।

५—(क) जि० चू० पृ० १५४ : विरओ णाणइणेगपगारेण बारसविहे तवे रओ।

(ख) हा० टी० प० १५२ : अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरतः।

'पापकर्मा' शब्द का सम्बन्ध 'प्रतिहत' और 'प्रत्याख्यात' इनमें से प्रत्येक के साथ है[1]।

जिनदास के अनुसार जिसने ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों में से प्रत्येक को हत किया हो वह प्रतिहत-पापकर्मा है[2]। जिनदास और हरिभद्र के अनुसार जो आस्रवद्वार—पाप-कर्म आने के मार्ग को निरुद्ध कर चुका वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा कहलाता है[3]।

जिनदास महत्तर ने आगे जाकर इन शब्दों को एकार्थक भी कहा है[4]।

अनगार या साधु के विशेषण रूप से इन चार शब्दों का प्रयोग अन्य आगमों में भी प्राप्त है। संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा अनगार के विषय में विविध प्रश्नोत्तर आगमों में मिलते हैं। अतः इन शब्दों के मर्म को समझ लेना आवश्यक है।

पाँच महाव्रत और छट्ठे रात्रि-भोजन विरमण व्रत को अङ्गीकार कर लेने के बाद व्यक्ति भिक्षु कहलाता है। यह बताया जा चुका है कि महाव्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया में तीन बातें रहती हैं—(१) अतीत पापों का प्रतिक्रमण (२) भविष्य के पापों का प्रत्याख्यान और (३) वर्तमान में मन-वचन-काया से न करने, न कराने और न अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा। भिक्षु-भिक्षुणी के सम्बन्ध में प्रयुक्त इन चारों शब्दों में महाव्रत ग्रहण करने के बाद व्यक्ति किस स्थिति में पहुँचता है उसका सरल, सादा चित्र है। प्रतिहत-पापकर्मा वह इसलिए है कि अतीत पापों से प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा द्वारा निवृत्त हो वह अपनी आत्मा के पापों का व्युत्सर्ग कर चुका। वह प्रत्याख्यात-पापकर्मा इसलिए है कि उसने भविष्य के लिए सर्व पापों का सर्वथा परित्याग किया है। वह संयत-विरत इसलिए है कि वह वर्तमान काल में किसी प्रकार का पाप किसी प्रकार से नहीं करता—उनसे वह निवृत्त है। सयत और विरत शब्द एकार्थक हैं। इस एकार्थकता को निष्प्रयोजन समझ संभवतः विरत का अर्थ तपस्या में रत किया हो। जो ऐसा भिक्षु या भिक्षुणी है उसका व्रतारोपण के बाद छह जीवनिकाय के प्रति कैसा वर्ताव रहना चाहिए उसी का वर्णन यहाँ से आरम्भ होता है।

६४. दिन में या रात में···(दिया वा राओ वा···) :

अध्यात्मरत श्रमण के लिए दिन और रात का कोई अन्तर नहीं होता अर्थात् वह अकरणीय कर्म को जैसे दिन में नहीं करता वैसे रात में भी नहीं करता, जैसे परिषद् में नहीं करता वैसे अकेले में भी नहीं करता, जैसे जागते हुए नहीं करता वैसे शयन-काल में भी नहीं करता।

जो व्यक्ति दिन में, परिषद् में या जाग्रत दशा में दूसरों के सकोचवश पाप से बचते हैं वे बहिर्दृष्टि हैं—आध्यात्मिक नहीं हैं।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी संकोच या भय से नहीं, पाप से बचते हैं—परम आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं वे आध्यात्मिक हैं।

'दिन में या रात में, एकान्त में या परिषद् में, सोते हुए या जागते हुए'—ये शब्द हर परिस्थिति, स्थान और समय के सूचक हैं[5]। साधु कहीं भी, कभी भी आगे बतलाये जाने वाले कार्य न करे।

१—(क) अ० चू० : पावकम्म सद्दो पत्तेय परिसमप्पति।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पावकम्मसद्दो पत्तेयं पत्तेय दोसुवि वट्टइ, त०—पडिहयपावकम्मे पच्चक्खायपावकम्मे य।

२—(क) अ० चू० : पडिहतं णासित।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणादीणि अट्ठ कम्माणि पत्तेयं पत्तेय जेण हयाणि सो पडिहयपावकम्मो।

(ग) हा० टी० प० १५२ : प्रतिहत—स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन।

३—(क) अ० चू० : पच्चक्खात णियत्तियं।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पच्चक्खायपावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।

(ग) हा० टी० प० १५२ : प्रत्याख्यातं—हेत्वभावत. पुनर्वृद्ध्यभावेन पाप कर्म—ज्ञानावरणीयादि येन स तयाविधः।

४—जि० चू० पृ० १५४ : अहवा सव्वाणि एताणि एगट्ठियाणि।

५—(क) अ० चू० : सव्वकालितो णियमो त्ति कालविसेसण—दिता वा रातो वा सव्वदा।

(ख) वही : चेट्ठा अवत्थंतरविसेसणत्यमिद—सुत्ते वा जहाभणितनिद्दामोक्खत्थउत्ते जागरमाणे वा सेसं कालं।

'साधु अकेला विचरण नहीं करता'। इस नियम को दृष्टि में रखकर ही जिनदास और हरिभद्र सूरि ने—'कारणवश अकेला' ऐसा अर्थ किया है[1]। यहाँ 'एगओ' शब्द का वास्तविक अर्थ अकेले में—एकांत में है। कई साधु एक साथ हों और वहाँ कोई गृहस्थ आदि उपस्थित न हो तो उन साधुओं के लिए यह भी एकांत कहा जा सकता है।

६५. पृथ्वी (पुढविं) :

पाषाण, ढेला आदि के सिवा अन्य पृथ्वी[2]।

६६. भित्ति (भित्तिं) :

जिनदास ने इसका अर्थ नदी किया है[3]। हरिभद्र ने इसका अर्थ नदीतटी किया है[4]। अगस्त्यसिंह के अनुसार इसका अर्थ नदी-पर्वतादि की दरार, रेखा या राजि है[5]।

६७. शिला (सिलं) :

विच्छिन्न विशाल पाषाण को शिला कहते हैं[6]।

६८. ढेले (लेलुं) :

मिट्टी का लघु पिण्ड अथवा पाषाण का छोटा टुकड़ा[7]।

६९. सचित्त रज से संसृष्ट (ससरक्खं) :

अरण्य के वे रजकण, जो गमनागमन से आक्रान्त नहीं होते, सजीव माने गए हैं[8]। उनसे संश्लिष्ट वस्तु को 'सरजस्क' कहा जाता है। (आवश्यक ४.१ की चूर्णि में 'ससरक्ख' की व्याख्या—'सहसरक्खेण ससरक्खे' की है।)

१—(क) अ० चू० : परनिमित्तमाकुल रहो वा त विसेसिज्जति—'एगतो वा' एगत्तणं गतो 'परिसागतो' वा परिसा—जनसमुदवो तग्गतो वा।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : कारणिएण वा एगेण।
(ग) हा० टी० प० १५२ : कारणिक एक।

२—(क) अ० चू० : पुढवी सक्करादीविकप्पा।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : पुढविग्गहणेण पासाणलेट्टुमाईहिं रहियाए पुढवीए गहणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ : पृथिवी—लोष्टादिरहिता।

३—जि० चू० पृ० १५४ : भित्ती नाम नदी भण्णइ।

४—हा० टी० प० १५२ : भित्ति—नदीतटी।

५—अ० चू० : भित्ती—णदी-पव्वतादि तडी ततो वा ज अवद्दलितं।

६—(क) अ० चू० : सिला सवित्थारो पाहणविसेसो।
(ख) जि० चू० १५४ : सिला नाम विच्छिण्णो जो पाहाणो स सिला।
(ग) हा० टी० प० १५२ : विशाल पाषाण।

७—(क) अ० चू० : लेलू मट्टियापिंडो।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : लेलु लेट्टुओ।
(ग) हा० टी० प० १५२ : लोष्ट।

८—ओ० नि० २४-२५।

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'सरजस्क' है[१]। अर्थ की दृष्टि से 'सरजस्क' शब्द संगत है किन्तु प्राकृत शब्द की संस्कृत छाया करने की दृष्टि से वह संगत नहीं है। व्याकरण की दृष्टि से 'सरजस्क' का प्राकृत रूप 'सरयक्ख' या 'सरक्ख' होता है। किन्तु यह शब्द 'ससरक्ख' है इसलिए इसका संस्कृत रूप 'ससरक्ष' होना चाहिए। अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसकी जो व्याख्या की है (पृ.८) वह 'ससरक्ष' के अनुकूल है। राख के समान अत्यन्त सूक्ष्म रजकणों को 'सरक्ख' और 'सरक्ख' से संश्लिष्ट वस्तु को 'ससरक्ख' कहा जाता है[२]। ओघनिर्युक्ति की वृत्ति में 'सरक्ख' का अर्थ राख किया गया है[३]।

जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में 'सरक्ख' का अर्थ 'पांशु' किया है और उस आरण्यपांशु सहित वस्तु को 'ससरक्ख' माना है[४]। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में अगस्त्यसिंह स्थविर के शब्द भी लगभग ऐसे ही हैं[५]।

७०. खपाच (किलिंचेण) :

बाँस की खपची, क्षुद्र काष्ठ-खण्ड[६]।

७१. शलाका-समूह (सलागहत्थेण) :

काष्ठ, ताँबे या लोहे के गढित या अगढित टुकड़े को शलाका कहा जाता है[७] हस्त भूयस्त्ववाची शब्द है[८]। शलाकाहस्त अर्थात् शलाका-समूह[९]।

७२. आलेखन (आलिहेज्जा) :

यह 'आलिह' (आ+लिख्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है कुरेदना, खोदना, विन्यास करना, चित्रित करना, रेखा करना। प्राकृत में 'आलिह' धातु स्पर्श करने के अर्थ में भी है। किन्तु यहाँ स्पर्श करने की अपेक्षा कुरेदने का अर्थ अधिक संगत लगता है।

जिनदास ने इसका अर्थ—'ईसि लिहण' किया है। हरिभद्र 'आलिखेत्' संस्कृत छाया देकर ही छोड देते हैं।

१—हा० टी० प० १५२ : सह रजसा—आरण्यपांशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्क:।

२—अ० चू० 'सरक्खो'—ससराहो, छार-सरिसो पुढवि-रतो। (रजस्)। सहसरक्खेण ससरक्खो।

३—ओघ नि० ३४६ वृत्ति सरक्खो—भस्म।

४—जि० चू० पृ० १५४ : सरक्खो नाम पसू भण्णइ, तेण आरण्णपसुणा अणुगतं ससरक्खं भण्णइ।

५—अ० चू० : सरक्खो पसू। तेण अरण्ण पसुणा सहगतं—ससरक्खं।

६—(क) नि० चू० ४.१०७ : किलिंचो—वंशकप्परी।

(ख) जि० चू० पृ० १५४ : कलिंच—कारसोहिसादीणं खंड।

(ग) हा० टी० प० १५२ : कलिञ्जेन वा—क्षुद्रकाष्ठरूपेण।

(घ) अ० चू० : कलिंच त चेव सण्हं।

७—(क) अ० चू० : सलागा कट्ठमेव घडितग। अघडितग कट्ठ।

(ख) नि० चू० ४.१०७ : अण्णतरकट्ठघडिया सलागा।

(ग) जि० चू० पृ० १५४ : सलागा घडियाओ तयाईण।

८—अ० चि० ३.२३२।

९—(क) जि० चू० पृ० १५४ : सलागाहत्थओ बहुयरिआयो अहवा सलागानो घडिल्लियाओ तासि सलागाणं सघाओ सलागाहत्थो।

(ख) हा० टी० प० १५२ : शलाकया वा—अय:शलाकादिरूपया शलाकाहस्तेन वा—शलाकासघातरूपेण।

७३. विलेखन (विलिहेज्जा) :

(वि+लिख्) आलेखन और विलेखन में 'धातु' एक ही है केवल उपसर्ग का भेद है। आलेखन का अर्थ थोड़ा या एक वार कुरेदना और विलेखन का अर्थ अनेक वार कुरेदना या खोदना है[1]।

७४. घट्टन (घट्टेज्जा) :

यह 'घट्ट' (घट्ट्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है हिलाना, चलाना[2]।

७५. भेदन (भिंदेज्जा) :

यह भिंद (भिद्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है भेदन करना, तोड़ना। विदारण करना। दो, तीन आदि भाग करना[3]।

न आलेखन करे'''न भेदन करे (न आलिहेज्जा'''न भिंदेज्जा) : दसवें सूत्र में छः ही प्रकार के जीवों के प्रति त्रिविध-त्रिविध से दण्ड-समारम्भ न करने का त्याग किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह जीवों के प्रति दण्ड-स्वरूप होने से मुमुक्षु ने प्राणातिपात विरमण आदि महाव्रत ग्रहण किये। सूत्र १८ से २३ में छः ही प्रकार के जीवों के कुछ नामों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति हिंसक क्रियाओं से बचने का मार्मिक उपदेश है और साथ ही भिक्षु द्वारा प्रत्येक की हिंसा से बचने के लिए प्रतिज्ञा-ग्रहण।

पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेले, सचित्त रज—ये पृथ्वीकाय जीवों के साधारण-से-साधारण उदाहरण हैं। हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच आदि उपकरण भी साधारण-से-साधारण हैं। आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन—हिंसा की ये क्रियाएँ भी बड़ी साधारण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु साधारण-से-साधारण पृथ्वीकायिक जीवों का भी साधारण-से-साधारण साधनों द्वारा तथा साधारण क्रियाओं द्वारा भी हनन नहीं कर सकता, फिर क्रूर साधनों द्वारा तथा स्थूल क्रियाओं द्वारा हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ भिक्षु को यह विवेक दिया गया है कि वह हर समय, हर स्थान में, हर अवस्था में किसी भी पृथ्वीकायिक जीव की किसी भी उपकरण से किसी प्रकार हिंसा न करे और सब तरह की हिंसा-क्रियाओं से बचे।

यही बात अन्य स्थावर और त्रस जीवों के विषय में सूत्र १९ से २३ में कही गयी है और उन सूत्रों को पढ़ते समय इसे ध्यान में रखनी चाहिए।

सूत्र १९ :

७६. उदक (उदगं) :

जल दो प्रकार का होता है—भौम और आन्तरिक्ष। आन्तरिक्ष जल को शुद्धोदक कहा जाता है[4]। उसके चार प्रकार हैं—

१—(क) अ० चू० : ईसि लिहणमालिहण विविह लिहण विलिहण।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : आलिहण नाम ईसि, विलिहणं विविहेहिं पगारेहिं लिहणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ : ईषत्सकृद्वाऽऽलेखन, नितरामनेकशो वा विलेखनम्।
२—(क) अ० चू० : घट्टण सचालण।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ - घट्टण वहण।
(ग) हा० टी० प० १५२ : घट्टन चालनम्।
३—(क) अ० चू० : भिंदण भेदकरणम्।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : भिंदण दुहा वा तिहा वा करणति।
(ग) हा० टी० प० १५२ : भेदो विदारणम्।
४—अ० चू० : अन्तरिक्ख पाणित सुद्धोदग।

(१) धारा-जल, (२) करक-जल, (३) हिम-जल और (४) तुषार-जल। इनके अतिरिक्त ओस भी आन्तरिक्ष जल है। भूम्याश्रित या भूमि के स्रोतों में वहने वाला जल भौम कहलाता है। इस भौम-जल के लिए 'उदक'[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। उदक अर्थात् नदी, तालावादि का जल, शिरा से निकलने वाला जल।

७७. ओस (ओसं) :

रात में पूर्वाह्न या अपराह्न में जो सूक्ष्म जल पड़ता है उसे ओस कहते हैं। शरद् ऋतु की रात्रि में मेघोत्पन्न स्नेह विशेष को ओस कहते हैं[2]।

७८. हिम (हिमं) :

वरफ या पाला को हिम कहते हैं। अत्यन्त शीत ऋतु में जो जल जम जाता है उसे हिम कहते हैं[3]।

७९. धूँअर (महियं) :

शिशिर में जो अंधकार कारक तुषार गिरता है उसे महिका, कुहरा या धूमिका कहते हैं[4]।

८०. ओले (करगं) :

आकाश से गिरने वाले उदक के कठिन ढेले[5]।

८१. भूमि को भेदकर निकले हुए जल-विन्दु (हरतणुगं) :

जिनदास ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो भूमि को भेदकर ऊपर उठता है उसे हरतनु कहते हैं। यह सीली भूमि पर स्थित पात्र के नीचे देखा जाता है[6]। हरिभद्र ने लिखा है—भूमि को उद्भेदन कर जो जल-विन्दु तृणाग्र आदि पर होते हैं वे हरतनु हैं[7]। व्याख्याओं के अनुसार ये विन्दु औद्भिद जल के होते हैं[8]।

१—(क) अ० चू० : नदि-तलागादिसंसित पाणियमुदग।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उदगग्गहणेण भोमस्स आउकायस्स गहण कय।
(ग) हा० टी० प० १५३ : उदक—शिरापानीयम्।

२—(क) अ० चू० : सरयादौ णिसि मेघसंभवो सिणेहविसेसो तोस्सा।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उस्सा नाम निसि पडइ, पुव्वण्हे अवरण्हे वा, सा य उस्सा तेहो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : अवश्याय —त्रेह.।

३—(क) अ० चू० अतिसीतावत्थं भितमुदगमेव हिमं।
(ख) हा० टी० प० १५३ : हिम—स्त्यानोदकम्।

४—(क) अ० चू० : पातो सिसिरे दिसामधकारकारिणी महिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : जो सिसिरे तुसारो पडइ सो महिया भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ . महिका—धूमिका।

५—(क) अ० चू० : वरिसोदगं कढिणी भूतं करगो।
(ख) हा० टी० प० १५३ : करकः—कठिनोदकरूपः।

६—जि० चू० पृ० १५५ : हरतणुओ भूमि भेत्तूण उट्ठेइ, सो य उवुगाइसु तिताए भूमीए ठविएसु हेट्ठा दीसति।

७—हा० टी० प० १५३ : हरतनुः—भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति।

८—अ० चू० : किंचि सणिद्ध भूमि भेत्तण कहिंचि समस्सयति सफुसितो सिणेहविसेसो हरतणुतो।

७३. विलेखन (विलिहेज्जा) :

(वि+लिख्) आलेखन और विलेखन में 'धातु' एक ही है केवल उपसर्ग का भेद है। आलेखन का अर्थ थोड़ा या एक बार कुरेदना और विलेखन का अर्थ अनेक बार कुरेदना या खोदना है[1]।

७४. घट्टन (घटेज्जा) :

यह 'घट्ट' (घट्ट्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है हिलाना, चलाना[2]।

७५. भेदन (भिंदेज्जा) :

यह भिंद (भिद्) धातु का विधि-रूप है। इसका अर्थ है भेदन करना, तोड़ना। विदारण करना। दो, तीन आदि भाग करना[3]।

न आलेखन करे''न भेदन करे (न आलिहेज्जा''न भिंदेज्जा) : दसवें सूत्र में छः ही प्रकार के जीवों के प्रति त्रिविध-त्रिविध से दण्ड-समारम्भ न करने का त्याग किया गया है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह जीवों के प्रति दण्ड-स्वरूप होने से मुमुक्षु ने प्राणातिपात विरमण आदि महाव्रत ग्रहण किये। सूत्र १८ से २३ में छ ही प्रकार के जीवों के कुछ नामों का उल्लेख करते हुए उनके प्रति हिंसक क्रियाओं से बचने का मार्मिक उपदेश है और साथ ही भिक्षु द्वारा प्रत्येक की हिंसा से बचने के लिए प्रतिज्ञा-ग्रहण।

पृथ्वी, भित्ति, शिला, ढेले, सचित्त रज—ये पृथ्वीकाय जीवों के साधारण-से-साधारण उदाहरण हैं। हाथ, पाँव, काष्ठ, खपाच आदि उपकरण भी साधारण-से-साधारण हैं। आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन—हिंसा की ये क्रियाएँ भी बड़ी साधारण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भिक्षु साधारण-से-साधारण पृथ्वीकायिक जीवों का भी साधारण-से-साधारण साधनों द्वारा तथा साधारण क्रियाओं द्वारा भी हनन नहीं कर सकता; फिर क्रूर साधनों द्वारा तथा स्थूल क्रियाओं द्वारा हिंसा करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ भिक्षु को यह विवेक दिया गया है कि वह हर समय, हर स्थान में, हर अवस्था में किसी भी पृथ्वीकायिक जीव की किसी भी उपकरण से किसी प्रकार हिंसा न करे और सब तरह की हिंस्र-क्रियाओं से बचे।

यही बात अन्य स्थावर और त्रस जीवों के विषय में सूत्र १६ से २३ में कही गयी है और उन सूत्रों को पढ़ते समय इसे ध्यान में रखनी चाहिए।

सूत्र १६ :

७६. उदक (उदगं) :

जल दो प्रकार का होता है—भौम और आन्तरिक्ष। आन्तरिक्ष जल को शुद्धोदक कहा जाता है[4]। उसके चार प्रकार हैं—

१—(क) अ० चू० : ईसि लिहणमालिहण विविह लिहण विलिहण।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : आलिहण नाम ईसि, विलिहण विविहेहिं पगारेहिं लिहणं।
(ग) हा० टी० प० १५२ : ईषत्सकृद्वाऽऽलेखन, नितरामनेकशो वा विलेखनम्।

२—(क) अ० चू० : घट्टण सचालण।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : घट्टण वहूण।
(ग) हा० टी० प० १५२ : घट्टन चालनम्।

३—(क) अ० चू० : भिंदण भेदकरणम्।
(ख) जि० चू० पृ० १५४ : भिंदणं दुहा वा तिहा वा करणति।
(ग) हा० टी० प० १५२ : भेदो विदारणम्।

४—अ० चू० : अन्तरिक्ख पाणितं सुद्धोदग।

(१) धारा-जल, (२) करक-जल, (३) हिम-जल और (४) तुषार-जल। इनके अतिरिक्त ओस भी आन्तरिक्ष जल है। भूम्याश्रित या भूमि के स्रोतों में वहने वाला जल भौम कहलाता है। इस भौम-जल के लिए 'उदक'[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। उदक अर्थात् नदी, तालावादि का जल, शिरा से निकलने वाला जल।

७७. ओस (ओसं) :

रात में पूर्वाह्न या अपराह्न में जो सूक्ष्म जल पड़ता है उसे ओस कहते हैं। शरद् ऋतु की रात्रि में मेघोत्पन्न स्नेह विशेष को ओस कहते हैं[2]।

७८. हिम (हिमं) :

वरफ या पाला को हिम कहते हैं। अत्यन्त शीत ऋतु में जो जल जम जाता है उसे हिम कहते हैं[3]।

७६. धूँअर (महियं) :

शिशिर में जो अंधकार कारक तुषार गिरता है उसे महिका, कुहरा या धूमिका कहते हैं[4]।

८०. ओले (करगं) :

आकाश से गिरने वाले उदक के कठिन ढेले[5]।

८१. भूमि को भेदकर निकले हुए जल-विन्दु (हरतणुगं) :

जिनदास ने इस शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो भूमि को भेदकर ऊपर उठता है उसे हरतनु कहते हैं। यह सीली भूमि पर स्थित पात्र के नीचे देखा जाता है[6]। हरिभद्र ने लिखा है—भूमि को उद्भेदन कर जो जल-विन्दु तृणाग्र आदि पर होते हैं वे हरतनु हैं[7]। व्याख्याओं के अनुसार ये विन्दु औद्भिद जल के होते हैं[8]।

१—(क) अ० चू० : नदि-तलागादिसंसित पाणियमुदगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उदगग्गहणेण भोमस्स आउक्कायस्स गहणं कयं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : उदक—शिरापानीयम्।

२—(क) अ० चू० : सरयादौ णिसि मेघसंभवो सिणेहविसेसो तोस्सा।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : उस्सा नाम निसिं पडइ, पुव्वण्हे अवरण्हे वा, सा य उस्सा तेहो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : अवश्याय.—त्रेहः।

३—(क) अ० चू० : अतिसीतावत्थं भितमुदगमेव हिमं।
(ख) हा० टी० प० १५३ : हिम—स्त्यानोदकम्।

४—(क) अ० चू० : पातो सिसिरे दिसामधकारकारिणी महिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : जो सिसिरे तुसारो पडइ सो महिया भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : महिका—धूमिका।

५—(क) अ० चू० : वरिसोदग कढिणी भूत करगो।
(ख) हा० टी० प० १५३ : करक.—कठिनोदकरूपः।

६—जि० चू० पृ० १५५ : हरतणुओ भूमिं भेत्तूण उट्ठेह, सो य उवुगाइसु तिताए भूमीए ठविएसु हेट्ठा दीसति।

७—हा० टी० प० १५३ . हरतनुः—भुवमुद्भिद्य तृणाग्रादिषु भवति।

८—अ० चू० : किंचि सणिद्ध भूमि भेत्तण कहिंचि समस्सयति सफुसितो सिणेहविसेसो हरतणुतो।

८२. शुद्ध-उदक (सुद्धोदगं) :

आन्तरिक्ष-जल को शुद्धोदक कहते हैं[१]।

८३. जल से भींगे (उदओल्लं) :

जल के ऊपर जो भेद दिये गये हैं उनके विंदुओं से आर्द्र—गीला[२]।

८४. जल से स्निग्ध (ससिणिद्धं) :

जो स्निग्धता से युक्त हो उसे सस्निग्ध कहते हैं। उसका अर्थ है जल-बिन्दु रहित आर्द्रता। उन गीली वस्तुओं को जिनसे जल-बिन्दु नहीं गिरते, 'सस्निग्ध' कहते हैं[३]।

८५. आमर्श···संस्पर्श (आमुसेज्जा···संफुसेज्जा) :

आमुस (आ+मृश्) थोडा या एक वार स्पर्श करना आमर्श है, सफुस (सम्+स्पृश्) अधिक या वार-वार स्पर्श करना संस्पर्श है[४]।

८६. आपीड़न···प्रपीड़न (आवीलेज्जा···पवीलेज्जा) :

आवील (आ+पीड्)—थोड़ा या एक वार निचोड़ना, दवाना। प्रपीडन—अधिक या वार-वार निचोड़ना, दवाना[५]।

८७. आस्फोटन···प्रस्फोटन (अक्खोडेज्जा···पक्खोडेज्जा) :

अक्खोड (आ+स्फोटय्)—थोड़ा या एक वार झटकना। पक्खोड (प्र+स्फोटय्)—बहुत या अनेक वार झटकना[६]।

१—(क) अ० चू० अतरिक्खपाणित सुद्धोदग।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : अतलिक्खपाणिय सुद्धोदग भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ शुद्धोदकम्—अन्तरिक्षोदकम्।

२—(क) अ० चू० तोल्ल उदओल्ल वा कात सरीर।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ज० एतेसि उदगभेएहिं विंदुसहिय भवइ त उदउल्लं भन्नइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ उदकार्द्रता चेह गलद्विन्दुतुषारादि अनन्तरोदितोदकभेदसमिश्रता।

३—(क) अ० चू ससणिद्ध [म] विन्दुग ओल्ल ईसि।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ससिणिद्ध ज न गलति तितय त ससणिद्ध भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५३ : अत्र स्नेहन स्निग्धमिति भावे निष्ठाप्रत्ययः, सह स्निग्धेन वर्तत इति सस्निग्ध, सस्निग्धता चेह बिन्दुरहितानन्तरोदितोदकभेदसमिश्रता।

४—(क) अ० चू० ईसि मुसणमामुसण, समेच्च मुसण सम्मुसण।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : आमुसण नाम ईषत्स्पर्शन आमुसन अहवा एगवार फरिसण आमुसण, पुणो पुणो सफुसण।
(ग) हा० टी० प० १५३ : सकृदीषद्वा स्पर्शनमामर्षणम् अतोऽन्यत्सस्पर्शनम्।

५—(क) अ० चू० : ईसि पीलणमापीलण, अधिक पीलन निप्पीलण।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ - ईसि निपीलण आपीलण, अच्चत्थ पीलण पवीलण।
(ग) हा० टी० प० १५३ : एव सकृदीषद्वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत्प्रपीडनम्।

६—(क) अ० चू० : एक्क खोडन अक्खोडण, भिस खोडन पक्खोडण।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ एग वार ज अक्खोडेइ, त बहुवार पक्खोडण।
(ग) हा० टी० प० १५३ एव सकृदीषद्वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्।

८८. आतापन···प्रतापन (आयावेज्जा···पयावेज्जा) :

आयाव (आ+तापय्)—थोड़ा या एक वार सुखाना, तपाना। पयाव (प्र+तापय्)—बहुत या अनेक वार सुखाना, तपाना[1]।

सूत्र : २०

८९. अग्नि (अगणिं) :

अग्नि से लगा कर उल्का तक तेजस्-काय के प्रकार वतलाये गए हैं। अग्नि की व्याख्या इस प्रकार है : लोह-पिंड में प्रविष्ट स्पर्शग्राह्य तेजस् को अग्नि कहते हैं[2]।

९०. अंगारे (इंगालं) :

ज्वालारहित कोयले को अंगार कहते हैं। लकडी का जलता हुआ धूम-रहित खण्ड[3]।

९१. मुर्मुर (मुम्मुरं) :

कडे या करसी की आग। तुषाग्नि, चोकर या भूसी की आग। क्षारादिगत अग्नि को मुर्मुर कहते हैं। भस्म के विरल अग्नि-कण मुर्मुर हैं[4]।

९२. अर्चि (अच्चिं) :

मूल अग्नि से विच्छिन्न ज्वाला को अर्चि कहते हैं। आकाशानुगत परिच्छिन्न अग्निशिखा। दीपशिखा का अग्रभाग[5]।

९३. ज्वाला (जालं) :

प्रदीप्ताग्नि से प्रतिबद्ध अग्निशिखा को ज्वाला कहते हैं।[6]

१—(क) अ० चू० : ईसिं तावणमातावणं, प्रगतं तावण पतावणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५५ : ईसित्ति तावण आतावण, अतीव तावणं पतावणं।
(ग) हा० टी० प० १५३ : एवं सकृदीपद्वा तापनमातापनं विपरीत प्रतापनम्।

२—(क) जि० चू० पृ० १५५-५६ : अगणी नाम जो अयपिंडाणुगयो फरिसगेज्झो सो आयपिंडो भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १५४ : अयस्पिण्डानुगतोऽग्नि।

३—(क) अ० चू० : इगालं वा खदिरादीण णिद्दड्ढाण धूम विरहितो इगालो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : इगालो नाम जालारहिओ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : ज्वालारहितोऽङ्गारः।

४—(क) अ० चू० : करिसगादीण किंचि सिट्ठो अग्गी मुम्मुरो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : मुम्मुरो नाम जो छाराणुगओ अग्गी सो मुम्मुरो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : विरलाग्निकणं भस्म मुर्मुरः।

५—(क) अ० चू० : दीवसिहासिहरादि अच्ची।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : अच्ची नाम आगासाणुगआ परिच्छिण्णा अग्गिसिहा।
(ग) हा० टी० प० १५४ : मूलाग्निविच्छिन्ना ज्वाला अर्चिः।

६—(क) अ० चू० : उद्दितो परि अविच्छिण्णा जाला।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : जाला पसिद्धा चेव।
(ग) हा० टी० प० १५४ : प्रतिबद्धा ज्वाला।

६४. अलात (अलायं) :

अधजली लकड़ी[1] ।

६५. शुद्ध अग्नि (सुद्धागणिं) :

इन्धनरहित अग्नि[2] ।

६६. उल्का (उक्कं) :

गगनाग्नि—विद्युत् आदि[3] ।

६७. उत्सेचन (उंजेज्जा) :

उञ (सिच्)—सींचना, प्रदीप्त करना[4] ।

६८. घट्टन (घट्टेज्जा) :

सजातीय या अन्य द्रव्यों द्वारा चालन या घर्षण[5] ।

६६. उज्ज्वालन (उज्जालेज्जा) :

पखे आदि से अग्नि को ज्वलित करना—उसकी वृद्धि करना[6] ।

१००. निर्वाण करे (निव्वावेज्जा) :

निर्वाण का अर्थ है—बुझाना[7] ।

१—(क) अ० चू० : अलात उमुत ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ अलाय नाम उम्मुआहिय पज (पज्ज) लिय ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : अलातमुल्मुकम् ।

२—(क) अ० चू० : एते विसेसे मोत्तूण सुद्धागणी ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : इंधणरहिओ सुद्धागणी ।
(ग) हा० टी० प० १५४ · निरिन्धन —शुद्धोऽग्निः ।

३—(क) अ० चू० : उक्का विज्जुतादि ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उक्काविज्जुगादि ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उल्का—गगनाग्नि ।

४—(क) अ० चू० : अवसतुयण उजणं ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उजण णाम अवमतुअणं ।
(ग) हा० टी० प० १५४ · उञ्जनमुत्सेचनम् ।

५—(क) अ० चू० · परोप्परमुमुताण अरणेण वा आहणण घट्टणं ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ घट्टणं परोप्पर उम्मुगाणि घट्टयति, अरणेण वा तारिसेण दव्वजाएण घट्टयति ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : घट्टन—सजातीयादिना चालनम् ।

६—(क) अ० चू० · वीयणगादीहि जालाकरणमुज्जालणं ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : उज्जलण नाम वीयणमाईहिं जालाकरणं ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : उज्ज्वालन—व्यजनादिभिर्वृद्धयापादनम् ।

७—(क) अ० चू० : विज्झवणं निव्वावण ।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : निव्वावण नाम विज्झावणं ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : निर्वापण—विध्यापनम् ।

सूत्र २१ :

१०१. चामर (सिएण) :

सित का अर्थ चँवर किया गया है[1]। किन्तु संस्कृत साहित्य में सित का चँवर अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। सित चामर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है—सित-चामर—श्वेत-चामर।

आचाराङ्ग (२ १ ७.२६२) में वही प्रकरण है जो कि इस सूत्र में है। वहाँ पर 'सिएण वा' के स्थान पर 'सुप्पेण वा' का प्रयोग हुआ है—'सुप्पेण वा विहुणेण वा तालिअटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा।'

निशीथ भाष्य (गा० २३६) में भी 'सुप्प' का प्रयोग मिलता है :—

सुप्पे य तालवेंटे, हत्थे मत्ते य चेलकण्णे य।
अच्छिफुमे पव्वए, णालिया चेव पत्ते य॥

यह परिवर्तन विचारणीय है।

१०२. पंखे (विहुयणेण) :

व्यजन, पखा[2]।

१०३. वीजन (तालियंटेण) :

जिसके बीच में पकड़ने के लिए छेद हो और जो दो पुट वाला हो उसे तालवृन्त कहा जाता है। कई-कई इसका अर्थ ताड़पत्र का पंखा भी करते हैं[3]।

१०४. पत्र, शाखा, शाखा के टुकड़े (पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा) :

'पत्तेण वा' 'साहाए वा' के मध्य में 'पत्तभगेण वा' पाठ भी मिलता है। टीका-काल तक 'पत्तभगेण वा' यह पाठ नहीं रहा। इसकी व्याख्या टीका की उत्तरवर्ती व्याख्याओं में मिलती है। आचाराङ्ग (२.१.७ २६२) में 'पत्तेण वा' के बाद 'साहाए वा' रहा है किन्तु उनके मध्य में 'पत्तभंगेण वा' नहीं है और यह आवश्यक भी नहीं लगता।

पत्र—पद्मिनी पत्र आदि[4]।

शाखा—वृक्ष की डाल।

१—(क) अ चू० : चामरं सियं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : सीतं चामर भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : सितं चामरम्।

२—(क) अ० चू० : वीयण विहुवणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : विहुवणं वीयन णाम।
(ग) हा० टी० प० १५४ : विधवनं—व्यजनम्।

३—(क) अ० चू० : तालवेंटमुक्खेवजाती।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : तालियटो नाम लोगपसिद्धो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : तालवृन्त—तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रम् द्विपुटम्।

४—(क) अ० चू० : पउमिणिपत्तमादी पत्तं।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पत्त नाम पोमिणिपत्तादी।
(ग) हा० टी० प० १५४ : पत्र—पद्मिनीपत्रादि।

शाखा के टुकडे—डाल का एक अंश[1]।

१०५. मोर-पंख (पिहुणेण) :

इसका अर्थ मोर-पिच्छ अथवा वैसा ही अन्य पिच्छ होता है[2]।

१०६. मोर-पिच्छी (पिहुणहत्थेण) :

मोर-पिच्छों अथवा अन्य पिच्छों का समूह—एक साथ बंधा हुआ गुच्छ[3]।

१०७. वस्त्र के पल्ले (चेलकण्णेण) :

वस्त्र का एक देश—भाग[4]।

१०८. अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों को (अप्पणो वा कायं बाहिरं वा वि पुग्गलं) :

अपने गात्र को तथा उष्ण ओदन आदि पदार्थों को[5]।

सूत्र : २२

१०९. स्फुटित बीजों पर (रूढेसु) :

बीज जब भूमि को फोड कर बाहर निकलता है तब उसे रूढ कहा जाता है[6]। यह बीज और अंकुर के बीच की अवस्था है। अंकुर नहीं निकला हो ऐसे स्फुटित बीजों पर।

१—(क) अ० चू० रुक्खडाल साहा, तदेगदेसो साहा भगतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : साहा रुक्खस्स डाल, साहाभगओ तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : शाखा-वृक्षडाल शाखाभङ्ग—तदेकदेशः।

२—(क) अ० चू० : पेहुण मोरंग।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ : पेहुण मोरपिच्छग वा अण्ण वा किंचि तारिस पिच्छ।
(ग) हा० टी० प० १५४ : पेहुण—मयूरादिपिच्छम्।

३—(क) अ० चू० तेसिं कलावो पेहुणहत्थतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ पिहुणहत्थओ मोरिंगकुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि।
(ग) हा० टी० प० १५४ पेहुणहस्त—तत्समूहः।

४—(क) अ० चू० : तदेकदेशो चेलकण्णो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ चेलकण्णो तस्सेव एगदेसो।
(ग) हा० टी० प० १५४ : चेलकर्ण—तदेकदेश।

५—(क) अ० चू० : अप्पणो सरीर सरीरवज्जो बाहिरो पोग्गलो।
(ख) जि० चू० पृ० १५६ - पोग्गल—उसिणोदग।
(ग) हा० टी० प० १५४ आत्मनो वा काय—स्वदेहमित्यर्थः, बाह्य वा पुद्गलम्—उष्णौदनादि।

६—(क) अ० चू० उब्भिज्जत रूढ।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : रूढ णाम बीयाणि चेव फुडियाणि, ण ताव अंकुरो निप्फज्जइ।
(ग) हा० टी० प० १५५ रूढानि—स्फुटितबीजानि।

११०. पत्ते आने की अवस्था वाली वनस्पति पर (जाएसु) :

अगस्त्य चूर्णि में बद्ध-मूल वनस्पति को जात कहा है[1]। यह भूणाग्र के प्रकट होने की अवस्था है। जिनदास चूर्णि और टीका में इस दशा को स्तम्ब कहा गया है[2]।

जो वनस्पति अंकुरित हो गई हो, जिसकी पत्तियाँ भूमि पर फैल गई हों या जो घास कुछ बढ़ चली हो—उसे स्तम्बीभूत कहा जाता है।

१११. छिन्न वनस्पति के अङ्गों पर (छिन्नेसु) :

वायु द्वारा भग्न अथवा परशु आदि द्वारा वृक्ष से अलग किए हुए आर्द्र अपरिणत डालादि अङ्गों पर[3]।

११२. अण्डों एवं काष्ठ-कीट से युक्त काष्ठ आदि पर (सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु) :

सूत्र के इस वाक्यांश का 'प्रतिनिश्रित' शब्द सचित्त और कोल दोनों से सम्बन्धित है। सचित्त का अर्थ अण्डा और कोल का अर्थ घुण—काष्ठ-कीट होता है। प्रतिनिश्रित अर्थात् जिसमें अण्डे और काष्ठ-कीट हों वैसे काष्ठ आदि पर[4]।

११३. सोये (तुयट्टेज्जा[5]) :

(त्वग् + वृत्)—सोना, करवट लेना[6]।

सूत्र २३ :

११४. सिर (सीसंसि) :

अगस्त्य चूर्णि में 'बाहुसि वा' के पश्चात् 'उद्सीससि वा' है। अवचूरी और दीपिकाकार ने 'उदरंसिवा' के पश्चात् 'सीसंसिवा'

१– अ० चू० : आवद्धमूल जात।

२—(क) जि० चू० पृ० १५७ : जाय नाम एताणि चेव थंबीभूयाणि।
(ख) हा० टी० प० १५५ : जातानि—स्तम्बीभूतानि।

३—(क) अ० चू० : छिण्ण पिहीकत त अपरिणतं।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : छिण्णग्गहणेणं वाउणा भग्गस्स अण्णेण वा परसुमाइणा छिण्णस्स अहभावे वट्टमाणस्स अपरिणयस्स गहण कयमिति।
(ग) हा० टी० प० १५५ : छिन्नानि—परश्वादिभिर्वृक्षात् पृथक् स्थापितान्यार्द्राणि अपरिणतानि तदङ्गानि गृह्यन्ते।

४—(क) अ० चू० : सचित्त-कोलपडिणिस्सितेसु वा, पडिणिस्सित सद्दो दोसु वि, सचित्तेसु पडिणिस्सिताणि अडग-उद्देहिगादिसु, कोला घुणा ते जाणि अस्सिता ते कोलपडिणिस्सिता।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : सचित्तकोलपडिणिस्सियसद्दो दोसु वट्टइ, सचित्तसद्दे य कोलसद्दे य, सचित्तपडिणिस्सियाणि दारुयाणि सचित्तकोलपडिनिस्सिताणि, तत्थ सचित्तगहणेण अडगउद्देहिगादीहिं अणुगताणि जाणि दारुगादीणि सचित्तणिस्सियाणि, कोल-पडिनिस्सयाणि नाम कोलो घुणा भण्णति, सो कोलो जेसु दारुगेसु अणुगओ ताणि कोलपडिनिस्सियाणि।
(ग) हा० टी० प० १५५ : सचित्तानि—अण्डकादीनि कोल:—घुण।

५—(क) अ० चू० : गमण चकमणं, चिट्ठण ठाण, णिसीदण उपविसण, तुयट्टण निवज्जणं।
(ख) जि० चू० पृ० १५७ : गमण आगमण वा चंकमण भण्णइ, चिट्ठण नाम तेसि उवरिं ठियस्स अच्छण, निसीयणं उवविट्ठियस्स ज आवेसण।
(ग) हा० टी० प० १५५ : गमनम्—अन्यतोऽन्यत्र स्थानम्—एकत्रैव निषीदनम्—उपवेशनम्।

६—जि० चू० पृ० १५७ : तुयट्टण निवज्जण।

माना है किन्तु टीका में वह व्याख्यात नहीं है। 'वत्थंसि वा' के पश्चात् 'पडिग्गहंसि वा' 'कवलंसि वा' 'पायपुञ्छणंसि वा' ये पाठ और हैं, उनकी टीकाकार और अवचूरीकार ने व्याख्या नहीं की है। दीपिकाकार ने उनकी व्याख्या की है। अगस्त्य चूर्णि में 'वत्थंसि वा' नहीं है, 'कवलंसि वा' है। 'पायपुञ्छण' (पादपुञ्छन) रयहरण (रजोहरण) का पुनरुक्त है। 'पादपुञ्छन शब्देन रजोहरणमेव गृह्यते' (ओघनिर्युक्ति गाथा ७०६ वृत्ति)। पादप्रोञ्छनम्—रजोहरणम् (स्थानाङ्ग ५ १.४०६ वृत्ति)। स लिए यह अनावश्यक प्रतीत होता है। अगस्त्य चूर्णि में 'पडिग्गह' और 'पाय' दोनों पात्रवाचक हैं।

११५. जा हरण (रयहरणंसि) :

स्थानाङ्ग (५ ३ ४४६) और वृहत्कल्प (२.२६) में ऊन, ऊँट के वाल, सन, वच्चक नाम की एक प्रकार की घास और मूंज का रजोहरण करने का विधान है। ओघनिर्युक्ति (७०६) में ऊन, ऊँट के वाल और कम्वल के रजोहरण का विधान मिलता है। ऊन आदि के धागों को तथा वालों को वट कर उनकी कोमल फलियाँ वनाई जाती हैं और वैसी दो सौ फलियों का एक रजोहरण होता है। रखी हुई वस्तु को लेना, किसी वस्तु को नीचे रखना, कायोत्सर्ग करना या खड़ा होना, वैठना, सोना और शरीर को सिकोड़ना ये सारे कार्य प्रमार्जन पूर्वक (स्थान और शरीर को किसी साधन से झाड़कर या साफ कर) करणीय होते हैं। प्रमार्जन का साधन रजोहरण है। वह मुनि का चिह्न भी है।

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयण तुयट्टसंकोए।
पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं॥ —ओघनिर्युक्ति ७१०

इस गाथा मे रात को चलते समय प्रमार्जन पूर्वक (भूमि को वुहारते हुए) चलने का कोई सकेत नहीं है। किन्तु रात को या अन्धेरे में दिन को भी उससे भूमि को साफ कर चला जाता है। यह भी उसका एक उपयोग है। इसे पदप्रोञ्छन[1], धर्मध्वज और ओघा भी कहा जाता है।

११६. गोच्छग (गोच्छगंसि) :

एक वस्त्र जो पटल (पात्र को ढाकने के वस्त्र) को साफ करने के काम आता है[2]।

११७. दंडक (दंडगंसि) :

ओघनिर्युक्ति (७३०) में औपग्रहिक (विशेष परिस्थिति में रखे जाने वाले) उपधियों की गणना है। वहाँ दण्ड का उल्लेख है। इसकी कोटि के तीन उपधि और वतलाए गये हैं—यष्टि, वियष्टि और विदण्ड। यष्टि शरीर-प्रमाण, वियष्टि शरीर से चार अगुल कम, दण्ड कंधे तक और विदण्ड कुक्षि (कोख) तक लम्वा होता है। यवनिका (पर्दा) वांधने के लिए यष्टि और उपाश्रय के द्वार को हिलाने के लिए वियष्टि रखी जाती थी। दण्ड ऋतुवद्ध (चातुर्मासातिरिक्त) काल में भिक्षाटन के समय पास में रखा जाता था और वर्षाकाल में भिक्षाटन के समय विदण्ड रखा जाता था। भिक्षाटन करते समय वरसात आ जाने पर उसे भींगने से वचाने के लिए उत्तरीय के भीतर रखा जा सके इसलिए वह छोटा होता था। वृत्ति में नालिका का भी उल्लेख है। उसकी लम्वाई शरीर से चार अगुल अधिक वतलाई गई है। उसका उपयोग नदी को पार करते समय उसका जल मापने के लिए होता था[3]।

व्यवहार सूत्र के अनुसार दण्ड रखने का अधिकारी केवल स्थविर ही है[4]।

१—हा० टी० प० १६६ : 'पादपुञ्छन' रजोहरणम्।

२—ओ० नि० ६६५ : होइ पमज्जणहेउ य, गोच्छओ भाणवत्थाणं।

३—ओ० नि० ७३० वृत्ति : अन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैरतिरिक्ता, तत्थ नालियाए जलथाओ गिज्झइ।

४—व्य० ८.५ पृ० २६ : थेराणं थेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दण्डए वा........

११८. पीठ, फलक (पीढगंसि वा फलगंसि वा) :

पीठ—काठ आदि का बना हुआ बैठने का बाजौट। फलक—लेटने का पट्ट अथवा पीढ़ा[1]।

११९. शय्या या संस्तारक (सेज्जंसि वा संथारगंसि वा) :

शरीर-प्रमाण बिछौने को शय्या और ढाई हाथ लम्बे और एक हाथ चार अंगुल चौड़े बिछौने को संस्तारक कहा जाता है[2]।

१२०. उसी प्रकार के किसी अन्य उपकरण पर (अन्नयरंसि वा तहप्पगारे उवगरणजाए) :

साधु के पास उपयोग के लिए रही हुई अन्य कल्पिक वस्तुओं पर[3]। 'तहप्पगारे उवगरणजाए'—इतना पाठ चूर्णियों में नहीं है।

१२१. सावधानीपूर्वक (संजयामेव) :

कीट, पतग आदि को पीड़ा न हो इस प्रकार। यतनापूर्वक, संयमपूर्वक[4]।

१२२. एकान्त में (एगंतं) :

ऐसे स्थान में जहाँ कीट, पतङ्गादि का उपघात न हो[5]।

१२३. संघात (संघायं) :

उपकरण आदि पर चढ़े हुए कीट, पतग आदि का परस्पर ऐसा गात्रस्पर्श करना जो उन प्राणियों के लिए पीडा रूप हो सघात कहलाता है। यह नियम है कि एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण होता है। अतः अवशेष परितापना, क्लामना आदि को भी सघात के साथ ग्रहण कर लेना चाहिए। सघात के बाद का आदि शब्द लुप्त समझना चाहिए[6]।

१—अ० चू० : पीढग कट्ठमतं छाणमतं वा। फलग जत्थ सुप्पति चपगपट्टादिपेढणं वा।

२—(क) अ० चू० : सेज्जा सव्वगिका। सथारगो यऽड्ढाइज्जहत्थाततो सचतुरगुलं हत्थ वित्थिण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : सेज्जा सव्वगिया, सथारो अड्ढाइज्जा हत्था आयतो हत्थ सचउरगुल विच्छिण्णो।

३—(क) अ० चू० : अण्णतर वयणेण तोवग्गहियमणेगागार भणित।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अण्णतरग्गहणेण बहुविहस्स तहप्पगारस्स सजतपायोग्गस्स उवगरणस्स गहण कयति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधुक्रियोपयोगिनि उपकरणजाते।

४—(क) अ० चू० : संजतामेव जयणाए जहा ण परिताविज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : सजयामेवत्ति जहा तस्स पीढा ण भवति तहा घेत्तूण।

(ग) हा० टी० प० १५६ : सयत एव सन् प्रयत्नेन वा।

५—(क) अ० चू० : एकते जत्थ तस्स उवघातो ण भवति तहा अवणेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : एगते नाम जत्थ तस्स उवघाओ न भवइ तत्थ।

(ग) हा० टी० प० १५६ : तस्यानुपघातके स्थाने।

६—(क) अ० चू० : एत्थ आदिसद्दलोपो, सवट्टण-परितावणोद्दवणाणि सूतिज्जति। परिताव परोप्परं गत्तपीडण संघातो।

(ख) जि० चू० पृ० १५८ : संघात नाम परोप्परतो गत्ताण संपिढणं, एगग्गहणेण गहणं तज्जाईयाणतिकाऊण सेसावि परितावण-किलावणादिभेदा गहिया।

(ग) हा० टी० प० १५६ : सघातं—परस्परगात्रसस्पर्शपीडास्पम्।

श्लोक १ :

१२४. त्रस और स्थावर (पाणभूयाइं [ख]) :

"प्राणा द्वि त्रि चतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः"—इस बहु प्रचलित श्लोक के अनुसार दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव प्राण तथा तरु (या एकेन्द्रिय वाले जीव) भूत कहलाते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्राण और भूत को एकार्थक भी माना है तथा वैकल्पिक रूप में प्राण को त्रस और भूत को स्थावर अथवा जिनका श्वास-उच्छ्वास व्यक्त हो उन्हें प्राण और शेष जीवों को भूत माना है[1]।

१२५. हिंसा करता है (हिंसई [ख]) :

'अयतनापूर्वक चलने, खड़ा होने आदि से साधु प्राण-भूतों की हिंसा करता है'—इस वाक्य के दो अर्थ हैं—(१) वह वास्तव में जीवों का उपमर्दन करता हुआ उनकी हिंसा करता है। और (२) कदाचित् कोई जीव न भी मारा जाय तो भी वह छः प्रकार के जीवों की हिंसा के पाप का भागी होता है। प्रमत्त होने से जीव-हिंसा हो या न हो वह साधु भावतः हिंसक है[2]।

१२६. उससे पापकर्म का बंध होता है (बंधइ पावयं कम्मं [ग]) :

अयतनापूर्वक चलने वाले को हिंसक कहा गया है भले ही उसके चलने से जीव मरे या न मरे। प्रमाद के सद्भाव से उसके परिणाम अकुशल और अशुभ होते हैं। इससे उसके क्लिष्ट ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बंध होता रहता है।

कर्म दो तरह के होते हैं—(१) पुण्य और (२) पाप। शुभ योगों से पुण्य कर्मों का बंध होता है और अशुभ से पाप कर्मों का। कर्म ज्ञानावरणीय आदि आठ हैं। उनके स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। अशुभ योगों से साधु आठों ही पाप-कर्म-प्रकृतियों का बंध करता है।

आत्मा के असंख्य प्रदेश होते हैं। अशुभ क्रियाओं से राग-द्वेष के द्वारा खिंच कर पुद्गल-निर्मित कर्म इन प्रदेशों में प्रवेश पा वहाँ रहे हुए पूर्व कर्मों से संबद्ध हो जाते हैं—एक-एक आत्मप्रदेश को आठों ही कर्म आवेष्टित-परिवेष्टित कर लेते हैं। यही कर्मों का बंध कहलाता है। पाप-कर्म का बंध अर्थात् अत्यन्त स्निग्ध कर्मों का उपचय—संग्रह। इनका फल बुरा होता है[3]।

१२७. कटु फल वाला होता है (होइ कडुयं फलं [घ]) :

प्रमादी के मोहादि हेतुओं से पाप कर्मों का बंध होता है। पाप कर्मों का विपाक बड़ा दारुण होता है। प्रमत्त को कुदेव, कुमनुष्य आदि गतियों की ही प्राप्ति होती है। वह दुर्लभ-बोधि होता है[4]।

१—(क) अ० चू० : पाणाणि चेव भूताणि पाणभूताणि, अहवा पाणा तसा, भूता थावरा, अहवा फुडऊसास नीसासा पाणा सेसा भूता।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : पाणाणि चेव भूयाणि, अहवा पाणगहणेण तसाण गहण, सत्ताण विविहेहिं पगारेहिं।
(ग) हा० टी० प० १५६ : प्राणिनो—द्वीन्द्रियादयः भूतानि—एकेन्द्रियास्तानि।

२—(क) अ० चू० : हिंसतो मारेमाणस्स।
(ख) हा० टी० प० १५६ : हिनस्ति—प्रमादानाभोगाभ्यां व्यापादयतीति भावः, तानि च हिंसन्।

३—(क) अ० चू० : पावगं कम्मं, वज्झति एक्केक्को जीवपदेसो अट्ठहिं कम्मपगडीहिं आवेढिज्जति, पावगं कम्मं असातावेदणिज्जादि। अजयणातो हिंसा ततो पावोवचतो।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : बंधइ नाम एक्केक्कं जीवप्पदेसं अट्ठहिं कम्मपगडीहिं आवेढियपरिवेढियं करेति, पावगं नाम ... कम्मोवचयो चणचिक्कणो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अकुशलपरिणामादादत्ते क्लिष्टं ज्ञानावरणीयादि।

४—(क) अ० चू० : तस्स फलं तं से होति कडुयं फलं कडुगविवागं कुगति—अबोधिलाभनिव्वत्तगं।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : कडुयं फलं नाम कुदेवत्तकुमाणुसत्तनिव्वत्तकं पमत्तस्स भवइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : तत्—पाप कर्म से—त्स्यायतचारिणो भवति, कटुक ...
मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थः।

श्लोक १-६ :

१२८. अयतनापूर्वक चलनेवाला···अयतनापूर्वक बोलनेवाला (श्लोक १-६) :

सूत्र १८ से २३ में प्राणातिपात-विरमण महाव्रत के पालन के लिए पृथ्वीकायादि जीवों के हनन की क्रियाओं का उल्लेख करते हुए उनसे बचने का उपदेश आया है। शिष्य उपदेश को सुन उन क्रियाओं को मन, वचन, काया से करने, कराने और अनुमोदन करने का यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान करता है।

जीव-हिंसा की विविध क्रियाओं के त्याग-प्रत्याख्यान के साथ-साथ जीवन-व्यवहार में यतना—सावधानी—की भी पूरी आवश्यकता है। अयतनापूर्वक चलने वाला, खड़ा होने वाला, बैठने वाला, भोजन करने वाला, सोने वाला, बोलने वाला हिंसा का भागी होता है और उसको कैसा फल मिलता है, इसी का उल्लेख श्लोक १ से ६ तक में है।

साधु के लिए चलने के नियम इस प्रकार हैं—वह धीरे-धीरे युग प्रमाण भूमि को देखते हुए चले; बीज, घास, जल, पृथ्वी, त्रस आदि जीवों का परिवर्जन करते हुए चले ; सरजस्क पैरों से अंगार, छाई, गोबर आदि पर न चले; वर्षा, कुहासा गिरने के समय न चले; जोर से हवा बह रही हो अथवा कीट-पतंग आदि सम्पातिम प्राणी उड़ते हों उस समय न चले; वह न ऊपर देखता चले, न नीचे देखता, न बातें करता चले, और न हँसते हुए। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर या ईंट पर पैर रख कर कर्दम या जल से पार न हो।

चलने सम्बन्धी इन तथा ऐसे ही अन्य ईर्या समिति के नियमों व शास्त्रीय आज्ञाओं का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[1]।

खड़े होने के नियम इस प्रकार हैं —सचित्त भूमि पर खड़ा न हो; जहाँ खड़ा हो वहाँ से खिड़कियों आदि की ओर न झाँके; खड़े-खड़े हाथ-पैरों को असमाहित भाव से न हिलाये-डुलाए; पूर्ण संयम से खड़ा रहे; बीज, हरित, उदक, उत्तिङ्ग तथा पनक पर खड़ा न हो।

खड़े होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है।

बैठने के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त भूमि या आसन पर न बैठे; बिना प्रमार्जन किए न बैठे; गलीचे, दरी आदि पर न बैठे; गृहस्थ के घर न बैठे। हाथ, पैर, शरीर और इन्द्रियों को नियंत्रित कर बैठे। उपयोगपूर्वक बैठे।

बैठने के इन तथा ऐसे ही नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है। बैठे-बैठे हाथ पैरादि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, संकोचना आदि अयतना है[2]।

सोने के नियम इस प्रकार हैं—बिना प्रमार्जित भूमि, शय्या आदि पर न सोवे, अकारण दिन में न सोवे; सारी रात न सोवे; प्रकाम निद्रा-सेवी न हो।

सोने के विषय में इन नियमों का उल्लंघन तद्विषयक अयतना है[3]।

भोजन के नियम इस प्रकार हैं—सचित्त, अर्द्धपक्व न ले; सचित्त पर रखी हुई वस्तु न ले; स्वाद के लिए न खाय; प्रकामभोजी

१—(क) अ० चू० : चरमाणस्स गच्छमाणस्स, रियासमितिविरहितो सत्तोपघातमातोवघातं वा करेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अजयं नाम अणुवएसेण, चरमाणो नाम गच्छमाणो।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति, क्रियाविशेषणमेतत्''अयतमेव चरन्, ईर्यासमितिमुल्लङ्घ्य।

२—(क) अ० चू० : आसमाणो उवेट्ठो शरीरकुक्कुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकुंचणादीणि करेइ, हत्थपाए विच्छुभइ, तओ सो उवरोधे वट्टइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतमासीनो—निषण्णतया अनुपयुक्त आकुञ्चनादिभावेन।

३—(क) अ० चू० : आउंटण—पसारणादिसु पडिलेहण पमज्जणमकरितस्स पकाम—णिकामं रत्तिं दिवा य सयन्तस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजयंति आउंटेमाणो पसारेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइं सुवइ, दिवसओवि सुयइ, पगामं निगामं वा सुवइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयतं स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना (वा)।

न हो; थोड़ा खाय, संग्रह न करे, औद्देशिक, क्रीत आदि न ले, संविभाग कर खाय, संतोष के साथ खाय; जूठा न छोड़े; मित मात्रा में ग्रहण करे; गृहस्थ के बरतन में भोजन न करे आदि।

भोजन विषयक इन या ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लघन तद्‌विषयक अयतना है। जो बिना प्रयोजन आहार का सेवन करता है, प्रणीत आहार करता है तथा काग-शृगाल आदि की तरह खाता है वह अयतनाशील है[1]।

बोलने के नियम इस प्रकार हैं—चुगली न खाय; मृषाभाषा न बोले; जिससे दूसरा कुपित हो वैसी भाषा न बोले; ज्योतिष, मंत्र, यंत्र आदि न बतलावे, कर्कश, कठोर, भाषा न बोले, सावद्य अथवा सावद्यानुमोदिनी भाषा न बोले; जो बात नहीं जानता हो उसके विषय में निश्चित भाषा न बोले।

बोलने के विषय में इन तथा ऐसे ही अन्य नियमों का उल्लघन तद्‌विषयक अयतना है। गृहस्थ-भाषा का बोलना, वैर उत्पन्न करनेवाली भाषा का बोलना, आदि भाषा सम्बन्धी अयतना है[2]।

जो साधु चलने, खड़ा होने, बैठने आदि की विधि के विषय में जो उपदेश और आज्ञा सूत्रों में हैं उनके अनुसार नहीं चलता और उन आज्ञाओं का उल्लघन या लोप करता है वह अयतनापूर्वक चलने, खड़ा होने, बैठने, सोने, भोजन करने और बोलने वाला कहा जाता है[3]।

एक के ग्रहण से जाति का ग्रहण कर लेना चाहिए—यह नियम यहाँ भी लागू है। यहाँ केवल चलने, खड़ा होने आदि का ही उल्लेख है, पर साधु जीवन के लिए आवश्यक भिक्षा-चर्या, आहार-गवेषणा, उपकरण रखना, उठाना, मल-मूत्र-विसर्जन करना आदि अन्य क्रियाओं के विषय में भी जो नियम सूत्रों में लिखित हैं उनका उल्लघन करने वाला अयतनाशील कहा जायगा।

१२६. श्लोक (१-६):

अगस्त्य चूर्णि में 'चरमाणस्स' और 'हिंसओ'—षष्ठी के एक वचन तथा 'बज्झइ'—अकर्मक क्रिया के प्रयोग हैं। इसलिए इन छः श्लोकों का अनुवाद इस प्रकार होगा—

१—अयतनापूर्वक चलने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

२—अयतनापूर्वक खड़ा होने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

३—अयतनापूर्वक बैठने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

४—अयतनापूर्वक सोने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का बंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

१—(क) अ० चू० : अजतं भुंजमाणस्स। सुरसुरगदि काक-सियालभुत्त एवमादि।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजय कायसिगालखइयाईहिं भुंजइ त च खद्ध एवमादि।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयत भुञ्जानो—निष्प्रयोजन प्रणीत काकशृगालभक्षितादिना (वा)।

२—(क) अ० चू० : त पुण सावज्ज वा ढड्ढरमादीहिं वा।
(ख) जि० चू० पृ० १५९ : अजय गारत्थियभासाहिं भासइ ढड्ढरेण वेरत्तियाइ एवमादिइ।
(ग) हा० टी० प० १५७ : अयत भाषमाणो—गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना (वा)।

३—(क) अ० चू० : अजय अपयत्तेण।
(ख) जि० चू० पृ० १५८ : अजय नाम अणुवएसेण।
(ग) हा० टी० प० १५६ : अयतम् अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति।

५—अयतनापूर्वक भोजन करने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कम का वंध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

६—अयतनापूर्वक वोलने वाले, त्रस और स्थावर जीवों की घात करने वाले व्यक्ति के पाप-कर्म का वध होता है, वह उसके लिए कटु फल वाला होता है।

श्लोक ७ :

१३०. श्लोक ७ :

जव शिष्य ने सुना कि अयतना से चलने, खड़े होने आदि से जीवों की हिंसा होती है, पाप-वध होता है और कटु फल मिलता है, तव उसके मन में जिज्ञासा हुई—अनगार कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे वैठे ? कैसे खाय ? कैसे वोले ? जिससे कि पाप-कर्म का वधन न हो ? यही जिज्ञासा इस श्लोक में गुरु के सामने प्रकट हुई। इस श्लोक की तुलना गीता के उस श्लोक से होती है जिसमें समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ के विषय में पूछा गया है—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥
अ० २ : ५४

श्लोक ८ :

१३१. श्लोक ८ :

अनगार कैसे चले ? कैसे वैठे ? आदि प्रश्नों का उत्तर इस श्लोक में है।

श्रमण भगवान् महावीर जव भी कोई उनके समीप प्रव्रज्या लेकर अनगार होता तो उसे स्वय वताते—तुम इस तरह चलना, इस तरह खड़ा रहना, इस तरह वैठना, इस तरह सोना, इस तरह भोजन करना, इस तरह वोलना आदि[1]। इन वातों को सीख लेने से जैसे अनगार जीवन की सारी कला सीख लेता है ऐसा उन्हें लगता। अपनी उत्तरात्मक वाणी में भगवान् कहते हैं—यतना से चल, यतना से खड़ा हो, यतना से वैठ, यतना से सो, यतना से भोजन कर, यतना से वोल। इससे अनगार पाप-कर्मो का वंध नहीं करता और उसे कटु फल नहीं भोगने पड़ते।

श्लोक ७ और ८ के स्थान में 'मूलाचार' में निम्न श्लोक मिलते हैं :

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण वज्झदि ॥ १०१२
जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झई ॥ १०१३
यतं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥ १०१४
समयसाराधिकार १०

१—नाया० १ सू० ३१ पृ० ७६ : एवं देवाणुप्पिया ! गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं, एवं णिसीयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं एवं भुंजियव्वं, भासियव्वं, उट्ठाए २ पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं सजमेण सजमितव्व।

१३२. यतनापूर्वक चलने (जयं चरे क) :

यतनापूर्वक चलने का अर्थ है—ईर्यासमिति से युक्त हो त्रसादि प्राणियों को टालते हुए चलना। पैर ऊँचा उठाकर उपयोग-पूर्वक चलना। युग प्रमाण भूमि को देखते हुए शास्त्रीय विधि से चलना[1]।

१३३. यतनापूर्वक खड़ा होने (जयं चिट्ठे क) :

यतनापूर्वक खड़े रहने का अर्थ है—कूर्म की तरह गुप्तेन्द्रिय रह, हाथ, पैरादि का विक्षेप न करता हुए खड़ा रहना[2]।

१३४. यतनापूर्वक बैठने (जयमासे ख) :

यतनापूर्वक बैठने का अर्थ है—हाथ, पैर आदि को वार-वार सकुचित न करना या न फैलाना[3]।

१३५. यतनापूर्वक सोने (जयं सए ख) :

यतनापूर्वक सोने का अर्थ है—पार्श्व आदि फेरते समय या अङ्गों को फैलाते समय निद्रा छोड़कर शय्या का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना। रात्रि में प्रकामशायी—प्रगाढ निद्रावाला न होना—समाहित होना[4]।

१३६. यतनापूर्वक खाने (जयं भुंजंतो ग) :

यतनापूर्वक खाने का अर्थ—शास्त्र-विहित प्रयोजन के लिए निर्दोष, अप्रणीत—रसरहित—पान-भोजन को सिंह की भांति अगृद्ध भाव से खाना[5]।

१३७. यतनापूर्वक बोलने (जयं भासंतो ग) :

यतनापूर्वक वोलने का अर्थ है—इसी सूत्र के 'वाक्य-शुद्धि' नामक सातवें अध्याय में वर्णित भाषा सम्बन्धी नियमों का पालन करना। मुनि के योग्य मृदु, समयोचित भाषा का प्रयोग करना[6]।

१—(क) अ० चू० : जयं चरे इरियासमितो दट्ठूण तसे पाणे "उद्धट्टु पादं रीएज्जा०" एवमादि।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : जय नाम उवउत्तो जुगंतरदिट्ठी दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्टु पाए रीएज्जा।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यत चरेत्—सूत्रोपदेशेनेर्यासमितः।

२—(क) अ० चू० : जयमेव कुम्मो इव गुत्तिंदितो चिट्ठेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एवं जयण कुव्वतो कुम्मो इव गुत्तिंदिओ चिट्ठेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतं तिष्ठेत्—समाहितो हस्तपादाद्यविक्षेपेण।

३—(क) अ० चू० एवं आसेज्जा पहरमत्त।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एव आसेज्जावि।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यतमासीत—उपयुक्त आकुञ्चनाद्यकरणेन।

४—(क) अ० चू० : सुवणा जयणाए सुवेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एव निद्दामोक्ख करेमाणो आउ टणपसारणाणि पडिलेहिय पमज्जिय करेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यत स्वपेत्—समाहितो रात्रौ प्रकामशय्यादिपरिहारेण।

५—(क) अ० चू० : दोसवज्जितं भुजेज।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : एव दोसवज्जिय भुंजेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १५७ : यत भुञ्जान—सप्रयोजनमप्रणीत प्रतरसिंहभक्षितादिना।

६—(क) अ० चू० : जहा 'वक्कसुद्धीए' भणिणहिति तहा भासेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १५७ : एव यत भाषमाण—साधुभाषया मृदुकालप्राप्तम्।

श्लोक ६ :

१३८. जो सब जीवों को आत्मवत् मानता है…उसके…बंधन नहीं होता (श्लोक ६):

जब शिष्य के सामने यह उत्तर आया कि यतना से चलने, खड़ा होने आदि से पाप कर्म का बंध नहीं होता तो उसके मन में एक जिज्ञासा हुई—यह लोक छः काय के जीवों से समाकुल है। यतनापूर्वक चलने, खड़ा होने, बैठने, सोने, भोजन करने और बोलने पर भी जीव-वध संभव है फिर यतनापूर्वक चलने वाले अनगार को पाप-कर्म क्यों नहीं होगा? शिष्य की इस शका को अपने ज्ञान से समझ कर गुरु जो उत्तर देते हैं वह इस श्लोक में समाहित है।

इसकी तुलना गीता के निम्न श्लोक से होती है :

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ५.७

इस ६ वें श्लोक का भावार्थ यह है :

जिसके मन में यह बात अच्छी तरह जम चुकी है कि जैसा मैं हूँ वैसे ही सब जीव हैं, जैसे मुझे दु ख अनिष्ट है वैसे ही सब जीवों को अनिष्ट है, जैसे पैर में काँटा चुभने से मुझे वेदना होती है वैसे ही सब जीवों को होती है, उसने जीवों के प्रति सम्यक्-दृष्टि की उपलब्धि कर ली। वह 'सर्वभूतात्मभूत' कहलाता है[1]।

जो ऐसी सहज सम्यक्-दृष्टि के साथ-साथ हिंसा, झूठ, अदत्त, मैथुन और परिग्रह आदि आस्रवों को प्रत्याख्यान द्वारा रोक देता है अर्थात् जो महाव्रतों को ग्रहण कर नए पाप-सञ्चार को नही होने देता वह 'पिहितास्रव' कहलाता है[2]।

जिसने श्रोत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष को जीत लिया है ; जो क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह करता है अथवा उदय में आ चुकने पर उन्हे विफल करता है ; इसी तरह जो अकुशल मन, वचन और काया का निरोध करता है और कुशल मन आदि का उदीरण करता है वह 'दान्त' कहलाता है[3]।

१—(क) अ० चू० : सव्वभूता सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेपु अप्पभूतस्स जहा अप्पाण तहा सव्वजीवे पासति, 'जह मम दुक्खं अणिट्ठं एव सव्वसत्ताण' त्ति जाणिऊण ण हिंसति, एव सम्म दिट्ठाणि भूताणि भवति तस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : सव्वभूता—सव्वजीवा तेसु सव्वभूतेसु अप्पभूतो, कह? जहा मम दुक्खं अणिट्ठं इह एवं सव्व-जीवाणतिकाउ पीडा णो उप्पायइ, एव जो सव्वभूएसु अप्पभूतो तेण जीवा सम्म उवलद्धा भवंति, भणिय च—

"कट्टेण कटएण व पादे विद्धस्स वेदणा तस्स।
जा होइ अणेव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाण ॥"

(ग) हा० टी० प० १५७ : सर्वभूतेष्वात्मभूत सर्वभूतात्मभूतो, य आत्मवत् सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थ, तस्यैव सम्यग्—वीतरागोक्तेन विधिना भूतानि—पृथिव्यादीनि पश्यत सतः।

२—(क) अ चू० : पिहितासवस्स ठइताणि पाणवहादीणि आसवदाराणि जस्स तस्स पिहितासवस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : पिहियाणि पाणिवधादीणि आसवदाराणि जस्स सो पिहियासवदुवारो तस्स पिहियासवदुवारस्स।

(ग) हा० टी० प० १५७ : 'पिहिताश्रवस्य' स्थगितप्राणातिपाताद्याश्रवस्य।

३—(क) अ० चू० : दतस्स दंतो इंदिएहिं णोइंदिएहिं य। इंदियदमो सोइंदियपयारणिरोधो वा सद्दातिराग-दोसणिग्गहो वा, एवं सेसेसु वि। णोइंदियदमो कोहोदयणिरोहो वा उदयप्पत्तस्स विफलीकरणं वा, एव जाव लोभो। तहा अकुसलमणणिरोहो वा कुसलमणउदीरणं वा, एव वाया कातो य। तस्स इंदिय णोइंदियदतस्स पावकम्म ण वज्झति, पुव्वयद्ध च तवसा खीयति।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : दतो दुविहो—इंदिएहिं नोइंदिएहिं य, तत्थ इंदियदतो सोइंदियपयारनिरोहो सोइंदियविसयपत्तेसु य सद्देसु रागदोसविनिग्गहो, एव जाव फासिंदिय विसयपत्तेसु य फासेसु रागदोसविनिग्गहो, नोइंदियदंतो नाम कोहोदयनिरोहो उदयपत्तस्स य कोहस्स विफलीकरण, एव जाव लोभोत्ति, एव अकुसलमणनिरोहो कुसलमणउदीरणं च, एवं वईवि काएवि भाणियव्वं, एवं विहस्स इंदियनोइंदियदंतस्स पाव कम्म न बंधइ, पुव्वबद्धं च बारसविहेण तवेण सो भिज्झइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ : 'दान्तस्य' इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन।

इस श्लोक में कहा गया है कि जो श्रमण 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से सम्पन्न होता है, संवृत होता है, दमितेन्द्रिय होता है उसके पाप कर्मों का बन्धन नहीं होता।

जिसकी आत्मा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना से ओत-प्रोत हैं तथा जो उपयुक्त सम्यक्-दृष्टि आदि गुणों से युक्त है वह प्राणातिपात करता ही नहीं। उसके हृदय में सहज अहिंसा-वृत्ति होती है अतः वह कभी किसी प्राणी को पीड़ा उत्पन्न नहीं करता। इसलिए वह पाप से अलिप्त रहता है।

कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो भी वह पाप से लिप्त नहीं होता। कारण—सर्व प्राणातिपात से मुक्त रहने के लिए वह सर्व प्राणातिपात-विरमण महाव्रत ग्रहण करता है। उसकी रक्षा के लिए अन्य महाव्रत ग्रहण करता है, इन्द्रियों का निग्रह करता है, कषायों को जीतता है तथा मन, वचन और काया का संयम करता है। अहिंसा के सम्पूर्ण पालन के लिए आवश्यक सम्पूर्ण नियमों का जो इस तरह पालन करता है, उससे कदाचित् जीव-वध हो भी जाय तो वह उसका कामी नहीं कहा जा सकता अतः वह हिंसा के पाप से लिप्त नहीं होता।

जलमज्झे जहा नावा, सव्वओ निपरिस्सवा।
गच्छंति चिट्ठमाणा वा, न जलं परिगिण्हइ॥
एवं जीवाउले लोगे, साहू संवरियासवो।
गच्छंतो चिट्ठमाणो वा, पावं नो परिगेण्हइ॥

जिस प्रकार छेद-रहित नौका में, भले ही वह जलराशि में चल रही हो या ठहरी हुई हो, जल-प्रवेश नहीं पाता उसी प्रकार आस्रव-रहित संवृतात्मा श्रमण में, भले ही वह जीवों से परिपूर्ण लोक में चल रहा हो या ठहरा हुआ हो, पाप-प्रवेश नहीं हो पाता। जिस प्रकार छेद-रहित नौका जल पर रहते हुए भी डूबती नहीं और यतना से चलाने पर पार पहुँचती है वैसे ही इस जीवाकुल लोक में यतनापूर्वक गमनादि करता हुआ संवृतात्मा भिक्षु कर्म-बंधन नहीं करता और संसार-समुद्र को पार करता है[1]।

गीता के उपर्युक्त श्लोक का इसके साथ अद्भुत शब्द-साम्य होने पर भी दोनों की भावना में महान् अन्तर है। गीता का श्लोक अनासक्ति की भावना देकर इसके आधार से महान् संग्राम करते हुए व्यक्ति को भी उसके पाप से अलिप्त कह देता है जबकि प्रस्तुत श्लोक हिंसा न करते हुए सम्पूर्ण विरत महात्यागी को उसके निमित्त से हुई अशक्यकोटि की जीव-हिंसा के पाप से ही मुक्त घोषित करता है। जो जीव-हिंसा में रत है, वह भले ही आवश्यकतावश या परवशता से उसमें लगा हो, हिंसा के पाप से मुक्त नहीं रह सकता। अनासक्ति केवल इतना ही अन्तर ला सकती है कि उसके पाप-कर्मों का बंध अधिक गाढ़ नहीं होता।

श्लोक १० :

१३६. श्लोक १० :

इसकी तुलना गीता के—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' (४ ३८) के साथ होती है। पिछले श्लोक में 'दान्त' के पाप कर्म का बंधन नहीं होता ऐसा कहा गया है। इससे चारित्र की प्रधानता सामने आती है। इस श्लोक में यह कहा गया है कि चारित्र ज्ञान-पूर्वक होना चाहिए। इस तरह यहाँ ज्ञान की प्रधानता है। जैन-धर्म ज्ञान और क्रिया दोनों के युगपद्भाव से मोक्ष मानता है। इस अध्ययन में दोनों की सहचारिता पर बल है।

१—जि० चू० पृ० १५६ : जहा जलमज्झे गच्छमाणा अपरिस्सवा नावा जलकतार वीईवयइ, न य विणास पावइ,'''एव साहूवि जीवाउले लोगे गमणादीणि कुव्वमाणो संवरियासवदुवारत्तणेण संसारजलकंतार वीयीवयइ, संवरियासवदुवारस्स न कुओवि भयमत्थि।

१४०. पहले ज्ञान फिर दया (पढमं नाणं तओ दया [क]) :

पहले जीवों का ज्ञान होना चाहिए। दया उसके बाद आती है। जीवों का ज्ञान जितना स्वल्प या परिमित होता है मनुष्य में दया—अहिंसा—की भावना भी उतनी ही संकुचित होती है। अतः पहले जीवों का व्यापक ज्ञान होना चाहिए जिससे कि सब प्रकार के जीवों के प्रति दया-भाव का उद्भव और विकास हो सके और वह सर्वग्राही व्यापक जीवन-सिद्धान्त बन सके। इस अध्ययन में पहले षड्जीवनिकाय को बताकर बाद में अहिंसा की चर्चा की है वह इसी दृष्टि से है। बिना जीवों के व्यापक ज्ञान के व्यापक अहिंसा-धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता।

ज्ञान से जीव-स्वरूप, संरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। अतः उसका स्थान प्रथम है। दया संयम है[1]।

१४१. इस प्रकार सब मुनि स्थित होते हैं (एवं चिट्ठइ सव्वसंजए [ख]) :

जो सर्व-संयती हैं—१७ प्रकार के संयम को धारण किए हुए हैं उनको सब जीवों का ज्ञान भी होता है। जिनका जीव-ज्ञान अपरिशेष नहीं उनका संयम भी सम्पूर्ण नहीं हो सकता और बिना सम्पूर्ण संयम के अहिंसा सम्पूर्ण नहीं होती क्योंकि सर्वभूतों के प्रति संयम ही हिंसा है। यही कारण है कि जीवाजीव के भेद को जानने वाले निर्ग्रन्थ श्रमणों की दया जहाँ सम्पूर्ण है वहाँ जीवाजीव का विशेष भेद-ज्ञान न रखने वाले वादों की दया वैसी विशाल व सर्वग्राही नहीं। वहाँ दया कहीं तो मनुष्यों तक रुक गयी है और कहीं थोड़ी आगे जाकर पशु-पक्षियों तक या कीट-पतगों तक। इसका कारण पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवों के ज्ञान का ही अभाव है।

सर्व संयती—मुनि—ज्ञानपूर्वक क्रिया करने की प्रतिपत्ति में स्थित होते हैं। ज्ञानपूर्वक चारित्र—क्रिया—दया का पालन करते हैं[2]।

१४२. अज्ञानी क्या करेगा ? (अन्नाणी किं काही [ग]) :

जिसे मालूम ही नहीं कि यह जीव है अथवा अजीव, वह अहिंसा की बात सोचेगा ही कैसे ? उसे भान ही कैसे होगा कि उसे अमुक कार्य नहीं करना है क्योंकि उससे अमुक जीव की घात होती है। अतः जीवों का ज्ञान प्राप्त करना अहिंसावादी की पहली शर्त है। बिना इस शर्त को पूरा किये कोई सम्पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता।

जिसको साध्य, उपाय और फल का ज्ञान नहीं वह क्या करेगा ? वह तो अन्धे के तुल्य है। उसमें प्रवृत्ति के निमित्त का ही अभाव होता है[3]।

१—(क) अ० चू० : पढमं जीवा अजीवाहिगमो, ततो जीवेसु दता।

(ख) जि० चू० पृ० १६० : पढम ताव जीवाभिगमो भणितो, तओ पच्छा जीवेसु दया।

(ग) हा० टी० प० १५७ : प्रथमम्—आदौ ज्ञान—जीवस्वरूपसंरक्षणोपायफलविषय 'तत' तथाविधज्ञानसमनन्तरं 'दया' सं .मस्तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तत्प्रवृत्ते ।

२—(क) अ० चू० : 'एवं चिठ्ठति' एवंसद्दो प्रकाराभिधाती, एतेण जीवादिविण्णाणप्पगारेण चिट्ठति अवट्ठाणं करेति।'''सव्वसंजते सव्वसद्दो अपरिसेसवादी, सव्वसजता णाणपुव्वं चरित्तधम्म पढिवालेंति।

(ख) जि० चू० पृ० १६०-६१ : एव सद्दोऽवधारणे, किमवधारयति ? साधूणं चेव सपुण्णा दया जीवाजीवविसेसं, जाणमाणाणं, ण उ सक्कादीण जीवाजीवविसेस अजाणमाणाणं सपुण्णा दया भवइत्ति, चिट्टइ नाम अच्छइ, सव्वसद्दो अपरिसेसवादी''' सव्वसंजताणं अपरिसेसाण जीवाजीवादिसु णातेसु सतरसविधो सजमो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १५७ · 'एवम्' अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण 'तिष्ठति' आस्ते 'सर्वसंयतः' सर्वः प्रव्रजितः।

३—(क) अ० चू० : अण्णाणी जीवो जीवविण्णाणविरहितो सो किं काहिति ? किं सद्दो खेववाती, किं विण्णाणं विणा करिस्सति ?

(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जो पुण अन्नाणी सो किं काहिइ ?

(ग) हा० टी० प० १५७ : य· पुनः 'अज्ञानी' साध्योपायफलपरिज्ञानविकल· स किं करिष्यति ? सर्वत्रान्धतुल्यत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्तिनिमित्ताभावात्।

१४३. वह क्या जानेगा—क्या श्रेय है और क्या पाप ? (कि वां नाहिइ छेय पावगं [घ]) :

श्रेय हित को कहते हैं, पाप अहित को। सयम—श्रेय—हितकर है। असयम—पाप—अहितकर है। जो अज्ञानी है, जिसे जीवाजीव का ज्ञान नहीं, उसे किसके प्रति सयम करना है यह भी कैसे ज्ञात होगा ? इस प्रकार सयम के स्थानक को नहीं जानता हुआ वह श्रेय और पाप को भी नहीं समझेगा।

जिस प्रकार महानगर में दाह लगने पर नयनविहीन अँधा नहीं जानता कि उसे किस दिशा-भाग से निकल भागना है उसी तरह जीवों के विशेष ज्ञान के अभाव में अज्ञानी नहीं जानता कि उसे असयमरूपी दावानल से कैसे बच निकलना है ?

जो यह नहीं जानता कि यह निपुण—हितकर—कालोचित है तथा यह उससे विपरीत है, उसका कुछ करना नहीं करने के बराबर है। जैसे कि आग लगने पर अन्धे का दौड़ना और घुन का अक्षर लिखना[१]।

श्लोक ११ :

१४४. सुनकर (सोच्चा [क]) :

आगम रचना-काल से लेकर वीर निर्वाण के दसवें शतक से पहले तक जैनागम प्रायः कण्ठस्थ थे। उनका अध्ययन आचार्य के मुख से सुन कर होता था[२]। इसीलिए श्रवण या श्रुति को ज्ञान-प्राप्ति का पहला अङ्ग माना गया है। उत्तराध्ययन (३१) में चार परमाङ्गों को दुर्लभ कहा है। उनमें दूसरा परमाङ्ग श्रुति है[३]। श्रद्धा और आचरण का स्थान उसके बाद का है। यही क्रम उत्तराध्ययन अ० तीन[४] और दस[५] में प्रतिपादित हुआ है। श्रमण की पर्युपासना के दस फल बतलाए हैं। उनमें पहला फल श्रवण है। इसके बाद ही ज्ञान, विज्ञान आदि का क्रम है[६]।

१—(क) अ० चू० : कि वा णाहिति, वा सद्दो समुच्चये, 'णाहिति' जाणिहिति 'छेद' ज छगतिगमणलक्खातो चिट्ठति, पावक तव्विवरीत। निदरिसण जहा अंधो महानगरदाहे पलित्तमेव विसम वा पविसति, एव छेद—पावगमजाणतो ससारमेवाणुपडति।

(ख) जि० चू० पृ० १६१ · तत्थ छेय नाम हित, पाव अहिय, ते य सजमो असजमो य, दिट्ठतो अधलओ, महानगरदाहे नयणविहत्तो ण याणाति केण दिसाभाएण मए गतव्वति, तहा सोवि अन्नाणी नाणस्स विसेसं अयाणमाणो कह असंजमदवाउ णिग्गच्छिहिति ?

(ग) हा० टी० प० १५७ 'छेक' निपुण हित कालोचित 'पापक वा' अतो विपरीतमिति, ततश्च तत्करण भावतोऽकरणमेव, समग्र-निमित्ताभावात्, अन्धप्रदीप्तपलायनघुणाक्षरकरणवत्।

२—अ० चू० : गणहरा तित्थगरातो, सेसो गुरुपरपरेण सुणेऊण।

३—उत्त० ३ १ : चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा सजममि य वीरिय॥

४—उत्त० ३ ८-१० .
माणुस्स विग्गह लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा।
ज सोच्चा पडिवज्जति तव खतिमहिंसयं॥
आहच्च सवण लद्धं सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउय मग्ग बहवे परिभस्सई॥
सुइ च लद्धु सद्ध च वीरिय पुण दुल्लह।
बहवे रोयमाणा वि नो य ण पडिवज्जए॥

५—उत्त० १० १८-२० :
अहीणपचेन्दियत्त पि से लहे उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समय गोयम मा पमायए॥
लद्धूण वि उत्तम सुइं सद्दहणा पुणरावि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे समय गोयम मा पमायए॥
धम्म पि हु सद्दहन्तया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया समय गोयम मा पमायए॥

६—स्था० ३.३.१९० : सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य सजमे।
अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे॥

स्वाध्याय के पाँच प्रकारों में भी श्रुति का स्थान है। स्वाध्याय का पहला प्रकार वाचना है। आजकल हम बहुत कुछ आँखों से देखकर जानते हैं। इसके अर्थ में वाचन और पठन शब्द का प्रयोग भी होता है। यही कारण है कि हमारा मानस वाचन का वही अर्थ ग्रहण करता है जो आँखों से देखकर जानने का है। पर वाचन व पठन का मूल वोलने में है। इनकी उत्पत्ति 'वच्ंक्भाषणे' और 'पठ वक्ताया वाचि' धातु से है। इसलिए वाचन और पठन से श्रवण का गहरा सम्बन्ध है। अध्ययन के क्षेत्र में आज जैसे आँखों का प्रमुत्व है वैसे ही आगम-काल में कानों का प्रमुत्व रहा है।

'सुनकर'—इस शब्द की जिनदास ने इस प्रकार व्याख्या की है—सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ इन तीनों को सुनकर, अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र को सुनकर अथवा जीवाजीव आदि पदार्थों को सुनकर[1]। हरिभद्र ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—मोक्ष के साधन, तत्त्वों के स्वरूप और कर्म-विपाक के विषय में सुनकर[2]।

१४५. कल्याण को (कल्लाणं [क]) :

जिनदास के अनुसार 'कल्ल' शब्द का अर्थ है 'नीरोगता', जो मोक्ष है। जो नीरोगता प्राप्त कराए वह है कल्याण अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र[3]। हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ किया है—कल्य अर्थात् मोक्ष—उसे जो प्राप्त कराए वह कल्याण—अर्थात् दया—सयम[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है आरोग्य। जो आरोग्य को प्राप्त कराए वह है कल्याण अर्थात् संसार से मोक्ष। ससार-मुक्ति का हेतु धर्म है, इसलिए उसे कल्याण कहा गया है[5]।

१४६. पाप को (पावगं [ख]) :

जिसके करने से पाप-कर्मों का बन्ध हो उसे पापक—पाप कहते हैं। वह असंयम है[6]।

१४७. कल्याण और पाप (उभयं [ग]) :

'उभय' शब्द का अर्थ हरिभद्र ने—'श्रावकोपयोगी संयमासयम का स्वरूप' किया है[7]। जिनदास के समय में भी ऐसा मत रहा है[8]। जिनदास ने स्वय 'कल्याण और पाप' इसी अर्थ को ग्रहण किया है। अगस्त्य सिंह ने 'उभय' का अर्थ किया है—कल्याण और पाप दोनों को[9]।

श्लोक १२-१३ :

१४८. श्लोक १२-१३ :

जो साधु को नहीं जानता वह असाधु को भी नहीं जानता। जो साधु-असाधु दोनो को नहीं जानता वह किसकी संगत करनी चाहिए यह कैसे जानेगा?

१—(क) जि० चू० पृ० १६१ : सोचा नाम सुत्तत्थतदुभयाणि सोऊण णाणदसणचरित्ताणि वा सोऊण जीवाजीवादी पयत्था या सोऊण।
२—हा० टी० प० १५८ : 'श्रुत्वा' आकर्ण्य ससाधनस्वरूपविपाकम्।
३—जि० चू० पृ० १६१ : कल्ल नाम नीरोगया, सा य मोक्खो, तमणेइ ज त कल्लाण, ताणि या णाणाईणि।
४—हा० टी० प० १५८ : कल्यो—मोक्षस्तमणति—प्रापयतीति कल्याणं—दयाख्य संयमस्वरूपम्।
५—अ० चू० : किं? जाणति, कल्लाणं कल्लं—आरोग्गं तं आणेइ कल्लाण ससारातो विमोक्खणं, सो य धम्मो।
६—(क) अ० चू० : पावक अकल्लाण।
(ख) जि० चू० पृ० १६१ : जेण य कएण कम्म बज्झइ तं पावं सो य असजमो।
(ग) हा० टी० प० १५८ : पापकम्—असंयमस्वरूपम्।
७—हा० टी० प० १५८ : 'उभयमपि' सयमासयमस्वरूप श्रावकोपयोगि जानाति श्रुत्वा।
८—जि० चू० पृ० १६१ : केइ पुण आयरिया कल्लाणपावयं च देसविरयस्स पावय इच्छंति।
९—अ० चू० : उभयं एतदेव कल्लाणं—पावगं।

जो साधु को जानता है वह असाधु को भी जानता है। जो साधु और असाधु दोनों को जानता है वह यह भी जानता है कि किसकी संगत करनी चाहिए।

उसी तरह जो सुनकर जीव को नहीं जानता वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी नहीं जान पाता। जो दोनों का ज्ञान नहीं रखता वह संयम को भी नहीं जान सकता।

जो सुनकर जीव को जानता है वह उसके प्रतिपक्षी अजीव को भी जान लेता है। जो जीव-अजीव का ज्ञान रखता है वह संयम को भी जानता है।

संयम दो तरह का होता है—एक जीव-संयम, दूसरा अजीव-संयम। किसी जीव को नहीं मारना—यह जीव-संयम है। मद्य, मांस, सुवर्णादि—जो संयम के घातक हैं—उनका परिहार करना अजीव-संयम है। जो जीव और अजीव को जानता है वही उनके प्रति संयत हो सकता है[1]। जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह संयम को भी नहीं जानता—वह उनके प्रति संयम भी नहीं कर सकता। कहा है—

जीवा जस्स परिन्नाया, वेरं तस्स न विज्जइ।
न हु जीवे अयाणतो, वहं वेरं च जाणइ॥

अर्थात् जिसने जीवों को अच्छी तरह जान लिया है उसके वैर नहीं होता। जो जीवों को नहीं जानता वह वध और वैर को नहीं जानता—नहीं त्याग पाता।

श्लोक १४ :

१४६. श्लोक १४ :

श्लोक १४-२५ में सुनने से लेकर सिद्धि-प्राप्ति तक का क्रम बड़े सुन्दर ढङ्ग से दिया गया है।

जीव चार गतियों के होते हैं—मनुष्य, नरक, तिर्यञ्च और देव। इन गतियों के बाहर मोक्ष में सिद्ध जीव हैं। जो सुनकर जीवाजीव को जान लेता है वह उनकी इन गतियों को और उनके अन्तर्भेदों को भी सहज रूप से जान लेता है[2]।

१—(क) अ० चू० : 'जो' इति उद्देसवयण। जीवतीति 'जीवा' आउप्पाणा धरेंति, ते सरीर—संठाण—संघयण—ट्ठिति—पज्जत्ति विसेसादीहिं जो ण जाणाति, 'अजीवे वि' रूवरसादिप्पभवपरिणामेहिं 'ण' जाणति। 'सो' एव जीवा अजीवविसेसे 'अजाणतो कह' केण प्रकारेण णाहिति सत्तरसविह संजम''' 'णाहिति जाणिहिति सव्वपज्जाएहिं। कह? छेद कूढग च जाणतो कूडगपरिहरणेण छेदस्स उपादाण करेति, जीवगतमुपरोहकतमसजम परिहरतो अजीवाण वि मज्ज-मंसादीण परिहरणेण संजमाणुपालण करेति। जीवे नाऊण वह परिहरमाणो ण वड्ढयति वेर, वेर विकार विरहितो पावति निरुद्दव थाण।

(ख) जि० चू० पृ० १६१-६२ : एत्थ निदरिसण जो साहु जाणइ सो तप्पडिपक्खमसाधुमवि जाणइ, एव जस्स जीवाजीवपरिण्णा अत्थि सो जीवाजीवसंजमं वियाणइ, तत्थ जीवा न हतव्वा एसो जीवसंजमो भण्णइ, अजीवावि मंसवज्जहिरण्णादिदव्वा संजमोवघाइया ण घेत्तव्वा एसो अजीवसंजमो, तेण जीवा य अजीवा य परिण्णाया जो तेसु संजमइ।

(ग) हा० टी० प० १५८ : यो 'जीवानपि' पृथिवीकायिकादिभेदभिन्नान् न जानाति 'अजीवानपि' संयमोपघातिनो मद्यहिरण्यादीन्न जानाति, जीवाजीवानजानन्कथमसौ ज्ञास्यति 'संयम'? तद्विषय, तद्विषयाज्ञानादिति भाव। ततश्च यो जीवानपि जानात्यजीवानपि जानाति जीवाजीवान् विजानन् स एव ज्ञास्यति संयममिति।

२—(क) अ० चू० : जदा जम्मिकाले, जीवा अजीवा भणिता ते जदा दो वि अणेगभेदभिण्णा अवि दो रासी एते इति, विसेसेण जाणति विजाणति,' 'गति णरगादित अणेगभेद जाणति, अहवा गति'—प्राप्ति त बहुविह।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : गति बहुविह नाम एक्केक्का अणेगभेया जाणति, अहवा नारगादिसुगतिसु अणेगाणि तिल्यगरादि उवएसेण जाणइ।

(ग) हा० टी० प० १५६ : 'यदा' यस्मिन् काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति—विविध जानाति 'तदा' तस्मिन् काले 'गतिं' नरकगत्यादिरूपां 'बहुविधां' स्वपरगतभेदेनानेकप्रकारां सर्वजीवानां जानाति, यथाऽवस्थितजीवाजीवपरिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात्।

श्लोक १५ :

१५०. श्लोक १५ :

गतियों के ज्ञान के साथ ही प्रश्न उठता है—सब जीव एक ही गति के क्यों नहीं होते ? वे भिन्न-भिन्न गतियों में क्यों हैं ? मुक्त-जीव अतिरिक्त क्यो हैं ? कारण विना कार्य नहीं होता अतः वह गतिभेद के कारण पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष को भी जान लेता है। कर्म दो तरह के होते हैं—या तो पुण्य रूप अथवा पाप रूप। जब पुण्य-कर्मों का उदय होता है तो अच्छी गति प्राप्त होती है और जब पाप-कर्मों का उदय होता है तो नीच गति प्राप्त होती है। जीव समान होने पर भी पुण्य-पाप कर्मों की विशेषता से नरक, देवादि गतियों की विशेषता होती है। क्योंकि पुण्य-पाप ही बहुविध गतियों के निबन्ध के कारण हैं। जीव कर्म का जो परस्पर बंधन है वह चार गति रूप संसार में भ्रमण का कारण है। यह भव-भ्रमण दुःख रूप है। जीव और कर्म का जो ऐकान्तिक वियोग है वह मोक्ष शाश्वत सुख का हेतु है। जो जीवों की नरक आदि नाना गतियों और मुक्त जीवों की स्थिति को जान लेता है वह उनके हेतुओं और बन्धन तथा मोक्ष के अन्तर और उनके हेतुओं को भी जान लेता है[1]।

श्लोक १६ :

१५१. श्लोक १६ :

जो भोगे जाते हैं उन शब्दादि विषयों को भोग कहते हैं। सासारिक भोग किंपाक फल की तरह भोग-काल में मधुर होते हैं परन्तु बाद में उनका परिणाम सुन्दर नहीं होता। जब मनुष्य पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष के स्वरूप को जान लेता है तब वह इन काम-भोगों के वास्तविक स्वरूप को भी जान लेता है और इस तरह मोहाभाव को प्राप्त हो सम्यक् विचार से इन सुखों के समूह को दुःख स्वरूप समझ उनसे विरक्त हो जाता है।

मूल में 'निव्विंदए' शब्द है। निव्विंद (निर्+विन्द्) =निश्चयपूर्वक जानना, भली भाँति विचार करना। निर्+विद्= घृणा करना, विरक्त होना, असारता का अनुभव करना।

सूत्र में दिव्य और मानुषिक दो तरह के भोगों का ही नाम है। चूर्णिकार द्वय कहते हैं दिव्य में दैविक और नैरयिक भोगों का समावेश होता है। 'च' कार से तिर्यञ्चयोनिक भोगों का बोध होता है। 'मानुषिक'—मनुष्यों के भोग का द्योतक है। हरिभद्र कहते हैं वास्तव में भोग दो ही तरह के हैं—दिव्य और मानुषिक। शेष भोग वस्तुतः भोग नहीं होते[2]।

१—(क) अ० चू० : तेसिमेव जीवाणं आउ-बल-विभव-सुखातिसूतितं पुण्णं च पावं च अट्ठविहकम्मणिगलबंधणं—मोक्खमवि।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : बहुविधग्गहणेण नज्जइ जहा समाणे जीवत्ते ण विणा पुण्णपावादिणा कम्मविसेसेण नारगदेवादिविसेसा भवति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : पुण्य च पाप च—बहुविधगतिनिबन्धन [च] तथा 'बन्ध' जीवकर्मयोगदुःखलक्षण 'मोक्षं च' तद्वियोगसुखलक्षण जानाति।

२—(क) अ० चू० : भुञ्जतीति भोगा ते णिविंदति णिच्छित विंदति—विजाणाति, जहा एते बहुकिलेसेहिं उप्पादिया वि किंपागफलोवमा। जे दिव्वा दिवि भवा दिव्वा, मणूसेसु भवा माणुस्सा। ओरालियसारिस्सेण माणुसाभिधाणेण तिरिया वि भणिया भवति। अहवा जो दिव्व-माणुसे परिजाणाति तस्स तिरिएसु किं गहणं ? जे य माणुसा इति चकारेण वा भणितमिदं।

(ख) जि० चू० पृ० १६२ : भुंजतीति भोगा, णिच्छिय विंदतीति णिव्विंदति विविहमणेगप्पगारं वा विंदइ निव्विंदइ, जहा एते किंपागफलसमाणा दुरंता भोगत्ति, ते य निव्विंदमाणो दिव्वा वा णिव्विंदइ माणुस्सावा, सीसो आह—किं तेरिच्छा भोगा न निव्विंदइ ?, आयरिओ आह—दिव्वगहणेण देवनेरइया गहिया, माणुस्सगहणेण माणुसा, चकारेण तिरिक्खजोणिया गहिया।

(ग) हा० टी० प० १५६ : निर्विन्ते—मोहाभावात सम्यग्विचारयत्यसारदुःखरूपतया 'भोगान्' शब्दादीन् यान् दिव्यान् यांश्च मानुषान्, शेषास्तु वस्तुतो भोगा एव न भवन्ति।

श्लोक १७ :

१५२. श्लोक १७ :

संयोग दो तरह के होते हैं : एक बाह्य और दूसरा आभ्यतर। संयोग का अर्थ है—ग्रन्थि अथवा सम्बन्ध। क्रोध, मान, माया और लोभ का संबंध आभ्यन्तर संयोग है। स्वर्ण आदि का संयोग बाह्य संयोग है। पहला द्रव्य-संयोग है दूसरा भाव-संयोग। जब मनुष्य दिव्य और मानुषिक भोगों से निवृत्त होता है तब वह बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों व भावों की मूर्च्छा, ग्रंथि और संयोगों को भी छोड़ता है[1]।

श्लोक १८ :

१५३. श्लोक १८ :

जो केश लुञ्चन करता है और जो इन्द्रियों के विषय का अपनयन करता है—उन्हें जीत लेता है—उसे मुण्ड कहा जाता है। मुण्ड होने का पहला प्रकार शारीरिक है और दूसरा मानसिक[2]। स्थानाङ्ग (१०.७४६) में दस प्रकार के मुण्ड बतलाए हैं :—

१— क्रोध-मुण्ड — क्रोध का अपनयन करने वाला।
२— मान-मुण्ड — मान का अपनयन करने वाला।
३— माया-मुण्ड — माया का अपनयन करने वाला।
४— लोभ-मुण्ड — लोभ का अपनयन करने वाला।
५— शिर-मुण्ड — शिर के केशों का लुञ्चन करने वाला।
६— श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्ड — कर्णेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
७— चक्षु इन्द्रिय-मुण्ड— चक्षु इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
८— घ्राण इन्द्रिय-मुण्ड— घ्राण इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
९— रसन इन्द्रिय-मुण्ड— रसन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
१०— स्पर्शन इन्द्रिय-मुण्ड— स्पर्शन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

जब मनुष्य भोगों से निवृत्त हो जाता है तथा बाह्याभ्यन्तर संयोगों का त्याग कर देता है तब उसके गृहवास में रहने की इच्छा भी नहीं रहती। वह द्रव्य और भाव मुंड हो, घर छोड़ अनगारिता अर्थात् अनगार-वृत्ति को धारण करता है—प्रव्रजित हो जाता है[3]। जिसके अगार—घर नहीं होता उसे अनगार कहा जाता है। अनगारिता अर्थात् गृह-रहित अवस्था—श्रमणत्व—साधुत्व।

१—(क) अ० चू० : परिच्चयति 'सब्भिंतरबाहिर' अब्भिंतरो कोहादि बाहिरो सुवण्णादि।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : बाहिरं अब्भंतर च गंथं, तत्थ बाहिर सुवन्नादी अब्भतर कोहमाणमायालोभाइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ 'संयोगं' सम्बन्धं द्रव्यतो भावतः 'साभ्यन्तरबाह्य' क्रोधादिहिरण्यादिसम्बन्धमित्यर्थः।

२—अ० चू० : तदा मुंडे भवित्ताणं तस्सि काले 'मुंडे' इन्दिय-विसय—केसावणयणेण।

३—(क) अ० चू० : मुंडो भवित्ताण पच्छादि अणगारियं प्रव्रजति प्रपद्यते अगारं—घरं त जस्स नत्थि सो अणगारो तस्स भावो अणगारिता त पव्वजति।
(ख) जि० चू० पृ० १६२ : अणगारियं नाम अगार—गिहं भण्णइ त जेसिं नत्थि ते अणगारा, ते य साहुणो, ण उद्देसियादीणि भुंजमाणा अन्नतित्थिया अणगारा भवति।
(ग) हा० टी० प० १५६ : मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च 'प्रव्रजति' प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं, द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः।

श्लोक १६ :

१५४. श्लोक १६ :

'संवर' का अर्थ है प्राणवधादि आस्रवों का निरोध। यह दो तरह का है : एक देश संवर, दूसरा सर्व सवर। देश संवर का अर्थ है—आस्रवों का एक देश त्याग—आंशिक त्याग। सर्व सवर का अर्थ है—आस्रवों का सर्व त्याग—सम्पूर्ण त्याग। देश सवर से सर्व सवर उत्कृष्ट होता है। जब सर्व भोग, बाह्याभ्यन्तर ग्रंथि और घर को छोड़कर मनुष्य द्रव्य और भाव रूप अनगारिता को ग्रहण करता है तब उसके उत्कृष्ट संवर होता है क्योंकि महाव्रतों को ग्रहण कर वह पापास्रवों को सम्पूर्णतः सवृत कर चुका होता है।

जिसके सर्व सवर होता है उसके सम्पूर्ण चारित्र धर्म होता है। सम्पूर्ण चारित्र धर्म से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नही है अतः सकल चारित्र का स्वामी अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता—अच्छी तरह आसेवन करता है।

अनगार के जो उत्कृष्ट संवर कहा है वह देश विरति के सवर की अपेक्षा से कहा है और उसके जो अनुत्तर धर्म कहा है वह पर मतों की अपेक्षा से कहा है[1]।

श्लोक २० :

१५५. श्लोक २० :

जब अनगार उत्कृष्ट सवर और अनुत्तर धर्म का पालन करता है तब उसके फलस्वरूप अबधि—अज्ञान या मिथ्यात्व रुपी कलुष से सञ्चित कर्म-रज को धुन डालता है—विध्वस कर डालता है[2]।

श्लोक २१ :

१५६. श्लोक २१ :

आत्मावरण कर्म-रज ही है। जब अनगार इसको धुन डालता है तब उसकी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसके अनन्त ज्ञान और दर्शन प्रकट हो जाते हैं, जो सर्वत्रग होते हैं।

१—(क) अ० चू० : संवरं संवरो—पाणातिवातादीण आसवाण निवारणं, स एव संवरो उघट्ठो धम्मो तं फासे ति। सो य अणुत्तरो, ण तातो अण्णो उत्तरतरो। अथवा सवरेण उक्करिसिय धम्ममणुत्तर 'पासे' त्ति उक्किट्ठाणतरं विसेसो उक्किट्ठो, जं णं देसविरत्ती अणुत्तरो कुतित्थिय धम्मेहितो पहाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १६२-६३ : संवरो नाम पाणवहादीण आसवाणं निरोहो भण्णइ, देससवराओ सव्वसंवरो उक्किट्ठो, तेण सव्वसवरेण सपुण्ण चरित्तधम्मं फासेइ, अणुत्तरं नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि, सीसो आह,—णणु जो उक्किट्ठो सो चेव अणुत्तरो ? आयरिओ भणइ—उक्किट्ठगहण देसविरइपडिसेहणत्थं कय, अणुत्तरगहणं एसेव एक्को जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो ण परवादिमताणित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : 'सवरमुक्किट्ठ' ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवर धर्म—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूप, चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तर—सम्यगासेवत इत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० : तदा धुणति कम्मरयं, धुणति विद्धसयति कम्ममेव रतो कम्मरतो।
'अबोहिकलुसं कड'—अबोहि—अण्णाणं, अबोहिकलुसेण कडं अबोहिणा वा कलुसं कत।

(ख) हा० टी० प० १५६ : धुनोति—अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरज.' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रज.,'''अबोधिकलुषकृतम्' अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः।

श्लोक १७ :

१५२. श्लोक १७ :

संयोग दो तरह के होते हैं : एक बाह्य और दूसरा आभ्यंतर। संयोग का अर्थ है—ग्रन्थि अथवा सम्बन्ध। क्रोध, मान, माया और लोभ का सबंध आभ्यन्तर संयोग है। स्वर्ण आदि का संयोग बाह्य संयोग है। पहला द्रव्य-संयोग है दूसरा भाव संयोग। जब मनुष्य दिव्य और मानुषिक भोगों से निवृत्त होता है तब वह बाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों व भावों की मूर्च्छा, ग्रंथि और संयोगों को भी छोड़ता है[1]।

श्लोक १८ :

१५३. श्लोक १८ :

जो केश लुञ्चन करता है और जो इन्द्रियों के विषय का अपनयन करता है—उन्हें जीत लेता है—उसे मुण्ड कहा जाता है। मुण्ड होने का पहला प्रकार शारीरिक है और दूसरा मानसिक[2]। स्थानाङ्ग (१० ७४६) में दस प्रकार के मुण्ड बतलाए हैं :—

१— क्रोध-मुण्ड — क्रोध का अपनयन करने वाला।
२— मान-मुण्ड — मान का अपनयन करने वाला।
३— माया-मुण्ड — माया का अपनयन करने वाला।
४— लोभ-मुण्ड — लोभ का अपनयन करने वाला।
५— शिर मुण्ड — शिर के केशों का लुञ्चन करने वाला।
६— श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्ड — कर्णेन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
७— चक्षु इन्द्रिय-मुण्ड— चक्षु इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
८— घ्राण इन्द्रिय-मुण्ड— घ्राण इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
९— रसन इन्द्रिय-मुण्ड— रसन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।
१०— स्पर्शन इन्द्रिय-मुण्ड— स्पर्शन इन्द्रिय के विकार का अपनयन करने वाला।

जब मनुष्य भोगों से निवृत्त हो जाता है तथा बाह्याभ्यन्तर संयोगों का त्याग कर देता है तब उसके गृहवास में रहने की इच्छा भी नहीं रहती। वह द्रव्य और भाव मुंड हो, घर छोड़ अनगारिता अर्थात् अनगार-वृत्ति को धारण करता है—प्रव्रजित हो जाता है[3]। जिसके अगार—घर नहीं होता उसे अनगार कहा जाता है। अनगारिता अर्थात् गृह-रहित अवस्था—श्रमणत्व—साधुत्व।

१—(क) अ० चू० : परिचयति 'सब्भितरबाहिरं' अब्भितरो कोहादि बाहिरो सुवण्णादि।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : बाहिरं अब्भंतरं च गंथं, तत्थ बाहिरं सुवन्नादी अब्भंतरं कोहमाणमायालोभाइ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : 'संयोगं' सम्बन्धं द्रव्यतो भावतः 'साभ्यन्तरबाह्यं' क्रोधादिहिरण्यादिसम्बन्धमित्यर्थः।

२—अ० चू० : तदा मुंडे भवित्ताणं तम्मि काले 'मुंडे' इन्द्रिय-विसय—केसावणयणेण।

३—(क) अ० चू० : मुंडो भवित्ताणं पच्छादि अणगारियं प्रव्रजति प्रपद्यते अगार—घरं तं जस्स नत्थि सो अणगारो तस्स भावो अणगारिता तं पव्वज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० १६० : अणगारियं नाम अगार—गिहं भण्णइ तं जेसिं नत्थि ते अणगारा, ते य साहुणो, ण उद्देसियादीणि भुंजमाणा अन्नतित्थिया अणगारा भवंति।
(ग) हा० टी० प० १५६ : मुण्डो भूत्वा द्रव्यतो भावतश्च 'प्रव्रजति' प्रकर्षेण व्रजत्यपवर्गं प्रत्यनगारं, द्रव्यतो भावतश्चाविद्यमानागारमिति भावः।

श्लोक १६ :

१५४. श्लोक १६ :

'संवर' का अर्थ है प्राणवधादि आस्रवों का निरोध। यह दो तरह का है : एक देश संवर, दूसरा सर्व सवर। देश संवर का अर्थ है—आस्रवो का एक देश त्याग—आंशिक त्याग। सर्व सवर का अर्थ है—आस्रवों का सर्व त्याग—सम्पूर्ण त्याग। देश सवर से सर्व संवर उत्कृष्ट होता है। जब सर्व भोग, वाह्याभ्यन्तर ग्रंथि और घर को छोड़कर मनुष्य द्रव्य और भाव रूप अनगारिता को ग्रहण करता है तब उसके उत्कृष्ट संवर होता है क्योंकि महाव्रतों को ग्रहण कर वह पापास्रवों को सम्पूर्णतः सवृत कर चुका होता है।

जिसके सर्व सवर होता है उसके सम्पूर्ण चारित्र धर्म होता है। सम्पूर्ण चारित्र धर्म से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नही है अतः सकल चारित्र का स्वामी अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता—अच्छी तरह आसेवन करता है।

अनगार के जो उत्कृष्ट संवर कहा है वह देश विरति के सवर की अपेक्षा से कहा है और उसके जो अनुत्तर धर्म कहा है वह पर मतों की अपेक्षा से कहा है[1]।

श्लोक २० :

१५५. श्लोक २० :

जब अनगार उत्कृष्ट संवर और अनुत्तर धर्म का पालन करता है तब उसके फलस्वरूप अवधि—अज्ञान या मिथ्यात्व रूपी कलुष से सञ्चित कर्म-रज को धुन डालता है—विध्वस कर डालता है[2]।

श्लोक २१ :

१५६. श्लोक २१ :

आत्मावरण कर्म-रज ही है। जब अनगार इसको धुन डालता है तब उसकी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वरूप में प्रकट हो जाती है। उसके अनन्त ज्ञान और दर्शन प्रकट हो जाते हैं, जो सर्वत्रग होते हैं।

१—(क) अ० चू० : संवरं सवरो—पाणातिवातादीण आसवाण निवारणं, स एव संवरो उक्कट्ठो धम्मो तं फासे ति। सो य अणुत्तरो, ण तातो अण्णो उत्तरतरो। अथवा सवरेण उक्करिसिय धम्ममणुत्तरं 'पासे' त्ति उक्किट्ठाणतरं विसेसो उक्किट्ठो, ज णं देसविरती अणुत्तरो कुतित्थिय धम्मेहिंतो पहाणो।

(ख) जि० चू० पृ० १६२-६३ : संवरो नाम पाणवहादीण आसवाण निरोहो भण्णइ, देससवराओ सव्वसंवरो उक्किट्ठो, तेण सव्वसवरेण सपुण्ण चरित्तधम्मं फासेइ, अणुत्तरं नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि, सीसो आह,—णणु जो उक्किट्ठो सो चेव अणुत्तरो ? आयरिओ भणइ—उक्किट्ठगहण देसविरइपडिसेहणत्थ कय, अणुत्तरगहण एसेव एगो जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो ण परवादिमताणित्ति।

(ग) हा० टी० प० १५६ : 'संवरमुक्किट्ठं' ति प्राकृतशैल्या उत्कृष्टसंवरं धर्मं—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपं, चारित्रधर्ममित्यर्थः, स्पृशत्यनुत्तर—सम्यगासेवत इत्यर्थ।

२—(क) अ० चू० : तदा धुणति कम्मरयं, धुणति विद्धसयति कम्ममेव रतो कम्मरतो।
'अबोहिकलुसं कड'—अबोहि—अण्णाणं, अबोहिकलुसेण कड अबोहिणा वा कलुसं कत।

(ख) हा० टी० प० १५६ : धुनोति—अनेकार्थत्वात्पातयति 'कर्मरजः' कर्मैव आत्मरञ्जनाद्रज इव रज.,···'अबोधिकलुषकृतम्' अबोधिकलुषेण मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थः।

सर्वत्रग [सव्वत्तग] : इसका अर्थ है सब स्थानों में जानेवाले—सर्व व्यापी। यहाँ यह ज्ञान और दर्शन का विशेषण है। इसलिए इसका अर्थ है केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन। नैयायिकों के मतानुसार आत्मा सर्व व्यापी है। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान सर्व व्यापी है। यह सर्व-व्यापकता क्षेत्र की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय की दृष्टि से है। केवल-ज्ञान के द्वारा सब विषय जाने जा सकते हैं इसलिए यह सर्वत्रग कहलाता है[1]।

श्लोक २२ :

१५७. श्लोक २२ :

जिसमें जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल ये छः द्रव्य होते हैं उसे 'लोक' कहते हैं। लोक के बाहर जहाँ केवल आकाश है अन्य द्रव्य नहीं वह 'अलोक' कहलाता है। जो सर्वत्रग ज्ञान दर्शन को प्राप्त कर जिन-केवली होता है वह समूचे लोकालोक को देखने जानने लगता है[2]।

श्लोक २३ :

१५८. श्लोक २३ :

आत्मा स्वभाव से अप्रकम्प होती है। उसमें जो गति, स्पन्दन या कम्पन है वह आत्मा और शरीर के संयोग से उत्पन्न है। इसे योग कहा जाता है। योग अर्थात् मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति। इसका निरोध तद्भव-मोक्षगामी जीव के अन्तकाल में होता है। पहले मन का, फिर वचन का और उसके पश्चात् शरीर का योग निरुद्ध होता है और आत्मा सर्वथा अप्रकम्प बन जाती है। इस अवस्था का नाम है शैलेशी (सेलेसि)। शैलेश का अर्थ है मेरु। यह अवस्था उसकी तरह अडोल होती है इसलिए इसका नाम शैलेशी है[3]।

जो लोकालोक को जानने देखनेवाला जिन-केवली होता है वह अन्तकाल के समय योग का निरोध कर निष्कंप शैलेशी अवस्था को प्राप्त होता है। निश्चल अवस्था को प्राप्त होने से अब उसके पुण्य कर्मों का भी बन्ध नहीं होता।

श्लोक २४ :

१५६. श्लोक २४ :

जिन-केवली के नाम, वेदनीय, गोत्र और आयुष्य ये चार कर्म ही अवशेष होते हैं। ये केवल भवधारण के लिए होते हैं। जब वह सब सम्पूर्ण अयोगी हो शैलेशी अवस्था को धारण करता है तब उसके ये कर्म भी सम्पूर्णतः क्षय को प्राप्त हो जाते हैं और वह नीरज—कर्म रूपी रज से सम्पूर्ण रहित हो सिद्धि को प्राप्त करता है। सिद्धि—लोकान्त क्षेत्र को कहते हैं[4]।

१—(क) अ० चू० : सव्वत्थ गच्छती सव्वत्तग केवलनाण केवलदसणं च।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : सव्वत्थ गच्छतीति सव्वत्यगं त केवलनाण दरिसण च।
(ग) हा० टी० प० १५६ : 'सर्वत्रग ज्ञानम्'—अशेषज्ञेयविषय 'दर्शन च' अशेषदृश्यविषयम्।

२—हा० टी० प० १५६ : 'लोक' चतुर्दशरज्ज्वात्मकम् 'अलोक च' अनन्त जिनो जानाति केवली, लोकालोकौ च सर्व नान्यतरमेवेत्यर्थ।

३—(क) अ० चू० : 'तदा जोगे निरु भित्ता' भवधारणिज्जकम्म विसारणत्थ मीलस्स ईमति—वसयति सेलेसि।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ . तदा जोगे निरु भिऊण सेलेसि पडिवज्जइ, भवधारणिज्जकम्मक्खयट्ठाए।
(ग) हा० टी० प० १५६ · उचितसमयेन योगान्निरुद्ध्य मनोयोगादीन् शैलेशीं प्रतिपद्यते, भवोपग्राहिकर्मांशक्षयाय।

४—(क) अ० चू० : ततो सेलेसिप्पभावेग 'तदा कम्म' भवधारणिज्जं कम्म सेस खवित्ताणं सिद्धि गच्छति णीरतो निक्कम्ममलो।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : भवधारणिज्जाणि कम्माणि खवेउ सिद्धि गच्छइ, कह ? जेण सो नीरओ, नीराओनाम अवगतरओ नीरओ।
(ग) हा० टी० प० १५६ : कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धि गच्छति', लोकान्तक्षेत्ररूपां 'नीरजाः' सकलकर्मरजोविनिर्मुक्त।

श्लोक २५ :

१६०. श्लोक २५ :

मुक्त होने के पश्चात् आत्मा लोक-मस्तक पर—ऊर्ध्व लोक के छोर पर—जाकर प्रतिष्ठित होती है इसलिए उसे लोकमस्तकस्थ कहा गया है। भगवान् से पूछा गया—मुक्त जीव कहाँ प्रतिहत होते हैं? कहाँ प्रतिष्ठित होते हैं? कहाँ शरीर को छोड़ते हैं? कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं? उत्तर मिला—वे अलोक में प्रतिहत हैं, लोकाग्र में प्रतिष्ठित हैं, यहाँ—मनुष्य-लोक में शरीर छोड़ते हैं, और वहाँ—लोकाग्र में जाकर सिद्ध होते हैं :—

कहिं पडिहया सिद्धा कहिं सिद्धा पइट्ठिया।
कहिं वोन्दिं चइत्ताणं कत्थ गन्तूण सिज्झई॥
अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं वोन्दिं चइत्ताणं तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

उत्तराध्ययन ३६.५६, ५७

लोक-मस्तक पर पहुँचने के वाद वह सिद्ध आत्मा पुनः जन्म धारण नहीं करती और न लोक में कभी आती है अतः शाश्वत सिद्ध रूप में वहीं रहती है[1]।

श्लोक २६ :

१६१. सुख का रसिक (सुहसायगस्स [क]) :

सुख-स्वादक। इसके अर्थ इस प्रकार किये गये हैं :

(१) अगस्त्य सिंह के अनुसार जो सुख को चखता है वह सुखस्वादक है[2]।

(२) जिनदास के अनुसार जो सुख की प्रार्थना—कामना करता है वह सुखस्वादक कहलाता है[3]।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो प्राप्त सुख को भोगने में आसक्त होता है उसे सुखास्वादक—सुख का रसिक कहा जाता है[4]।

१६२. सात के लिए आकुल (सायाउलगस्स [ख]) :

साताकुल के अर्थ इस प्रकार मिलते हैं :

(१) अगस्त्य सिंह के अनुसार सुख के लिए आकुल को साताकुल कहते हैं[5]।

(२) जिनदास के अनुसार मैं कब सुखी होऊँगा—ऐसी भावना रखनेवाले को साताकुल कहते हैं[6]।

१—(क) अ० चू० : लोगमत्थगे लोगसिरसि ठितो सिद्धो कतत्थो [सासतो] सव्वकालं तहा भवति।
(ख) जि० चू० पृ० १६३ : सिद्धो भवति सासयोत्ति, जाव य ण परिणेव्वाति ताव अकुच्छियं देवलोगफल सुकुलुप्पत्तिं च पावतित्ति।
(ग) हा० टी० प० १५६ . त्रैलोक्योपरिवर्त्ती सिद्धो भवति 'शाश्वत.' कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्म इति भावः।

२—अ० चू० : केति पढति 'सुहसातगस्स' तदा सुख स्वादयति चक्खति।

३—जि० चू० पृ० १६३ : सुहं सायतीति सुहसायगो, सायति णाम पत्थयतित्ति, जो समणो होऊण सुहं कामयति सो सुहसायगो भण्णइ।

४—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः।

५—अ० चू० : साताकुलगस्स तेणेव सुहेण आउलस्स, आउलो—अणेगग्गो।

६—जि० चू० पृ० १६३ : सायाउलो नाम तेण सातेण आकुलीकओ, कहं सुही होज्जामित्ति? सायाउलो।

(३) हरिभद्र के अनुसार जो भावी सुख के लिए व्याक्षिप्त हो उसे साताकुल कहते हैं[1]।

अगस्त्य चूर्णि में 'सुहसायगस्स' के स्थान में 'सुहसीलगस्स' पाठ उपलब्ध है। सुखशीलक, सुख-स्वादक और साताकुल में आचार्यों ने निम्नलिखित अन्तर बतलाया है :

(१) अगस्त्य मुनि के अनुसार जो कभी-कभी सुख का अनुशीलन करता है उसे सुखशीलक कहा जाता है और जिसे सुख का सतत ध्यान रहता है उसे साताकुल कहा जाता है[2]।

(२) जिनदास के अनुसार अप्राप्त सुख की जो प्रार्थना—कामना है वह सुख-स्वादकता है। प्राप्त सात में जो प्रतिबंध होता है वह साताकुलता है[3]।

(३) हरिभद्र के अनुसार सुखास्वादकता का सम्बन्ध प्राप्त सुख के साथ है और साताकुल का सम्बन्ध अप्राप्त—भावी सुख के साथ[4]।

आचार्यों में इन शब्दों के अर्थ के विषय में जो मतभेद है वह स्पष्ट है।

अगस्त्य के अनुसार सुख और सात एकार्थक हैं। जिनदास के अनुसार सुख का अर्थ है—अप्राप्त भोग, सात का अर्थ है—प्राप्त भोग। हरिभद्र का अर्थ ठीक इसके विपरीत है : प्राप्त सुख सुख है ; अप्राप्त सुख—सात।

१६३. अकाल में सोने वाला (निगामसाइस्स ख) :

जिनदास ने निकामशायी को 'प्रकामशायी' का पर्यायवाची माना है[5]। हरिभद्र के अनुसार सूत्र में जो सोने की वेला बताई गई है उसे उल्लघन कर सोनेवाला निकामशायी है[6]। भावार्थ है—अतिशय सोने वाला—अत्यन्त निद्राशील। अगस्त्यसिंह के अनुसार कोमल विस्तरक बिछाकर सोने की इच्छा रखने वाला निकामशायी है[7]।

१६४. हाथ, पैर आदि को बार-बार धोने वाला (उच्छोलणापहोइस्स ग) :

थोड़े जल से हाथ पैर आदि को धोने वाला उत्सोलनाप्रधावी नहीं होता। जो प्रभूत जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ, पैर आदि को धोता है वह उत्सोलनाप्रधावी कहलाता है। जिनदास ने विकल्प से—प्रभूत जल से भाजनादि का धोना—अर्थ भी किया है[8]।

१—हा० टी० प० १६० · 'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

२—अ० चू० : जदा सुहसीलगस्स तदा साताकुलएण विसेसो—एगो सुह कयाति अणुसीलेति, साताकुलो पुण सदा तदभिज्झाणो।

३—जि० चू० पृ० १६३ · सीसो आह—सुहसायगसायाउलाण को पतिविसेसो ? आयरिओ आह—सुहसायगहणेण अप्पत्तस्स सुहस्स जा पत्थणा सा गहिया, सायाउलगहणेण पत्ते य साते जो पडिबंधो तस्स गहण कय।

४—हा० टी० प० १६० : सुखास्वादकस्य—अभिष्वङ्गेण प्राप्तसुखभोक्तुः……'साताकुलस्य' भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य।

५—जि० चू० पृ० १६४ : निगाम नाम पगाम भण्णइ, निगाम सुयतीति निगामसायी।

६—हा० टी० प० १६० : 'निकामशायिन.' सूत्रार्थवेलामप्युल्लङ्घ्य शयानस्य।

७—अ० चू० . निकामसाइस्स सुपच्छणे मउए सुइतु सीलमस्स निकामसाती।

८—(क) अ० चू० · उच्छोलणापहोती पभूतेण अजयणाए धोवति।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ · उच्छोलणापहावी णाम जो पभूओदगेण हत्थपायादी अभिक्खण पक्खालयइ, धोवेण कुक्कुचियत्त कुव्वमाणो (ण) उच्छोलणापहोवी लब्भइ, अहवा भायणाणि पभूतेण पाणिएण पक्खालयमाणो उच्छोलणापहोवी।

(ग) हा० टी० प० १६० : 'उत्सोलनाप्रधाविन' उत्सोलनया-उदकायतनया प्रकर्षेण धावति—पादादिशुद्धिं करोति य· स तथा तस्य।

श्लोक २७ :

१६५. ऋजुमती (उज्जुमइ ख) :

अमायी। जिसकी मति ऋजु—सरल हो उसे ऋजुमती कहते हैं अथवा जिसकी बुद्धि मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त हो वह ऋजुमती कहलाता है[1]।

१६६. परीषहों को (परीसहे ग) :

क्षुधा, प्यास आदि बाईस प्रकार के कष्टों को[2]। इसकी व्याख्या के लिए देखिए अ० ३ : टिप्पणी नं० ५७ पृ० १०३।

श्लोक २८ :

१६७. श्लोक २८ :

कई आदर्शों में ही २७ वें श्लोक के पश्चात्—यह श्लोक है। दोनों चूर्णियों और टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। इसलिए यह बाद में प्रक्षिप्त हुआ जान पड़ता है।

श्लोक २६ :

१६८. सम्यग्-दृष्टि (सम्मदिट्ठी ख) :

जिसे जीव आदि तत्त्वों में श्रद्धा है वह[3]।

१६९. कर्मणा (कम्मुणा घ) :

हरिभद्र सूरि के अनुसार इसका अर्थ है—मन, वचन और काया की क्रिया। ऐसा काम जिससे षट्-जीवनिकाय जीवों की किसी प्रकार की हिंसा हो[4]।

१७०. विराधना (विराहेज्जासि घ) :

दुःख पहुँचाने से लेकर प्राण-हरण तक की क्रिया[5]। अप्रमत्त साधु के द्वारा भी जीवों की कथञ्चित् द्रव्य विराधना हो जाती है, पर यह अविराधना ही है।

१—(क) अ० चू० : उज्जुया मती उज्जुमती-अमाती।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ : अज्जवा मती जस्स सो उज्जुमती।
(ग) हा० टी० प० १६० : 'ऋजुमते.' मार्गप्रवृत्तबुद्धेः।

२—(क) अ० चू० : परीसहे बावीस जिणंतस्स।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ : परीसहा—दिगिच्छादि बावीस ते अहियासंतस्स।
(ग) हा० टी० प० १६० : 'परीषहान्' क्षुत्पिपासादीन्।

३—हा० टी० प० १६० : 'सम्यग्दृष्टि.' जीवस्तत्त्वश्रद्धावान्।

४—(क) अ० चू० : कम्मुणा छज्जीवणियजीवोवरोहकारकेण।
(ख) जि० चू० पृ० १६४ : कम्मुणा णाम जहोवएसो भण्णइ सं छज्जीवणियं जहोवइदिट्ठं तेण णो विराहेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६० : 'कर्मणा'—मनोवाक्कायक्रियया।

५—(क) अ० चू० : ण विराहेज्जासि मज्झिमपुरिसेण वपदेसो एवं सोम्म! ण विराधीया इत्यातो।
(ख) हा० टी० प० १६० : 'न विराधयेत्' न खण्डयेत्, अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति तथाऽप्यावविराधनैवेत्यर्थः।

पचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(पढमोद्देसो)

पंचम अध्ययन

पिंडैषणा

(प्रथम उद्देशक)

आमुख

नाम चार प्रकार के होते हैं—(१) गौण (२) सामयिक (३) उभयज और अनुभयज। गुण, क्रिया और सम्बन्ध के योग से जो नाम बनता है वह गौण कहलाता है। सामयिक नाम वह होता है जो अन्वर्थ न हो, केवल समय या सिद्धान्त में ही उसका प्रयोग हुआ हो। जैन-समय में भात को प्राभृतिका कहा जाता है, यह सामयिक नाम है। 'रजोहरण' शब्द अन्वर्थ भी है और सामयिक भी। रज को हरने वाला 'रजोहरण' यह अन्वर्थ है। सामयिक-संज्ञा के अनुसार वह कर्म रूपी रजों को हरने का साधन है इसलिए यह उभयज है[१]।

पिण्ड शब्द 'पिडि संघाते' धातु से बना है। सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहा जाता है। यह अन्वर्थ है इसलिए गौण है। सामयिक परिभाषा के अनुसार तरल वस्तु को भी पिण्ड कहा जाता है। आचाराङ्ग के सातवें उद्देशक में पानी की एषणा के लिए भी 'पिण्डैषणा' का प्रयोग किया है। पानी के लिए प्रयुक्त होने वाला 'पिण्ड' शब्द अन्वर्थ नहीं है इसलिए यह सामयिक है। जैन-समय की परिभाषा में यह अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन सभी के लिए प्रयुक्त होता है[२]।

एषणा शब्द गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा का संक्षिप्त रूप है।

इस अध्ययन में पिण्ड की गवेषणा—शुद्धाशुद्ध होने, ग्रहण (लेने) और परिभोग (खाने) की एषणा का वर्णन है इसलिए इसका नाम है 'पिण्डैषणा'।

दूसरे आचाराङ्ग के पहले अध्ययन का इसके साथ बहुत बड़ा साम्य है। वह इसका विस्तार है या यह उसका संक्षेप यह निश्चय करना सहज नहीं है। ये दोनों अध्ययन 'पूर्व' से उद्धृत किए हुए हैं।

भिक्षा तीन प्रकार की बतलाई गई है—दीन-वृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्व-संपत्करी[३]।

अनाथ और अपाङ्ग व्यक्ति मांग कर खाते हैं यह दीन-वृत्ति भिक्षा है। श्रम करने में समर्थ व्यक्ति मांग कर खाते हैं वह पौरुषघ्नी भिक्षा है। सयमी माधुकरी वृत्ति द्वारा सहज सिद्ध आहार लेते हैं वह सर्व-संपत्करी भिक्षा है।

दीन-वृत्ति का हेतु असमर्थता, पौरुषघ्नी का हेतु निष्कर्मण्यता और सर्व-संपत्करी का हेतु अहिंसा है।

भगवान् ने कहा मुनि की भिक्षा नवकोटि-परिशुद्ध होनी चाहिए। वह भोजन के लिए जीव वध न करे, न करवाए और न करने वाले का अनुमोदन करे (३) न मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे (६) तथा न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे।[४]

१—पि० नि० गा० ६ : गोण्णं समयकय वा ज वावि हवेज्ज तदुभएण कय।
त बिति नामपिंडं ठवणापिंड अओ वोच्छं॥

२—पि० नि० गा० ६ वृ०।

३—अ० प्र० ५.१ : सर्वसम्पत्करी चैका, पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता॥

४—स्था० ९.३.६८१ : समणेणं भगवता महावीरेण समणाणं णिग्गथाणं णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे पं० तं०—ण हणद, ण हणावइ, हणतं णाणुजाणइ, ण पतति, ण पतावेति, पतत णाणुजाणति, ण किणति, ण किणावेति किणंतं णाणुजाणति।

इस अध्ययन में सर्व-संपत्करी-भिक्षा के विधि-निषेधों का वर्णन है।

निर्युक्तिकार के अनुसार यह अध्ययन 'कर्म प्रवाद' नामक आठवें 'पूर्व' से उद्धृत किया हुआ है[१]।

निर्दोष भिक्षा

भिक्षु को जो कुछ मिलता है वह भिक्षा द्वारा मिलता है इसलिए कहा गया है—"सव्वं से जाईयं होई णत्थि किंचि अजाईयं" (उत्त० २.२८) भिक्षु को सब कुछ मांगा हुआ मिलता है। उसके पास अयाचित कुछ भी नहीं होता। मांगना परीषह—कष्ट है (देखिए उत्त० २ गद्य भाग)

दूसरों के सामने हाथ पसारना सरल नहीं होता—"पाणी नो सुप्पसारए" (उत्त० २ २९)। किन्तु अहिंसा की मर्यादा का ध्यान रखते हुए भिक्षु को वैसे करना होता है। भिक्षा जितनी कठोर चर्या है उससे भी कहीं अधिक कठोर चर्या है उसके दोषों को टालना। उसके बयालीस दोष हैं। उनमें उद्गम और उत्पादन के सोलह-सोलह और एषणा के दस—सब मिलकर बयालीस होते हैं और पाँच दोष परिभोगैषणा के हैं—

"गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाय य।
आहारोवहिसेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
उग्गमुप्पायणं पढमे बीए सोहेज्ज एसणं।
परिभोयंमि चउक्कं विसोहेज्ज जयं जई॥" (उत्त० २४.११-१२)

(क) गृहस्थ के द्वारा लगने वाले दोष 'उद्गम' के दोष कहलाते हैं। ये आहार की उत्पत्ति के दोष हैं। ये इस प्रकार हैं—

१. आहाकम्म	आधाकर्म
२. उद्देसिय	औद्देशिक
३ पूइकम्म	पूति कर्म
४. मीसजाय	मिश्र जात
५. ठवणा	स्थापना
६. पाहुडिया	प्राभृतिका
७. पाओयर	प्रादुष्करण
८. कीअ	क्रीत
९ पामिच्च	प्रामित्य
१०. परियट्टि	परिवत
११. अभिहड	अभिहृत
१२. उब्भिन्न	उद्भिन्न
१३ मालोहड	मालापहृत
१४. अच्छिज्ज	आछेद्य
१५. अणिसिट्ठ	अनिसृष्ट
१६. अज्झोयरय	अध्यवतरक

१—दश० नि० १.१६ : कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा।

(ख) साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादन के दोष कहलाते हैं। ये आहार की याचना के दोष हैं—

१. धाई	धात्री
२. दूई	दूती
३. निमित्त	निमित्त
४. आजीव	आजीव
५. वणीमग	वनीपक
६. तिगिच्छा	चिकित्सा
७. कोह	क्रोध
८. माण	मान
९. माया	माया
१०. लोह	लोभ
११. पुव्वि-पच्छा-संथव	पूर्व-पश्चात्-संस्तव
१२. विज्जा	विद्या
१३. मंत	मन्त्र
१४. चुण्ण	चूर्ण
१५. जोग	योग
१६. मूल कम्म	मूल कर्म

(ग) साधु और गृहस्थ दोनों के द्वारा लगने वाले दोष 'एषणा' के दोष हैं। ये आहार विधिपूर्वक न लेने-देने और शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से पैदा होते हैं। वे ये हैं—

१. संकिय	शङ्कित
२. मक्खिय	म्रक्षित
३. निक्खित्त	निक्षिप्त
४. पिहिय	पिहित
५. साहरिय	संहृत
६. दायग	दायक
७. उम्मिस्स	उन्मिश्र
८. अपरिणय	अपरिणत
९. लित्त	लिप्त
१०. छड्डिय	छर्दित

भोजन सम्बन्धी दोष पाँच हैं। ये भोजन की सराहना व निन्दा आदि करने से उत्पन्न होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) अङ्गार (२) धूम (३) संयोजन (४) प्रमाणातिरेक और (५) कारणातिक्रांत।

ये सैंतालीस दोष आगम साहित्य में एकत्र कहीं भी वर्णित नहीं हैं किन्तु प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं। श्री जयाचार्य ने उनका अपुनरुक्त संकलन किया है।

आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्र-जात, प्रादुष्कर, पूति-कर्म, क्रीत-कृत, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट, अभ्याहृत और स्थापना ये स्थानाङ्ग (९।३ पृ० ४४२-४३) में बतलाए गए हैं। धात्री-पिण्ड, दूती-पिण्ड, निमित्त-पिण्ड, आजीव-पिण्ड, वनीपक-

पिण्ड, चिकित्सा-पिण्ड, कोप-पिण्ड, मान-पिण्ड, माया-पिण्ड, लोभ-पिण्ड, विद्या-पिण्ड, मन्त्र-पिण्ड, चूर्ण-पिण्ड, योग-पिण्ड, और पूर्व-पश्चात्-संस्तव ये निशीथ (उद्दे० १२) में बतलाए गए हैं। परिवर्त का उल्लेख आचाराङ्ग (२.१.२.३३) में मिलता है। अङ्गार, धूम, संयोजना प्राभृतिका ये भगवती (७.१) में मिलते हैं।

मूलकर्म प्रश्नव्याकरण (संवर० १.१५) में है। उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शङ्कित, म्रक्षित, निक्षिप्त, पिहित, संहृत, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित ये दशवैकालिक के पिण्डैषणा अध्ययन में मिलते हैं। कारणातिक्रान्त उत्तराध्ययन (२६.३२) और प्रमाणातिरेक भगवती (७.१) में मिलते हैं। हमने टिप्पणियों में यथास्थान इनका निर्देश किया है।



पचमं अज्झयणं : पञ्चम अध्ययन

पिण्डेसणा : पिण्डैषणा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—[१]संपत्ते भिक्खकालम्मि असंभंतो अमुच्छिओ । इमेण कमजोगेण भत्तपाणं गवेसए ॥	संप्राप्ते भिक्षाकाले, असंभ्रान्तोऽमूर्च्छितः । अनेन क्रमयोगेन, भक्तपानं गवेषयेत् ॥ १ ॥	१—भिक्षा का काल प्राप्त होने पर[२] मुनि असंभ्रांत[३] और अमूर्च्छित[४] रहता हुआ इस—आगे कहे जाने वाले, क्रम-योग से भक्त-पान की[५] गवेषणा करे।
२—[६]से गामे वा नगरे वा गोयरग्गगओ मुणी । चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥	स ग्रामे वा नगरे वा, गोचराग्रगतो मुनिः । चरेन्मन्दमनुद्विग्नः, अव्याक्षिप्तेन चेतसा ॥ २ ॥	२—गाँव या नगर में गोचराग्र के लिए निकला हुआ[७] वह[८] मुनि[९] धीमे-धीमे[१०] अनुद्विग्न[११] और अव्याक्षिप्त चित्त से[१२] चले।
३—[१३]पुरओ जुगमायाए पेहमाणो महिं चरे । वज्जंतो बीयहरियाइं पाणे य दगमट्टियं ॥	पुरतो युगमात्रया, प्रेक्षमाणो महीं चरेत् । वर्जयन् वीजहरितानि, प्राणांश्च दक-मृत्तिकाम् ॥ ३ ॥	३—आगे[१४] युग-प्रमाण भूमि को[१५] देखता हुआ और वीज, हरियाली,[१६] प्राणी,[१७] जल तथा सजीव-मिट्टी को[१८] टालता हुआ चले।
४—[१९]ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए । संकमेण न गच्छेज्जा विज्जमाणे परक्कमे[२५] ॥	अवपातं विषमं स्थाणुं, 'विज्जलं' परिवर्जयेत् । संक्रमेण न गच्छेत्, विद्यमाने पराक्रमे ॥ ४ ॥	४—दूसरे मार्ग के होते हुए गड्ढे,[२०] ऊवड़-खावड़[२१] भू-भाग, कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डठल[२२] और पंकिल मार्ग को[२३] टाले तथा सक्रम (जल या गड्ढे को पार करने के लिए काष्ठ या पाषाण-रचित पुल) के ऊपर से[२४] न जाय।
५—[२६]पवडंते व से तत्थ पक्खलंते व संजए । हिंसेज्ज पाणभूयाइं तसे अदुव थावरे ॥	प्रपतन् वा स तत्र, प्रस्खलन् वा संयतः । हिंस्यात् प्राणभूतानि, त्रसानथवा स्थावरान् ॥ ५ ॥	५-६—वहाँ गिरने या लड़खड़ा जाने से वह संयमी प्राणी-भूतों—त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करता है, इसलिए दूसरे मार्ग के होते हुए[२७] सुसमाहित सयमी उक्त मार्ग से न जाय। यदि दूसरा मार्ग न हो तो यतनापूर्वक जाय[२८]।
६—तम्हा तेण न गच्छेज्जा संजए सुसमाहिए । सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे[२९] ॥	तस्मात्तेन न गच्छेत्, संयतः सुसमाहितः । सत्यन्यस्मिन् मार्गे, यतमेव पराक्रमेत् ॥ ६ ॥	

७—[30]इंगालं छारियं रासिं
तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खेहिं पाएहिं
संजओ तं न अक्कमे॥

आङ्गारं क्षारिकं राशिं,
तुषराशिं च गोमयम्।
ससरक्षाभ्यां पादाभ्याम्,
संयतस्तं नाक्रामेत्॥ ७॥

७—संयमी मुनि सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से[31] कोयले[32], राख, भूसे और गोबर के ढेर के[33] ऊपर होकर न जाय।

८—[34]न चरेज्ज वासे वासंते
महियाए व पडंतीए।
महावाए व वायंते
तिरिच्छसंपाइमेसु वा॥

न चरेद्वर्षे वर्षति,
महिकायां वा पतन्त्याम्।
महावाते वा वाति,
तिर्यक्संपातेषु वा॥ ८॥

८—वर्षा बरस रही हो,[35] कुहरा गिर रहा हो,[36] महावात चल रहा हो[37] और मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हों[38] तो भिक्षा के लिए न जाय।

९—[39]न चरेज्ज वेससामंते
बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स दंतस्स
होज्जा तत्थ विसोत्तिया॥

न चरेद् वेशसामन्ते,
ब्रह्मचर्यवशानुगः।
ब्रह्मचारिणो दान्तस्य,
भवेत्तत्र विस्रोतसिका॥ ९॥

९—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि[40] वेश्या-वाड़े के समीप[41] न जाय। वहाँ दान्त ब्रह्मचारी के भी विस्रोतसिका[42] हो सकती है—साधना का स्रोत मुड़ सकता है।

१०—अणायणे चरंतस्स
संसग्गीए अभिक्खणं।
होज्ज वयाणं पीला
सामण्णम्मि य संसओ॥

अनायतने चरतः,
संसर्गेणाऽभीक्ष्णम्।
भवेद् व्रतानां पीडा,
श्रामण्ये च संशयः॥ १०॥

१०—अस्थान में[43] बार-बार जाने वाले के (वेश्याओं का) संसर्ग होने के कारण[44] व्रतों की पीड़ा (विनाश)[45] और श्रामण्य में सन्देह हो सकता है[46]।

११—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं
मुणी एगंतमस्सिए॥

तस्मादेतद् विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
वर्जयेद्वेशसामन्तं,
मुनिरेकान्तमाश्रितः॥ ११॥

११—इसलिए इसे दुर्गति बढ़ाने वाला दोष जानकर एकान्त (मोक्ष मार्ग)[47] का अनुगमन करने वाला मुनि वेश्या-वाड़े के समीप न जाय।

१२—[48]साणं सूइयं गाविं
दित्तं गोणं हयं गयं।
संडिब्भं कलहं जुद्धं
दूरओ परिवज्जए॥

श्वानं सूतिकां गां,
दृप्तं गां हयं गजम्।
'संडिब्भं' कलहं युद्धं,
दूरतः परिवर्जयेत्॥ १२॥

१२—श्वान, ब्याई हुई गाय,[49] उन्मत्त बैल, अश्व और हाथी, बच्चों के क्रीड़ा-स्थल,[50] कलह[51] और युद्ध (के स्थान) को[52] दूर से टाल कर जाय[53]।

१३—[54]अणुन्नए नावणए
अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाणि जहाभागं
दमइत्ता मुणी चरे॥

अनुन्नतो नावनतः,
अप्रहृष्टोऽनाकुलः।
इन्द्रियाणि यथाभागं,
दमयित्वा मुनिश्चरेत्॥ १३॥

१३—मुनि न उन्नत होकर[55]—ऊँचा मुँह कर, न अवनत होकर,[56] न हृष्ट होकर[57], न आकुल होकर[58] (किन्तु) इन्द्रियों का उनके विषयों के अनुसार[59] दमन कर चले[60]।

१४—[61]दवदवस्स न गच्छेज्जा
भासमाणो य गोयरे।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा
कुलं उच्चावयं सया॥

द्रवं द्रवं न गच्छेत्,
भाषमाणश्च गोचरे।
हसन् नाभिगच्छेत्,
कुलमुच्चावचं सदा॥ १४॥

१४—उच्च-नीच कुल में[62] गोचरी गया हुआ मुनि दौड़ता हुआ न चले,[63] बोलता और हँसता हुआ न चले।

१५—[64]आलोयं थिग्गलं दारं
संधिं दगभवणाणि य।
चरंतो न विणिज्झाए
संकट्ठाणं विवज्जए॥

आलोकं 'थिग्गलं' द्वारं,
सन्धिं दकभवनानि च।
चरन् न विनिध्यायेत्,
शङ्कास्थानं विवर्जयेत्॥ १५॥

१५—मुनि चलते समय आलोक,[65] थिग्गल,[66] द्वार, संधि,[67] पानी-घर को[68] न देखे। शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से[69] बचता रहे।

१६—[70]रन्नो गिहवईणं च
रहस्सारक्खियाण य।
संकिलेसकरं ठाणं
दूरओ परिवज्जए॥

राज्ञो गृहपतीनां च,
रहस्यारक्षिकाणाञ्च।
संक्लेशकरं स्थानं,
दूरतः परिवर्जयेत्॥ १६॥

१६—मुनि राजा, गृहपति[71] और आरक्षिकों के रहस्य स्थान[72] संक्लेशकर होते हैं,[73] इसलिए उनसे दूर रहे—वहाँ न जाय।

१७—[74]पडिकुट्ठकुलं न पविसे
मामगं परिवज्जए।
अचियत्तकुलं न पविसे
चियत्तं पविसे कुलं॥

प्रतिक्रुष्ट-कुलं न प्रविशेत्,
मामकं परिवर्जयेत्।
'अचियत्त'-कुलं न प्रविशेत्,
'चियत्तं' प्रविशेत् कुलम्॥ १७॥

१७—मुनि प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) कुल में[75] प्रवेश न करे। मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का[76] परिवर्जन करे। अप्रीतिकर कुल में[77] प्रवेश न करे। प्रीतिकर[78] कुल में प्रवेश करे।

१८—[79]साणीपावारपिहियं
अप्पणा नावपंगुरे।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा
ओग्गहंसि अजाइया॥

शाणी-प्रावार-पिहितं,
आत्मना नापवृणुयात्।
कपाटं न प्रणोदयेत्,
अवग्रहे अयाचित्वा॥ १८॥

१८—मुनि गृहपति की आज्ञा लिए बिना[80] सन[81] और मृग-रोम के बने वस्त्र से[82] ढँका द्वार स्वयं न खोले,[83] किवाड़ न खोले[84]।

१९—[85]गोयरग्गपविट्ठो उ
वच्चमुत्तं न धारए।
ओगासं फासुयं नच्चा
अणुन्नविय वोसिरे॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु,
वर्चोमूत्रं न धारयेत्।
अवकाशं प्रासुकं ज्ञात्वा,
अनुज्ञाप्य व्युत्सृजेत्॥ १९॥

१९—गोचराग्र के लिए उद्यत मुनि मल-मूत्र की बाधा को न रखे[86]। (गोचरी करते समय मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो) प्रासुक-स्थान[87] देख, उसके स्वामी की अनुमति लेकर वहाँ मल-मूत्र का उत्सर्ग करे।

२०—[88]नीयदुवारं तमसं
कोट्ठगं परिवज्जए।
अचक्खुविसओ जत्थ
पाणा दुप्पडिलेहगा॥

नीचद्वारं तमो(मयं),
कोष्ठकं परिवर्जयेत्।
अचक्षुर्विषयो यत्र,
प्राणाः दुष्प्रतिलेख्यकाः॥ २०॥

२०—जहाँ चक्षु का विषय न होने के कारण प्राणी न देखे जा सकें, वैसे निम्न-द्वार वाले[89] तमपूर्ण कोष्ठक का परिवर्जन करे।

२१—[90]जत्थ पुप्फाइ बीयाइं
विप्पइण्णाइं कोट्ठए।
अहुणोवलित्तं उल्लं
दट्ठूणं परिवज्जए ॥

यत्र पुष्पाणि बीजानि,
विप्रकीर्णानि कोष्ठके।
अधुनोपलिप्तमार्द्रं,
दृष्ट्वा परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

२१—जहाँ कोष्ठक में या कोष्ठक-द्वार पर पुष्प, बीजादि बिखरे हों वहाँ मुनि न जाय। कोष्ठक को तत्काल का लीपा और गीला[91] देखे तो मुनि उसका परिवर्जन करे।

२२—[92]एलगं दारगं साणं
वच्छगं वावि कोट्ठए।
उल्लंघिया न पविसे
विऊहित्ताण व संजए ॥

एडकं दारकं श्वानं,
वत्सकं वाऽपि कोष्ठके।
उल्लंघ्य न प्रविशेत्,
व्यूह्य वा संयतः ॥ २२ ॥

२२—मुनि मेढ़,[93] बच्चे, कुत्ते और बछड़े को लांघकर या हटाकर कोठे में प्रवेश न करे[94]।

२३—[95]असंसत्तं पलोएज्जा
नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए
नियट्टेज्ज अयंपिरो ॥

असंसक्तं प्रलोकेत,
नातिदूरमवलोकेत।
उत्फुल्लं न विनिध्यायेत्,
निवर्त्तेताऽजल्पिता ॥ २३ ॥

२३—मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे[96]। अति दूर न देखे[97]। उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे[98]। भिक्षा का निषेध करने पर बिना कुछ कहे वापस चला जाय[99]।

२४—[100]अइभूमिं न गच्छेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता
मियं भूमिं परक्कमे ॥

अतिभूमिं न गच्छेत्,
गोचराग्रगतो मुनिः।
कुलस्य भूमिं ज्ञात्वा,
मितां भूमिं पराक्रमेत् ॥ २४ ॥

२४—गोचराग्र के लिए घर में प्रविष्ट मुनि अति-भूमि (अननुज्ञात) में न जाय,[101] कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर[102] मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे[103]।

२५—[104]तत्थेव पडिलेहेज्जा
भूमिभागं वियक्खणो।
सिणाणस्स य वच्चस्स
संलोगं परिवज्जए ॥

तत्रैव प्रतिलिखेत्,
भूमि-भागं विचक्षणः।
स्नानस्य च वर्चसः,
संलोकं परिवर्जयेत् ॥ २५ ॥

२५—विचक्षण मुनि[105] मित-भूमि में ही[106] उचित भू-भाग का प्रतिलेखन करे। जहाँ से स्नान और शौच का स्थान[107] दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का[108] परिवर्जन करे।

२६—[109]दगमट्टियआयाणं
बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा
सव्विंदियसमाहिए ॥

दकमृतिकाऽऽदानं,
बीजानि हरितानि च।
परिवर्जयंस्तिष्ठेत्,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥ २६ ॥

२६—सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि[110] उदक और मिट्टी[111] लाने के मार्ग[112] तथा बीज और हरियाली[113] को वर्जकर खड़ा रहे।

२७—[114]तत्थ से चिट्ठमाणस्स
आहरे पाणभोयणं।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं[115] ॥

तत्र तस्य तिष्ठतः,
आहरेत् पान-भोजनम्।
अकल्पिकं न इच्छेत्,
प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकम् ॥ २७ ॥

२७—वहाँ खड़े हुए उस मुनि के लिए कोई पान-भोजन लाए तो वह अकल्पिक न ले। कल्पिक ग्रहण करे।

२८—[116]आहरंती सिया तत्थ
परिसाडेज्ज भोयणं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

आहरन्ती स्यात् तत्र,
परिशाटयेद् भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥२८॥

२८—यदि साधु के पास भोजन लाती हुई गृहिणी उसे गिराए तो मुनि उस देती हुई[117]स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

२९—सम्मद्दमाणी पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य।
असंजमकरिं नच्चा
तारिसं परिवज्जए॥

सम्मर्दयन्ती प्राणान्,
बीजानि हरितानि च।
असंयमकरीं ज्ञात्वा,
तादृशीं परिवर्जयेत्॥२९॥

२९—प्राणी, बीज और[118] हरियाली को कुचलती हुई स्त्री असयमकरी होती है—यह जान[119] मुनि उसके पास से भक्त-पान[120] न ले।

३०—साहट्टु निक्खिवित्ताणं
सचित्तं घट्टियाण य।
तहेव समणट्ठाए
उदगं संपणोल्लिया॥

संहृत्य निक्षिप्य,
सचित्तं घट्टयित्वा च।
तथैव श्रमणार्थं,
उदकं संप्रणुद्य॥३०॥

३१—आगाहइत्ता चलइत्ता
आहरे पाणभोयणं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

अवगाह्य चालयित्वा,
आहरेत्पान-भोजनम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥३१॥

३०-३१—एक वर्तन में से दूसरे वर्तन में निकाल कर[121], सचित्त वस्तु पर रखकर, सचित्त को हिलाकर, इसी तरह पात्रस्थ सचित्त जल को हिलाकर, जल में अवगाहन कर, आंगन में ढुले हुए जल को चालित कर श्रमण के लिये आहार-पानी लाए तो मुनि उस देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता[122]।

३२—पुरकम्मेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

पुरःकर्मणा हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥३२॥

३२—पुराकर्म-कृत[123] हाथ, कड़छी और वर्तन से[124] भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

३३—[125]एवं उदओल्ले ससिणिद्धे
ससरक्खे मट्टिया ऊसे।
हरियाले हिंगुलए
मणोसिला अंजणे लोणे॥

एवं उदकार्द्रः सस्निग्धः,
ससरक्षो मृत्तिका ऊषः।
हरितालं हिङ्गुलकं,
मनःशिला अञ्जनं लवणम्॥३३॥

३४—गेरुय वण्णिय सेडिय
सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य।
उक्कट्ठमसंसट्ठे
संसट्ठे चेव बोधव्वे॥

गैरिकं वर्णिका-सेटिका,
सौराष्ट्रिका-पिष्टं कुक्कुसकृतश्च।
उत्कृष्टमसंसृष्टः,
संसृष्टश्चैव बोद्धव्यः॥३४॥

३३-३४—इसी प्रकार जल से आर्द्र, सस्निग्ध,[126] सचित्त रज-कण,[127] मृत्तिका,[128] क्षार,[129] हरिताल, हिंगुल, मैनशिल, अञ्जन, नमक, गैरिक,[130] वर्णिका,[131] श्वेतिका,[132] सौराष्ट्रिका,[133] तत्काल पीसे हुए आटे[134] या कच्चे चावलो के आटे, अनाज के भूसे या छिलके[135] और फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तो के रस[136] से सने हुए (हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री) को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता तथा संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिये[137]।

३५—असंसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
पच्छाकम्मं जहिं भवे।

असंसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं नेच्छेत्,
पश्चात्कर्म यत्र भवेत् ॥३५॥

३५—जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो[138] वहाँ असंसृष्ट[139] (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार मुनि न ले।

३६—संसट्ठेण हत्थेण
दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे॥

संसृष्टेन हस्तेन,
दर्व्या भाजनेन वा।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत् ॥३६॥

३६—संसृष्ट[139] (भक्त-पान से लिप्त) हाथ, कड़छी और बर्तन से दिया जाने वाला आहार, जो वहाँ एषणीय हो, मुनि ले ले।

३७—[140]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा
छंदं से पडिलेहए॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
एकस्तत्र निमन्त्रयेत्।
दीयमानं न इच्छेत्,
छन्दं तस्य प्रतिलेखयेत ॥३७॥

३७—दो स्वामी या भोक्ता हो[141] और एक निमन्त्रित करे तो मुनि वह आहार न ले। दूसरे के अभिप्राय को देखे[142]—उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो ले ले।

३८—[143]दोण्हं तु भुंजमाणाणं
दोवि तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा
जं तत्थेसणियं भवे॥

द्वयोस्तु भुञ्जानयोः,
द्वावपि तत्र निमन्त्रयेयाताम्।
दीयमानं प्रतीच्छेत्,
यत्तत्रैषणीयं भवेत ॥३८॥

३८—दो स्वामी या भोक्ता हो और दोनों ही निमन्त्रित करें तो मुनि उस दीयमान आहार को, यदि वह एषणीय हो तो ले ले।

३९—गुव्विणीए उवन्नत्थं
विविहं पाणभोयणं।
भुञ्जमाणं विवज्जेज्जा
भुत्तसेसं पडिच्छए॥

गुर्विण्या उपन्यस्तं,
विविधं पान-भोजनम्।
भुज्यमानं विवर्जयेत्,
भुक्तशेषं प्रतीच्छेत ॥३९॥

३९—गर्भवती स्त्री द्वारा स्व-निमित्त बनाया हुआ विविध प्रकार का भक्त-पान वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे,[144] खाने के बाद बचा हो वह ले ले।

४०—सिया य समणट्ठाए
गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा
निसन्ना वा पुणुट्ठए॥

स्याच्च श्रमणार्थं,
गुर्विणी कालमासिनी।
उत्थिता वा निषीदेत,
निषण्णा वा पुनरुत्तिष्ठेत ॥४०॥

४१—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
दंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[146]॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४१॥

४०-४१—काल-मासवती[145] गर्भिणी खड़ी हो और श्रमण को भिक्षा देने के लिए कदाचित् बैठ जाए अथवा बैठी हो और खड़ी हो जाए तो उसके द्वारा दिया जाने वाला भक्त-पान संयमियों के लिए अकल्प्य होता है। इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार दिया जाने वाला आहार मैं नहीं ले सकता।

४२—थणगं पिज्जेमाणी
दारगं वा कुमारियं ।
त निक्खिवित्तु रोयंतं
आहरे पाणभोयणं ॥

स्तनकं पाययन्ती,
दारकं वा कुमारिकाम् ।
तं (ता) निक्षिप्य रुदन्तं,
आहरेत् पान-भोजनम् ॥४२॥

४३—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४३॥

४२-४३—बालक या बालिका को स्तन-पान कराती हुई स्त्री उसे रोते हुए छोड[१४७] भक्त-पान लाए, वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४४—जं भवे भत्तपाणं तु
कप्पाकप्पम्मि संकियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

यद्भवेद् भक्त-पानं तु,
कल्प्याकल्प्ये शङ्कितम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४४॥

४४—जो भक्त-पान कल्प और अकल्प की दृष्टि से शका-युक्त हो,[१४८] उसे देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

४५—दगवारएण पिहियं
नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण
सिलेसेण व केणइ ॥

'दगवारएण' पिहितं,
'नीसाए' पीठकेन वा ।
'लोढेण' वाऽपि लेपेन,
श्लेषेण वा केनचित् ॥४५॥

४६—तं च उब्भिदिया देज्जा
समणट्ठाए व दावए ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं[१४९] ॥

तच्चोद्भिद्य दद्यात्,
श्रमणार्थं वा दायकः ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४६॥

४५-४६—जल-कुभ, चक्की, पीठ, शिलापुत्र (लोढा), मिट्टी के लेप और लाख आदि श्लेष द्रव्यो से पिहित (ढंके, लिपे और मूँदे हुए) पात्र का श्रमण के लिए मुँह खोल कर, आहार देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।

४७—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
दाणट्ठा पगडं इमं ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा ।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
दानार्थं प्रकृतमिदम् ॥४७॥

४८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पान तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥४८॥

४७-४८—यह अशन, पानक,[१५०] खाद्य और स्वाद्य दानार्थ तैयार किया हुआ[१५१] है, मुनि यह जान जाए या सुन ले तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

४९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
पुण्णट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
पुण्यार्थं प्रकृतमिदम्॥४९॥

५०—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥५०॥

४९-५०—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया हुआ[152] है, मुनि यह जान जाय या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिये अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५१—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा
वणिमट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
वनीपकार्थं प्रकृतमिदम्॥५१॥

५२—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥५२॥

५१-५२—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ[153] है, मुनि यह जान जाय या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५३—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा।
समणट्ठा पगडं इमं॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
यज्जानीयात् शृणुयाद्वा,
श्रमणार्थं प्रकृतमिदम्॥५३॥

५४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥५४॥

५३-५४—यह अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य श्रमणों के निमित्त तैयार किया हुआ है, मुनि यह जान जाय या सुन ले तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

५५—उद्देसियं कीयगडं
पूईकम्मं च आहडं।
अज्झोयर पामिच्चं
मीसजायं च वज्जए॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं,
पूतिकर्म चाहृतम्।
अध्यवतर प्रामित्यं,
मिश्रजातं च वर्जयेत्॥५५॥

५५—औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म,[154] आहृत, अध्यवतर[155] प्रामित्य[156] और मिश्रजात[157] आहार मुनि न ले।

५६—उग्गमं से पुच्छेज्ज़ा
कस्सट्ठा केण वा कडं।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

उद्गमं तस्य पृच्छेत्,
कस्यार्थं केन वा कृतम्।
श्रुत्वा निःशङ्कितं शुद्धं,
प्रतिगृह्णीयात् संयतः ॥५६॥

५६—सयमी आहार का उद्गम पूछे। किस लिए किया है ? किसने किया है ?—इस प्रकार पूछे। दाता से प्रश्न का उत्तर सुनकर नि शकित और शुद्ध ले।

५७—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं
बीएसु हरिएसु वा ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
पुष्पैर्भवेदुन्मिश्रं,
बीजैर्हरितैर्वा ॥५७॥

५८—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥५८॥

५७-५८—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पुष्प, बीज और हरियाली से[१५८] उन्मिश्र हो[१५९] तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

५९—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्तं
उत्तिंगपणगेसु वा ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
उदके भवेन्निक्षिप्तं,
'उत्तिङ्ग'-'पनकेषु' वा ॥५९॥

६०—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६०॥

५९-६०—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य पानी, उत्तिग[१६०] और पनक[१६१] पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो[१६२] तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

६१—असणं पाणगं वा वि
खाइमं साइमं तहा।
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं
तं च संघट्टिया दए ॥

अशनं पानकं वाऽपि,
खाद्यं स्वाद्यं तथा।
तेजसि भवेन्निक्षिप्तं,
तच्च सङ्घट्य दद्यात् ॥६१॥

६२—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६२॥

६१-६२—यदि अशन, पानक, खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो और उसका (अग्नि का) स्पर्श कर[१६३] दे तो वह भक्त-पान सयति के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता।

६३-[१६४]एवं उस्सक्किया ओसक्किया
उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिंचिया निस्सिंचिया
ओवत्तिया ओयारिया दए ॥

एवमुत्ष्वक्य अवष्वष्क्य,
उज्ज्वाल्य प्रज्वाल्य निर्वाप्य ।
उत्सिच्य निषिच्य,
अपवर्त्य अवतार्य दद्यात् ॥६३॥

६४—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥६४॥

६३-६४—इसी प्रकार (चूल्हे में) इन्धन डालकर,[१६५] (चूल्हे से) इन्धन निकाल कर,[१६६] (चूल्हे को) उज्ज्वलित कर (सुलगा कर),[१६७] प्रज्वलित कर[१६८] (प्रदीप्त कर), बुझाकर,[१६९] अग्नि पर रखे हुए पात्र में से आहार निकाल कर, [१७०] पानी का छींटा देकर,[१७१] पात्र को टेढ़ा कर,[१७२] उतार कर,[१७३] दे तो वह भक्त-पान संयति के लिए अकल्पनीय है, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता ।

६५—होज्ज कट्ठं सिलं वा वि
इट्टालं वा वि एगया ।
ठवियं संकमट्ठाए
तं च होज्ज चलाचलं ॥

भवेत् काष्ठं शिला वाऽपि,
'इट्टालं' वाऽपि एकदा ।
स्थापितं संक्रमार्थं,
तच्च भवेच्चलाचलम् ॥६५॥

६६—[१७५]न तेण भिक्खू गच्छेज्जा
दिट्ठो तत्थ असंजमो ।
गंभीरं झुसिरं चेव
सव्विंदियसमाहिए ॥

न तेन भिक्षुर्गच्छेद्,
दृष्टस्तत्रासंयमः ।
गंभीरं शुषिरं चैव,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥६६॥

६५-६६—यदि कभी काठ, शिला या ईंट के टुकड़े[१७४] संक्रमण के लिए रखे हुए हों और वे चलाचल हों तो सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर होकर न जाए । इसी प्रकार वह प्रकाश-रहित और पोली भूमि पर से न जाए । भगवान् ने वहाँ असयम देखा है ।

६७—निस्सेणिं फलगं पीढं
उस्सवित्ताणमारुहे ।
मंचं कीलं च पासायं
समणट्ठाए व दावए ॥

निश्रेणिं फलकं पीठं,
उत्सृत्य आरोहेत् ।
मञ्चं कीलं च प्रासादं,
श्रमणार्थं वा दायकः (का) ॥६७॥

६८—दुरूहमाणी पवडेज्जा
हत्थं पायं व लूसए ।
पुढविजीवे वि हिंसेज्जा
जे य तन्निस्सिया जगा ॥

आरोहन्ती प्रपतेत्,
हस्तं पादं वा लूषयेत् ।
पृथिवी-जीवान् विहिंस्यात्,
यांश्च तन्निश्रितान् 'जगा' ॥६८॥

६९—एयारिसे महादोसे
जाणिऊण महेसिणो ।
तम्हा मालोहडं भिक्खं
न पडिगेण्हंति संजया ॥

एतादृशान्महादोषान्,
ज्ञात्वा महर्षयः ।
तस्मान्मालापहृतां भिक्षां,
न प्रतिगृह्णन्ति संयताः ॥६९॥

६७-६९—श्रमण के लिए दाता निसैनी, फलक, पीठ को ऊँचा कर, मचान,[१७६] स्तम्भ और प्रासाद पर (चढ़ भक्त-पान लाए तो साधु उसे ग्रहण न करे)। निसैनी आदि द्वारा चढ़ती हुई स्त्री गिर सकती है, हाथ, पैर टूट सकते है । उसके गिरने से नीचे दबकर पृथ्वी के तथा पृथ्वी-आश्रित अन्य जीवों की विराधना हो सकती है । अत ऐसे महादोषो को जानकर महर्षि—सयमी मालापहृत[१७७] भिक्षा नही लेते ।

७०—कंदं मूलं पलंबं वा
आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च
आमगं परिवज्जए॥

कन्दं मूलं प्रलम्बं वा,
आम छिन्नं वा 'सन्निरम्'।
तुम्बकं शृङ्गबेरञ्च,
आमकं परिवर्जयेत्॥७०॥

७०—अपक्व कंद, मूल, फल, छिला हुआ पत्ती का शाक,[१७८] घीया[१७९] और अदरक मुनि न ले।

७१—तहेव सत्तुचुण्णाइं
कोलचुण्णाइं आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं
अन्नं वा वि तहाविहं॥

तथैव सक्तु-चूर्णानि,
कोल-चूर्णानि आपणे।
शष्कुलीं फाणितं पूपं,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम्॥७१॥

७२—विक्कायमाणं पसढं
रएण परिफासियं।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

विक्रीयमाणं प्रसृतं, 'शठं'
रजसा परिस्पृष्टम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥७२॥

७१-७२—इसी प्रकार सत्तू,[१८०] वेर का चूर्ण,[१८१] तिल-पपड़ी,[१८२] गीला-गुड़ (राव), पूआ, इस तरह की दूसरी वस्तुएँ भी जो बेचने के लिए दुकान में रखी हो, परन्तु न बिकी हों,[१८३] रज से[१८४] स्पृष्ट (लिप्त) हो गई हों तो मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७३—बहु-अट्ठियं पुग्गलं
अणिमिसं वा बहु-कंटयं।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं
उच्छुखंडं व सिंबलिं॥

बह्वस्थिकं पुद्गलं,
अनिमिषं वा बहुकण्टकम्।
अस्थिकं तिन्दुकं बिल्वं,
इक्षुखण्डं वा शिम्बिम्॥७३॥

७४—अप्पे सिया भोयणजाए
बहु-उज्झिय-धम्मिए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

अल्प स्याद् भोजन-जातं,
बहु-उज्झित-धर्मकम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम्॥७४॥

७३-७४—बहुत अस्थि वाले पुद्गल, बहुत काँटों वाले अनिमिष,[१८५] आस्थिक,[१८६] तेन्दू[१८७] और बेल के फल, गण्डेरी और फली[१८८]—जिनमें खाने का भाग थोड़ा हो और डालना अधिक पड़े—देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७५—[१८९]तहेवुच्चावयं पाणं
अदुवा वारधोयणं।
संसेइमं चाउलोदगं
अहुणाधोयं विवज्जए॥

तथैवोच्चावचं पानं,
अथवा वार-धावनम्।
संस्वेदजं (संसेकजं) तण्डुलोदकं,
अधुना-धौतं विवर्जयेत्॥७५॥

७६—जं जाणेज्ज चिराधोयं
मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा
जं च निस्संकियं भवे॥

यज्जानीयाच्चिराद्धौतं,
मत्या दर्शनेन वा।
प्रतिपृच्छ्य श्रुत्वा वा,
यच्च निःशङ्कितं भवेत्॥७६॥

७५-७७—इसी प्रकार उच्चावच पानी[१९०] या गुड़ के घड़े का धोवन,[१९१] आटे का धोवन,[१९२] चावल का धोवन, जो अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो,[१९३] उसे मुनि न ले। अपनी मति[१९४] या दर्शन से, पूछकर या सुनकर जान ले—'यह धोवन चिरकाल का है' और निःशंकित हो जाए तो उसे जीव रहित

७७—अजीवं परिणयं नच्चा
पडिगाहेज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा
आसाइत्ताण रोयए॥

अजीवं परिणतं ज्ञात्वा,
प्रतिगृह्णीयात् संयतः।
अथ शंकितं भवेत्,
आस्वाद्य रोचयेत् ॥७७॥

और परिणत जानकर सयमी मुनि ले ले। यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नही—ऐसा सन्देह हो तो उसे चखकर लेने का निश्चय करे।

७८—थोवमासायणट्ठाए
हत्थगम्मि दलाहि मे।
मा मे अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्ह विणित्तए।

स्तोकमास्वादनार्थं,
हस्तके देहि मे।
मा मे अत्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम् ॥७८॥

७८—दाता से कहे—'चखने के लिए थोड़ा-सा जल मेरे हाथ में दो।' बहुत खट्टा,[१९५] दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ जल लेकर मैं क्या करूंगा ?

७९—तं च अच्चंबिलं पूइं
नालं तण्ह विणित्तए।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं॥

तच्चाऽत्यम्लं पूति,
नालं तृष्णां विनेतुम्।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥७९॥

७९—यदि वह जल बहुत खट्टा, दुर्गन्ध-युक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ हो तो देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का जल मैं नहो ले सकता।

८०—तं च होज्ज अकामेणं
विमणेण पडिच्छियं।
तं अप्पणा न पिवे
नो वि अन्नस्स दावए॥

तच्च भवेदकामेन,
विमनसा प्रतीप्सितम्।
तद् आत्मना न पिबेत्,
नो अपि अन्यस्मै दापयेत् ॥८०॥

८१—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्तं प्रतिलेख्य।
यतं परिस्था (ष्ठा) पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८१॥

८०-८१—यदि वह पानी अनिच्छा या असावधानी से लिया गया हो तो उसे न स्वय पीए और न दूसरे साधुओं को दे। परन्तु एकान्त में जा, अचित्त भूमि को[१९६] देख, यतना-पूर्वक[१९७] उसे परिस्थापित करे[१९८]। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे[१९९]।

८२—[२००]सिया य गोयरग्गगओ
इच्छेज्जा परिभोत्तुयं।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा
पडिलेहित्ताण फासुयं॥

स्याच्च गोचराग्रगतः,
इच्छेत् परिभोक्तुम्।
कोष्ठकं भित्तिमूलं वा,
प्रतिलेख्य प्रासुकम् ॥८२॥

८३—अणुन्नवेत्तु मेहावी
पडिच्छन्नम्मि संवुडे।
हत्थगं संपमज्जित्ता
तत्थ भुंजेज्ज संजए॥

अनुज्ञाप्य मेधावी,
प्रतिच्छन्ने संवृते।
हस्तकं संप्रमृज्य,
तत्र भुञ्जीत संयतः ॥८३॥

८२-८३—गोचराग्र के लिए गया हुआ मुनि कदाचित् आहार करना चाहे तो तो प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल[२०१] को देख कर, उसके स्वामी की अनुज्ञा लेकर[२०२] छाये हुए एव सवृत्त स्थल में[२०३] बैठे, हस्तक से[२०४] शरीर का प्रमार्जन कर मेधावी सयति वहाँ भोजन करे।

८४—तत्थ से भुंजमाणस्स
अट्ठियं कंटओ सिया।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि
अन्नं वा वि तहाविहं ॥

तत्र तस्य भुञ्जानस्य,
अस्थिकं कण्टकःस्यात्।
तृण-काष्ठ-शर्करा वाऽपि,
अन्यद्वाऽपि तथाविधम् ॥८४॥

८५—तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे
आसएण न छड्डए।
हत्थेण तं गहेऊणं
एगंतमवक्कमे ॥

तद् उत्क्षिप्य न निक्षिपेत्,
आस्यकेन न छर्दयेत्।
हस्तेन तद् गृहीत्वा,
एकान्तमवक्रामेत् ॥ ८५ ॥

८६—एगंतमवक्कमित्ता
अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा
परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥

एकान्तमवक्रम्य,
अचित्तं प्रतिलेख्य।
यतं परिस्था(ष्ठा)पयेत्,
परिस्था(ष्ठा)प्य प्रतिक्रामेत् ॥८६॥

८४-८६—वहाँ भोजन करते हुए मुनि के आहार में गुठली, कांटा,[205] तिनका, काठ का टुकड़ा, कंकड़ या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु निकले तो उसे उठाकर न फेंके, मुँह से न थूके, किन्तु हाथ में लेकर एकान्त में चला जाए। एकान्त में जा उचित भूमि को देख, यतना-पूर्वक उसे परिस्थापित करे। परिस्थापित करने के पश्चात् स्थान में आकर प्रतिक्रमण करे।

८७—[206]सिया य भिक्खू इच्छेज्जा
सेज्जमागम्म भोत्तुयं।
सपिंडपायमागम्म
उंडुयं पडिलेहिया ॥

स्याच्च भिक्षुरिच्छेत्,
शय्यामागम्य भोक्तुम्।
सपिण्डपात-मागम्य,
'उंडुय' प्रतिलेख्य ॥ ८७ ॥

८८—विणएण पविसित्ता
सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय
आगओ य पडिक्कमे ॥

विनयेन प्रविश्य,
सकाशे गुरोर्मुनिः।
ऐर्यापथिकीमादाय,
आगतश्च प्रतिक्रामेत् ॥ ८८ ॥

८७-८८—कदाचित्[207] भिक्षु शय्या (उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो भिक्षा सहित वहाँ आकर स्थान की प्रतिलेखना करे। उसके पश्चात् विनयपूर्वक[208] उपाश्रय में प्रवेश कर गुरु के समीप उपस्थित हो, 'इर्यापथिकी' सूत्र को पढ़कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे।

८९—आभोएत्ताण नीसेसं
अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव
भत्तपाणे व संजए ॥

आभोग्य निश्शेषम्,
अतिचारं यथाक्रमम्।
गमनागमने चैव,
भक्त-पाने च संयतः ॥ ८९ ॥

९०—उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो
अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे
जं जहा गहियं भवे ॥

ऋजुप्रज्ञः अनुद्विग्नः,
अव्याक्षिप्तेन चेतसा।
आलोचयेत् गुरुसकाशे,
यद् यथा गृहीतं भवेत् ॥ ९० ॥

८९-९०—आने-जाने में और भक्त-पान लेने में लगे समस्त अतिचारों को यथाक्रम याद कर ऋजु-प्रज्ञ, अनुद्विग्न संयति व्याक्षेप-रहित चित्त से गुरु के समीप आलोचना करे। जिस प्रकार से भिक्षा ली हो उसी प्रकार से गुरु को कहे।

९१—न सम्ममालोइयं होज्जा
पुव्विं पच्छा व जं कडं।
पुणो पडिक्कमे तस्स
वोसट्ठो चिंतए इमं॥

न सम्यगालोचितं भवेत्,
पूर्वं पश्चाद्वा यत्कृतम्।
पुनः प्रतिक्रामेत्तस्य,
व्युत्सृष्टश्चिन्तयेदिदम्॥९१॥

९१—सम्यक् प्रकार से आलोचना न हुई हो अथवा पहले पीछे की हो (आलोचना का क्रम-भङ्ग हुआ हो) उसका फिर प्रतिक्रमण करे, शरीर को स्थिर बना यह चिन्तन करे—

९२—अहो[209] जिणेहिं असावज्जा
वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स
साहुदेहस्स धारणा॥

अहो! जिनैः असावद्या,
वृत्तिः साधुभ्यो देशिता।
मोक्षसाधनहेतोः,
साधुदेहस्य धारणाय॥९२॥

९२—कितना आश्चर्य है—जिन भगवान् ने साधुओं के मोक्ष-साधना के हेतु-भूत संयमी-शरीर की धारणा के लिए निरवद्य-वृत्ति का उपदेश किया है।

९३—नमोक्कारेण पारेत्ता
करेत्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं
वीसमेज्ज खणं मुणी॥

नमस्कारेण पारयित्वा,
कृत्वा जिनसंस्तवम्।
स्वाध्यायं प्रस्थाप्य,
विश्राम्येत् क्षणं मुनिः॥९३॥

९३—इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को नमस्कार-मन्त्र के द्वारा पूर्ण कर जिन-संस्तव (तीर्थङ्कर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय की प्रस्थापना (प्रारम्भ) करे, फिर क्षण भर विश्राम ले[210]।

९४—वीसमंतो इमं चिंते
हियमट्ठं लाभमट्ठिओ[211]।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा
साहू होज्जामि तारिओ॥

विश्राम्यन् इमं चिन्तयेत्,
हितमर्थं लाभार्थिकः।
यदि मेऽनुग्रहं कुर्युः,
साधवो भवामि तारितः॥९४॥

९४—विश्राम करता हुआ लाभार्थी (मोक्षार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ का चिन्तन करे—यदि आचार्य और साधु मुझ पर अनुग्रह करें तो मैं निहाल हो जाऊँ—मानूँ कि उन्होंने मुझे भवसागर से तार दिया।

९५—साहवो तो चियत्तेणं
निमंतेज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा
तेहिं सद्धिं तु भुंजए॥

साधूस्ततः 'चियत्तेण',
निमन्त्रयेद् यथाक्रमम्।
यदि तत्र केचित् इच्छेयुः,
तैः सार्धं तु भुञ्जीत॥९५॥

९५—वह प्रेमपूर्वक साधुओं को यथाक्रम निमन्त्रण दे। उन निमन्त्रित साधुओं में से यदि कोई साधु भोजन करना चाहे तो उनके साथ भोजन करे।

९६—अह कोइ न इच्छेज्जा
तओ भुंजेज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू
जयं अपरिसाडयं[213]॥

अथ कोपि नेच्छेत्,
ततः भुञ्जीत एककः।
आलोके भाजने साधुः,
यतमपरिशाटयन्॥९६॥

९६—यदि कोई साधु न चाहे तो अकेला ही भोजन करे—खुले पात्र में[212] यतना-पूर्वक नीचे नहीं डालता हुआ।

९७—तित्तग व कडुयं व कसायं
अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एय लद्धमन्नट्ठ-पउत्तं
महु-घयं व भुंजेज्ज संजए॥

तिक्तक वा कटुकं वा कषायं,
अम्लं वा मधुरं लवणं वा।
एतल्लब्धमन्यार्थप्रयुक्तं,
मधुघृतमिव भुञ्जीत संयतः॥९७॥

९७—गृहस्थ के लिए बना हुआ[214]—तीता (तिक्त)[215] या कड़ुवा,[216] कसैला[217] या खट्टा,[218] मीठा[219] या नमकीन[220] जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधुघृत[221] की भाँति खाए।

९८—अरसं विरसं वा वि
सूइयं वा असूइयं ।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं
मन्थु-कुम्मास-भोयणं ॥

अरसं विरसं वाऽपि,
सूपितं (प्य) वा असूपितम् (प्यम्) ।
आर्द्रं वा यदि वा शुष्कं,
मन्थु-कुल्माष-भोजनम् ॥ ९८ ॥

९९—उप्पण्णं नाइहीलेज्जा
अप्पं पि बहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी
भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥

उत्पन्नं नातिहीलयेत्,
अल्प वा बहु प्रासुकम् ।
मुधालब्धं मुधाजीवी,
भुञ्जीत दोषवर्जितम् ॥ ९९ ॥

९८-९९—मुधाजीवी[222] मुनि अरस[223] या विरस,[224] व्यंजन सहित या व्यंजन रहित,[225] आर्द्र[226] या शुष्क,[227] मन्थु[228] और कुल्माष[229] का जो भोजन विधिपूर्वक प्राप्त हो उसकी निन्दा न करे। निर्दोष आहार अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है[230]। इसलिए उस मुधालब्ध[231] और दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले[232]।

१००—दुल्लहा उ मुहादाई
मुहाजीवी वि दुल्लहा ।
मुहादाई मुहाजीवी
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥
॥ ति बेमि ॥

दुर्लभास्तु मुधादायिनः,
मुधाजीविनोऽपि दुर्लभाः ।
मुधादायिनो मुधाजीविनः,
द्वावपि गच्छतः सुगतिम् ॥ १०० ॥
इति ब्रवीमि ।

१००—मुधादायी[233] दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनों सुगति को प्राप्त होते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

पिण्डैषणाया प्रथमः उद्देशः समाप्तः ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ५ (प्रथम उद्देशक)

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

प्रथम श्लोक में भिक्षु को यथासमय भिक्षा करने की आज्ञा दी गई है। भिक्षा-काल के उपस्थित होने के समय भिक्षु की वृत्ति कैसी रहे, इसका भी मार्मिक उल्लेख इस श्लोक में है। उसकी वृत्ति 'संभ्रम' और 'मूर्च्छा' से रहित होनी चाहिए। इन शब्दों की भावना का स्पष्टीकरण यथास्थान टिप्पणियों में आया है।

२. भिक्षा का काल प्राप्त होने पर (संपत्ते भिक्खकालम्मि क) :

जितना महत्त्व कार्य का होता है, उतना ही महत्त्व उसकी विधि का होता है। विना विधि से किया हुआ कार्य फल-दायक नहीं होता। काल का प्रश्न भी कार्य-विधि से जुड़ा हुआ है। जो कोई भी कार्य किया जाय वह क्यों किया जाय? कब किया जाय? कैसे किया जाय? ये शिष्य के प्रश्न रहते हैं। आचार्य इनका समाधान देते हैं—अमुक कार्य इसलिए किया जाय, इस समय में किया जाय और इस प्रकार किया जाय। यह उद्देश्य, काल और विधि का ज्ञान कार्य को पूर्ण बनाता है।

इस श्लोक में भिक्षा-काल का नामोल्लेख मात्र है[1]। काल-प्राप्त और अकाल भिक्षा का विधि-निषेध इसी अध्ययन के दूसरे उद्देशक के चौथे, पाँचवें और छट्टे श्लोक में मिलता है। वहाँ भिक्षा-काल में भिक्षा करने का विधान और असमय में भिक्षा के लिए जाने से उत्पन्न होने वाले दोषों का वर्णन किया गया है। प्रश्न यह है कि भिक्षा का काल कौन-सा है? सामाचारी अध्ययन में बतलाया गया है कि मुनि पहले प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान करे, तीसरे में भिक्षा के लिए जाए और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे[2]।

उत्सर्ग-विधि से भिक्षा का काल तीसरा प्रहर ही माना जाता रहा है[3]। "एगभत्तं च भोयणं[4]" के अनुसार भी भिक्षा का काल यही प्रमाणित होता है। किन्तु यह काल-विभाग सामयिक प्रतीत होता है। बौद्ध-ग्रन्थों में भी भिक्षु को एक भक्त-भोजी कहा है तथा उनमें भी यथाकाल भिक्षा प्राप्त करने का विधान है[5]।

प्राचीनकाल में भोजन का समय प्रायः मध्याह्नोत्तर था। संभवतः इसीलिए इस व्यवस्था का निर्माण हुआ हो, अथवा यह व्यवस्था विशेष अभिग्रह (प्रतिज्ञा) रखने वाले मुनियों के लिए हुई हो। कैसे ही हो पर एक बार भोजन करने वालों के लिए यह उपयुक्त समय है। इस औचित्य से इसे भिक्षा का सार्वत्रिक उपयुक्त समय नहीं माना जा सकता। सामान्यतः भिक्षा का काल वही है, जिस प्रदेश में जो समय लोगों के भोजन करने का हो। इसके अनुसार रसोई बनने से पहले या उसके उठने के बाद भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का अकाल है और रसोई बनने के समय भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का काल है।

१—(क) अ० चू० : भिक्खाण समूहो "भिक्षादिभ्योऽण्" [पाणि० ४ २ ३८] इति भैक्षम्, भेक्खस्स कालो तम्मि सपत्ते।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : भिक्खाए कालो भिक्खाकालो तमि भिक्खकाले सपत्ते।
(ग) हा० टी० प० १६३ : 'सप्राप्ते' शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते 'भिक्षाकाले' भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति।

२—उत्त० २६ १२ : पढमं पोरिसि सज्झायं बीयं झाणं झियायई।
तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीइ सज्झायं॥

३—उत्त० ३० २१ बृ० वृ० : उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम्।

४—दश० ६.२२।

५—(क) वि० पि० : महावग्ग पालि ५.१२।
(ख) The Book of the Gradual Sayings Vol IV VIII, V, 41 page 171.

३. असंभ्रांत (असंभंतो ख) :

भिक्षा-काल में बहुत से भिक्षाचर भिक्षा के लिए जाते हैं। मन में ऐसा भाव हो सकता है कि उनके भिक्षा लेने के बाद मुझे क्या मिलेगा ? मन की ऐसी दशा से गवेषणा के लिए जाने में शीघ्रता करना संभ्रान्त वृत्ति है।

ऐसी सम्भ्रान्त दशा में भिक्षु त्वरा—शीघ्रता करने लगता है। त्वरा से प्रतिलेखन में प्रमाद होता है। ईर्या समिति का शोधन नहीं होता। उचित उपयोग नहीं रह पाता। ऐसे अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। अतः आवश्यक है कि भिक्षा-काल के समय भिक्षु असम्भ्रान्त रहे अर्थात् अनाकुल भाव से यथा उपयोग भिक्षा की गवेषणा के लिए जाए[1]।

४. अमूर्च्छित (अमुच्छिओ ख) :

भिक्षा के समय सयम-यात्रा के लिए भिक्षा की गवेषणा करना विहित अनुष्ठान है। आहार की गवेषणा में प्रवृत्त होते समय भिक्षु की वृत्ति मूर्च्छारहित होनी चाहिए। मूर्च्छा का अर्थ है मोह, लालसा या आसक्ति। जो आहार में गृद्धि या आसक्ति रखता है, वह मूर्च्छित होता है। जिसे भोजन में मूर्च्छा होती है वही संभ्रान्त बनता है। यथा-लब्ध भिक्षा में सतुष्ट रहने वाला सम्भ्रान्त नहीं बनता। गवेषणा में प्रवृत्त होने के समय भिक्षु की चित्त-वृत्ति मूर्च्छारहित हो। वह अच्छे भोजन की लालसा या भावना से गवेषणा में प्रवृत्त न हो। जो ऐसी भावना से गवेषणा करता है उसकी भिक्षा-चर्या निर्दोष नहीं होती।

भिक्षा के लिए जाते समय विविध प्रकार के शब्द सुनने को मिलते हैं, रूप देखने को मिलते हैं। उनकी कामना से भिक्षु आहार की गवेषणा मे प्रवृत्त न हो। वह अमूर्च्छित रहते हुए अर्थात् आहार तथा शब्दादि में मूर्च्छा नहीं रखते हुए केवल आहार-प्राप्ति के अभिप्राय से गवेषणा करे, यह उपदेश है[2]।

अमूर्च्छाभाव को समझने के लिए एक दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है : एक युवा वणिक्-स्त्री अलंकृत, विभूषित हो, चारु वस्त्र धारण कर गोवत्स को आहार देती है। वह (गोवत्स) उसके हाथ से उस आहार को ग्रहण करता हुआ भी उस स्त्री के रग, रूप, आभरणादि के शब्द, गध और स्पर्श में मूर्च्छित नहीं होता। ठीक इसी प्रकार साधु विषयादि शब्दों में अमूर्च्छित रहता हुआ आहारादि की गवेषणा में प्रवृत्त हो[3]।

५. भक्त-पान (भत्तपाणं घ) :

जो खाया जाता है वह 'भक्त' और जो पीया जाता है वह 'पान' कहलाता है[4]। 'भक्त' शब्द का प्रयोग छट्टे अध्ययन के

१—(क) अ० चू० . असभतो 'मा वेला फिट्टिहिति, विलुप्पिहिति वा भिक्खयरेहिं भेक्ख' एतेण अत्थेण असंभतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : असंभतो नाम सव्वे भिक्खायरा पविट्ठा तेहिं उञ्छिए भिक्ख न लभिस्सामित्तिकाउं मा तूरेजा, तुरमाणो य पडिलेहणापमाद करेज्जा, रियं वा न सोधेज्जा, उवयोगस्स ण ठाएज्जा, एवमादी दोसा भवन्ति, तम्हा असंभन्तेण पडिलेहणं काऊण उवयोगस्स ठायित्ता अतुरिए भिक्खाए गतव्व।
(ग) हा० टी० प० १६३ : 'असभ्रान्त.' अनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थ ।
२—(क) अ० चू० : अमुच्छितो अमूढो भत्तगेहीए सद्दातिसु य।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ · 'मूर्च्छा मोहसमुच्छाययो.' ''''न मूर्च्छित. अमूर्च्छित', अमूर्च्छितो नाम समुयाणे मुच्छ अकुव्वमाणो सेसेसु य सद्दाइविसएसु।
(ग) हा० टी० प० १६३ · 'अमूर्च्छित.' पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमितिकृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति।
३—(क) जि० चू० पृ० १६७-६८ : दिट्ठतो वच्छओ वाणिगिणीए अलंकियविभूसियाए चारुवेसाएवि गोभत्तादी आहार दलयतीति तंमि गोभत्तादिम्मि उवउत्तो ण ताए इत्थियाए रूवेण वा तेसु वा आभरणसद्देसु ण वा गधफासेसु मुच्छिओ, एवं साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण '' ''भिक्खाहिंडियव्वत्ति।
४—अ० चू० . भत्त-पाण भजति खुहिया तमिति भत्त, पीयत इति पाणं भत्तपाणमिति समासो।

२२ वें श्लोक में भी हुआ है। वहाँ इसका अर्थ 'वार' है[१]। यहाँ इसका अर्थ तण्डुल आदि आहार है[२]। पूर्व-काल में विहार आदि जनपदों में चावल का भोजन प्रधान रहा है। इसलिए 'भक्त' शब्द का प्रधान अर्थ चावल आदि खाद्य बन गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'भक्त' का अर्थ तण्डुल आदि किया है[३]।

श्लोक २ :

६. श्लोक २ :

आहार की गवेषणा के लिए जो पहली क्रिया करनी होती है वह है चलना। गवेषणा के लिए स्थान से बाहर निकल कर साधु किस प्रकार गमन करे और कैसे स्थानों का वर्जन करता हुआ चले, उसका वर्णन इस श्लोक से लेकर १५ वें श्लोक तक में आया है।

७. गोचराग्र के लिए निकला हुआ (गोयरग्गगओ [ख]) :

भिक्षा-चर्या बारह प्रकार के तपों में से तीसरा तप है[४]। 'गोचराग्र' उसका एक प्रकार है[५]। उसके अनेक भेद होते हैं[६]। 'गोचर' शब्द का अर्थ है, गाय की तरह चरना—भिक्षाटन करना। गाय अच्छी-बुरी घास का भेद किए बिना एक ओर से दूसरी ओर चरती चली जाती है। वैसे ही उत्तम, मध्यम और अधम कुल का भेद न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार में राग-द्वेष न करते हुए जो सामुदानिक भिक्षाटन किया जाता है वह गोचर कहलाता है[७]।

चूर्णिकारद्वय लिखते हैं : गोचर का अर्थ है भ्रमण। जिस प्रकार गाय शब्दादि विषयों में गृद्ध न होते हुए आहार ग्रहण करती है, उसी प्रकार साधु भी विषयों में आसक्त न होते हुए सामुदानिक रूप से उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं। यही साधु का गोचराग्र है[८]।

गाय के चरने में शुद्धाशुद्ध का विवेक नहीं होता। मुनि सदोष आहार को वर्ज निर्दोष आहार लेते हैं, इसलिए उनकी

१—एग भत्त च भोयण।

२—हा० टी० प० १६३ : 'भक्तपान' यतियोग्यमोदनारनालादि।

३—कौटि० अर्थ० अ० १० प्रक० १४८-१४९ : भक्तोपकरण—(व्याख्या) भक्त तण्डुलादि उपकरण वस्त्रादि च।

४—उत्त० ३०.८ : अणसणमूणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
　　कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ॥

५—उत्त० ३०.२५ : अट्ठविहगोयरग्ग तु तहा सत्तेव एसणा।
　　अभिग्गहा य जे अन्ने भिक्खायरियमाहिया॥

६—उत्त० ३० १९ : पेडा य अद्धपेडा गोमुत्तिपयगवीहिया चेव।
　　सम्बुक्कावट्टायथगन्तुपच्चागया छट्ठा॥

७—हा० टी० प० १८ : गोचर· सामयिकत्वाद् गोरिव चरण गोचरोऽन्यथा गोचार·······गौश्चरत्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्य, न विभवमङ्गीकृत्योत्तमाधममध्यमेषु कुलेष्विति, वणिग्वत्सकदृष्टान्तेन वेति।

८—(क) अ० चू० : गोरिव चरण गोयरो, तहा सद्दादिसु असुच्छितो जहा सो वच्छगो।

(ख) जि० चू० पृ० १६७-६८ · गोयरो नाम भ्रमण'''' "जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाणीओ आहारमाहारेंति, दिट्ठतो वच्छओ''एव साधुणावि विसएसु असज्जमाणेण समुदाणे उग्गमउप्पायणासुद्धे निवेसियबुद्धिणा भरतदुट्ठेण भिक्खा हिंडियव्वत्ति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : गोरिव चरण गोचर—उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्।

भिक्षा-चर्या साधारण गोचर्या से आगे बढ़ी हुई—विशेषता वाली होती है। इस विशेषता की ओर संकेत करने के लिए ही गोचर के बाद 'अग्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा गोचर तो चरकादि अन्य परिव्राजक भी करते हैं किन्तु आधाकर्मादि आहार ग्रहण न करने से ही उसमें विशेषता आती है। श्रमण निर्ग्रन्थ की चर्या ऐसी होती है अतः यहाँ अग्र—प्रधान शब्द का प्रयोग है[1]।

८. वह (से क) :

हरिभद्र कहते हैं 'से' अर्थात् जो असभ्रांत और अमूर्च्छित है वह मुनि[2]। जिनदास लिखते हैं 'से' शब्द संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा भिक्षु का संकेतक है[3]। यह अर्थ अधिक संगत है क्योंकि ऐसे मुनि की भिक्षा-चर्या की विधि का ही इस अध्ययन में वर्णन है। अगस्त्यसिंह के अनुसार 'से' शब्द वचनोपन्यास है[4]।

९. मुनि (मुणी ख) :

मुनि और ज्ञानी एकार्थक शब्द है[5]। जिनदास के अनुसार मुनि चार प्रकार के होते हैं—नाम-मुनि, स्थापना-मुनि, द्रव्य-मुनि और भाव-मुनि। उदाहरण के लिए जो रत्न आदि की परीक्षा कर सकता है वह द्रव्य-मुनि है। भाव-मुनि वह है जो संसार के स्वभाव—असली स्वरूप को जानता हो। इस दृष्टि से सम्यग्दृष्टि साधु और श्रावक दोनों भाव-मुनि होते हैं। इस प्रकरण में भाव-साधु का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि उसी की गोचर्या का यहाँ वर्णन है।

१०. धीमे-धीमे (मंदं ग) :

असंभ्रात शब्द मानसिक अवस्था का द्योतक है और 'मन्द' शब्द चलने की क्रिया (चरे) का विशेषण[6]। साधु जैसे चित्त से असंभ्रात हो—क्रिया करने में त्वरा न करे वैसे ही गति में मन्द हो—धीमे-धीमे चले[7]। जिनदास लिखते हैं—मन्द चार तरह के होते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव मन्द। उनमें द्रव्य-मन्द उसे कहते हैं जो शरीर से प्रतनु होता है। भाव-मन्द उसे कहते हैं जो अल्पबुद्धि हो। यहाँ तो गति-मन्द का अधिकार है।

१—(क) अ० चू० : गोयर अग्ग गोतरस्स वा अग्ग गतो, अग्ग पहाण। कहं पहाणं? एसणादिगुणजुत, ण उ चरगादीण अपरिक्खिते सणाणं।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : गोयरो चेव अग्ग अग्ग तंमि गओ गोयरग्गगओ, अग्ग नाम पहाणं भण्णइ, सो य गोयरो साहूणमेव पहाणो भवति, न उ चरगाईणं आहाकम्मुद्देसियाइभुंजगाणंति।

(ग) हा० टी० प० १६३ : अग्रः—प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन।

२—हा० टी० प० १६३ : 'से' इत्यसंभ्रांतोऽमूर्च्छितः।

३—जि० चू० पृ० १६७ : 'से' त्ति निद्देसे, किं निद्दिसति ?, जो सो संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मो भिक्खू तस्स निद्देसोत्ति।

४—अ० चू० : से इति वयणोवण्णासे।

५—(क) अ० चू० : मुणी विण्णाणसपण्णो, दव्वे हिरण्णादिमुणतो भावमुणी विदितससारसब्भावो साधू।

(ख) जि० चू० पृ० १६८ : मुणीणाम णाणित्ति वा मुणित्ति वा एगट्ठा, सो य मुणी चउव्विहो भणिओ, ... दव्वमुणी जहा रयणपरिक्खगा एवमादि, भावमुणी जहा संसारसहावजाणगा साहुणो सावगा वा, एत्थ साहूहिं अधिगारो।

(ग) हा० टी० प० १६३ : मुनि—भावसाधुः।

६—(क) अ० चू० : मंद असिग्घं। असभंतं—मंद विसेसो—असभंतो चेयसा मंदो क्रियया।

(ख) हा० टी० प० १६३ : 'मन्द' शनैः शनैर्न द्रुतमित्यर्थः।

७—जि० चू० पृ० १६८ : मंदो चउव्विहो...... दव्वमदो जो तणुयसरीरो एवमाइ, भावमदो जस्स बुद्धी अप्पा एवमादी,...... इह पुण गतिमदेण अहिगारो।

११. अनुद्विग्न (अणुव्विग्गो ग) :

अनुद्विग्न का अर्थ है परीषह से न डरने वाला, प्रशान्त। तात्पर्य यह है—भिक्षा न मिलने या मनोनुकूल भिक्षा न मिलने के विचार से व्याकुल न होता हुआ तथा तिरस्कार आदि परीषहों की आशका से क्षुब्ध न होता हुआ गमन करे[1]।

१२. अव्याक्षिप्त चित्त से (अव्वक्खित्तेण चेयसा घ) :

जिनदास के अनुसार इसका अर्थ है आर्तध्यान से रहित अतःकरण से, पैर उठाने में उपयोग युक्त होकर[2]। हरिभद्र के अनुसार अव्याक्षिप्त चित्त का अर्थ है—वत्स और वणिक् पत्नी के दृष्टान्त के न्याय से शब्दादि में अतःकरण को नियोजित न करते हुए, एषणा समिति से युक्त होकर।

भावार्थ यह है कि चलते समय मुनि चित्त में आर्तध्यान न रखे, उसकी चित्तवृत्ति शब्दादि विषयों में आसक्त न हो तथा पैर आदि उठाते समय वह पूरा उपयोग रखता हुआ चले।

गृहस्थों के यहाँ साधु को प्रिय शब्द, रूप, रस और गन्ध का सयोग मिलता है। ऐसे सयोग की कामना अथवा आसक्ति से साधु गमन न करे। वह केवल आहार गवेषणा की भावना से गमन करे।

इस सम्बन्ध में टीकाकार ने वत्स और वणिक् वधू के दृष्टान्त की ओर सकेत किया है। जिनदास ने गोचराग्र शब्द की व्याख्या में इस दृष्टान्त का उपयोग किया है। हमने इसका उपयोग प्रथम श्लोक में आये हुए 'असुच्छिओ' शब्द की व्याख्या में किया है। पूरा दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है :

"एक वणिक् के घर एक छोटा बछड़ा था। वह सब को बहुत प्रिय था। घर के सारे लोग उसकी बहुत सार-सभार करते थे। एक दिन वणिक् के घर जीमनवार हुआ। सारे लोग उस में लग गये। बछड़े को न घास डाली गई और न पानी पिलाया गया। दुपहरी हो गई। वह भूख और प्यास के मारे रंभाने लगा। कुल वधू ने उसको सुना। वह घास और पानी को लेकर गई। घास और पानी को देख बछडे की दृष्टि उन पर टिक गई। उसने कुल वधू के बनाव और शृङ्गार की ओर ताका तक नहीं। उसके मन में विचार तक नही आया कि उसके रूप-रग और शृंगार को देखे।"

दृष्टान्त का सार यह है कि बछडे की तरह मुनि भिक्षाटन की भावना से अटन करे। रूप आदि को देखने की भावना से चचल चित्त हो गमन न करे।

श्लोक ३ :

१३. श्लोक ३ :

द्वितीय श्लोक में भिक्षा के लिए जाते समय अव्याक्षिप्त चित्त से और मद गति से चलने की विधि कही है। इस श्लोक में भिक्षु किस प्रकार और कहाँ दृष्टि रख कर चले इसका विधान है।

१४. आगे (पुरओ क) :

पुरत·—अग्रत आगे के मार्ग को। चौथे चरण में 'य'—'च' शब्द आया है। जिनदास का कहना है कि 'च' का अर्थ

१—(क) अ० चू० · अणुव्विग्गो अभीतो गोयरगताण परीसहोवसग्गाण।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : उव्विग्गो नाम भीतो, न उव्विग्गो अणुव्विग्गो, परीसहाण अभीउत्ति वुत्त भवति।
(ग) हा० टी० प० १६३ . 'अनुद्विग्न' प्रशान्त· परीषहादिभ्योऽबिभ्यत्।
२—(क) अ० चू० : वक्खित्त अक्खणीत, ण कहिंचि अक्खणीएण 'चेतसा' चित्तेण।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम णो अट्टज्झाणोवगओ उक्खेवादिसुवउत्तो।
(ग) हा० टी० प० १६३ : 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा' वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन 'चेतसा' अन्त·करणेन एषणोपयुक्तेन।

है—कुत्ते आदि से रक्षा की दृष्टि से दोनों पार्श्व और पीछे भी उपयोग रखना चाहिए[1]।

१५. युग-प्रमाण भूमि को (जुगमायाए [क] ...महिं [ख]) :

ईर्या-समिति की यतना के चार प्रकार है[2]। यहाँ द्रव्य और क्षेत्र की यतना का उल्लेख किया गया है। जीव-जन्तुओं को देखकर चलना यह द्रव्य-यतना है। युग-मात्र भूमि को देखकर चलना यह क्षेत्र-यतना है[3]।

जिनदास महत्तर ने युग का अर्थ 'शरीर' किया है[4]। शान्त्याचार्य ने युग-मात्र का अर्थ चार हाथ प्रमाण किया है[5]। युग शब्द का लौकिक अर्थ है गाड़ी का जुआ। वह लगभग साढ़े तीन हाथ का होता है। मनुष्य का शरीर भी अपने हाथ से इसी प्रमाण का होता है। इसलिए युग का 'सामयिक' अर्थ शरीर किया है।

यहाँ युग शब्द का प्रयोग द्व्यर्थक—दो अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए है। सूत्रकार इसके द्वारा ईर्या-समिति के क्षेत्र-मान और उसके संस्थान इन दोनों की जानकारी देना चाहते हैं।

युग शब्द गाड़ी से सम्बन्धित है। गाड़ी का आगे का भाग संकड़ा और पीछे का भाग चौड़ा होता है। ईर्या-समिति से चलने वाले मुनि की दृष्टि का सस्थान भी यही बनता है[6]।

यदि चलते समय दृष्टि को बहुत दूर डाला जाए तो सूक्ष्म शरीर वाले जीव देखे नहीं जा सकते और उसे अत्यन्त निकट रखा जाए तो सहसा पैर के नीचे आने वाले जीवों को टाला नहीं जा सकता, इसलिए शरीर-प्रमाण क्षेत्र देखकर चलने की व्यवस्था की गई है[7]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जुगमादाय' ऐसा पाठ-भेद माना है। उसका अर्थ है—युग को ग्रहण कर अर्थात् युग जितने क्षेत्र को लक्षित कर भूमि को देखता हुआ चले[8]।

१—(क) अ० चू० : पुरतो अग्गतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : पुरओ नाम अग्गओ × × × × चकारेण य सुणमाईण रक्खणट्ठा पासओवि पिट्ठओवि उवओगो कायव्वो।

२—उत्त० २४.६ : दव्वओ खेत्तओ चेव कालओ भावओ तहा।
जायणा चउव्विहा वुत्ता त मे कित्तयओ सुण॥

३—उत्त० २४.७-८ : दव्वओ चक्खुसा पेहे जुगमित्त च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा उवउत्ते य भावओ॥
इन्दियत्थे विवज्जित्ता सज्झाय चेव पचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे उवउत्ते रियं रिए॥

४—जि० चू० पृ० १६८ : जुग सरीर भण्णइ।

५—उत्त० २४.७ वृ० वृ० : युगमात्र च चतुर्हस्त प्रमाण प्रस्तावात् क्षेत्र।

६—(क) अ० चू० जुगमिति बलिवद्दसंठाणण सरीर वा तावम्मत्तं पुरतो, अंतो सकुयाए बाहिं वित्थडाए दिट्ठीए, मायाए मात्रासद्दो अवधारणे।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : तावमेत्तं पुरओ अंतो सकुडाए बाहिं वित्थडाए सगडुद्धिसंठियाए दिट्ठीए।

७—(क) अ० चू० : 'सुहुमसरीरे दूरतो ण पेच्छति' त्ति न परतो 'आसण्णो न तरति सहसा वट्टावेतु' ति ण आरतो।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : दूरनिपायदिट्ठी पुण विप्पगिट्ठ सुहुमसरीरं वा सत्त न पासइ, अतिसन्निकिट्ठदिट्ठीवि सहसा दट्ठूण ण सक्केइ पाद पडिसाहरिउं, चकारेण य सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओवि पिट्ठओवि उवओगो कायव्वो।

८—अ० चू० : अहवा "पुरतो जुगमादाय" इति चक्खुसा तावतियं परिगिज्झ पेहमाण इति, एतेण अग्गत इक्खणेण, आसादिपतण रक्खणत्थं अतरतरे पासतो मग्गतो य इक्खमाणो।

'सव्वतो जुगमायाय' इस पाठ-भेद का निर्देश भी दोनों चूर्णिकार करते हैं। इसका अर्थ है थोड़ी दूर चलकर दोनों पार्श्वों में और पीछे अर्थात् चारों ओर युग-मात्र भूमि को देखना चाहिए[1]।

१६. बीज, हरियाली (बीयहरियाइं ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर की चूर्णि के अनुसार बीज से वनस्पति के दश प्रकारों का ग्रहण होता है। वे ये हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज[2]। 'हरित' शब्द के द्वारा बीजरुह वनस्पति का निर्देश किया है[3]। जिनदास महत्तर की चूर्णि के अनुसार 'हरित' शब्द वनस्पति का सूचक है[4]।

१७. प्राणी (पाणे घ) :

प्राण शब्द द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों का संग्राहक है[5]।

१८. जल तथा सजीव-मिट्टी (दगमट्टियं घ) :

'दगमट्टिय' शब्द आगमों में अनेक जगह प्रयुक्त है। अखण्ड-रूप में यह भींगी हुई सजीव मिट्टी के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। आचाराङ्ग (२.१.२२४) में यह शब्द आया है। वृत्तिकार शीलाङ्काचार्य ने यहाँ इसका अर्थ उदक-प्रधान मिट्टी किया है[6]।

चूर्णिकार और टीककार इस श्लोक तथा इसी अध्ययन के पहले उद्देशक के २६ वें श्लोक में आए हुए 'दग' और 'मट्टिया' इन दोनों शब्दों को अलग-अलग ग्रहण कर व्याख्या करते हैं[7]। टीकाकार हरिभद्र ने अपनी आवश्यक वृत्ति में इनकी व्याख्या अखंड और खण्ड—दोनों प्रकार से की है[8]। निशीथ चूर्णिकार ने भी इसके दो विकल्प किये हैं[9]।

हरिभद्र कहते हैं 'च' शब्द से तेजस्काय और वायुकाय का भी ग्रहण करना चाहिए[10]। चूर्णिकार द्वय के अनुसार

१—(क) अ० चू० : पाढतर वा "सव्वतो जुगमादाय" नाति अब्भतर णातिदूर।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : अन्ने पढति—'सव्वत्तो जुगमायाए' नातिदूर गतूण पासओ पिट्ठओ य निरिक्खियव्व।

२—(क) अ० चू० : 'बीय-हरिताइं' एतेण वणस्सतिभेदा पभूय त्ति बीय हरितवयण बीयवयणेण वा दस भेदा भणिता।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : बीयगहणेण बीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिण्णस्स वणप्फइकायस्स गहण कय।

३—अ० चू० : हरितग्गहणेण जे बीयरुहा ते भणिता।

४—जि० चू० पृ० १६८ : अहवा हरियगहणेण सव्ववणप्फई गहिया।

५—(क) अ० चू० : 'पाणा' बेइंदियादितसा।
(ख) जि० चू० पृ० १६८ : पाणग्गहणेण बेइंदियाईणं तसाणं गहण।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्।

६—आचा० २.१.२२४ वृ० : उदक प्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति।

७—(क) अ० चू० : ओसादि भेद पाणित दग, मट्टियाणवगणिवेसात्तिपुढविक्कातो।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : दगग्गहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ, मट्टियागहणेण जो पुढविक्काओ अडवीओ आणिओ सन्निवेसे वा गामे वा तस्स गहण।
(ग) हा० टी० प० १६४ : 'उदकम्' अप्काय 'मृत्तिकां च' पृथिवीकायं।

८—आ० हा० वृ० पृ० ५७३ : दगमृत्तिका चिक्खलम् अथवा दकग्रहणादप्काय मृत्तिका ग्रहणात् पृथ्वीकाय।

९—नि० चू० (७.७४) दगपाणीय, कोमारा-मट्टिया, अथवा उल्लिया मट्टिया।

१०—हा० टी० प० १६४ : च शब्दात्तेजोवायुपरिग्रह।

दगमट्टिका के ग्रहण से अग्नि और वायु का भी ग्रहण करना चाहिये[1]।

१६. श्लोक ४-६ :

चौथे श्लोक में किस मार्ग से साधु न जाय, इसका उल्लेख है। वर्जित-मार्ग से जाने पर जो हानि होती है, उसका वर्णन पाँचवें श्लोक में है। छट्ठे श्लोक में पाँचवे श्लोक में बताये हुए दोषों को देखकर विषम-मार्ग से जाने का पुनः निषेध किया है। यह औत्सर्गिक-मार्ग है। कभी चलना पड़े तो सावधानी के साथ चलना चाहिए—यह अपवादिक-मार्ग छट्ठे श्लोक के द्वितीय चरण में दिया हुआ है।

श्लोक ४ :

२०. गड्ढे (ओवायं [क]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'अवपात' का अर्थ 'खड्डा' या 'गड्ढा' किया है[2]। अगस्त्यसिंह ने नीचे गिरने को 'अवपात कहा है[3]।

२१. ऊबड़-खाबड़ भू-भाग (विसमं [क]) :

अगस्त्यसिंह ने खड्डा, कूप, झिरिंड (जीर्ण कूप) और ऊँचे-नीचे स्थान को 'विषम' कहा है[4]। जिनदास और हरिभद्र ने निम्नोन्नत स्थान को 'विषम' कहा है[5]।

२२. कटे हुए सूखे पेड़ या अनाज के डंठल (खाणुं [क]) :

कुछ ऊपर उठे हुए काष्ठ विशेष को स्थाणु कहते हैं[6]।

२३. पंकिल मार्ग को (विज्जलं [ख]) :

यानी सूख जाने पर जो कर्दम रहता है उसे 'विजल' कहते हैं। कर्दमयुक्त मार्ग को 'विजल' कहा जाता है[7]।

१—(क) अ० चू० : गमणे अग्गिस्स मंदो संभवो, दाहभएण य परिहरिज्जति वायुराकाशव्यापीति ण सव्वहा परिहरणमिति न साक्षादभिधानमिति। प्रकारवयणेण वा सव्वजीवणिकायाभिहाण, तावमपि वज्जितो।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : एगग्गहणे गहणं तज्जाईयाणमितिकाउ अगणिवाउणोवि गहिया।

२—(क) जि० चू० पृ० १६६ : ओवाय नाम खड्डा, जत्थ हेट्ठाभिमुहेहिं अवयरिज्जइ।

(ख) हा० टी० प० १६४ : 'अवपात' गर्तादिरूपम्।

३— अ० चू० : अहो पतणमोवातो।

४—अ० चू० : खड्डा-कूव-झिरिंडाती णिण्णुण्णय विसम।

५—(क) जि० चू० पृ० १६६ : विसमं नाम निण्णुण्णय।

(ख) हा० टी० प० १६४ : 'विषमं' निम्नोन्नतम्।

६—(क) अ० चू० : णाति उच्चो उद्धट्ठिय दारुविसेसो खाणू।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : खाणू नाम कट्ठ उद्धाहुत्त।

(ग) हा० टी० प० १६४ : 'स्थाणुम्' ऊर्ध्वकाष्ठम्।

७—(क) अ० चू० : विगयमात्र जतो जल तं विज्जल (चिक्खलो)।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : विगय जलं जत्थ त विज्जलं।

(ग) हा० टी० प० १६४ : विगतजलं कर्दमम्।

२४. संक्रम…के ऊपर से (संकमेण ग) :

जल या गड्ढे को जिसके सहारे सक्रमण—पार किया जाता है—उसे 'संक्रम' कहा जाता है। सक्रम पाषाण या काष्ठ का बना होता है[1]।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में जल-सक्रमण के अनेक उपाय बताए गए हैं, उनमें एक स्तम्भ-संक्रम भी है[2]। व्याख्याकार ने स्तम्भ-सक्रम का अर्थ खम्भों के आधार पर निर्मित काष्ठ फलक आदि का पुल किया है[3]।

यहाँ संक्रम का अर्थ है जल, गड्ढे आदि को पार करने के लिए काष्ठ आदि से बांधा हुआ मार्ग। संक्रम का अर्थ विकट-मार्ग भी होता है[4]।

२५. (विज्जमाणे परक्कमे घ) :

हरिभद्रसूरि ने 'विज्जमाणे परक्कमे' इन शब्दों को 'ओवाय' आदि समस्त मार्गों के लिए अपवाद स्वरूप माना है। जब कि जिनदास ने इनका सबध केवल 'सक्रम' के साथ ही रखा है[5]। श्लोक ६ को देखते हुए इस अपवाद का सम्बन्ध सभी मार्गों के साथ है[6]। अतः अर्थ भी इस बात को ध्यान में रखकर किया गया है।

श्लोक ५ :

२६. श्लोक ५ :

पाँचवें श्लोक मे विषम-मार्ग में चलने से उत्पन्न होने वाले दोष बतलाए गए हैं। दोष दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और चारित्रिक। पहले प्रकार के दोष शरीर की और दूसरे प्रकार के दोष चरित्र की हानि करते हैं। गिरने और लड़खड़ाने से हाथ, पैर आदि टूट जाते हैं यह आत्म-विराधना है—शारीरिक हानि है। त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है यह सयम-विराधना है—चारित्रिक हानि है[7]। अगस्त्यसिंह के अनुसार शारीरिक दोष का विधान सूत्र में नहीं है परन्तु यह दोष वृत्ति में प्रतिभासित होता है[8]।

१—(क) अ० चू० : पाणिय-विसमत्थाणाति सकमण कत्तिम सकमो।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : सकमिज्जति जेण सकमो, सो पाणियस्स व गड्डाए वा भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १६४ · 'सक्रमेण' जलगर्तापरिहारायपाषाणकाष्ठरचितेन।

२—कौटि० अर्थ० १०.२ : हस्तिस्तम्भसक्रमसेतुबन्धनौकाष्ठवेणुसघातै, अलाबुचर्मकरण्डदृतिप्लवगण्डिकावेणिकाभिश्च उदकानि तारयेत्॥

३—वही [व्याख्या] · स्तम्भसक्रमै —स्तम्भानामुपरि दारुफलकादिघटनया कल्पितै· सक्रमै·।

४—अ० चि० ६.१५३ · सक्रामसक्रमौ दुर्गसञ्चरे।

५—जि० चू० पृ० १६६ · तेण संकमेण विज्जमाणे परक्कमे णो गच्छेज्जा।

६—जि० चू० पृ० १६६ · जम्हा एते दोसा तम्हा विज्जमाणे गमणपहे ण सपच्चवाएण पहेण संजएण ससमाहिएण गंतव्व।

७—अ० चू० : तस्स पवडेंतस्स पक्खुलतस्स ज हत्थ-पादादिभूसण रायकरणाति त सव्वजणप्रतीतिमिति ण छत्ते, वृत्तीए विभासिज्जति।

८—(क) जि० चू० पृ० १६६ : इदाणि आतविराहणा सजमविराहणा य दोवि भण्णति।

(ख) जि० चू० पृ० १६६ : ते तत्थ पवडंते वा पक्खलंते वा हत्थाइलूसण पावेज्जा, तसथावरे वा जीवे हिंसेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६४ : अधुना तु आत्मसयमविराधनापरिहारमाह ·····आत्मसयमविराधनासम्भवात्।

श्लोक ६ :

२७. दूसरे मार्ग के होते हुए (सइ अन्नेण मग्गेण ग) :

'संति' अर्थात् अन्य मार्ग हो तो विषम मार्ग से न जाया जाए[1]। दूसरा मार्ग न होने पर साधु विषम मार्ग से भी जा सकता है, इस अपवाद की सूचना इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट है।

'अन्नेण मग्गेण' हरिभद्रसूरि के अनुसार यहाँ सप्तमी के अर्थ में तृतीया का प्रयोग है[2]।

२८. यतनापूर्वक जाय (जयमेव परक्कमे घ) :

'जयं'—यतम् शब्द क्रिया-विशेषण है। परक्कमे (पराक्रमेत्) क्रिया है। यतनापूर्वक अर्थात् आत्मा और संयम की विराधना का परिहार करते हुए चले। गर्ताकीर्ण आदि मार्गों से जाने का निषेध है पर यदि अन्य मार्ग न हो तो गर्ताकीर्ण आदि मार्ग से ही इस प्रकार जाय कि आत्म-विराधना और सयम-विराधना न हो[3]।

२९. अगस्त्य चूर्णि में छठे श्लोक के पश्चात् निम्न श्लोक आता है :

चलं कट्ठं सिलं वा वि, इट्टालं वा वि संकमो।
न तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥

इसका अर्थ है हिलते हुए काष्ठ, शिला, ईंट एव सक्रम पर से साधु न जाए। कारण ज्ञानियों ने वहाँ असंयम देखा है।

चूर्णिकार के अनुसार दूसरी परम्परा के आदर्शों में यह श्लोक यहाँ नहीं है, आगे है[4]। किन्तु उपलब्ध आदर्शों में यह श्लोक नहीं मिलता। जिनदास और हरिभद्र की व्याख्या के अनुसार ६४ वें श्लोक के पश्चात् इसी आशय के दो श्लोक उपलब्ध होते हैं।

होज्ज कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वावि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए, तं च होज्ज चलाचलं॥ ६५॥
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव, सव्विदिए समाहिए॥ ६६॥

श्लोक ७ :

३०. श्लोक ७ :

चलते समय साधु किस प्रकार पृथ्वीकाय के जीवों की यतना करे—इसका वर्णन इस श्लोक में है।

१—(क) अ० चू० : सतीति विज्जमाणे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : 'सति' त्ति जदि अण्णो मग्गो अत्थि तो तेण न गच्छेज्जा।
२—हा० टी० प० १६४ : 'सति-अन्येन' इति—अन्यस्मिन् समादौ 'मार्गेण' इति मार्गे, छान्दसत्वात्सप्तम्यर्थे तृतीया।
३—(क) अ० चू० : असति जयमेव ओवातातिणा परक्कमे।
(ख) जि० चू० पृ० १६६ : जयमेव परक्कमे णाम जति अण्णो मग्गो नत्थि ता तेणवि य पहेण गच्छेज्जा जहा आयसंजमविराहणा ण भवइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ : असति त्वन्यस्मिन्मार्गे तेनैवावपातादिना..........यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति। यतमिति क्रियाविशेषणम्।
४—अ० चू० : अय केसिचि सिलोगो उवरि भणिहिति।

३१. सचित्त-रज से भरे हुए पैरों से (ससरक्खेहिं पायेहिं ग) :

जिनदास और हरिभद्र ने इसका अर्थ किया है—सचित्त पृथ्वीकाय के रज-कण से गुण्डित पैरों से[1]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने राख-कण जैसे सूक्ष्म रज-कणों को 'ससरक्ख' माना है तथा 'पाय' शब्द को जाति में एकवचन माना है[2]।

'ससरक्खेहिं' शब्द की विशेष व्याख्या के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पण नं० ६६ (पृ० १६०-६१)।

३२. कोयले (इंगालं···रासिं क) :

आङ्गार-राशि—अङ्गार के ढेर। अङ्गार—पूरी तरह न जली हुई लकड़ी का बुझा हुआ अवशेष। इसका अर्थ दहकता हुआ कोयला भी होता है[3]।

३३. ढेर के (रासिं ख) :

मूल में 'राशि' शब्द 'छारिय', 'तुस' इन के साथ ही है, पर उसे 'इंगाल' और 'गोमय' के साथ भी जोड़ लेना चाहिए[4]।

श्लोक ८ :

३४. श्लोक ८ :

इस श्लोक में जल, वायु और तिर्यंग् जीवों की विराधना से बचने की दृष्टि से चलने की विधि बतलाई है।

३५. वर्षा बरस रही हो (वासे वासंते क) :

भिक्षा का काल होने पर यदि वर्षा हो रही हो तो भिक्षु बाहर न निकले। भिक्षा के लिए निकलने के बाद यदि वर्षा होने लगे तो वह ढके हुए स्थान में खडा हो जाय, आगे न जाय[5]।

३६. कुहरा गिर रहा हो (महियाए व पडंतिए ख) :

कुहरा प्रायः शिशिर ऋतु में—गर्भ-मास में पडा करता है। ऐसे समय में भिक्षु भिक्षा-चर्या के लिए गमन न करे[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १६६ : ससरक्खेहि—सचित्तरयाइण्णेहिं।
(ख) हा० टी० प० १६४ : सचित्तपृथिवीरजोगुण्डिताभ्यां पादाभ्याम्।

२—अ० चू० : 'ससरक्खेण' सरक्खो—छारसरिसो पुढविरतो, सह सरक्खेण ससरक्खो तेण पाएण, एगवयण जातीए पयत्थो।

३—(क) अ० चू० : 'इंगालो' खदिरादीण दड्ढणेव्वाण त इंगाल।
(ख) हा० टी० प० १६४ : आङ्गारमिति—अङ्गाराणामयमाङ्गारस्तमाङ्गार राशिम्।

४—(क) अ० चू० : रासि सद्दो पुण इंगालछारियाए वट्टति। 'तुसरासिं' च 'गोमय' एत्थवि रासि त्ति उभये वर्तते।
(ख) हा० टी० प० १६४ : राशिशब्द प्रत्येकमभिसंबध्यते।

५—(क) अ० चू० : ण इति पडिसेहसद्दो, चरण गोचरस्स त पडिसेहेति, 'वास' मेघो, तम्मि पाणिय मुयन्ते।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : नकारो पडिसेहे वट्टइ, चरेज्ज नाम भिक्खस्स अट्ठा गच्छेज्जत्ति, वास पसिद्धमेव, तमि वासे वीरसमाणेण उ चरियव्व, उत्तिण्णेण य पवुट्ठे अहाछन्नाणि सगडगिहादीणि पविसित्ता ताव अच्छइ जावट्ठिओ ताहे हिंडइ।
(ग) हा० टी० प० १६४ : न चरेद्वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।

६—(क) जि० चू० पृ० १७० : महिया पायसो सिसिरे गब्भमासे भवइ, ताएवि पडन्तीए नो चरेज्जा।
(ख) हा० टी० प० १६४ : महिकायां वा पतन्त्यां, सा च प्रायोगर्भमासेषु पतति।

३७. महावात चल रहा हो (महावाये व वायंते [ग]) :

महावात से रज उड़ता है। शरीर के साथ उसका आघात होता है, इससे सचित्त रज की विराधना होती है। अचित्त रज आँखों में गिरता है। इन दोषों को देख भिक्षु ऐसे समय गमन न करे[1]।

३८. मार्ग में संपातिम जीव छा रहे हों (तिरिच्छसंपाइमेसु वा [घ]) :

जो जीव तिरछे उड़ते हैं उन्हें तिर्यक् सम्पातिम जीव कहते हैं। वे भ्रमर, कीट, पतग आदि जन्तु हैं[2]।

श्लोक ९ :

३९. श्लोक ९-११ :

भिक्षा के लिए निकले हुए साधु को कैसे मुहल्ले से नही जाना चाहिए इसका वर्णन ९ वें श्लोक के प्रथम दो चरण में हुआ है। वेश्या-गृह के समीप जाने का निषेध है। इस श्लोक के अन्तिम दो चरण तथा १० वें श्लोक में वेश्या-गृह के समीप जाने से जो हानि होती है, उसका उल्लेख है। ११ वें श्लोक में दोष-दर्शन के बाद पुनः निषेध किया गया है।

४०. ब्रह्मचर्य का वशवर्ती मुनि (बंभचेरवसाणुए [ख]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका अर्थ ब्रह्मचर्य का वशवर्ती होता है और यह मुनि का विशेषण है[3]। जिनदास महत्तर ने 'बभचेरवसाणुए' ऐसा पाठ मानते हुए भी तथा टीकाकार ने 'बभचेरवसाणए' पाठ स्वीकृत कर उसे 'वेससामते' का विशेषण माना है और इसका अर्थ ब्रह्मचर्य को वश में लाने (उसे अधीन करने) वाला किया है[4]। किन्तु इसे 'वेससामंते' का विशेषण मानने से 'चरेज्ज' क्रिया का कोई कर्ता शेष नहीं रहता, इसलिए तथा अर्थ-सगति की दृष्टि से यह साधु का ही विशेपण होना चाहिए। अगस्त्य-चूर्णि में 'बंभचारिवसाणुए' ऐसा पाठान्तर है। इसका अर्थ है—ब्रह्मचारी—आचार्य के अधीन रहने वाला मुनि[5]।

४१. वेश्या वाड़े के समीप (वेससामंते [क]) :

जहाँ विषयार्थी लोक प्रविष्ट होते हैं अथवा जो जन-मन में प्रविष्ट होता है वह 'वेश' कहलाता है[6]। यह 'वेश' शब्द का

१—(क) अ० चू० : वाउक्काय जयणा पुण 'महावाते' अतिसमुद्धुतो मारुतो महावातो, तेण समुद्धुतो रतो वाउक्कातो य विराहिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : महावातो रय समुद्धुणइ, तत्थ सचित्तरयस्स विराहणा, अचित्तोवि अच्छीणि भरेज्जा एवमाई दोसत्तिकाऊण ण चरेज्जा।
(ग) हा० टी० प० १६४ : महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोपात्।

२—(क) अ० चू० : तिरिच्छसपातिमा पतंगादतो तसा, तेष्ठ पभूतेष्ठ सपयतेष्ठ ण चरेज्जा इति वट्टति।
(ख) जि० चू० पृ० १७० : तिरिच्छं सपयतीति तिरिच्छसपाइमा, ते य पयगादी।
(ग) हा० टी० प० १६४ : तिर्यक्सपतन्तीति तिर्यक्सम्पाता·—पतङ्गादय।

३—अ० चू० : 'वभचेरवसाणुए' वंभचेर मेहुणवज्जणव्रत तस्स वसमणुगच्छति ज वभचेरवसाणुगो साधू।

४—(क) जि० चू० पृ० १७० : जम्हा तमि वेससामन्ते हिंडमाणस्स वंभचेरव्वय वसमाणिज्जतित्ति तम्हा तं वेससामंतं वभचेरवसाणुग भण्णइ, तमि वभचेरवसाणुए।
(ख) हा० टी० प० १६५ : ब्रह्मचर्यवशानयने (नये) ब्रह्मचर्यं—मैथुनविरतिरूप वशमानयति—आत्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशानयन तस्मिन्।

५—अ० चू० : बभचारिणो गुरुणो तेसिं वसमणुगच्छतीति वभचेर (? चारि) वसाणुए, तस्स वभचेरवसाणुगस्स।

६—अ० चू० : 'वेससामन्ते' पविसति त विसयात्थिणो त्ति वेसा, पविसति वा जणमणेष्ठ वेसो।

व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है नीच स्त्रियों का समवाय[१]। अमरकीर्ति ने 'वेश' का अर्थ वेश्या का वाड़ा किया है[२]।

अभिधान चिन्तामणि में इसके तीन पर्यायवाची नाम हैं[३]।

जिनदास महत्तर ने 'वेस' का अर्थ वेश्या किया है[४]। टीकाकार भी इसी का अनुसरण करते हैं[५] किन्तु शाब्दिक दृष्टि से पहला अर्थ ही सगत है। 'सामन्त' का अर्थ समीप है[६]। समीप के अर्थ में 'सामन्त' शब्द का प्रयोग आगमों में बहुत स्थलों में हुआ है[७]। जिनदास कहते हैं—साधु के लिये वेश्या-गृह के समीप जाना भी निषिद्ध है। वह उसके घर में तो जा ही कैसे सकता है[८]।

४२ विस्रोतसिका (विसोत्तिया क) :

विस्रोतसिका का अर्थ है—सारणिनिरोध, जलागम के मार्ग का निरोध या किसी वस्तु के आने का स्रोत रुकने पर उसका दूसरी ओर मुड़ जाना[९]। चूर्णिकार विस्रोतसिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं : जैसे—कूड़े-करकट के द्वारा जल आने का मार्ग रुक जाने पर उसका बहाव दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओं के हाव-भाव देखनेवालों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आगम-स्रोत रुक जाता है और संयम की खेती सूख जाती है[१०]।

श्लोक १० :

४३. अस्थान में (अणायणे क) :

सावद्य, अशोधि-स्थान, कुशील और संसर्ग—ये अनायतन के पर्यायवाची नाम हैं। इसका प्राकृत रूप दो प्रकार से प्रयुक्त होता है—अणाययण और अणायण। अणाययण के यकार का लोप और अकार की सधि करने से अणायण बनता है[११]।

१—अ० चू० स पुण णीयइत्थिसमवातो।

२—ध० ना० श्लो० ३६ का भाष्य पृ० १७ : वेशे वेश्यावाटे भवा वेश्या।

३—अ० चि० ४ ६६ : वेश्याऽऽश्रय' पुरं वेश।

४—जि० चू० पृ० १७० : वेसाओ दुवक्खरियाओ, अण्णाओवि जाओ दुवक्खरियाकम्मेसु वट्टति ताओवि वेसाओ चेव।

५—हा० टी० प० १६५ : 'न चरेद्वेश्यासामन्ते' न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे।

६—अ० चू० : सामते समीवे वि, किमुत तम्मि चेव।

७—भग० १ १ पृ० ३३ : अदूरसामन्ते।

८—जि० चू० पृ० १७० : सामत नाम तासि गिहसमीव, तमवि वज्जणीय, किमग पुण तासि गिहाणि ?

९—अ० चू० . विस्रोतसा प्रवृत्ति—विस्रोतसिका विसोत्तिका सा चउव्विहा—णामट्ठवणातो गतातो। दव्व विसोत्तिया कट्ठकलिचेहिं सारणिणिरोहो अण्णतोगमणमुदगस्स। भाव विसोत्तिता वेसित्थिसविलासवियेक्खित-हसित-विब्भमेहिं रागावरुद्धमणो समाहि सारणीकस्स नाण-दसण-चरित्तस्सविणासो भवति।

१०—(क) जि० चू० पृ० १७१ : दव्वविसोत्तिया जहा सारणिपाणिय कयवराइणा आगमसोते निरुद्धे अण्णतो गच्छइ, तओ त सस्सं सुक्खइ, सा दव्वविसोत्तिया, तासि वेसाण भावविप्पेक्खिय णट्टहसियादी पासतस्स णाणदसणचरित्ताण आगमो निरु भवति, तओ सजमसस्स सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया।

(ख) हा० टी० प० १६५ . 'विस्रोतसिका' तद्रूपसदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधत ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन सयमस (श) स्यशोषफला चित्तविक्रिया।

११—ओ० नि० ७६३ .

सावज्जमणायतण असोहिठाण कुसीलससग्गी।
एगट्ठा होंति पदा एते विवरीय आययणा॥

४४. बार-बार जाने वाले के···संसर्ग होने के कारण (संसग्गीए अभिक्खणं ख) :

इसका सम्बन्ध 'चरंतस्स' से है। 'अभीक्ष्ण' का अर्थ है बार-बार[1]। अस्थान में बार-बार जाने से संसर्ग (सम्बन्ध) हो जाता है। ससर्ग का प्रारम्भ दर्शन से और उसकी परिसमाप्ति प्रणय में होती है[2]।

४५. व्रतों की पीड़ा (विनाश) (वयाणं पीला ग) :

'पीड़ा' का अर्थ विनाश अथवा विराधना होता है[3]। वेश्या-संसर्ग से ब्रह्मचर्य-व्रत का विनाश हो सकता है किन्तु सभी व्रतों का नाश कैसे संभव है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—ब्रह्मचर्य से विचलित होने वाला श्रामण्य को त्याग देता है, इसलिए उसके सारे व्रत टूट जाते हैं। कोई श्रमण श्रामण्य को न भी त्यागे, किन्तु मन भोग में लगे रहने के कारण उसका ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है। वह चित्त की चंचलता के कारण एषणा या ईर्या की शुद्धि नहीं कर पाता, उससे अहिंसा-व्रत की पीड़ा होती है। वह इधर-उधर रमणियों की तरफ देखता है, दूसरे पूछते हैं तब झूठ बोलकर दृष्टि-दोष को छिपाना चाहता है, इस प्रकार सत्य-व्रत की पीड़ा होती है। तीर्थङ्करों ने श्रमण के लिए स्त्री-सग का निषेध किया है, स्त्री-सग करने वाला उनकी आज्ञा का भग करता है, इस प्रकार अचौर्य-व्रत की पीड़ा होती है। स्त्रियों में ममत्व करने के कारण उसके अपरिग्रह-व्रत की पीड़ा होती है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होने से सब व्रत पीड़ित हो जाते हैं[4]।

यहाँ हरिभद्रसूरि 'तथा च वृद्ध-व्याख्या' कहकर इसी आशय को स्पष्ट करने वाली कुछ पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं[5]। ये दोनों चूर्णिकारों की पक्तियों से भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उनके सामने चूर्णियों के अतिरिक्त कोई दूसरी भी वृद्ध-व्याख्या रही है।

४६. श्रामण्य में सन्देह हो सकता है (सामण्णम्मि य संसओ घ) :

इस प्रसङ्ग में श्रामण्य का मुख्यार्थ ब्रह्मचर्य है। इन्द्रिय-विषयों को उत्तेजित करने वाले साधन श्रमण को उसकी साधना में

१—(क) अ० चू० : त चरित्तादीण गुणाण, तम्मि 'चरन्तस्स' गच्छन्तस्स 'संसग्गी' संपक्को "संसग्गीए अभिक्खणं" पुणो पुणो। किंच

सदसणेण पिती पीतीओ रती रतीतो वीसंभो।
वीसंभातो पणतो पचविहं वड्ढई पेम्मं॥

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : वेससामत अभिक्खण अभिक्खणं एंतजंतस्स ताहिं सम संसग्गी जायति, भणिय च—

सदंसणाओ पीई पीतीओ रती रती य वीसभो।
वीसभाओ पणओ पचविह वड्ढए पेम्म॥

२—हा० टी० प० १६५ : 'अभीक्ष्ण' पुनः पुन.।

३—(क) अ० चू० : होज्ज वताण पीला, होज्ज इति आसंसावयणमिदं, आससिज्जति भवेद् वताणं बंभव्वत पहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ : पीडानाम विणासो।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'व्रतानां' प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना।

४—जि० चू० पृ० १७१ : जइ उण्णिक्खमइ तो सव्ववया पीडिया भवति, अहवि ण उण्णिक्खमइ तोवि तग्गयमाणसस्स भावाओ मेहुणं पीडियं भवइ, तग्गयमाणसो य एसणं न रक्खइ, तत्थ पाणाइवायपीडा भवति, जोएमाणो पुच्छिज्जइ—कि जोएसि ? ताहे अवलवइ, ताहे मुसावायपीडा भवति, ताओ य तित्थगरेहिं णाणुण्णायाउत्तिकाउ अदिण्णादाणपीडा भवइ, तासु य ममत्त करेंतस्स परिग्गहपीडा भवति।

५—हा० टी० प० १६५ : तथा च वृद्धव्याख्या—वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयण, अणणुण्णायवेसाइदंसणे अदत्तादाण, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामन्ने पुण ससयो उण्णिक्खमणेण त्ति।

संदिग्ध बना देते हैं[1]। विषय में आसक्त बना हुआ श्रमण ब्रह्मचर्य के फल में सन्देह करने लग जाता है। इसका पूर्ण क्रम उत्तराध्ययन में बतलाया गया है। ब्रह्मचर्य की गुप्तियों का पालन करने वाले ब्रह्मचारी के शंका, कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चारित्र का नाश होता है, उन्माद बढता है, दीर्घकालिक रोग एव आतंक उत्पन्न होते हैं और वह केवली प्रज्ञप्त-धर्म से भ्रष्ट हो जाता है[2]।

श्लोक ११ :

४७. एकान्त (मोक्ष-मार्ग) का (एगंतं घ) :

सभी व्याख्याकारों ने 'एकान्त' का अर्थ मोक्ष-मार्ग किया है[3]। ब्रह्मचारी को विविक्त-शय्यासेवी होना चाहिए, इस दृष्टि से यहाँ 'एकान्त' का अर्थ विविक्त-चर्या भी हो सकता है।

श्लोक १२ :

४८. श्लोक १२ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के लिये जाता हुआ मुनि रास्ते में किस प्रकार के समागमों का या प्रसगों का परिहार करता हुआ चले, यह बताया गया है। वह कुत्ते, नई ब्याई हुई गाय, उन्मत्त बैल, अश्व, हाथी तथा क्रीड़ाशील बालकों आदि के समागम से दूर रहे। यह उपदेश आत्म-विराधना और सयम-विराधना दोनों की दृष्टि से है।

४९. ब्याई हुई गाय (सूइयं गाविं क) :

प्रायः करके देखा गया है कि नव प्रसूता गाय आहननशील—मारनेवाली होती है[4]।

५०. बच्चों के क्रीड़ा-स्थल (संडिब्भं ग) :

जहाँ बालक विविध क्रीडाओं में रत हों (जैसे-धनुष आदि खेल रहे हों), उस स्थान को 'सडिब्भ' कहा जाता है[5]।

१—(क) अ० चू० . समणभावे वा सदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो 'विसयविचालितचित्तो समणभाव छड्डेमि मा वा ?' इति सदेहो, परस्स एवंविहत्याणविचारी किं पव्वतितो विढो वेसच्छण्णो ? त्ति ससयो।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ · सामण्ण नाम समणभावो, तमि समणभावे ससयो भवइ, किं ताव सामण्ण धरेमि ? उदाहु उप्पव्व-यामित्ति ? एव ससयो भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६५ : 'श्रामण्ये च' श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ सशय।

२—उत्त० १६.१ · बम्भचेरे सका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्माय वा पाउणिज्जा दीहकालिय वा रोगायकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा।

३—(क) अ० चू० · एगतो णिरपवातो मोक्खगामी मग्गो णाणादि त अस्सितो।

(ख) हा० टी० प० १६५ 'एकान्त' मोक्षमाश्रित।

४—(क) अ० चू० : गाविमसूइ पि किं पुण सूतिय।

(ख) जि० चू० पृ० १७१ . सूविया गावी पायसो आहणणसीला भवइ।

(ग) हा० टी० प० १६६ 'सूतां गाम्' अभिनवप्रसूतामित्यर्थ·।

५—(क) अ० चू० : डिम्भाणि चेडरूवाणि णाणा विहेहिं खेलणएहिं खेलताण तेसिं समागमो सडिब्भ।

(ख) जि० चू० पृ० १७१-७२ : सडिब्भ नाम बालरूवाणि रमति धणुहिं।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'सडिम्भ' बालक्रीडास्थानम्।

५१. कलह (कलहं ग) :

इसका अर्थ है—वाचिक झगड़ा[१] ।

५२. युद्ध (के स्थान) को (जुद्धं ग) :

युद्ध—आयुध आदि से होने वाली हनाहनी—मार-पीट[२] । कलह और युद्ध में यह अन्तर है कि वचन की लड़ाई को कलह और शस्त्रों की लड़ाई को युद्ध कहा जाता है ।

५३. दूर से टाल कर जाय (दूरओ परिवज्जए घ) :

मुनि ऊपर बताए गए प्रसङ्ग या स्थान का दूर से परित्याग करे । क्योंकि उपर्युक्त स्थानों पर जाने से आत्म-विराधना, संयम-विराधना होती है[३] । समीप जाने पर कुत्ते के काट खाने की, गाय, बैल, घोड़े एवं हाथी के सींग, पैर आदि से चोट लग जाने की समावना रहती है । यह आत्म-विराधना है ।

क्रीड़ा करते हुए बच्चे धनुष से बाण चलाकर मुनि को आहत कर सकते हैं । वंदन आदि के समय पात्रों को पैरों से फोड़ सकते हैं ; उन्हें छीन सकते हैं । हरिभद्रसूरि के अनुसार यह सयम-विराधना है ।

मुनि कलह आदि को सहन न कर सकने से बीच में बोल सकता है । इस प्रकार अनेक दोष उत्पन्न हो सकते हैं[४] ।

श्लोक १३ :

५४. श्लोक १३ :

इस श्लोक में भिक्षा-चर्या के समय मुनि की मुद्रा कैसी रहे यह बताया गया है[५] ।

१—(क) अ० चू० : कलहो वाधा-समधिक्खेवादि ।
(ख) जि० चू० पृ० १७२ : कलहो नाम वाइओ ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'कलहं' वाक्प्रतिबद्धम् ।

२—(क) अ० चू० . जुद्ध आयुहादीहि हणाहणी ।
(ख) जि० चू० पृ० १७२ . जुद्ध नाम ज आउहकट्ठादीहि ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'युद्धं' खड्गादिभि. ।

३—हा० टी० प० १६६ : 'दूरतो' दूरेण परिवर्जयेत्, आत्मसंयमविराधनासम्भवात् ।

४—(क) अ० चू० : अपरिवज्जणे—दोसो—साणो खाएज्जा, गावी मारेज्जा, गोण हत-गता वि, चेडरूवाणि परिवारेतु वंदताणि भाणं विराहेज्जा आहणेज्ज वा इट्टालादिणा, कलहे अणहियासो किंचि हणेज्ज भणेज्ज वा अजुत्तं जुद्ध उम्मत्तकडादिणा हम्मेज्ज । प्रकारवयणेण एते समाणदोसे महिसादिणो वि दूरतो परिवज्जए ।
(ख) जि० चू० पृ० १७२ : सुणओ घाएज्जा, गावी मारिज्जा, गोणो मारेज्जा, एवं हय-गयाणवि-मारणादिदोसा भवति, बालरूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भाण भिंदिज्जा, कट्टाकट्टिंवि करेज्जा, धणुविप्पमुक्केण वा कडेण आहणेज्जा'''तारिस अणहियासंतो भणिज्जा, एवमादि दोसा ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतनभण्डनप्रलुठनादिना सयमविराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति ।

५—अ० चू० . इदं तु सरीर—चित्तगतदोसपरिहरणत्थमुपदिस्सति ।

५५. न उन्नत होकर (अणुन्नए क) :

उन्नत दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-उन्नत और भाव-उन्नत[१]। जो मुँह ऊँचा कर चलता है—आकाशदर्शी होता है उसे 'द्रव्य-उन्नत' कहते हैं। जो दूसरों की हँसी करता हुआ चलता है; जाति आदि आठ मदों से मत्त (अभिमानी) होता है वह 'भाव-उन्नत' कहलाता है। मुनि को भिक्षाचर्या के समय द्रव्य और भाव—दोनों दृष्टियों से अनुन्नत होना चाहिए।

जो आकाशदर्शी होकर चलता है—ऊँचा मुँहकर चलता है वह ईर्या समिति का पालन नहीं कर सकता। लोग भी कहने लग जाते हैं—"देखो! यह श्रमण उन्मत्त की भाँति चल रहा है, अवश्य ही यह विकार से भरा हुआ है।" जो भावना से उन्नत होता है वह दूसरों को तुच्छ मानता है। दूसरों को तुच्छ मानने वाला लोक-मान्य नहीं होता[२]।

५६. न अवनत होकर (नावणए क) :

अवनत के भी दो भेद होते हैं : द्रव्य-अवनत और भाव-अवनत। द्रव्य-अवनत उसे कहते हैं जो झुककर चलता है। भाव-अवनत उसे कहते हैं जो दीन व दुर्मन होता है और ऐसा सोचता है—"लोग असंयतियों की ही पूजा करते हैं। हमें कौन देगा? या हमें अच्छा नहीं देगा आदि।" जो द्रव्य से अवनत होता है वह मखौल का विषय बनता है। लोग उसे बगुलाभगत कहने लग जाते हैं। जैसे—बड़ा उपयोग-युक्त है कि इस तरह नीचे झुक कर चलता है। भाव से अवनत वह होता है जो क्षुद्र भावना से भरा होता है। श्रमणों को दोनों प्रकार से अवनत नहीं होना चाहिए[३]।

५७. न हृष्ट होकर (अप्पहिट्ठे ख) :

जिनदास महत्तर के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अल्प-हृष्ट' या 'अहृष्ट' बनता है। अल्प शब्द का प्रयोग अल्प और अभाव—इन दो अर्थों में होता है। यहाँ यह अभाव के रूप में प्रयुक्त हुआ है[४]।

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'अप्रहृष्ट' होता है[५]। 'प्रहर्ष' विकार का सूचक है इसलिए इसका निषेध है।

१—जि० चू० पृ० १७२ : ·· ··· दव्वुण्णओ भावुण्णओ ········दव्वुण्णओ जो उण्णतेण मुहेण गच्छइ, भावुण्णओ हिट्ठो विहसिय करेंतो गच्छइ, जातिआदिएहिं वा अट्ठहिं मदेहिं मत्तो।

२—जि० चू० पृ० १७२ : दव्वुन्नतो इरियं न सोहेइ, लोगोवि भणइ—उम्मत्तओविव समणओ वजइ सविगारोत्ति, भावेवि अत्थि से माणो, तुट्ठत्तेण अत्थि, सबन्धो अत्थित्ति, अहवा मदावलित्तो ण सम्म लोगं पासति, सो एव अणुवसंतत्तणेण न लोगसम्मतो भवति।

३—(क) अ० चू० · अवणतो चतुव्विहो—दव्वोणतो जो अवणयसरीरो गच्छति। भावोणतो 'कीस ण लभामि ? विरूव वा लभामि ? अस्सजता पूतिज्जति' इति दीणदूमणो। दव्वतो ताव उण्णता अवणएसु दोसो—दव्वुण्णतो रियं ण सोहेति, 'उम्मत्ततो सविगारो' त्ति वा लोगो गरहति, दव्वावणतो 'अहो! जीवरक्खणुज्जुत्तो, सव्वपासडाण वा णीयमप्पाण जाणति' त्ति जणो वएज्जा। भावतो उण्णतावणत तु सत्तेणेव विभासिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० १७२ : ओणओवि चउव्विधो ·· ·····दव्वोणओ जो ओणयसरीरो खुज्जो वा, भावोणयो जो दीणदुम्मणो, कीस गिहत्था भिक्खं न देंति ?, णवा सुदर देंति ? असजते वा पूयति, ·· ·· ··दव्वोणतेणवि उड्डुवति जहा अहो जीवरक्खणुवउत्तो सुव्वत्त एस (तेण) गो, अहवा सव्वपासडाण नीययर अप्पाण जाणमाणो वक्कमति एवमादि, एव करेज्जा, भावोणते एव चेवेति, जहा किमेतस्स पव्वइतेण ? कोहोऽण्णेण न णिज्जिओत्ति एवमादी।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'नावनतो' द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यानवनतोऽनीचकाय भावानवनत अलब्ध्यादिनाऽदीन · ····द्रव्यावनत-बक इति सभाव्यते भावावनत क्षुद्रसत्त्व इति।

४—जि० चू० पृ० १७२-७३ · अप्पसद्दो अभावे वट्टइ, थोवे य, इह पुण अप्पसद्दो अभावे दट्ठव्वो, अहसतोत्ति वुत्त भवति।

५—(क) अ० चू० · ण पहिट्ठो अपहिट्ठो।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'अप्रहृष्ट ' अहसन्।

५८. न आकुल होकर (अणाउले ख) :

चलते समय मन नाना प्रकार के संकल्पों से भरा हो या श्रुत—सूत्र और अर्थ का चिन्तन चलता हो वह मन की आकुलता है। विषय-भोग सम्बन्धी बातें करना, पूछना या पढ़े हुए ज्ञान की स्मृति करना वाणी की आकुलता है। अंगों की चपलता शरीर की आकुलता है। मुनि इन सारी आकुलताओं को वर्जकर चले[1]। टीकाकार ने अनाकुल का अर्थ क्रोधादि रहित किया है[2]।

५९. इन्द्रियों का उनके विषयों के अनुसार (इंदियाणि जहाभागं ग) :

जिनदास चूर्णि में 'जहाभाग' के स्थान पर 'जहाभाव' ऐसा पाठ है। पाठ-भेद होते हुए भी अर्थ में कोई भेद नहीं है। 'यथाभाव' का अर्थ है—जिस इन्द्रिय का जो विषय है, उसका (दमन कर)। सुनना कान का विषय है, देखना चक्षु का विषय है, गन्ध लेना घ्राण का विषय है, स्वाद जिह्वा का विषय है, स्पर्श स्पर्शन का विषय है, इन विषयों का (दमन कर)[3]।

६०. दमन कर चले (दमइत्ता घ) :

कानों में पड़ा हुआ शब्द, आँखों के सामने आया हुआ रूप तथा इसीप्रकार दूसरी इन्द्रियों के विषय का ग्रहण रोका जा सके यह सम्भव नहीं किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष न किया जाय यह शक्य है। इसी को इन्द्रिय-दमन कहा जाता है[4]।

श्लोक १४ :

६१. श्लोक १४ :

इस श्लोक में मुनि आहार की गवेषणा के समय मार्ग में किस प्रकार चले जिससे लोक-दृष्टि में बुरा न लगे और प्रवचन की भी लघुता न हो उसकी विधि बताई गई है[5]।

६२. उच्च-नीच कुल में (कुलं उच्चावयं घ) :

कुल का अर्थ सम्बन्धियों का समवाय या घर है[6]। प्रासाद, हवेली आदि विशाल भवन द्रव्य से उच्च-कुल कहलाते हैं। जाति०

१—जि० चू० पृ० १७३ : अणाउलो नाम मणवयणकायजोगेहिं अणाउलो माणसे अट्टदुहट्टाणि सुत्तत्थतदुभयाणि वा अचिंतंतो एसणे उवउत्तो गच्छेज्जा, वायाए वा जाणिवि ताणि अट्टमट्टाणि ताणि अभासमाणेण पुच्छणपरियट्टणादीणि य अकुव्वमाणेण हिंडियव्वं, कायेणावि हत्थणट्टादीणि अकुव्वमाणो सकुचियहत्थपाओ हिंडेज्जा।

२—हा० टी० प० १६६ : 'अनाकुल.' क्रोधादिरहितः।

३—(क) जि० चू० पृ० १७३ : जहाभावो नाम तेसिंदियाणं पत्तेय जो जस्स विसयो सो जहभावो भण्णइ, जहा सोयस्स सोयव्वं चक्खुस्स दट्ठव्वं घाणस्स अग्घातियव्वं जिब्भाए सादेयव्व फरिसस्स फरिसणं।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'यथाभाग' यथाविषयम्।

(ग) अ० चू० : इंदियाणि सोतादीणि ताणि जहाभागं जहाविसत, सोतस्स भागो सोतव्वं……………… ।

४—(क) अ० चू० : 'दमइत्ता' विसयणिरोहादिणा, एव सव्वाणि दमइत्ता वसं णेऊण।

(ख) जि० चू० पृ० १७३ : ण य सक्का सद्द असुणितेहिं हिंडिउं, किं तु जे तत्थ रागदोसा ते वज्जेयव्वा, भणियं च—"न सक्का सद्दमस्सोउ, सोतगोयरमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ, ते बुहो परिवज्जए ॥१॥" एव जाव फासोत्ति।

५—अ० चू० : जहा उण्णमणणमणादिचेट्ठाविसेसपरिहरणं तहा इदमपि।

६—अ० चू० : कुल सवंधिसमवातो, तदालयो वा।

धन, विद्या आदि से समृद्ध व्यक्तियों के भवन भाव से उच्च-कुल कहलाते हैं। तृणकुटी, झोंपड़ी आदि द्रव्य से अवच-कु और जाति, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियों के घर भाव से अवच कुल कहलाते हैं[1]।

६३. दौड़ता हुआ न चले (दवदवस्स न गच्छेज्जा क) :

दवदव का अर्थ है दौड़ता हुआ[2]। सम्भ्रान्त-गति का निषेध सयम-विराधना की दृष्टि से किया गया है और दौड़ते निषेध प्रवचन-लाघव और सयम-विराधना दोनों दृष्टियों से किया गया है। सभ्रम (५.१.१) चित्त-चेष्टा है और द्रव- चेष्टा। इसलिए द्रुतगति का निषेध सम्भ्रान्त-गति का पुनरुक्त नहीं है[3]।

श्लोक १५ :

६४. श्लोक १५ :

मुनि चलते-चलते उच्चावच कुलों की वसती में आ पहुँचता है। वहाँ पहुँचने के बाद वह अपने प्रति किसी प्रकार उत्पन्न न होने दे इस दृष्टि से इस श्लोक में यह उपदेश है कि वह झरोखे आदि को ताकता हुआ न चले।

६५. आलोक (आलोयं क) :

घर के उस स्थान को आलोक कहा जाता है जहाँ से बाहरी प्रदेश को देखा जा सके। गवाक्ष, झरोखा, खिड़की आ कहलाते हैं[4]।

६६. थिग्गल (थिग्गलं क) :

घर का वह द्वार जो किसी कारणवश फिर से चिना हुआ हो[5]।

६७. संधि (संधिं ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार दो घरों के अतर (बीच की गली) को सधि कहा जाता है[6]। जिनदास चूर्णि औ

१—हा० टी० प० १६६ : उच्च—द्रव्यभावभेदाद्‌द्विधा—द्रव्योच्च धवलगृहवासि भावोच्च जात्यादियुक्तम्, एवमवचमपि द्रव्य वासि भावतो जात्यादिहीनमिति।

२—(क) जि० चू० पृ० १७३ : दवदवस्स नाम दुय दुय।
  (ख) हा० टी० प० १६६ : 'द्रुत द्रुत' त्वरितमित्यर्थ।
  (ग) हैम० ८.३.१३४ : क्वचिद् द्वितीयादेः—इति सूत्रेण द्वितीया स्थाने षष्ठी।

३—(क) जि० चू० पृ० १७३ : सीसो आह—णणु असमतो असुच्छिओ एतेण पुसो अत्यो गओ, किमत्य पुणो गहण भणइ—पुव्वभणियं तु जं भण्णति तत्थ कारण अत्थि, ज तं हेट्ठा भणिय त अविसेसिय पंथे वा गिहतरे वा, तत्थ पाहण्णेण भणिया, इह पुण गिहाओ गिहतर गच्छमाणस्स भण्णइ, तत्य पायसो सजमविराहणा भणिया, इह पुण सकणाइदोसा भवतित्ति ण पुणरुत्त।
  (ख) हा० टी० प० १६६ · दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति।

४—(क) अ० चू० : आलोगो—गवक्खगो।
  (ख) जि० चू० पृ० १७४ : आलोगं नाम चोपलपादी।
  (ग) हा० टी० प० १६६ : 'अवलोक' निर्यूहकादिरूपम्।

५—(क) जि० चू० पृ० १७४ : थिग्गल नाम ज घरस्स दार पुव्वमासी त पडिपूरिय।
  (ख) हा० टी० प० १६६ . 'थिग्गल' चित द्वारादि।

६—अ० चू० : सधी जमलघराण अतर।

में इसका अर्थ सेंध किया है। सेंध अर्थात् दीवाल की ढकी हुई सुराक[1]।

६८. पानी-घर को (दगभवणाणि ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ जल-मंचिका, पानीय कर्मान्त (कारखाना) अथवा स्नान-मण्डप आदि किया है।

जिनदास ने इसका अर्थ जल-घर अथवा स्नान-घर किया है।

हरिभद्र ने केवल जल-गृह अर्थ किया है[2]।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय पथ के आस-पास सर्व साधारण की सुविधा के लिए राजकीय जल-मंचिका अथवा स्नान-मण्डप आदि रहते थे। जल-मंचिकाओं से औरतें जल भर कर ले जाया करती थीं और स्नान-मण्डपों में साधारण स्त्री-पुरुष स्नान किया करते थे। साधु को ऐसे स्थानों को ध्यानपूर्वक देखने का निषेध किया गया है।

गृहस्थों के घरों के अन्दर रहे हुए परेण्डा, (जल-गृह) अथवा स्नान-घर से यहाँ अभिप्राय नहीं है क्योंकि मार्ग में चलता हुआ साधु क्या नहीं देखे इसी का वर्णन है।

६९. शंका उत्पन्न करने वाले स्थानों से (संकट्ठाणं घ) :

टीकाकार ने शका-स्थान को आलोकादि का द्योतक माना है। शंका-स्थान अर्थात् उक्त आलोक, थिग्गल—द्वार, सन्धि, उदक-भवन। इस शब्द में ऐसे अन्य स्थानों का भी समावेश समझना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है—इन स्थानों को देखने का वर्जन क्यों किया गया है? इसका उत्तर यह है कि आलोकादि को ध्यानपूर्वक देखने वाले पर लोगों को चोर और पारदारिक होने का सन्देह हो सकता है[3]। आलोकादि का देखना साधु के प्रति शका या सन्देह उत्पन्न कर सकता है अतः वे शका-स्थान हैं[4]।

इनके अतिरिक्त स्त्री-जनाकीर्ण-स्थान, स्त्री-कथा आदि विषय जो उत्तराध्ययन में बतलाए गए हैं[5], वे भी सब शका-स्थान हैं। स्त्री-सम्पर्क आदि से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शका पैदा हो सकती है। वह ऐसा सोच सकता है कि अब्रह्मचर्य में जो दोष बतलाए गए हैं वे सचमुच हैं या नहीं? कहीं मै ठगा तो नहीं जा रहा हूँ? आदि आदि। अथवा स्त्री-सम्पर्क में रहते हुए ब्रह्मचारी को देख दूसरों को उसके ब्रह्मचर्य के बारे में सन्देह हो सकता है। इसलिए इन्हें शंका का स्थान (कारण) कहा गया है। उत्तराध्ययन के अनुसार शका-स्थान का संबन्ध स्त्री-सम्पर्क आदि ब्रह्मचारी की नव गुप्तियों से है[6] और हरिभद्र के अनुसार शंका-स्थान का सबन्ध आलोक आदि से है[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७४ : सधी खत्त पडिढक्कियं।
  (ख) हा० टी० प० १६६ : संधिः—चित क्षत्रम्।

२—(क) अ० चू० : पाणिय-कम्मंतं, पाणिय-मचिका, राहाण-मराडपादि दगभवनानि।
  (ख) जि० चू० पृ० १७४ : दगभवणाणि—पाणियघराणि राहाणगिहाणि वा।
  (ग) हा० टी० प० १६६ : 'उदकभवमानि' पानीयगृहाणि।

३—अ० चू० : संकट्ठाणं विवज्जए, ताणि निज्झायमाणो 'किएणु चोरो ? पारदारितो ?' त्ति संकेज्जेज्जा, 'थाणं' पद तमेवंविहं संकापदं।

४—हा० टी० प० १६६ : शङ्कास्थानमेतदवलोकादि।

५—उत्त० १६.११-१४।

६—वही १६.१४ : संकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणव।

७—हा० टी० प० १६६।

श्लोक १६ :

७०. श्लोक १६ :

श्लोक १५ में शका-स्थानों के वर्जन का उपदेश है। प्रस्तुत श्लोक में सक्लेशकारी-स्थानों के समीप जाने का निषेध है।

७१. गृहपति (गिहवईणं क) :

गृहपति—इभ्य, श्रेष्ठी आदि[1]। प्राचीनकाल में गृहपति का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता था जो गृह का सर्वाधिकार-सम्पन्न स्वामी होता[2]। उस युग में समाज की सबसे महत्वपूर्ण ईकाई गृह थी। साधारणतया गृहपति पिता होता था। वह विरक्त होकर गृह-कार्य से मुक्त होना चाहता अथवा मर जाता तब उसका उत्तराधिकार ज्येष्ठ पुत्र को मिलता। उसका अभिषेक-कार्य समारोह के साथ सम्पन्न होता। मौर्य-शुग काल में 'गृहपति' शब्द का प्रयोग समृद्ध वैश्यों के लिए होने लगा था।

७२. आरक्षिकों के रहस्य-स्थान (रहस्सारक्खियाण ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'रहस्स-आरक्खियाण' को एक शब्द माना है और इसका अर्थ राजा के अन्तःपुर के अमात्य आदि किया है[3]।

जिनदास और हरिभद्र ने इन दोनों को पृथक् मानकर अर्थ किया है। उन्होंने 'रहस्स' का अर्थ राजा, गृहपति और आरक्षिकों का मत्रणा-गृह तथा 'आरक्खियं' का अर्थ दण्डनायक किया है[4]।

७३. संक्लेश कर होते हैं (संकिलेसकरं ग) :

रहस्य-स्थानो में साधु क्यों न जाय इसका उत्तर इसी श्लोक में है। ये स्थान सक्लेशकर हैं अतः वर्जनीय हैं।

गुह्य स्थान में जाने से साधु के प्रति स्त्रियों के अपहरण अथवा मत्र-भेद करने का सन्देह होता है। सन्देहवश साधु का निग्रह किया जा सकता है अथवा उसे अन्य क्लेश पहुँचाये जा सकते हैं। व्यर्थ ही ऐसे सक्लेशों से साधु पीड़ित न हो इस दृष्टि से ऐसे स्थानों का निषेध है[5]।

१—(क) अ० चू० गिहवइणो इब्भादतो।
(ख) हा० टी० प० १६६ : 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनाम्।

२—उपा० १५ · से ण आणंदे गाहावई बहूण राईसर''' '' ''जाव''' ''सत्थवाहाण बहूसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुंबेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छिएसु '' ''आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य ण कुडुबस्स मेढीपमाण आहारे आलवणं चक्खू, मेढीभूए. जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था।

३—अ० चू० : रहस्सारक्खिता—रायते पुरवरा अमात्यादयो।

४—(क) जि० चू० पृ० १७४ · रण्णो रहस्सट्ठाणाणि गिहवईणं रहस्सट्ठाणाणि आरक्खियाण रहस्सट्ठाणाणि, सकणादिदोसा भवति, चकारेण अण्णेवि पुरोहियादि गहिया, रहस्सट्ठाणाणि नाम गुज्झोवरगा, जत्थ वा राहस्सिय मतेंति।
(ख) हा० टी० प० १६६ : राज्ञ—चक्रवर्त्यादे· 'गृहपतीनां' श्रेष्ठिप्रभृतीनां रहसाठाणमिति योग, 'आरक्षकाणां च' दण्डनायकादीनां 'रह स्थान' गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि।

५—(क) अ० चू० · जत्थ इत्थीतो वा रातिं वा पतिरिक्कमच्छति मंतंति वा तत्थ जदि अच्छति तो तेसिं सकिलेसो भवति किं एत्थ समणयो अच्छति ? कत्तो त्ति वा ? मन्त्रभेदादि सकेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १७४ . भवणगएत्थ इत्थियाइए हियणट्ठे सकणादिदोसा भवति।
(ज) हा० टी० प० १६६ : 'सक्लेशकरम्' असदिच्छाप्रवृत्या मत्रभेदे वा कर्षणादिनेति।

सक्लेश का अर्थ है—असमाधि। सक्लेश दस प्रकार के हैं[1]।

श्लोक १७ :

७४. श्लोक १७ :

इस श्लोक में भिक्षाचर्या के लिए गये हुए मुनि को किन-किन कुलों में प्रवेश नहीं करना चाहिए, इसका उल्लेख है[2]।

७५. प्रतिक्रुष्ट (निषिद्ध) कुल में (पडिकुट्ठकुलं [क]) :

'प्रतिक्रुष्ट' शब्द निन्दित, जुगुप्सित और गर्हित का पर्यायवाची है। व्याख्याकारों के अनुसार प्रतिक्रुष्ट दो तरह के होते हैं—अल्पकालिक और यावत्कालिक। मृतक और सूतक के घर अल्पकालिक—थोड़े समय के लिए प्रतिक्रुष्ट हैं। डोम, मातङ्ग आदि के घर यावत्कालिक-सर्वदा प्रतिक्रुष्ट हैं[3]।

आचाराङ्ग में कहा है—मुनि अजुगुप्सित और अगर्हित कुलों में भिक्षा के लिए जाये[4]।

निशीथ में जुगुप्सनीय-कुल से भिक्षा लेने वाले मुनि के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है[5]।

मुनियों के लिए भिक्षा लेने के सम्बन्ध में प्रतिक्रुष्ट-कुल कौन से हैं—इसका आगम में स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आगमों में जुगुप्सित जातियों का नाम निर्देश नहीं है। वहाँ केवल अजुगुप्सित कुलों का नामोल्लेख है।

प्रतिक्रुष्ट-कुल का निषेध कब और क्यों हुआ—इसकी स्पष्ट जानकारी सुलभ नहीं है, किन्तु इस पर लौकिक व वैदिक व्यवस्था का प्रभाव है यह अनुमान करना कठिन नहीं है। टीकाकार प्रतिक्रुष्ट के निषेध का कारण शासन-लघुता बताते हैं। उनके अनुसार जुगुप्सित घरों से भिक्षा लेने पर जैन-शासन की लघुता होती है इसलिए वहाँ से भिक्षा नहीं लेनी चाहिए[6]।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु इसे गणधर की मर्यादा बताते हैं[7]। शिष्य बीच में ही पूछ बैठता है—प्रतिक्रुष्ट कुल में जाने से किसी जीव का वध नहीं होता फिर उसका निषेध क्यों ? इसके उत्तर में वे कहते हैं—जो मुनि जुगुप्सित-कुल से भिक्षा लेता है उसे

१—स्था० १०.७११ : दसविधा असमाधी प० त०—पाणातिवाते जाव परिग्गहे ईरिताऽसमिती जाव उच्चारपासवणखेलसिंघाणग-पारिट्ठावणियाऽसमिती।

२—अ० चू० : 'मग्गियाव्वी णा वा ?' एवमिदं सिलोगसुत्तमागत।

३—(क) अ० चू० : पडिकुट्टं निन्दित, त दुविहं—इत्तरिय आवकहिय च, इत्तरिय मयगसूतगादि, आवकहित चंडालादी त उभयमवि कुलं।
(ख) जि० चू० पृ० १७४ : पडिकुट्ठ दुविध—इत्तिरिय आवकहिय च, इत्तिरियं मयगसूतगादी, आवकहिय अभोज्जा डोंबमायगादी।
(ग) हा० टी० प० १६६ : प्रतिकुष्टकुल द्विविधम्—इत्वर यावत्कथिकं च, इत्वर सूतकयुक्तम्, यावत्कथिकम् अभोज्यम्।

४—आचा० २.१.२३४ : से भिक्खू वा, भिक्खूणी वा, गाहावइकुल पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्जा, त जहा, उग्गकुलाणि वा, भोगकुलाणि वा, राइण्णकुलाणि वा, खत्तियकुलाणि वा, इक्खागकुलाणि वा, हरिवंसकुलाणि वा, एसियकुलाणि वा, वेसियकुलाणि वा, गडागकुलाणि वा, कोट्टागकुलाणि वा, गामरक्खकुलाणि वा, वुक्कासकुलाणि वा, अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगंछिएसु अगरहिएसु असण पाण खाइमं साइम वा फासुय एसणिज्ज जाव मण्णमाणे लाभे संते पडिग्गाहेज्जा।

५—नि० १६.२७ : जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु असण वा पाण वा खाइम वा साइम वा……।

६—हा० टी० प० १६६ : एतन्न प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसगात्।

७—ओ० नि० गा ४४० :

ठवणा मिलक्खुनेट्ठ अचियत्तघरं तहेव पडिकुट्ठ॥
एय गणधरमेर अइक्कमतो विराहेज्जा॥

बोधि दुर्लभ होती है[1]।

आचाराङ्ग में केवल भिक्षा के लिए जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[2]।

निशीथ में वस्ती आदि के लिए जुगुप्सित कुल का निषेध मिलता है[3]।

ओघनिर्युक्ति में दीक्षा देने के वारे में जुगुप्सित और अजुगुप्सित कुल का विचार किया गया है[4]।

इस अध्ययन से लगता है कि जैन-शासन जब तक लोकसंग्रह को कम महत्त्व देता था तब तक उसमें लोक-विरोधी भावना के तत्त्व अधिक थे। जैन-शासन में हरिकेश वल जैसे श्वपाक, और आर्द्रकुमार जैसे आचार्य दीक्षा पाने के अधिकारी थे, किन्तु समय-परिवर्तन के साथ-साथ ज्यों-ज्यों जैनाचार्य लोक-संग्रह में लगे त्यों-त्यों लोक-भावना को महत्त्व मिलता गया।

जाति और कुल शाश्वत नहीं होते। जैसे ये वदलते हैं वैसे उनकी स्थितियाँ भी वदलती हैं। किसी देश-काल में जो घृणित, तिरस्कृत या निन्दित माना जाता है वह दूसरे देश-काल में वैसा नहीं माना जाता। ओघनिर्युक्ति में इस सम्बन्ध में एक रोचक सवाद है, शिष्य ने पूछा - "भगवन्! जो यहाँ जुगुप्सित है वह दूसरी जगह जुगुप्सित नहीं है फिर किसे जुगुप्सित माना जाये? किसे अजुगुप्सित? और उसका परिहार कैसे किया जाये?" इसके उत्तर में निर्युक्तिकार कहते हैं : "जिस देश में जो जाति-कुल जुगुप्सित माना जाए उसे छोड़ देना चाहिए[5]।" तात्पर्य यह है कि एक कुल किसी देश में जुगुप्सित माना जाता हो, उसे वर्जना चाहिए और वही कुल दूसरे देश में जुगुप्सित न माना जाता हो, वहाँ उसे वर्जना आवश्यक नहीं। आखिर विषय का उपसंहार करते हुए वे कहते हैं "वह कार्य नहीं करना चाहिए जिससे जैन-शासन का अयश हो, धर्म-प्रचार में वाधा आये, धर्म को कोई ग्रहण न करे, श्रावक या नव-दीक्षित मुनि की धर्म से आस्था हट जाए, अविश्वास पैदा हो और लोगों में जुगुप्सा—घृणा फैले[6]।"

इन कारणों से स्पष्ट है कि इस विषय में लोकमत को बहुत स्थान दिया गया है। जैन-दर्शन जातिवाद को तात्त्विक नहीं मानता इसलिए उसके अनुसार कोई भी कुल जुगुप्सित नहीं माना जा सकता। यह व्यवस्था वैदिक वर्णाश्रम की विधि पर आधारित है।

प्राचीन-काल में प्रतिकृष्ट कुलों की पहचान इन वातों से होती थी। जिनका घर टूटी-फूटी वस्ती में होता, नगर के द्वार के पास (वाहर या भीतर) होता और जिसके घर में कई विशेष प्रकार के वृक्ष होते वे कुल प्रतिकृष्ट समझे जाते थे[7]।

१—ओ० नि० गा० ४४१ : आह—प्रतिकुष्टकुलेषु प्रविशतो न कश्चित् षड्जीववधो भवति किमर्थं परिहार इति ?, उच्यते—

छक्कायदयावतोऽवि सजओ दुल्लह कुणइ वोहिं।
आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य॥

२—अचा० २.१ २३३ : देखिए पृ० २३३ टिप्पण न० ४ का पाठ।

३—१६ २६ : जे भिक्खू दुगुंछियकुलेसु वसहिं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेंत वा सातिज्जति।

४—ओ० नि० गा० ४४३ :

अट्ठारस पुरिसेसु वीस इत्थीसु दस नपुंसेसु।
पव्वावणाए एए दुगुंछिया जिणवरमयंमि॥

५—ओ० नि० गा० ४४२ : ननु च ये इह जुगुप्सितास्ते चैवान्यत्राजुगुप्सितास्तत कथ परिहरणं कर्त्तव्यम् ?, उच्यते—

जे जहिं दुगुंछिया खलु पव्वावणवसहिभत्तपाणेसु।
जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेण॥

६—ओ० नि० गा० ४४४ :

दोसेण जस्स अयसो आयासो पवयणे य अग्गहण।
विप्परिणामो अपच्चओ य कुच्छा य उप्पज्जे॥

सर्वथा येन केनचित् 'दोषेण' निमित्तेन यस्य सम्बन्धिना 'अयश' अश्लाघा 'आयास' पीडा प्रवचने भवति, अग्रहण वा विपरिणामो वा श्रावकस्य शैक्षकस्य वा तन्न कर्त्तव्यम्, तथाऽप्रत्ययो वा शासने येन भवति यदुतैतेऽन्यथा वदन्ति अन्यथा कुर्वन्ति एवविधोऽप्रत्ययो येन भवति-तन्न कर्त्तव्यम्।

७—ओ० नि० गा० ४३९ :

पडिकुट्ठकुलाणं पुण पचविहा थूभिआ अभिन्नाण।
भग्गघरगोपुराई रुक्खा नाणाविहा चेव॥

७६. मामक (गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश निषिद्ध हो उस) का (मामगं ख) :

जो गृहपति कहे—'मेरे यहाँ कोई न आये', उसके घर का। भिक्षु बुद्धि द्वारा मेरे घर के रहस्य को जान जायगा आदि भावना से अथवा यह साधु अमुक धर्म का है ऐसे द्वेष या ईर्ष्या-भाव से ऐसा निषेध संभव है।

निषिद्ध घर में जाने से भण्डनादि के प्रसङ्ग उपस्थित होते हैं अतः वहाँ जाने का निषेध है[1]।

७७. अप्रीतिकर कुल में (अचियत्तकुलं ग) :

किसी कारणवश गृहपति साधु को आने का निषेध न कर सके, किन्तु उसके जाने से गृहपति को अप्रेम उत्पन्न हो और उसके (गृहपति के) इंगित आकार से यह बात जान ली जाए तो वहाँ साधु न जाए। इसका दूसरा अर्थ यह भी है—जिस घर में भिक्षा न मिले, कोरा आने-जाने का परिश्रम हो, वहाँ न जाए। यह निषेध, मुनि द्वारा किसी को सक्लेश उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[2]।

७८. प्रीतिकर (चियत्तं घ) :

जिस घर में भिक्षा के लिए साधु का आना-जाना प्रिय हो अथवा जो घर त्याग-शील (दान-शील) हो उसे प्रीतिकर कहा जाता है[3]।

श्लोक १८ :

७९. श्लोक १८ :

इस श्लोक में यह बताया गया है कि गोचरी के लिये निकला हुआ मुनि जब गृहस्थ के घर में प्रवेश करने को उन्मुख हो तब वह क्या न करे।

१—(क) अ० चू० : 'मामकं परिवज्जए' 'मा मम घरं पविसन्तु' त्ति मामक सो पुणपंतयाए इस्सालुयताए वा।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : मामय नाम जत्थ गिहपती भणति—मा मम कोई घरमयिउ, पन्नत्तणेण मा कोई ममं छिड्डं लहिहेति, इस्सालुगदोसेण वा।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'मामकं' यत्राऽऽह गृहपतिः—मा मम कश्चित् गृहमागच्छेत् , एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसङ्गात्।

२—(क) अ०चू० : अचियत्तं अप्पित, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अचियत्तो, तस्स ज कुलं तं न पविसे, अहवा ण चागो जत्थ पवत्तइ तं दाणपरिहीण केवलं परिस्समकारी त ण पविसे।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : अचियत्तकुल नाम न सक्केति वारेउ, अचियत्ता पुण पविसंता, तं च इंगिएण णज्जति, जहा एयस्स साघुणो पविसता अचियत्ता, अहवा अचियत्तकुल जत्थ बहुणावि कालेण भिक्खा न लब्भइ, एतारिसेसु कुलेछ पविसंताणं पलिमंथो दीहा य भिक्खायरिया भवति।

(ग) हा० टी० प० १६६ . 'अचिअत्तकुलम्' अप्रीतिकुलं यत्र प्रविशद्भिः साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवारयन्ति, कुतश्चिन्निमित्तान्तरात् , एतदपि न प्रविशेत् , तत्सक्लेश्यनिमित्तत्वप्रसङ्गात्।

३—(क) अ० चू० : चियत्त इट्ठणिक्खमणपवेस चागसपण्ण वा तहाविध पविसे कुल।

(ख) जि० चू० पृ० १७४ : चियत्तं नाम जत्थ चियत्तो निक्खमणपवेसो चागसील वा।

(ग) हा० टी० प० १६६ : 'चिअत्तम्' अचिअत्तविपरीतं प्रविशेत्कुल, तदनुग्रहप्रसङ्गादिति।

८०. गृहपति की आज्ञा लिए विना (ओग्गहंसि अजाइया घ) :

यह पाठ दो स्थानों पर—यहाँ और ६ १३ में है। पहले पाठ की टीका—'अवग्रहमयाचित्वा'[१] और दूसरे पाठ की टीका—'अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा'[२] है। 'ओग्गहंसि' को सप्तमी का एकवचन माना जाए तो इसका संस्कृत-रूप 'अवग्रहे' बनेगा और यदि 'ओग्गह सि' ऐसा पाठ मानकर 'ओग्गह' को द्वितीया का एकवचन तथा 'से' को षष्ठी का एकवचन माना जाए तो इसका सस्कृत-रूप 'अवग्रह तस्य' होगा।

८१. सन (साणी क) :

'शाणी' का अर्थ है—सन की छाल, कपास या अलसी का बना वस्त्र[३]।

८२. मृग-रोम के बने वस्त्र से (पावार क) :

कौटिल्य ने मृग के रोएँ से बनने वाले वस्त्र को प्रावरक कहा है[४]। अगस्त्यचूर्णि में इसे सरोम वस्त्र माना है[५]। चरक में स्वेदन के प्रकरण में प्रावार का उल्लेख हुआ है[६]। स्वेदन के लिए रोगी को चादर, कृष्ण मृग का चर्म, रेशमी चादर अथवा कम्बल आदि ओढाने की विधि है। हरिभद्र ने इसे कम्बल का सूचक माना है[७]।

८३. स्वयं न खोले (अप्पणा नावपंगुरे ख) :

शाणी और प्रावार से आच्छादित द्वार को अपने हाथों से उद्घाटित न करे—न खोले।

चूर्णिकार कहते हैं—"गृहस्थ शाणी, प्रावार आदि से द्वार को ढांक विश्वस्त होकर घर में बैठते, खाते, पीते और आराम करते हैं। उनकी अनुमति लिए विना प्रावरण को हटा कोई अन्दर जाता है वह उन्हें अप्रिय लगता है और अविश्वास का कारण बनता है। वे सोचने लगते हैं—यह बेचारा कितना दयनीय और लोक-व्यवहार से अपरिचित है जो सामान्य उपचार को नहीं जानता। यों ही अनुमति लिए विना प्रावरण को हटा अन्दर चला आता है[८]।"

ऐसे दोषों को ध्यान में रखते हुए मुनि चिक आदि को हटा अन्दर न जाए[९]।

१—हा० टी० प० १६७।

२—हा० टी० प० १६७।

३—(क) अ० चू० : सणो वक्कपडो साणी, कप्पासितो पडो।
(ख) जि० चू० पृ० १७५ : साणी नाम सणवक्केहि वि(ठइ)ज्जइ अलसिमयी वा।
(ग) हा० टी० प० १६६-६७ : शाणी—अतसीवल्कजा पटी।

४—कौटि० अर्थ० २.११ २६।

५—अ० चू० : सरोमो पावारतो।

६—चरक० (सूत्र स्था०) १४ ४६ : कौरवाजिनकौषेयप्रावाराद्यैः सुसंवृत.।

७—हा० टी० प० १६७ : प्रावार —प्रतीत कम्बल्याद्युपलक्षणमेतत्।

८—(क) अ० चू० : त सत ण अवगुरेज्ज। किं कारण ? तत्थ खाण-पाण-सइरालाव-मोहणारम्भेहिं अच्छताण अचियत्त भवति, तत एव मामक लोगोवयारविरहितमिति पडिकुट्ठमवि। तत्थ जणा भणति—एते बइल्ला इव अग्गलाहि रु भियव्वा।
(ख) जि० चू० पृ० १७५ : त काउ ताणि गिहत्थाणि वीसत्थाणि अच्छति, खायति पियति वा मोहति वा, त नो अवपगुरेज्जा, किं कारण ?, तेसिं अप्पत्तियं भवइ, जहा एते एत्तिअयपि उवयार न याणति जहा णावगुणियव्व, लोगसववहारबाहिरा वरागा, एवमादि दोसा भवति।

९—हा० टी० प० १६७ : अलौकिकत्वेन तदन्तर्गतभुजिक्रियादिकारिणां प्रद्वेषप्रसङ्गात्।

८४. किवाड़ न खोले (कवाडं नो पणोल्लेज्जा ग) :

आचाराङ्ग में बताया है—घर का द्वार यदि काटेदार झाड़ी की डाल से ढका हुआ हो तो गृह-स्वामी की अनुमति लिए बिना, प्रतिलेखन किए बिना, जीव-जन्तु देखे बिना, प्रमार्जन किए बिना, उसे खोलकर भीतर न जाए। भीतर से बाहर न आए। पहले गृहपति की आज्ञा लेकर, कांटे की डाल को देखकर (साफ कर) खोले फिर भीतर जाए-आए[1]। इसमें किवाड का उल्लेख नहीं है।

शाणी, प्रावार और कटक-बोंदिका (कांटों की डाली) से ढके द्वार को आज्ञा लेकर खोलने के बारे में कोई मतभेद नहीं जान पड़ता। किवाड के बारे में दो परम्पराएँ हैं—एक के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर किवाड़ खोले जा सकते हैं। दूसरी के अनुसार गृहपति की अनुमति लेकर प्रावरण आदि हटाए जा सकते हैं, किन्तु किवाड़ नहीं खोले जा सकते। पहली परम्परा के अनुसार 'ओग्गहंसि अजाइया' यह शाणी, प्रावार और किवाड़—इन तीनों से सम्बन्ध रखता है। दूसरी परम्परा के अनुसार उसका सम्बन्ध केवल 'शाणी' और 'प्रावार' से है ; 'किवाड' से नहीं।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्रावरण को हटाने में केवल व्यावहारिक असभ्यता का दोष माना है और किवाड खोलने में व्यावहारिक असभ्यता और जीव-वध—ये दोनों दोष माने हैं[2]।

हरिभद्र ने इसमें पूर्वोक्त दोष बतलाए हैं[3] तथा जिनदास ने वे ही दोष विशेष रूप से बतलाए हैं जो बिना आज्ञा शाणी और प्रावार को हटाने से होते हैं[4]।

श्लोक १९ :

८५. श्लोक १९ :

गोचरी के लिए जाने पर अगर मार्ग में मल-मूत्र की बाधा हो जाय तो मुनि क्या करे इसकी विधि इस श्लोक में बताई गई है।

८६. मल-मूत्र की बाधा को न रखे (वच्चमुत्तं न धारए ख) :

साधारण नियम यह है कि गोचरी जाते समय मुनि मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त होकर जाए। प्रमादवश ऐसा न करने के कारण अथवा अकस्मात् पुन: बाधा हो जाए तो मुनि उस बाधा को न रोके।

मूत्र के निरोध से चक्षु में रोग उत्पन्न हो जाता है—नेत्र-शक्ति क्षीण हो जाती है। मल की बाधा रोकने से तेज का नाश होता है, कभी-कभी जीवन खतरे में पड जाता है। वस्त्र आदि के बिगड जाने से अशोभनीय बात घट जाती है।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इस श्लोक की व्याख्या में एक बहुत ही उपयोगी गाथा उद्धृत की है—"मूत्र का वेग रोकने से चक्षु की ज्योति का नाश होता है। मल का वेग रोकने से जीवनी-शक्ति का नाश होता । ऊर्ध्व वायु रोकने से कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है और वीर्य का वेग रोकने से पुरुषत्व की हानि होती है"[5]।

१—आचा० २.१.५ सू० २५१ : से भिक्खू वा भिक्खुणि वा गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कटकबोंदियाए पडिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गह अणणुन्नविय अपडिलेहिय अपमज्जिय नो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा। तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा।

२—अ० चू० : जहा कवाड णो पणोलेज्जा, कवाड दारप्पिहाणं तं ण पणोलेज्जा तत्थ त एव दोसा यंत्रे य सत्तवहो।

३—हा० टी० प० १६७ : 'कपाट' द्वारस्थगन 'न प्रेरयेत्' नोद्घाटयेत्, पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्।

४—जि० चू० पृ० १७५ : कवाड साहुणा णो पणोल्लेयव्व, तत्थ पुव्वभणिया दोसा सविसेसयरा भवंति, एव उग्गहं अजाइया पविसतस्स एते दोसा भवति, जाहे पुण अवस्सकय भवति, धम्मलाभो, एत्थ सावयाण अत्थि जति अणुवरोधो तो पविसामो।

५—अ० चू० : मुत्तनिरोहे चक्खु, वच्चनिरोहे य जीविय चयति।
उड्ढं निरोहे कोढं, सुक्कनिरोहे भवइ अपुमं॥

मल-मूत्र की बाधा उपस्थित होने पर साधु अपने पात्रादि दूसरे श्रमणों को देकर प्रासुक-स्थान की खोज करे और वहाँ मल-मूत्र की बाधा से निवृत्त हो जाए।

जिनदास और वृद्ध-सम्प्रदाय की व्याख्या में विसर्जन की विस्तृत विधि को ओघनियुक्ति से जान लेने का निर्देश किया गया है[1]। वहाँ इसका वर्णन ६२१-२२-२३-२४—इन चार श्लोकों में हुआ है।

८७. प्रासुक-स्थान (फासुयं ग) :

इसका प्रयोग ५.१.१९, ८२ और ९९ में भी हुआ है। प्रस्तुत श्लोक में भी टीकाकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। ८२वें श्लोक में प्रयुक्त 'फासुय' का अर्थ बीज आदि रहित किया है[2]। ९९वें श्लोक की व्याख्या में इसका अर्थ निर्जीव है[3]। बौद्ध-साहित्य में भी इसका इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है[4]। जैन-साहित्य में प्रासुक-स्थान, पान-भोजन आदि-आदि प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

'निर्जीव'—यह प्रासुक का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। इसका प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ निर्दोष या विशुद्ध होता है।

श्लोक २० :

८८. श्लोक २० :

साधु कैसे घर में गोचरी के लिए जाय इसका वर्णन इस श्लोक में है[5]।

८९. निम्न-द्वार वाले (नीयदुवारं क) :

जिसका निर्गम—प्रवेश-मार्ग नीच—निम्न हो[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७५ : पुव्विं चेव साधुणा उवओगो कायव्वो, सण्णा वा काइया वा होज्जा णवत्ति वियाणिऊण पविसियव्वं, जइ वावडयाए उवयोगो न कओ कएवि वा ओतिण्णस्स जाया होज्जा ताहे भिक्खायरियाए पविट्ठेण वच्चमुत्त न धारेयव्वं, किं कारणं ?, मुत्तनिरोधे चक्खुवाघाओ भवति, वच्चनिरोहे य तेय जीवियमवि रुंधेज्जा, तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वोत्ति, ताहे सघाडयस्स भायणाणि (दाऊण) पडिस्सय आगच्छित्ता पाणय गहाय सण्णाभूमिं गतूण फासुयमवगासे उग्गहमणुण्णावेऊण वोसिरियव्वंति। वित्थारो जहा ओहनिज्जुत्तीए।

(ख) हा० टी० प० १६७ : अस्य विषयो वृद्धसप्रदायादवसेय, स चायम्—पुव्वमेव साहुणा सन्नाकाइओवयोग काऊण गोअरे पविसिअव्वं, कहिंवि ण कओ कए वा पुणो होज्जा ताहे वच्चमुत्त ण धारेअव्वं, जओ मुत्तनिरोहे चक्खुवघाओ भवति, वच्चनिरोहे जीविओवघाओ, असोहणा अ आयविराहणा, जओ भणिअं—'सव्वत्थ सजम'मित्यादि, अओ सघाडयस्स सयमायणाणि समप्पिअ पडिस्सए पाणय गहाय सन्नाभूमीए विहिणा वोसिरिज्जा। वित्थरओ जहा ओहणिज्जुत्तीए।

२—हा० टी० प० १७८ : 'प्रासुक' बीजादिरहितम्।

३—हा० टी० प० १८१ : 'प्रासुकं' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थः।

४—(क) महावग्गो ६ ११ पृ० ३२८ भिक्खू फासु विहरेय्युं।

(ख) महावग्गो : फासुक वस्स वसेयाम।

५—अ० चू० : जहा गोयरग्गगतस्स मुत्त—पुरीसधारणमातसजमोवघातिक एवमिदमपीति भण्णति।

६—(क) अ० चू० : णीयं दुवार जस्स सो णीयदुवारो, त पुण फलिहय वा कोट्ठतो वा जओ भिक्खा नीणिज्जति, पलिहतदुवारे ओणतकस्स पडिमाए हिंडमाणस्स खद्धवेउव्वियाति उड्डाहो।

(ख) जि० चू० पृ० १७५ : णीयदुवारं दुविह—पाउडियाए पिहियस्स वा।

(ग) हा० टी० प० १६७ : 'नीचद्वार'—नीचनिर्गमप्रवेशम्।

निम्न द्वार वाले तथा अन्धकारपूर्ण कोठे का परिवर्जन क्यों किया जाए ? इसका आगम-गत कारण अहिंसा की दृष्टि है। न देख पाने से प्राणियों की हिंसा संभव है। वहाँ ईर्या-समिति की शुद्धि नहीं रह पाती। दायकदोष होता है[1]।

श्लोक २१ :

९०. श्लोक २१ :

मुनि कैसे घर में प्रवेश न करे इसका वर्णन इस श्लोक में है[2]।

९१. तत्काल का लीपा और गीला (अहुणोवलित्तं उल्लं ग) :

तुरत के लीपे और गीले आँगन में जाने से सम्पातिम सत्त्वों की विराधना होती है। जलकाय के जीवों को परिताप होता है। इसलिए उसका निषेध किया गया है। तुरत के लीपे और गीले कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्म-विराधना और संयम-विराधना—ये दोनों होती हैं[3]।

श्लोक २२ :

९२. श्लोक २२ :

पूर्व की गाथा में आहार के लिए गये मुनि के लिए सूक्ष्म जीवों की हिंसा से बचने का विधान है[4]। इस गाथा में बादरकाय के जीवों की हिंसा से बचने का उपदेश है।

९३. मेढ़ (एलगं क) :

चूर्णिकार 'एलग' का अर्थ 'बकरा' करते हैं[5]। टीकाकार, दीपिकाकार और अवचूरीकार इसका अर्थ 'मेष' करते हैं[6]। हो सकता है—एलग का सामयिक (आगमिक) अर्थ बकरा रहा हो अथवा सभव है चूर्णिकारों के सामने 'छेलओ' पाठ रहा हो। 'छेलओ' का अर्थ छाग है[7]।

१—(क) हा० टी० प० १६७ : ईर्याशुद्धिर्न भवतीत्यर्थ।

(ख) अ० चू० : दायगस्स उक्खेव गमणाती ण सुज्झति।

(ग) जि० चू० पृ० १७५ : जओ भिक्खा निक्कालिज्जइ त तमस, तत्थ अचक्खुविसए पाणा दुक्ख पच्चुवेक्खिउज्जंतित्तिकाउं नीयदुवारे तमसे कोट्ठओ वज्जेयव्वो।

२—अ० चू० : पगासातो वि नत्थि गहणं इमेहिं कारणेहिं।

३—(क) अ० चू० : उवलित्तमेत्ते आउक्कातो अपरिणतो निस्सरण वा दायगस्स होज्जा अतो तं (परि) वज्जए।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : संपातिमसत्तविराहणत्थ अपरितावियाओ वा आउक्काओत्तिकाउं वज्जेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६७ : सयमात्मविराधनापत्तेरिति।

४—अ० चू० : सुहुमकायजयणाणंतरं बादरकायजयणोवदेस इति फुडमभिधीयते।

५—(क) अ० चू० : एलओ बक्करओ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : एलओ छागो।

६—हा० टी० प० १६७ : 'एडकं' मेषम्।

७—दे० ना० ३.३२ : छागम्मि छेलओ।

६४. प्रवेश न करे (न पविसे ग) :

भेड़ आदि को हटाकर कोष्ठक में प्रवेश करने से आत्मा और सयम दोनों की विराधना होती है[1]।

मेष आदि को हटाने पर वह सींग से मुनि को मार सकता है। कुत्ता काट सकता है। पाड़ा मार सकता है। वछड़ा भयभीत होकर वन्धन को तोड़ सकता है और वर्तन आदि फोड सकता है। वालक को हटाने से उसे पीड़ा उत्पन्न हो सकती है। उसके परिवार वालों मे उस साधु के प्रति अप्रीति होने की सभावना रहती है। वालक को स्नान करा कौतुक (मगलकारी चिन्ह) आदि से युक्त किया गया हो उस स्थिति में वालक को हटाने से उस वालक के प्रदोष—अमङ्गल होने का लाछन लगाया जा सकता है। इस प्रकार एलक आदि को लाघने या हटाने से शरीर और सयम दोनों की विराधना होने की सभावना रहती है[2]।

श्लोक २३ :

६५. श्लोक २३ :

इस श्लोक में यह वताया गया है कि जव मुनि आहार के लिए घर में प्रवेश करे तो वहाँ पर उसे किस प्रकार दृष्टि-सयम रखना चाहिए।

६६. आसक्त दृष्टि से न देखे (असंसत्तं पलोएज्जा क) :

स्त्री की दृष्टि में दृष्टि गडाकर न देखे अथवा स्त्री के अग-प्रत्यगों को निर्निमेष दृष्टि से न देखे[3]।

आसक्त दृष्टि से देखने से ब्रह्मचर्य-व्रत पीड़ित होता है—क्षतिग्रस्त होता है। लोक आक्षेप करते हैं—'यह श्रमण विकार-ग्रस्त है।' रागोत्पत्ति और लोकोपघात—इन दोनों दोषों को देख मुनि आसक्त दृष्टि से न देखे[4]।

मुनि जहाँ खड़ा रहकर भिक्षा ले और दाता जहाँ से आकर भिक्षा दे—वे दोनों असंसक्त होने चाहिए—त्रस आदि जीवों से समुपचित नहीं होने चाहिए। इस भावना को इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है कि मुनि असंसक्त स्थान का अवलोकन करे। यह अगस्त्यचूर्णि की व्याख्या है। 'आसक्त दृष्टि से न देखे' यह उसका वैकल्पिक अर्थ है[5]।

१—हा० टी० प० १६७ : आत्मसयमविराधनादोषाल्लाघवाच्चेति सूत्रार्थ ।

२—(क) अ० चू० : एत्थ पच्चवाता—एलतो सिंगेण फेट्टाए वा आहणेज्जा दारतो खलिएण दुक्खवेज्जा, सयणो वा से अपत्तिय—उप्फोसण—कोउयादीणि पडिलग्गे वा :गेगहणातिपसग करेज्जा। सुणतो खाएज्जा। वच्छतो वितत्थो वधच्छेय भायणातिभेद करेज्जा। वियूहणे वि एते चेव सविसेसा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ . पेल्लिओ सिंगेहिं आहणेज्जा, प्रड्डु वा वहेज्जा, दारए अप्पत्तिय सयणो करेज्जा, उप्फासगहाणकोउगाणि वा, पदोसेण वा पताविज्जा, पडिभग्गो वा होज्जा ताहे भणेज्जा—समणएण ओलडिओ एवमादी दोसा, सुणए खाएज्जा, वच्छओ आहणेज्जा वित्तसेज्ज वा, वितत्थो आयसजमविराहण करेज्जा, विऊहणे ते चेव दोसा, अण्णे य सघट्टणाइ, चेडरूवस्स इत्यादी दुक्खावेज्जा एवमाइ.दोसा भवति।

३—(क) जि० चू० पृ० १७६ : असंसत्त पलोएज्जा नाम इत्थियाए दिट्ठिं न बधेज्जा, अहवा अगपच्चगाणि अणिमिस्साए दिट्ठीए न जोएज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'असंसक्त प्रलोकयेत्' न योषिद् दृष्टेर्दृष्टि मेलयेदित्यर्थ ।

४—(क) जि० चू० पृ० १७६ : किं कारण ?, जेण तत्थ बभव्वयपीला भवइ, जोएत वा दट्ठूण अविरयगा उड्डाहं करेज्जा—पेच्छह समणय सवियार।

(ख) हा० टी० प० १६८ : रागोत्पत्तिलोकोपघातदोषप्रसङ्गात्।

५—अ० चू० : ससत्तं तसपाणातीहिं समुपचित्त, न संसत्त असंसत्त, त पलोएज्जा, जत्थ ठितो भिक्खु गेण्हति दायगस्स वा आगमणातिसु ·· ······ ·· · ·· ··अहवा असंसत्त पलोएज्जा बभव्वयरक्खणत्थ इत्थीए दिट्ठीए दिट्ठिं अगपच्चगेसु वा ण संसत्त अणुबधेज्जा, ईसीदोसपसगा एव संभवति।

९७. अति दूर न देखे (नाइदूरावलोयए ख) :

मुनि वहीं तक दृष्टि डाले जहाँ भिक्षा देने के लिए वस्तुएँ उठाई-रखी जाएं[1]। वह उससे आगे दृष्टि न डालें। घर के दूर कोणादि पर दृष्टि डालने से मुनि के सम्बन्ध में चोर, पारदारिक आदि होने की आशंका हो सकती है[2]। इसलिए अति दूर-दर्शन का निषेध किया गया है।

अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार अति दूर स्थित साधु चींटी आदि जन्तुओं को देख नहीं सकता। अधिक दूर से दिया जाने वाला आहार अभिहृत हो जाता है, इसलिए मुनि को भिक्षा देने के स्थान से अति दूर स्थान का अवलोकन नहीं करना चाहिए—खड़ा नहीं रहना चाहिए। अति दूर न देखे—यह उसका वैकल्पिक रूप है[3]।

९८. उत्फुल्ल दृष्टि से न देखे (उप्फुल्लं न विणिज्झाए ग) :

विकसित नेत्रों से न देखे—औत्सुक्यपूर्ण नेत्रों से न देखे[4]।

स्त्री, रत्न, घर के सामान आदि को इस प्रकार उत्सुकतापूर्वक देखने से गृहस्थ के मन में मुनि के प्रति लघुता का भाव उत्पन्न हो सकता है। वे यह सोच सकते हैं कि मुनि वासना में फंसा हुआ है। लाघव दोष को दूर करने के लिए यह निषेध है।

९९. बिना कुछ कहे वापस चला जाय (नियट्टेज्ज अयंपिरो घ) :

घर में प्रवेश करने पर यदि गृहस्थ प्रतिषेध करे तो मुनि घर से निवर्तित हो—बाहर चला आये। इस प्रकार भिक्षा न मिलने पर वह 'अजल्पन्' बिना कुछ कहे—निंदात्मक दीन वचन अथवा कर्कश वचन का प्रयोग न करते हुए—मौन भाव से वहाँ से चला आये[5]।

'शीलाद्यर्थस्येरः[6]'—इस सूत्र से 'इर' प्रत्यय हुआ है। संस्कृत में इसके स्थान पर 'शीलाद्यर्थे तृन्' होता है। हरिभद्रसूरि ने इसका संस्कृत रूप 'अजल्पन्' किया है।

१—(क) जि० चू० पृ० १७६ : तावमेव पलोएइ जाव उक्खेवनिक्खेवं पासई।
(ख) हा० टी० प० १६८ : 'नातिदूरं प्रलोकयेत्'—दायकस्यागमनमात्रदेशं प्रलोकयेत्।

२—(क) जि० चू० पृ० १७६ : तओ परं घरकोणादी पलोयंतं दट्ठूण संका भवति, किमेस चोरो पारदारिओ वा होज्जा ? एवमादि दोसा भवति।
(ख) हा० टी० प० १६८ : परतश्चौरादिशङ्कादोषः।

३—अ० चू० : तं च णातिदूरा वलोयए अति दूरत्थो पिपीलिकादीणि ण पेक्खन्ति, अतो तिघरंतरा परेणी घरवर भवति पाण जातियरक्खणं ण तीरन्ति त्ति।.................. ....(अहवा) णातिदूरगताए वस्ससणिद्धादीहत्यमत्तावलीयण मससत्ताए दिट्ठीए करणीयं।

४—(क) अ० चू० : उप्फुल्लं ण विणिज्झाए, उप्फुल्ल उद्धुराए दिट्ठिए, 'फुल्लविकसणे' इति हासविगसंततारिगं ण विणिज्झाए ण विविधं पेक्खेज्जा, दिट्ठीए विनियट्टणमिव।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : उप्फुल्लं नाम विगसिएहि णयणेहि इत्थीसरीरं रयणादी वा ण निज्झाइयव्वं।
(ग) हा० टी० प० १६८ : 'उत्फुल्लं' विकसितलोचनं 'न विणिज्झाए' त्ति न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्तेः।

५—(क) अ० चू० : वाताए वि 'णियट्टेज्ज अयंपुरो' दिण्णे परियदणेण अदिण्णे रोसवयणेहिं.........एवमादीहिं अजंपणसीलो 'अयंपुरो' एवविधो णियट्टेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : जदा य पडिसेहिओ भवति तदा अयंपिरेण णियत्तियव्वं, अज्झंखमाणेणति वुत्तं भवति।
(ग) हा० टी० प० १६८ : तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन्—दीनवचनमनुच्चारयन्निति।

६—हैम० ८.२ १४५।

श्लोक २४ :

१००. श्लोक २४ :

आहार के लिए गृह में प्रवेश करने के बाद साधु कहाँ तक जाय इसका नियम इस श्लोक में है।

१०१. अतिभूमि (अननुज्ञात) में न जाय (अइभूमिं न गच्छेज्जा क) :

गृहपति के द्वारा अननुज्ञात या वर्जित भूमि को 'अतिभूमि' कहते हैं। जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते हैं वहाँ तक की भूमि अतिभूमि नहीं होती। मुनि इस सीमा का अतिक्रमण कर आगे न जाय[1]।

१०२. कुल-भूमि (कुल-मर्यादा) को जानकर (कुलस्स भूमिं जाणित्ता ग) :

जहाँ तक जाने में गृहस्थ को अप्रीति न हो, जहाँ तक अन्य भिक्षाचर जाते हों उस भूमि को कुल-भूमि कहते हैं[2]। इसका निर्णय ऐश्वर्य, देशाचार, भद्रक-प्रान्तक आदि गृहस्थों की अपेक्षा से करना चाहिए।

लाख का गोला अग्नि पर चढाने से पिघल जाता है और उससे अति दूर रहने पर वह रूप नहीं पा सकता। इसी प्रकार गृहस्थ के घर से दूर रहने पर मुनि को भिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती, एषणा की भी शुद्धि नहीं हो पाती। और अत्यन्त निकट चले जाने पर अप्रीति या सन्देह उत्पन्न हो सकता है। अतः वह कुल की भूमि (भिक्षा लेने की भूमि) को पहले जान ले[3]।

१०३. मित-भूमि (अनुज्ञात) में प्रवेश करे (मियं भूमिं परक्कमे घ) :

गृहस्थ के द्वारा अनुज्ञात—अवर्जित भूमि को मित-भूमि कहते हैं[4]।

यह नियम अप्रीति और अविश्वास उत्पन्न न हो इस दृष्टि से है[5]।

१—(क) अ० चू० : भिक्खयरभूमि अतिक्कमणं—अतिभूमी त ण गच्छेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : अणणुण्णाता भूमी ....साहू न पविसेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १६८ : अतिभूमिं न गच्छेद्—अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः।

२—(क) अ० चू० : किं पुण भूमिपरिमाण? इति भण्णति—त विभव-देसा आयार-भद्दग-पतगादीहिं 'कुलस्स भूमिं णाऊण' पुव्वपरिक्कमणेण अण्णे वा भिक्खायरा जावतियं भूमिमुपसरति एव विण्णात।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : केवइयाए पुण पविसियव्वं?, ... 'जत्थ तेसिं गिहत्थाणं अप्पत्तिय न भवइ, जत्थ अण्णेवि भिक्खायरा ठायति।

३—(क) अ० चू० : गोले त्ति गहणेसणाए अतिभूमीगमणणिरोहत्थं भण्णति—जतु गोलमणया कातव्वा, जतुगोलतो अग्गिमारोवितो विधिरति, दूरत्थो असंतत्तो रूव ण निव्वत्तेति, साहू वि दूरत्थो अदीसमाणो भिक्ख न लभति एसण वा न सोहेति, आसण्णे अप्पत्तिय भवति तेणातिसका वा, तम्हा कुलस्स भूमिं जाणेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६ :

जह जउगोलो अगणिस्स णाइदूरे ण आवि आसन्ने।
सक्कइ काऊण तहा संजमगोलो गिहत्थाण॥

४—(क) अ० चू० : 'मित भूमि परक्कमे' बुद्धीए सपेहित सव्वदोसरहिय तावतिय पविसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'मितां भूमिं' तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्।

(ग) हा० टी० प० १६ :

दूरे अणेसणाऽदंसणाइ इयरम्मि तेणसंकाइ।
तम्हा मियभूमीए चिट्ठिज्जा गोयरग्गगओ॥

५—(क) जि० चू० पृ० १७७ : मिय नाम अणुन्नाय, परक्कमे नाम पविसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १६८ : यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थः।

श्लोक २५ :

१०४. श्लोक २५ :

मित-भूमि में जाकर साधु कहाँ और कैसे खड़ा रहे इसकी विधि प्रस्तुत श्लोक में है[१] ।

१०५. विचक्षण मुनि (वियक्खणो [ख]) :

विचक्षण का अर्थ—गीतार्थ या शास्त्र-विधि का जानकार है । अगीतार्थ के लिए भिक्षाटन का निषेध है । भिक्षा उसे लानी चाहिए जो शास्त्रीय विधि-निषेधों और लोक-व्यवहारों को जाने, सयम में दोष न आने दे और शासन का लाघव न होने दे[२] ।

१०६. मित-भूमि में ही (तत्थेव [क]) :

मित-भूमि में भी साधु जहाँ-तहाँ खड़ा न होकर इस बात का उपयोग लगाये कि वह कहाँ खड़ा हो और कहाँ खड़ा न हो । वह उचित स्थान को देखे । साधु मित-भूमि में कहाँ खड़ा न हो इसका स्पष्टीकरण इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में आया है[३] ।

१०७. शौच का स्थान (वच्चस्स [ग]) :

जहाँ मल और मूत्र का उत्सर्ग किया जाए वे दोनों स्थान 'वर्चस्' कहलाते हैं[४] ।

१०८. दिखाई पड़े उस भूमि-भाग का (संलोगं [घ]) :

'संलोक' शब्द का सम्बन्ध स्नान और वर्चस् दोनों से है । 'सलोक'—संदर्शन अर्थात् जहाँ खड़ा होने से मुनि को स्नान करती हुई या मल-विसर्जन करती हुई स्त्री दिखाई दे अथवा वही साधु को देख सके[५] ।

स्नान-गृह और शौच-गृह की ओर दृष्टि डालने से शासन की लघुता होती है—अविश्वास होता है और नग्न शरीर के अवलोकन से काम-वासना उभरती है[६] । यहाँ आत्म-दोष और पर-दोष—ये दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं । स्त्रियाँ सोचती हैं—हम मातृ-

---

१—अ० चू० : जम्मि य भूमिगमणमुद्दिट्ठमणतरं तम्मि वि आय-पवयण—सजमोवरोहपरिहरणत्थं नियमिज्जति ।

२—(क) अ० चू० : 'वियक्खणो' परामिप्पाय जाणतो, कहिं चियत्तं ण वा ? विसेसेण पवयणोवघातरक्खणत्थं ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'विचक्षणो' विद्वान्, अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह ।

३—(क) अ० चू० : तत्थेति ताए मिताए भूमीए एवसद्दो अवधारणे । किमवधारयति ? पुव्वुदिट्ठ कुलाणुरूव ।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : तत्तियाए मियाए भूमीए उवयोगो कायव्वो पंडिएण, कत्थ ठातियव्वं कत्थ न वत्ति, तत्थ ठातियव्वं जत्थ इमाइं न दीसति ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'तत्रैव' तस्यामेव मितायां भूमौ ।

४—(क) अ० चू० : 'वच्च' अमेज्झं तं जत्थ । पचप (? पछ-प) डगादिसमीवथाणादिसु त एव दोसा इति ।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : वच्च नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइसन्नाओ ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'वर्चसो' विष्टायाः ।

५—(क) अ० चू० : 'सलोगो' जत्थ एताणि आलोइज्जति त परिवज्जए ।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : आसिणाणस्ससलोय परिवज्जए, सिणाणसलोगं वच्चसंलोगं व······संलोगं जत्थ ठिएण हि दीसंति, ते वा तं पासति ।

(ग) हा० टी० प० १६८ : स्नानभूमिकायिकादिभूमिसदर्शनम् ।

६—हा० टी० प० १६८ : प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्रीदर्शनाच्च रागादिभावात् ।

वर्ग जहाँ स्नान करती हैं उस ओर यह काम-विह्वल होकर ही देख रहा है। यह पर-सम्बन्धी दोष है। अनावृत स्त्रियों को देखकर मुनि के चरित्र का भग होता है। यह आत्म-सम्बन्धी दोष है। ये ही दोष वर्चस्-दर्शन के हैं[1]। मुनि इन दोषों को ध्यान में रख इस नियम का पालन करे।

श्लोक २६ :

१०६. श्लोक २६ :

भिक्षा के लिए मित-भूमि में प्रविष्ट साधु कहाँ खड़ा न हो, इसका कुछ और उल्लेख इस श्लोक में है।

११०. सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि (सव्विंदियसमाहिए [घ]) :

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों से आक्षिप्त—आकृष्ट न हो, उसे सर्वेन्द्रिय-समाहित कहा जाता है[2] अथवा जिसकी सब इन्द्रियाँ समाहित हों—अंतर्मुखी हों, बाह्य विषयों से विरत होकर आत्मलीन बन गई हों, उसे समाहित-सर्वेन्द्रिय कहा जाता है। जो मुनि सर्वेन्द्रिय-समाधि से संपन्न होता है, वही अहिंसा का सूक्ष्म विवेक कर सकता है।

१११. मिट्टी (मट्टिय [क]) :

अटवी से लाई गई सचित्त—सजीव मिट्टी[3]।

११२. लाने के मार्ग (आयाणं [क]) :

आदान अर्थात् ग्रहण। जिस मार्ग से उदक, मिट्टी आदि ग्रहण की जाती—लाई जाती हो वह मार्ग[4]।

हरिभद्र ने 'आदान' को उदक और मिट्टी के साथ ही सम्बन्धित रखा है जबकि जिनदास ने हरियाली आदि के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ा है[5]।

११३. हरियाली (हरियाणि [ख]) :

यहाँ हरित शब्द से समस्त प्रकार के वृक्ष, गुच्छादि, घासादि वनस्पति विशेष का ग्रहण समझना चाहिए[6]।

१—जि० चू० पृ० १७७ : तत्थ आयपरसमुत्था दोसा भवति, जहा जत्थ अम्हे ण्हाओ जत्थ य मातिवग्गो अम्हं ण्हायइ तमेसो परिभवमाणो कामेमाणो वा एत्थ ठाइ, एवमाई परसमुत्था दोसा भवति, आयसमुत्था तस्सेव ण्हायतिओ अवाउडियाओ अविरतियाओ दट्ठूण चरित्तभेदादी दोसा भवति, वच्च नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइसन्नाओ, तस्सवि सलोग वज्जेयव्वो, आयपरसमुत्था दोसा पवयणविराहणा य भवति।

२—(क) अ० चू० : सव्विंदियसमाहितो सव्वेहिं इंदिएहिं एएसिं परिहरणे सम्म आहितो समाहितो।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : सव्विंदियसमाहितो नाम नो सद्दरूवाईहिं अक्खित्तो।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'सर्वेन्द्रियसमाहित' शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति।

३—(क) अ० चू० : 'मट्टिया' सच्चित्त पुढविकायो सो जत्थ अधुणा आणीयो।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : मट्टिया अडवीओ सचित्ता आणीया।

४—अ० चू० : जत्थ जेण वा थाणेण उदगमट्टियाओ गेण्हति त दगमट्टियायाणं।

५—(क) जि० चू० पृ० १७७ : आदाण नाम गहण, जेण मग्गेण गंतूण दगमट्टियहरियादीणि घेप्पति त दगमट्टियआयाण भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : आदीयतेऽनेनेत्यादानो—मार्ग, उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थ।

६—(क) अ० चू० : हरिताणि दुव्वादीणि।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : हरियग्गहणेणं सव्वे रुक्खगुच्छाइणो वणप्फइविसेसा गहिया।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'हरितानि च' दूर्वादीनि।

श्लोक २७ :

११४. श्लोक २७ :

अब तक के श्लोकों में आहारार्थी मुनि स्व-स्थान से निकलकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, वहाँ कैसे स्थित हो इस विधि का उल्लेख है। अब वह क्या ग्रहण करे क्या नहीं करे इसका विवेचन आता है।

जो कालादि गुणों से शुद्ध है, जो अनिष्ट कुलों का वर्जन करता है, जो प्रीतिकारी कुलों में प्रवेश करता है, जो उपदिष्ट स्थानों में स्थित होता है और जो आत्मदोषों का वर्जन करता है उस मुनि को अब दायक-शुद्धि की बात बताई जा रही है[1]।

११५. (अकप्पियं ग ···कप्पियं घ) :

शास्त्र-विहित, अनुमत या अनिषिद्ध को 'कल्पिक' या 'कल्प्य'[2] और शास्त्र-निषिद्ध को 'अकल्पिक' या 'अकल्प्य'[3] कहा जाता है।

'कल्प' का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि या सामाचारी और 'कल्प्य' का अर्थ है—नीति आदि से युक्त ग्राह्य, करणीय और योग्य। इस अर्थ में 'कल्पिक' शब्द का भी प्रयोग होता है। उमास्वाति के शब्दों में जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रह और दोषों का निग्रह करता है वही निश्चय-दृष्टि से 'कल्प्य' है और शेष 'अकल्प्य'[4]। उनके अनुसार कोई भी कार्य एकान्ततः 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' नहीं होता। जिस 'कल्प्य' कार्य से सम्यक्त्व, ज्ञान आदि का नाश और प्रवचन की निंदा होती हो तो वह 'अकल्प्य' है। इसी प्रकार 'अकल्प्य' भी 'कल्प्य' बन जाता है। निष्कर्ष की भाषा में देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि की समीक्षा करके ही 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' का निर्णय किया जा सकता है, इन्हें छोड़कर नहीं[5]।

आगम-साहित्य में जो उत्सर्ग और अपवाद हैं, वे लगभग इसी आशय के द्योतक हैं। फिर भी 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की निश्चित रेखाएँ खिची हुई हैं। उनके लिए अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की व्यवस्था देना उचित नहीं होता। बहुश्रुत आगम-धर के अभाव में आगमोक्त विधि-निषेधों का यथावत् अनुसरण ही ऋजु मार्ग है। मुनि को कल्पिक, एषणीय या भिक्षा-सम्बन्धी बयालीस दोष-वर्जित, भिक्षा लेनी चाहिए। यह ग्रहणैषणा (भक्त-पान लेने की विधि) है।

१—(क) अ० चू० : एव काले अपडिसिद्धकुलमियभूमिपदेसावत्थितस्स गवेसणाजुत्तस्स गहणेसणाणियमणत्थमुपदिस्सति।
(ख) जि० चू० पृ० १७७ : एव तस्स कालाइगुणछुद्धस्स अणिट्ठकुलाणि वज्जेंतस्स चियत्तकुले पविसंतस्स जहोवदिट्ठे ठाणे ठियस्स आयसमुत्था दोसा वज्जेंतस्स दायगसुद्धी भण्णइ।

२—(क) अ० चू० : कप्पित सेसेसणा दोसपरिसुद्धमवि।
(ख) हा० टी० प० १६८ : 'कल्पिकम्' एषणीयम्।

३—(क) अ० चू० : बायालीसाए अण्णतरेण एसणादोसेण दुट्ठं।
(ख) हा० टी० प० १६८ : 'अकल्पिकम्' अनेषणीयम्।

४—प्र० प्र० १४३ :
यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥

५—वही १४४-४६ :
यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम्।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्य प्रवचनकुत्साकरं यच्च॥
किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्य स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड: शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा॥
देशं कालं क्षेत्रं पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥

वर्ग जहाँ स्नान करती हैं उस ओर यह काम-विह्वल होकर ही देख रहा है। यह पर-सम्बन्धी दोष है। अनावृत स्त्रियों को देखकर मुनि के चरित्र का भंग होता है। यह आत्म-सम्बन्धी दोष है। ये ही दोष वर्चस्-दर्शन के हैं[1]। मुनि इन दोषों को ध्यान में रख इस नियम का पालन करे।

श्लोक २६ :

१०९. श्लोक २६ :

भिक्षा के लिए भिक्त-भूमि में प्रविष्ट साधु कहाँ खड़ा न हो, इसका कुछ और उल्लेख इस श्लोक में है।

११०. सर्वेन्द्रिय-समाहित मुनि (सव्विंदियसमाहिए [घ]) :

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों से आक्षिप्त—आकृष्ट न हो, उसे सर्वेन्द्रिय-समाहित कहा जाता है[2] अथवा जिसकी सब इन्द्रियाँ समाहित हों—अन्तर्मुखी हों, बाह्य विषयों से विरत होकर आत्मलीन बन गई हों, उसे समाहित-सर्वेन्द्रिय कहा जाता है। जो मुनि सर्वेन्द्रिय-समाधि से संपन्न होता है, वही अहिंसा का सूक्ष्म विवेक कर सकता है।

१११. मिट्टी (मट्टिय [क]) :

अटवी से लाई गई सचित्त—सजीव मिट्टी[3]।

११२. लाने के मार्ग (आयाणं [क]) :

आदान अर्थात् ग्रहण। जिस मार्ग से उदक, मिट्टी आदि ग्रहण की जाती—लाई जाती हो वह मार्ग[4]।

हरिभद्र ने 'आदान' को उदक और मिट्टी के साथ ही सम्बन्धित रखा है जबकि जिनदास ने हरियाली आदि के साथ भी उसका सम्बन्ध जोड़ा है[5]।

११३. हरियाली (हरियाणि [ख]) :

यहाँ हरित शब्द से समस्त प्रकार के वृक्ष, गुच्छादि, घासादि वनस्पति विशेष का ग्रहण समझना चाहिए[6]।

१—जि० चू० पृ० १७७ : तत्थ आयपरसमुत्था दोसा भवति, जहा जत्थ अम्हे गहाओ जत्थ य मातिवग्गो अम्ह ण्हायइ तमेसो परिभवमाणो कामेमाणो वा एन्थ ठाइ, एवमाई परसमुत्था दोसा भवति, आयसमुत्था तस्सेव ण्हायंतिओ अवाउडियाओ अविरतियाओ दट्ठूण चरित्तभेदादी दोसा भवति, वच्च नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइसन्नाओ, तस्सवि सलोगं वज्जेयव्वो, आयपरसमुत्था दोसा पवयणविराहणा य भवति।

२—(क) अ० चू० : सव्विंदियसमाहितो सव्वेहि इंदिएहि एएसि परिहरणे सम्म आहितो समाहितो।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : सव्विंदियसमाहितो नाम नो सद्दरूवाईहि अक्खित्तो।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'सर्वेन्द्रियसमाहितः' शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति।

३—(क) अ० चू० 'मट्टिया' सचित्त पुढविक्कायो सो जत्थ अधुणा आणीयो।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : मट्टिया अडवीओ सचित्ता आणीया।

४—अ० चू० : जत्थ जेण वा थाणेण उदगमट्टियाओ गेण्हति त दगमट्टिययाण।

५—(क) जि० चू० पृ० १७७ : आदाण नाम गहण, जेण मग्गेण गतूण दगमट्टियहरियादीणि घेप्पति त दगमट्टियआयाण भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : आदीयतेऽनेनेत्यादानो—मार्गः, उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थः।

६—(क) अ० चू० : हरिताणि दुव्वादीणि।

(ख) जि० चू० पृ० १७७ : हरियग्गहणेण सव्वे रुक्खगुच्छाइणो वणप्फइविसेसा गहिया।

(ग) हा० टी० प० १६८ : 'हरितानि च' दूर्वादीनि।

श्लोक २७ :

११४. श्लोक २७ :

अब तक के श्लोकों में आहारार्थी मुनि स्व-स्थान से निकलकर गृहस्थ के घर में प्रवेश करे, वहाँ कैसे स्थित हो इस विधि का उल्लेख है। अब वह क्या ग्रहण करे क्या नहीं करे इसका विवेचन आता है।

जो कालादि गुणों से शुद्ध है, जो अनिष्ट कुलों का वर्जन करता है, जो प्रीतिकारी कुलों में प्रवेश करता है, जो उपदिष्ट स्थानों में स्थित होता है और जो आत्मदोषों का वर्जन करता है उस मुनि को अब दायक-शुद्धि की बात बताई जा रही है[1]।

११५. (अकप्पियं ग ···कप्पियं घ) :

शास्त्र-विहित, अनुमत या अनिषिद्ध को 'कल्पिक' या 'कल्प्य'[2] और शास्त्र-निषिद्ध को 'अकल्पिक' या 'अकल्प्य'[3] कहा जाता है।

'कल्प' का अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि या सामाचारी और 'कल्प्य' का अर्थ है—नीति आदि से युक्त ग्राह्य, करणीय और योग्य। इस अर्थ में 'कल्पिक' शब्द का भी प्रयोग होता है। उमास्वाति के शब्दों में जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रह और दोषों का निग्रह करता है वही निश्चय-दृष्टि से 'कल्प्य' है और शेष 'अकल्प्य'[4]। उनके अनुसार कोई भी कार्य एकान्ततः 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' नहीं होता। जिस 'कल्प्य' कार्य से सम्यक्त्व, ज्ञान आदि का नाश और प्रवचन की निंदा होती हो तो वह 'अकल्प्य' है। इसी प्रकार 'अकल्प्य' भी 'कल्प्य' बन जाता है। निष्कर्ष की भाषा में देश, काल, पुरुष, अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि की समीक्षा करके ही 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' का निर्णय किया जा सकता है, इन्हें छोड़कर नहीं[5]।

आगम-साहित्य में जो उत्सर्ग और अपवाद हैं, वे लगभग इसी आशय के द्योतक हैं। फिर भी 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की निश्चित रेखाएँ खिंची हुई हैं। उनके लिए अपनी-अपनी इच्छा के अनुकूल 'कल्प्य' और 'अकल्प्य' की व्यवस्था देना उचित नहीं होता। बहुश्रुत आगम-धर के अभाव में आगमोक्त विधि-निषेधों का यथावत् अनुसरण ही ऋजु मार्ग है। मुनि को कल्पिक, एषणीय या भिक्षा-सम्बन्धी बयालीस दोष-वर्जित, भिक्षा लेनी चाहिए। यह ग्रहणैषणा (भक्त-पान लेने की विधि) है।

१—(क) अ० चू० : एव काले अपडिसिद्धकुलमियभूमिपदेसावत्थितस्स गवेसणाजुत्तस्स गहणेसणाणियमणत्थमुपदिस्सति।
(ख) जि० चू० पृ० १७७ : एवं तस्स कालाइगुणसुद्धस्स अणिट्ठकुलाणि वज्जेंतस्स चियत्तकुले पविसंतस्स जहोवदिट्ठे ठाणे ठियस्स आयसमुत्था दोसा वज्जेतस्स दायगसुद्धी भण्णइ।

२—(क) अ० चू० : कप्पितं सेसेसणा दोसपरिसुद्धमवि।
(ख) हा० टी० प० १६८ : 'कल्पिकम्' एषणीयम्।

३—(क) अ० चू० : बायालीसाए अण्णतरेण एसणादोसेण दुट्ठं।
(ख) हा० टी० प० १६८ : 'अकल्पिकम्' अनेषणीयम्।

४—प्र० प्र० १४३ :
यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्प्यमकल्प्यमवशेषम्॥

५—वही १४४-४६ :
यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम्।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च॥
किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भेषजाद्यं वा॥
देशं कालं क्षेत्रं पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥

श्लोक २८ :

११६. श्लोक २८ :

इस श्लोक में 'छर्दित' नामक एषणा के दसवें दोषयुक्त भिक्षा का निषेध है[1]। तुलना के लिए देखिए—आवश्यक सूत्र ४.८।

११७. देती हुई (देंतियं ग)

प्रायः स्त्रियाँ ही भिक्षा दिया करती हैं, इसलिए यहाँ दाता के रूप से स्त्री का निर्देश किया है[2]।

श्लोक २६ :

११८. और (य ख) :

अगस्त्य चूर्णि में 'य' के स्थान पर 'वा' है। उन्होंने 'वा' से सब वनस्पति का ग्रहण माना है[3]।

११६. असंयमकरी होती है—यह जान (असंजमकरिं नच्चा ग) :

मुनि की भिक्षाचर्या में अहिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेक रखा गया है। भिक्षा देते समय दाता आरम्भ-रत नहीं होना चाहिए। असंयम का अर्थ संयममात्र का अभाव होता है। किन्तु प्रकरण-संगति से यहाँ उसका अर्थ जीव-वध ही संभव लगता है। भिक्षा देने के निमित्त आता हुआ दाता यदि हिंसा करता हुआ आए अथवा भिक्षा देने के लिए वह पहले से ही वनस्पति आदि के आरम्भ में लगा हुआ हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेने का निषेध है।

१२०. भक्त-पान (तारिसं घ) :

दोनों चूर्णिकार 'तारिसं'—ऐसा पाठ मानते हैं[4]। उनके अनुसार यह शब्द भक्त-पान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार तथा उनके उपजीवी व्याख्याकार 'तारिसिं'—ऐसा पाठ मान उसे देने वाली स्त्री के साथ जोड़ते हैं[5]। इसका अनुवाद होगा—उसे वर्जे—उसके हाथ से भिक्षा न ले।

१—पि० नि० ६२७-२८ :

सच्चित्ते अच्चित्ते मीसग तह छड्डणे य चउभंगो।
चउभंगे पडिसेहो गहणे आणाइणो दोसा॥
उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्झ कायदाहो वा।
सीयपडणंमि काया पडिए महुबिंदुआहरणं॥

२—(क) अ० चू० : 'पाएण इत्थीहिं भिक्खादाणं' ति इत्थीनिद्देसो।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पायसो इत्थियाओ भिक्खं दलयंति तेण इत्थियाए निद्देसो कओ।
(ग) हा० टी० प० १६६ : 'ददतीम्'''' ''स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम्।

३—अ० चू० : वा सद्देण सव्वं वणस्सति कायं।

४—(क) अ० चू० : तारिसं पुव्वमधिकृतं पाणभोयणं परिवज्जए।
(ख) जि० चू० पृ० १७८ : तारिसं भत्तपाणं तु परिवज्जए।

५—हा० टी० प० : १६६ : तादृशीं परिवर्जयेत्, ददतीं प्रत्याचक्षीत।

श्लोक ३० :

१२१. एक वर्तन में से दूसरे वर्तन में निकाल कर (साहट्टु क) :

भोजन को एक वर्तन से निकाल कर दूसरे वर्तन में डालकर दें तो चाहे वह प्रासुक ही क्यों न हो मुनि उसका परिवर्जन करे। इस प्रकार के आहार की चौभङ्गी इस तरह है[1] :—

(१) प्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले।

(२) प्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले।

(३) अप्रासुक वर्तन से आहार को प्रासुक वर्तन में निकाले।

(४) अप्रासुक वर्तन से आहार को अप्रासुक वर्तन में निकाले।

प्रासुक में से प्रासुक निकाले उसके भङ्ग इस प्रकार हैं :—

(१) अल्प को अल्प में से निकाले।

(२) वहुत को अल्प में से निकाले।

(३) अल्प को वहुत में से निकाले।

(४) वहुत को वहुत में से निकाले।

विशेष जानकारी के लिए देखिए पिण्ड निर्युक्ति गा० ५६३-६८।

१२२. श्लोक ३०-३१ :

आहार को पाक-पात्र से दूसरे पात्र में निकालना और उसमें जो अनुपयोगी अंश हो उसे वाहर फेंकना सहरण कहलाता है। सहरण-पूर्वक जो भिक्षा दी जाए उसे 'सहृत' नाम का दोष माना गया है। सचित्त-वस्तु पर रखे हुए पात्र में भिक्षा निकालकर देना, छोटे पात्र में न समाए उतना निकाल कर देना, वड़े पात्र में जो वडे कष्ट से उठाया जा सके उतना निकाल कर देना 'संहृत' दोष है[2]।

१—(क) अ० चू० गा० ५६३-६८ : साहट्टु अण्णम्मि भायणे छोढूणं। एत्थ य फासुय अफासुए साहरति चउभंगो। तत्थ जं फासुयं फासुए साहरति तं छुक्ख छुक्खे साहरति एत्थ वि चउभंगो। भगाण पिंडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो।

(ख) जि० चू० पृ० १७८ : साहट्टु नाम अन्नमि भायणे साहरिउ देंति तं फासुगपि विवज्जए, तत्थ फासुए फासुय साहरइ १ फासुए अफासुयं साहरइ २ अफासुए फासुय साहरइ ३ अफासुए अफासुयं साहरति ४, तत्थ जं फासुय फासुएसु साहरति तं थेवं थेवे साहरति वहुए थेवं साहरइ थेवे वहुय साहरइ वहुए वहुय साहरइ, एतेसिं भंगाणं जहा पिंडनिज्जुत्तीए।

२—पि० नि० ५६५-७१ :

मत्तेण जेण दाहिइ तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाई।
छोढु तयन्नहिं तेणं देई अह होइ साहरणं॥
भूमाइएसु तं पुण साहरण होइ छसुवि काएसु।
जं त दुहा अचित्तं साहरण तत्थ चउभगो॥
सुक्के सुक्क पढमो सुक्के उल्ल तु विइयओ भंगो।
उल्ले सुक्क तइओ उल्ले उल्ल चउत्थो उ॥
एक्केक्के चउभंगो सुक्काईएसु चउसु भंगेसु।
थोवे थोव थोवे वहुं च विवरीय दो अन्ने॥
जत्थ उ थोवे थोवं सुक्के उल्लं च छुहइ त भक्खं (गेज्झ)।
जइ तं तु समुक्खेउं थोवाभारं दलइ अन्नं॥
उक्खेवे निक्खिवे महल्लभाणमि लुद्ध वह डाहो।
अचियत्तं वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते॥
थोवे थोवं छूढं सुक्के उल्लं तु त तु आइन्न।
वहुयं तु अणाइन्न कडदोसो सोत्ति काऊणं॥

जो देय-भाग हो, उसे सचित्त-वस्तु पर रख कर देना 'निक्षिप्त' दोष है[1]। उदक का प्रेरण, अवगाहन और चालन सचित्त-स्पर्श के भीतर समाए हुए हैं। फिर भी इनका विशेष प्रसग होने के कारण विशेष उल्लेख किया गया है। सचित्त वस्तु का अवगाहन कर या उसे हिलाकर भिक्षा दी जाए, यह एषणा का 'दायक' नामक छठा दोष है।

श्लोक ३२ :

१२३. पुराकर्म-कृत (पुरेकम्मेण क) :

साधु को भिक्षा देने के निमित्त पहले सजीव जल से हाथ, कड़छी आदि धोना अथवा अन्य किसी प्रकार का आरम्भ—हिंसा करना पूर्व-कर्म दोष है[2]।

१२४. वर्तन से (भायणेण ख) :

काँसे आदि के वर्तन को 'भाजन' कहा जाता है[3]। निशीथ चूर्णि के अनुसार मिट्टी का वर्तन 'अमत्रक' या 'मात्रक' और कांस्य का पात्र 'भाजन' कहलाता है[4]।

१२५. श्लोक ३३-३४ : पाठान्तर का टिप्पण :—

एवं उदओल्ले ससिणिद्ध······॥३३॥

गेरुय वण्णिय········ ······॥३४॥

टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएँ हैं। चूर्णि में इनके स्थान पर सग्रह श्लोक हैं। टीकाभिमत गाथाओं में 'एव' और 'वोधव्व' ये दो शब्द जो हैं वे इस वात के सूचक हैं कि ये सग्रह-गाथाएँ हैं। जान पड़ता है कि पहले ये श्लोक भिन्न-भिन्न थे फिर वाद में संक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोड़े में सग्रहण किया गया। यह कव और किसने किया इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है। इसके वारे में इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है।

अगस्त्य चूर्णि की गाथाएँ इस प्रकार हैं :

१. उदओल्लेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दँतिय पडियाइक्खे ण मे कप्पति तारिस॥
२. ससिणिद्धेण हत्थेण······················
३. ससरक्खेण हत्थेण······················
४ मट्टियागतेण हत्थेण····················
५ ऊसगतेण हत्थेण ·····················

१—देखिए 'सघट्टिया' की टिप्पणी (५ १ ६१) सख्या १६३।

२—(क) अ० चू० : पुरेकम्म ज साधुनिमित्तं धोवण हत्थादीण।

(ख) जि० चू० पृ० १७८ : पुरेकम्म नाम ज साधूण दट्ठूणं हत्थ भायणं धोवइ तं पुरेकम्म भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७० : पुर- कर्मणा हस्तेन—साधुनिमित्तं प्राक्कृतजलोज्झनव्यापारेण।

३—(क) जि० चू० पृ० १७६ . भायण कसभायणादि।

(ख) हा० टी० प० १७० : 'भाजनेन वा' कांस्यभाजनादिना।

४—नि० ४.३६ चू० : पुढविमओ मत्तओ। कसमय भायण।

६ हरितालगतेण हत्थेण..................
७. हिंगोलुयगतेण हत्थेण..................
८. मणोसिलागतेण हत्थेण.......... . ...
६. अंजणगतेण हत्थेण.....................
१०. लोणगतेण हत्थेण.......................
११. गेरुयगतेण हत्थेण.... ....
१२. वण्णियगतेण हत्थेण... . . ..
१३ सेडियगतेण हत्थेण.... ....
१४. सोरट्ठियगतेण हत्थेण....... ....
१५. पिट्ठगतेण हत्थेण........ ....
१६. कुक्कुसगतेण हत्थेण.....................
१७. उक्कुट्ठगतेण हत्थेण.. ....

चूर्णिगत श्लोकों का अनुवाद क्रमशः इस प्रकार है :—

१. जल से आर्द्र हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२ सस्निग्ध हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

३ सजीव रज-कण से संसृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

४. मृतिका से ससृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मै नहीं ले सकता।

५ क्षार से ससृष्ट हाथ, कडछी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६ हरिताल से ससृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

७. हिंगुल से ससृष्ट हाथ, कड़छी और वतन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

८. मैनशिल से ससृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

६. अञ्जन से ससृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१०. नमक से संसृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

११. गैरिक से संसृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१२. वर्णिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और वर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१३. श्वेतिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१४ सौराष्ट्रिका से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१५ तत्काल पीसे हुए आटे या कच्चे चावलों के आटे से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१६. अनाज के भूसे या छिलके से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१७ फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तों के रस से संसृष्ट हाथ, कड़छी और बर्तन से भिक्षा देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

श्लोक ३३ :

१२६. जल से आर्द्र, सस्निग्ध (उदओल्ले ससिणिद्धं [क]) :

जिससे बूंदें टपक रही हों उसे आर्द्र[1] और केवल गीला-सा हो उसे सस्निग्ध[2] कहा जाता है।

१२७. सचित्त रज-कण (ससरक्खे[3] [ख]) :

विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पणी संख्या ६९ पृ० १६०-६१।

१२८. मृत्तिका (मट्टिया [ख]) :

इसका अर्थ है मिट्टी का ढेला या कीचड़[4]।

१२९. क्षार (ऊसे [ख]) :

इसका अर्थ है खारी या नोनी मिट्टी[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० १७९ : उदउल्ल नाम जलतितं उदउल्ल।
(ख) हा० टी० प० १७० : उदकार्द्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्त।
२—(क) नि० भा० गा० १४८ चूर्णि : जत्थूदयबिंदू ण सविज्जति त ससिणिद्धं।
(ख) अ० चू० : ससिणिद्ध—ज उदगेण किंचि णिद्ध, ण पुण गलति।
(ग) जि० चू० पृ० १७९ ससिणिद्धं नाम जं न गलइ।
(घ) हा० टी० प० १७० : सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्त।
३—(क) अ० चू० : ससरक्ख पसु—रउग्गुडित।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ ससरक्खेण ससरक्खं नाम पंसुरजगुंडिय।
(ग) हा० टी० प० १७० : सरजस्को नाम—पृथिवीरजोगुण्ठित।
४—(क) अ० चू० : मट्टिया लेट्टुगो।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : मट्टिया कडउमट्टिया चिक्खलो।
(ग) हा० टी० प० १७० : मृद्गतो नाम—कर्दमयुक्त।
५—(क) अ० चू० : ऊसो लवणपंसू।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : ऊसो णाम पंसुखारो।
(ग) हा० टी० प० १७० : ऊष —पांशु क्षार।

श्लोक ३४ :

१३०. गैरिक (गेरुय क) :

इसका अर्थ है लाल मिट्टी[1]।

१३१. वर्णिका (वण्णिय क) :

इसका अर्थ है पीली मिट्टी[2]।

१३२. श्वेतिका (सेडिय क) :

इसका अर्थ है खड़िया मिट्टी[3]।

१३३. सौराष्ट्रिका (सोरट्ठिय ख) :

सौराष्ट्र में पाई जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी। इसे गोपीचन्दन भी कहते हैं[4]।

चूर्णिकारों के अनुसार स्वर्णकार सोने पर चमक लाने के लिए इस मिट्टी का उपयोग करते थे[5]।

१३४. तत्काल पीसे हुए आटे (पिट्ठ ख) :

चावलों का कच्चा और अपरिणत आटा 'पिष्ट' कहलाता है। अगस्त्यसिंह और जिनदास के अनुसार अग्नि की मंद आँच से पकाया जाने वाला अपक्व पिष्ट एक प्रहर से परिणत होता है और तेज आँच से पकाया जाने वाला शीघ्र परिणत हो जाता है[6]।

१३५. अनाज के भूसे या छिलके (कुक्कुस ख) :

चावलों के छिलकों को 'क्कुकुस' कहा जाता है[7]।

१—(क) अ० चू० : गेरुय सुवण्णगेरुतादि।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : गेरूअ सुवण्ण (रसिया)।
(ग) हा० टी० प० १७० : गैरिका—धातु।

२—(क) अ० चू० : वण्णिता पीतमट्टिया।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : वण्णिया पीयमट्टिया।
(ग) हा० टी० प० १७० : वर्णिका—पीतमृत्तिका।

३—(क) अ० चू० : सेडिया महासेडाति।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : सेढिया गढरिया।
(ग) हा० टी० प० १७० : श्वेतिका—शुक्लमृत्तिका।

४—शा० नि० भू० पृ० ६४ :
सौराष्ट्र्याढकीतुवरीपर्पटीकालिकासती।
सुजाता देशभाषायां गोपीचन्दनमुच्यते॥

५—(क) अ० चू० : सोरट्ठिया तूवरिया सुवण्णस्स ओप्पकरणमट्टिया।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ सोरट्ठिया उवरिया, जीए सुवण्णकारा उप्प करेंति सुवण्णस्स पिंड।

६—(क) अ० चू० : आमपिट्ठ आमओ लोट्टो। सो अप्पिंधणो पोरुसीए परिणमति। बहु इंधणो आरतो चेव।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : आमलोट्टो, सो अप्पेंधणो पोरिसिमित्तेण परिणमइ बहुइंधणो आरतो परिणमइ।

७—(क) अ० चू० : कुक्कुसा चाउलत्तया।
(ख) जि० चू० पृ० १७९ : कुक्कुसा चाउलातया।
(ग) हा० टी० प० १७० : कुक्कुसा प्रतीता।
(घ) नि० ४.३६ चू० : तंदुलाण कुक्कुसा।

१३६. फल के सूक्ष्म खण्ड या हरे पत्तों के रस (उक्कट्ठं ग) :

उत्कृष्ट शब्द के 'उक्किट्ठ[1]', 'उक्कट्ठ[2]' और 'उक्कुट्ठ[3]'—ये तीन शब्द बनते हैं। भिन्न-भिन्न आदर्शों में इन सब का प्रयोग मिलता है। 'उत्कृष्ट' का अर्थ फलों के सूक्ष्म-खण्ड अथवा वनस्पति का चूर्ण होता है[4]।

दशवैकालिक के व्याख्याकारों ने उत्कृष्ट का अर्थ—सुरापिष्ट, तिल, गेहूँ और यवों का आटा या ओखली में कूटे हुए इमली या पीलुपर्णी के पत्र, लौकी, तरबूज आदि किया है[5]।

१३७. संसृष्ट और असंसृष्ट को जानना चाहिए (असंसट्ठे ग संसट्ठे चेव बोधव्वे घ) :

सजीव पृथ्वी, पानी और वनस्पति से भरे हुए हाथ या पात्र को संसृष्ट-हस्त या संसृष्ट-पात्र कहा जाता है। निशीथ में संसृष्ट-हस्त के २१ प्रकार बतलाए हैं—

"उदउल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे लोणे य।
हरियाले मणोसिलाए, रसगए गेरूय सेढीए ॥ १ ॥
हिंगुलु अंजणे लोद्धे, कुक्कुस पिट्ठ कंद मूल सिंगवेरे य।
पुप्फक कुट्ठं एए, एक्कवीसं भवे हत्था ॥ २ ॥"

निशीथ भाष्य गाथा १४७ की चूर्णि में संसृष्ट के अठारह प्रकार बतलाए हैं—'पुरेकम्मे, पच्छाकम्मे, उदउल्ले, ससिणिद्धे, ससरक्खे, मट्टि-आऊसे, हरियाले, हिंगुलए, मणोसिला, अंजणे, लोणे, गेरुय, वण्णिय, सेडिय, सोरट्ठिय, पिट्ठ, कुकुस, उक्कुट्ठे चेव।' इनमें पुरा-कर्म, पश्चात्-कर्म, उदकार्द्र और सस्निग्ध—ये अप्काय से सम्बन्धित हैं। पिष्ट, कुक्कुस और उत्कृष्ट—ये वनस्पतिकाय से संबन्धित हैं। इनके सिवाय शेष पृथ्वीकाय से संबन्धित हैं[6]।

आचाराङ्ग २ १ ६ में 'उक्कट्ठ' के आगे 'संसट्ठ' शब्द और है। यहाँ उसके स्थान में 'कए' है पर वह 'कुक्कुस' के आगे है। उक्कट्ठ के आगे, 'कप, कड, संसट्ठ' जैसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए अर्थ में थोड़ी अस्पष्टता आती है। यह सचित्त वस्तु से संसृष्ट आहार लेने का निषेध और उससे असंसृष्ट आहार लेने का विधान है[7]।

सजातीय प्रासुक आहार से असंसृष्ट हाथ आदि से लेने का निषेध और संसृष्ट हाथ आदि से लेने का जो विधान है, वह असंसृष्ट और संसृष्ट शब्द के द्वारा बताया गया है। टीकाकार "विधि पुनरत्रोर्द्ध्वं वक्ष्यति स्वयमेव" इस वाक्य के द्वारा सजातीय प्रासुक आहार से असंसृष्ट और संसृष्ट हाथ आदि का सम्बन्ध अगले दो श्लोकों से जोड देते हैं।

१—हैम० ८.१.१२८ : 'उक्किट्ठ' इत् कृपादौ।
२—हैम० ८ १.१२६ : 'उक्कट्ठ' ऋतोऽत्।
३—हैम० ८.१.१३१ : 'उक्कुट्ठ' उदृत्वादौ।
४—(क) नि० भा० गा० १४८ चू० : उक्कुट्ठो णाम सचित्त वणस्सतिपत्तकुर-फलाणि वा उदूक्खले छुब्भति, तेहिं हत्थो लित्तो, एस उक्कुट्ठो-हत्थो भण्णति।
(ख) नि० ४ ३६ चू० : सचित्तवणस्सती—चुण्णो ओक्कुट्ठो भण्णति।
५—(क) अ० चू० : उक्कुट्ठं थूरो सरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ठ वा। अबिलिया पीलुपण्णियातीणि वा उक्खलछुण्णादि।
(ख) जि० चू० पृ० १७६ : उक्किट्ठ नाम दोद्धियकालिंगादीणि उक्खले छुब्भति।
(ग) हा० टी० प० १७० : तयोत्कृष्ट इति उत्कृष्टशब्देन कालिङ्गालाबुत्रपुषफलादीनां शस्त्रकृतानि श्लक्ष्णखण्डानि भण्यन्ते, चिञ्चिणिकादिपत्रसमुदायो वा उदूखलकण्डित इति।
६—नि० भा० गा० १४७।
७—आचा० २ १.६ वृ० : संसृष्टेन हस्तादिना दीयमानं न गृह्णीयात् इत्येवमादिना तु असंसृष्टेन तु गृह्णीयात् इति।

तैंतीसवीं गाथा के 'एव' शब्द के द्वारा "दव्वीए भायणेण वा, देंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं" की अनुवृत्ति होती है।

श्लोक ३५ :

१३८. जहाँ पश्चात्-कर्म का प्रसङ्ग हो (पच्छाकम्मं जहिं भवे घ) :

जिस वस्तु का हाथ आदि पर लेप लगे और उसे धोना पड़े वैसी वस्तु से अलिप्त हाथ आदि से भिक्षा देने पर पश्चात्-कर्म दोष का प्रसङ्ग आता है। भिक्षा देने के निमित्त जो हस्त, पात्र आदि आहार से लिप्त हुए हों उन्हें गृहस्थ सचित्त जल से धोता है, अतः पश्चात्-कर्म होने की सम्भावना को ध्यान में रखकर असंसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का निषेध तथा संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का विधान किया गया है[1]। रोटी आदि सूखी चीज, जिसका लेप न लगे और जिसे देने के बाद हाथ आदि धोना न पड़े, वह असंसृष्ट हाथ आदि से भी ली जा सकती है[2]।

पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ६१३-२६) में एषणा के लिप्त नामक नवें दोष का वर्णन करते हुए एक बहुत ही रोचक संवाद प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कहते हैं—"मुनि को अलेपकृत आहार (जो चुपड़ा न हो, सूखा हो, वैसा आहार) लेना चाहिए, इससे पश्चात्-कर्म के दोष का प्रसङ्ग टलता है और रस-लोलुपता भी सहज मिटती है।" शिष्य ने कहा—"यदि पश्चात्-कर्म दोष के प्रसङ्ग को टालने के लिए लेप-कर आहार न लिया जाए यह सही हो तो उचित यह होगा कि आहार लिया ही न जाए; जिससे किसी दोष का प्रसङ्ग ही न आए।" आचार्य ने कहा—"सदा अनाहार रहने से चिरकाल तक होने वाले तप, नियम और संयम की हानि होती है, इसलिए यावत्-जीवन का उपवास करना ठीक नहीं।" शिष्य फिर बोल उठा—"यदि ऐसा न हो तो छह-छह मास के सतत उपवास किए जाएं और पारणा में अलेप-कर आहार लिया जाए।" आचार्य बोले—"यदि इस प्रकार करते हुए संयम को निभाया जा सके तो भले किया जाए, रोकता कौन है ? पर अभी शारीरिक बल सुदृढ़ नहीं है, इसलिए तप उतना ही किया जाना चाहिए जिससे प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि मुनि का आचार भली-भांति पाला जा सके।"

मुनि को प्रायः विकृति का परित्याग रखना चाहिए। शरीर अस्वस्थ हो, संयम-योग की वृद्धि के लिए शक्ति-सञ्चय करना आवश्यक हो तो विकृतियाँ भी खाई जा सकती हैं। अलेप-कर आहार मुख्य होना चाहिए। कहा भी है—'अभिक्खणं निव्विगइं गया य[3]।' इसलिए सामान्य विधि से यह कहा गया है कि मुनि को अलेप-कर आहार लेना चाहिए। पश्चात्-कर्म दोष की दृष्टि से विचार किया जाए वहाँ उतना ही पर्याप्त है जितना मूल श्लोकों में बताया गया है।

१३९. असंसृष्ट, संसृष्ट (असंसट्ठेण, ३५क संसट्ठेण[4] ३६ क) :

असंसृष्ट और संसृष्ट के आठ विकल्प होते हैं—

१— नि० भा० गा० १८४२ :

मा किर पच्छाकम्मं, होज्ज असंसट्ठग तओ वज्ज।
कर-मत्तेहिं तु तम्हा, संसट्ठेहिं भवे गहणं॥

२—(क) जि० चू० पृ० १७९ : अलेवेणं दव्व दधिमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउ न घेप्पइ।

(ख) हा० टी० प० १७० : शुष्कमण्डकादिवत् तदन्यदोषरहितं गृह्णीयादिति।

३—दश० चू० : २.७।

४—(क) अ० चू० : असंसट्ठो अण्णादीहिं अणुवलित्तो तत्थ पच्छेकम्म दोसो। सक्कपोयलियमादि देंतीये घेप्पति।

(ख) जि० चू० पृ० १७९ : असंसट्ठो णाम अण्णपाणादीहिं अलित्तो, तेण अलेवेणं दव्वं दधिमाइ देज्जा, तत्थ पच्छाकम्मदोसोत्तिकाउं न घेप्पइ, सुक्खपूयलिया दिज्जइ तो घेप्पइ।

(ग) हा० टी० प० १७० : तथा असंसृष्टो—व्यंजनादिना अलिप्तः, संसृष्टस्तेन व्यञ्जनादिलिप्तो बोद्धव्यो हस्त इति।

१. संसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य

२. संसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।

३ संसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।

४ संसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।

५. असंसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।

६. असंसृष्ट हस्त संसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।

७ असंसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र सावशेषद्रव्य।

८. असंसृष्ट हस्त असंसृष्टमात्र निरवशेषद्रव्य।

इनमें दूसरे, चौथे, छट्ठे और आठवें विकल्प में पश्चात्-कर्म की भावना होने के कारण उन रूपों में भिक्षा लेने का निषेध है और शेष रूपों में उसका विधान है[1]।

श्लोक ३७ :

१४०. श्लोक ३७ :

इस श्लोक में 'अनिसृष्ट' नामक उद्गम के पद्रहवें दोष युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। अनिसृष्ट का अर्थ है—अननुज्ञात। वस्तु के स्वामी की अनुज्ञा—अनुमति बिना उसे लेने पर 'उड्डाह' अपवाद होता है, चोरी का दोष लगता है, निग्रह किया जा सकता है। इसलिए मुनि को वस्तु के नायक की अनुमति के बिना उसे नहीं लेना चाहिए।

१४१. स्वामी या भोक्ता हों (भुंजमाणाणं क) :

'भुञ्ज्' धातु के दो अर्थ हैं—पालना और खाना। प्राकृत में धातुओं के 'परस्मै' और 'आत्मने' पद की व्यवस्था नहीं है, इसलिए संस्कृत में 'भुंजमाणाणं' शब्द के संस्कृत रूपान्तर दो बनते हैं—(१) भुञ्जतो और (२) भुञ्जानयोः।

'दोण्हं तु भुंजमाणाणं' का अर्थ होता है—एक ही वस्तु के दो स्वामी हों अथवा एक ही भोजन को दो व्यक्ति खाने वाले हों[2]।

१४२. देखे (पडिलेहए घ) :

उसके चेहरे के हाव भाव आदि से उसके मन के अभिप्राय को जाने।

मुनि को वस्तु के दूसरे स्वामी का, जो मौन बैठा रहे, अभिप्राय नेत्र और मुँह की चेष्टाओं से जानने का प्रयत्न करना

१—(क) अ० चू० . एत्थभगा—ससट्ठो हत्थो ससट्ठो मत्तो सावसेस दव्वं ? ससट्ठो हत्थो ससट्ठो मत्तो णिरवसेस दव्वं २ एव अट्ठ भंगा। एत्थ पढमो पसत्थो, सेसा कारणे जीव सरीररक्खणत्थमणतरमपदिट्ठ।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : एत्थ अट्ठभगा—हत्थो ससत्तो मत्तो ससट्ठो निरवसेस दव्वं एव अट्ठभंगा कायव्वा, एत्थ पटमो भंगो सव्वुक्किट्ठो, अराणेछवि जत्थ सावसेस दव्वं तत्थ गेराहति।

(ग) हा० टी० प० १७० : इह च वृद्धसप्रदाय—ससट्ठे हत्थे ससट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे, ससट्ठे हत्थे ससट्ठे मत्ते णिरवसेसे दव्वे, एवं अट्ठभगा, एत्थ पढमभगो सव्वुत्तमो, अन्नेसुऽवि जत्थ सावसेस दव्वं तत्थ घिप्पइ, ण इयरेसु, पच्छाकम्मदोसाउ त्ति। विच्छपातातिं अभोयणमवि मिया।

२—(क) अ० चू० : "भुज पालनऽभ्यवहरणयो" इति एव विसेसेति—अब्भवहरमाणाण रक्खताण वा ...... "तत्थ पालने ताव एगस्स साहुपायोग्गस्स दोन्नी सामिया" ......

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : भुजसद्दो पालणे अब्भवहारे च" अब्भवहारे दो जधा एक्कमि वट्टियाए वे जणा भोत्तुकामा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : 'द्वयोर्भुञ्जतोः' पालनां कुर्वतोः एकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थ ...... एवं भुञ्जानयोः—अभ्यवहारायो-द्यतयोरपि योजनीय, यतो भुजि पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति।

चाहिए। यदि उसे कोई आपत्ति न हो, अपना आहार देना इष्ट हो तो मुनि उसकी स्पष्ट अनुमति के विना भी एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार ले सकता है और यदि अपना आहार देना उसे इष्ट न हो तो मुनि एक अधिकारी द्वारा दत्त आहार नहीं ले सकता[1]।

श्लोक ३८ :

१४३. श्लोक ३८ :

इस श्लोक में 'निसृष्ट' (अधिकारी के द्वारा अनुमत) भक्त-पान लेने का विधान है।

श्लोक ३९ :

१४४. वह खा रही हो तो मुनि उसका विवर्जन करे (भुज्जमाणं विवज्जेज्जा [ग]) :

दोहद-पूर्ति हुए विना गर्भ का पात या मरण हो सकता है इसलिए गर्भवती स्त्री की दोहद-पूर्ति (इच्छा-पूर्ति) के लिए जो आहार बने वह परिमित हो तो उसकी दोहद-पूर्ति के पहले मुनि को नहीं लेना चाहिए[2]।

श्लोक ४० :

१४५. काल-मासवती (कालमासिणी [ख]) :

जिसके गर्भ का नवा मास चल रहा हो उसे काल-मासवती (काल-प्राप्त गर्भवती) कहा जाता है[3]।

१—(क) अ० चू० :

आगारिंगित-चेट्टागुणेहि भासाविसेस-करणेहिं।
मुह-णयणविकारेहि य घेप्पति अत्तग्गतो भावो॥

अब्भवहरणीय ज दोगह उवणीय ण ताव भुजिउमारभंति, तं पि 'वर्तमानसामीप्ये०' [पाणि० ३.३.१३१] इति वर्तमानमेव। णाताभिप्पातस्स जदि इट्ठ तो घेप्पति, ण अराणहा।

(ख) जि० चू० पृ० १७६ : णेत्तादीहि विगारेहि अभणतस्सवि नज्जइ जहा एयस्स दिज्जमाणं चियत्तं न वा इति, अचियत्त तो णो पडिगेहेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : तद्दीयमान नेच्छेदुत्सर्गत, अपितु......अभिप्राय......तस्य द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्रादिविकारैः, किमस्येदमिष्ट दीयमान नवेति, इष्ट चेद् गृह्णीयान्न चेन्नैवेति।

२—(क) अ० चू० गा० : इमे दोसा—परिमितमुवणीत, दिण्णे सेसमपज्जत्त ति डोहलस्साविगमे मरण गब्भपतण वा होज्जा, तीसे तस्स वा गब्भस्स सण्णीभूतस्स अप्पत्तिय होज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : तत्थ ज सा भुजइ कोइ ततो देइ तं ण गेण्हियव्व, को दोसो ?, कदाइ तं परिमियं भवेज्जा, तीए य सद्धा ण विणीया होज्जा, अविणीये य डोहले गब्भपडण मरण वा होज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७१ : तत्र भुज्यमान तया विवर्ज्यं, मा भूत्तस्या अल्पत्वेनाभिलापानिवृत्त्या गर्भपतनादिदोष इति।

३—(क) अ० चू० : 'गुव्विणी' गुरुगब्भा प्रसूतिकालमासे 'कालमासिणी'।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : कालमासिणी नाम नवमे मासे गब्भस्स वट्टमाणस्स।

(ग) हा० टी० प० १७१ : 'कालमासवती' गर्भाधानान्नवममासवती।

जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार जिन कल्पिक मुनि गर्भवती स्त्री के हाथ से भिक्षा नहीं लेते, फिर चाहे वह गर्भ थोड़े दिनों का ही हो[1]।

काल-मासवती के हाथ से भिक्षा लेना 'दायक'—एषणा का छठा दोष है।

श्लोक ४१ :

१४६. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि में (अगस्त्य चूर्णिगत क्रमांक के अनुसार ५६ वें और ५७ वें तथा टीका के अनुसार ४० वें और ४२ वें श्लोक के पश्चात्) "त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिय"—ये दो चरण नहीं दिए हैं और 'देंतिय पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिस'—इन दो चरणों के आशय को अधिकार-क्रम से स्वतः प्राप्त माना है। वैकल्पिक रूप में इन दोनों श्लोकों को द्व्यर्ध (छह चरणों का श्लोक) भी कहा है[2]।

श्लोक ४२ :

१४७. रोते हुए छोड़ (निक्खिवित्तु रोयंतं ग) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार गच्छवासी स्थविर मुनि और गच्छ-निर्गत जिनकल्पिक-मुनि के आचार में कुछ अन्तर है। स्तनजीवी बालक को स्तन-पान छुड़ा स्त्री भिक्षा दे तो, बालक रोए या न रोए, गच्छवासी मुनि उसके हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक कोरा स्तनजीवी न हो, दूसरा आहार भी करने लगा हो और यदि वह छोड़ने पर न रोए तो गच्छवासी मुनि उसकी माता के हाथ से भिक्षा ले सकते हैं। स्तनजीवी बालक चाहे स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी उसे अलग करने पर रोने लगे उस स्थिति में भी गच्छवासी मुनि भिक्षा नही लेते।

गच्छ निर्गत मुनि स्तनजीवी बालक को अलग करने पर, चाहे वह रोए या न रोए, स्तन-पान कर रहा हो या न कर रहा हो, उसकी माता के हाथ से भिक्षा नहीं लेते। यदि वह बालक दूसरा आहार करने लगा हो उस स्थिति में उसे स्तन-पान करते हुए को छोड़कर, फिर चाहे वह रोए या न रोए, भिक्षा दे तो नहीं लेते और यदि वह स्तन-पान न कर रहा हो फिर भी अलग करने पर रोए तो भी भिक्षा नही लेते। यदि न रोए तो वे भिक्षा ले सकते हैं[3]।

१—(क) जि० चू० पृ० १८० : जा पुण कालमासिणी पुव्वुट्टिया परिवेसेंती य थेरकप्पिया गेण्हति, जिणकप्पिया पुण जद्दिवसमेव आवन्नसत्ता भवति तओ दिवसाओ आरद्ध परिहरति।

(ख) हा० टी० प० १७१ : इह च स्थविरकल्पिकानामनिपीडनोत्थानाभ्यां यथावस्थितया दीयमान कल्पिक, जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमानमकल्पिकमेवेति सम्प्रदाय ।

२—अ० चू० पुव्वभणित सुत्त सिलोगद्धं वित्तीए अणुसरिज्जति। देंतिय पडियाइक्खे 'न मे कप्पति तारिसं' अहवा दिवड्ढ सिलोगो।

३—(क) अ० चू० गच्छवासीण थणजीवी थण पियतो निक्खित्तो रोवतु वा मा वा अग्गहण, अह अपिवतो णिक्खित्तो रोवंते (अग्गहण, अरोवते) गहण, अह भत्त पि आहारेति त पिवंते निक्खित्ते रोवते अग्गहण, अरोवंते गहण। गच्छनिग्गताण थणजीविम्मि णिक्खित्ते पिवते (अपिवते) वा रोयंते (अरोयंते) वा अग्गहणं, भत्ताहारे पियते निक्खित्ते रोयमाणे अरोयमाणे वा अग्गहण, अपियते रोयमाणे अग्गहण, अरोयमाणे गहण।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हति रोवतु वा मा वा, अह अन्नपि आहारेति तो जति न रोवइ तो गेण्हति, अह अपियतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हति, गच्छनिग्गया पुण जाव थणजीवी ताव रोवउ वा मा वा अपियतओ पियतिओ वा न गेण्हति, जाहे अन्नंपि आहारेउ पयत्तो भवति ताहे जइ पियंतओ तो रोवइ मा वा ण गेण्हति, अपियन्तओ जदि रोवइ परिहरंति अरोवंतं गेण्हति।

(ग) हा० टी० प० १७२ : चूर्णि का ही पाठ यहाँ सामान्य परिवर्त्तन के साथ 'अत्राय वृद्धसम्प्रदायः' कहकर उद्धृत किया है।

यह स्थूल-दर्शन से वहुत साधारण सी वात लगती है। किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाए तो इसमें अहिंसा का पूर्ण दर्शन होता है। दूसरे को थोड़ा भी कष्ट देकर अपना पोषण करना हिंसा है। अहिंसक ऐसा नहीं करता इसलिए वह जीवन-निर्वाह के क्षेत्र में भी वहुत सतर्क रहता है। उक्त प्रकरण उस सतर्कता का एक उत्तम निदर्शन है।

शिष्य पूछता है—वालक को रोते छोड़कर भिक्षा देने वाली गृहिणी से लेने में क्या दोष है? आचार्य कहते हैं—वालक को नीचे कठोर भूमि पर रखने से एव कठोर हाथों से उठाने से वालक में अस्थिरता आती है। इससे परिताप दोष होता है। विल्ली आदि उसे उठा ले जा सकती है[1]।

श्लोक ४४ :

१४८. शंका-युक्त हो (संकियं ख) :

इस श्लोक में 'शकित' (एषणा के पहले) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध किया गया है। आहार शुद्ध होने पर भी कल्पनीय और अकल्पनीय—उद्गम, उत्पादन और एषणा से शुद्ध अथवा अशुद्ध का निर्णय किए विना लिया जाए वह 'शकित' दोष है। शका-सहित लिया हुआ आहार शुद्ध होने पर भी कर्म-बन्ध का हेतु होने के कारण अशुद्ध हो जाता है। अपनी ओर से पूरी जाँच करने के वाद लिया हुआ आहार यदि अशुद्ध हो तो भी कर्म-बन्ध का हेतु नहीं वनता[2]।

श्लोक ४५-४६ :

१४९. श्लोक ४५-४६ :

इन दोनों श्लोकों में 'उद्भिन्न' नामक (उद्गम के वारहवें) दोष-युक्त भिक्षा का निषेध है। उद्भिन्न दो प्रकार का होता है—'पिहित-उद्भिन्न' और 'कपाट-उद्भिन्न'। चपडी आदि से वद पात्र का मुँह खोलना 'पिहित-उद्भिन्न' कहलाता है। वन्द किवाड़ को खोलना 'कपाट-उद्भिन्न' कहलाता है। पिधान सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार का हो सकता है। उसे साधु के लिए खोला जाए और फिर वद किया जाए वहाँ हिंसा की सम्भावना है। इसलिए 'पिहित-उद्भिन्न' भिक्षा निषिद्ध है। किवाड़ खोलने में अनेक जीवों के वध की सम्भावना रहती है इसलिए 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का निषेध है। इन श्लोकों में 'कपाट-उद्भिन्न' भिक्षा का उल्लेख नहीं है। इन दो भेदों का आधार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ३४७) है।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग २.१.७.६६-७०।

श्लोक ४७ :

१५०. पानक (पाणगं क) :

हरिभद्र ने 'पानक' का अर्थ आरनाल (कांजी) किया है[3]। आगम-रचनाकाल में साधुओं को प्रायः गर्म जल या पानक

१—(क) अ० चू० : एत्थ दोसा—सुकुमालसरीरस्स खरेहिं हत्थेहिं मयणीए वा पीडा, मज्जाराती वा साणावहरणं करेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० १८० : सीसो आह—को तत्थ दोसोत्ति ?, आयरिओ आह—तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो मज्जाराइ वा अवधरेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७२।

२—पि० नि० गा० ५२६-५३०।

३—हा० टी० प० १७३ : 'पानक' च आरनालादि।

(तुषोदक, यवोदक, सौवीर आदि) ही प्राप्त होता था। आचाराङ्ग (२ १ ७-८) में अनेक प्रकार के पानकों का उल्लेख है। प्रवचन सारोद्धार के अनुसार 'सुरा' आदि को 'पान', साधारण जल को 'पानीय' और द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल को 'पानक' कहा जाता है[1]।

पानक गृहस्थों के घरों में मिलते थे। इन्हें विधिवत् निष्पन्न किया जाता था। भावप्रकाश आदि आयुर्वेद ग्रन्थों में इनके निष्पन्न करने की विधि निर्दिष्ट है। अस्वस्थ और स्वस्थ दोनों प्रकार के व्यक्ति परिमित मात्रा में इन्हें पीते थे।

सुश्रुत के अनुसार गुड से बना खट्टा या बिना अम्ल का पानक गुरु और मूत्रल है[2]।

मृद्वीका (किसमिस) से बना पानक श्रम, मूर्च्छा, दाह और तृषानाशक है। फालसे से और बेरों का बना पानक हृदय को प्रिय तथा विष्टम्भि होता है[3]।

साधारण जल दान आदि के लिए निष्पन्न नहीं किया जाता। दानार्थ-प्रकृत से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'पानक' का अर्थ द्राक्षा, खजूर आदि से निष्पन्न जल है।

१५१. दानार्थ तैयार किया हुआ (दाणट्ठा पगडं घ) :

विदेश-यात्रा से लौटकर या वैसे ही किसी के आगमन के अवसर पर प्रसाद-भाव से जो दिया जाए वह दानार्थ कहलाता है।

प्रवास करके कोई सेठ चिरकाल के बाद अपने घर आये और साधुवाद पाने के लिए सर्व पाखण्डियों को दान देने के निमित्त भोजन बनाए वह दानार्थ-प्रकृत कहलाता है। महाराष्ट्र के राजा दान-काल में समान रूप से दान देते हैं उसके लिए बनाया गया भोजन आदि भी 'दानार्थ-प्रकृत' कहलाता है[4]।

श्लोक ४९ :

१५२. पुण्यार्थ तैयार किया हुआ (पुण्णट्ठा पगडं घ) :

जो पर्व-तिथि के दिन साधुवाद या श्लाघा की भावना रखे बिना केवल 'पुण्य होगा' इस धारणा से अशन, पानक आदि निष्पन्न किया जाता है—उसे 'पुण्यार्थ-प्रकृत' कहा जाता है[5]। वैदिक परम्परा में 'पुण्यार्थ-प्रकृत' दान का बहुत प्रचलन रहा है।

१—प्रव० सारो० गा० १४१७ : पाण सुराइय पाणिय जल पाणग पुणो एत्थ। दक्खावाणियपमुह'''।

२—सु० सू० ४६.४३० :

गौडमम्लमनम्लं वा पानकं गुरु मूत्रलम्।

३—सु० सू० ४६.४३२-३३ :

मार्द्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम्।
परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम्॥

४—(क) अ० चू० : 'दाणट्ठप्पगडं' कोति ईसरो पवासागतो साधुसद्देण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणनिमित्तं दाणं देति, रायाणो वा मरहट्ठगा दाणकाले अविसेसेण देंति।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : दाणट्ठापगडं नाम कोति वाणियगमादी दिसाउ चिरेण आगम्म घरे दाणं देलित्ति सव्वपासंडाण तं दाणट्ठ पगडं भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७३ : दानार्थं प्रकृतं नाम—साधुवादनिमित्तं यो ददात्यव्यापारपाखण्डिभ्यो देशान्तरादेरागतो वणिक्प्रभृतिरिति।

५—(क) अ० चू० : जं तिहि—पव्वणीसु पुण्णमुद्दिस्स कीरति तं पुण्णट्ठप्पगडं।

(ख) जि० चू० पृ० १८१ : पुन्नत्थापगडं नाम जं पुण्णनिमित्तं कीरइ तं पुण्णट्ठ पगडं भण्णइ।

प्रश्न हुआ कि शिष्ट कुलों में भोजन पुण्यार्थ ही बनता है। वे क्षुद्र कुलों की भांति केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाते। किन्तु पितरों को बलि देकर स्वय शेष भाग खाते हैं। अतः 'पुण्यार्थ-प्रकृत' भोजन के निषेध का अर्थ शिष्ट-कुलों से भिक्षा लेने का निषेध होगा? आचार्य ने उत्तर में कहा—नहीं, आगमकार का 'पुण्यार्थ-प्रकृत' के निषेध का अभिप्राय वह नहीं है जो प्रश्न की भाषा में रखा गया है। उनका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ जो अशन, पानक पुण्यार्थ बनाए वह मुनि न ले[1]।

श्लोक ५१ :

१५३. वनीपकों—भिखारियों के निमित्त तैयार किया हुआ (वणिमट्ठा पगडं [घ]) :

दूसरों को अपनी दरिद्रता दिखाने से या उनके अनुकूल बोलने से जो द्रव्य मिलता है उसे 'वनी' कहते हैं और जो उसको पीए—उसका आस्वादन करे अथवा उसकी रक्षा करे वह 'वनीपक' कहलाता है[2]। अगस्त्यसिंह स्थविर ने श्रमण आदि को 'वनीपक' माना है[3] वह स्थानाङ्गोक्त वनीपकों की ओर सकेत करता है। वहाँ पाँच प्रकार के 'वनीपक' बतलाए हैं—अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक, श्व-वनीपक और श्रमण-वनीपक[4]। वृत्तिकार के अनुसार अतिथि-भक्त के सम्मुख अतिथि-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला अतिथि-वनीपक कहलाता है। इसी प्रकार कृपण (रक आदि दरिद्र) भक्त के सम्मुख कृपण-दान की प्रशंसा कर और ब्राह्मण-भक्त के सम्मुख ब्राह्मण-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला क्रमशः कृपण-वनीपक और ब्राह्मण-वनीपक कहलाता है। श्व (कुत्ता) भक्त के सम्मुख श्व-दान की प्रशसा कर उससे दान चाहने वाला श्व-वनीपक कहलाता है। वह कहता है—"गाय आदि पशुओं को घास मिलना सुलभ है किन्तु छिः छिः कर दुत्कारे जाने वाले कुत्तों को भोजन मिलना सुलभ नहीं। ये कैलास पर्वत पर रहने वाले यक्ष हैं। भूमि पर यक्ष के रूप में विचरण करते हैं[5]। श्रमण-भक्त के सम्मुख श्रमण दान की प्रशंसा कर उससे दान चाहने वाला श्रमण-वनीपक कहलाता है।

हरिभद्रसूरि ने 'वनीपक' का अर्थ 'कृपण' किया है[6]। किन्तु 'कृपण' 'वनीपक' का एक प्रकार है इसलिए पूर्ण अर्थ नहीं हो सकता। इस शब्द में सब तरह के भिखारी आते हैं।

१—हा० टी० प० १७३ : पुण्यार्थं प्रकृत नाम—साधुवादानङ्गीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति। अत्राह—पुण्यार्थप्रकृतपरित्यागे शिष्टकुलेषु वस्तुतो भिक्षाया अग्रहणमेव, शिष्टानां पुण्यार्थमेव पाकप्रवृत्ते, तथाहि—न पितृकर्मादिव्यपोहेनात्मार्थमेव क्षुद्रसत्त्ववत्प्रवर्तन्ते शिष्टा इति, नैतदेवम्, अभिप्रायापरिज्ञानात्, स्वभोग्यातिरिक्तस्य देयस्यैव पुण्यार्थकृतस्य निषेधात्, स्वभूत्यभोग्यस्य पुनरुचित-प्रमाणस्येत्वरयदृच्छादेयस्य कुशलप्रणिधानकृतस्याप्यनिषेधादिति, एतेनाऽदेयदानाभावः प्रत्युक्त, देयस्यैव यदृच्छादानानुपपत्तेः, कदाचिदपि वा दाने यदृच्छादानोपपत्ते, तथा व्यवहारदर्शनात्, अनीदृशस्यैव प्रतिषेधात्, तदारम्भदोषेण योगात्, यदृच्छादाने तु तदभावेऽप्यारम्भप्रवृत्ते. नासौ तदर्थं इत्यारम्भदोषायोगात्, दृश्यते च कदाचित् सूतकादाविव सवम्य एव प्रदानविकला शिष्टाभि-मतानामपि पाकप्रवृत्तिरिति, विहितानुष्ठानत्वाच्च तथाविधग्रहणान्न दोष इति।

२—स्था० ५.३-४५४ प० ३२५ वृ० : परेषामात्मदु स्थत्वदर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्य सा वनी प्रतीता तां पिबति—आस्वादयति पातीति वेति वनीपः स एव वनीपको—याचक।

३—अ० चू० : समणाति वणीमगा।

४—स्था० ५.३.४५४ : पञ्च वणीमगा पण्णत्ता तंजहा—अतिहिवणीमते, किविणव मते, माहणवणीमते, साणवणीमते, समणवणीमते।

५—स्था० ५.३.४५४ प० ३२५ वृ० :

अवि नाम होज्ज सुलभो गोणाईण तणाइ आहारो।
छिच्छिक्कारहयाणं नहु सुलभो होज्ज सुणताणं॥
केलासभवणा एए गुज्झगा आगया महिं।
चरति जक्खरूवेण पूयाऽपूया हिताऽहिता॥

६—हा० टी० प० १७३ : वनीपकाः—कृपणाः।

श्लोक ५५ :

१५४. पूतिकर्म (पूईकम्मं ख) :

यह उद्गम का तीसरा दोष है। जो आहार आदि श्रमण के लिए बनाया जाए वह 'आधाकर्म' कहलाता है। उससे मिश्र जो आहार आदि होते हैं, वे पूतिकर्मयुक्त कहलाते हैं[1]। जैसे—अशुचि-गंध के परमाणु वातावरण को विषाक्त बना देते हैं, वैसे ही आधाकर्म-आहार का थोड़ा अंश भी शुद्ध आहार में मिलकर उसे सदोष बना देता है। जिस घर में आधाकर्म आहार बने वह तीन दिन तक पूतिदोष-युक्त होता है इसलिए चार दिन तक (आधाकर्म-आहार बने उस दिन और उसके पश्चात् तीन दिन तक) मुनि उस घर से भिक्षा नहीं ले सकता[2]।

१५५. अध्यवतर (अज्झोयर ग) :

'अध्यवतर' उद्गम का सोलहवाँ दोष है। अपने लिए आहार बनाते समय साधु की याद आने पर और अधिक पकाए उसे 'अध्यवतर' कहा जाता है[3]। 'मिश्र-जात' में प्रारम्भ से ही अपने और साधुओं के लिए सम्मिलित रूप से भोजन पकाया जाता है[4] और इसमें भोजन का प्रारम्भ अपने लिए होता है तथा बाद में साधु के लिए अधिक बनाया जाता है। 'मिश्र-जात' में—चावल, जल, फल और साग आदि का परिमाण प्रारम्भ में अधिक होता है और इसमें उनका परिमाण मध्य में बढ़ता है। यही इन दोनों में अन्तर है[5]।

टीकाकार 'अज्झोयर' का संस्कृत रूप अध्यवपूरक करते हैं। वह अर्थ की दृष्टि से सही है पर छाया की दृष्टि से नहीं, इसलिए हमने इसका संस्कृत रूप 'अध्यवतर' किया है।

१५६. प्रामित्य (पामिच्चं ग) :

'प्रामित्य' उद्गम का नवाँ दोष है। इसका अर्थ है—साधु को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना[6]। पिण्ड-निर्युक्ति (३१६-३२१) की वृत्ति से पता चलता है कि आचार्य मलयगिरि ने 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' को एकार्थक माना है। ६२ वीं

१—(क) पि० नि० गा० २६६ .

समणकडाहाकम्मं समणाण जं कडेण मीसं तु।
आहार उवहि वसही सव्वं तं पूइयं होइ॥

(ख) हा० टी० प० १७४ : पूतिकर्म—समान्यमानाधाकर्मावयवसमिश्रलक्षणम्।

२—पि० नि० गा० २६८ ·

पढमदिवसंमि कम्मं तिन्नि उ दिवसाणि पूइयं होइ।
पूईसु तिसु न कप्पइ कप्पइ तइओ जया कप्पो॥

३—हा० टी० प० १७४ : अध्यवपूरक—स्वार्थमूलाद्रहणप्रक्षेपरूपम्।

४—हा० टी० प० : १७४ : मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसंयतमिश्रोपस्कृतरूपम्।

५—पि० नि० गा० ३८८-८९

अज्झोयरओ तिविहो जावंतिय सघरमीसपासंडे।
मूलंमि य पुव्वकये ओयरई तिण्ह अट्ठाए॥
तंदुलजलआयाणे पुप्फफले सागवेसणे लोणे।
परिमाणे नाणत्तं अज्झोयरमीसजाए य॥

६—हा० टी० प० १७४ : प्रामित्यं—साध्वर्थमुच्छिद्य दानलक्षणम्।

गाथा की वृत्ति में उन्होंने लिखा है कि वापस देने की शर्त के साथ साधु के निमित्त जो वस्तु उधार ली जाती है वह 'अपमित्य' है[1]। इसका अगला दोष 'परिवर्तित' है[2]। चाणक्य ने 'परिवर्तक', 'प्रामित्यक' और 'आपमित्यक' के अर्थ भिन्न-भिन्न किए हैं। उसके अनुसार एक धान्य से आवश्यक दूसरे धान्य का बदलना 'परिवर्तक' कहलाता है। दूसरे से धान्य आदि आवश्यक वस्तु को मागकर लाना 'प्रामित्यक' कहलाता है। जो धान्य आदि पदार्थ लौटाने की प्रतिज्ञा पर ग्रहण किए जाते हैं, वे 'आपमित्यक' कहलाते हैं[3]।

भिक्षा के प्रकरण में 'आपमित्यक' नाम का कोई दोष नहीं है। साधु को देने के लिए दूसरों से मांग कर लेना और लौटाने की शर्त से लेना—ये दोनों अनुचित हैं। सभव है वृत्तिकार को 'प्रामित्य' के द्वारा इन दोनों अर्थों का ग्रहण करना अभिप्रेत हो। किन्तु शाब्दिक-दृष्टि से 'प्रामित्य' और 'अपमित्य' का अर्थ एक नही है। 'प्रामित्य' में लौटाने की शर्त नहीं होती। 'दूसरे से मांग कर लेना'—'प्रामित्य' का अर्थ इतना ही है।

१५७. मिश्रजात (मीसजायं घ) :

'मिश्र-जात' उद्गम का चौथा दोष है। गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका ले, वह 'मिश्र-जात' दोष है[4]। उसके तीन प्रकार हैं—यावदर्थिक-मिश्र, पाखण्डि-मिश्र और साधु-मिश्र। भिक्षाचर (गृहस्थ या अगृहस्थ) और कुटुम्ब के लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'यावदर्थिक' कहलाता है। पाखण्डी और अपने लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'पाखण्डि-मिश्र' एव जो भोजन केवल साधु और अपने लिए एक साथ पकाया जाए वह 'साधु-मिश्र' कहलाता है[5]।

श्लोक ५७ :

१५८. पुष्प, बीज और हरियाली से (पुप्फेसु ग ···बीएसु हरिएसु वा घ) :

यहाँ पुष्प, बीज और हरित शब्द की सप्तमी विभक्ति तृतीया के अर्थ में है।

१५६. उन्मिश्र हों (उम्मीसं ग) :

'उन्मिश्र' एषणा का सातवां दोष है। साधु को देने योग्य आहार हो, उसे न देने योग्य आहार (सचित्त या मिश्र) से मिला कर दिया जाए अथवा जो अचित्त आहार सचित्त या मिश्र वस्तु से सहज ही मिला हुआ हो वह 'उन्मिश्र' कहलाता है[1]।

१—पि० नि० गा० ६२ वृत्ति : 'पामिच्चे' इति अपमित्य—भूयोऽपि तव दास्यामीत्येवमभिधाय यत् साधुनिमित्तमुच्छिन्नं गृह्यते तदपमित्यम्।

२—पि० नि० गा० ६३ : परियट्टिए।

३—कौटि० अर्थ० २.१५. ३३ : सस्यवर्णानामर्घान्तरेण विनिमयः परिवर्तकः।
सस्ययाचनमन्यत. प्रामित्यकम्।
तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम्।

४—(क) पि० नि० गा० २७३ : निग्गयट्ठा तइओ अत्तट्ठाएऽवि रधते। वृत्ति—आत्मार्थमेव राध्यमाने तृतीयो गृहनायको ब्रूते, यथा—निर्ग्रन्थानामर्थायाधिक प्रक्षिपेति।

(ख) हा० टी० प० १७४ : मिश्रजातं च—आदित एव गृहिसयतमिश्रोपस्कृतरूपम्।

५—पि० नि० गा० २७१ : मीसज्जायं जावतिय च पासंडिसाहुमीसं च।

६—पि० नि० ६०७ :
दायव्वमदायव्वं च दोऽवि दव्वाइं देइ मीसेउं।
ओयणकुसणाईणं साहरणं तयन्नहिं छोढु॥

बलि का भोजन कणवीर आदि के फूलों से मिश्रित हो सकता है। पानक 'जाति' और 'पाटला' आदि के फूलों से मिश्रित हो सकता है। धानी अक्षत-बीजों से मिश्रित हो सकती है। पानक 'दाड़िम' आदि के बीजों से मिश्रित हो सकता है। भोजन अदरक, मूलक आदि हरित से मिश्रित हो सकता है। इस प्रकार खाद्य और स्वाद्य भी पुष्प आदि से मिश्रित हो सकते हैं[1]।

'उद्वृत्त' में अदेय-वस्तु को सचित्त से लगे हुए पात्र में या सचित्त पर रखा जाता है और इसमें सचित्त और अचित्त का मिश्रण किया जाता है, इन दोनों में यही अन्तर है[2]।

श्लोक ५६ :

१६०. उत्तिंग (उत्तिंग घ) :

इसका अर्थ है—कीटिका-नगर[3]।

विशेष जानकारी के लिए देखिए ८.१५ की इसी शब्द की टिप्पणी।

१६१. पनक (पणगेसु घ) :

'पनक' का अर्थ नीली या फफूंदी होता है[4]।

१६२. निक्षिप्त (रखा हुआ) हो (निक्खित्तं ग) :

निक्षिप्त दो तरह का होता है—अनन्तर निक्षिप्त और परंपरा निक्षिप्त। नवनीत जल के अन्दर रखा जाता है—यह अनन्तर निक्षिप्त का उदाहरण है। सपातिम जीवों के भय से दधि आदि का वर्तन जलकुण्ड में रखा जाता है—यह परंपरा निक्षिप्त का उदाहरण है[5]। जहाँ जल, उत्तिंग, पनक का अशन आदि के साथ सीधा सम्बन्ध हो जाता है वहाँ अशन आदि अनन्तर निक्षिप्त कहलाते हैं। जहाँ जल,

---

१—(क) अ० चू० : तेसिं किंचि 'पुप्फेहिं' बलिकूरादि असणं उम्मिस्सं भवति, 'पाण' पाडलादीहिं कढितसीतलं वा किंचि वासितं, 'खादिमं' मोदगादी, 'सादिमं' वडिकादि। 'बीएहिं' अक्खतादीहिं, 'हरिएहिं' भूतणातीहिं जहासंभवं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : पुप्फेहिं उम्मिसं नाम पुप्फाणि कणवीरमदरादीणि तेहिं बलिमादि असणं उम्मिसं होज्जा, पाणए कणवीर-पाडलादीणि पुप्फाणि परिकप्पंति, अहवा बीयाणि जहिं छाए पडियाणि होज्जा, अक्खयमीसा वा धाणी होज्जा, पाणिए दालिमपाणगाइसु बीयाणि होज्जा, हरिताणि विरयसयाणेसु अल्लगमूलगादीणि पक्खित्ताणि होज्जा, जहा य असणपाणाणि उम्मिस्सगाणि पुप्फादीहिं भवति एवं खाइमसाइमाणिवि भाणियव्वाणि।

(ग) हा० टी० प० १७४ : 'पुष्पैः' जातिपाटलादिभिः भवेदुन्मिश्रं, बीजैर्हरितैर्वेति।

२—पि० नि० ६०७ : देखिए उपर्युक्त पाद टि० १।

३—(क) अ० चू० : उत्तिंगो कीडियाणगरं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उत्तिंगो नाम कीडियानगरयं।

(ग) हा० टी० प० १७५ : कीटिकानगरोल्लीषु।

४—(क) अ० चू० : पणओ उल्ली, ओल्लियए कहिंचि अणंतरादिट्ठवितं।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : पणओ उल्ली भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : पनकेषु उल्लीषु।

५—(क) अ० चू० : निक्खित्तमणंतरं परंपरं च। अणंतरं णवणीय-पोयलियाति, परंपरनिक्खित्तमसणाति भायणत्थमुपरि अल्कुम्भस्स विराणत्थ।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उदगमि णिक्खित्तं दुविहं, तं०—अणंतरणिक्खित्तं जधा नवनीतपोग्गलियमादि, परंपरनिक्खित्तं दहिपिढो सपातिमादिभयेण छोढ़ूण जलकुंडस्स उवरिं ठवितं, एयं परंपरनिक्खित्तं।

(ग) हा० टी० प० १७५ : उदयनिक्खित्तं दुविहं—अणंतर परंपर च, अणंतर णवणीतपोग्गलियमादि, परोप्परं जलघडोवरिभायणत्थ दधिमादि।

उत्तिंग, पनक आदि का सम्बन्ध अशन आदि के साथ सीधा नहीं होता केवल भाजन के साथ होता है वहाँ अशनादि परंपरा निक्षिप्त कहलाते हैं। दोनों प्रकार के निक्षिप्त अशनादि साधु के लिए वर्जित हैं। यह ग्रहैषणा-दोष है[1]।

श्लोक ६१ :

१६३. उसका (अग्नि का) स्पर्श कर (संघट्टिया घ) :

साधु को भिक्षा दूँ उतने समय में रोटी आदि जल न जाय, दूध आदि उफन न जाय—ऐसा सोचकर रोटी या पूआ आदि को उलट कर, दूध आदि को निकाल कर अथवा जल का छींटा देकर अथवा जलते इन्धन को हाथ, पैर आदि से छू कर देना—यह संघट्य-दोष है[2]।

श्लोक ६२ :

१६४. श्लोक ६२ :

अगस्त्य चूर्णि और जिनदास चूर्णि के अनुसार यह श्लोक संग्रह-गाथा है। इस संग्रह-गाथा में अगस्त्य चूर्णि के अनुसार निम्न नौ गाथाएँ समाविष्ट हैं :

१. असणं पाणगं वावि खाइमं साइमं तहा ॥
तेउम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च उस्सक्किया दए ॥
२ .... तं च ओसक्किया दए ॥
३. .... तं च उज्जालिया दए ॥
४. .... तं च निव्वाविया दए ॥
५. .... तं च उस्सिंचिया दए ॥
६ .... तं चउक्कड्ढिया दए ॥
७. .... तं च निस्सिंचिया दए ॥
८ .... तं च ओवत्तिया दए ॥
९. .... तं च ओयारिया दए ॥

जिनदास चूर्णि के अनुसार सात श्लोकों का विषय संगृहीत है[3]।

अगस्त्य चूर्णि सम्मत नौ श्लोकों का अनुवाद इस प्रकार है—

१. अशन, पान खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो उसे चूल्हे में इन्धन डाल कर दे, वह भक्त-पान संयमी के लिए अकल्पनीय होता है इसलिए देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२. अशन, पान खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो, उसे चूल्हे में से इन्धन निकाल कर दे.........

१—अ० चू० : एत्थ निक्खित्तमिति गहणेसणा दोसा भणिता।

२—(क) अ० चू० : 'जाव साधूण भिक्खं देमि ताव मा डज्झिहिती उब्भुतिहिति वा' आहट्टेऊण देति, पूवलियं वा उत्थल्लेऊण, उम्मुयाणि वा हत्थपादेहिं संघट्टेत्ता।

(ख) जि० चू० पृ० १८९ : संघट्टिया नाम जाव अहं साहूणं भिक्खं देमि ताव मा उब्भराइऊणं छड्डिज्जिहिति तेण आवट्टेऊण देइ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : तच्च सवट्ट्य, यावद्भिक्षां ददामि तावत्तापातिशयेन मा भूदुद्वर्तिष्यत इत्याघट्ट्य दद्यादिति।

३—जिनदास चूर्णि में श्लोक-संख्या २ और ५ नहीं है।

३. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे को उज्ज्वलित कर दे ....

४. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे को बुझाकर दे....... ....

५. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे में से निकाल कर दे ....

६. अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे जिस भाजन में आधन निकाल कर अन्यत्र रखा जाए उसी भाजन से दे............

७ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे चूल्हे में पानी के छींटे डाल कर दे.... ....

८ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे टेढ़ा कर—अग्नि पर रखे हुए भाजन में से दूसरे भाजन में निकाल कर दे....... ....

९ अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य अग्नि पर निक्षिप्त हो उसे नीचे उतार कर दे............

१६५. (चूल्हे में) इन्धन डालकर (उस्सक्किया क) :

मैं भिक्षा दूँ इतने में कहीं चूल्हा न बुझ जाए—इस विचार से चूल्हे में इन्धन डालकर[1] ।

१६६. (चूल्हे से) इन्धन निकाल कर (ओसक्किया क) :

मैं भिक्षा दूँ इतने में कोई वस्तु जल न जाए—इस भावना से चूल्हे में से इन्धन निकाल कर[2] ।

१६७. उज्ज्वलित कर (सुलगा कर) (उज्जालिया ख) :

तृण, इन्धन आदि के प्रक्षेप से चूल्हे को प्रज्वलित कर। प्रश्न हो सकता है 'उस्सक्किया' और 'उज्जालिया' में क्या अन्तर है ? पहले का अर्थ है—जलते हुए चूल्हे में इन्धन डाल कर जलाना और दूसरे का अर्थ है—नए सिरे से चूल्हे को सुलगा कर अथवा प्रायः बुझे हुए चूल्हे को तृण आदि से जला कर[3] ।

१६८. प्रज्वलित कर (पज्जालिया ख) :

बार-बार इन्धन से चूल्हे को प्रज्वलित कर[4] ।

१—(क) अ० चू० : उस्सिक्किया अवसतुइया। 'जाव भिक्ख देमि ताव मा विज्झाहिति' त्ति सअट्ठाए तन्निमित्तं चेइइरालक्ने (?) वि परिहरितव्वं ।

(ख) जि० चू० पृ० १८२ : उस्सकिया नाम अवसतुइय साधुनिमित्त उस्सिक्किमा तहा जहा अह भिक्ख दाहामि ताव मा उज्झावेतित्ति ।

(ग) हा० टी० प० १७५ . 'उस्सक्किय' त्ति यावद्भिक्षां ददामि तावन्मा भूद्विध्यास्यतीत्युत्सिच्य दद्यात् ।

२—(क) अ० चू० : ओसक्किय उम्मुयाणि ओसारेऊण, मा ओदणो डज्झिहिति उवधुप्पिधिति वा किंचि ।

(ख) हा० टी० प० १७५ : 'ओसक्किया' अवसर्प्य अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थः ।

३—(क) अ० चू० . उज्जालिय कलिच—कुनलगादीहि । उस्सिक्कणुज्जलण विसेसोजलताण चेव उम्मुयाण विसेउज्जालगट्ठमुप्पुजणं उस्सिक्कणं, यहुविज्झातस्स तिणादीहिं उज्जालण ।

(ख) जि० चू० पृ० १८२-१८३ : उज्जालिया नाम तणाईणि इंधणाणि परिक्खिविऊण उज्जालयइ, सीसो आह—उस्सक्कियउज्जालियाणं को पइविसेसो ?, आयरिओ आह—उस्सक्केति जलतमवि, उज्जालयइ पुण सजतट्ठाए उट्ठिआ सअहा विज्झायं अगणि तणाईहिं पुणो उज्जालेति ।

(ग) हा० टी० प० १७५ : 'उज्ज्वाल्य' अर्धविध्यात सकृदिन्धनप्रक्षेपेण ।

४—हा० टी० प० १७५ : 'प्रज्वाल्य' पुन पुन (इन्धन प्रक्षेपेण) ।

१६९. बुझाकर (निव्वाविया ख) :

मैं भिक्षा दूँ इतने में कहीं कोई चीज उफन न जाए—इस दृष्टि से चूल्हे को बुझा कर[1]।

१७०. निकाल कर (उस्सिंचिया ग) :

पात्र बहुत भरा हुआ है, इसमें से आहार बाहर न निकल जाए—इस भय से उत्सेचन कर—बाहर निकाल कर अथवा उसको हिला कर उसमें गर्म जल डाल कर[2]।

१७१. छींटा देकर (निस्सिंचिया ग) :

उफान के भय से अग्नि पर रखे हुए पात्र में पानी का छींटा देकर अथवा उसमें से अन्न निकाल कर[3]।

१७२. टेढ़ाकर (ओवत्तिया घ) :

अग्नि पर रखे हुए पात्र को एक ओर से झुकाकर[4]।

१७३. उतार कर (ओयारिया घ) :

साधु को भिक्षा दूँ इतने में जल न जाए—इस भय से उतार कर[5]।

श्लोक ६५ :

१७४. ईंट के टुकड़े (इट्टालं ख) :

मिट्टी के ढेले दो प्रकार के होते हैं। एक भूमि से सम्बद्ध और दूसरे असम्बद्ध। असम्बद्ध ढेले के तीन प्रकार होते हैं—

१—(क) अ० चू० : पाणगादिणा देयेण विज्झवेंती देति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ : णिव्वाविया नाम जाव भिक्खं देमि ताव उदणादी उज्झिहिति ताहे त अगणिं विज्झवेऊण देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ . 'निव्वाविया' निर्वाप्य दाहभयादेवेति भावः।

२—(क) अ० चू० : उस्सिंचिया कढताओ ओकड्ढिऊण उण्होदगादि देति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ : उस्सिंचिया नाम त अइभरियं मा उब्भूयाएऊण छड्डिज्जिहिति ताहे थोवं उकड्ढीऊण पासे ठवेइ, अहवा तओ चेव उक्किड्ढिऊण उण्होदगं दोच्चग वा देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ : 'उत्सिच्य' अतिभृतादुज्झनभयेन ततो वा दानार्थं तीमनादीनि।

३—(क) अ० चू० : जाव भिक्खं देमि ताव मा उब्भिहितित्ति पाणितातिं तत्थ णिस्सिंचति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ : निस्सिंचिया णाम त अद्दहियं दव्वं अण्णत्थ निस्सिंचिऊण तेण भायणेण ऊण देइ त अहवा तमद्दहियगं उदणपत्तसागादी जाव साहूण भिक्खं देमि ताव मा उब्भूयावेउत्तिकाऊण उदगादिणा परिसिंचिऊण देइ।
(ग) हा० टी० प० १७५ : 'निषिच्य' तद्भाजनाद्द्रहितं द्रव्यमन्यत्र भाजने तेन दद्यात्, उद्वर्तनभयेन वाऽऽद्रहितमुदकेन निषिच्य।

४—(क) अ० चू० : अगणिनिक्खित्तमेव एक्कपस्सेण ओवत्ते तूण देति।
(ख) जि० चू० पृ० १८३ : उव्वत्तिया नाम तेणेव अगणिनिक्खित्तं ओयत्तेऊण एगपासेण देति।
(ग) हा० टी० प० १७५ : 'अपवर्त्य' तेनैवाग्निनिक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा दद्यात्।

५—(क) जि० चू० पृ० १८३ : ओयारिया नाम जमेतमद्दहियं जाव साधूण भिक्खं देमि ताव नो उज्झिहिचित्ति उत्तारेत्ता।
(ख) हा० टी० प० १७५ : 'अवतार्य 'दाहभयाद्दानार्थं वा दद्यात्, अत्र तदन्यच्च साधुनिमित्तयोगे न कल्पते।

उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। पत्थर उत्कृष्ट है, लोष्ट मध्यम है, और ईंट जघन्य है[1]।

श्लोक ६६ :

१७५. पाठान्तर का टिप्पण :

अगस्त्य चूर्णि में ६६ वें श्लोक का प्रारंभ 'गमीर मुसिर चेव'—इस चरण से होता है जब कि जिनदास और हरिभद्र के सम्मुख जो आदर्श था उसमें यह ६६ वें श्लोक का तीसरा चरण है[2]। अगस्त्यसिंह ने यहाँ 'अधोमालापहृत' की चर्चा की है[3]। जब कि जिनदास और हरिभद्र के आदर्श में उसका उल्लेख नहीं है।

श्लोक ६७ :

१७६. मचान (मंचं ग) :

चार लट्ठों को बांधकर बनाया हुआ ऊँचा स्थान जहाँ नमी-सीड़न तथा जीव-जन्तुओं से बचाने के लिए भोजन आदि रखे जाते हैं[4]।

श्लोक ६६ :

१७७. मालापहृत (मालोहडं ग) :

मालापहृत उद्गम का तेरहवा दोष है। इसके तीन प्रकार हैं—

(१) ऊर्ध्व-मालापहृत—ऊपर से उतारा हुआ।

(२) अधो-मालापहृत—भूमि-गृह (तल-घर या तहखाना) से लाया हुआ।

(३) तिर्यग्-मालापहृत—ऊँडे बर्तन या कोठे आदि में से झुककर निकाला हुआ[5]।

यहाँ सिर्फ ऊर्ध्व-मालापहृत का निषेध किया गया है[6]। अगस्त्य चूर्णि का आदर्श इससे भिन्न है—देखिए ६६ वें श्लोक के पाठान्तर का टिप्पण।

६७ वें श्लोक में निश्रेणि, फलक, पीठ मच, कील और प्रासाद इन छह शब्दों के अन्वय मे चूर्णिकार और टीकाकार एक मत नहीं हैं। चूर्णिकार निश्रेणि, फलक और पीठ को आरोहण के साधन तथा मच, कील और प्रासाद को आरोह्य-स्थान मानते हैं[7]।

१—उगला पुण दुविधा—सम्बद्धा भूमिए होज्जा असम्बद्धा वा होज्जा। जे असम्बद्धा ते तिविधा'' '''। उवला उक्कोसा, लेट्टू मज्झिमा, इट्टाल जहन्न।

२—अ० चू० : गहणेसणा विसेसो निक्खित्तमुपदिट्ठं, गवेसणा विसेसो पागडकरणमुपदिस्सति जहा 'गभीर झुसिर' सिलोगो।

३—अ० चू० : एत भूमिघरादिसु अहेमालोहड।

४—अ० चू० मचो सयणीय चडणमचिगा वा।

५—पि० नि० गा० ३६३.।

६—तुलना के लिए देखिए आचा० २.१.७.३६०।
अधो मालापहृत के लिए देखिए आचा० २.१.७.३६०।

७—(क) अ० चू० निस्सेणी मालादीण आरोहण-कट्ठ संघातिमं फलग, पट्टुल कट्ठमेव ण्हणाति उपयोज्ज पीढं, एतानि उस्सवेत्ताण उद्ध ठवेऊण आरुहे चढेज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० १८३ : णिस्सेणी लोगपसिद्धा फलगं-महल्लं सवणयं भवइ, पीढयं गहाणपीढाइ, उस्सवित्ता नाम एताणि उद्धुहुत्ताणि काऊण तिरिच्छाणि वा आरुहेज्जा, मचो लोगपसिद्धो, कीलो उड्ढ व खाणु, पासाओ पसिद्धो, एतेहिं दायगे सजतट्ठाए आरुहेत्ता भत्तपाण आणेज्जा।

आचाराङ्ग के अनुसार चूर्णिकार का मत ठीक जान पड़ता है। वहाँ २६० वें सूत्र में अन्तरिक्ष स्थान पर रखा हुआ आहार लाया जाए उसे मालापहृत कहा गया है और अन्तरिक्ष-स्थानों के जो नाम गिनाए हैं उनमें 'थंभसिवा' मंचसिवा, पासायसि वा'--ये तीन शब्द यहाँ उल्लेखनीय हैं। इन्हें आरोह्य-स्थान माना गया है। २६० वें सूत्र में आरोहण के साधन बतलाए हैं उनमें 'पीढ वा, फलग वा, निस्सेणिं वा'—इनका उल्लेख किया है, इन दोनों सूत्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि इन छहों शब्दों में पहले तीन शब्द जिन पर चढा जाए उनका निर्देश करते हैं और अगले तीन शब्द चढ़ने के साधनों को बताते हैं।

टीकाकार ने 'मच' और 'कील' को पहले तीन शब्दों के साथ जोड़ा उसका कारण इनके आगे का 'च' शब्द जान पड़ता है। समवतः उन्होंने 'च' के पूर्ववर्ती पाँचों को प्रासाद से भिन्न मान लिया[1]।

श्लोक ७० :

१७८. पत्ती का शाक (सन्निरं ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ केवल 'शाक' किया है[2]।

जिनदास और हरिभद्र इसका अर्थ 'पत्र-शाक' करते हैं[3]।

१७९. घीया (तुंबागं ग) :

जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो और अन्तर-भाग अम्लान हो, वह 'तुंबाग' कहलाता है[4]। हरिभद्रसूरि ने तुम्बाक का अर्थ छाल और मज्जा के बीच का भाग किया है और मतान्तर का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया है कि कई व्याख्याकार इसका अर्थ हरी तुलसी करते हैं[5]। शालिग्रामनिघण्टु के अनुसार यह दो प्रकार का होता है—एक लम्बा और दूसरा गोल[6]। हिन्दी में 'तुंबाक' को कद्दू, लौका तथा रामतरोई और बगला में लाउ कहते हैं।

श्लोक ७१ :

१८०. सत्तू (सत्तुचुण्णाइं क) :

अगस्त्य चूर्णि मे सत्तू और चूर्ण को भिन्न-भिन्न माना है[7]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि 'सत्तुचुण्णाइ' का अर्थ सत्तू करते हैं[8]।

१—हा० टी० प० १७६ : निश्रेणि फलक पीठम् 'उस्सवित्ता' उत्सृत्य अर्द्ध कृत्वा इत्यर्थ., आरोहेन्मञ्चं, कीलकं च उत्सृत्य कमारोहे दित्याह—प्रासादम्।

२—अ० चू० : 'सण्णिर' साग।

३—(क) जि० चू० पृ० १८४ : सन्निरं पत्तसाग।

(ख) हा० टी० प० १७६ : 'सन्निर' सन्निरमिति पत्रशाकम्।

४—(क) अ० चू० : तुम्बाग जं त्वयाए मिलाणममिलाण अतो त्वम्लानम्।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तुंबाग नाम ज तयामिलाण अब्भतरओ अद्दय।

५—हा० टी० प० १७६ : 'तुम्बाक' त्वग्मिजान्तर्वर्ति आर्द्रा वा तुलसीमित्यन्ये।

६—शालि० नि० पृ० ८९० : अलाबु कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्त्तुला।

७—अ० चू० : "सत्तुया जवातिधाणाविकारो"। "चुण्णाइ" अण्णे छिड्डु पिट्ठविसेसा।

८—(क) जि० चू० पृ० १८४ : सत्तुचुण्णाणि नाम सत्तुगा, ते य जवविगारो।

(ख) हा० टी० प० १७६ : 'सक्तुचूर्णा' सक्तून्।

सत्तू और चूर्ण ये भिन्न शब्द हों तो चूर्ण का अर्थ चून, जो आटा और घी को कड़ाही में भूनकर चीनी मिलाकर बनाया जाता है, हो सकता है। हरियाना में चून के 'लड्डू' बनते हैं। सत्तू चूर्ण को एक माना जाए तो इसका अर्थ पिष्टक होना चाहिए। सत्तू को पानी में घोल, नमक मिला आग पर पकाया जाता है। कड़ा होने पर उसे उतार लिया जाता है। यह 'पिष्टक' कहलाता है।

१८१. बेर का चूर्ण (कोलचुण्णाइं ख) :

अगस्त्यसिंह और जिनदास ने इसका अर्थ बेर का चूर्ण[1] और हरिभद्र ने बेर का सत्तू किया है[2]।

आचाराङ्ग में पीपल, मिर्च, अदरक आदि के चूर्णों का उल्लेख है[3]।

१८२. तिल-पपड़ी (सक्कुलिं ग) :

चूर्णि और टीका में इसका अर्थ तिल-पपड़ी किया है[4]। चरक और सुश्रुत की व्याख्या में कचौरी आदि किया गया है[5]।

श्लोक ७२ :

१८३. न बिकी हों (पसढं क) :

जो विक्रेय वस्तु बहुत दिनों तक न बिके उसे 'प्रशठ' या 'प्रसृत' कहा गया है[6]। टीकाकार ने इसका संस्कृत रूप 'प्रसह्य' किया है[7]।

१८४. रज से (रएण ख) :

रज का अर्थ है—हवा से उड़कर आई हुई अरण्य की सूक्ष्म सचित्त (सजीव) मिट्टी[8]।

१—(क) अ० चू० : कोला बदरा तेसिं चुण्णाणि।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : कोलाणि—बदराणि तेसिं चुण्णो कोलचुण्णाणि।

२—हा० टी० प० १७६ : 'कोलचूर्णान्' बदरसक्तून्।

३—आचा० २ १,८ सू० २६८ : पिप्पलिचुण्ण वा·· ···मिरियचुण्ण वा·· ··सिंगबेरचुण्ण वा ····अन्नयर वा तहप्पगारं।

४—(क) अ० चू० सक्कुली तिलपप्पडिया।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : सक्कुलीति पप्पडिकादि।

(ग) हा० टी० प० १७६ : 'शष्कुलीं' तिलपर्पटिकाम्।

५—(क) सु० २७० २६७।

(ख) भक्ष्यपदार्थ वर्ग : ४६ ५४४।

६—(क) अ० चू० : पसढमिति पच्चक्खातं तद्दिवसं विक्कत न गतं।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तं पसढ नाम जं बहुदेवसियं दिणे दिणे विक्कायते त।

७—हा० टी० प० १७६ : 'प्रसह्य' अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्।

८—(क) अ० चू० : रयेण अरण्णातो वायुसमुद्धतेण सचित्तेण समततो धन्य परिफासियं।

(ख) जि० चू० पृ० १८४ : तत्थ वायुणा उद्धुएण आरण्णेण सचित्तेण रएण।

(ग) हा० टी० प० १७६ : 'रजसा' पार्थिवेन।

श्लोक ७३ :

१८५. पुद्‌गल,······अनिमिष (पुग्गलं [क] ······अणिमिसं [ख]) :

पुद्‌गल शब्द जैन-साहित्य का प्रमुख शब्द है। इसका जैनेतर साहित्य में क्वचित् प्रयोग हुआ है। बौद्ध साहित्य में पुद्‌गल चेतन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग आभरण के अर्थ में हुआ है[१]। जैन-साहित्य में पुद्‌गल एक द्रव्य है। परमाणु और परमाणु-स्कन्ध—इन दोनों की संज्ञा 'पुद्‌गल' है। कहीं-कहीं आत्मा के अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है[२]।

प्रस्तुत श्लोक में जो 'पुद्‌गल' शब्द है उसके सस्कृत रूप 'पुद्‌गल' और 'पौद्‌गल' दोनो हो सकते हैं। चूर्णि और टीका-साहित्य में पुद्‌गल का अर्थ मांस भी मिलता है[३]। यह इसके अर्थ का विस्तार है। पौद्‌गल का अर्थ पुद्‌गल-समूह होता है। किसी भी वस्तु के कलेवर, सस्थान या वाह्य रुप को पौद्‌गल कहा जा सकता है। स्थानाङ्ग में मेघ के लिए 'उदक पौद्‌गल' शब्द प्रयुक्त हुआ है[४]। पौद्‌गल का अर्थ मास, फल या उसका गूदा—इनमें से कोई भी हो सकता है। इसलिए यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने इसका अर्थ मास और कइयों ने वनस्पति—फल का अन्तर्भाग किया है।

इस प्रकार अनिमिष शब्द भी मत्स्य तथा वनस्पति दोनों का वाचक है। चूर्णिकार पुद्‌गल और अनिमिष का अर्थ मांस-मत्स्य-परक करते हैं[५]। वे कहते हैं—साधु को मांस खाना नही कल्पता, फिर भी किसी देश, काल की अपेक्षा से इस अपवाद सूत्र की रचना हुई है[६]। टीकाकार मास-परक अर्थ के सिवाय मतान्तर के द्वारा इनका वनस्पति-परक अर्थ भी करते हैं[७]।

आचाराङ्ग २.१.१० के तीसरे, चौथे और पाँचवें सूत्र से इन दो श्लोकों की तुलना होती है। तीसरे सूत्र में इक्षु, शाल्मली इन दो वनस्पतिवाचक शब्दों का उल्लेख है और चौथे सूत्र में मास और मत्स्य शब्द का उल्लेख है। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि मास और मत्स्य का लोक-प्रसिद्ध अर्थ करते हैं। किन्तु वे मुनि के लिए इन्हें अभक्ष्य बतलाते हैं। उनके अनुसार बाह्योपचार के लिए इनका ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु खाने के लिए नहीं[८]।

अगस्त्यसिंह स्थविर, जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि के तथा शीलाङ्कसूरि के दृष्टिकोण में अन्तर केवल आशय के अस्पष्टीकरण और स्पष्टीकरण का है, ऐसा सभव है। वे अपवाद रूप में मांस और मत्स्य के लेने की बात कहकर रुक जाते हैं, किन्तु उनके उपयोग की चर्चा नहीं करते। शीलाङ्कसूरि उनके उपयोग की बात बता सूत्र के आशय को पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं[९]।

१—कौटि० अर्थ० २.१४ प्र० ३२ : तस्माद् वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्‌गललक्षणान्युपलभेत।
व्याख्या —उच्चावचहरणोपायसम्भवात्, वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां वज्रादिरूपाणां चतुर्णां, जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्‌गललक्षणादि, जाति—उत्पत्ति, रूपम्—आकार, वर्ण —राग, प्रमाण—मापकादिपरिमाण, पुद्‌गलम्—आभरण, लक्षणं—लक्ष्म एतानि उपलभेत—विद्यात्।

२—सूत्र० १.१३ १५ : उत्तमपोग्गले। वृत्ति—उत्तम· पुद्‌गल—आत्मा।

३—नि० भा० गा० १३५ चूर्णि · पोग्गल मोयगदते··········पोग्गल—मंस।

४—स्था० ३.३ १७६ प० १३२ वृ० · उदकप्रधानं पौद्‌गलम्—पुद्‌गलसमूहो मेघ इत्यर्थः, उदकपौद्‌गलम्।

५—(क) अ० चू० : पोग्गल प्राणिविकारो।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ · बहुअट्ठिय व मसं मच्छं वा बहुकंटयं।

६—(क) अ० चू० : मंसातीण, अग्गहणे सति देश-कालगिलाणवेक्खं, मिदमववातसुत्तं।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : मस वा णेव कप्पति साहूण कचि कालं देस पडुच्च इमं सुत्तमागतं।

७—हा० टी० प० १७६ : बह्वस्थि 'पुद्‌गलं' मांसम् 'अनिमिष वा' मत्स्य वा बहुकण्टकम्, अय किल कालाद्यपेक्षया ग्रहणे प्रतिषेधः, अन्ये त्वभिदधति—वनस्पत्यधिकारात्तथाविधफलाभिधाने एते इति।

८—आचा० २.१.१०.२८१ वृ० : एव मांससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थं सद्वैद्योपदेशतो बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात् फलवद्दृष्टं, भुजिश्चात्र बहिःपरिभोगार्थे, नाभ्यवहारार्थे, पदातिभोगवदिति।

९—विस्तृत जानकारी के लिए देखिए आचाराङ्ग २.१.१० का टिप्पण।

१८६. आस्थिक (अत्थियं ग) :

दोनों चूर्णियों मे 'अच्छिय' पाठ मिलता है[१]। इसका सस्कृत रूप 'आच्छिक' बनता है। 'आच्छिक' एक प्रकार का रजक फल है[२]। आच्छिकी नामक एक लता भी होती है। उसका फल पित्त-कफ नाशक, खट्टा तथा वातवर्धक होता है[३]।

हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार 'अत्थिय' पाठ है। वहाँ इसका अर्थ अस्थिक वृक्ष का फल किया गया है[४]। भगवती (२२ ३) और प्रज्ञापना (१) में बहुबीजक वनस्पति के प्रकरण में 'अत्थिय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी पहचान 'अगस्ति या अगस्त्य' से की जा सकती है। इसे हिन्दी में 'अगस्तिया', 'हथिया', 'हदगा' कहते हैं। अगस्तिया के फूल और फली होते हैं। इसकी फली का शाक भी बनता है[५]।

१८७. तेन्दू (तिंदुयं[१] ग) :

तेन्दू भारत, लका, बर्मा और पूर्वी बगाल के जगलों में पाया जाने वाला एक मझोले आकार का वृक्ष है। इस वृक्ष की लकड़ी को आबनूस कहते हैं। इस वृक्ष का खाया जाने वाला फल नींबू के समान हरे रग का होता है और पकने पर पीला हो जाता है[७]।

१८८. फली (सिंबलिं घ) :

अगस्त्य चूर्णि और हारिभद्रीय वृत्ति में 'सिंबलि' का अर्थ निष्पाव (वल्ल धान्य) आदि की फली और जिनदास चूर्णि में केवल फली किया है[८]। शाल्मलि के अर्थ में 'सिंबलि' का प्रयोग देशी नाममाला में मिलता है[९]।

शिष्य ने पूछा—७०वें श्लोक में अपक्व प्रलम्ब का निषेध किया है उससे वे स्वयं निषिद्ध हो जाते हैं फिर इनका निषेध क्यों? आचार्य ने कहा—वहाँ अपक्व प्रलम्ब लेने का निषेध है, यहाँ बहु-उज्झन-धर्मक वस्तुओं का। इसलिए ये पक्व भी नहीं लेनी चाहिए[१०]।

१—(क) अ० चू० : अच्छिय।
(ख) जि० चू० पृ० १८४ : अच्छिय नाम रुक्खस्स फल।
२—सु० ४६ २०१ फल वर्ग।
३—च० सू० २७ १६० : पित्तश्लेष्मघ्नमम्ल च वातल चाक्षिकीफलम्।
४—हा० टी० प० १७६ . 'अत्यिकं' अस्थिकवृक्षफलम्।
५—शालि० नि० भू० पृ० ५२३।
६—(क) जि० चू० पृ० १८४ : तिंदुय—टिंबरुयं।
(ख) हा० टी० प० १७६ : 'तेंदुक' तेंदुरुकीफलम्।
७—नालन्दा विशाल शब्द सागर।
८—(क) अ० चू० : णिप्फवादि सेंगा—सेंबलि।
(ख) हा० टी० प० १७६ : 'शाल्मलिं वा' वल्लादिफलिम्।
(ग) जि० चू० पृ० १८४ · सिंबलि—सिंगा।
९—दे० ना० ८.२३ : सामरी सिंबलीए—सामरी शाल्मलि·।
१०—जि० चू० पृ० १८४-८५ : सीसो आह—णणु पलंबग्गहणेण एयाणि गहियाणि, आयरिओ भणइ—एताणि सत्थोवहताणिवि अन्नंमि समुदाणे फासए लब्भमाणे ण गिण्हियव्वाणि।

श्लोक ७५ :

१८९. श्लोक ७५ :

अब तक के श्लोकों में मुनि को अकल्पनीय आहार का निषेध कर कल्पनीय आहार लेने की अनुज्ञा दी है। अब ग्राह्य-अग्राह्य जल के विषय में विवेचन है[1]। जल भी अकल्प्य छोड़ कल्प्य ग्रहण करना चाहिए।

१९०. उच्चावच पानी (उच्चावयं पाणं क) :

उच्च और अवच शब्द का अर्थ है ऊँच और नीच। जल के प्रसङ्ग में इनका अर्थ होगा—श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ। जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ हों वह 'उच्च' और जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श श्रेष्ठ न हों वह 'अवच' कहलाता है।

जो वर्ण में सुन्दर, गध से अपूति—दुर्गन्ध रहित, रस से परिपक्व और स्पर्श से स्निग्धता रहित हो वह उच्च जल है और वह साधु को कल्पता है। जो ऐसे वर्ण आदि से रहित है वह अवच और अग्राह्य है।

द्राक्षा-जल उच्च 'जल' है। और नाल का पूति—दुर्गन्धयुक्त जल 'अवच जल' है[2]।

'उच्चावच' का अर्थ नाना प्रकार भी होता है[3]।

१९१. गुड़ के घड़े का धोवन (वारधोयणं ख) :

चूर्णि-द्वय में 'वाल धोयण' पाठ है। चूर्णिकार ने यहाँ रकार और लकार का एकत्व माना है[4]। 'वार' घड़े को कहते हैं। फाणित—गुड आदि से लिप्त घड़े का धोवन 'वार-धोवन' कहलाता है[5]।

१९२. आटे का धोवन (संसेइमं ग) :

इसका अर्थ आटे का धोवन होता है[6]। शीलाङ्काचार्य इसका अर्थ तिल का धोवन और उबाली हुई भाजी जिसे ठडे जल से

१—(क) अ० चू० : 'एगालभो अपज्जत्त' ति पाण-भोयणेसणाओ पत्थुयाओ, तत्थ किंचि सामएणमेव संभवति भोयणे पाणे य,......अयं तु पाणग एव विसेसो सभवतीति भएणति।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : जहा भोयण अकप्पिय पडिसिद्धं कप्पियमणुएणाय तहा पाणगमवि भएणइ।

२—(क) अ० चू० : 'उच्चावय' अणेगविध वएण-गंध-रस-फासेहि हीण-मज्झिमुत्तम।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : उच्चं च अवच च उच्चावचं, उच्चं नाम ज वएणगधरसफासेहिं उववेय, त च मुद्दियादिपाणगादी, चउत्थरसिय धावि ज वएणओ सोभण गंधओ अपूय रसओ परिकप्परस फासओ अपिच्छिल तं उच्चं भएणइ, त कप्पइ, अवयं णाम जमेतेहि वएणगधरसफासेहि विहीण, त अवय भन्नति, एव ता वसतीए घेप्पति।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'उच्चं' वर्णाद्युपेत द्राक्षापानादि 'अवच' वर्णादिहीनं पूत्यारनालादि।

३—जि० चू० पृ० १८५ : अहवा उच्चावय णाम णाणापगार भन्नइ।

४—(क) अ० चू० : अदुवा वालधोवणं, 'वालो' वारगो र-ल्योरेकत्वमिति कृत्वा लकारो भवति वालः, तेण वार एव वाल।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : रकारलकाराणमेगत्तमितिकाउं वारओ वालओ भन्नइ।

५—(क) अ० चू० : तस्य धोवण फाणितातीहि लित्तस्स वालादिस्स।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : सो य गुलफाणियादिभायण तस्स धोवण वारधोवणं।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'वारकधावन' गुडघटधावनमित्यर्थ।

६—(क) अ० चू० : जम्मि किंचि सागादी संसेदत्ता सित्तोसित्तादि कीरति तं संसेइमं।

(ख) जि० चू० पृ० १८५ : ससेइम नाम पाणिय अद्दहेऊण तस्सोवरि पिट्ठे ससेइज्जति, एवमादि तं संसेदियं भन्नति।

(ग) हा० टी० प० १७७ : 'सस्वेदजं' पिष्टोदकादि।

सींची जाए, वह जल, करते हैं[१]। अभयदेवसूरि शीलाङ्काचार्य के दूसरे अर्थ को स्वीकृत करते हैं[२]। निशीथ चूर्णि में भी 'ससेइमं' का यह दूसरा अर्थ मिलता है[३]।

१६३. जा अधुना-धौत (तत्काल का धोवन) हो (अहुणाधोयं घ) :

यह एषणा के आठवें दोष 'अपरिणत' का वर्जन है। आचाराङ्ग के अनुसार अनाम्ल—जिसका स्वाद न बदला हो, अव्युत्क्रान्त—जिसकी गंध न बदली हो, अपरिणत—जिसका रंग न बदला हो, अविध्वस्त—विरोधी शस्त्र के द्वारा जिसके जीव ध्वस्त न हुए हों, वह अधुनाधौत जल अप्रासुक (सजीव) होने के कारण मुनि के लिए अनेषणीय (अग्राह्य) होता है[४]। जो इसके विपरीत आम्ल, व्युत्क्रान्त, परिणत, विध्वस्त होने के कारण प्रासुक (अजीव) हो वह चिरधौत जल मुनि के लिए एषणीय (ग्राह्य) होता है। यहाँ केवल अधुनाधौत जल का निषेध और चिरधौत होने के कारण जो अजीव और परिणत (परिणामान्तर प्राप्त) हो गया हो उसे लेने का विधान किया गया है[५]।

जिनदास चूर्णि और टीका में 'सस्वेदज' जल लेने का उत्सर्ग-विधि से निषेध और आपवादिक विधि से विधान किया है[६]।

परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अन्तर्मुहूर्त—काल न हुआ हो वह अधुनाधौत और इसके बाद का चिरधौत कहलाता है। इसकी शास्त्रीय परिभाषा यह है—जिसका स्वाद, गंध, रस और स्पर्श न बदला हो वह अधुनाधौत और जिसके ये बदल गए हों वह चिरधौत है[७]। इसका आधार अधुनाधौत और अप्रासुक के मध्यवर्ती उक्त चार विशेषण हैं।

श्लोक ७६ :

१६४. मति (मईए ख) :

यहाँ मति शब्द कारण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वर्ण आदि के परिवर्तन और अपरिवर्तन जल के अजीव और सजीव होने का निर्णय करने में कारण बनते हैं[८]।

१—आचा० २.१.७.२६४ वृ० : तिलधावनोदकम्।

२—स्था० ३.३.१८२ वृ० : ससेकेन निर्वृत्तमिति ससेकिमम्—अरणिकादिपत्रशाकमुक्तात्स्य येन शीतलजलेन ससिच्यते।

३—(क) नि० १५ गा० ४७०६ चू० : ससेतिम णाम पिट्ठरे पाणिय तावेत्ता पिपिडियट्ठिया तिला तेण ओलहिज्जति, तत्थ जे आमा तिला ते ससेतिमाम भण्णति। आदिग्गहणेण ज पि अण्ण किं चि एतेण कमेण ससिज्झति त पि ससेतिमाम भण्णति।

(ख) नि० १७.१३२ गा० ५९६९ चू० : ससेतिम, तिला उण्हपाणिएण मिणा जति, सीतोदगा धोवति तो ससेतिम भण्णति।

४—आचा० २.१.७.२६४ : से भिक्खू वा २ से ज पुण पाणगजाय जाणिज्जा, तजहा—उस्सेइम १ वा ससेइम २ वा चाउलोदगं वा ३ अन्नयरं वा तहप्पगार पाणगजाय अहुणाधोय अणविलं अव्वुक्कंत अपरिणयं अविद्धत्थ अफासुय जाव नो पडिगाहिज्जा।

५—अ० चू० : 'आउक्कायस्स चिरेण परिणामो' त्ति मुद्दियापाणग पक्खित्तमेत्त, वालगे वा धोयमेत्ते, सागे वा पक्खित्तमेत्ते, अचिरधोतेसु चाउलेसु।

६—(क) जि० चू० पृ० १८५ : तमवि अन्नमि लब्भमाणे ण पडिगाहेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १७७ : एतदप्यनवदुत्सर्गापवादाभ्यां गृह्णीयादिति।

७—जि० चू० पृ० १८५-८६ : अपुच्छिए वण्णगंधरसफासेहिं णज्जति, जया य पाणस्स य कुक्कुमावया हेट्ठीभूयाउट्ठुय पसण्णं भवति, फासुय भवति, उसिणोदगमवि जदा तिन्नि वारे उव्वत्त ताहे कप्पइ।

८—(क) अ० चू० : मतीए कारणेहिं।

(ख) हा० टी० प० १७७ : मत्या दर्शनेन वा, 'मत्या' तद्ग्रहणादिकर्मजया।

मति द्वारा चिरधौत को जानने के लिए तीन उपाय बताए जाते हैं—

१—पुष्पोदक का विगलित होना।

२—विन्दुओं का सूखना।

३—चावलों का सीझना।

चूर्णिकार के अनुसार ये तीनों अनादेश (असम्यग् विधान) हैं, क्योंकि पुष्पोदक कभी-कभी चिरकाल तक टिक सकता है। जल की बूंदें भी सर्दी में चिरकाल से सूखती हैं और गर्मी में शीघ्र सूख जाती हैं। कलम, शालि आदि चावल जल्दी सीझ जाते हैं। घटिया चावल देरी से सीझते हैं। पुष्पोदक के विगलित होने में, विन्दुओं के सूखने में और चावलों के सीझने में समय की निश्चितता नहीं है, इसलिए इनका कालमान जल के सचित्त से अचित्त होने में निर्णायक नहीं बनता[1]।

श्लोक ७८ :

१९५. बहुत खट्टा (अच्चंबिलं ग) :

आगम-रचना-काल में साधुओं को यवोदक, तुषोदक, सौवीर, आरनाल आदि अम्ल जल ही अधिक मात्रा में प्राप्त होते थे। उनमें कांजी की भांति अम्लता होती थी। अधिक समय होने पर वे जल अधिक अम्ल हो जाते थे। उनमें दुर्गन्ध भी पैदा हो जाती थी। वैसे जलों से प्यास भी नहीं बुझती थी। इसलिए उन्हें चखकर लेने का विधान किया गया।

श्लोक ८१ :

१९६. अचित्त भूमि को (अचित्तं ख) :

दग्धस्थान आदि शस्त्रोपहत भूमि तथा जिस भूमि पर लोगों का आवागमन होता रहता है वह भूमि अचित्त होती है[2]।

१९७. यतना-पूर्वक (जयं ग) :

यहाँ 'यत' शब्द का अर्थ अत्वरित किया है[3]।

१९८. परिस्थापित करे (परिट्ठवेज्जा ग) :

परिस्थापन (परित्याग) दश प्रायश्चित्तों में चौथा प्रायश्चित्त है[4]। अयोग्य या सदोष आहार आदि वस्तु आ जाए तो

१—जि० चू० पृ० १८५ : मतीए नाम ज कारणेहिं जाणइ, तत्थ केई इमाणि तिण्णि कारणाणि भणंति, जहा जाव पुप्फोदया विरायंति ताव मिस्स, अण्णे पुण भणति—जाव फुसियाणि छक्कति, अण्णे भणति—जाव तंदुला सिज्झति, एवइएण कालेण अचित्तं भवइ, तिण्णिवि एते अणाएसा, कहं ?, पुप्फोदया कयायि चिरमच्छेज्जा, फुसियाणि वरिसारत्ते चिरेण छक्कंति, उण्हकाले लहु, कलमसालि-तदुलावि लहुं सिज्झति, एतेण कारणेण।

२—(क) अ० चू० : अच्चित्त झामथंडिल्लाति।

(ख) जि० चू० पृ० १८६ : अचित्त नाम ज सत्थोवहय अचित्तं, त च आगमणथंडिलादी।

(ग) हा० टी० प० १७८ : 'अचित्त' दग्धदेशादि।

३—(क) जि० चू० पृ० १८६ : जय नाम अतुरिय।

(ख) हा० टी० प० १७८ : 'यतम्' अत्वरितम्।

४—स्था० १०.७३३।

उसका परित्याग करना एक प्रायश्चित्त है, इसे 'विवेक' कहा जाता है। इस श्लोक में परित्याग कहाँ और कैसे करना चाहिए, परित्याग के बाद क्या करना चाहिए—इन तीन बातों का संकेत मिलता है। परित्याग करने की भूमि एकान्त और अचित्त होनी चाहिए[1]। उस भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर (उसे देख रजोहरण से साफ कर) परित्याग करना चाहिए[2]।

परित्याग करते समय 'वोसिरामि'—छोड़ता हूँ, परित्याग करता हूँ—यों तीन बार बोलना चाहिए[3]। परित्याग करने के बाद उपाश्रय में आकर प्रतिक्रमण करना चाहिए।

१९९. प्रतिक्रमण करे (पडिक्कमे [ख]) :

प्रतिक्रमण का अर्थ है लौटना—वापस आना। प्रयोजन के बिना मुनि को कहीं जाना नहीं चाहिए। प्रयोजनवश जाए तो वापस आने पर आने-जाने में जान-अनजान में हुई भूलों की विशुद्धि के लिए ईर्यापथिकी का (देखिए आवश्यक ४६) ध्यान करना चाहिए। यहाँ इसी को प्रतिक्रमण कहा गया है[4]।

श्लोक ८२ :

२००. श्लोक ८२ :

इस श्लोक से भोजन-विधि का प्रारम्भ होता है। सामान्य विधि के अनुसार मुनि को गोचराग्र से वापस आ उपाश्रय में भोजन करना चाहिए। किन्तु जो मुनि दूसरे गाँव में भिक्षा लाने जाए और वह बालक, बूढ़ा, बुभुक्षित, तपस्वी हो या प्यास से पीड़ित हो तो उपाश्रय में आने के पहले ही भोजन (कलेवा) कर सकता है। श्लोक ८२ से ८६ तक इसी आपवादिक विधि का वर्णन है। जिस गाँव में वह भिक्षा के लिए जाए वहाँ साधु ठहरे हुए हों तो उनके पास जाकर आहार करना चाहिए। यदि साधु न हों तो कोष्ठक अथवा भित्ति-मूल आदि हों वहाँ जाना चाहिए[5]। यदि उनका अधिकारी हो तो वहाँ ठहरने के लिए उनकी अनुमति लेनी चाहिए। आहार के लिए उपयुक्त स्थान वह होता है, जो ऊपर से छाया हुआ और चारों ओर से संवृत्त हो। वैसे स्थान में ऊपर से उड़ते हुए सूक्ष्म जीवों के गिरने की सभावना नहीं रहती। आहार करने से पहले 'हस्तक'[6] से समूचे शरीर का प्रमार्जन करना चाहिए[7]।

१—विशेष स्पष्टता के लिए देखिए आचा० २ १.१.२।

२—जि० चू० पृ० १८६ : पडिलेहणागहणेण पमज्जणावि गहिया, चक्खुणा पडिलेहणा, रयहरणादिणा पमज्जणा।

३—हा० टी० प० १७८ : प्रतिष्ठापयेद्विधिना त्रिर्वाक्यपूर्वं व्युत्सृजेत्।

४—(क) अ० चू० : पच्चागतो इरियावहियाए पडिक्कमे।

(ख) जि० चू० पृ० १८६-८७ : परिट्ठवेऊण उवस्सयमागतूण ईरियावहियाए पडिक्कमेज्जा।

(ग) हा० टी० प० १७८ प्रतिष्ठाप्य वसतिमागतः प्रतिक्रामेदीर्यापथिकाम्। एतच्च बहिरागतनियमकरणसिद्धं प्रतिक्रमणमबहिरपि प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रमणनियमज्ञापनार्थमिति।

५—(क) अ० चू० : गोतरग्गगतस्स भोत्तव्व संभवो गामंतर भिक्खायरियाए गतस्स काल-क्खमण-पुरिसे आसज्ज पढमालिय।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : जो य सो गोयरग्गगओ भुंजइ सो अन्न गाम गओ बालो वुड्ढो छाआलू खमओ या, अहवा तिसिओ सो कोई विलग्गण काऊण पाणय पिवेज्जा, एवमादि, इच्छेज्जा नाम अभिकरेज्जा पढमालिय काउ, त पुण असणसाधुउवस्सगअसति कुट्ठए भित्तिमूले वा समुद्दिसेज्जा।

६—देखिए टिप्पणी (५.१ ८३) की सख्या २०४ पृ० २७५।

७—ग्रन० (सं०) पृ० २०२ : संपमज्जिऊण ससीस काय।

२०१. भित्तिमूल (भित्तिमूलं ग) :

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ दो घरों का मध्यवर्ती भाग[१], भित्ति का एक देश अथवा भित्ति का पार्श्ववर्ती भाग[२] और कुटीर या भीत किया है[३]।

श्लोक ८३ :

२०२. अनुज्ञा लेकर (अणुन्नवेत्तु क) :

स्वामी से अनुज्ञा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है—"हे श्रावक ! तुम्हें धर्म-लाभ है। मैं मुहूर्त भर यहाँ विश्राम करना चाहता हूँ।" अनुज्ञा देने की विधि इस प्रकार प्रकट होती है—गृहस्थ नतमस्तक होकर कहता है—"आप चाहते हैं वैसे विश्राम की अनुज्ञा देता हूँ[४]।"

२०३. छाए हुए एवं संवृत्त स्थल में (पडिच्छन्नम्मि संवुडे ख) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' और 'संवृत'—ये दोनों शब्द स्थान के विशेषण हैं[५]। अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार 'प्रतिच्छन्न' स्थान का और 'संवृत' मुनि का विशेषण है[६]। उत्तराध्ययन (१.३५) में ये दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। शान्त्याचार्य ने इन दोनों को मुख्यार्थ में स्थान का विशेषण माना है और गौणार्थ में 'संवृत' को मुनि का विशेषण माना है[७]।

बृहत्कल्प के अनुसार मुनि का आहार-स्थल प्रतिच्छन्न—ऊपर से छाया हुआ और संवृत—पार्श्व-भाग से आवृत होना चाहिए[८]। इस दृष्टि से 'प्रतिच्छन्न' और 'संवृत' दोनों स्थान के विशेषण होने चाहिए।

२०४. हस्तक से (हत्थगं ग) :

'हस्तक' का अर्थ—मुखपोतिका, मुख-वस्त्रिका होता है[९]। कुछ आधुनिक व्याख्याकार 'हस्तक' का अर्थ पूंजनी (प्रमार्जनी)

१—अ० चू० : दोण्हं घराण अंतरं भित्तिमूलं।

२—हा० टी० प० १७८ : 'भित्तिमूलं वा' कुड्यैकदेशादि।

३—जि० चू० पृ० १८७ : भित्ती नाम कुडो कुड्डो।

४—(क) अ० चू० : धम्मलाभपुव्वं तस्सत्याणस्स पमुमणुण्णवेति—जदि ण उवरोहो एत्थ मुहुत्तं वीससामि, ण भणति 'समुद्दिसामि' मा कोतुहल्लेण एहिती।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : तेण तत्थ ठायमाणेण तत्थ पहू अणुन्नवेयव्वो—धम्मलाभो ते सावगा ! एत्थ अहं मुहुत्तागमि विस्समामि, ण य भणयति जहा समुद्दिस्सामि आययामि वा, कोठएण पलोएहिति।

(ग) हा० टी० प० १७८ : 'अनुज्ञाप्य' सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहम्।

५—जि० चू० पृ० १८७ : पडिच्छण्णे संवुडे ठातियव्वं जहा सहसत्ति न दीसती, जहा य सागारियं दूरओ जं न पासति तहा ठातियव्वं।

६—(क) अ० चू० : पडिच्छण्णे थाणे संवुडो सय जधा सहसा ण दीसति सयमावयंतं पेच्छति।

(ख) हा० टी० प० १७८ : 'प्रतिच्छन्ने' तत्र कोष्ठकादौ 'संवृत' उपयुक्तः सन्।

७—उत्त० वृ० पत्र ६०,६१ : 'प्रतिच्छन्ने' उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पात सम्भवात्, 'संवृते' पार्श्वतः कटकुट्यादिना सङ्कटद्वारे अटव्यां कुडङ्गादिषु वा .... संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात्।

८—(क) अ० चू० : ससीसोवरियं हत्थंतं हत्थगं।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : हत्थगं मुहपोत्तिया भण्णइत्ति।

(ग) हा० टी० प० १७८ : 'हस्तकं' मुखवस्त्रिकारूपम्।

करते हैं। किन्तु यह साधार नहीं लगता। ओघनिर्युक्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में मुख-वस्त्रिका का उपयोग प्रमार्जन बतलाया है[१]। पात्र-केसरिका का अर्थ होता है—पात्र-मुख-वस्त्रिका—पात्र-प्रमार्जन के काम आने वाला वस्त्र-खण्ड[२]। 'हस्तक', मुख-'वस्त्रिका' और 'मुखान्तक'—ये तीनों पर्यायवाची शब्द हैं।

श्लोक ८४ :

२०५. गुठली, कांटा (अट्ठियं कंटओ ख) :

चूर्णिकार इनका अर्थ हड्डी और मछली का कांटा करते हैं और इनका सम्बन्ध देश-काल की अपेक्षा से ग्रहण किए हुए मांस आदि से जोड़ते हैं[३]।

अस्थिक और कंटक प्रमादवश गृहस्थ द्वारा मुनि को दिए हुए हो सकते हैं—ऐसा टीकाकार का अभिमत है। उन्होंने एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार अस्थिक और कंटक कारणवश गृहीत भी हो सकते हैं[४]। किन्तु यहाँ अस्थिक और कंटक का अर्थ हड्डी और मछली का काटा करना प्रकरण-संगत नहीं है। गोचराग्र-काल में आहार करने के तीन कारण बतलाए हैं—असहिष्णुता, ग्रीष्मऋतु का समय और तपस्या का पारणा[५]। ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार ने असहिष्णुता के दो कारण बतलाए हैं—भूख और प्यास[६]। क्लान्त होने पर मुनि भूख की शांति के लिए थोड़ा-सा खाता है और प्यास की शांति के लिए पानी पीता है। यहाँ 'भुंजमाण' शब्द का अर्थ परिभोग किया जा सकता है उसमें खाना और पीना ये दोनों समाते हैं।

गुठली और कांटे का प्रसंग भोजन की अपेक्षा पानी में अधिक है। आचाराङ्ग[७] में कहा है कि आम्रातक, कपित्थ, बिजौरे, दाख, खजूर, नारियल, करीर (करील—एक प्रकार की कटीली झाड़ी), बेर, आंवले या इमली का धोवन 'सअट्ठियं' (गुठली सहित), 'सकणुय' (छिलके सहित) और 'सबीयग' (बीज सहित) हो, उसे गृहस्थ वस्त्र आदि से छानकर दे तो मुनि न ले।

इस सूत्र के 'सअट्ठिय' शब्द की तुलना प्रस्तुत श्लोक के 'अट्ठिय' शब्द से होती है। शीलाङ्काचार्य ने 'सअट्ठिय' शब्द का अर्थ गुठली सहित किया है[८]।

आचाराङ्ग में जिन बारह प्रकार की वनस्पति के फलों के धोवन का उल्लेख किया है उनमें लगभग सभी फल गुठली या बीज वाले हैं और उनके कुछ पेड़ कटीले भी हैं। इसीलिए दाता के प्रमादवश किसी धोवन में गुठली और कांटे का रहना संभव भी है। हो सकता है ये भोजन में भी रह जाएँ। किन्तु यहाँ ये दोनों शब्द हड्डी और मत्स्य-कंटक के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत नहीं होते।

१—ओ० नि० वृ० ७१२ : सपातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते, तथा रजः—सचित्तपृथिवीकायस्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते, तथा रेणुप्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकामुखं बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति।

२—ओ० नि० वृ० ६६८।

३—(क) अ० चू० : अट्ठित कारणगहित अणाभोगेण वा, एवं अणिमिस (? स)।

(ख) जि० चू० पृ० १८७ : जइ तस्स साहुणो तत्थ भुंजमाणस्स देसकालादीणि पडुच्च गहिए मसादीए अन्नपाणे अट्ठी कंटका वा हुज्जा इयरम्मि वा अन्नपाणे तण कट्ठ सक्करा वा हुज्जा।

४—हा० टी० प० १७८ : अस्थि कण्टको वा स्यात्, कथंचिद्गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये।

५—ओ० नि० गा० २५०।

६—ओ० नि० भाष्य १४६।

७—आचा० २.१.८.२६६।

८—आचा० २.१.८.२६६ वृ० : 'सास्थिकं' सहास्थिना—कुलकेन यद्वर्त्तते।

श्लोक ८७ :

२०६. श्लोक ८७ :

पिछले पाँच श्लोकों (८२-८६) में गोचराग्र-गत मुनि के भोजन की विधि का वर्णन है। आगे के दस श्लोकों (८७-९६) में भिक्षा लेकर उपाश्रय में आहार करने की और उसकी अन्तराल-विधि का वर्णन है। इसमें सबसे पहले स्थान-प्रतिलेखना की बात आती है।

गृहस्थ के पास से भिक्षा लेने के बाद मुनि को उसका विशोधन करना चाहिए। उसमें जीव-जन्तु या कटक आदि हों तो उन्हें निकाल कर अलग रख देना चाहिए।

ओघनिर्युक्तिकार ने भिक्षा-विशुद्धि के स्थान तीन बतलाए हैं—शून्य-गृह, वह न हो तो देव-कुल और वह न मिले तो उपाश्रय का द्वार[1]। इसलिए आश्रय में प्रविष्ट होने से पहले स्थान-प्रतिलेखना करनी चाहिए और प्रतिलेखित स्थान में आहार की विशुद्धि कर फिर उपाश्रय में प्रवेश करना चाहिए। प्रवेश-विधि इस प्रकार है—पहले रजोहरण से पादप्रमार्जन करे, उसके बाद तीन बार 'निसीहिया' (आवश्यक कार्य से निवृत्त होता हूँ) बोले और गुरु के सामने आते ही हाथ जोड़ 'णमो खमासमणाए' बोले। इस सारी विधि को विनय कहा गया है[2]।

उपाश्रय में प्रविष्ट होकर स्थान-प्रतिलेखन कर भिक्षा की झोली को रख दे, फिर गुरु के समीप आ 'ईर्यापथिकी' सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग (शरीर को निश्चल बना भुजाओं को झुकाकार खड़ा रहने की मुद्रा) करने के लिए 'तस्सोत्तरी करणेणं'[3] सूत्र पढ़े, फिर कायोत्सर्ग करे। उसमें अतिचारों की क्रमिक स्मृति करे, फिर 'लोगस्स उज्जोयगरे'[4] सूत्र का चिन्तन करे[5]।

ओघनिर्युक्तिकार कायोत्सर्ग में केवल अतिचार-चिन्तन की विधि बतलाते हैं[6]। जिनदास महत्तर अतिचार-चिन्तन के बाद 'लोगस्स' सूत्र के चिन्तन का निर्देश देते हैं[7]। नमस्कार-मंत्र के द्वारा कायोत्सर्ग को पूरा कर गुरु के पास आलोचना करे। चूर्णिकार और टीकाकार के अनुसार आलोचना करने करने वाला अव्याक्षिप्त-चित्त होकर (दूसरों से वार्तालाप न करता हुआ) आलोचना करे[8]। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य व्याक्षिप्त न हों, धर्म-कथा, आहार-नीहार, दूसरे से बातचीत करने और विकथा में लगे हुए न हों तब उनके पास आलोचना करनी चाहिए[9]।

आलोचना करने से पहले वह आचार्य की अनुज्ञा ले और आचार्य अनुज्ञा दे तब आलोचना करे[10]। जिस क्रम से भिक्षा ली हो उसी क्रम से पहली भिक्षा से प्रारम्भ कर अन्तिम भिक्षा तक जो कुछ बीता हो वह सब आचार्य को कहे। समय कम हो

१—(क) ओ० नि० गा० ५०२।
   (ख) हा० टी० प० १७९ : तत्र बहिरेवोन्दुकं—स्थान प्रत्युपेक्ष्य विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं विशोधयेदिति।

२—ओ० नि० गा० ५०६।

३—आव० ५.३।

४—आव० २।

५—जि० चू० पृ० १८८।

६—ओ० नि० गा० ५१२।

७—जि० चू० पृ० १८८ : ताहे 'लोगस्सुज्जोयगर कड्ढिऊण तमतियारं आलोएइ।

८—(क) जि० चू० पृ० १८८ : अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम तमालोयंतो अण्णेण केणइ समं न उल्लावइ, अवि वयणं वा अन्नस्स न देई।
   (ख) हा० टी० प० १७९ : अव्याक्षिप्तेन चेतसा, अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थ।

९—ओ० नि० गा० ५१४।

१०—ओ० नि० गा० ५१५।

तो आलोचना (निवेदन) का संक्षेप भी किया जा सकता है[1]। आलोचना आचार्य के पास की जानी चाहिए अथवा आचार्य-सम्मत किसी दूसरे मुनि के पास भी वह की जा सकती है[2]। आलोचना सरल भाव से और अनुद्विग्न व्यापार से करनी चाहिए। स्मृतिगत अतिचारों की आलोचना करने के बाद भी अज्ञात या विस्मृत पुरःकर्म पश्चात् कर्म आदि अतिचारों की विशुद्धि के लिए फिर प्रतिक्रमण करे—'पडिक्कमामि गोयरचरियाए'[3] सूत्र पढे। फिर व्युत्सृष्ट-देह[4] (प्रलम्बित बाहु और स्थिर देह खड़ा) होकर निरवद्य-वृत्ति और शरीर धारण के प्रयोजन का चिन्तन करे[5]। नमस्कार मंत्र पढकर, कायोत्सर्ग को पूरा करे और जिन-सस्तव—'लोगस्स' सूत्र पढे। उसके बाद स्वाध्याय करे—एक मण्डली में भोजन करने वाले सभी मुनि एकत्रित न हो जाएँ तब तक स्वाध्याय करे। ओघनिर्युक्ति के अनुसार आठ उच्छ्वास तक नमस्कार-मंत्र का ध्यान करे अथवा 'जइ मे अणुग्गह कुज्जा' इत्यादि दो श्लोकों का ध्यान करे[6]। फिर मुहूर्त तक स्वाध्याय करे (कम से कम तीन गाथा पढ़े) जिससे परिश्रम के बाद तत्काल आहार करने से होने वाले धातु-क्षोभ, मरण आदि दोष टल जाएँ[7]।

मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१. मण्डल्युपजीवी—मण्डली के साथ भोजन करने वाले।

२ अमण्डल्युपजीवी—अकेले भोजन करने वाले।

मण्डल्युपजीवी मुनि मण्डली के सब साधु एकत्रित न हो जाएँ तब तक आहार नहीं करता। उनकी प्रतीक्षा करता रहता है। अमण्डल्युपजीवी मुनि भिक्षा लाकर कुछ क्षण विश्राम करता है[8]। विश्राम के क्षणों में वह अपनी भिक्षा के अर्पन का चिन्तन करता है। उसके बाद आचार्य से प्रार्थना करता है—"भंते! यह मेरा आहार आप लें।" आचार्य यदि न लें तो वह फिर प्रार्थना करता है—"भंते! आप पाहुने, तपस्वी, रुग्ण, बाल, वृद्ध या शिक्षक—इनमें से जिस किसी मुनि को देना चाहें उन्हें दें।" यों प्रार्थना करने पर आचार्य पाहुने आदि में से किसी मुनि को कुछ दें तो शेष रहा हुआ आचार्य की अनुमति से स्वय खा ले और यदि आचार्य कहें कि साधुओं को तुम ही निमन्त्रण दो तो वह स्वय साधुओं को निमन्त्रित करे। दूसरे साधु निमन्त्रण स्वीकार करें तो उनके साथ खा ले और यदि कोई निमन्त्रण स्वीकार न करे तो अकेला खा ले[9]।

निमन्त्रण क्यों देना चाहिए—इसके समाधान में ओघनिर्युक्तिकार कहते हैं—जो भिक्षु अपनी लाई हुई भिक्षा के लिए साधर्मिक

१—ओ० नि० गा० ५१८-५१९।

२—ओ० नि० गा० ५१७।

३—आव० ४.८।

४—ओ० नि० गा० ५१० वृ० : व्युत्सृष्टदेह—प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेह सर्पाद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गम्, अथवा व्युत्सृष्टदेहो दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभङ्ग करोति, त्यक्तदेहोऽक्षिमलदूषिकामपि नापनयति, स एवंविध कायोत्सर्गं कुर्यात्।
विशेष जानकारी के लिए देखिए १०.१३ के 'वोसट्ठ-चत्त-देहे' की टिप्पणी।

५—अ० चू० वोसट्टो इम चितए जं अतरं भणीहामि।

६—ओ० नि० भाष्य २७४।

७—ओ० नि० गा० ५२१ :

विणएण पट्ठवित्ता सज्झाय कुणइ तो मुहुत्तागं।
पुव्वभणिया य दोसा, परिस्समाई जढा एव॥

८—(क) जि० चू० पृ० १८९ : जइ पुन्न ण पट्ठविय ताहे पट्ठविऊण सज्झाय करेइ, जाव साधुणो अन्ने आगच्छति, जो पुन खमगो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्त व सज्झो (वीसत्थो) इम चितेज्जा।

(ख) हा० टी० प० १८० : स्वाध्याय प्रस्थाप्य मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, य पुनस्तदन्य क्षपकादि सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षण' स्तोककाल मुनि।

९—ओ० नि० गा० : ५२१—२४।

साधुओं को निमंत्रण देता है उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि से कर्म का विलय होता है, आत्मा उज्ज्वल होती है[1]। निमंत्रण आदरपूर्वक देना चाहिए। जो अवज्ञा से निमन्त्रण देता है, वह साधु-संघ का अपमान करता है। जो एक साधु का अनादर करता है, वह विश्व के सब साधुओं का अनादर करता है[2]। जो एक साधु का आदर करता है, वह विश्व के सब साधुओं का आदर करता है[3]।

कारण स्पष्ट है—जिसमें साधुता, ज्ञान, दर्शन, तप और संयम है वह साधु है। साधुता जैसे एक में है वैसे सब में है। एक साधु का अपमान साधुता का अपमान है और साधुता का अपमान सब साधुओं का अपमान है। इसी प्रकार एक साधु का सम्मान साधुता का सम्मान है और साधुता का सम्मान सब साधुओं का सम्मान है[4]। इसीलिए कहा है कि संयम-प्रधान साधुओं का वैयावृत्त्य करो—भक्त-पान का लाभ करो। और सब प्रतिपाती हैं, वैयावृत्त्य अप्रतिपाती है[5]।

इन दस श्लोकों में से पहले श्लोक का प्रतिपाद्य है—भिक्षा-विशुद्धि के लिए स्थान का प्रतिलेखन। दूसरे का प्रतिपाद्य है—उपाश्रय में प्रवेश की विधि, ईर्यापथिकी का पाठ और कायोत्सर्ग। भूलों की विस्मृति—यह तीसरे का विषय है। चौथे का विषय है—उनकी आलोचना। छोटी या विस्मृत भूलों की विशुद्धि के लिए पुनः प्रतिक्रमण, चिन्तन और चिन्तनीय विषय ये पाँचवें और छट्ठे में हैं। कायोत्सर्ग पूरा करने की विधि और इसके बाद किए जाने वाले जिन-संस्तव और स्वाध्याय का उल्लेख—ये सातवें श्लोक के तीन चरणों में हैं और स्वाध्याय के बाद भोजन करना यह वहाँ स्वयंगम्य है। चौथे चरण में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के लिए विश्राम का निर्देश दिया गया है। शेष तीन श्लोकों में एकाकी भोजन करने वाले मुनि के विश्रामकालीन चिन्तन, निमंत्रण और आहार करने के वस्तु-विषय का प्रतिपादन हुआ है।

तुलना के लिए देखिए—प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-१ : चौथी भावना)।

२०७. कदाचित् (सिया क) :

यहाँ 'स्यात्' का प्रयोग 'यदि' के अर्थ में हुआ है[6]। आवश्यकतावश साधु उपाश्रय में न आकर बाहर ही आहार कर सकता है। इसका उल्लेख श्लोक ८२ और ८३ में हैं। विशेष कारण के अभाव में साधारण विधि यह है कि—जहाँ साधु ठहरा हो वहीं आकर भोजन करे। उसका विवेचन अब आता है।

श्लोक ८८ :

२०८. विनयपूर्वक (विणएण क) :

उपाश्रय में प्रवेश करते समय नैषधिकी का उच्चारण करते हुए अञ्जलिपूर्वक 'नमस्कार हो क्षमा-श्रमण को'—ऐसा कहना विनय की पद्धति है। एक हाथ में झोली होती है इसलिए दाएं हाथ की अंगुलियों को मुकुलित कर, उसे ललाट पर रख 'नमो खमासमणाणं'

१—ओ० नि० गा० ५२५।

२—ओ० नि० गा० ५२६ : एक्कम्मि हीलियंमी सव्वे ते हीलिया हुंति।

३—ओ० नि० गा० ५२७ : एक्कम्मि पूइयमी सव्वे ते पूइया हुंति।

४—ओ० नि० गा० ५२८-५३१।

५—ओ० नि० गा० ५३२।

६—अ० चू० : सिया य इति कदायि कस्सति एव चिंता होज्जा—'किं मे सागारियातिसंकडे याहिं समुद्दिट्ठेणं ? उवस्सए चेव भविस्सति' एवं इच्छेज्जा, एस नियतो विधिरिति एवं सियासद्दो।

का उच्चारण करे[1]। तुलना—णिक्खमणपवेसणासु विणओ पउजियव्वो। —प्रश्न व्याकरण (संवरद्वार-३ : पाँचवीं भावना)।

श्लोक ९२ :

२०९. (अहो क) :

व्याख्याकारों ने इसे विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त माना है[2]। इसे सम्बोधन के लिए भी प्रयुक्त माना जा सकता है।

श्लोक ९३ :

२१०. क्षण भर विश्राम ले (वीसमेज्ज खणं मुणी घ) :

मण्डली-भोजी मुनि मण्डली के अन्य साधु न आ जाएँ तब तक और एकाकी भोजन करने वाला मुनि थोड़े समय के लिए विश्राम करे[3]।

श्लोक ९४ :

२११. (लाभमट्ठिओ ख) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ९६ :

२१२. खुले पात्र में (आलोए भायणे ग) :

जिस पात्र का मुँह खुला हो या चौड़ा हो उसे आलोक-भाजन कहा जाता है। आहार करते समय जीव-जन्तु भलीभाँति देखे जा सकें इस दृष्टि से मुनि को प्रकाशमय पात्र में आहार करना चाहिए[4]।

१—(क) अ० चू० : निसीहिया, "णमो खमासमणाण" जति ण ओलम्बगवावडो तो दाहिणहत्थमाकुचियगुलिं णिडाले काऊण एतेन विणएण।

(ख) जि० चू० पृ० १८८ : विणओ नाम पविसतो णिसीहिय काऊण 'नमो खमासमणाण' ति भगवतो जति से खणिओ हत्थो, एसो विणओ भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १७९ : 'विनयेन' नैषेधिकीनम: क्षमाश्रमणेभ्योऽञ्जलिकरणलक्षणेन।

२—(क) अ० चू० : अहो सद्दो विम्हए। को विम्हओ ? सत्तसमाकुले वि लोए अपीडाए जीवाण सरीरधारण।

(ख) हा० टी० प० १७९ : 'अहो' विस्मये।

३—(क) जि० चू० पृ० १८९ : जाव साधुणो अन्ने आगच्छंति, जो पुण खमणो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्त वा सज्झो (वीसत्थो)।

(ख) हा० टी० प० १८० : मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, य: पुनस्तदन्य: क्षपकादि: सोऽपि प्रस्थाप्य विश्राम्येत् 'क्षण' स्तोककाल मुनिरिति।

४—(क) अ० चू० : तं पुण कटऽट्ठि—मक्खिता परिहरणत्थं, 'आलोग भायणे' पगास-विठलमुहे पडि काइए।

(ख) जि० चू० पृ० १८९ : तेण साहुणा आलोय भायणे समुद्दिसियव्व।

(ग) हा० टी० प० १८० : 'आलोके भाजने' मक्षिकाद्यपोहाय प्रकाशप्रधाने भाजन इत्यर्थ:।

२१३. (अपरिसाडयं घ) :

इसका पाठान्तर 'अपरिसाडियं' है। भगवती[1] और प्रश्न व्याकरण[2] में इस प्रसंग में 'अपरिसाडिय' पाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा, जैसे न गिरे वैसे।

श्लोक ६७ :

२१४. गृहस्थ के लिए बना हुआ (अन्नट्ठ पउत्तं ग) :

अगस्त्य-चूर्णि में इसके दो अर्थ किए हैं—परकृत और अन्नार्थ—भोजनार्थ प्रयुक्त[3]। जिनदास चूर्णि और वृत्ति में इ अर्थ मोक्षार्थ-प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार मोक्ष की साधना शरीर से होती है और शरीर का निर्वाह आहार से होता है। म साधना के लिए शरीर का निर्वाह होता रहे इस दृष्टि से मुनि को आहार करना चाहिए, सौन्दर्य और बल बढ़ाने के लिए नहीं[4]।

२१५. तीता (तिक्त) (तित्तगं क) :

तिक्त के उदाहरण—करेला[5], खीरा, ककड़ी आदि हैं[6]।

२१६. कड़ुवा (कडुयं क) :

कटुक के उदाहरण—त्रिकटु[7] (सोंठ, पीपल और कालीमिर्च) अश्वक[8] और अदरक[9] आदि हैं।

२१७. कसैला (कसायं क) :

कषाय के उदाहरण—आँवले[10], निष्पाव[11] (वल्लधान्य) आदि हैं।

१—७.१.२२ : अपरिसाडि।

२—संवर द्वार १ : (चौथी भावना)।

३—अ० चू० अणगट्ठापउत्त—पर कड अहवा भोयणत्थे पयोए एत लद्धं अतो तं।

४—(क) जि० चू० पृ० १६० 'एयलद्धमन्नत्थपउत्त'मिति अण्णो—मोक्खो तण्णिमित्तं आहारेयव्वंति, तम्हा साहुणा सब्भावाणुकूलेसु साधुत्ति (न) ? जिब्भिदियं उवालभइ, जहा जमेत मया लद्धं एतं सरीरसगडस्स अक्खोवगसरिसंतिकाऊण पउत्तं, न वण्णरू वलाइनिमित्तंति।

(ख) हा० टी० प० १८० : 'अन्यार्थम्' अक्षोपाङ्गन्यायेन परमार्थतो मोक्षार्थं प्रयुक्त तत्साधकम्।

५—अ० चू० : 'तित्तग' कारवेल्लाति।

६—(क) जि० चू० पृ० १८६ : तत्थ तित्तगं एलगवालुगाइ।

(ख) हा० टी० प० १८० तिक्तक वा एलुकवालुङ्कादि।

७—अ० चू० : 'कडुय' त्रिकडुकाति।

८—जि० चू० पृ० १८६ : कडुमस्सगादि, जहा पभूएण अस्सगेण संजुत्त दोद्धग।

९—हा० टी० प० १८० : कटुक वा आर्द्रकतीमनादि।

१०—अ० चू० : 'कसायं' आमलकमारियाति।

११—(क) जि० चू० पृ० १८६ : कसायं निप्फावादी।

(ख) हा० टी० प० १८० : कषायं वल्लादि।

२१८. खट्टा (अंबिलं ख) :

खट्टे के उदाहरण—तक्र, कांजी आदि हैं[1]।

२१९. मीठा (महुरं ख) :

मधुर के उदाहरण—क्षीर[2], जल[3], मधु[4] आदि।

२२०. नमकीन (लवणं ख) :

नमकीन के उदाहरण—नमक आदि[5]।

२२१. मधुघृत (महु-घयं घ) :

जैसे मधु और घी सरस मानकर खाए जाते हैं वैसे ही अस्वाद-वृत्ति वाला मुनि नीरस भोजन को भी सरस की भांति खाए। इस उपमा का दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जैसे मधु और घी को एक जबड़े से दूसरे जबड़े की ओर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती किन्तु वे सीधे ही निगल लिए जाते हैं, उसी प्रकार स्वाद-विजेता मुनि सरस भोजन को स्वाद के लिए मुँह में इधर-उधर घूमता न रहे, किन्तु उसे शहद और घी की भाँति निगल जाए[6]।

श्लोक ९८ :

२२२. मुधाजीवी (मुहाजीवी ९९ ग) :

जो जाति, कुल आदि के सहारे नहीं जीता उसे मुधाजीवी कहा जाता है[7]।

१—(क) अ० चू० : अंबिल तक्क-कंजियादि।
(ख) जि० चू० पृ० १८९ : अंबिल तक्कबिलादि।
(ग) हा० टी० प० १८० : अम्लं तक्रारनालादि।
२—अ० चू० : मधुर खीरादि।
३—जि० चू० पृ० १८९ : मधुर जलखीरादि।
४—हा० टी० प० १८० : मधुर क्षीरमध्वादि।
५—(क) अ० चू० : लवण सामुद्दलवणातिणा उपदियुत्तमगण। छहिं रसेहिं उवचियं विपरीत वा।
(ख) जि० चू० पृ० १८९ : लवण पसिद्ध चेव।
(ग) हा० टी० प० १८० : लवण वा प्रकृतिक्षार तथाविध शाकादिलवणोत्कट वाऽन्यद्।
६—(क) अ० चू० : महुघत व भुंजेज्ज जहा मधुघत कोति सुरसमिति समुहो भुंजति तहा त समुहेण भुंजितव्वं अहवा महुघतमिव हणुयाओ हणुय असंचारतेण।
(ख) जि० चू० पृ० १९० : त मधुघयमिव भुंजियव्वं साहुणा, जहा महुघयाणि भुंजति तहा तं असोहणमवि भुंजियव्वं, अहवा जहा महुघयं हणुगाओ हणुगं असंचारेहिं भुंजितव्वं।
(ग) हा० टी० प० १८० : मधुघृतमिव च भुञ्जीत संयतः, न वर्णाद्यर्थम्, अथवा मधुघृतमिव 'णो वामाओ हणुआओ दाहिणं हणुअं संचारेज्ज'।
७—जि० चू० पृ० १९० : मुहाजीवि नाम जं जातिकुलादीहिं, आजीवणविसेसेहिं परं न जीवति।

टीकाकार मुधाजीवी का अर्थ अनिदान-जीवी करते हैं और मतान्तर का भी उल्लेख करते हैं[1]।

मुधाजीवी या अनिदान-जीवी का अर्थ अनासक्त भाव से जीने वाला, भोग का संकल्प किये विना जीने वाला हो सकता है किन्तु इस प्रसङ्ग में इसका अर्थ—प्रतिफल देने की भावना रखे विना जो आहार मिले उससे जीवन चलाने वाला—संगत लगता है।

एक राजा था। एक दिन उसके मन में विचार आया कि सभी लोग अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं और उसको मोक्ष का साधन वताते हैं अतः कौन-सा धर्म अच्छा है उसकी परीक्षा करनी चाहिए। धर्म की पहचान उनके गुरु से ही होगी। वही सच्चा गुरु है जो अनिर्विष्ट भोजी है। उसी का धर्म सर्व श्रेष्ठ होगा। ऐसा सोच उसने अपने नौकरों से घोषणा कराई कि राजा मोदकों का दान देना चाहता है। राजा की मोदक-दान की वात सुन अनेक कार्पटिक आदि वहाँ दान लेने आये। राजा ने दान के इच्छुक उन एकत्र कार्पटिक आदि से पूछा—"आप लोग अपना जीवन-निर्वाह किस तरह करते हैं?" उपस्थित भिक्षुओं में से एक ने कहा—"मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।" दूसरे ने कहा—"मैं पैरों से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मैं हाथों से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।" पाँचवें ने कहा—"मेरा क्या निर्वाह? मैं मुधाजीवी हूँ।" राजा ने कहा—"आप लोगों के उत्तर को मैं अच्छी तरह नहीं समझ सका अतः इसका स्पष्टीकरण करें।" तव पहले भिक्षु ने कहा—"मैं कथक हूँ, कथा कह कर अपना निर्वाह करता हूँ अतः मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।" दूसरे ने कहा—"मैं संन्देश पहुँचाता हूँ, लेखवाहक हूँ अत: पैरों से निर्वाह करता हूँ।" तीसरे ने कहा—"मै लेखक हूँ अतः हाथ से निर्वाह करता हूँ।" चौथे ने कहा—"मैं लोगों का अनुग्रह प्राप्त कर निर्वाह करता हूँ।" पाँचवें ने कहा—"मैं संसार से विरक्त निर्ग्रन्थ हूँ। सयम-निर्वाह के हेतु नि:स्वार्थ बुद्धि से लेता हूँ। मैं आहार आदि के लिए किसी की अधीनता स्वीकार नहीं करता, अतः मैं मुधाजीवी हूँ।" इस पर राजा ने कहा—"वास्तव में आप ही सच्चे साधु हैं।" राजा उस साधु गुरु के समीप आ प्रतिवोध पाकर प्रव्रजित हुआ।

२२३. अरस (अरसं [क]):

गुड़, दाड़िम आदि रहित, संस्कार रहित या वघार रहित भोज्य-वस्तु को 'अरस' कहा जाता है[2]।

२२४. विरस (विरसं [क]):

जिसका रस विगड़ गया हो, सत्व नष्ट हो गया हो उसे 'विरस' कहा जाता है, जैसे—वहुत पुराने, काले और ठंडे चावल 'विरस' होते हैं[3]।

२२५. व्यञ्जन सहित या व्यञ्जन रहित (सूइयं वा असूइयं [ख]):

सूप आदि व्यञ्जनयुक्त भोज्य-पदार्थ 'सुपित' या 'सूप्य' कहलाते हैं[4]। व्यञ्जन रहित पदार्थ 'असूपित' या 'असूप्य' कहलाते

१—हा० टी० प० १८१ : 'मुधाजीवी' सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये।

२—(क) अ० चू० : अरस गुडदाडिमादिविरहित।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : हिंगुलवणादीहिं समारेहिं रहियं।

(ग) हा० टी० प० १८१ : अरसम्—असप्राप्तरस हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमित्यर्थ।

३—(क) अ० चू० : विरस कालतरेण सभावविच्चुत उस्सिण्णोयणाति।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : विरसं नाम सभावओ विगतरस विरस भण्णइ, त च पुराणकण्हवन्नियसीतोदणादि।

(ग) हा० टी० प० १८१ : 'विरस वापि' विगतरसमतिपुराणौदनादि।

४—(क) अ० चू० : सूचित सव्वजण णिव्वंजणं।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : 'सूचिय' त पुण मधुकुम्मासा ओदणो वा होज्जा।

हैं। टीकाकार ने इनके संस्कृत रूप 'सूचित' और 'असूचित' दिए हैं और इनका अर्थ—कहकर दिया हुआ और बिना कह कर दिया हुआ किया है[1]। चरक के अनुसार 'सूप्य' शीघ्र पकने वाला माना गया है[2]।

तुलना—अविसृइय वा सुक्कं—'सूइय' त्ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूत शुष्कं वा वल्लचनकादि—

आचा० वृ० १ ६.४ सू० १०७।

२२६. आर्द्र (उल्लं ग) :

जिस भोजन में छौंका हुआ शाक या सूप यथेष्ट मात्रा में हो उसे 'आर्द्र' कहा गया है[3]।

२२७. शुष्क (सुक्कं ग) :

जिस भोजन में बघार रहित शाक हो उसे 'शुष्क' कहा गया है[4]।

२२८. मन्थु (मन्थु घ) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'मन्थु' का अर्थ बेर का चूर्ण किया है[5]। जिनदास महत्तर ने बेर, जौ आदि के चूर्ण को 'मन्थु' माना है[6]। सुश्रुत में 'मन्थ' शब्द का प्रयोग मिलता है। वह सम्भवतः 'मन्थु' का ही समानार्थक शब्द होना चाहिए। उसका लक्षण इस प्रकार बताया गया है—जौ के सत्तू घी में भूनकर शीतल जल में न बहुत पतले, न बहुत सान्द्र घोलने से 'मन्थ' बनता है[7]। 'मन्थु' खाद्य-द्रव्य भी रहा है और सुश्रुत के अनुसार विविध द्रव्यों के साथ विविध रोगों के प्रतिकार के लिए उसका उपयोग किया जाता था[8]।

यवचूर्ण (सत्तू) खाया भी जाता था और पीया भी जाता था। द्रव-मन्थु के लिए 'उदमन्थ' शब्द का प्रयोग मिलता है। वर्षाऋतु में 'उदमन्थ' (जलयुक्त सत्तू), दिन में सोना, अवश्याय (ओस अर्थात् रात्रि में बाहर सोना), नदी का पानी, व्यायाम, आतप (धूप)-सेवन तथा मैथुन छोड़ दे[9]।

'मन्थु' के विविध प्रकारों के लिए देखिए ५.२.२४ 'फलमथूणि' की टिप्पण।

१—हा० टी० प० १८१ 'सूचित' व्यञ्जनादियुक्तम् 'असूचित वा' तद्रहित वा, कथयित्वा अकथयित्वा वा दत्तमित्यन्ये।

२—च० सू० अ० २७.३०५।

३—(क) अ० चू० : उल्लुविय 'ओल्लं'।

(ख) हा० टी० प० १८१ : 'आर्द्रं' प्रचुरव्यञ्जनम्।

४—(क) अ० चू० : मद सूविय 'सुक्कं'।

(ख) हा० टी० प० १८१ : शुष्क स्तोकव्यञ्जनम्।

५—अ० चू० : बदरामहितचुण्ण मन्थु।

६—(क) जि० चू० पृ० १८० : मन्थू नाम बोरचुन्नं जवचुन्नादि।

(ख) हा० टी० प० १८१ : मन्थु—बदरचूर्णादि।

७—सु० सू० अ० ४६.४२५ :

सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते।

८—सु० सू० अ० ४६.४२६-४२८।

९—च० सू० अ० ६.३४-३५ :

"उदमन्थं दिवास्वप्नमवश्यायं नदीजलम्।
व्यायाममातपं चैव व्यवायं चात्र वर्जयेत्।"

२२९. कुल्माप (कुम्मास [घ]) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'कुल्माप' जौ के बनते हैं और वे 'गोल्ल' देश में किए जाते हैं[१]। टीकाकार ने पके हुए उड़द को 'कुल्माप' माना है और यवमास को 'कुल्माप' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[२]। भगवती में भी 'कुम्मासपिंडिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है[३]। वहाँ वृत्तिकार ने 'कुल्माप' का अर्थ अधपके मूग आदि किया है और केवल अधपके उड़द को 'कुल्माप' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[४]। वाचस्पति कोश में अधपके गेहूँ को 'कुल्माप' माना है और चने को 'कुल्माप' मानने वालों के मत का भी उल्लेख किया है[५]।

अभिधान चिन्तामणि की रत्नप्रभा व्याख्या में अधपके उड़द आदि को 'कुल्माप' माना है[६]। चरक की व्याख्या के अनुसार जौ के आटे को गूँथकर उबलते पानी में थोडी देर स्विन्न होने के बाद निकालकर पुनः जल से मर्दन करके रोटी या पूड़े की तरह पकाए हुए भोज्य को अथवा अर्ध स्विन्न चने या जौ को 'कुल्माप' कहा जाता है और वे भारी, रूखे, वायुवर्धक मल को लाने वाले होते हैं'[७]।

श्लोक ९९ :

२३०. अल्प या अरस होते हुए भी बहुत या सरस होता है (अप्पं पि बहु फासुयं [ख]) :

अल्प और बहु की व्याख्या में चूर्णि और टीका में थोडा अन्तर है। चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ—अल्प भी बहुत है[८]—होता है और टीका के अनुसार इसका अर्थ अल्प या बहुत, जो असार है—होता है[९]।

२३१. मुधालब्ध (मुहालद्धं [ग]) :

उपकार, मंत्र, तंत्र और औषधि आदि के द्वारा हित-सम्पादन किए विना जो मिले उसे 'मुधालब्ध' कहा जाता है[१०]।

२३२. दोष-वर्जित आहार को समभाव से खा ले (भुंजेज्ज दोसवज्जियं [घ]) :

जिनदास महत्तर इसका अर्थ आधाकर्म आदि[११] दोष-रहित और टीकाकार संयोजना आदि दोष-रहित करते हैं[१२]।

१—जि० चू० पृ० १९० : कुम्मासा जहा गोल्लविसए जवमया करेंति।

२—हा० टी० प० १८१ : कुल्मापा—सिद्धमापा, यवमापा इत्यन्ये।

३—भग० १५.८ : एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए।

४—भग० १५.१ वृ० : कुल्मापा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादय , मापा इत्यन्ये।

५—अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमा, अन्ये च चणकादयः। कुल्मापा इति कथ्यन्ते।

६—काण्ड ४.२४१ : कुल्माप, यावकः द्वे अर्धपक्वमापादे ।

७—च० सू० अ० २७.२६२ : कुल्मापा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चस ।

८—(क) अ० चू० 'अप्पं पि बहु फासुय' 'फासुएसणिज्ज। दुल्लभ' ति अप्पमवि तं पभूतं। तमेव रसादिपरिहीणमवि अप्पमवि।

(ख) जि० चू० पृ० १९० : तत्थ साहुणा इम आलंबण कायव्वं, जहा मम सथवपरिधारिणो अणुवकारियस्स अप्पमवि परो देति त बहु मणियव्वं, ज विरसमवि मम लोगो अणुवकारिस्स देति तं बहु मन्नियव्वं।

९—हा० टी० प० १८१ : अल्पमेतन्न देहपूरकमिति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति, वा शब्दस्य व्यवहित संबध, किं विशिष्टं तदित्याह—'प्रासुक' प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थ, अन्ये तु व्याचक्षते—अल्पं वा, वाशब्दाद्विरसादि वा, बहुप्रासुकं-सर्वथा शुद्ध नातिहीलयेदिति।

१०—(क) जि० चू० पृ० १९० मुहालद्धं नाम ज कोंटलवेंटलादीणि मोत्तूणमितरहा लद्धं त मुहालद्धं।

(ख) हा० टी० प० १८१ : 'मुधालब्ध' कोण्टलादिव्यतिरेकेण प्राप्तम्।

११—जि० चू० पृ० १९० : आहाकम्माईहि दोसेहि वज्जियं।

१२—हा० टी० प० १८१ : 'दोपवर्जितं' संयोजनादिरहितमिति।

आधाकर्म आदि गवेषणा के दोष हैं और संयोजन आदि भोगैषणा के। यहाँ भोगैषणा का प्रसङ्ग है इसलिए टीकाकार का मत अधिक सगत लगता है और यह मुनि के आहार का एक सामान्य विशेषण है, इसलिए चूर्णिकार का मत भी असगत नहीं है।

परिभोगैषणा के पाँच दोष हैं :—(१) अंगार, (२) धूम, (३) संयोजन, (४) प्रमाणातिक्रान्त और (५) कारणातिक्रान्त।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अगार, धूम और संयोजन के दोषयुक्त आहार व पान का क्या अर्थ है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम! जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें मूर्छित, गृद्ध, स्नेहाबद्ध और एकाग्र होकर आहार करे—वह अगार दोषयुक्त पान-भोजन है।

"जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर उसमें बहुत द्वेष और क्रोध करता हुआ आहार करे—वह धूम दोषयुक्त पान-भोजन है।

"जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर स्वाद बढ़ाने के लिए उसे दूसरे द्रव्य के साथ मिलाकर आहार करे—वह संयोजना दोषयुक्त पान-भोजन है[1]।"

प्रमाणातिक्रान्त का अर्थ है—मात्रा से अधिक खाना। उसकी व्याख्या इस प्रकार है—जो साधु अथवा साध्वी प्रासुक, एषणीय, अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य ग्रहण कर कुकड़ी के अण्डे जितने प्रमाण वाले (वृत्तिकार के अनुसार मुर्गी के अण्डे का दूसरा अर्थ है—जिस पुरुष का जितना भोजन हो उस पुरुष की अपेक्षा से उसका बत्तीसवाँ भाग) ३२ कौर (ग्रास) से अधिक आहार करे—वह प्रमाणातिक्रान्त पान-भोजन है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले आठ कौर आहार करे—वह अल्पाहार है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले बारह कौर आहार करे—वह अपार्ध—अवमोदरिका (भूख के अनुसार आधे से भी अधिक कम खाना) है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले सोलह कौर आहार करे—वह अर्ध-अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले चौबीस कौर आहार करे—वह अवमोदरिका है। जो मुर्गी के अण्डे जितने प्रमाण वाले ३२ कौर आहार करे—वह मिताहार है। जो इससे एक कौर भी कम आहार करे—वह श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकाम-रसभोजी नहीं कहा जाता[2]।

साधु के लिए छः कारणों से भोजन करना विहित है। उसके बिना भोजन करना कारणातिक्रान्त-दोष कहलाता है। वे छः कारण[3] ये हैं—(१) क्षुधा निवृत्ति, (२) वैयावृत्त्य—आचार्य आदि की वैयावृत्त्य करने के लिए, (३) ईर्यार्थ—मार्ग को देख देखकर

१—भग० ७।१।१९ : अह भंते! सइंगालस्स, सधूमस्स, संजोयणादोसदुट्ठस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते?, गोयमा! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए, गिद्धे, गढिए, अज्झोववन्ने आहारं आहारेति, एस णं गोयमा! सइंगाले पाण-भोयणे।

जे णं निग्गंथे वा, निग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहित्ता। महयाअप्पत्तिय कोहकिलामं करेमाणे आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! सधूमे पाण-भोयणे।

जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा जाव पडिग्गाहेत्ता गुणुप्पायणहेउं अन्नदव्वेण सद्धिं संजोएत्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! संजोयणादोसदुट्ठे पाण-भोयणे।

२—भग० ७।१।२१ : जे णं निग्गंथो वा, निग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं जाव साइमं पडिगाहित्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! पमाणाइक्कंते पाण-भोयणे, अट्ठ कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया, सोलस कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागप्पत्ते, चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगपमाणे जाव आहारमाहारेमाणे ओमोदरिया, बत्तीसं कुक्कुडिअंडगमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते। एत्तो एक्केण वि घासेण ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोइ त्ति वत्तव्वं सिया।

३—उत्त० २६।३३ :

वेयणवेयावच्चे, इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए॥

चलने के लिए, (४) सयमार्थ—सयम पालने के लिए, (५) प्राण-धारणार्थ—संयम-जीवन की रक्षा के लिए और (६) धर्म-चिन्तनार्थ—शुभ ध्यान करने के लिए।

गौतम ने एक दूसरे प्रश्न में पूछा—"भगवन्! शस्त्रातीत, शस्त्रपरिणत, एषणा-युक्त, विशेष-एषणा-युक्त और सामुदानिक पान-भोजन का क्या अर्थ है?"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! शस्त्र और शरीर परिकर्म-रहित निर्ग्रन्थ प्रासुक, अपने लिए अकृत, अकारित और असकल्पित, अनाहूत, अक्रीतकृत, अनुद्दिष्ट, नवकोटि परिशुद्ध, दश दोष-रहित, विप्रयुक्त, उद्गम और उत्पादन की एषणायुक्त, अगार धूम और सयोजना-दोष-रहित तथा सुर-सुर और चव-चव (यह भोजन के समय होने वाले शब्द का अनुकरण है) शब्द-रहित न अति शीघ्र और न अत्यन्त धीमे, नीचे न डालता हुआ, गाड़ी की धुरी में अजन लगाने और व्रण पर लेप करने के तुल्य केवल संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु, सयम भार का वहन करने के लिए, अस्वाद वृत्तिपूर्वक, जैसे बिल में साप पैठता है वैसे ही स्वाद के निमित्त ग्रास को इधर-उधर ले जाए बिना आहार करता है—यह शस्त्रातीत यावद् सामुदानिक पान-भोजन का अर्थ है[1]।

श्लोक १०० :

२३३. मुधादायी (मुहादाई[क]) :

प्रतिफल की कामना किए बिना निःस्वार्थ भाव से देने वाले को 'मुधादायी' कहा है।

इन चार श्लोकों (६७-१००) में अस्वाद वृत्ति और निष्काम वृत्ति का बहुत ही मार्मिक प्रतिपादन किया गया है। जब तक देहासक्ति या देह लक्षी भाव प्रबल होता है, तब तक स्वाद जीता नही जा सकता। नीरस भोजन मधु और घी की भाँति खाया नहीं जा सकता। जिसका लक्ष्य बदल जाता है, देह का रस चला जाता है, मोक्ष-लक्षी भाव का उदय हो जाता है, वही व्यक्ति स्वाद पर विजय पा सकता है, सरस और नीरस को किसी भेदभाव के बिना खा सकता है।

दो रस एक साथ नहीं टिक सकते, या तो देह का होगा या मोक्ष का। भोजन में सरस और नीरस का भेद उसे सताता है जिसे देह में रस है। जिसे मोक्ष में रस मिल गया उसे भोजन में रस जैसा कुछ लगता ही नहीं, इसलिए वह भोजन को भी अन्यार्थ-प्रयुक्त (मोक्ष के हेतु-भूत शरीर का साधन) मानकर खाता है। इस वृत्ति से खाने वाला न किसी भोजन को अच्छा बताता और न किसी को बुरा।

मुधादायी, मुधालब्ध और मुधाजीवी—ये तीन शब्द निष्काम वृत्ति के प्रतीक हैं। निष्काम-वृत्ति के द्वारा ही राग-द्वेष पर विजय पाई जा सकती है। कहीं से विरस आहार मिले तो मुनि इस भावना का आलम्बन ले कि मैंने इसका कोई उपकार नहीं किया, फिर भी इसने मुझे कुछ दिया है। क्या यह कम बात है? यों चिन्तन करने वाला द्वेष से बच सकता है[2]।

मुझे मोक्ष की साधना के लिए जीना है और उसीके लिए खाना है—यों चिन्तन करने वाला राग या आसक्ति से बच सकता है।

१—भग० : ७.१-२२ : अह भंते ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, एसियस्स, वेसियस्स, सामुदाणियस्स, पाणभोयणस्स के अट्ठे पन्नत्ते ?, गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा निग्गंथी वा निक्खित्त-सत्थ-मुसले ववगय-माला-वन्नगविलेवणे ववगयचुयचइयचत्तदेहं, जीव-विप्पजढं, अकयमकारियमसंकप्पियमणाहूयमकीयकड-मणुद्दिट्ठं, नवकोडीपरिसुद्धं, दस दोसविप्पमुक्कं, उग्गम-उप्पायणेसणासुपरिसुद्धं, वीतिंगालं, वीतधूमं, संजोयणादोसविप्पमुक्कं, असुरसुरं, अचवचवं, अदुयमविलंबियं अपरिसाडिं, अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयं संजम-जाया-माया-वत्तियं, संजम-भार वहणट्ठयाए बिलमिव पन्नगभूएणं, अप्पाणेणं आहारमाहारेति। एस णं गोयमा ! सत्थातीयस्स, सत्थपरिणामियस्स, जाव पाणभोयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते।

२—देखिए 'अप्पं पि बहु फासुयं' की टिप्पणी सं० २३० पृ० सं० २८५।

साधु हमारा भला नहीं करते, फिर हम उन्हें क्यों दें ? यह प्रतिफल का विचार है, फल के प्रति फल और उपकार के प्रति उपकार यह विनिमय है। उसका कोई स्वतंत्र परिणाम नहीं होता, इस भावना का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग बहुधा कहा करते हैं—साधु, समाज पर भार हैं क्योंकि वे समाज से बहुत लेते हैं, देते कुछ भी नहीं। यह सकाम मानस का चिन्तन है।

इसका अर्थ यह हुआ कि सकाम दृष्टि वाले लोग विनिमय से आगे कुछ देख नहीं पाते। किन्तु जिन्हें निष्काम दृष्टि मिली है, वे लोग संयम का स्वतंत्र मूल्य आंकते हैं और इसलिए वे प्रतिफल की कामना किए बिना संयम-साधना में सहयोगी बनते हैं।

एक सन्यासी था, वह एक भागवत के यहाँ आया और बोला—"मैं तुम्हारे यहाँ चातुर्मास-काल व्यतीत करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि तुम मेरे निर्वाह का भार वहन कर सकोगे।" भागवत ने कहा—"आप मेरे यहाँ वर्षाकाल व्यतीत कर सकते हैं किन्तु उसके लिए आपको मेरी एक शर्त स्वीकार करनी होगी वह यह है कि आप मेरे घर का कोई भी काम न करेंगे।" परिव्राजक ने भागवत की शर्त मान ली। सन्यासी ठहर गया। भागवत भी सन्यासी की अशन-वसन आदि से खूब सेवा करने लगा।

एक दिन रात्रि के समय आकर चोरों ने भागवत का घोड़ा चुरा लिया और प्रभात होता जानकर उसे नदी के तट पर के वृक्ष से बांध दिया। सन्यासी प्रातः नित्य नियमानुसार स्नान करने नदी पर गया। वहाँ उसने घोड़े को वृक्ष से बंधा देखा। सन्यासी से रहा नहीं गया वह और झट से भागवत के घर आया। अपनी प्रतिज्ञा को बचाते हुए भागवत से बोला—"मैं नदी पर अपना वस्त्र भूल आया हूँ। भागवत ने नौकर को वस्त्र लाने नदी पर भेजा। नौकर ने घोड़े को नदी के तट पर वृक्ष से बंधा देखा और अपने स्वामी से सब बात कही। भागवत सन्यासी के भाव को ताड़ गया और सन्यासी से बोला—"आप अपनी प्रतिज्ञा को भूल गये। अब मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता कारण, निर्विष्ट का फल अल्प होता है। किसी से सेवा की अपेक्षा रख कर उसकी सेवा करने का फल अल्प होता है।"

पंचमं अज्झयणं

पिंडेसणा

(बीओ उद्देसो)

पञ्चम अध्ययन

पिण्डैषणा

(द्वितीय उद्देशक)

पिंडेसणा (बीओ उद्देसो) पिण्डैषणा (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेव-मायाए संजए। दुगंधं वा सुगंधं वा सव्वं भुंजे न छड्डए॥	प्रतिग्रहं संलिह्य, लेपमात्रया संयतः। दुर्गन्धं वा सुगन्धं वा, सर्वं भुञ्जीत न छर्दंत्॥ १॥	१—संयमी मुनि लेप लगा रहे तब तक पात्र को पोंछ कर सब खा ले, शेष न छोड़े, भले फिर वह दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त[1]।
२—सेज्जा निसीहियाए समावन्नो व गोयरे। अयावयट्ठा भोच्चाणं जइ तेणं न संथरे॥	शय्यायां नैषेधिक्यां, समापन्नो वा गोचरे। अयावदर्थं भुक्त्वा 'ण', यदि तेन न संस्तरेत्॥ २॥	२-३—उपाश्रय[2] या स्वाध्याय-भूमि में[3] अथवा गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में[4] अपर्याप्त[5] खाकर यदि न रह सके तो[6] कारण उत्पन्न होने पर[7] पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे।
३—तओ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसए। विहिणा पुव्व-उत्तेण इमेणं उत्तरेण य॥	ततःकारणे उत्पन्ने, भक्त-पानं गवेषयेत्। विधिना पूर्वोक्तेन, अनेन उत्तरेण च॥ ३॥	
४—कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे। अकालं च विवज्जेत्ता काले कालं समायरे॥	कालेन निष्क्रामेद् भिक्षुः, कालेन च प्रतिक्रामेत्। अकालं च विवर्ज्य, काले कालं समाचरेत्॥४॥	४—भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर[8] जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे[9]।
५—[10]अकाले चरसि भिक्खू कालं न पडिलेहसि। अप्पाणं च किलामेसि सन्निवेसं च गरिहसि॥	अकाले चरसि भिक्षो! कालं न प्रतिलिखसि। आत्मानं च क्लामयसि, सन्निवेशं च गर्हसे॥ ५॥	५—भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते, इसीलिए तुम अपने आपको क्लान्त (खिन्न) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो।
६—सइ काले चरे भिक्खू कुज्जा पुरिसकारियं। अलाभो त्ति न सोएज्जा तवो त्ति अहियासए॥	सति काले चरेद् भिक्षुः, कुर्यात् पुरुषकारकम्। 'अलाभ' इति न शोचेत्, तप इति अधिसहेत॥ ६॥	६—भिक्षु समय होने पर[11] भिक्षा के लिए जाए; पुरुषकार (श्रम) करे; भिक्षा न मिलने पर शोक न करे, 'सहज तप ही सही'—यों मान भूख को सहन करे।

७—[12]तहेवुच्चावया पाणा
भत्तट्ठाए समागया।
तं-उज्जुयं न गच्छेज्जा
जयमेव परक्कमे॥

तथैवोच्चावचाः प्राणाः,
भक्तार्थं समागताः।
तदृजुकं न गच्छेत्,
यतमेव पराक्रमेत्॥७॥

७—इसी प्रकार नाना प्रकार के प्राणी भोजन के निमित्त एकत्रित हों, उनके सम्मुख न जाए। उन्हें त्रास न देता हुआ यतनापूर्वक जाए।

८—गोयरग्ग-पविट्ठो उ
न निसीएज्ज कत्थई।
कहं च न पबंधेज्जा
चिट्ठित्ताण व संजए॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्तु,
न निषीदेत् कुत्रचित्।
कथां च न प्रबध्नीयात्,
स्थित्वा वा संयतः॥८॥

८—गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी कहीं न बैठे[13] और खड़ा रह कर भी कथा का प्रबन्ध न करे[14]।

९—[15]अग्गलं फलिहं दारं
कवाडं वा वि संजए।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा
गोयरग्गगओ मुणी॥

अर्गलां परिघं द्वारं,
कपाटं वाऽपि संयतः।
अवलम्ब्य न तिष्ठेत्,
गोचराग्र-गतो मुनिः॥९॥

९—गोचराग्र के लिए गया हुआ संयमी आगल, परिघ[16], द्वार या किवाड़ का सहारा लेकर खड़ा न रहे।

१०—समणं माहणं वा वि
किविणं वा वणीमगं।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए॥

श्रमणं ब्राह्मणं वाऽपि,
कृपणं वा वनीपकम्।
उपसंक्रामन्तं भक्तार्थं,
पानार्थं वा संयतः॥१०॥

११—तं अइक्कमित्तु न पविसे
न चिट्ठे चक्खु-गोयरे।
एगंतमवक्कमित्ता
तत्थ चिट्ठेज्ज संजए॥

तमतिक्रम्य न प्रविशेत्,
न तिष्ठेत् चक्षु-र्गोचरे।
एकान्तमवक्रम्य,
तत्र तिष्ठेत् संयतः॥११॥

१०-११—भक्त या पान के लिए उपसंक्रमण करते हुए (घर में जाते हुए) श्रमण, ब्राह्मण, कृपण[17] या वनीपक को लाँघकर संयमी मुनि गृहस्थ के घर में प्रवेश न करे। गृहस्वामी और श्रमण आदि की आँखों के सामने खड़ा भी न रहे। किन्तु एकान्त में जाकर खड़ा हो जाए।

१२—वणीमगस्स वा तस्स
दायगस्सुभयस्स वा।
अप्पत्तियं सिया होज्जा
लहुत्तं पवयणस्स वा॥

वनीपकस्य वा तस्य,
दायकस्योभयोर्वा।
अप्रीतिकं स्याद् भवेत्,
लघुत्वं प्रवचनस्य वा॥१२॥

१२—भिक्षाचरों को लाँघकर घर में प्रवेश करने पर वनीपक या गृहस्वामी को अथवा दोनों को अप्रेम हो सकता है अथवा उससे प्रवचन की[18] लघुता होती है।

१३—पडिसेहिए व दिन्ने वा
तओ तम्मि नियत्तिए।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा
पाणट्ठाए व संजए॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा,
ततस्तस्मिन् निवृत्ते।
उपसंक्रामेद् भक्तार्थं,
पानार्थं वा संयतः॥१३॥

१३—गृहस्वामी द्वारा प्रतिषेध करने या दान दे देने पर, वहाँ से उनके वापस चले जाने के पश्चात् संयमी मुनि भक्त-पान के लिये प्रवेश करे।

१४—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च संलुंचिया दए ॥

१५—[२३]तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्प-सच्चित्तं,
तच्च संलुञ्च्य दद्यात् ॥ १४ ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥ १५ ॥

१४-१५—कोई उत्पल[१९], पद्म[२०], कुमुद[२१], मालती[२२] या अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन कर भिक्षा दे वह भक्त-पान संयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१६—उप्पलं पउमं वा वि
कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं
तं च सम्मद्दिया दए ॥

१७—तं भवे भत्तपाणं तु
संजयाणं अकप्पियं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

उत्पलं पद्मं वाऽपि,
कुमुदं वा 'मगदन्तिकाम्' ।
अन्यद्वा पुष्प-सच्चित्तं,
तच्च संमृद्य दद्यात् ॥ १६ ॥

तद्भवेद् भक्त-पानं तु,
संयतानामकल्पिकम् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥ १७ ॥

१६-१७—कोई उत्पल, पद्म, कुमुद, मालती या अन्य किसी सचित्त पुष्प को कुचल कर[२४] भिक्षा दे, वह भक्त-पान संयति के लिए कल्पनीय नहीं होता, इसलिए मुनि देती हुई स्त्री को प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

१८—[२५]सालुयं वा विरालियं
कुमुदुप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं
उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥

१९—तरुणगं वा पवालं
रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स
आमगं परिवज्जए ॥

शालूकं वा विरालिका,
कुमुदोत्पलनालिकाम् ।
मृणालिका सर्षपनालिका,
इक्षु-खण्डमनिर्वृतम् ॥ १८ ॥

तरुणकं वा प्रवालं,
वृक्षस्य तृणकस्य वा ।
अन्यस्य वाऽपि हरितस्य,
आमकं परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

१८-१९—कमलकन्द[२६], पलाशकन्द[२७], कुमुद-नाल, उत्पल-नाल, पद्म-नाल[२८], सरसों की नाल[२९], अपक्व-गंडेरी[३०], वृक्ष, तृण[३१] या दूसरी हरियाली की कच्ची नई कोंपल न ले।

२०—तरुणियं व छिवाडिं
आमियं भज्जियं सइं ।
देंतियं पडियाइक्खे
न मे कप्पइ तारिसं ॥

तरुणां वा 'छिवाड़िं',
आमिकां भर्जितां सकृत् ।
ददतीं प्रत्याचक्षीत,
न मे कल्पते तादृशम् ॥ २० ॥

२०—कच्ची[३२] और एक बार भूनी हुई[३३] फली[३४] देती हुई स्त्री को मुनि प्रतिषेध करे—इस प्रकार का आहार मैं नहीं ले सकता।

२१—तहा कोलमणुस्सिन्नं
वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं
आमगं परिवज्जए ॥

तथा कोलमनुत्स्विन्नं,
वेणुकं काश्यपनालिकाम् ।
तिलपर्पटकं नीपं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

२१—इसी प्रकार जो उबाला हुआ न हो वह बेर, वंश—करीर[35], काश्यप-नालिका[36] तथा अपक्व तिल पपड़ी[37] और कदम्ब-फल[38] न ले।

२२—तहेव चाउलं पिट्ठं
वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइ पिन्नागं
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव 'चाउलं' पिष्टं,
विकटं वा तप्त-निर्वृतम् ।
तिलपिष्टं पूतिपिण्याकं,
आमकं परिवर्जयेत् ॥ २२ ॥

२२—इसी प्रकार चावल का पिष्ट[39], पूरा न उबला हुआ गर्म[40] जल[41], तिल का पिष्ट, पोई-साग और सरसों की खली[42]—अपक्व न ले।

२३—कविट्ठं माउलिंगं च
मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं
मणसा वि न पत्थए ॥

कपित्थं मातुलिङ्गं च,
मूलकं मूलकर्तिकाम् ।
आमामशस्त्र-परिणतां,
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥ २३ ॥

२३—अपक्व और शस्त्र से अपरिणत कैथ[43], बिजौरा[44], मूला और मूले के गोल टुकड़े[45] को मन कर भी न चाहे।

२४—तहेव फलमंथूणि
बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च
आमगं परिवज्जए ॥

तथैव फलमन्थून्,
बीजमन्थून् ज्ञात्वा ।
बिभीतकं प्रियालं च,
आमकं परिवर्जयेत् ॥ २४ ॥

२४—इसी प्रकार अपक्व फलचूर्ण, बीजचूर्ण[46], बहेड़ा[47] और प्रियाल-फल[48] न ले।

२५—समुयाणं चरे भिक्खू
कुलं उच्चावयं सया ।
नीयं कुलमइक्कम्म
ऊसढं नाभिधारए ॥

समुदानं चरेद् भिक्षुः,
कुलमुच्चावचं सदा ।
नीचं कुलमतिक्रम्य,
उच्छ्रृ (स्रृ) तं नाभिधारयेत् ॥२५॥

२५—भिक्षु सदा समुदान[49] भिक्षा करे, उच्च और नीच सभी कुलों में जाए, नीच कुल को छोड़कर उच्च कुल में न जाए।

२६—अदीणो वित्तिमेसेज्जा
न विसीएज्ज पंडिए ।
अमुच्छिओ भोयणम्मि
मायन्ने एसणारए ॥

अदीनो वृत्तिमेषयेत्,
न विषीदेत पण्डितः ।
अमूर्च्छितो भोजने,
मात्राज्ञ एषणारतः ॥ २६ ॥

२६—भोजन में अमूर्च्छित, मात्रा को जानने वाला, एषणारत, पण्डित मुनि अदीन-भाव से वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे। (भिक्षा न मिलने पर) विषाद (खेद) न करे।

२७—बहुं परघरे अत्थि
विविहं खाइमसाइमं ।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे
इच्छा देज्ज परो न वा ॥

बहु परगृहेऽस्ति,
विविधं खाद्यं स्वाद्यम् ।
न तत्र पण्डितः कुप्येत,
इच्छा दद्यात् परो न वा ॥ २७ ॥

२७—गृहस्थ के घर में नाना प्रकार का और प्रचुर खाद्य-स्वाद्य होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि कोप न करे। (यों चिन्तन करे कि) इसकी अपनी इच्छा है, दे या न दे।

२८—सयणासण वत्थं वा
भत्तपाणं व संजए।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा
पच्चक्खे वि य दीसओ ॥

शयनासन-वस्त्रं वा,
भक्त-पानं वा संयतः।
अददते न कुप्येत्,
प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने ॥२८॥

२८—सयमी मुनि सामने दीख रहे, शयन, आसन, वस्त्र, भक्त या पान न देने वाले पर भी कोप न करे।

२९—इत्थियं पुरिसं वा वि
डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणो न जाएज्जा
नो य णं फरुसं वए ॥

स्त्रियं पुरुषं वाऽपि,
डहरं वा महान्तम्।
वन्दमानो न याचेत,
नो चैनं परुषं वदेत् ॥२९॥

२९—मुनि स्त्री या पुरुष, बाल या वृद्ध की वन्दना (स्तुति) करता हुआ याचना न करे[५०], (न देने पर) कठोर वचन न बोले।

३०—जं न वंदे न से कुप्पे
वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स
सामण्णमणुचिट्ठई ॥

यो न वन्दते न तस्मै कुप्येत्,
वन्दितो न समुत्कर्षेत्।
एवमन्वेषमाणस्य,
श्रामण्यमनुतिष्ठति ॥३०॥

३०—जो वन्दना न करे उस पर कोप न करे, वन्दना करने पर उत्कर्ष न लाए—गर्व न करे। इस प्रकार (समुदानचर्या का) अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य निर्बाध भाव से टिकता है।

३१—सिया एगइओ लद्धुं
लोभेण विणिगूहई।
मा मेयं दाइयं संतं
दट्ठूणं सयमायए ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
लोभेन विनिगूहते।
मा ममेदं दर्शितं सत्,
दृष्ट्वा स्वयमादद्यात् ॥३१॥

३२—अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो
बहुं पावं पकुव्वई।
दुत्तोसओ य से होइ
निव्वाणं च न गच्छई ॥

आत्मार्थ-गुरुको लुब्ध,
बहु-पाप प्रकरोति।
दुस्तोपकश्च स भवति,
निर्वाण च न गच्छति ॥३२॥

३१-३२—कदाचित् कोई एक मुनि सरस आहार पाकर उसे, आचार्य आदि को दिखाने पर वह स्वय ले न ले,—इस लोभ से छिपा लेता है[५१], वह अपने स्वार्थ को प्रमुखता देने वाला और रस-लोलुप मुनि बहुत पाप करता है। वह जिस किसी वस्तु से सतुष्ट नही होता और निर्वाण को नही पाता।

३३—सिया एगइओ लद्धुं
विविहं पाणभोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा
विवण्णं विरसमाहरे ॥

स्यादेकको लब्ध्वा,
विविधं पान-भोजनम्।
भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा,
विवर्णं विरसमाहरेत् ॥३३॥

३३—कदाचित् कोई एक मुनि विविध प्रकार के पान और भोजन पाकर कही एकान्त में बैठ श्रेष्ठ-श्रेष्ठ खा लेता है, विवर्ण और विरस को स्थान पर लाता है।

३४—जाणंतु ता इमे समणा
आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवई पंतं
लूहवित्ती सुतोसओ ॥

जानन्तु तावदिमे श्रमणा,
आयतार्थी अयं मुनिः।
सन्तुष्टः सेवते प्रान्तं,
रूक्षवृत्तिः सुतोपकः ॥३४॥

३४—ये श्रमण मुझे यो जानें कि यह मुनि बड़ा मोक्षार्थी[५२] है, सन्तुष्ट है, प्रान्त-(असार) आहार का सेवन करता है, रूक्षवृत्ति[५३] और जिस किसी भी वस्तु से सन्तुष्ट होने वाला है।

३५—पूयणट्ठी जसोकामी
माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवई पावं
मायासल्लं च कुव्वई ॥

पूजनार्थी यशस्कामी,
मान-सम्मान-कामकः ।
बहु प्रसूते पापं,
मायाशल्यञ्च करोति ॥३५॥

३५—वह पूजा का अर्थी, यश का कामी और मान-सम्मान की कामना करने वाला[५४] मुनि बहुत पाप का अर्जन करता है और माया-शल्य[५५] का आचरण करता है।

३६—सुरं वा मेरगं वा वि
अन्नं वा मज्जगं रसं ।
ससक्खं न पिबे भिक्खू
जसं सारक्खमप्पणो ॥

सुरां वा मेरकं वाऽपि,
अन्यद्वा माद्यकं रसम् ।
स्व (स) साक्ष्यं न पिबेद्भिक्षुः,
यशः संरक्षन्नात्मनः ॥३६॥

३६—अपने संयम[५६] का संरक्षण करता हुआ भिक्षु सुरा, मेरक[५७] या अन्य किसी प्रकार का मादक रस आत्म-साक्षी से[५८] न पीए।

३७—पिया एगइओ तेणो
न मे कोइ वियाणई ।
तस्स पस्सह दोसाइं
नियडिं च सुणेह मे ॥

पिबति एककः स्तेनः,
न मा कोऽपि विजानाति ।
तस्य पश्यत दोषान्,
निकृतिं च शृणुत मम ॥३७॥

३७—जो मुनि—मुझे कोई नहीं जानता (यों सोचता हुआ) एकान्त में स्तेन-वृत्ति से मादक रस पीता है, उसके दोषों को देखो और मायाचरण को मुझसे सुनो।

३८—वड्ढई सोंडिया तस्स
मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं
सययं च असाहुया ॥

वर्धते शौण्डिता तस्य,
माया-मृषा च भिक्षोः ।
अयशश्चानिर्वाणं,
सततं च असाधुता ॥३८॥

३८—उस भिक्षु के उन्मत्तता[५९], माया-मृषा, अयश, अतृप्ति और सतत असाधुता—ये दोष बढ़ते हैं।

३९—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो
अत्तकम्मेहि दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि
नाराहेइ संवरं ॥

नित्योद्विग्नो यथा स्तेनः,
आत्मकर्मभिर्दुर्मतिः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
नाराधयति सम्वरम् ॥३९॥

३९—वह दुर्मति अपने दुष्कर्मों से चोर की भांति सदा उद्विग्न रहता है। मद्यप-मुनि मरणान्त-काल में भी संवर[६०] की आराधना नहीं कर पाता।

४०—आयरिए नाराहेइ
समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरहंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यान्नाराधयति,
श्रमणानपि तादृशः ।
गृहस्था अप्येनं गर्हन्ते,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४०॥

४०—वह न तो आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे मद्यप मानते हैं, इसलिए उसकी गर्हा करते हैं।

४१—एवं तु अगुणप्पेही
गुणाणं च विवज्जओ ।
तारिमो मरणंते वि
नाराहेइ मंवरं ॥

एवन्तु अगुणप्रेक्षी,
गुणानां च विवर्जकः ।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
नाराधयति संवरम् ॥४१॥

४१—इस प्रकार अगुणों की प्रेक्षा (आसेवना) करने वाला और गुणों को वर्जने वाला मुनि मरणान्त-काल में भी संवर की आराधना नहीं कर पाता।

४२—तवं कुव्वइ मेहावी
पणीयं वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ
तवस्सी अइउक्कसो ॥

तपः करोति मेधावी,
प्रणीतं वर्जयेद् रसम्।
मद्यप्रमादविरतः,
तपस्वी अत्युत्कर्षः ॥४२॥

४३—तस्स पस्सह कल्लाणं
अणेगसाहुपूइयं ।
विउलं अत्थसंजुत्तं
कित्तइस्सं सुणेह मे ॥

तस्य पश्यत कल्याणं,
अनेक-साधु-पूजितम्।
विपुलमर्थ-संयुक्तं,
कीर्तयिष्ये शृणुत मम ॥४३॥

४२-४३—जो मेधावी[61] तपस्वी तप करता है, प्रणीत[62]-रस को वर्जता है, मद्य-प्रमाद[63] से विरत होता है, गर्व नहीं करता, उसके अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित[64], विपुल और अर्थ-संयुक्त[65] कल्याण को स्वयं देखो[66] और मैं उसकी कीर्तना करूँगा वह सुनो।

४४—एवं तु गुणप्पेही।
अगुणाणं च विवज्जओ।
तारिसो मरणंते वि
आराहेइ संवरं ॥

एवं तु गुण-प्रेक्षी,
अगुणानां च विवर्जकः।
तादृशो मरणान्तेऽपि,
आराधयति संवरम् ॥४४॥

४४—इस प्रकार गुण की प्रेक्षा—(आसेवना) करने वाला और अगुणों को[67] वर्जने वाला, शुद्ध-भोजी मुनि मरणान्तकाल में भी संवर की आराधना करता है।

४५—आयरिए आराहेइ
समणे यावि तारिसो।
गिहत्था वि णं पूयंति
जेण जाणंति तारिसं ॥

आचार्यानाराधयति,
श्रमणांश्चापि तादृशः।
गृहस्था अप्येनं पूजयन्ति,
येन जानन्ति तादृशम् ॥४५॥

४५—वह आचार्य की आराधना करता है और श्रमणों की भी। गृहस्थ भी उसे शुद्ध-भोजी मानते हैं, इसलिए उसकी पूजा करते हैं।

४६—तवतेणे वयतेणे
रूवतेणे य जे नरे।
आयारभावतेणे य
कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥

तपःस्तेनः वचःस्तेनः,
रूपस्तेनस्तु यो नरः।
आचार-भावस्तेनश्च,
करोति दैव-किल्बिषम् ॥४६॥

४६—जो मनुष्य तप का चोर, वाणी का चोर, रूप का चोर, आचार का चोर और भाव का चोर[68] होता है, वह किल्बिषिक देव-योग्य-कर्म[69] करता है।

४७—लद्धूण वि देवत्तं
उववन्नो देवकिब्बिसे।
तत्था वि से न याणाइ
किं मे किच्चा[70] इमं फलं? ॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं,
उपपन्नो दैव-किल्बिषे।
तत्राऽपि स न जानाति,
किं मे कृत्वा इदं फलम् ॥४७॥

४७—किल्बिषिक—देव के रूप में उपपन्न जीव देवत्व को पाकर भी वहाँ वह नहीं जानता कि 'यह मेरे किस कार्य का फल है।'

४८—तत्तो वि से चइत्ताणं
लब्भिही एलमूययं।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा
बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥

ततोऽपि सः च्युत्वा,
लप्स्यते एडमूकताम्।
नरकं तिर्यग्योनिं वा,
बोधिर्यत्र सुदुर्लभा ॥४८॥

४८—वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य-गति में आ एडमूकता (गूँगापन)[71] अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को पाएगा, जहाँ बोधि अत्यन्त दुर्लभ होती है।

४९—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी
मायामोसं विवज्जए ॥

एनं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम् ।
अणुमात्रमपि मेधावी,
माया-मृषा विवर्जयेत् ॥४९॥

४९—इस दोष को देखकर ज्ञातपुत्र ने कहा—मेधावी मुनि अणु-मात्र भी मायामृषा न करे।

५०—सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं
संजयाण बुद्धाण सगासे ।
तत्थ भिक्खू सुप्पणिहिंदिए
तिव्वलज्ज गुणवं विहरेज्जासि ॥
॥ त्ति बेमि ॥

शिक्षित्वा भिक्षैषणाशुद्धिं,
संयतानां बुद्धानां सकाशे ।
तत्र भिक्षुः सुप्रणिहितेन्द्रियः,
तीव्रलज्जो गुणवान् विहरेत् ॥५०॥
इति ब्रवीमि ।

५०—संयत और बुद्ध श्रमणों के समीप भिक्षैषणा की विशुद्धि सीखकर उसमें सुप्रणिहित इन्द्रिय वाला भिक्षु उत्कृष्ट संयम[७२] और गुण से सम्पन्न होकर विचरे।

इस प्रकार मैं कहता हूँ।

पिण्डैषणायाः पञ्चमाध्ययने द्वितीय उद्देशः समाप्तः ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ५ : (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक १ :

१. दुर्गन्धयुक्त हो या सुगन्धयुक्त (दुगंधं वा सुगंधं वा ग) :

दुर्गन्ध और सुगन्ध शब्द अमनोज्ञ और मनोज्ञ आहार के उपलक्षण हैं। इसलिए दुर्गन्ध के द्वारा अप्रशस्त और सुगन्ध के द्वारा प्रशस्त वर्ण, रस और स्पर्शयुक्त आहार समझ लेना चाहिए।

शिष्य ने कहा—गुरुदेव ! यदि श्लोक का पश्चार्द्ध पहले हो और पूर्वार्द्ध बाद में हो, जैसे—'संयमी मुनि दुर्गन्ध या सुगन्धयुक्त सब आहार खा ले, शेष न छोड़े, पात्र को पोंछ कर लेप लगा रहे तब तक' तो इसका अर्थ सुख-ग्राह्य हो सकता है ?

आचार्य ने कहा—'प्रतिग्रह' शब्द मांगलिक है। इसलिए इसे आदि में रखा है और 'जूठन न छोड़े' इस पर अधिक बल देना है, इसलिए इसे बाद में रखा है। अतः यह उचित ही है[1]। इस श्लोक का आशय यह है कि मुनि सरस-सरस आहार खाए और नीरस आहार हो उसे जूठन के रूप में डाले—ऐसा न करे किन्तु सरस या नीरस जैसा भी आहार मिले उस सब को खा ले।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग (२ १ ६)।

श्लोक २ :

२. उपाश्रय (सेज्जा क) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'उपाश्रय'[2], जिनदास महत्तर ने 'उपाश्रय' मठ, कोष्ठ[3] और हरिभद्रसूरि ने 'वसति' किया है[4]।

३. स्वाध्याय भूमि में (निसीहियाए क) :

स्वाध्याय-भूमि प्रायः उपाश्रय से भिन्न होती थी। वृक्ष-मूल आदि एकान्त स्थान को स्वाध्याय के लिए चुना जाता था[5]। वहाँ जनता के आवागमन का सम्भवतः निषेध रहता था। 'नैषेधिकी' शब्द के मूल में यह निषेध ही रहा होगा। दिगम्बरों में प्रचलित 'नसिया' इसी का अपभ्रंश है।

१—(क) जि० चू० पृ० १६४ : सीसो आह—जइ एवं सिलोगपच्छद्धं पुव्विं पढिज्जइ पच्छा पडिग्गहं संलिहित्ताणं, तो अत्थो सुहगेज्झयरो भवति, आयरिओ भणइ—सुहमुहोच्चारणत्थं, विचित्ता य सुत्तबंधा, पसत्थं च पडिग्गहगहणं उद्देसगस्स आदितो भण्णमाणं भवतित्तिअतो एय सुत्त एव पढिज्जति।

(ख) अ० चू० : भुत्तस्स सलेहणविहाणे भणितव्वे अणाणुपुव्वीकरण कहिंचि आणुपुव्विनियमो कहिंचि पकिण्णकोपदेसो भवति त्ति एतस्स परूवणत्थं। एव च घासेसणा विधाणे भणिते वि पुणो वि गोयरग्गपविट्ठस्स उपदेसो अविरुद्धो। णग्ग-मुसितपयोग इव वा 'दुग्गधं' पयोगो उद्देसगादौ अप्पसत्थो त्ति ॥ १ ॥

२—अ० चू० : 'सेज्जा' उवस्सओ।

३—जि० चू० पृ० १६४ : सेज्जा-उवस्सतादि मट्ठकोट्ठयादि।

४—हा० टी० प० १८२ : 'शय्यायां' वसतौ।

५—(क) अ० चू० : 'णिसीहिया' सज्झायथाण, जम्मि वा रुक्खमूलादौ सैव निसीहिया।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : तहा निसीहिया जत्थ सज्झाय करेंति।

(ग) हा० टी० प० १८२ : 'नैषेधिक्यां' स्वाध्यायभूमौ।

४. गोचर (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि मठ आदि में (समावन्नो व गोयरे ख) :

गोचर-काल में छात्रावास आदि एकान्त स्थान में आहार करने का विधान बाल, वृद्ध, तपस्वी या अत्यन्त क्षुधित और तृषित साधुओं के लिए है[1]। अगस्त्यसिंह ने इसका सम्बन्ध पूर्व व्याख्या (५.१.८२) से जोड़ा है[2]।

५. अपर्याप्त (अयावयट्ठा ग) :

इसका अर्थ है—जितना चाहे उतना नहीं अर्थात् पेट भर नहीं[3]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (५.४८)।

६. न रह सके तो (न संथरे घ) :

दूसरी बार भिक्षाचरी करना विशेष विधि जैसा जान पड़ता है। टीकाकार तपस्वी आदि के लिए ही इसका विधान बतलाते हैं, प्रतिदिन भोजन करने वाले स्वस्थ मुनियों के लिए नहीं[4]। मूल सूत्र की ध्वनि भी लगभग ऐसी ही है।

श्लोक ३ :

७. कारण उत्पन्न होने पर (कारणमुप्पन्ने क) :

यहाँ 'कारण' शब्द में सप्तमी विभक्ति के स्थान में 'मकार' अलाक्षणिक है।

पुष्ट आलम्बन के बिना मुनि दूसरी बार गोचरी न जाए, किन्तु क्षुधा की वेदना, रोग आदि कारण हो तभी जाए। साधारणतया जो एक बार में मिले उसे खाकर अपना निर्वाह कर ले।

मुख्य कारण इस प्रकार हैं—(१) तपस्या, (२) अत्यन्त भूख-प्यास, (३) रुग्णावस्था और (४) प्राघूर्णक साधुओं का आगमन[5]।

श्लोक ४ :

८. अकाल को वर्जकर (अकालं च विवज्जेत्ता ग) :

प्रतिलेखन का काल स्वाध्याय के लिए अकाल है। स्वाध्याय का काल प्रतिलेखन के लिए अकाल है। काल-मर्यादा को

१—(क) जि० चू० पृ० १६४ : गोयरग्गसमावण्णो बालवुड्ढखवगादि मट्ठकोट्ठगादिठ समुद्दिट्ठो होज्जा।

(ख) हा० टी० प० १८२ : समापन्नो वा गोचरे, क्षपकादे छन्नमठादौ।

२—अ० चू० : गोयरे वा जहा पढम भणित।

३—(क) अ० चू० : एतेह 'अयावयट्ठ भोच्चा' ण जावदट्ठ यावदभिप्राय तव्विवरीय 'मतावयट्ठ' भुंजित्ता।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : अयावयट्ठ नाम ण यावयट्ठ, उट्ठ (ऊणं)ति वुत्त भवति।

(ग) हा० टी० प० १८२ : न यावदर्थम्—अपरिसमाप्तमिति।

४—हा० टी० प० १८२ : यदि तेन भुक्तेन 'न सस्तरेत्' न यापयितु समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्यो ग्लानो वेति।

५—(क) अ० चू० : सो पुण खमओ वा जधा "वियट्ठ भत्तियस्स कप्पति सव्वे गोयर काला (दशा० श्रु० ८ सूत्र २४४) छुधालु वा दोसीणाति पढमालिय काउ पाहुणएहि वा उवयुत्ते ततो एवमातिम्मि कारणे उप्पण्णे।

(ख) हा० टी० प० १८२ : ततः 'कारणे' वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बन सन् भक्त-पान 'गवेषयेद्', अन्विष्ये(न्वेषये)द्, अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति।

जानने वाला भिक्षु अकाल-क्रिया न करे[1]।

६. जो कार्य जिस समय का हो उसे उसी समय करे (कालें कालं समायरे [घ]) :

इस श्लोक से छट्ठे श्लोक तक समय का विवेक बतलाया गया है। मुनि को भिक्षा-काल में भिक्षा, स्वाध्याय-काल में स्वाध्याय और जिस काल में जो क्रिया करनी हो वह उसी काल में करनी चाहिए[2]।

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार—भिक्षा के समय में भिक्षा करे, खाने के समय में खाए, पीने के समय में पीए, वस्त्र-काल में वस्त्र ग्रहण करे या उनका उपयोग करे, लयन-काल में (गुफा आदि में रहने के समय अर्थात् वर्षाकाल में) लयन में रहे और सोने के समय में सोए[3]। काल का व्यतिक्रम मानसिक असन्तोष पैदा करता है। इसका उदाहरण अगले श्लोक में पढ़िए।

श्लोक ५ :

१०. श्लोक ५ :

एक मुनि अकाल-चारी था, वह भिक्षा काल को लाँघकर आहार लाने गया। बहुत घूमा, पर कुछ नहीं मिला। खाली झोली ले वापस आ रहा था। काल-चारी साधु ने पूछा—"क्यों, भिक्षा मिली ?" वह तुरन्त बोला—"इस गाँव में भिक्षा कहाँ है ? यह तो भिखारियों का गाँव है।"

अकाल-चारी मुनि की इस आवेश-पूर्ण वाणी सुन काल-चारी मुनि ने जो शिक्षा-पद कहा वही इस श्लोक में सूत्रकार ने उद्धृत किया है[4]। घटनाक्रम ज्यों का त्यों रखते हुए सूत्रकार ने मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है जैसे—चरसि, पडिलेहसि, किलामेसि, गरिहसि।

श्लोक ६ :

११. समय होने पर (सइ-काले [क]) :

'सइकाले' का संस्कृत रूप 'स्मृति-काले' भी हो सकता है। जिस समय भिक्षा देने के लिए भिक्षुओं को याद किया जाए उस समय को 'स्मृति-काल' कहा जाता है[5]।

१—(क) अ० चू० . जधोतिय विवरीयं 'अकाल च' सति कालमवगतमणागत वा एत 'विवज्जेत्ता' वतिऊण, ण केवल भिक्खाए पडिलेहणातीणमवि जहोतिते।

(ख) जि० चू० पृ० १६४ : 'अकालं च विवज्जेत्ता' णाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, सज्झायवेलाए पडिलेहणाए अकालो एवमादि अकाल विवज्जित्ता।

(ग) हा० टी० प० १८३ : 'अकाल च वर्जयित्वा' येन स्वाध्यायादि न सभाव्यते स खल्वकालस्तमपास्य।

२—जि० चू० पृ० १६४-५ : भिक्खावेलाए भिक्ख समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहणं समायरे, एवमादि, भणिय च—'जोगो जोगो जिणसासणम्मि दुक्खक्खया पउञ्जतो। अण्णोऽण्णमबाहतो असवत्तो होइ कायव्वो।'

३—सूत्र० २.१.१५ . अन्न अन्नकाले, पाण पाणकाले, वत्थ वत्थकाले, लेणं लेणकाले, सयणं सयणकाले।

४—(क) जि० चू० पृ० १६५ : तमकालचारिं आउरीभूत दट्ठूण अण्णो साहू भणेज्जा, लद्धा ते एयमि निवेसे भिक्खत्ति ?, सो भणइ—कुओ एत्थ थंडिल्लगामे भिक्खत्ति, तेण साहुणा भण्णइ—तुमं अप्पणो दोसे परस्स उवरिं निवाडेहि, तुम पमाददोसेण सज्झायलोभेण वा काल न पच्चुवेक्खसि, अप्पाण अइहिंडीए ओमोदरियाए किलामेसि, इम सन्निवेसं च गरिहसि, जम्हा एते दोसा तम्हा।

(ख) हा० टी० प० १८३।

५—हा० टी० प० १८३ . 'सति' विद्यमाने 'काले' भिक्षासमये चरेद्भिक्षु', अन्ये तु व्याचक्षते—स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाका. स स्मृतिकालः।

श्लोक ७ :

१२. श्लोक ७-८ :

सातवें और आठवें श्लोक में क्षेत्र-विवेक का उपदेश दिया गया है[1]। मुनि को वैसे क्षेत्र में नहीं जाना चाहिए जहाँ जाने से दूसरे जीव-जन्तु डर कर उड़ जाएँ, भाग जाएँ, उनके खाने-पीने में विघ्न पड़े आदि-आदि[2]। इसी प्रकार भिक्षार्थ गए हुए मुनि को गृह आदि में नहीं बैठना चाहिए।

श्लोक ८ :

१३. न बैठे (न निसीएज्ज ख) :

यहाँ बैठने के बारे में सामान्य निषेध किया गया है[3]। इसके विशेष विवरण और अपवाद की जानकारी के लिए देखिए बृहत्कल्प सूत्र (३ २१-२२)।

अनुसन्धान के लिए देखिए अध्याय ६ सूत्र ५६-५६।

१४. कथा का प्रबन्ध न करे (कहं च न पबंधेज्जा ग) :

कथा के तीन प्रकार हैं—धर्म-कथा, वाद-कथा और विग्रह-कथा। इस त्रिविध कथा का प्रबन्ध न करे। किसी के पूछने पर एक उदाहरण बता दे किन्तु चर्चा-क्रम को लम्बा न करे[4]।

साधारणतया भिक्षु गृहस्थ के घर में जैसे बैठ नहीं सकता वैसे खड़ा-खड़ा भी धर्म-कथा नहीं कह सकता[5]।

तुलना के लिए देखिए बृहत्कल्प (३ २२-२४)।

श्लोक ६ :

१५. श्लोक ६ :

इस श्लोक में वस्तु-विवेक की शिक्षा दी गई है। मुनि को वस्तु का वैसा प्रयोग नहीं करना चाहिए जिससे लघुता लगे और चोट लगने का भी प्रसग आए[6]।

१६. परिघ (फलिहं क) :

नगर-द्वार के किवाड को बन्द करने के बाद उसके पीछे दिया जाने वाला फलक[7]।

१—हा० टी० प० १८४ उक्ता कालयतना, अधुना क्षेत्रयतनामाह।

२—हा० टी० प० १८४ तत्सत्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोपात्।

३—(क) अ० चू० 'ण णिसिएज्ज' णो पविसेज्ज 'कत्यति'त्ति गिहू—देवकुलादौ।
(ख) जि० चू० पृ० १६५ गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्वं कत्थइ घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि।

४—जि० चू० पृ० १६६ : णायणत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा।

५—(क) जि० चू०.पृ० १६५-१६६ · जहा य न निसिएज्जा तहा ठिओऽवि धम्मकहावादकहा-विग्गहकहादि णो 'पबंधिज्जा' नाम ण कहेज्जइ।
(ख) हा० टी० प० १८४ · 'कथां च' धर्मकथादिरूपां 'न प्रबध्नीयात्' प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह, अत एवाह—स्थित्वा कालपरिग्रहेण सयत इति, अनेषणाद्वेपादिदोपप्रसगादिति।

६—(क) जि० चू० पृ० १६६ इमे दोसा—कयाति दुव्वद्धे पडेज्जा, पडतस्स य सजमविराहणा आयविराहणा वा होज्जत्ति।
(ख) हा० टी० प० १८४. लाघवविराधनादोपात्।

७—(क) अ० चू०. णगरद्दारकवाडोवत्थंभण 'फलिह'।
(ख) हा० टी० प० १८४. 'परिघ' नगरद्वारादिसबन्धिनम्।

श्लोक १० :

१७. कृपण (किविणं ख) :

इसका अर्थ 'पिण्डोलग' है[1]। उत्तराध्ययन (५.२२) में 'पिण्डोलग' का अर्थ—'पर-दत्त आहार से जीवन-निर्वाह करने वाला'—किया है[2]।

श्लोक १२ :

१८. प्रवचन की (पवयणस्स घ) :

प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी है[3]। प्रवचन के आधारभूत जैन-शासन को भी प्रवचन कहा जाता है।

श्लोक १४ :

१९. उत्पल (उप्पलं क) :

नील-कमल[4]।

२०. पद्म (पउमं क) :

रक्त-कमल।

अगस्त्यसिंह ने पद्म का अर्थ 'नलिन'[5] और हरिभद्र ने 'अरविन्द' किया है[6]। 'अरविन्द' रक्तोत्पल का नाम है[7]।

२१. कुमुद (कुमुयं वा ख) :

श्वेत-कमल। इसका नाम गर्दभ है[8]।

१—(क) अ० चू० : 'किवणा' पिंडोलगा।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ : किविणा—पिण्डोलगा।
(ग) हा० टी० प० १८४ : 'कृपणं वा' पिण्डोलकम्।
२—उत्त० बृ० वृ० प० २५०।
३—भग० २०.८.१४ : पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे।
४—(क) अ० चू० : उप्पल णील।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ : उप्पलं नीलोत्पलादि।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'उत्पलं' नीलोत्पलादि।
५—अ० चू० : पउम व णलिण।
६—हा० टी० प० १८५ : 'पद्मम्' अरविन्दं वापि।
७—शा० नि० भू० पृ० ५३६।
८—(क) अ० चू० : 'कुमुदं' गद्दभगं।
(ख) जि० चू० पृ० १९६ : कुमुदं—गद्दभुप्पलं।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'कुमुद वा' गर्दभकं वा।

२२. मालती (मगदंतियं ख) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ मालती और मोगरा है[1]। कुछ आचार्य इसका अर्थ 'मल्लिका' (वेला) मानते हैं।

श्लोक १५ :

२३. श्लोक १५ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार १४ वें और १५ वें श्लोक को द्व्यर्ध श्लोक के रूप में पढ़ने की परम्परा रही है। चूर्णिकार ने इसके समर्थन में लौकिक श्लोक भी उद्धृत किया है[2]।

श्लोक १६ :

२४. कुचल कर (सम्मद्दिया[3] घ) :

इसी ग्रन्थ (५.१.२९) में सम्मर्दन के प्रकरण में 'हरिय' शब्द के द्वारा समस्त वनस्पति का सामान्य ग्रहण किया है। यहाँ भेदपूर्वक उत्पल आदि का उल्लेख किया है इसलिए यह पुनरुक्त नहीं है[4]।

श्लोक १८ :

२५. श्लोक १८ :

शालूक आदि अपक्व रूप में खाए जाते हैं इसलिए उनका निषेध किया गया है[5]।

१—(क) अ० चू० . 'मगदतिगा' मेत्तिगा।

(ख) जि० चू० पृ० १९६ : मदगतिमा—मेत्तिया, अराणे भणंति-धियइल्लो मदगतिया भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मगदन्तिकां' मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये।

२—अ० चू० : 'त भवे भत्तपाण' एतस्स सिलोगस्स प्रागेण पच्छद्धं पढति। देतिय पडियाइक्खे त किं सजताण अकप्पिय पुणो मे ण कप्पति परिसमिति पुनरुत्त—तप्परिहरणत्थ पच्छिमद्धणेव समाणसवधमती ताणवर सिलोग सवधतंसमाणेंति। तहाय दिवड्ढ सिलोगो भवति। लोगेय मुग्गाहियत्थ पडिसमाण णेण दिवड्ढ सिलोइया प्रयोगो उवलभति यथा—

दश धर्मं न जानति, धृतराष्ट्रनिबोधनात्।
मत. प्रमत्त उन्मत्तो श्रांत क्रुद्ध पिपासित ॥
त्वरमाणश्च भीरुश्च चोर कामी च ते दश।

३—हा० टी० प० १८५ · सम्मृद्य दद्यात्, सम्मर्दन नाम पूर्वच्छिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनम्।

४—(क) अ० चू० : 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणि य।' उप्पलादीण एत्थ हरियग्गहणेण गहणे वि कालविसेसेण एतेसि परिणाम भेदा इति इह सभेदोपादाण।

(ख) जि० चू० पृ० १९६-१९७ : सीसो आह—णणु एस अत्थो पुव्वि चेव भणिओ जहा 'सम्मद्दमाणी पाणाणि बीयाणि हरियाइ' ति हरियग्गहणेण वणप्फई गहिया, किमत्थ पुणो गहण कयति ?, आयरिओ भणइ—तत्थ अविसेसिय वणप्फइगहण कय, इह पुण सभेदभिएण वणप्फइकायमुच्चारिय।

५—जि० चू० पृ० १९७ · एयाणि लोगो खायति अतो पडिसेहणनिमित्त नालियागहणं कयति··· ·······'सासवनालिअ' सिद्धत्थगणालो, तमवि लोगो ऊणसविकाऊण आमगं चेव खायति।

२६. कमलकन्द (सालुयं क) :

कमल की जड़[1]।

२७. पलाशकन्द (विरालियं क) :

विदारिका का अर्थ पलाशकन्द किया गया है[2]। अगस्त्यसिंह ने वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ 'क्षीर-विदारी, जीवन्ती और गोवल्ली' किया है[3]। जिनदास के अनुसार बीज से नाल, नाल के पत्ते और पत्ते में कन्द उत्पन्न होता है वह 'विदारिका' है[4]।

२८. पद्म-नाल (मुणालियं ग) :

पद्म-नाल पद्मिनी के कन्द से उत्पन्न होती है और उसका आकार हाथी दाँत जैसा होता है[5]।

२६. सरसों की नाल (सासवनालियं ग) :

सरसों की नाल[6]।

३०. अपक्व-गंडेरी (उच्छुखंडं घ) :

पर्वाच या पर्व-सहित इक्षु-खण्ड सचित्त होता है[7]। यहाँ उसी को अनिर्वृत—अपक्व कहा है[8]।

श्लोक १६ :

३१. तृण (तणगस्स ख) :

जिनदास चूर्णि में तृण शब्द से अर्जक[9] और मूलक आदि का ग्रहण किया है[10]।

१—(क) अ० चू० : 'सालुयं उप्पलकदो।
(ख) जि० चू० पृ० १६७ . 'सालुगं' नाम उप्पलकन्दो भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'शालूकं वा' उप्पलकन्दम्।
(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३६ : पद्मादिकन्द शालूकम्।
२—हा० टी० प० १८५ . 'विरालिकां' पलाशकन्दरूपां, पत्रवल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये।
३—अ० चू० · 'विरालियं' पलासकंदो अहवा 'छीरविराली' जीवन्ती गोवल्ली इति एसा।
४—जि० चू० पृ० १६७ : 'विरालियं' नाम पलासकन्दो भण्णइ, जहा बीए वल्ली जायति, तीसे पत्ते, पत्ते कंदा जायति, सा विरालिया।
५—(क) अ० चू० : पउमाणमूला 'मुणालिया'।
(ख) जि० चू० पृ० १६७ . मुणालिया-गयदंतसन्निभा पउमिणिकंदाओ निग्गच्छति।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'मृणालिकां' पद्मिनीकन्दोत्थाम्।
(घ) शा० नि० भू० पृ० ५३८ : मृणाल पद्मनालश्च।
६—(क) अ० चू० : सासवणालिया सिद्धत्थगणाला।
(ख) जि० चू० पृ० १६७ : 'सासवनालिअं' सिद्धत्थगणालो।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'सर्षपनालिकां' सिद्धार्थकमञ्जरीम्।
७—(क) अ० चू० : 'उच्छुगडमणिव्वुड' सपव्वउच्छिय।
(ख) जि० चू० पृ० १६७ : उच्छुखडमवि पव्वेसु धरमाणेसु ता नेव अनवगतजीवं कप्पइ।
८—हा० टी० प० १८५ : इक्षुखण्डम्—'अनिर्वृत' सचित्तम्।
६—शा० नि० भू० पृ० ५२६ : इसका अर्थ वन-तुलसी है।
१०—जि० चू० पृ० १६७ : तणस्स जहा अज्जगमूलादीण।

अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार इससे मधुर-तृण आदि का ग्रहण करते हैं[1]। मधुर का अर्थ—लाल गन्ना या चावल हो सकता है। सभव है—तृणक शब्द तृण-द्रुम का सक्षेप हो। नारियल, ताल, खजूर, केतक और छुहारे के वृक्ष को तृण-द्रुम कहा जाता है।

श्लोक २० :

३२. कच्ची (तरुणियं क) :

यह उस फली का विशेषण है, जिसमें दाने न पड़े हों[2]।

३३. एक वार भूनी हुई (भज्जियं सइं ख) :

दो या तीन वार भूनी हुई फली लेने का निषेध नहीं है। इसलिए यहाँ सकृत् शब्द का प्रयोग किया गया है[3]। यहाँ केवल एक भूनी हुई फली लेने का निषेध है।

आचाराङ्ग (२ १) में दो-तीन वार भूनी हुई फली लेने का विधान भी है[4]।

३४. फली (छिवाडिं क) :

अगस्त्य चूर्णि में 'छिवाड़ी' का अर्थ 'सवलिया' और जिनदास चूर्णि में 'सिंगा' तथा टीका में मूँग आदि की फली किया है[5]। 'संवलिया' और 'सिंगा' दोनों फली के ही पर्यायवाची नाम हैं।

श्लोक २१ :

३५. वंश-करीर (वेलुयं ख) :

अगस्त्य चूर्णि में 'वेलुय' का अर्थ 'विल्व' या 'वशकरिल्ल' किया है[6]। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार इसका अर्थ 'वशकरिल्ल' है[7]। आचाराङ्ग वृत्तिकार में इसका अर्थ 'विल्व' किया है।[8] यहाँ 'वेलुय' का अर्थ 'विल्व' सगत नहीं लगता। क्योंकि

१—हा० टी० प० १८५ : 'तृणस्य वा' मधुरतृणादे'।

२—(क) अ० चू० : 'तरुणिया' अणापक्का।

(ख) जि० चू० पृ० १९७. 'तरुणिया' नाम कोमलिया।

(ग) हा० टी० प० १८५ · 'तरुणीं वा' असजाताम्।

३—(क) अ० चू० · 'सतिमज्जिता' एक्कसि भज्जिता।

(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'सइं भज्जिया' नाम एक्कसि भज्जिया।

(ग) हा० टी० प० १८५ : तथा भर्जितां 'सकृद्' एकवारम्।

४—आचा० २, १ : जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा, जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा पिहुयं वा, जाव चाउलपलब वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं जाव लाभे सन्ते पडिगाहेज्जा।

५—(क) अ० चू० · 'छिवाडिया' सवलिया।

(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'छिवाडी' नाम सगा।

(ग) हा० टी० प० १८५ · 'छिवाडि' मिति मुद्गादिफलिम्।

६—अ० चू० : 'वेलुय' बिल्ल वंस करिल्लो वा।

७—(क) जि० चू० पृ० १९७ : वंस किरिल्लो वेलुयं।

(ख) हा० टी० प० १८५ : 'वेणुकं' वंशकरिल्लम्।

८—आचा० २ १.८ वृ० : 'वेलुय' वेलुयमिति विल्वम्।

दशवैकालिक में 'विल्व' का उल्लेख पहले ही हो चुका है[1]। प्राकृत भाषा की दृष्टि से भी 'विल्व' का 'वेलुय' रूप नहीं बनता, किन्तु 'वेणुक' का बनता है[2]। यहाँ 'वेलुय' का अर्थ वंश-करीर—वास का अंकुर होना चाहिए। अभिधान चिन्तामणि में दस प्रकार के शाकों में 'करीर' का भी उल्लेख है[3]।

अभिधान चिन्तामणि की स्वोपज्ञ टीका में 'करीर' का अर्थ वांस का अंकुर किया गया है[4]। सुश्रुत के अनुसार वांस के अंकुर—कफकारक, मधुरविपाकी, विदाही, वायुकारक, कषाय एवं रुक्ष होते हैं[5]।

३६. काश्यपनालिका (कासवनालियं ख) :

व्याख्याकारों ने इसका अर्थ 'श्रीपर्णि फल' और 'कसारु' किया है[6]। 'श्रीपर्णि' के दो अर्थ हैं[7]—(१) कुमारी और (२) कायफल।

कुंभारी—यह वनस्पति भारतवर्ष, सिलोन और फिलीपाइन द्वीप समूह में पैदा होती हैं। इसका वृक्ष ६० फुट तक ऊँचा होता है। इसका पिंड सीधा रहता है और उसकी गोलाई ६ फुट तक रहती है। इसकी छाल सफेद और कुछ भूरे रग की रहती है। माघ से चैत्र तक इसके पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में नए पत्ते निकलते हैं। इसमें पीले रग के फूल लगते हैं, जिन पर भूरे छींटे होते हैं। इसका फल १ इच लम्वा, मोटा और फिसलना होता है। यह पकने पर पीला हो जाता है[8]।

कायफल—यह एक छोटे कद का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष है। इसका छिलका खुरदरा, वादामी और भूरे रग का होता है। इसके पत्ते गुच्छों में लगते हैं। उनकी लम्वाई ७.५ से १२.५ सेण्टिमीटर और चौड़ाई २.५ से ५ सेण्टिमीटर तक होती है[9]।

कसारु—कसेरु नाम का जलीय कन्द है। यह एक किस्म का भारतीय घास का कंद है। इस घास से वोरे और चटाइयाँ बनती हैं। यह घास तालावों और झीलों में जमती है। इस वृक्ष की जड़ों में कुछ गठाने रहती हैं जो तन्तुओं से ढँकी हुई रहती हैं। इसका फल गोल और पीले रंग का जायफल के वरावर होता है।

इसकी छोटे और वड़े के भेद से दो जातियाँ होती हैं। छोटा कसेरु हल्का और सूरत में मोथे की तरह होता है। इसको हिन्दी में चिचोड और लेटिन में केपेरिस एस्क्यूलेंटस कहते हैं। दूसरी वड़ी जाति को राज कसेरू वोलते हैं। सर्दी के दिनों में कसेरू जमीन से निकाले जाते हैं और उनके ऊपर का छिलका हटाकर उनको कच्चे ही खाते हैं[10]।

१—दश० ५.१.७३ : अत्थियं तिंदुयं बिल्लं।

२—हैम० ८.१.२०३ : वेणौ णो वा।

३—४.२४९-५० : 'मूलपत्रकरीराग्रफलकाण्डाविरूढकाः॥ त्वक् पुष्पं फलकं शाकं दशधा...।

४—वही पृ० ४७७ : 'करीर वंशादेः।

५—सु० (सू०) ४६.३१४ : 'वेणोः करीराः कफला मधुरा रसपाकतः।
विदाहिनो वातकराः सकषाया विरूक्षणाः॥

६—(क) अ० चू० : 'कासवनालियं' सीवण्णी फलं कस्सारुकं।
(ख) जि० चू० पृ० १९७ : 'कासवनालियं' सीवणिफलं भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'कासवनालिअ' श्रीपर्णीफलम्।

७—व० चं० पृ० ४१५,५२७।

८—व० चं० पृ० ४१५।

९—व० च० पृ० ५२७।

१०—व० च० पृ० ४७९।

३७. अपक्व-तिलपपड़ी (तिलपप्पडगं ग) :

वह तिल-पपड़ी वर्जित है, जो कच्चे तिलों से बनी हो[१]।

३८. कदम्ब-फल (नीमं ग) :

हारिभद्रीय टीका में 'नीम' नीमफलम्—ऐसा मुद्रित पाठ है[२]। किन्तु 'नीमं नीपफलम्'—ऐसा पाठ होना चाहिए। चूर्णियों में 'नीम' शब्द का प्रयोग उचित हो सकता है, किन्तु संस्कृत में नहीं[३]। 'नीम' का अर्थ 'कदम्ब' है और 'नीप' का प्राकृत रूप 'नीम' होता है[४]।

कदम्ब एक प्रकार का मध्यम आकार का वृक्ष होता है जो भारतवर्ष के पहाड़ों में स्वाभाविक तौर से बहुत पैदा होता है। इसका पुष्प सफेद और कुछ पीले रंग का होता है। इसके फूल पर पखुड़ियाँ नहीं होती, बल्कि सफेद-सफेद सुगन्धित तन्तु इसके चारों ओर उठे हुए रहते हैं। इसका फल गोल नींबू के समान होता है।

कदम्ब की कई तरह की जातियाँ होती हैं। जिनमें राज कदम्ब, धारा कदम्ब, धूलि कदम्ब, भूमि कदम्ब इत्यादि जातियाँ उल्लेखनीय हैं[५]।

श्लोक २२ :

३९. चावल का पिष्ट (चाउलं पिट्ठं क) :

अगस्त्यसिंह ने अभिनव और अनिन्धन (बिना पकाए हुए) चावल के पिष्ट को सचित्त माना है[६]।

जिनदास ने 'चावल-पिट्ठ' का अर्थ भ्राष्ट्र (भूने हुए चावल) किया है। वह जब तक अपरिणत होता है तब तक सचित्त रहता है[७]।

४०. पूरा न उबला हुआ गर्म (तत्तनिव्वुडं ख) :

चूर्णि और टीका में 'तत्त-निव्वुड' के 'तप्त-निर्वृत' और 'तप्त-अनिर्वृत' दो संस्कृत रूपों के अनुसार अर्थ किए गए हैं। जो जल गर्म होकर फिर से शीत हो गया हो—विभिन्न ऋतुओं में विभिन्न काल-मर्यादा के अनुसार सचित्त हो गया हो—वह तप्त-निर्वृत कहलाता है। जो जल थोड़ा गर्म किया हुआ हो वह—तप्त-अनिर्वृत कहलाता है[८]। पक्व जल वही माना जाता है जो पर्याप्त मात्रा में उबाला गया हो। देखिए इसी सूत्र (३ ६) की टि० संख्या ३६ पृ० ८८-९।

१—(क) अ० चू० : 'तिलपप्पडगो' आमतिलेहिं जो पप्पडो कतो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : जो आमगेहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमग परिवज्जेजा।
(ग) हा० टी० प० १८५ : 'तिलपर्पट' पिष्टतिलमयम्।

२—हा० टी० प० १८५ : 'नीमं' नीमफलम्।

३—(क) अ० चू० : 'णीव' फलं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : 'नीम' नीमरुक्खस्स फलं।

४—हैम० ८ १ २३४ : नीपापीडे मो वा।

५—व० च० पृ० ३७५।

६—अ० चू० : चाउल पिट्ठो-लोट्टो। त अभिणवमणिंधणं सच्चित्तं भवति।

७—जि० चू० पृ० १९८ : चाउल पिट्ठं भट्ठं भण्णइ, तमपरिणतधम्मं सचित्तं भवति।

८—(क) अ० चू० : तत्तनिव्वुडं सीतलं पडिसचित्तीभूत अणुव्वत्तदंड वा।
(ख) हा० टी० प० १८५ : तप्तनिर्वृत क्वथित सत् शीतीभूतम्, तप्तानिर्वृतं वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डम्।

४१. जल (वियडं ख) :

मुनि के लिए अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेने का निषेध है। वे अन्तरिक्ष और जलाशय का जल लेते भी हैं किन्तु वही, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत हो जाए। स्वाभाविक जल सजीव होता है और विकृत जल निर्जीव। मुनि के लिए विकृत जल (या इक्कीस प्रकार का द्राक्षा आदि का पानक—देखिए आचाराङ्ग २ १) ही ग्राह्य है। इसलिये अङ्ग-साहित्य में बहुधा "वियड' शब्द का प्रयोग जल के अर्थ में भी होता है[1]। अभयदेवसूरि ने वियड का अर्थ 'पानक' किया है[2]।

'वियड' शब्द का प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक दोनों के साथ होता है[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर 'वियड' का अर्थ गर्म जल करते हैं[4]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ शुद्धोदक किया है[5]।

४२. पोई-साग और सरसों की खली (पूइ पिन्नागं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पूइ पिन्नागं' का अर्थ है—सरसों की पिट्ठी[6]। जिनदास महत्तर सरसों के पिंड (भोज्य) को 'पूइ पिन्नाग' कहते हैं[7]। टीकाकार ने इसका अर्थ कुथित की खली किया है[8]। आचाराङ्ग में भी 'पूइ पिन्नाग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ वृत्तिकार ने इसका अर्थ सरसों की खली किया है[9]। सूत्रकृताङ्ग के वृत्तिकार ने 'पिण्याक' का अर्थ केवल खली किया है[10]।

सुश्रुत में 'पिण्याक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। व्याख्या में उसका अर्थ तिल, अलसी, सरसों आदि की खली किया है[11]। उस स्थिति में 'पूइ पिन्नाग' का अर्थ सरसों की खली करना चिन्तनीय है।

शालिग्राम निघण्टु (पृ० ८७३) के अनुसार 'पूइ' एक प्रकार का साग है। संस्कृत में इसे उपोदकी या पोदकी कहते हैं। हिन्दी में इसका नाम पोई का साग है। बंगला में इसे पूइशाक कहते हैं।

पूइ और पिन्नाग को पृथक् मानकर व्याख्या की जाए तो पूइ का अर्थ पोई और पिण्याक का अर्थ सरसों आदि की खली किया जा सकता है।

श्लोक २३ :

४३. कैथ (कविट्ठं[12] क) :

कैथ एक प्रकार का कंटीला पेड़ है जिसमें बेल के आकार के कसैले और खट्टे फल लगते हैं।

१—स्था० ३. ३.१७२ : णिग्गथस्स ण गिलायमाणस्स कप्पति ततो वियडदत्तीओ पडिग्गाहित्तते।
२—वही ३. ३. वृ० : 'वियड'त्तिपानकाहार.।
३—आचा० २. १. ६. २५६ : 'सिओदगविवियडेण वा, उसिणोदगवियडेण वा'।
४—अ० चू० : वियड उराह्णोयग।
५—(क) जि० चू० पृ० १९८ : सुद्धमुदय वियड भगणइ।
   (ख) हा० टी० प० १८५ : विकट वा—शुद्धोदकम्।
६—अ० चू० : पूतिपिन्नागो सरिसवपिट्ठं।
७—जि० चू० पृ० १९८ : 'पूतिय' नाम सिद्धत्थपिंडगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।
८—हा० टी० प० १८५ : 'पूतिपिण्याकं' सर्षपखलम्।
९—आचा० २. १. ८. २६६ वृ० : 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुथितखलम्।
१०—सूत्र० २. ६. २६ प० ३९६ वृ० : 'पिण्याकः' खल'।
११—सु० (सू०) ४६ ३२१ : "पिण्याकतिलकल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्व्वदोषप्रकोपणानि।
१२—(क) अ० चू० : कवित्थफलं 'कविट्ठं'।
   (ख) हा० टी० प० १८५ : 'कपित्थं' कपित्थफलम्।

४४. विजौरा[1] (माउलिंगं क) :

वीजपूर, मातुलुग, रुचक, फलपूरक इसके पर्यायवाची नाम हैं[2]।

४५. मूला और मूले के गोल टुकड़े (मूलगं मूलगत्तियं ख) :

'मूलक' शब्द के द्वारा पत्र-सहित-मूली[3] और 'मूलक' वर्त्तिका के द्वारा पत्र-रहित-मूली[4] का ग्रहण किया है। चूर्णि के अनुसार यह पाठ 'मूलकत्तिया'—'मूल कर्त्तिका' और टीका के अनुसार 'मूलवत्तिया' 'मूलवर्त्तिका' है[5]। सुश्रुत (४.६ २५७) में कच्ची मूली के अर्थ में 'मूलक-पोतिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सभव है उसी के स्थान में 'मूलवत्तिय' का प्रयोग हुआ हो।

श्लोक २४ :

४६. फलचूर्ण, बीजचूर्ण (फलमंथूणि क ; वीयमंथूणि ख) :

वेर आदि फलों के चूर्ण को 'फलमन्थु' कहते हैं[6] और जौ, उड़द, मूंग आदि बीजों के चूर्ण को 'बीजमन्थु' कहते हैं[7]। आचाराङ्ग में उदुम्बर, न्यग्रोध (वरगद) प्लक्ष (पाकड़), अश्वत्थ आदि के मन्थुओं का उल्लेख है[8]।

देखिए 'मथु' (५ १ ९८) की टिप्पण सख्या २२८ पृ० २८४।

४७. बहेड़ा[1] (विहेलगं ग) :

अर्जुन वृक्ष की जाति का एक वड़ा और ऊँचा वृक्ष जिसके फल दवा के काम में आते हैं। त्रिफला में से एक फल।

१—(क) अ० चू० . वीजपूरग मातुलिंगं।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : कविट्ठमाउलिंगाणि पसिद्धाणि।
(ग) हा० टी० प० १८५ · 'मातुलिङ्ग' च' वीजपूरकम्।
२—शा० नि० भू० ५७८।
३—(क) जि० चू० पृ० १९८ : मूलओ सपत्तपलासो।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : मूलकत्तिया—मूलकदा चित्तलिया भण्णइ।
४—(क) अ० चू० : मूलग कदग चक्कलिया।
(ख) हा० टी० प० १८५ . 'मूलवर्त्तिकां' मूलकन्दचक्कलिम्।
५—(क) जि० चू० पृ० १९८।
(ख) हा० टी० प० १८५।
६—(क) जि० चू० पृ० १९८ : मथू—वदरचुण्णो भण्णइ, फलमंथू बदरओंबरादीण भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १८६ : 'फलमन्थून्' बदरचूर्णान्।
७—(क) जि० चू० पृ० १९८ : 'बीयमथू' जवमासमुग्गादीणि।
(ख) हा० टी० प० १८६ · 'बीजमन्थून्' यवादिचूर्णान्।
८—आचा० २ १.८ २६८ : उंबरमथु वा, नग्गोहमथु वा, पिलुखुमंथु वा, आसोत्थमथु वा, अन्नयर वा, तहप्पगारं मथुजायं।
९—(क) अ० चू० : 'विभेलग' भूतरुक्खफल, तस्समाणजातीतं हरिडगाति वा।
(ख) जि० चू० पृ० १९८ : विहेलगरुक्खस्स फल विहेलगं।
(ग) हा० टी० प० १८६ : 'विभीतक' विभीतकफलम्।

४८. प्रियाल-फल (पियालं ग) :

प्रियाल को चिरौंजी कहते हैं[१] ।

'चिरौंजी' के वृक्ष प्रायः सारे भारतवर्ष में छिटपुट पाए जाते हैं। इसके पत्ते छोटे-छोटे, नोकदार और खुरदरे होते हैं। इसके फल करोंदे के समान नीले रंग के होते हैं उनमें से जो मगज निकलती है उसे चिरौंजी कहते हैं।

श्लोक २५ :

४९. समुदान (समुयाणं क) :

मुनि के लिए समुदान भिक्षा करने का निर्देश किया गया है। एक या कुछ एक घरों में से भिक्षा ली जाय तो एषणा की शुद्धि रह नहीं सकती, इसलिए अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा लेना चाहिए, ऊँच और नीच सभी घरों में जाना चाहिए[२]।

जो घर जाति से नीच कहलाएँ, धन से समृद्ध हों और जहाँ मनोज्ञ आहार न मिले उनको छोड़ जो जाति से उच्च कहलाएँ, धन से समृद्ध हों और जहाँ मनोज्ञ आहार मिले वहाँ न जाए। किन्तु भिक्षा के लिए निकलने पर जुगुप्सित कुलों को छोड़कर परिपाटी (क्रम) से आने वाले छोटे-बड़े सभी घरों में जाए। जो भिक्षु नीच कुलों को छोड़कर उच्च कुलों में जाता है वह जातिवाद को बढ़ावा देता है और लोग यह मानते हैं कि यह भिक्षु हमारा परिभव कर रहा है[३] ।

बौद्ध-साहित्य में तेरह 'धुताङ्ग' बतलाए गए हैं। उनमें चौथा 'धुताङ्ग' 'सापदान-चारिकाङ्ग' है। गाँव में भिक्षाटन करते समय बिना अन्तर डाले प्रत्येक घर से भिक्षा ग्रहण करने को 'सापदान-चारिकाङ्ग' कहते हैं[४]।

श्लोक २६ :

५०. वन्दना—(स्तुति) करता हुआ याचना न करे (वंदमाणो न जाएज्जा ग) :

यहाँ उत्पादन के ग्यारहवें दोष 'पूर्व-संस्तव' का निषेध है।

१—(क) अ० चू० : [पियाल] पियालरुक्खफल वा।

(ख) जि० चू० पृ० १९८ : पियालो रुक्खो तस्स फलं पियालं।

(ग) हा० टी० प० १८६ . 'प्रियाल वा' प्रियालफलं च।

२—(क) अ० चू० : समुयाणीयति—समाहरिज्जति तदत्थ चाउलसाकतो रसादीणि तदुपसाधणाणीति अणणेव 'समुदाणं चरे' गच्छेदिति। अहवा पुव्व भणितमुग्गमुप्पायणे सणासुद्धमणण समुदाणीय चरे।

(ख) जि० चू० पृ० १९८ : समुदाया णिज्जइत्ति, थोव थोव पडिवज्जइत्ति वुत्तं भवइ।

(ग) हा टी० प० १८६ : समुदान भावभैक्ष्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षु.।

३—जि० चू० पृ० १९८-१९९ · 'उच्च' नाम जातितो णो सारतो, सारतो णो जातीतो, एग सारतोवि जाइओवि, एग णो सारओ नो जाइओ, अवयमवि जाइओ एग अवय नो सारओ सारओ एगं अवयं नो जाइओ एग जाइओऽवि अवयं सारओऽवि एगं नो जाइओ अवय नो सारओ, अहवा उच्चं जत्थ मणुन्नाणि लब्भति, अवय जत्थ न तारिसाणित्ति, तहप्पगार कुलं उच्च वा भवउ अवयं वा भवउ, सव्व परिवाडीय समुदाणितव्व, ण पुण नीय कुल अतिक्कमिऊण ऊसढ अभिसधारिज्जा, 'णीय' नाम णीयति वा अवयति वा एगट्ठा, दुगुछियकुलाणि वज्जेउण ज सेस कुल तमतिक्कमिउण नो ऊसढ गच्छेज्जा, ऊसढ नाम ऊसढंति वा उच्चति वा एगट्ठ, तमि ऊसढे उक्कोस लभीहामि बहुं वा लब्भीहामित्तिकाऊण णो णीयाणि अतिक्कमेजा, किं कारणं ? दीहा भिक्खायरिया भवति, सुतत्थपलिमथो य, जढजीवस्स य अणणे न रोयति, जे ते अतिक्कमिज्जंति ते अप्पत्तियं करेंति जहा परिभवति एस अम्हेत्ति, पव्वइयोवि जातिवाय ण मुयति, जातिवाओ य उववूहिओ भवति।

४—विशुद्धि मार्ग भूमिका पृ० २४। विशेष विवरण के लिए देखें पृ० ६७-६८।

दोनों चूर्णिकारों और टीकाकार ने 'वदमाण न जाएज्जा' पाठ को मुख्य मानकर व्याख्या की है और 'वदमाणो न जाएज्जा' को पाठान्तर माना है[1]। किन्तु मूल पाठ 'वदमाणो न जाएज्जा' ही होना चाहिए। इस श्लोक में उत्पादन के ग्यारहवें दोष—'पुव्विपच्छा सथव' (पूर्वपश्चात् सस्तव) के एक भाग 'पूर्व-सस्तव' का निषेध है। इसका समर्थन आचाराङ्ग के 'वदिय वदिय' शब्द से होता है[2]। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ यह है कि मुनि गृहपति की स्तुति कर याचना न करे[3]।

आचाराङ्ग के टिप्पणीगत दोनों वाक्य और प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध के दोनों चरण केवल अर्थ-दृष्टि से ही नहीं किन्तु शब्द दृष्टि से भी प्रायः तुल्य हैं। आचाराङ्ग के 'वदिय' का अर्थ यहाँ 'वदमाणो' के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। निशीथ में 'पूर्व-सस्तव' के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[4]। प्रश्न व्याकरण (सवरद्वार १) में 'ण वि वदणाए' के द्वारा उक्त अर्थ का प्रतिपादन हुआ है। इनके आधार पर 'वदमाणो' पाठ ही सगत है। वन्दमान—वन्दना करते हुए व्यक्ति से याचना नहीं करनी चाहिए—यह अर्थ चूर्णिकार और टीकाकार को अभिप्रेत है[5]। किन्तु यह व्याख्या विशेष अर्थवान् नहीं लगती और इसका कहीं आधार भी नहीं मिलता। 'वदमाणो न जाएज्जा' इसका विशेष अर्थ भी है, आगमों में आधार भी है, इसलिए अर्थ की दृष्टि से भी 'वंदमाणो' पाठ अधिक उपयुक्त है।

श्लोक ३१ :

५१. छिपा लेता है (विणिगूहई ख) :

इसका अर्थ है—सरस आहार को नीरस आहार से ढाँक लेता है[6]।

श्लोक ३४ :

५२. मोक्षार्थी (आययट्ठी ख) :

इस शब्द को अगस्त्य चूर्णि में 'आयति अर्थी' तथा जिनदास चूर्णि और टीका में 'आयत-अर्थी' माना है[7]।

१—(क) अ० चू० . पाठविसेसो वा—'वंदमाणो न जाएज्जा'।

(ख) जि० चू० पृ० २०० : अथवा एस आलावओ एव पढिज्जइ 'वदमाणो ण जाएज्जा' वदमाणो णाम वंदमाणो सिराकंपं पंजलिया-दीहि णो जाएज्जा, वायाएवि वदणसरिसाए ण जातिव्वो, जहा सामि भट्टि देवए वाऽसि।

२—आचा० २ १.१ ६ सू० २५५ : 'नो गाहावइ वदिय वदिय जाइज्जा, नो वयण फरुस वइज्जा'।

३—आचा० २ १.१.६ सू० २५५ वृ० : गृहपति 'वदित्वा' वाग्भि स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत।

४—नि० २ ३८ . जे भिक्खू पुरे सथव पच्छा सथव वा करेइ, करेंत वा सातिज्जति। चू० : 'सयवो' थुती, अदत्ते दाणे पुव्वसंथवो, दिण्णे पच्छासथवो। जो त करेति सातिज्जति वा तस्स मासलहुं।

५—(क) अ० चू० : ,वदमाण ण जाएज्जा' 'जहा अह वदितो एतेण, जायामि ण, मद्दो अवस्स दाहिति। सोवदियमेतेण जातिओ चिंतेज्ज भणेज्ज वा—चोरते वदिहि त्ति, एणातिय एवमादिदोसा।

(ख) जि० चू० पृ० २०० : 'वदमाणं न जाइज्जा' जहा अहमेतेण वदिउत्ति अवस्समेसो दाहेति, तत्य विपरिणामादिदोसा सभवति, पुरिस पुण वदमाण वदमाण अन्न किंचि वक्खेव काऊण अणतो वा मग्गिऊण पुणो तत्थेव गतूण मग्गइ, जइ ताहे पुणो वदति तो मग्गिओ जइ कदापि पडिसेहेज्जा तत्य नो अण्ण फरुस वए, जहा हीण ते वदित, तुम अवदओ चेव, एवमादि।

(ग) हा० टी० प० १८६ : वन्दमान सन्त भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषाव, अन्नाद्यभावेन याचितादाने न चैन परप भूयात्—वृथा ते वन्दनमित्यादि।

६—(क) जि० चू० पृ० २०१ . विविहेहि पगारेहि गूहति विणिगूहति, अप्पसारिय करेइ, अन्नेण अन्तपन्तेण ओहाडेति।

(ख) हा० टी० प० १८७ 'विनिगूहते' अहमेव भोज्य इत्यन्तप्रान्तादिनाऽऽच्छादयति।

७—(क) अ० चू० : [आयतट्ठी] आगामिणि काले हितमायतीहितं, आतत्तिहितेण अत्थी आय[य]न्त्याभिलासी।

(ख) जि० चू० पृ० २०२ . आयतो—मोक्खो भण्णइ, त आयय अत्थयतीति आययट्ठी।

(ग) हा० टी० प० १८७ : 'आयतार्थी' मोक्षार्थी।

५३. रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती घ) :

रूक्ष शब्द का अर्थ रूखा और संयम दोनों होता है। जिनदास चूर्णि में रूक्षवृत्ति का अर्थ रूक्ष-भोजी और टीका में इसका अर्थ संयम-वृत्ति किया है[1]।

श्लोक ३५ :

५४. मान-सम्मान की कामना करने वाला (माणसम्माणकामए ख) :

वदना करना, आने पर खड़ा हो जाना मान कहलाता है और वस्त्र-पात्र आदि देना सम्मान है अथवा मान एकदेशीय अर्चना है और सम्मान व्यापक अर्चना[2]।

५५. माया-शल्य (मायासल्लं घ) :

यहाँ शल्य का अर्थ आयुध[3] (शरीर में घुसा हुआ कांटा) अथवा बाण की नोक है। जिस प्रकार शरीर में घुसी हुई अस्त्र की नोक व्यथा देती है उसी प्रकार जो पाप-कर्म मन को व्यथित करते रहते हैं उन्हें शल्य कहा जाता है।

माया, निदान और मिथ्यादर्शन—ये तीनों सतत चुभने वाले पाप-कर्म हैं। इसलिए इन्हें शल्य कहा जाता है[4]।

पूजार्थी-व्यक्ति बहुत पाप करता है और अपनी पूजा आदि को सुरक्षित रखने के लिए वह सम्यक् प्रकार से आलोचना नहीं करता किन्तु माया-शल्य करता है— अपने दोषो को छिपाने का प्रयत्न करता है[5]।

श्लोक ३६ :

५६. संयम (जसं घ) :

यहाँ यश शब्द का अर्थ संयम है[6]। सयम के अर्थ में इसका प्रयोग भगवती में भी मिलता है[7]।

५७. सुरा, मेरक (सुरं वा मेरगं वा क) :

सुरा और मेरक दोनों मदिरा के प्रकार हैं। टीकाकार पिष्ट आदि द्रव्य से तैयार की हुई मदिरा को सुरा और प्रसन्ना को मेरक मानते हैं[8]। चरक की व्याख्या में परिपक्व अन्न के सन्धान से तैयार की हुई मदिरा को सुरा माना है[9]। भावमिश्र के अनुसार उबाले

१—(क) जि० चू० पृ० २०२ : लूहाइ से वित्ती, एतस्स ण णिहारे गिद्धी अत्थि।
(ख) हा टी० प० १८७ : 'रूक्षवृत्तिः' सयमवृत्तिः।

२—(क) जि० चू० पृ० २०२ : माणो वंदणअब्भुट्ठाणपच्चयओ, सम्माणो तेहिं वंदणादीहिं वत्थपत्तादीहिं य, अहवा माणो एगदेसे कीरइ, सम्माणो पुण सव्वप्पगारेहिं इति।
(ख) हा० टी० प० १८७ : तत्र वन्दनाभ्युत्थानलाभनिमित्तो मानः—वस्त्रपात्रादिलाभनिमित्तः सन्मानः।

३—अ० चू० : सल्ल—आउध देधलग्ग।

४—स्था० ३.१८२।

५—जि० चू० पृ० २०२ : कम्मगरुययाए वा सो लज्जाए वा अणालोएतो मायासल्लमवि कुव्वति।

६—हा० टी० प० १८८ : यशः शब्देन सयमोऽभिधीयते।

७—भग० ४१. १ ६ : ते ण भते! जीवा किं आयजसेण उववज्जति''आत्मनः सवन्धि यशो यशोहेतुत्वाद् यशः सयम आत्मयशस्तेन।

८—हा० टी० प० १८८ : 'सुरां वा' पिष्टादिनिष्पन्नां, 'मेरक वापि' प्रसन्नाख्याम्।

९—पूर्व भा० (सूत्रस्थान) अ० २५ पृ० २०२ : 'परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः'।

हुए शालि, षष्टिक आदि चावलों को सन्धित करके तैयार की हुई मदिरा को सुरा कहा जाता है[1]। मैरेय तीक्ष्ण, मधुर तथा गुरु होती है[2]। सुरा को पुनः सन्धान करने से जो सुरा तैयार होती है, उसे मैरेय कहते हैं अथवा धाय के फूल, गुड़ तथा धान्याम्ल (कांजी) के सन्धान से मैरेय तैयार होता है[3]। वृद्ध शौनक के अनुसार आसव और सुरा को मिलाकर एक पात्र में सन्धान करने से प्रस्तुत मद्य को मैरेय कहा जाता है[4]। आयुर्वेद-विज्ञान के अनुसार कैथ की जड़, बेर तथा खांड इनका एकत्र सन्धान करने से मैरेयी नाम की मदिरा तैयार होती है[5]।

५८. आत्म-साक्षी से (ससक्खं [ग]) :

इससे अगले श्लोक में लुक-छिप कर स्तेन-वृत्ति से मद्य पीने वाले का वर्णन किया है। प्रस्तुत श्लोक में आत्म-साक्षी से मद्य न पीए यह बतलाया गया है। अगस्त्य चूर्णि में 'ससक्ख' का अर्थ 'स्वसाक्ष्य'[6] और वैकल्पिक रूप में 'ससाक्ष्य'[7] —गृहस्थों के सम्मुख किया है। जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल 'ससाक्ष्य' किया है[8]। टीकाकार 'ससक्ख' का अर्थ—परित्याग में साक्षी भूत केवली के द्वारा प्रतिषिद्ध करते हैं और मद्य-पान का आत्यन्तिक निषेध बतलाते हैं[9]। साथ ही साथ कुछ व्याख्याकार इस सूत्र को ग्लान विषयक अपवाद सूत्र मानते हैं—इस मतान्तर का उल्लेख भी मिलता है[10]।

श्लोक ३८ :

५९. उन्मत्तता (सोंडिया [क]) :

'सोंडिया' का अर्थ है सुरापान की आसक्ति या गृद्धि से होने वाली उन्मत्तता[11]।

श्लोक ३९ :

६०. संवर (संवरं [घ]) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'प्रत्याख्यान'[12], जिनदास महत्तर ने 'संयम[13]', तथा हरिभद्रसूरि ने 'चारित्र[14]' किया है।

१—च० पूर्व भा० (सूत्रस्थान) अ० २५. पृ० २०३ . 'शालिषष्टिकपिष्टादिकृत मद्यं सुरा स्मृता'
२—वही अ० २७ श्लोक १८४।
३—वही अ० २५ पृ० २०३ : 'मैरेय धातकीपुष्पगुड़धान्याम्लसन्धितम्'।
४—वही अ० २७ पृ० २४० 'आसवस्य सुरायाश्च, द्वयोरेकत्र भाजने।
सधान तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम्'॥
५—वही अ० २५ पृ० २०३ : 'मालूरमूल बदरी, शर्करा च तथैव हि।
एषामेकत्र सन्धानात्, मैरेयी मदिरा स्मृता॥'
६—अ० चू० : सक्खी भूतेण अप्पणा—सचेतणेण इति।
७—अ० चू० : अहवा जया गिलाणकज्जे तता 'ससक्खो ण पिबे' जणसक्खिगमित्यर्थः।
८—जि० चू० पृ० २०२ : जति नाम गिलाणनिमित्त ताए कज्ज भविज्जा ताहे 'ससक्ख नो पिबेज्जा' ससक्ख नाम सागारिएहिं पच्चप्पाइय-माण, किं कारण ससक्ख ण पिबेज्जा ?
९—हा० टी० प० १८८ : 'ससाक्षिक' सदापरित्यागसाक्षिकेवलिप्रतिषिद्ध न पिबेद्भिक्षु', अनेनात्यन्तिक एव तत्प्रतिषेधः, सदासाक्षिभावात्।
१०—हा० टी० प० १८८ : अन्ये तु ग्लानापवादविषयमेतत्सूत्रमल्पसागारिकविधानेन व्याचक्षते।
११—(क) अ० चू० : सुरादिसु संगो 'सोंडिया'
(ख) जि० चू० पृ० २०३ : सुंडिया नाम जा सुरातिसु गेही सा सुंडिआ भण्णति, ताणि सुरादीणि मोत्तूण ण अन्न रोयइ।
(ग) हा० टी० प० १८८ : 'शौण्डिका' तदत्यन्ताभिष्वङ्गरूपा।
१२—अ० चू० : 'सवर' पच्चक्खाण।
१३—जि० चू० पृ० २०४ : सवरो णाम संजमो।
१४—हा० टी० प० १८८ . 'सवर' चारित्रम्।

श्लोक ४२ :

६१. जो मेधावी (मेहावी [क]) :

मेधावी दो प्रकार के होते हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी। जो बहुश्रुत होता है उसे ग्रन्थ-मेधावी कहा जाता है और मर्यादा के अनुसार चलने वाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है[१]।

६२. प्रणीत (पणीयं [ख]) :

दूध, दही, घी आदि स्निग्ध पदार्थ या विकृति को प्रणीत—रस कहा जाता है[२]। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए ८.५६ की टिप्पणी।

६३. मद्य-प्रमाद (मज्जप्पमाय [ग]) :

यहाँ मद्य और प्रमाद भिन्नार्थक शब्द नहीं हैं। किन्तु मद्य प्रमाद का कारण होता है इसलिए मद्य को ही प्रमाद कहा गया है[३]।

श्लोक ४३

६४. अनेक साधुओं द्वारा प्रशंसित (अणेगसाहुपूइयं [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'अणेगसाहु' को समस्त-पद माना है[४]। जिनदास चूर्णि में 'अणेगं' को 'कल्लाणं' का विशेषण माना है[५]।

६५. विपुल और अर्थ-संयुक्त (विउलं अत्थसंजुत्तं [ग]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'विउल' का मकार अलाक्षणिक है और विपुलार्थ-संयुक्त एक शब्द बन जाता है। विपुलार्थ-संयुक्त अर्थात् मोक्ष-पुरुषार्थ से युक्त[६]। जिनदास चूर्णि में भी ऐसा किया है। किन्तु 'अत्थसंजुत्त' की स्वतंत्र व्याख्या भी की है[७]। टीका में 'विउल' और 'अत्थसंजुत्तं' की पृथक् व्याख्या की है[८]।

१—जि० चू० पृ० २०३ : मेधावी दुविहो, त०—गथमेधावी मेरामेधावी य, तत्थ जो महत गंथं अहिज्जति सो गंथमेधावी, मेरामेधावी णाम मेरा मज्जाया भण्णति तीए मेराए धावतित्ति मेरामेधावी।

२—(क) अ० चू० : पणीए पधाणे विगतीमादीते।

(ख) जि० चू० पृ० २०३ : पणीतस्स नाम नेहविगतीओ भणति।

(ग) हा० टी० प० १८६ : 'प्रणीत' स्निग्धम्।

३—स्था० ६.५०२ वृ० : 'छव्विहे पमाते पन्नत्ते त जहा—मज्जपमाए'..........'मद्यं—सुरादि तदेव प्रमादकारणत्वात् प्रमादो मद्यप्रमादः।

४—(क) अ० चू० : अणेगेहिं 'साधूहिं पूतिय' पससियं इह-परलोगहित।

(ख) हा० टी० प० १८६ : अनेकसाधुपूजित, पूजितमिति—सेवितमाचरितम्।

५—जि० चू० पृ० २०४ : अणेगं नाम इहलोइयपरलोइय, जं च।

६—अ० चू० : 'विपुलअट्ठसजुत्तं विपुलेण' वित्थिण्णेण 'अत्थेण सजुत्तं' अक्खयेण णेव्वाणत्थेण।

७—जि० चू० पृ० २०४ : 'विउल अत्थसंजुत्तं' नाम विपुल विसाल भण्णति, सो य मोक्खो, तेण विउलेण अत्थेण सजुत्तं विउलत्थसंजुत्तं, अत्थसंजुत्त णाम सभावसजुत्त, ण पुण णिरत्थियंति।

८—हा० टी० प० १८६ : 'विपुल' विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात् 'अर्थसंयुक्तं' तुच्छतादिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात्।

६६. स्वयं देखो (पस्सह क) :

देखना चक्षु का व्यापार है। इसका प्रयोग पूर्ण अवधारण के लिए भी होता है, जैसे—मन से देख रहा है। यहाँ सर्वगत अवधारण के लिए 'पश्यत' का प्रयोग हुआ है—उस तपस्वी के कल्याण को देखो अर्थात् उसका निश्चित ज्ञान करो[१]।

श्लोक ४४ :

६७. अगुणों को (अगुणाणं ख) :

जिनदास चूर्णि में जो नागार्जुनीय परम्परा के पाठ का उल्लेख है उसके अनुसार इसका अर्थ होता है—अगुण-रूपी ऋण न करने वाला[२]। अगस्त्यसिंह ने इस अर्थ को विकल्प में माना है[३]।

श्लोक ४६ :

६८. तप का चोर······भाव का चोर (तवतेणे क······भावतेणे ग) :

तपस्वी सरीखा शरीर पतला-दुबला देख किसी ने पूछा—वह तपस्वी तुम्हीं हो ? पूजा-सत्कार के निमित्त "हाँ, मैं ही हूँ।" ऐसा कहना अथवा "साधु तपस्वी ही होते हैं", ऐसा कह उसके प्रश्न को घोटाले में डालने वाला तप का चोर कहलाता है। इसी प्रकार धर्मकथी, उच्चजातीय, विशिष्ट आचार-सम्पन्न न होते हुए भी मायाचार से अपने को वैसा बतलाने वाला क्रमशः वाणी का चोर, रूप का चोर और आचार का चोर होता है।

जो किसी सूत्र और अर्थ को नहीं जानता तथा अभिमानवश किसी को पूछता भी नहीं, किन्तु व्याख्यान या वाचना देते समय आचार्य तथा उपाध्याय से सुनकर ग्रहण करता है और 'यह तो मुझे ज्ञात ही था'—इस प्रकार का भाव दिखलाने वाला भाव-चोर होता है[४]।

६९. किल्विषिक देव-योग्य-कर्म (देवकिब्बिसं घ) :

देवों में जो किल्विष (अधम जाति का) होता है, उसे देवकिल्विष कहा जाता है। देवकिल्विष में उत्पन्न होने योग्य कर्म या भाव दैवकिल्विष कहलाता है।

१—अ० चू० : पस्सण णयणगतो वावारो सव्वगतावधारणे वि पयुज्जति, मनसा पश्यति। तस्य पश्येतेति।

२—जि० चू० पृ० २०४ : तहा नागज्जुणिया तु एव पढति—'एवं तु अगुणप्पेही अगुणाण विवज्जए' अगुणा एव अण अगुणाणं, अणति वा रिणंति वा एगट्ठा, त च अगुणरिण अकुव्वंतो।

३—अ० चू० . अधवा अगुणा एव रिण त विवज्जेति।

४—जि० चू० पृ० २०४ . तत्थ तवतेणो णाम जहा कोइ खमगसरिसो केणावि पुच्छिओ—तुम सो खमओत्ति ?, तत्थ सो पूयासक्कार-निमित्त भणति-ओमिति, अहवा भणइ—साहूणो चेव तव करेंति, तुसिणो सचिक्खइ, एस तवतेणे, वयतेणे णाम जहा कोइ धम्मकहि-सरिसो वाईसरिसो अण्णेण पुच्छिओ जहा तुमे सो धम्मकहि वादी वा ?, पूयासक्कारणिमित्त भणइ—आमं. तोण्हिक्को वा अच्छइ, अहवा भणइ-साधुणो चेव धम्मकहिणो वादिणो य भवति, एस वयतेणे रूवतेणे णाम रूवस्सी कोइ रायपुत्तादी पव्वइओ, तस्स सरिसो केणइ पुच्छिओ, जहा तुम सो अमुगोत्ति ? ताहे भण्णति—आमति, तुसिणीओ वा अच्छइ, रायपुत्तादयो एरिसा या, एस रूवतेणे, आयारभावतेणे णाम जहा महुराए कोउहलति जहा आवस्सयचुण्णीए स आयारतेणो भावतेणो णाम जो अणब्भुवगतं किंचि उत्त अत्थ वा माणावलेवेण न पुच्छइ, वक्खाणत वाएतस्स वा सोऊण गेण्हइ।

"देवकिव्विसं" का संस्कृत रूप देव-किल्विष हो सकता है जैसा कि दीपिकाकार ने किया है। किन्तु वह देव-जाति का वाचक होता है इसलिए "कुव्वइ" क्रिया के साथ इसका संबंध नहीं जुड़ता। इसलिए उसका संस्कृत रूप "दैव-किल्विष" होना चाहिए। वह कर्म और भाव का वाचक है और उसके साथ क्रिया की संगति ठीक बैठती है। किल्विष देवताओं की जानकारी के लिए देखिए भगवती (९.३३) एवं स्थानाङ्ग (३.४.१६६)।

स्थानाङ्ग में चार प्रकार का अपध्वंस बतलाया है—असुर, अभियोग, सम्मोह और दैवकिल्विष[1]। वृत्तिकार ने अपध्वंस का अर्थ चरित्र और उसके फल का विनाश किया है। वह आसुरी आदि भावनाओं से होता है[2]। उत्तराध्ययन में चार भावनाओं का उल्लेख है। उनमें तीसरी भावना किल्विषिकी है। इस भावना के द्वारा जो चरित्र का विनाश होता है उसे दैवकिल्विष-अपध्वंस कहा जाता है। स्थानाङ्ग (४.४.३५४) के अनुसार अरिहन्त, अरिहन्त-प्रज्ञप्त-धर्म, आचार्य—उपाध्याय और चार तीर्थ का अवर्ण बोलने वाला व्यक्ति दैवकिल्विषकत्व कर्म का बंध करता है। उत्तराध्ययन के अनुसार ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधुओं का अवर्ण बोलने वाला तथा माया करने वाला किल्विषिकी भावना करता है[3]।

प्रस्तुत श्लोक में किल्विषिक-कर्म का हेतु माया है। देवों में किल्विष पाप या अधम होता है उसे देवकिल्विष कहा जाता है। माया करने वाला दैवकिल्विष करता है अर्थात्—देवकिल्विष में उत्पन्न होने योग्य कर्म करता है।

श्लोक ४७ :

७०. (किच्चा घ) :

'कृत्वा' और 'कृत्यात्' इन दोनों का प्राकृत रूप 'किच्चा' बनता है।

श्लोक ४८ :

७१. एडमूकता (गूंगापन) (एलमूययं ख) :

एडमूकता—मेमने की तरह मैं-मैं करनेवाला एडमूक कहलाता है[4]। एडमूक को प्रव्रज्या के अयोग्य बतलाया है[5]।

तुलना—अन्नयरेसु, आसुरिएसु, किव्विसिएसु, ठाणेसु उववत्तारो भवति, ततो विप्पमुच्चमाणे मुज्जो मुज्जो एलमूयत्ताए, तावयत्ताए, जाइमूयत्ताए पच्चायंति। एलवन्मूका एलमूकास्तद् भावेनोत्पद्यन्ते।...यथैलको मूकोऽव्यक्त वाक् भवति, एवमसावप्यव्यक्त वाक् समुत्पद्यत इति (सूत्र० २ २ वृत्ति)

श्लोक ५० :

७२. उत्कृष्ट संयम (तिव्वलज्ज घ) :

यहाँ लज्जा का अर्थ संयम है[6]।

१—४.४. सू० ३५४ : चउविहे अवद्धंसे पन्नत्ते त जहा—आसुरे आभिओगे समोहे देवकिव्विसे।

२—स्था० ४. ४. सू० ३५४ वृ० . अपध्वसनमपध्वस —चारित्रस्य तत् फलस्य वा असुरादिभावनाजनितो विनाशः।

३—उत्त० ३६. २६४ : नाणस्स केवलीण धम्मायरियस्स संघसाहूण।
माई अवणवाई किव्विसिय भावण कुणइ॥

४—हा० टी० प० १६० : 'एलमूकताम्' अजाभाषानुकारित्व मानुषत्वे।

५—आव० हा० वृ० पृ० ६२८।

६—(क) जि० चू० पृ० २०५ : लज्जसजमो—तिव्वसंजमो, तिव्वसद्दो पकरिसे वट्टइ, उक्किट्ठो सजमो जस्स सो तिव्वलज्जो भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० १६० : 'तीव्रलज्ज.' उत्कृष्टसयम. सन्।

छट्ठमज्झयणं

महायारकहा

षष्ठ अध्ययन

महाचार कथा

आमुख

'क्षुल्लक-आचारकथा' (तीसरे अध्ययन) की अपेक्षा इस अध्ययन में आचारकथा का विस्तार से निरूपण हुआ है इस लिये इसका नाम 'महाचार-कथा' रखा गया है।

"जो पुव्विं उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।
सच्चेव य होई कहा, आयारकहाए महईए॥" (नि० २४५)

तीसरे अध्ययन में केवल अनाचार का नाम-निर्देश किया गया है और इस अध्ययन में अनाचार के विविध पहलुओं को छुआ गया है। औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र, अभ्याहृत, रात्रि-भक्त और स्नान—ये अनाचार हैं (३.२)—यह 'क्षुल्लक-आचार-कथा' की निरूपण-पद्धति है। 'जो निर्ग्रन्थ नित्याग्र, क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन आदि का सेवन करते हैं वे जीव-वध का अनुमोदन करते हैं—यह महर्षि महावीर ने कहा है, इसलिए धर्मजीवी-निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत भोजन-पानी का वर्जन करते हैं (६.४८-४९)—यह 'महाचार-कथा' की निरूपण-पद्धति है। यह अन्तर हमें लगभग सर्वत्र मिलेगा और यह सकारण भी है। 'क्षुल्लक-आचारकथा' की रचना निर्ग्रन्थ के अनाचारों का संकलन करने के लिये हुई है (३.१)। और महाचार कथा की रचना जिज्ञासा का समाधान करने के लिए हुई है (६.१-४)।

'क्षुल्लक-आचार-कथा' में अनाचारों का सामान्य निरूपण है। वहाँ उत्सर्ग और अपवाद की कोई चर्चा नहीं है। 'महाचार-कथा' में उत्सर्ग और अपवाद की भी यत्र-तत्र चर्चा हुई है।

एक ओर अठारह स्थान बाल, वृद्ध और रोगी सब प्रकार के मुनियों के लिये अनाचरणीय बतलाए हैं (६.६-७, नि० ६. २६७) तो दूसरी ओर निषद्या (जो अठारह स्थानों में सोलहवां स्थान है) के लिये अपवाद भी बतलाया गया है—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर में बैठ सकता है (६.५९)। रोगी निर्ग्रन्थ भी स्नान न करे (६.६०)। यहाँ छट्ठे श्लोक के निषेध को फिर दोहराया है। इस प्रकार इस अध्ययन में उत्सर्ग और अपवाद के अनेक संकेत मिलते हैं।

अठारह स्थान—

हिंसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, अकल्प, गृहि-भाजन, पर्यंक, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन—ये अठारह अनाचार स्थान हैं—

"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं॥ (नि०२६८)

तुलना—

'क्षुल्लक-आचारकथा' में जो अनाचार बतलाए हैं उनकी 'महाचार-कथा' से तुलना यों हो सकती है—

अनाचार	वर्णित स्थल (अ० ३ का श्लोक)	तुलनीय स्थल (अ० ६ का श्लोक)
औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र और अभ्याहृत	२	४८-४९
रात्रि-भोजन	२	२२-२५
स्नान	२	६०-६३
सन्निधि	३	१७-१८
गृहिपात्र	३	५०-५२
अग्नि समारम्भ	४	३२-३५
आसन्दी, पर्यङ्क	५	५३-५५
गृहान्तर निषद्या	५	५६-५९
गात्र उद्वर्तन	५	६३
तप्तानिर्वृत भोजित्व	६	२९-३१
मूल, शृङ्गवेर, इक्षु-खण्ड, कन्द, मूल, फल और बीज	७	४०-४२
सौवर्चल, सैन्धव, रुमालवण; सामुद्र, पांशुक्षार और काला-लवण	८	२६-२८
धूम नेत्र, या धूपन	९	३२-३५ या ६४-६६
वमन, वस्तीकर्म, विरेचन, अंजन, दतौन और गात्र-अभ्यङ्ग	९	२१
विभूषा	९	६४-६६

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि 'क्षुल्लक-आचार' का इस अध्ययन में सहेतुक निरूपण हुआ है।

इस अध्ययन का दूसरा नाम "धर्मार्थ काम" माना जाता रहा है। इसका कोई पुष्ट आधार नहीं मिलता किन्तु सम्भव है कि इसी अध्ययन के चतुर्थ श्लोक में प्रयुक्त—'धम्मत्थकाम' शब्द के आधार पर वह प्रयुक्त होने लगा हो। 'धर्मार्थकाम' निर्ग्रन्थ का विशेषण है। धर्म का अर्थ है मोक्ष। उसकी कामना करने वाला 'धर्मार्थकाम' होता है।

"धम्मस्स फल मोक्खो, सासय मउलं सिव अणावाहं।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकामत्ति॥" (नि० २६५)

निर्ग्रन्थ धर्मार्थकाम होता है। इसीलिए उसका आचार-गोचर (क्रिया-कलाप) कठोर होता है। प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य यही है। इसलिए सम्भव है कि प्रस्तुत अध्ययन का नाम "धर्मार्थकाम" हुआ हो।

प्रस्तुत अध्ययन में अहिंसा, परिग्रह आदि की परिष्कृत परिभाषाएँ मिलती हैं—

(१) अहिंसा—'अहिंसा···सव्वभूएसु संजमो' (६-८)।

(२) परिग्रह—'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' (६ २०)।

यह अध्ययन प्रत्याख्यान प्रवाद नामक नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है (नि० १७)।

छट्ठमज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

महायारकहा : महाचारकथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—नाणदंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं । गणिमागमसंपन्नं उज्जाणम्मि समोसढं ॥	ज्ञानदर्शनसंपन्नं, संयमे च तपसि रतम् । गणिमागमसंपन्नम्, उद्याने समवसृतम् ॥१॥	१-२—ज्ञान[1]-दर्शन[2] से सम्पन्न, संयम और तप में रत, आगम-सम्पदा[3] से युक्त गणी को उद्यान में[4] समवसृत देख राजा और उनके अमात्य[5], ब्राह्मण और क्षत्रिय[6] उन्हें नम्रतापूर्वक पूछते हैं—आपके आचार का विषय[7] कैसा है ?
२—रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया । पुच्छंति निहुअप्पाणो कहं भे आयारगोयरो ? ॥	राजानो राजामात्याश्च, ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः । पृच्छन्ति निभृतात्मानः, कथं भवतामाचारगोचरः ॥२॥	
३—तेसिं सो निहुओ दंतो सव्वभूयसुहावहो । सिक्खाए सुसमाउत्तो आइक्खइ वियक्खणो ॥	तेभ्यः स निभृतो दान्तः, सर्वभूतसुखावहः । शिक्षया सुसमायुक्तः, आख्याति विचक्षणः ॥३॥	३—ऐसा पूछे जाने पर वे स्थितात्मा, दान्त, सब प्राणियों के लिए सुखावह, शिक्षा में[8] समायुक्त और विचक्षण गणी उन्हें बताते हैं—
४—हंदि[9] धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे । आयारगोयरं भीमं सयलं दुरहिट्ठियं ॥	हंदि धर्मार्थकामानां, निर्ग्रन्थानां शृणुत मम । आचारगोचरं भीमं, सकलं दुरधिष्ठितम् ॥४॥	४—मोक्ष चाहने वाले[10] निर्ग्रन्थों के भीम, दुर्धर और पूर्ण आचार का विषय मुझसे सुनो ।
५—नन्नत्थ एरिसं वुत्तं जं लोए परमदुच्चरं । विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं न भविस्सई ॥	नान्यत्र ईदृशमुक्तं, यल्लोके परम-दुश्चरम् । विपुलस्थानभागिनः, न भूतं न भविष्यति ॥५॥	५—मानव-जगत् के लिए इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के अतिरिक्त कहीं नहीं कहा गया है । मोक्ष-स्थान की आराधना करने वाले के लिए ऐसा आचार अतीत में न कहीं था और न कहीं भविष्य में होगा ।
६—सखुड्डगवियत्ताणं वाहियाणं च जे गुणा । अखंडफुडिया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥	सक्षुल्लक-व्यक्तानां, व्याधितानां च ये गुणाः । अखण्डास्फुटिताः कर्तव्याः, तान् शृणुत यथा तथा ॥६॥	६—बाल, वृद्ध[11] अस्वस्थ या स्वस्थ—सभी मुमुक्षुओं को जिन गुणों की आराधना अखण्ड और अस्फुटित[12] रूप से करनी चाहिए, उन्हें यथातथ्य रूप से सुनो ।

७—दस अट्ठ य ठाणाइं
जाइं बालोऽवरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे
निग्गंथत्ताओ भस्सई॥

दशाष्टौ च स्थानानि,
यानि बालोऽपराध्यति।
तत्रान्यतरस्मिन् स्थाने,
निर्ग्रन्थत्वाद् भ्रश्यति॥७॥

७—आचार के अठारह स्थान हैं[१३]। जो अज्ञ उनमें से किसी एक भी स्थान का अपराध (विराधना) करता है, वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट होता है।

[वयछक्कं[१४] कायछक्कं
अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंक निसेज्जा य
सिणाणं सोहवज्जणं॥]

[व्रतषट्कं कायषट्कं,
अकल्पो गृहि-भाजनं।
पर्यङ्को निषद्या च,
स्नानं शोभा-वर्जनम्॥]

[अठारह स्थान ये हैं—छह व्रत और छह काय। अकल्प्य, गृहस्थ-पात्र, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभा का वर्जन।]

८—तत्थिमं पढमं ठाणं
महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणं दिट्ठा
सव्वभूएसु संजमो॥

तत्रेदं प्रथमं स्थानं,
महावीरेण देशितम्।
अहिंसा निपुणं दृष्टा,
सर्वभूतेषु संयमः॥८॥

८—महावीर ने उन अठारह स्थानों में पहला स्थान अहिंसा का कहा है। इसे उन्होंने सूक्ष्मरूप से[१५] देखा है। सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है।

९—जावंति लोए पाणा
तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा
न हणे णो वि घायए॥

यावन्तो लोके प्राणाः,
त्रसाः अथवा स्थावराः।
तान् जानन्न जानन् वा,
न हन्यात् नो अपि घातयेत्॥९॥

९—लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, निर्ग्रन्थ जान या अजान में[१६] उनका हनन न करे और न कराए।

१०—सव्वे जीवा वि इच्छन्ति
जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं
निग्गंथा वज्जयंति णं॥

सर्वे जीवा अपीच्छन्ति,
जीवितुं न मर्तुम्।
तस्मात्प्राण-वधं घोरं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं'॥१०॥

१०—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना नहीं। इसलिए प्राण-वध को भयानक जानकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते हैं।

११—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
कोहा वा जइ व भया।
हिंसगं न मुसं बूया
नो वि अन्नं वयावए॥

आत्मार्थं परार्थं वा,
क्रोधाद्वा यदि वा भयात्।
हिंसकं न मृषा ब्रूयात्,
नोऽप्यन्यं वादयेत्॥११॥

११—निर्ग्रन्थ अपने या दूसरों के लिए, क्रोध से[१७] या भय से पीडाकारक सत्य और असत्य न बोले[१८], न दूसरों से बुलवाए।

१२—मुसावाओ य लोगम्मि
सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं
तम्हा मोसं विवज्जए॥

मृषावादश्च लोके,
सर्वसाधुभिर्गर्हितः।
अविश्वास्यश्च भूतानां,
तस्मान्मृषा विवर्जयेत्॥१२॥

१२—इस समूचे लोक में मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है[१९] और वह प्राणियों के लिए अविश्वसनीय है। अतः निर्ग्रन्थ असत्य न बोले।

१३—चित्तमंतमचित्तं वा
अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि
ओग्गहंसि अजाइया ॥

चित्तवदचित्तं वा,
अल्पं वा यदि वा बहु ।
दन्तशोधनमात्रमपि,
अवग्रहे अयाचित्वा ॥१३॥

१४—तं अप्पणा न गेण्हंति
नो वि गेण्हावए परं ।
अन्नं वा गेण्हमाणं पि
नाणुजाणंति संजया ॥

तदात्मना न गृण्हन्ति,
नाऽपि ग्राहयन्ति परम् ।
अन्यं वा गृण्हन्तमपि,
नानुजानन्ति संयताः ॥१४॥

१३-१४—सयमी मुनि सजीव या निर्जीव[20], अल्प या बहुत[21], दन्तशोधन[22] मात्र वस्तु का भी उसके अधिकारी की आज्ञा लिए विना स्वय ग्रहण नहीं करता, दूसरों से ग्रहण नही कराता और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करता ।

१५—अबंभचरियं घोरं
पमायं दुरहिट्ठियं ।
नायरंति मुणी लोए
भेयाययणवज्जिणो ॥

अब्रह्मचर्यं घोरं,
प्रमादं दुरधिष्ठितम् ।
नाचरन्ति मुनयो लोके,
भेदायतन-वर्जिनः ॥१५॥

१५—अब्रह्मचर्य लोक में घोर[23], प्रमाद-जनक[24] और घृणा प्राप्त कराने वाला है[25] । चरित्र-भङ्ग के स्थान से बचने वाले[26] मुनि उसका आसेवन नही करते ।

१६—मूलमेयमहम्मस्स
महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

मूलमेतद् अधर्मस्य,
महादोषसमुच्छ्रयम् ।
तस्मान्मैथुनसंसर्गं,
निर्ग्रन्था वर्जयन्ति 'णं' ॥१६॥

१६—यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल[27] और महान् दोषो की राशि है । इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन के ससर्ग का वर्जन करते हैं ।

१७—विडमुब्भेइमं लोणं
तेल्लं सप्पिं च फाणियं ।
न ते सन्निहिमिच्छन्ति,
नायपुत्तवओरया ॥

विडमुद्भेद्यं लवणं,
तैलं सर्पिश्च फाणितम् ।
न ते सन्निधिमिच्छन्ति,
ज्ञातपुत्र-वचोरताः ॥१७॥

१७—जो महावीर के वचन मे रत हैं, वे मुनि विडलवण[28], सामुद्र-लवण[29], तैल, घी और द्रव-गुड[30] का सग्रह[31] करने की इच्छा नहीं करते ।

१८—[32]लोभस्सेसो अणुफासो
मन्ने अन्नयरामवि[35] ।
जे सिया[36] सन्निहीकामे[37]
गिही पव्वइए न से ॥

लोभस्यैषोऽनुस्पर्शः,
मन्येऽन्यतरदपि ।
यः स्यात्सन्निधि-कामः,
गृही प्रव्रजितो न सः ॥१८॥

१८—जो कुछ भी सग्रह किया जाता है वह लोभ का ही प्रभाव[33] है—ऐसा मैं मानता हूँ[34] । जो श्रमण सन्निधि का कामी है वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नहीं है ।

१९—जं पि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा
धारंति परिहरंति य ॥

यदपि वस्त्रं वा पात्रं वा,
कम्बलं पादप्रोञ्छनम् ।
तदपि संयमलज्जार्थं,
धारयन्ति परिदधते च ॥१९॥

१९—जो भी वस्त्र पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं, उन्हें मुनि सयम और लज्जा की रक्षा के लिए[38] ही रखते और उनका उपयोग करते हैं[39] ।

२०—न सो परिग्गहो वुत्तो
नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो
इइ वुत्तं महेसिणा॥

न स परिग्रह उक्तः,
ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा (तायिना)।
मूर्च्छा परिग्रह उक्तः,
इत्युक्तं महर्षिणा॥२०॥

२०—सब जीवों के त्राता महावीर ने[४०] वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है[४१], मूर्च्छा को परिग्रह कहा है—ऐसा महर्षि (गणधर) ने[४२] कहा है।

२१—[४३]सव्वत्थुवहिणा बुद्धा
संरक्खणपरिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि
नायरंति ममाइयं॥

सर्वत्रोपधिना बुद्धाः,
संरक्षणाय परिगृण्हन्ति।
अप्यात्मनोऽपि देहे,
नाचरन्ति ममायितम्॥२१॥

२१—सब काल और सब क्षेत्रों में तीर्थङ्कर उपधि (एक दूष्य वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येक बुद्ध, जिनकल्पिक आदि भी सयम की रक्षा के निमित्त उपधि (रजोहरण, मुख-वस्त्र आदि) ग्रहण करते हैं। वे उपधि पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं करते।

२२—अहो निच्चं तवोकम्मं
सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य[४५] लज्जासमा वित्ती
एगभत्तं च भोयणं॥

अहो नित्यं तपःकर्म,
सर्वबुद्धैर्वर्णितम्।
या च लज्जासमा वृत्तिः,
एक-भक्तं च भोजनम्॥२२॥

२२—आश्चर्य है कि सभी तीर्थङ्करों ने श्रमणों के लिए नित्य तप-कर्म[४४], सयम के अनुकूल वृत्ति[४६] (देह-पालना) और एक बार भोजन[४७] करने का उपदेश दिया है।

२३—संतिमे सुहुमा पाणा
तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो
कहमेसणियं चरे?॥

सन्तीमे सूक्ष्माः प्राणा,
त्रसा अथवा स्थावराः।
यान्रात्रौ अपश्यन्,
कथमेषणीय चरेत्॥२३॥

२३—जो त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं, उन्हें रात्रि में नहीं देखता हुआ निर्ग्रन्थ विधिपूर्वक कैसे चल सकता है?

२४—उदउल्लं बीयसंसत्तं
पाणा निवडिया महिं[४९]।
दिया ताइं विवज्जेज्जा
राओ तत्थ कहं चरे॥

उदकार्द्रं बीजसंसक्तं,
प्राणाःनिपतिता मह्याम्।
दिवा तान् विवर्जयेत,
रात्रौ तत्र कथं चरेत्॥२४॥

२४—उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन[४८] तथा जीवाकुल मार्ग—उन्हें दिन में टाला जा सकता है पर रात में उन्हें टालना शक्य नहीं—इसलिए निर्ग्रन्थ रात को वहाँ कैसे जा सकता है?

२५—एयं च दोसं दट्ठूणं
नायपुत्तेण भासियं।
सव्वाहारं न भुंजंति
निग्गंथा राइभोयणं॥

एतं च दोषं दृष्ट्वा,
ज्ञातपुत्रेण भाषितम्।
सर्वाहारं न भुञ्जते,
निर्ग्रन्था रात्रिभोजनम्॥२५॥

२५—ज्ञातपुत्र महावीर ने इस हिंसात्मक दोष को देखकर कहा—"जो निर्ग्रन्थ होते हैं वे रात्रि-भोजन नहीं करते, चारों प्रकार के आहार में से किसी भी प्रकार का आहार नहीं करते।"

२६—पुढविकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया॥

पृथ्वीकायं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन,
संयताः सुसमाहिताः॥२६॥

२६—सुसमाहित सयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण और कृत, कारित एव अनुमति—इस त्रिविध योग से पृथ्वीकाय की हिंसा नहीं करते।

२७—पुढविकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

पृथ्वीकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुपान् ॥२७॥

२७—पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

२८—तम्हा एयं[50] वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकायसमारंभं[51]
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
पृथ्वीकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥२८॥

२८—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

२९—आउकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

अप्-कायं न हिंसन्ति,
मनसा वाचा कायेन।
त्रिविधेन करणयोगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥२९॥

२९—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से अप्काय की हिंसा नही करते।

३०—आउकायं विहिंसंता
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

अप्-काय विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुषान् ॥३०॥

३०—अप्काय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

३१—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
आउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
अप्-कायं समारम्भं,
यावज्जीव वर्जयेत् ॥३१॥

३१—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोप जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का वर्जन करे।

३२—जायतेयं न इच्छंति
पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं
सव्वओ वि दुरासयं ॥

जात-तेजस नेच्छन्ति,
पावकं ज्वालयितुम्।
तीक्ष्णमन्यतरच्छस्त्रं,
सर्वतोऽपि दुराश्रयम् ॥३२॥

३२—मुनि जाततेज[52] अग्नि[53] जलाने की इच्छा नहीं करते। क्योंकि वह दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र[54] और सब ओर से दुराश्रय है[55]।

३३—पाईणं पडिणं वा वि
उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वा वि
दहे उत्तरओ वि य ॥

प्राच्या प्रतीच्या वाऽपि,
ऊर्ध्वमनुदिक्ष्वपि।
अधो दक्षिणतो वापि,
दहेदुत्तरतोऽपि च ॥३३॥

३३—वह पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः दिशा और विदिशाओं में[56] दहन करती है।

३४—भूयाणमेसमाघाओ
हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा
संजया किंचि नारभे॥

भूतानामेष आघातः,
हव्यवाहो न संशय।
तं प्रदीपप्रतापार्थं,
संयताः किञ्चिन्नारभन्ते ॥३४॥

३४—नि सन्देह यह हव्यवाह (अग्नि[57]) जीवों के लिए आघात है[58]। सयमी प्रकाश और ताप के लिए[59] इसका कुछ भी आरम्भ न करे।

३५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तेउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
तेजः काय-समारम्भ,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३५॥

३५—(अग्नि जीवों के लिए आघात है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

३६—अनिलस्स समारंभं
बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जबहुलं[61] चेयं[62]
नेयं ताईहिं सेवियं॥

अनिलस्य समारम्भं,
बुद्धा मन्यन्ते तादृशम्।
सावद्य-बहुल चैतं,
नैनं त्रायिभिः सेवितम् ॥३६॥

३६—तीर्थङ्कर वायु के समारम्भ को अग्नि-समारम्भ के तुल्य[60] ही मानते हैं। यह प्रचुर पाप-युक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों के द्वारा आसेवित नहीं है।

३७—तालियंटेण पत्तेण
साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छन्ति
वीयावेऊण वा परं॥

तालवृन्तेन पत्रेण,
शाखा-विधुवनेन वा।
न ते वीजितुमिच्छन्ति,
वीजयितुं वा परेण ॥३७॥

३७—इसलिए वे वीजन, पत्र, शाखा और पखे से हवा करना तथा दूसरों से हवा कराना नहीं चाहते।

३८—जंपि वत्थं व पायं वा
कंबलं पायपुंछणं।
न ते वायमुईरंति
जयं परिहरंति य॥

यदपि वस्त्र वा पात्रं वा,
कम्बलं पादप्रोञ्छनम्।
न ते वातमुदीरयन्ति,
यतं परिदधते च ॥३८॥

३८—जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उनके द्वारा वे वायु की उदीरणा[63] नहीं करते, किन्तु यतना-पूर्वक उनका परिभोग करते हैं।

३९—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वाउकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
वायुकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥३९॥

३९—(वायु-समारम्भ सावद्य बहुल है) इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४०—वणस्सइं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया॥

वनस्पतिं न हिंसन्ति,
मनसा वचसा कायेन।
त्रिविधेन करण-योगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥४०॥

४०—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से वनस्पति की हिंसा नहीं करते।

४१—वणस्सइं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

वनस्पतिं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुपान् ॥४१॥

४१—वनस्पति की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

४२—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वणस्सइसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
वनस्पति-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४२॥

४२—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त वनस्पति के समारम्भ का वर्जन करे।

४३—तसकायं न हिंसंति
मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण
संजया सुसमाहिया ॥

त्रसकाय न हिंसन्ति,
मनसा वाचा कायेन।
त्रिविधेन करण-योगेन,
संयताः सुसमाहिताः ॥४३॥

४३—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काया—इस त्रिविध करण तथा कृत, कारित और अनुमति—इस त्रिविध योग से त्रसकाय की हिंसा नहीं करते।

४४—तसकायं विहिंसंतो
हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे
चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

त्रसकायं विहिंसन्,
हिनस्ति तु तदाश्रितान्।
त्रसाँश्च विविधान् प्राणान्,
चाक्षुषाँश्चाचाक्षुषान् ॥४४॥

४४—त्रसकाय की हिंसा करता हुआ उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य), अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है।

४५—तम्हा एयं वियाणित्ता
दोसं दुग्गइवड्ढणं।
तसकायसमारंभं
जावज्जीवाए वज्जए ॥

तस्मादेतं विज्ञाय,
दोषं दुर्गति-वर्द्धनम्।
त्रसकाय-समारम्भं,
यावज्जीवं वर्जयेत् ॥४५॥

४५—इसलिए इसे दुर्गति-वर्धक दोष जानकर मुनि जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का वर्जन करे।

४६—[६४]जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं
इसिणा[६६]—हारमाईणि[६७]।
ताइं तु विवज्जंतो
संजमं अणुपालए ॥

यानि चत्वारि अभोज्यानि,
ऋषिणा आहारादीनि।
तानि तु विवर्जयन्,
संयम-मनुपालयेत् ॥४६॥

४६—ऋषि के लिए जो आहार आदि चार (निम्न श्लोकोक्त) अकल्पनीय[६५] हैं, उनका वर्जन करता हुआ मुनि संयम का पालन करे।

४७—पिंडं सेज्जं च वत्थं च
चउत्थं पायमेव य।
अकप्पियं न इच्छेज्जा
पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥

पिण्डं शय्या च वस्त्रं च,
चतुर्थं पात्रमेव च।
अकल्पिकं नेच्छेत्,
प्रतिगृण्हीयात् कल्पिकम् ॥४७॥

४७—मुनि अकल्पनीय पिण्ड, शय्या—वसति, वस्त्र और पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे[६८] किन्तु कल्पनीय ग्रहण करे।

४८—जे नियागं ममायंति
कीयमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति
इइ वुत्तं महेसिणा ॥

ये नित्याग्रं ममायन्ति,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वधं ते समनुजानन्ति,
इत्युक्तं महर्षिणा ॥४८॥

४८—जो नित्याग्र (आदरपूर्वक निमन्त्रित कर प्रतिदिन दिया जाने वाला) क्रीत (निर्ग्रन्थ के निमित्त खरीदा गया) औद्देशिक (निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया) और आहृत (निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया गया) आहार ग्रहण करते हैं वे प्राणि-वध का अनुमोदन करते हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।

४९—तम्हा असणपाणाइं
कीयमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो
निग्गंथा धम्मजीविणो ॥

तस्मादशनपानादि,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ।
वर्जयन्ति स्थितात्मानः,
निर्ग्रन्था धर्मजीविनः ॥४९॥

४९—इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा निर्ग्रन्थ क्रीत, औद्देशिक और आहृत अशन, पान आदि का वर्जन करते हैं।

५०—कंसेसु कंसपाएसु
कुंडमोएसु वा पुणो[७१] ।
भुंजंतो असणपाणाइं
आयारा परिभस्सइ ॥

कांस्येषु कांस्य-पात्रेषु,
'कुण्डमोदेषु' वा पुनः ।
भुञ्जानः अशनपानादि,
आचारात् परिभ्रश्यति ॥५०॥

५०—जो गृहस्थ के कांसे के प्याले[६९], कांसे के पात्र और कुण्डमोद[७०] (कांसे के बने कुण्डे के आकार वाले बर्तन) में अशन, पान आदि खाता है वह श्रमण के आचार से भ्रष्ट होता है।

५१—सीओदगसमारंभे
मत्तधोयणछड्डणे ।
जाइं छन्नंति[७३] भूयाइं
दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥

शीतोदक-समारम्भे,
अमत्र-धावनच्छर्दने ।
यानि क्षण्यन्ते भूतानि,
दृष्टस्तत्रासंयमः ॥५१॥

५१—बर्तनों को सचित्त जल[७२] से धोने में और बर्तनों के धोए हुए पानी को डालने में प्राणियों की हिंसा होती है। तीर्थङ्करों ने वहाँ असंयम देखा है[७४]।

५२—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं
सिया तत्थ न कप्पई ।
एयमट्ठं[७६] न भुंजंति
निग्गंथा गिहिभायणे ॥

पश्चात्कर्म पुरः कर्म,
स्यात्तत्र न कल्पते ।
एतदर्थं न भुञ्जते,
निर्ग्रन्था गृहिभाजने ॥५२॥

५२—गृहस्थ के बर्तन में भोजन करने में 'पश्चात् कर्म' और 'पुरः कर्म' की संभावना[७५] है। वह निर्ग्रन्थ के लिए कल्प्य नहीं है। एतदर्थ वे गृहस्थ के बर्तन में भोजन नहीं करते।

५३—आसंदीपलियंकेसु
मंचमासालएसु वा ।
अणायरियमज्जाणं
आसइत्तु सइत्तु वा ॥

आसन्दी-पर्यङ्कयोः,
मञ्चा-शालकयोर्वा ।
अनाचरितमार्याणा,
आसितु शयितु वा ॥५३॥

५३—आर्यों के लिए आसन्दी, पलंग, मञ्च और आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन[७७]) पर बैठना या सोना अनाचीर्ण है।

५४—[७८]नासंदीपलियंकेसु
न निसेज्जा न पीढए ।
निग्गंथाऽपडिलेहाए
बुद्धवुत्तमहिट्ठगा[८१] ॥

नासन्दी-पर्यङ्कयोः,
न निषद्याया न पीठके ।
निर्ग्रन्थाः अप्रतिलेख्य,
बुद्धोक्ताधिष्ठातारः ॥५४॥

५४—तीर्थङ्करों के द्वारा प्रतिपादित विधियों का आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ आसन्दी, पलंग आसन[७९] और पीढे का[८०] प्रतिलेखन किए बिना उन पर न बैठे और न सोए।

५५—गंभीरविजया एए
पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदीपलियंका य
एयमट्ठं विवज्जिया॥

गम्भीरं विच (ज) या एते,
प्राणा दुष्प्रतिलेख्यकाः।
आसन्दी-पर्यङ्कश्च,
एतदर्थं विवर्जितौ॥५५॥

५५—आसन्दी आदि गम्भीर-छिद्र वाले[८२] होते हैं। इनमें प्राणियों का प्रतिलेखन करना कठिन होता है। इसलिए आसन्दी, पलग आदि पर बैठना या सोना वर्जित किया है।

५६—गोयरग्गपविट्ठस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई।
इमेरिसमणायारं
आवज्जइ अबोहियं॥

गोचराग्र-प्रविष्टस्य,
निषद्या यस्य कल्पते।
एतादृशमनाचारं,
आपद्यते अबोधिकम्॥५६॥

५६—भिक्षा के लिए प्रविष्ट जो मुनि गृहस्थ के घर में बैठता है वह इस प्रकार के आगे कहे जाने वाले, अबोधि-कारक अनाचार को[८३] प्राप्त होता है।

५७—[८४]विवत्ती बंभचेरस्स
पाणाण अवहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ
पडिकोहो अगारिणं॥

विपत्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
प्राणानामवधे वधः।
वनीपक-प्रतिघातः,
प्रतिक्रोधोऽगारिणाम्॥५७॥

५७—गृहस्थ के घर में बैठने से ब्रह्मचर्य की विपत्ति—विनाश, प्राणियों का अवध-काल में वध, भिक्षाचरों के अन्तराय और घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है।

५८—अगुत्ती बंभचेरस्स
इत्थीओ यावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं
दूरओ परिवज्जए॥

अगुप्तिर्ब्रह्मचर्यस्य,
स्त्रीतश्चापि शङ्कनम्।
कुशीलवर्धन स्थानं,
दूरतः परिवर्जयेत्॥५८॥

५८—(स्त्रियों के मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन करने वाले और उनके शयनासनों पर बैठने वाले मुनि का) ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[८५] और स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है[८६]। यह (गृहान्तर निषद्या) कुशील वर्धक स्थान है इसलिए मुनि इसका दूर से वर्जन करे।

५९—[८७]तिण्हमन्नयरागस्स
निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स
वाहियस्स तवस्सिणो॥

त्रयाणामन्यतरकस्य,
निषद्या यस्य कल्पते।
जरयाऽभिभूतस्य,
व्याधितस्य तपस्विनः॥५९॥

५९—जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी—इन तीनों में से कोई भी साधु गृहस्थ के घर मे बैठ सकता है।

६०—वाहिओ वा अरोगी वा
सिणाणं जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो
जढो हवइ संजमो॥

व्याधितो वा अरोगी वा,
स्नान यस्तु प्रार्थयते।
व्युत्क्रान्तो भवति आचारः,
त्यक्तो भवति संयमः॥६०॥

६०—जो रोगी या नीरोग साधु स्नान करने की अभिलाषा करता है उसके आचार[८८] का उल्लघन होता है, उसका सयम परित्यक्त[८९] होता है।

६१—[९०]संतिमे सुहुमा पाणा
घसासु भिलुगासु य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो
वियडेणुप्पिलावए॥

सन्ति इमे सूक्ष्माः प्राणाः,
घसासु 'भिलुगासु' च।
याँस्तु भिक्षुःस्नान्,
विकटेन उत्प्लावयति॥६१॥

६१—यह बहुत स्पष्ट है कि पोली भूमि[९१] और दरार-युक्त भूमि में[९२] सूक्ष्म प्राणी होते हैं। प्रासुक जल से[९३] स्नान करने वाला भिक्षु भी उन्हें जल से प्लावित करता है।

६२—"तम्हा ते न सिणायंति
सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं
असिणाणमहिट्ठगा" ॥

तस्मात्ते न स्नान्ति,
शीतेन ऊष्णेन वा ।
यावज्जीव व्रतं घोर,
अस्नानाधिष्ठातारः ॥६२॥

६२—इसलिए मुनि शीत या उष्ण जल से[९५] स्नान नहीं करते। वे जीवन-पर्यन्त घोर अस्नान-व्रत का पालन करते हैं।

६३—सिणाणं अदुवा कक्कं
लोद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए
नायरंति कयाइ वि ॥

स्नानमथवा कल्कं,
लोध्र पद्मकानि च ।
गात्रस्योद्वर्त्तनार्थं,
नाचरन्ति कदाचिदपि ॥६३॥

६३—मुनि शरीर का उबटन करने के लिए गन्ध-चूर्ण[९७], कल्क[९८], लोध्र[९९], पद्म-केसर[१००] आदि का प्रयोग नहीं करते।

६४—नगिणस्स वा वि मुंडस्स
दीहरोमनहंसिणो ।
मेहुणा उवसंतस्स
किं विभूसाए कारियं ॥

नग्नस्य वापि मुण्डस्य,
दीर्घरोमनखवतः ।
मैथुनाद् उपशान्तस्य,
किं विभूषया कार्यम् ॥६४॥

६४—नग्न[१०१], मुण्ड, दीर्घ-रोम और नख वाले[१०२] तथा मैथुन से निवृत्त मुनि को विभूषा से क्या प्रयोजन है ?

६५—विभूसावत्तियं भिक्खू
कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे
जेणं पडइ दुरुत्तरं ॥

विभूषाप्रत्ययं भिक्षुः,
कर्म बध्नाति चिक्कणम् ।
स सार-सागरे घोरे,
येन पतति दुरुत्तरे ॥६५॥

६५—विभूषा के द्वारा भिक्षु चिकने (दारुण) कर्म का बन्धन करता है। उससे वह दुस्तर संसार-सागर में गिरता है।

६६—विभूसावत्तियं चेयं
बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुलं चेयं
नेयं ताईहिं सेवियं ॥

विभूषा-प्रत्यय चेतः,
बुद्धा मन्यन्ते तादृशम् ।
सावद्य-बहुल चैतत्,
नैतत् त्रायिभिः सेवितम् ॥६६॥

६६—विभूषा में प्रवृत्त मन को तीर्थङ्कर विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्म के बन्धन का हेतु मानते हैं। यह प्रचुर पापयुक्त है। यह छहकाय के त्राता मुनियों द्वारा आसेवित नहीं है।

६७—खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो
तवे रया संजम अज्जवे गुणे ।
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं
नवाइ पावाइं न ते करेंति ॥

क्षपयन्त्यात्मानममोहदर्शिनः,
तपसि रताः संयमार्जवे गुणे ।
धुन्वन्ति पापानि पुराकृतानि,
नवानि पापानि न ते कुर्वन्ति ॥६७॥

६७—अमोहदर्शी[१०३], तप, संयम और ऋजुतारूप गुण में रत मुनि शरीर को[१०४] कृश कर देते हैं। वे पुराकृत पाप का नाश करते हैं और वे नए पाप नहीं करते।

६८—सओवसंता अममा अकिंचणा
सविज्जविज्जाणुगया जससिणो ।
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा
सिद्धिं विमाणाइ उवेंति ताइणो ॥
—त्ति बेमि ॥

सदोपशान्ता अममा अकिञ्चनाः,
स्वविद्याविद्यानुगतायशस्विनः ।
ऋतु-प्रसन्ने विमल इव चन्द्रमा,
सिद्धिं विमानानि उपयान्ति त्रायिणः ।
इति ब्रवीमि ॥

६८—सदा उपशान्त, ममता-रहित, अकिञ्चन, आत्म-विद्यायुक्त[१०५] यशस्वी और त्राता मुनि शरद् ऋतु के[१०६] चन्द्रमा[१०७] की तरह मल रहित होकर सिद्धि या सौधर्मावतंसक आदि विमानों को[१०८] प्राप्त करते हैं।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ६

श्लोक १ :

१. ज्ञान (नाण [क]) :

ज्ञान सम्पन्न के चार विकल्प होते हैं—

(१) दो ज्ञान से सम्पन्न—मति और श्रुत से युक्त।

(२) तीन ज्ञान से सम्पन्न—मति, श्रुत और अवधि से युक्त अथवा मति, श्रुत और मनःपर्याय से युक्त।

(३) चार ज्ञान से सम्पन्न—मति, श्रुत, और मनःपर्याय से युक्त।

(४) एक ज्ञान से सम्पन्न—केवल ज्ञान से युक्त।

आचार्य इन चारों में से किसी भी विकल्प से सम्पन्न हो सकते हैं[1]।

२. दर्शन (दंसण [क]) :

दर्शनावरण के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होने वाला सामान्यबोध दर्शन कहलाता है[2]।

३. आगम-सम्पन्न (आगमसंपन्नं [ग]) :

आगम का अर्थ श्रुत या सूत्र है। चतुर्दश-पूर्वी, एकादश अङ्गों के अध्येता या वाचक 'आगम-सपन्न' कहलाते हैं[3]। 'ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न'—इस विशेषण से प्राप्त विज्ञान की महत्ता और 'आगम-सम्पन्न' से दूसरों को ज्ञान देने की क्षमता बताई गई है। इसलिए ये दोनों विशेषण अपना स्वतत्र अर्थ रखते हैं[4]।

४. उद्यान में (उज्जाणम्मि [घ]) :

जहाँ क्रीड़ा के लिए लोग जाते हैं वह 'उद्यान' कहलाता है। यह उद्यान शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है[5]। अभिधान चिन्तामणि के अनुसार 'उद्यान' का अर्थ क्रीड़ा-उपवन है[6]। जीवाभिगम वृत्ति के अनुसार पुष्प आदि अच्छे वृक्षों से सम्पन्न और उत्सव आदि में वहुजन उपभोग्य स्थान 'उद्यान' कहलाता है[7]। निशीथ चूर्णिकार के अनुसार उद्यान का अर्थ है—नगर के समीप का

१—अ० चू० · नाण पचविहं ·······तत्थ त दोहिं वा मतिसुत्तेहिं, तिहिं वा मतिसुतावहीहिं अहवा मतिसुयमणपज्जवेहिं, चतुहिं वा मतिसुतावहीहिं मणपज्जवेहि, एकेण वा केवलनाणसपण्ण।

२—जि० चू० पृ० २०७ : दर्शनं द्विप्रकार क्षायिक क्षायोपशमिकं च, अतस्तेन क्षायिकेण क्षायोपशमिकेन वा सपन्नम्।

३—(क) अ० चू० : आगमो सुतमेव अतो त चोद्दसपुव्वि एकारसगसुयधर वा।

(ख) जि० चू० पृ० २०८ : आगमसपन्नं नाम वायग, एक्कारसंगं च, अन्न वा ससमयपरसमयवियाणग।

(ग) हा० टी० प० १९१ : 'आगमसंपन्न' विशिष्टश्रुतधरं, वह्वागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत्।

४—अ० चू० : नाणदसणसपण्णमिति एतेण आगत विण्णाणमाहप्पं भण्णति। गणिआगमसपण्णं एतेण परग्गाहणसमत्थसंपण्ण। संपण्णमिति सद्द पुणरुत्तमवि न भवति पढमे सय सपण्ण, वितिये परसवातगमेयं।

५—हला० : उद्याति क्रीडार्थमस्मिन्।

६—अ० चि० ४.१७८ : आक्रीड' पुनरुद्यानम्।

७—जीवा० वृ० सू० २५८ : उद्यानं—पुष्पादि सद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ वहुजनोपभोग्यम्।

वह स्थान जहाँ लोग सहभोज (उद्यानिका) करते हों[1]। समवायांग वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है[2]। आज की भाषा में उद्यान को पिकनिक प्लेस (गोष्ठी-स्थल) कहा जा सकता है।

श्लोक २ :

५. राजा और उनके अमात्य (रायमच्चा क) :

चूर्णि द्वय में अमात्य का अर्थ दण्डनायक, सेनापति आदि किया है[3]। टीकाकार ने इसका अर्थ मन्त्री किया है[4]। कौटिल्य-अर्थशास्त्र की व्याख्या में 'अमात्य' को कर्मसचिव[5] और राजा का सहायक माना गया है[6]। 'अमात्य' को महामात्र और प्रधान भी कहा जाता है[7]। शुक्र ने अमात्य का मन्त्रि-परिषद् में नवा स्थान माना है[8]। उनके अनुसार देश-काल का विशेष ज्ञाता 'अमात्य' कहलाता है[9]। राज्य में कितने गाँव, कितने नगर और कितने अरण्य हैं? कितनी भूमि जोती गई? उसमें से राज्य को कितना अंश प्राप्त हो चुका है? कितना अभी प्राप्त करना है? कितनी भूमि बिना जोती रह गई? इस वर्ष कितना कर लगाया गया? भाग, दण्ड, शुल्क आदि से प्राप्तव्य धन कितना है? बिना जोती भूमि से कितना अन्न उत्पन्न हुआ? वन में कौन-कौन सी वस्तुएँ उत्पन्न हुईं? खानों में कितना धन उत्पन्न हुआ? खानों के रत्न आदि से कितनी आय हुई? कितनी भूमि स्वामी-हीन हो गई? कितनी उपज मारी गई और कितनी उपज चोरों को हाथ लगी? इन समस्त विषयों पर विचार करना और फिर उसका विवरण राजा के समक्ष प्रस्तुत करना अमात्य का कर्तव्य माना गया है[10]। इस तरह यह मन्त्रि-परिषद् का सदस्य कृषि, व्यापार आदि विभागों का अध्यक्ष रहा होगा।

१—नि० उ० ८ सू० २ चू० : उज्जाण जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति, ज वा ईसि णगरस्स उवकंठ ठियं त उज्जाणं।

२—सम० ११७ वृ० बहुजनो यत्र भोजनार्थं यातीति।

३—(क) अ० चू० : रायमच्चा अमच्चसेणावतिपभितयो।

(ख) जि० चू० पृ० २०८ : रायमच्चा अमच्चा, डंडणायगा सेणावइप्पभितयो।

४—हा० टी० प० १९१ : 'राजामात्याश्च' मन्त्रिणः।

५—कौटि० अ० ८४ पृ० ४४।

६—वही ८.४ पृ० ४१ : अमात्या नाम राज्ञः सहाया।

७—अ० चि० ३.३८४ स्वोपज्ञ वृत्ति 'महामात्राः प्रधानानि'—अमात्यपुरोहितसेनापत्यादयः।

८—शु० २.७०-७२।

९—शु० २.८६ : देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते।

१०—शु० २ १०२-५ : पुराणि च कति ग्रामा अरण्यानि च सन्ति हि।

कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्ततः कति॥
भागशेषं स्थितं कस्मिन् कत्यकृष्टा च भूमिका।
भागद्रव्यं वत्सरेऽस्मिन्शुल्कदण्डादिजं कति॥
अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसम्भवम्।
कति चाकरसजातं निधिप्राप्तं कतीति च॥
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम्।
सञ्चितन्तु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत्॥

६. क्षत्रिय (खत्तिया [ख]) :

अगस्त्यसिंह ने 'क्षत्रिय' का अर्थ 'राजन्य' आदि किया है[1]। जिनदास के अनुसार कोई राजा होता है, क्षत्रिय नहीं भी होता, कोई क्षत्रिय होता है राजा नहीं भी होता। यहाँ उन क्षत्रियों का उल्लेख है जो राजा नहीं हैं[2]। हरिभद्र ने 'क्षत्रिय' का अर्थ श्रेष्ठि आदि किया है[3]।

'राजन्य' का अर्थ राजवंशीय या सामन्त तथा श्रेष्ठि का अर्थ ग्राम-महत्तर (ग्राम-शासक) या श्री देवताङ्कित-पट्ट धारण करने वाला है।

७. आचार का विषय (आयारगोयरो [घ]) :

आचार के विषय को 'आचार-गोचर' कहते हैं[4]। स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार साधु के आचार के अङ्गभूत छः व्रतों को 'आचार-गोचर' कहा जाता है। वहाँ आचार और गोचर का अर्थ स्वतन्त्र भाव से भी किया गया है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य यह पाँच प्रकार का आचार है। गोचर का अर्थ है भिक्षाचरी[5]।

श्लोक ३ :

८. शिक्षा में (सिक्खाए [ग]) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—ग्रहण और आसेवन। सूत्र और अर्थ का अभ्यास करना ग्रहण शिक्षा है। आचार का सेवन और अनाचार का वर्जन आसेवन शिक्षा कहलाती है[6]।

श्लोक ४ :

९. (हंदि [क]) :

यह अव्यय है इसका अर्थ है उपदर्शन[7]।

१०. मोक्ष चाहने वाले (धम्मत्थकामाणं [क]) :

चारित्र आदि धर्म का प्रयोजन मोक्ष है। उसकी इच्छा करने वाले 'धर्मार्थकाम' कहलाते हैं[8]।

१—अ० चू० : 'खत्तिया' राइण्णादयो।

२—जि० चू० पृ० २०८-९ : 'खत्तिया' नाम कोइ राया भवइ ण खत्तियो अन्नो खत्तियो भवति, ण उ राया, तत्थ जे खत्तिया ण तेसिं गहणं कय।

३—हा० टी० प० १९१ : 'क्षत्रिया:' श्रेष्ठ्यादय.।

४—(क) अ० चू० : आयारस्स आयारे वा गोयरो—आयारगोयरो, गोयरो पुण विसयो।
(ख) हा० टी० प० १९१ : 'आचारगोचर' क्रियाकलापः।

५—स्था० ८ ३.६५१ प० ४१८ वृ० : 'आचार' साधुसमाचारस्तस्य गोचरो—विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः अथवा आचारश्च ज्ञानादि-विषय. पञ्चधा गोचरश्च—भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम्।

६—जि० चू० पृ० २०९ : सिक्खा दुविधा, तजहा—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य, गहणसिक्खा नाम सुत्तत्थाणं गहणं, आसेवणासिक्खा नाम जे तत्थ करणिज्जा जोगा तेसिं काएणं, सफासण, अकरणिज्जाण य वज्जणया, एताए दुविहाए सिक्खाए सुट्ठु समाउत्तो।

७—हा० टी० प० १९२ : 'हंदि' त्ति हन्दीत्युपप्रदर्शने।

८—हा० टी० प० १९२ : धर्म'—चारित्रधर्मादिस्तस्यार्थ'—प्रयोजन मोक्षस्तं कामयन्ति—इच्छन्तीति विशुद्धविहितानुष्ठानकरणेनेति धर्मार्थकामा—मुमुक्षवस्तेषाम्।

श्लोक ६ :

११. बाल, वृद्ध (सखुड्डगवियत्ताणं क) :

खुड्डग (क्षुद्रक) का अर्थ बाल और वियत्त (व्यक्त) का अर्थ वृद्ध है। 'सखुड्डगवियत्त' का शब्दार्थ है—सबालवृद्ध[1]।

१२. अखण्ड और अस्फुटित (अखंडफुडिया ग) :

टीकाकार के अनुसार आंशिक-विराधना न करना 'अखण्ड' और पूर्णतः विराधना न करना 'अस्फुटित' कहलाता है[2]। अगस्त्य-सिंह स्थविर ने वैकल्पिक रूप से 'खण्डफुल्ल' शब्द मान कर उसका अर्थ विकल किया है[3]। अखण्डफुल्ल अर्थात् अविकल—सम्पूर्ण।

श्लोक ७ :

१३. आचार के अठारह स्थान हैं (दस अट्ठ य ठाणाइं क) :

आचार के अठारह स्थान निम्नोक्त हैं :

१ अहिंसा	१०. वायुकाय-संयम
२. सत्य	११. वनस्पतिकाय-संयम
३. अचौर्य	१२. त्रसकाय संयम
४. ब्रह्मचर्य	१३ अकल्प वर्जन
५. अपरिग्रह	१४ गृहि-भाजन-वर्जन
६. रात्रि-भोजन त्याग	१५. पर्यंक-वर्जन
७. पृथ्वीकाय-संयम	१६ गृहान्तर निषद्या-वर्जन
८. अपकाय-संयम	१७. स्नान-वर्जन
९. तेजस्काय-संयम	१८. विभूषा-वर्जन

१४. श्लोक ७ :

कुछ प्रतियों में आठवाँ श्लोक 'वयछक्कं' मूल में लिखा हुआ है किन्तु यह दशवैकालिक की निर्युक्ति का श्लोक है। चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे निर्युक्ति के श्लोक के रूप में अपनी व्याख्या में स्थान दिया है[4]।

हरिभद्रसूरि भी इन दोनों निर्युक्ति-गाथाओं को उद्धृत करते हैं और प्रस्तुत गाथा के पूर्व लिखते हैं :

"कानि पुनस्तानि स्थानानीत्याह निर्युक्तिकारः—
वयछक्क कायछक्क, अकप्पो गिहिभायणं।
पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जणं" ॥ (हा० टी० प० १९६)

१—(क) अ० चू० : खुड्डगो—बालो, वियत्तो—व्यक्त इति सखुड्डेहिं वियत्ता सखुड्डगवियत्ता, तेसिं।
(ख) जि० चू० पृ० २१६ सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा, वियत्ता नाम महल्ला, तेसिं 'सखुड्डगवियत्ताणं' बालवुड्ढाणंति वुत्तं भवइ।
(ग) हा० टी० प० १९५ : सह क्षुल्लकैः—द्रव्यभावबालैर्ये वर्त्तते ते व्यक्ता—द्रव्यभाववृद्धास्तेषां सक्षुल्लकव्यक्तानां, सबालवृद्धानाम्।

२—हा० टी० प० १९५-९६ : अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन अस्फुटिता सर्वविराधनापरित्यागेन।

३—अ० चू० : 'खण्डा' विकला, फुल्ला-णट्ठा, अकारेण पडिसेहो उभयमणुसरति .. अहवा विकलमेव खण्डफुल्लं।

४—(क) अ० चू० : निग्गंथोभावातो भस्सति, एतस्स चेव अत्थस्स वित्थारणे इमा निज्जुत्ती—"अट्ठारस ठाणाइं" गाहा। कहा। तेसिं विवरणत्थमिमा निज्जुत्ती—"वयछक्क कायछक्क" गाहा।
(ख) जि० चू० पृ० २१६ : निग्गंथभावाओ भस्सइ (स्स) त्ति, एस चेव अत्थो छज्जीवणियनिज्जुत्तीए भण्णति त०—'अट्ठारस ठाणाइं' ॥२६॥ गाथा भाणियव्वा, कयराणि पुण अट्ठारस ठाणाइं ?, एत्थ इमाए छज्जीवणियनिज्जुत्तीए भण्णइ—'वयछक्क कायछक्कं'।

दोनों चूर्णियों में 'गिहिणिसेज्जा' ऐसा पाठ है जबकि टीका में केवल 'निसेज्जा' ही है।

कुछ प्राचीन आदर्शों में 'निर्युक्तिगाथेयम्' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया हुआ मिला है। सभव है पहले इस सकेत के साथ लिखा जाता था और बाद में मह सकेत छूट गया और वह मूल के रूप में लिखा जाने लगा।

वादिवेताल शान्तिसूरि ने इस श्लोक को शय्यभव की रचना के रूप में उद्धृत किया है[1]।

समवायाङ्ग (१८) में यह सूत्र इस प्रकार है :

"समणाए निग्गथाए सखुड्डय-विअत्ताए अट्ठारस ठाणा प० त० वयछक्क ६, कायछक्क १२, अकप्पो १३, गिहिभायण १४। पलियक १५, निसिज्जा १६ य, सिणाण १७ सोभवज्जण"॥

श्लोक ८ :

१५. सूक्ष्म रूप से (निउणं ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'निउण' शब्द 'दिट्ठा' का क्रिया विशेषण है[2]। जिनदास चूर्णि और टीकाकार के अनुसार वह 'अहिंसा' का विशेषण है[3]।

श्लोक ६ :

१६. जान या अजान में (ते जाणमजाणं वा ग) :

हिंसा दो प्रकार से होती है—जान में या अजान में। जान बूझकर हिंसा करने वालों में राग-द्वेष की प्रवृत्ति स्पष्ट होती है और अजान में हिंसा करने वालों में अनुपयोग या प्रमाद होता है[4]।

श्लोक ११ :

१७. क्रोध से (कोहा ख) :

मृपावाद के छः कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, भय और हास्य। दूसरे महाव्रत में क्रोध, लोभ, हास्य, और भय इन चारों का निर्देश है[5]। यहाँ क्रोध और भय इन दो कारणों का उल्लेख है। चूर्णि और टीका ने इनको सांकेतिक मानकर सभी कारणों को समझ लेने का सकेत दिया है।

१—उत्त० बृ० वृ० पृ० २० : शय्यम्भवप्रणीताचारकथायामपि "वयछक्ककायछक्क" मित्यादिनाऽऽचारप्रक्रमेऽप्यनाचारवचनम्।

२—अ० चू० : निपुण—सव्वपाकार सव्वसत्तगता इति।

३—(क) जि० चू० पृ० २१७ : 'निउणा' नाम सव्वजीवाण, सव्वे वाहि अणववाएण, जे ण उद्देसियादीणि भुजंति ते तहेव हिंसगा भवन्ति, जीवाजीवेहिं सजमोत्ति सव्वजीवेसु अविसेसेण सजमो जम्हा अओ अहिंसा जिणसासणे निउणा, ण अण्णत्थ।

(ख) हा० टी० प० १६६ : 'निपुणा' आधाकर्माद्यपरिभोगत कृतकारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा।

४—(क) जि० चू० पृ० २१७ : 'जाणमाणो' नाम जेसि चिंतेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ, अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेणं इंदियाइणावी पमातेण घातयति।

(ख) हा० टी० प० १६६ : तान् जानन् रागाद्यभिभूतो व्यापादनबुद्ध्या अजानन्वा प्रमादपारतन्त्र्येण।

५—जि० चू० पृ० २१८ : कोहग्गहणेण माणमायालोभावि गहिया।

१. क्रोध-हेतुक मृषावाद : जैसे—तू दास है इस प्रकार कहना।

२. मान-हेतुक मृषावाद : जैसे—अबहुश्रुत होते हुए भी अपने को बहुश्रुत कहना।

३. माया-हेतुक मृषावाद : जैसे—भिक्षाटन से जी चुराने के लिए पैर में पीड़ा है यों कहना।

४. लोभ-हेतुक मृषावाद : जैसे—सरस भोजन की प्राप्ति होते देख एषणीय नीरस को अनेषणीय कहना।

५. भय-हेतुक मृषावाद : जैसे—दोष सेवन कर प्रायश्चित्त के भय से उसे स्वीकृत न करना।

६. हास्य-हेतुक मृषावाद : कुतूहलवश बोलना[१]।

१८. पीड़ाकारक सत्य और असत्य न बोले (हिंसगं न मुसं बूया ग) :

'हिंसक' शब्द के द्वारा पर पीड़ाकारी सत्य वचन बोलने का निषेध और 'मृषा' शब्द के द्वारा सब प्रकार के मृषावाद का निषेध किया गया है[२]।

श्लोक १२ :

१९. सब साधुओं द्वारा गर्हित है (सव्वसाहूहिं गरहिओ ख) :

मृषावाद सब साधुओं द्वारा गर्हित है। इसके समर्थन में चूर्णिकार ने लिखा है कि बौद्ध आदि साधु भी मृषावाद की गर्हा करते हैं। उनके पाँच शिक्षा पदों में 'मृषावाद-परिहार' को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसका महत्त्व इसलिए है कि इसकी आराधना के बिना शेष शिक्षा-पदों की आराधना सम्भव नहीं होती।

एक श्रावक था। उसने मृषावाद को छोड़ चार अणुव्रत ग्रहण किए, मृषावाद का परित्याग नहीं किया। कुछ समय पश्चात् वह एक एक कर सभी व्रत तोड़ने लगा। एक बार उसके मित्र ने कहा—"तुम व्रतों को क्यों तोड़ते हो?" उसने उत्तर दिया—"नहीं तो, मैं व्रतों को कहाँ तोड़ता हूँ?" मित्र ने कहा—"तुम झूठ बोलते हो।" उसने कहा—"मैंने झूठ बोलने का त्याग कब किया था?" सत्य-शिक्षापद के अभाव में उसने सारे व्रत तोड़ डाले[३]।

श्लोक १३ :

२०. सजीव या निर्जीव (चित्तमंतमचित्तं क) :

जिसमें ज्ञान, दर्शन स्वभाव वाली चेतना हो उसे 'चित्तवान्' और चेतना-रहित को 'अचित्त' कहते हैं। द्विपद, चतुष्पद और

१—हा० टी० प० १९७ : क्रोधाद्वा त्वं दास इत्यादि, 'एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' मिति मानाद्वा अबहुश्रुत एवाह बहुश्रुत इत्यादि मायातो भिक्षाटनपरिजिहीर्षया पादपीडा ममेत्यादि लोभाच्छोभनतरान्नलाभे सति प्रान्तस्यैषणीयस्येऽप्यनेषणीयमिदमित्यादि, यदि वा 'भयात्' किञ्चिद्वितथं कृत्वा प्रायश्चित्तभयान्न कृतमित्यादि, एवं हास्यादिष्वपि वाच्यम्।

२—(क) अ० चू० : हिंसगं जं सच्चमवि पीडाकारि, मुसा-वितहं, तमुभयं ण बूया।

(ख) जि० चू० पृ० २१८ : 'हिंसगं' नाम जेण सच्चेण भणिएण पीडा उप्पज्जइ तं हिंसगं·····ण पस्सामित्ति, सच्चमेव तं अपि, अपि च न तथ्यवचनं सत्यमतथ्यवचनं न च, यद् भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमितरं मृषा।

३—(क) जि० चू० पृ० २१८ : जो सो मुसावाओ, एस सव्वसाहूहिं गरहिओ सक्कादिणोऽवि मुसावादं गरहंति, तत्थ सक्काण पंचण्ह सिक्खावयाणं मुसावाओ भारियतरोत्ति, एत्थ उदाहरणं एगेण उवासएण मुसावायवज्जाणि चत्तारि सिक्खावयाणि गहियाणि, तओ सो ताणि भंजिउमारद्धो, अण्णेण य भणिओ, जहा—किमेयाणि भंजसि ? तओ सो भणइ—मिच्छा, णाहं भंजामि ण मए मुसावायस्स पच्चक्खायं, तेसिंपि सव्वाहियया णिच्छिता, एतेण कारणेण तेसिंपि मुसावाओ भुज्जो सव्वसिक्खापदेहिंतो।

(ख) हा० टी० प० १९७ : सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभिः 'गर्हितो' निन्दितः, सर्वव्रतापकारित्वात् प्रतिज्ञातापालनात्।

अपद ये 'चित्तवान्' और हिरण्य आदि अचित्त हैं[१]।

२१. अल्प या वहुत (अप्पं······वहुं ख) :

अल्प और वहुत के प्रमाण और मूल्य की दृष्टि से चार विकल्प वनते हैं :

(१) प्रमाण से अल्प मूल्य से वहुत।

(२) प्रमाण से वहुत मूल्य से अल्प।

(३) प्रमाण से अल्प मूल्य से अल्प।

(४) प्रमाण से वहुत मूल्य से वहुत।

मुनि इनमें से किसी भी विकल्प वाली वस्तु को स्वामी की आज्ञा लिए विना ग्रहण न करे[२]।

२२. दन्त-शोधन (दंतसोहणं ग) :

चरक में 'दन्तशोधन' को दन्तपवन और दन्तविशोधन कहा है[३]। वृद्ध वाग्भट ने इसे दन्तधावन कहा है[४]। मिलिन्द पञ्ह में इसके स्थान में दन्तपोण और दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन में दन्तवण का प्रयोग हुआ है।

श्लोक १५ :

२३. घोर (घोरं क) :

घोर का अर्थ भयानक[५] या रौद्र है। अब्रह्मचारी के मन में दया का भाव नहीं रहता। अब्रह्मचर्य में प्रवृत्त मनुष्य के लिए ऐसा कोई भी कार्य नहीं होता जिसे वह न कह सके या कर सके। अर्थात् अब्रह्मचारी रौद्र वन जाता है। इसीलिए अब्रह्मचर्य को 'घोर' कहा गया है[६]।

२४. प्रमाद-जनक (पमायं ख) :

अब्रह्मचर्य इन्द्रिय का प्रमाद है[७]। अब्रह्मचर्य से मनुष्य प्रमत्त हो जाता है। यह सव प्रमादो का मूल है। इसमें आसक्त मनुष्य का सारा आचार और क्रिया-कलाप प्रमादमय या भूलों से परिपूर्ण वन जाता । इसलिए अब्रहाचर्य को 'प्रमाद' कहा गया है[८]।

१—जि० चू० पृ० २१८-१६ : चित्त नाम चेतणा भण्णइ, सा च चेतणा जस्स अत्थि तं चित्तमंतं भण्णइ तं दुपयं चउप्पयं अपय वा होज्जा, 'अचित्त' नाम हिरण्णादि।

२—जि० चू० पृ० २१६ : अप्पं नाम पमाणओ मुल्लओ य, वहुमवि पमाणओ मुल्लओ य।

३—च० सूत्र अ० ५.७१-७२।

४—च० पूर्वभाग पृ० ४६।

५—अ० चू० : घोर भयाणग।

६—(क) जि० चू० पृ० २१६ : घोर नाम निरणुक्कोस, कह ?, अवंभपवत्तो हि ण किंचि तं अकिच्चं जं सो न भणइ।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'घोर' रौद्र रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्।

७—अ० चू० : स एवइंदियप्पमातो।

८—(क) जि० चू० पृ० २१६ : जम्हा एतेण पमत्तो भवति अतो पमादं भणइ, त च सव्वपमादाण आदी, अहवा सव्वं चरणकरणं तम्मि वट्टमाणे पमादेतित्ति।

(ख) हा० टी० प० १६८ : 'प्रमादं' प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्।

२५. घृणा प्राप्त कराने वाला है (दुरहिट्ठियं ख) :

अब्रह्मचर्य घृणा प्राप्त कराने वाला होता है इसलिए उसे 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[१]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अब्रह्मचर्य जुगुप्सित जनों के द्वारा अधिष्ठित—आश्रित है[२]। इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि अब्रह्मचर्य जन्म-मरण की अनन्त परम्परा का हेतु है—यह जानने वाले के लिए वह सहजतया, आसेवनीय नहीं होता। इसलिए उसे सयति के लिए 'दुरधिष्ठित' कहा गया है[३]।

२६. चरित्र-भंग के स्थान से बचने वाले (भेयाययणवज्जिणो घ) :

चरित्र-भेद का आयतन (स्थान) मैथुन है। इसका वर्जन करने वाले 'भेदायतनवर्जी' कहलाते हैं[४]।

श्लोक १६ :

२७. मूल (मूलं क) :

मूल, बीज और प्रतिष्ठान—ये एकार्थक शब्द हैं[५]।

श्लोक १७ :

२८. बिडलवण (बिडं क) :

यह कृत्रिम लवण गोमूत्र आदि में पकाकर तैयार किया जाता है। अतः यह प्रासुक ही होता है[६]।

२९. सामुद्र-लवण (उब्भेइमं क) :

उद्भिज लवण दो प्रकार का होता है—

(१) समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला।

(२) खानों से निकलने वाला।

यहाँ 'सामुद्रिक' लवण का ग्रहण किया है। यह अप्रासुक होता है[७]।

१—जि० चू० पृ० २१६ : दुरहिट्ठिय नाम दुगुन्छं पावइ तमहिट्ठियतोत्ति दुरहिट्ठिय।

२—अ० चू० : 'दुरहिट्ठिय' दुगुंछियाधिट्ठित।

३—हा० टी० प० १९८ : 'दुराश्रय' दुस्सेवं विदितजिनवचनेनानन्तससारहेतुत्वात्।

४—(क) जि० चू० पृ० २१६ : भिज्जइ जेण चरित्तपाली सो भेदो तस्स भेदस्स पसूती आयतण मेहुणंति, त भेदायतणं वज्जति।

(ख) हा० टी० प० १९८ : भेद —चारित्रभेदस्तदायतन—तत्स्थानमिदमेवोक्तन्यायात्तद्वर्जिन —चारित्राविचारभीरव।

५—जि० चू० पृ० २१६ मूल नाम बीयति वा पइट्ठाणति वा मूलति वा एगट्ठा।

६—(क) अ० चू० : 'विड' ज पागजात त पासुगं।

(ख) जि० चू० पृ० २२० : बिल (ड) गोमुत्तादीहि पविऊण कित्तिमं कीरइ ... अहवा बिलग्गहणेण फासुगलोणस्स गहणं कय।

(ग) हा० टी० प० १९८ : 'विड' गोमूत्रादिपक्वम्।

७—(क) अ० चू० : 'उब्भेइमं' सामुद्दो ति लवणागारेसु समुप्पज्जति त अपासुग।

(ख) हा० टी० प० १९८ : 'उद्भेद्य' सामुद्रादि।

(ग) जि० चू० पृ० २२० . उब्भेइमग्गहणेण सामुद्दादीण गहणं कय।

३०. द्रव-गुड़ (फाणियं ख) :

अगस्त्यसिंह ने 'फाणित' का अर्थ इक्षु-विकार और हरिभद्र ने द्रव-गुड़ किया है[1]।

भावप्रकाश के अनुसार कुछ गाढ़ और बहुत तरल ऐसे पकाए हुए ईख के रस को 'फाणित' कहा जाता है[2]।

३१. संग्रह (सन्निहिं ग) :

लवण आदि वस्तुओं का संग्रह करना, उन्हें अपने पास रखना या रात को रखना 'सन्निधि' कहलाता है[3]। जो लवण आदि द्रव्य चिरकाल तक रखे जा सकते हैं उन्हें अविनाशी द्रव्य और जो दूध, दही थोड़े समय तक टिकते हैं उन्हें विनाशी द्रव्य कहा जाता है। यहाँ अविनाशी द्रव्यों के संग्रह को 'सन्निधि' कहा है[4]। निशीथ-चूर्णि के अनुसार विनाशी द्रव्य के संग्रह को 'सन्निधि' और अविनाशी द्रव्य के संग्रह को 'सञ्चय' कहा जाता है[5]।

श्लोक १८ :

३२ श्लोक १८ :

व्यवहार भाष्य की टीका में आचार्य मलयगिरि ने इस श्लोक के स्थान पर दशवैकालिक का उल्लेख करते हुए जो श्लोक उद्धृत किया है, उसके प्रथम तीन चरण इससे सर्वथा भिन्न हैं।

वह इस प्रकार है—"यत् दशवैकालिके उक्तमशन पानं खादिमं तथा सचयं न कुर्यात् तथा च तद्ग्रन्थः—

असण पाणग चेव, खाइमं साइमं तहा।
जे भिक्खू सन्निहिं कुज्जा, गिही पव्वइए न से ॥" (व्य० उ० ५ गा० ११४)

३३. प्रभाव (अणुफासो क) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अनुस्पर्श' का अर्थ अनुसरण या अनुगमन किया है[6] और जिनदास महत्तर ने अनुभाव-सामर्थ्य या प्रभाव किया है[7]।

१—(क) अ० चू० : 'फाणित' उच्छुविकारो।
(ख) हा० टी० प० १९८ : फाणित द्रवगुड.।

२—शा० नि० भू० पृ० १०८४ : इक्षोरसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढोवहुद्रव.।
स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसज्ञया ॥

३—(क) जि० चू० पृ० २२० : 'सन्निधि' नाम एतेसि दव्वाण जा परिवासणा सा सन्निधी भण्णति।
(ख) हा० टी० प० १९८ : 'सन्निधि कुर्वन्ति' पर्युषितं स्थापयन्ति।

४—जि० चू० पृ० २२० : एताणि अविणासिदव्वाणि न कप्पति, किमग पुण रसादीणि विणासिदव्वाणित्ति ?, एवमादि सण्णिधि न ते साधवो भगवन्तो णायपुत्तस्स वयणे रया इच्छंति।

५—नि० चू० उ० ८. सू० १७. चू० : सन्निही णाम दधिखीरादि ज विणासि दव्वं, ज पुण घयतेल्ल-वत्थ-पत्त-गुल-खंड-सक्कराइयं अविणासि दव्व, चिरमवि अच्छइ ण विणस्सइ, सो सचतो।

६—अ० चू० : अणुसरणमणुगमो अणुफासो।

७—जि० चू० पृ० २२० : अणुफासो नाम अणुभावो भण्णति।

३४. मैं मानता हूँ (मन्ने ख) :

यह क्रिया है। अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इसका कर्ता शय्यम्भव है[१]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका कर्ता तीर्थङ्कर है[२]। हरिभद्र सूरी के अभिमत में प्राकृत-शैली के अनुसार इसका पुरुष परिवर्तन होता है[३]।

३५. (अन्नयरामवि ख) :

चूर्णिकार के अनुसार यह सामान्य निर्देश है इसलिए इसका लिङ्ग नपुंसक है[४]। हरिभद्र सूरी ने इसे सन्निधि का विशेषण माना है[५]। किन्तु 'सन्निधि' पुलिङ्ग-शब्द है इसलिए यह चिन्तनीय है।

३६. (सिया ग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने सिया को क्रिया माना है[६]। जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरी ने 'सिया' का अर्थ कदाचित् किया है[७]।

३७. (सन्निहीकामे ग) :

चूर्णिकारों ने 'सन्निधिकाम' यह एक शब्द माना है[८]। टीकाकार ने 'कामे' को क्रिया माना है। उनके अनुसार 'सन्निहिं कामे' ऐसा पाठ बनता है[९]।

श्लोक १९ :

३८. संयम और लज्जा की रक्षा के लिए (संजमलज्जट्ठा ग) :

यहाँ वस्त्र, पात्र, कम्बल और पाद-प्रोञ्छन रखने के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—

(१) संयम के निमित्त।

(२) लज्जा के निमित्त।

शीतकाल में शीत से पीड़ित होकर मुनि अग्नि सेवन न करे, उसके लिए वस्त्र रखने का विधान किया गया है।

पात्र के अभाव में संसक्त और परिशाटन दोष उत्पन्न होते हैं इसलिए पात्र रखने का विधान किया गया है।

१—अ० चू० : सगग पिता गणहरो सय वा अत्या अप्पणो अभिप्पायमाह—मएणे—एव जाणामि।

२—जि० चू० पृ० २२० मन्ने णाम तित्थकरो वा एवमाह।

३—हा टी० प० १९८ : 'मन्ये' मन्यन्ते, प्राकृतशैल्या एकवचनम्, एवमाहुस्तीर्थङ्करगणधरा।

४—(क) अ० चू० : अण्णतरामिति—विडातीण किंचि जहा अण्णं निहिज्जति।

(ख) जि० चू० पृ० २२० : अन्नतर णाम तिलतुसतिभागमेत्तमवि, अहवा अन्नयरं असणादी।

५—हा० टी० प० १९८ : 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि।

६—अ० चू० : 'सियादिति भवेत् भवेज्ज'।

७—(क) जि० चू० पृ० २२० : 'सिया कदापि'।

(ख) हा० टी० प० १९८ : 'यः स्यात्' यः कदाचित्।

८—(क) अ० चू० : सण्णिधी भणितो, त कामयतीति—सण्णिधी—कामो।

(ख) जि० चू० पृ० २२० : सण्णिहिं कामयतीति सन्निहिकामी।

९—हा० टी० प० १९८ : 'अन्यतरामपि' स्तोकामपि 'यः स्यात्' यः कदाचित्सन्निधिं 'कामयते' सेवते।

पानी के जीवों की रक्षा के लिए कम्बल (वर्षाकल्प) रखने का विधान किया गया है।

लज्जा के निमित्त 'चोलपट्टक' रखने का विधान है।

व्याख्याकारों ने संयम और लज्जा को अभिन्न भी माना है। वहाँ 'संयम की रक्षा के लिए'—यह एक ही प्रयोजन फलित होता है[1]।

३९. रखते और उनका उपयोग करते हैं (धारंति परिहरंति घ) :

प्रयोजन होने पर इसका मैं उपयोग करूँगा—इस दृष्टि से रखना 'धारण' कहलाता है और वस्त्र आदि का स्वयं परिभोग करना 'परिहरण' कहलाता है[2]। यह सामयिक धातु का प्रयोग है। इस धातु का लौकिक अर्थ छोड़ना होता है और सामयिक अर्थ है पहनना[3]।

श्लोक २० :

४०. महावीर ने (नायपुत्तेण ख) :

भगवान् महावीर का एक नाम 'नायपुत्त'—ज्ञातपुत्र भी है। यह नाम पितृवंश से संबन्धित है। भगवान् के लिए ज्ञात, ज्ञातकुल-निर्वृत्त और ज्ञातकुलचन्द्र आदि विशेषण भी प्रयुक्त हुए हैं। भगवान् के पिता सिद्धार्थ को 'ज्ञातकुल निर्वृत्त' नाम से सम्बोधित किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि भगवान् के कुल का नाम 'ज्ञात' था। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर के अनुसार 'ज्ञात' क्षत्रियों का एक कुल या जाति है। 'ज्ञात' शब्द से वे ज्ञातकुल-उत्पन्न सिद्धार्थ का ग्रहण करते हैं और 'ज्ञातपुत्र' से भगवान् का[4]।

आचाराङ्ग (२.१५) में भगवान् के पिता को काश्यपगोत्री कहा गया है। भगवान् इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे यह भी माना जाता है[5]। भगवान् ऋषभ इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। इसलिए वे आदि-काश्यप कहलाते हैं। भगवान् महावीर भी इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे। ज्ञात या ज्ञातृ काश्यपगोत्रियों का अवान्तर भेद रहा होगा।

हरिभद्रसूरि ने 'ज्ञात' का अर्थ उदार-क्षत्रिय सिद्धार्थ किया है[6]। बौद्ध-साहित्य में भगवान् के लिए 'नातपुत्त' शब्द का अनेक स्थलों में प्रयोग हुआ है[7]। प्रो० वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि लिच्छवियों की एक शाखा या वंश का नाम 'नाय' (नात)

१—(क) जि० चू० पृ० २२१ : एतेसिं वत्थादीणं ज धारण तमवि, संजमनिमित्तं वा वत्थस्स गहणं कीरइ, मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादि दोसा भविस्संति, पाताभावेऽवि ससत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्संति, कम्बल वासकप्पादी तं उदगादिरक्खणट्ठा घेप्पति, लज्जानिमित्त चोलपट्टको घेप्पति, अहवा संजमो चेव लज्जा, भणित च—"इह तो लज्जा नाम लज्जामतो भएणइ, सजममंतोत्ति वुत्तं भवति", एताणि वत्थादीणि संजमलज्जट्ठा।

(ख) हा० टी० प० १९९ : 'संयमलज्जार्थ' मिति संयमार्थं पात्रादि, तद्व्यतिरेकेण पुरुषमात्रेण गृहस्थभाजने सति संयमपालनाभावात्, लज्जार्थं वस्त्र, तद्व्यतिरेकेणाङ्गनादौ विशिष्ट श्रुतपरिणत्यादिरहितस्य निर्लज्जतोपपत्तेः, अथवा संयम एव लज्जा तदर्थं सर्वमेतद्-वस्त्रादि धारयंति।

२—जि० चू० पृ० २२१ : तत्थ धारणा णाम संपयोअणत्थं धारिज्जइ, जहा उप्पएणे पयोयणे एतं परिभुजिस्सामित्ति, एसा धारणा, परिहरणा नाम जा सयं वत्थादी परिभुजइ सा परिहरणा भएणइ।

३—हा० टी० प० १९९ : 'परिहरन्ति च—'परिभुञ्जते च'।

४—(क) अ० चू० : णायकुलप्पभूयसिद्धत्थखत्तियसुतेण।

(ख) जि० चू० पृ० २२१ : णाया नाम खत्तियाणं जातिविसेसो, तम्मि संभूओ सिद्धत्थो, तस्स पुत्तो णायपुत्तो।

५—अ० चि० १.३५ : इक्ष्वाकुकुलसम्भूताः स्याद्द्वाविंशतिरर्हताम्।

६—हा० टी० प० १९९ : ज्ञात—उदारक्षत्रियः सिद्धार्थः तत्पुत्रेण।

७—(क) म० नि० १.२.४ ; ३ १.४।

(ख) स० नि० ३.१.१।

था। 'नाय' शब्द का अर्थ सम्भवतः ज्ञाति (राजा के ज्ञातिजन) है[१]।

श्वेताम्बर अङ्ग आगमों में 'नाय धम्म कहा' एक आगम है। यहाँ 'नाय' शब्द भगवान् के नाम का सूचक है। दिगम्बर-परम्परा में 'नाय धम्मकहा' को 'नाथ धर्म-कथा' कहा गया है[२]। महाकवि धनञ्जय ने भगवान् का वंश 'नाथ' माना है। इसलिए भगवान् को 'नाथान्वय' नाम से सम्बोधित किया है[३]। नाथ 'नाय' या 'नात' का ही अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है।

४१. वस्त्र आदि को परिग्रह नहीं कहा है (न सो परिग्गहो वुत्तो क) :

मुनि के वस्त्रों के सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं। पहली परम्परा मुनि को वस्त्र धारण करने का निषेध करती है और दूसरी उसका विधान। पहली परम्परा के अनुयायी अपने को दिगम्बर कहते हैं और दूसरी के अनुयायी श्वेताम्बर। दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दोनों शब्द अशास्त्रीय हैं जबकि दोनों के विचार शास्त्र-सम्मत हैं। भाषा और रचना शैली की दृष्टि से यह प्रमाणित हो चुका है कि उपलब्ध जैन-साहित्य में आचाराङ्ग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) प्राचीनतम आगम है। उसमें मुनि को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित, आदि कहा है[४]। अन्य आगमों में मुनि की अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है[५], जिनकल्पी मुनि के लिए शीत ऋतु बीत जाने पर अचेल रहने का भी विधान है[६]। वास्तव में वस्त्र रखना या न रखना कोई विवाद का विषय नहीं है। परिस्थिति-भेद से सचेलता और अचेलता दोनों अनुज्ञात हैं। अचेल को उत्कर्ष-भाव और सचेल को अपकर्ष-भाव नहीं लाना चाहिए और न आपस में एक दूसरे की अवज्ञा करनी चाहिए—

जोऽवि दुवत्थतिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वेऽपि य ते जिणाणाए ॥१॥
जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधिइयादिकारणं पप्प।
णऽवमन्नइ ण य हीण, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥२॥
सव्वेऽवि जिणाणाए, जहाविहिं कम्मखवणअट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणई एवं ॥३॥ (आचा० वृ० १.६.३. सु० १८२)

इन गाथाओं में समन्वय की भाषा का ज्वलन्त रूप है। आचार्य उमास्वाति (या उमास्वामी) को दोनों सम्प्रदाय अपना-अपना आचार्य मान रहे हैं। उन्होंने धर्म-देह रक्षा के निमित्त अनुज्ञात पिण्ड, शय्या आदि के साथ वस्त्रैषणा का उल्लेख किया है[७]। तथा

१—जै० भा० वर्ष २ अङ्क १४ १५ पृ० २७६ : जेकोबी ने 'नाय' शब्द का संस्कृत प्रतिशब्द 'ज्ञात्रिक' व्यवहार किया है। परन्तु अर्थ-निर्णय की चेष्टा नहीं की है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस वंश की पुत्र या कन्या का राजकन्या या राजपुत्र के साथ विवाह हो सकता था उसी वंश को 'ज्ञातिवंश' कहा गया है।

२—ज० ध० भाग १ पृ० १२५ : णाह धम्मकहा णाम अंग तित्थयराण धम्मकहाण सरुव वण्णेदि।

३—ध० ना० ११५ : सन्मतिर्महतिर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥

४—आचा० २ ५ १.३६४ : जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे से एगं वत्थं धारिज्जा नो बीयं।

५—उत्त० २.१३ :
एगयाऽचेलए होइ सचेले आवि एगया।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए ॥

६—आचा० १ ७ ४ २०६ : उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।

७—प्र० प्र० १३८ :
पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥

कल्प्याकल्प्य की समीक्षा में भी वस्त्र का उल्लेख किया है[1]। इसी प्रकार एषणा-समिति की व्याख्या में वस्त्र का उल्लेख है[2]। स्थानाङ्ग में पाँच कारणों से अचेलता को प्रशस्त बतलाया है। वहाँ चौथे कारण को तप और पाँचवें कारण को महान् इन्द्रिय-निग्रह कहा है[3]। संक्षेप में यही पर्याप्त होगा कि अवस्था-भेद के अनुसार अचेलता और सचेलता दोनों विहित हैं। परिग्रह का प्रश्न शेष रहता है। शब्द की दृष्टि से विचार किया जाए तो लेना मात्र परिग्रह है। स्थानाङ्ग में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं—शरीर, कर्म-पुद्गल और भाण्डोपकरण[4]। बन्धन की दृष्टि से विचार करने पर परिग्रह की परिभाषा मूर्च्छा है। सूत्रकार ने इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया है। जीवन-यापन के लिए आवश्यक वस्त्र, पात्र आदि रखे जाते हैं वे संयम-साधना में उपकारी होते हैं इसलिए धर्मोपकरण कहलाते हैं। वे परिग्रह नहीं हैं। उनके धारण करने का हेतु मूर्च्छा नहीं है। सूत्रकार ने उनके रखने के दो प्रयोजन बतलाए हैं—संयम और लज्जा। स्थानाङ्ग में प्रयोजन का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार वस्त्र-धारण के तीन प्रयोजन हैं—लज्जा, जुगुप्सा-निवारण और परीषह—शीत, उष्ण और मच्छर आदि से बचाव करना[5]। प्रश्न व्याकरण में संयम के उपग्रह तथा वात, आतप, दंश और मच्छर से बचने के लिए उपधि रखने का विधान किया है[6]।

४२. महर्षि (गणधर) ने (महेसिणा [घ]) :

जिनदास महत्तर ने 'महर्षि' का अर्थ गणधर या मनक के पिता शय्यंभव किया है और हरिभद्रसूरि ने केवल 'गणधर किया है[7]।

श्लोक २१ :

४३. श्लोक २१ :

इस श्लोक का अर्थ दोनों चूर्णिकार एक प्रकार का करते हैं[8]। अनुवाद उन्हीं की व्याख्या के अनुसार किया गया है। टीकाकार का अर्थ इनसे भिन्न है। वे बुद्ध का अर्थ जिन नहीं, किन्तु तत्त्व-वित् साधु करते हैं[9]। चूर्णिकारों ने 'परिग्गहे' को क्रिया माना है[10]। टीकाकार ने 'परिग्गहे' को सप्तमी विभक्ति माना है[11]। सर्वत्र का अर्थ चूर्णि में अतीत-अनागत-काल और सर्व भूमि किया

१—प्र० प्र० १४५ :

किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्य स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्डः शय्या वस्त्रं पात्रं वा भैषजाद्य वा॥

२—त० भा० ६ ५ : अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनम्—एषणा-समिति'।

३—स्था० ५.३.४५५ : पचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवति, तजहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिते, तवे अणुन्नाते, विउले इंदियनिग्गहे।

४—स्था० ३.१.१३८ : तिविहे परिग्गहे पं० त० कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे।

५—स्था० ३.३.१७१ : तिहि ठाणेहिं वत्थ धरेज्जा, तजहा हिरिपत्तिय दुगुछापत्तित, परीसहवत्तियं।

६—प्रश्न (सवरद्वार १) : एयंपि सजमस्स उवग्गहणट्ठयाए वातातवदसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहितं परिहरियव्व।'

७—(क) जि० चू० पृ० २२१ : गणधरा मणगपिया वा एवमाहुः।
(ख) हा० टी० प० १६६ : 'महर्षिणा' गणधरेण, सूत्रे सेज्जंभव आहेति।

८—अ० चू० · सव्वत्थ उवधिणा सह सोपकरणा, बुद्धा-जिणा। स्वाभाविकमिद जिणलिंगमिति सव्वे वि एगदूसेण निग्गता पत्तेयंबुद्ध-जिणकप्पियादयोवि रयहरणमुहणत गतिणा सह संजमसारक्खणत्थे परिग्गहे ण मुच्छानिमित्ते। तमि विज्जमाणे वि भगवतो मुच्छं न गच्छतीति अपरिग्गाहा। कह च ते भगवतो उवकरणे मुच्छ काहिति जे जयत्थमुवकरणं धारिज्जति तमि वि अप्पणो वि देहमि णाचरति ममाइत।

९—हा० टी० प० १६६ : 'बुद्धा' यथावद्विदितवस्तुतत्त्वाः साधवः।

१०—जि० चू० पृ० २२२ : 'संरक्खण परिग्गहो' नाम संजमरक्खणणिमित्तं परिगिण्हंति।

११—हा० टी० प० १६६ : 'सरक्षणपरिग्रह' इति सरक्षणाय षण्णां जीवनिकायानां वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योग।

है[1]। टीकाकार ने सर्वत्र का अभिप्राय उचित क्षेत्र और काल माना है[2]। टीका के अनुसार इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—"उचित क्षेत्र और काल में आगमोक्त उपधि-सहित, तत्वज्ञ मुनि छह जीवनिकाय के संरक्षण के लिए वस्त्र आदि का परिग्रहण होने पर भी उसमें ममत्व नहीं करते। और तो क्या ? वे अपने देह पर भी ममत्व नहीं करते।"

श्लोक २२ :

४४. आश्चर्य है......नित्य तपः कर्म (अहो निच्चं तवोकम्मं क) :

जिनदास ने अहो शब्द के तीन अर्थ किए हैं :

(१) दीनभाव।
(२) विस्मय।
(३) आमंत्रण।

उनके अनुसार 'अहं' शब्द यहाँ विस्मय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[3]। टीकाकार का भी यही अभिमत है[4]।

आर्य-शय्यंभव या गणधरों ने इस 'नित्य तपः कर्म' पर आश्चर्य अभिव्यक्त किया है[5]। तपः कर्म का अर्थ तप का अनुष्ठान है[6]।

४५. (जा य ग) :

दोनों चूर्णियों में[7] 'जाय' (या च) और टीका में 'जाव' (यावत्) पाठ मानकर व्याख्या की है[8]।

४६. संयम के अनुकूल वृत्ति (लज्जासमा वित्ती ग) :

यह वृत्ति का विशेषण है। लज्जा का अर्थ है संयम। मुनि की वृत्ति—जीविका संयम के अनुरूप या अविरोधी होती है इसलिए उसे "लज्जासमा" कहा गया है[9]।

४७. एक वार भोजन (एगभत्तं च भोयणं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'एक-भक्त-भोजन' का अर्थ एक वार खाना अथवा राग-द्वेष रहित भाव से खाना किया है[10]। उक्त वाक्य-

१—जि० चू० पृ० २२१ : सव्वेसु अतीताणागतेसु सव्वभूमिएसुत्ति।
२—हा० टी० प० १९९ : 'सर्वत्र' उचिते क्षेत्रे काले च।
३—जि० चू० पृ० २२२ : अहो सद्दो तिसु अत्थेसु वट्टइ, तं जहा—दीणभावे विम्हए आमंतणे, तत्थ दीणभावे जहा अहो अहमिति, जहा विम्हए अहो सोहणं एवमादी, आमंतणे जहा आगच्छ अहो देवदत्तात्ति एवमादि, एत्थ पुण अहो सद्दो विम्हए दट्ठव्वो।
४—हा० टी० प० १९९ : अहो—विस्मये।
५—अ० चू० : अज्जसेज्जभवो गणहरा वा एवमाहसु—अहो निच्च तवोकम्म।
६—(क) अ० चू० : 'तवोकम्म' तवोकरणं।
(ख) जि० चू० पृ० २२२ : णिच्च नाम नियय, 'तवोकम्म' तवो कीरमाणो।
(ग) हा० टी० प० १९९ : नित्य नामापायाभावेन तदन्यगुणवृद्धिसम्भवात्प्रतिपात्येव तपःकर्म—तपोऽनुष्ठानम्।
७—(क) अ० चू० : जा इति वित्ती उद्देसवयणं चकारो समुच्चये।
(ख) जि० चू० पृ० २२२ : 'जा' इति अविसेसिया, चकारो सावेक्खे।
८—हा० टी० प० १९९ : यावत्तुल्यासना।
९—(क) अ० चू० : लज्जा-सजमो। लज्जासमा सजमाणुविरोहेण।
(ख) हा० टी० प० १९९ : लज्जा—संयमस्तेन समा—सदृशी तुल्या संयमाविरोधिनीत्यर्थः।
१०—अ० चू० : एगवार भोयणं एगस्स वा राग-दोस रहियस्स भोयणं।

रचना में यह प्रश्न शेष रहता है कि एक वार कब खाया जाए ? इस प्रश्न का समाधान दिवस शब्द का प्रयोग कर जिनदास महत्तर कर देते हैं[1] । टीकाकार द्रव्य-भाव की योजना के साथ चूर्णिकार के मत का ही समर्थन करते हैं[2] ।

काल के दो विभाग हैं—दिन और रात। रात्रि-भोजन श्रमण के लिए सर्वथा निषिद्ध है। इसीलिये इसे सतत तप कहा गया है। शेष रहा दिवस-भोजन। प्रश्न यह है कि दिवस-भोजन को एक-भक्त-भोजन माना जाए या दिन में एक वार खाने को ? चूर्णिकार और टीकाकार के अभिमत से दिन में एक वार खाना एक-भक्त-भोजन है। आचार्य वट्टकेर ने भी इसका अर्थ यही किया है—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु॥
(मूलाचार—मूल गुणाधिकार ३५)

'सूर्य के उदय और अस्त काल की तीन घड़ी छोड़कर या मध्यकाल में एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त या तीन मुहूर्त्त काल में एक वार भोजन करना, यह एक-भक्त-मूल मूल-गुण है।'

स्कन्दपुराण को भी इसका यही अर्थ मान्य है[3] महाभारत में वानप्रस्थ भिक्षु को एक वार भिक्षा लेनेवाला और एक वार भोजन करने वाला कहा है[4] । मनुस्मृति [5] और वशिष्ठ स्मृति[6] में भी एक वार के भोजन का उल्लेख मिलता है। उत्तराध्ययन (२७.१२) के अनुसार सामान्यतः एक वार तीसरे पहर में भोजन करने का क्रम रहा है। पर यह विशेष प्रतिज्ञा रखने वाले श्रमणों के लिए था या सबके लिए इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु आगमों के कुछ अन्य स्थलों के अध्ययन से पता चलता है कि यह क्रम सबके लिए या सब स्थितियों में नहीं रहा है। जो निर्ग्रन्थ सूर्योदय से पहले आहार लेकर सूर्योदय के बाद उसे खाता है वह 'क्षेत्राति-क्रान्त' पान-भोजन है[7] । निशीथ (१०.३१-३६) के 'उग्गयवित्तीए' और 'अणत्थमियमणसंकप्पे' इन दो शब्दों का फलित यह है कि भिक्षु का भोजन-काल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच का कोई भी काल हो सकता है। यही आशय दशवैकालिक के निम्न श्लोक में मिलता है—

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं मनसा वि न पत्थए॥ (८.२८)

तात्पर्य यह है कि यदि केवल तीसरे पहर में ही भोजन करने का सार्वदिक विधान होता तो सूर्योदय या सूर्यास्त हुआ है या नहीं—ऐसी विचिकित्सा का प्रसग ही नहीं आता और न 'क्षेत्राति-क्रान्त' पान-भोजन ही होता। पर ऐसी विचिकित्सा की स्थिति का भगवती, निशीथ और बृहत्कल्प में उल्लेख हुआ है। इससे जान पड़ता है कि भिक्षुओं के भोजन का समय प्रातःकाल और साय-काल भी रहा है। ओघनिर्युक्ति मे विशेष स्थिति में प्रातः, मध्याह्न और साय इन तीनों समयों में भोजन करने की अनुज्ञा मिलती है[8] । इस प्रकार 'एक-भक्त-भोजन' के सामान्यतः एक वार का भोजन, और विशेष परिस्थिति में दिवस-भोजन—ये दोनों अर्थ मान्य रहे हैं।

१—जि० चू० पृ० २२२ : एगस्स रागदोसरहियस्स भोअण अहवा इक्कवार दिवसओ भोयणंति।
२—हा० टी० प० १९६ : द्रव्यत एकम्—एकसख्यानुगत, भावत एकं—कर्मबन्धाभावादद्वितीय, तद्दिवस एव रागादिरहितस्य अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति।
३—दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्।
एक भक्तमिति प्रोक्त, रात्रौ तन्न कदाचन॥
४—महा० शा० २४४.६ : सकृदन्ननिषेविता।
५—म० स्मृ० ६. ५५ : एककाल चरेद्भैक्षम्।
६—व० स्मृ० ३.१६८ : ब्रह्मचर्योक्तमार्गेण सकृद्भोजनमाचरेत्।
७—भग० ७.१ सू० २१ : जेण निग्गथो वा निग्गथी वा फासुएसणिज्जेणं असण वा पाणं वा खाइमं वा साइम वा अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारं आहारेति, एस ण गहणेसणा ? खेत्तातिकते पाणभोयणे।
८—ओ० नि० गा० २५० भाष्य गा० १४८-१४९।

श्लोक २४ :

४८. उदक से आर्द्र और बीजयुक्त भोजन (उदउल्लं बीयसंसत्तं क) :

'उदउल्ल' के द्वारा स्निग्ध आदि (५.१.३३-३४ के) सभी शब्दों का संग्रहण किया जा सकता है[१]।

'बीज' और 'संसक्त' शब्द की व्याख्या संयुक्त और वियुक्त दोनों रूपों में मिलती है। बीज से संसक्त ओदन आदि—यह संयुक्त व्याख्या है। 'बीज' और 'संसक्त'—किसी सजीव वस्तु से मिला हुआ कांजी आदि—यह इसकी वियुक्त व्याख्या है[२]।

४९. (महिं ख) :

यहाँ सप्तमी के स्थान में द्वितीया विभक्ति है।

श्लोक २८ :

५०. (एयं क) :

टीकाकार ने 'एय' का संस्कृत रूप 'एतत्'[३] (५.१.११), 'एन'[४] (५.२.४६), 'एत'[५] (६.२५) और 'एव'[६] (६.२८) किया है। यद्यपि इसके संस्कृत रूप ये सभी बन सकते हैं फिर भी अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'एव' की अपेक्षा 'एत' अधिक संगत है। यह 'दोष' शब्द का विशेषण है।

५१. समारम्भ (समारंभं ग) :

समारंभ का अर्थ आलेखन आदि किया है[७]। आलेखन आदि की जानकारी के लिए देखिए टिप्पणी सं० ७२-७३ (४.१८) पृ० १६१-६२।

श्लोक ३२ :

५२. जाततेज (जायतेयं क) :

जो जन्म-काल से ही तेजस्वी हो वह 'जाततेज' कहलाता है। सूर्य 'जाततेज' नहीं होता। वह उदय काल में शान्त और मध्याह्न में तीव्र होता है[८]। स्वर्ण परिकर्म से तेजस्वी बनता है इसलिए वह 'जाततेज' नहीं कहलाता। जो परिकर्म के बिना उत्पत्ति के साथ-साथ ही तेजस्वी हो उसे 'जाततेज' कहा जाता है[९]। अग्नि उत्पत्ति के साथ ही तेजस्वी होती है। इसीलिए उसे 'जाततेज' कहा गया है।

१—हा० टी० प० २००. उदकार्द्रं पूर्ववदेकग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्सस्निग्धादिपरिग्रहः।

२—हा० टी० प० २००. 'बीजसंसक्तं' बीजैः संसक्तं—मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते, अथवा बीजानि पृथग्भूतान्येव, संसक्तं चारनालाद्यपरेणेति।

३—हा० टी० प० १६४ : 'तम्हा' एअ विआणित्ता—तस्मादेतत् विज्ञाय।

४—हा० टी० प० १९० : एअं च दोसं दट्ठूण—एनं च दोषम्—अनन्तरोदितम्।

५—हा० टी० प० २०० : एअं च दोसं दट्ठूण—'एतं च' अनन्तरोदितम्।

६—हा० टी० प० २०० : तम्हा एअ वियाणित्ता—तस्मादेव विज्ञाय।

७—हा० टी० प० २००. समारम्भमालेखनादि।

८—अ० चू० : जात एव जम्मकाल एव तेजस्सी, ण तहा आदिच्चो उदये सोमो मज्झे तिव्वो।

९—जि० चू० पृ० २२४ : जायतेजो जायतं तेजमुप्पत्तिसमकमेव जस्स सो जायतेयो भवति, जहा सुवण्णादीण परिकम्मणाविसेसेण तेयाभिसवधो भवति, ण तहा जायतेयस्स।

५३. अग्नि (पावगं ख) :

लौकिक मान्यता के अनुसार जो हुत किया जाता है वह देवताओं के पास पहुँच जाता है इसलिए वह 'पावग' (प्रापक) कहलाता है। जैन दृष्टि के अनुसार 'पावक' का कोई विशेष अर्थ नहीं है। जो जलाता है वह 'पावक' है[1]। यह अग्नि का पर्यायवाची नाम है और 'जाततेज' इसका विशेषण है। टीकाकार के अनुसार 'पावग' का सस्कृत रूप 'पापक' और उसका अर्थ अशुभ है। वे 'जाततेज' को अग्नि का पर्यायवाची नाम और 'पापक' को उसका विशेषण मानते हैं[2]।

५४. दूसरे शस्त्रों से तीक्ष्ण शस्त्र (तिक्खमन्नयरं सत्थं ग) :

जिससे शासन किया जाए उसे शस्त्र कहते हैं। कुछ एक शस्त्र एक धार, दो धार, तीन धार, चार धार और पाँच धार वाले होते हैं। किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सव तरफ से धार वाला शस्त्र है। एक धार वाले परशु, दो धार वाले शलाका या एक प्रकार का वाण, तीन धार वाली तलवार, चार धार वाले चतुष्कर्ण और पाँच धार वाले अजानुफल होते हैं। इन सव शस्त्रो में अग्नि जैसा कोई तीक्ष्ण शस्त्र नहीं है[3]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'तिक्खमन्नयरा सत्था' ऐसा पाठ होना चाहिए। इसमे व्याख्या में भी वड़ी सरलता होती है। 'तिक्खमन्नयरा सत्था' अर्थात् अन्यतर शस्त्रों से तीक्ष्ण।

'तिक्खमन्नयर सत्थ' पाठ मान कर जो व्याख्या हुई है वह कुछ जटिल वन पडी है—'तिक्खमन्नयरं सत्थ' अर्थात् अन्यतर शस्त्र—सवसे तीक्ष्ण शस्त्र अथवा सर्वतोधार[4] शस्त्र। अन्यतर का अर्थ प्रधान है[5]।

५५. सब ओर से दुराश्रय है (सव्वओ वि दुरासयं घ) :

अग्नि सर्वतोधार है इसीलिए उसे सर्वतो दुराश्रय कहा गया है। इसे अपने आश्रित करना दुष्कर है[6]। इसकी दुराश्रयता का वर्णन ३३वें श्लोक में है।

श्लोक ३३ :

५६. विदिशाओं में (अणुदिसां ख) :

एक दिग् से दूमरी दिग् के अन्तरित आकाश को अनुदिशा या विदिशा कहते हैं[7]। यहाँ सप्तमी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है[8]।

१—(क) अ० चू० · पावग—हव्व, सुराण पावयतीति पावक'—एव लोइया भणति। वय पुण अविसेसेण उ हणइति पावक तं पावकम्।
(ख) जि० चू० पृ० २२४ · लोइयाण पुण जं हूयइ त देवसगास (पावइ) अओ पावगो भण्णइ।

२—हा० टी० प० २०१ : जाततेजा—अग्नि त जाततेजस नेच्छन्ति मन प्रभृतिभिरपि 'पापक' पाप एव पापकस्तं, प्रभूतसत्त्वापकारित्वेनाशुभम्।

३—(क) अ० चू० : 'त सत्थ एकधार ईलिमादि, दुधार कणयो, तिधारो तरवारी, चउधार चउकण्णओ सव्वओ धारं गहण विरहित चक्क अग्गी समततो सव्वतोधार एवमाणतरातो सत्यतो तिक्खयाए सव्वतो धारता'।
(ख) जि० चू० पृ० २२४ : सासिज्जइ जेण त सत्थ, किंचि एगधार, दुधार, तिधार, चउधार, पचधार, सव्वतोधार नत्थि मोत्तूमगणिमेग, तत्थ एगधार परसु, दुधार कणयो, तिधार असि, चउधार तिपडतो कणीयो, पचधारं अजाणुफल, सव्वओ धार अग्गी, एतेहि एगधारदुधारतिधारचउधारपचधारेहि सत्थेहि अण्ण नत्थि सत्थ अगणिसत्थाओ तिक्खतरमिति।

४—हा टी० प० २०१ : 'तीक्ष्ण' छेदकरणात्मकम् 'अन्यतरत् शस्त्रं' सर्वशस्त्रम्, एकधारादिशस्त्रव्यवच्छेदेन सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भाव'।

५—अ० चू० . अण्णतराओत्ति पधाणाओ।

६—(क) जि० चू० पृ० २२४ : सव्वओवि दुरासय नाम एत सत्थ सव्वतोधारत्तणेण दुक्खमाश्रयत इति दुराश्रय।
(ख) हा० टी० प० २०१ · सर्वतोधारत्वेनानाश्रयणीयमिति।

७—अ० चू० : 'अणुदिसाओ'—अतरदिसाओ।

८—हा० टी० प० २०१ : 'सुपां सुपो भवन्ती' ति सप्तम्यर्थे षष्ठी।

श्लोक ३४ :

५७. अग्नि (हव्ववाहो ख) :

'हव्यवाह' अग्नि का पर्यायवाची नाम है। लौकिक मान्यता के अनुसार देव तृप्ति के लिए जो घृत आदि हव्य-द्रव्यों का वहन करे वह 'हव्यवाह' कहलाता है। चूर्णिकार ने अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जो जीवित प्राणियों के जीवन का 'वह' (संस्कृत में वध) करता है और मूर्तिमान अजीव द्रव्यों के विनाश का वहन करता है उसे 'हव्ववाह' कहा जाता है[१]।

५८. आघात है (एसमाघाओ क) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। उपचार दृष्टि से आघात का हेतु भी आघात कहलाता है[२]।

५९. प्रकाश और ताप के लिए (पईवपयावट्ठा ग) :

अग्नि समारम्भ के दो प्रयोजन बतलाए गए हैं—प्रदीप और प्रताप। अंधकार में प्रकाश के लिए अग्नि का प्रदीपन किया जाता है—दीप आदि जलाए जाते हैं। हिमकाल में तथा वर्षाकाल में लोग अग्नि-ताप लेते हैं। अग्नि ताप में वस्त्रों को सुखाते हैं और ओदन आदि पकाते हैं[३]। इन दोनों प्रयोजनों में अन्य गौण प्रयोजन स्वयं समा जाते हैं।

श्लोक ३६ :

६०. अग्नि-समारम्भ के तुल्य (तारिसं ख) :

इसके पूर्ववर्ती श्लोकों में अग्निकाय के समारम्भ का वर्णन किया गया है। यहाँ 'तारिस' शब्द के द्वारा 'अनिल-समारम्भ' की 'अग्नि-समारम्भ' से तुलना की गई है[४]।

६१. (सावज्जबहुलं) :

जिसमें बहुल (प्रचुर) सावद्य हो वह सावद्य-बहुल होता है[५]। जो अवद्य सहित होता है उसे सावद्य कहते हैं। अवद्य, वैर और पर—ये एकार्थक हैं[६]।

१—(क) अ० चू० : हव्वाणि डहणीयाणि वहति विद्धंसयति एव हव्ववाहो लोगे पुण हव्व देवाण वहति हव्ववाहो।

(ख) जि० चू० पृ० २२५ : हव्व वहतीति हव्ववाहो, तत्थ लोगसिद्धते हव्व देवाण अहावरं दिव्वा तिप्पतीति, वहतीति वाहो, वइग्गि णाम णेति, हव्व नाम ज हूयते घयादी त हव्व भण्णइ, अम्ह पुण जम्हा हव्वाणि जीवाण जीवियाणि वधति अजीवदव्वाण य मुत्तिमताण विणास वहतीति हव्ववाहो।

(ग) हा० टी० प० २०१ : 'हव्यवाह' अग्नि।

२—(क) जि० चू० पृ० २२५ : तेसि भूताणं आघादे आघातो णाम जावतो भूता अगणिसगासमल्लियंते ते सव्वे घातयतीति आघातो।

(ख) हा० टी० प० २०१ : एष 'आघात' हेतुत्वादाघातः।

३—(क) जि० चू० पृ० २२५ : तत्थ पईवनिमित्तं जहा अंधकारे पगासत्थं पदीवो कीरइ, पयावणनिमित्तं हिमागमे वरिसाउ वा अप्पाणं तावंति, वत्थाणि वा ओदणादीणि वा पयावंति।

(ख) हा० टी० प० २०१ : 'प्रदीपप्रतापनार्थम्' आलोकशीतापनोदार्थम्।

४—(क) अ० चू० : 'तारिस' अग्गिसमारम्भसरिसं।

(ख) हा० टी० प० २०१ : 'तादृश' जाततेजःसमारम्भसदृशम्।

५—(क) अ० चू० : सावज्जं बहुलं जम्मि तं सावज्जबहुलं।

(ख) हा० टी० प० २०१ : 'सावद्यबहुल' पापभूयिष्ठम्।

६—जि० चू० पृ० २२५ : सह वज्जेण सावज्जं, वज्ज नाम वज्जति वेरति वा परति वा एगट्ठा, बहुलं नाम सावज्जदोसावहनं।

६२. (च ग) :

अगस्त्यसिंह ने[1] 'चकार' को हेतु के अर्थ में और जिनदास ने[2] पाद-पूर्ति के अर्थ में माना है।

श्लोक ३८ :

६३. उदीरणा (उईरंति ग) :

इसका अर्थ है प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करना—प्रेरित करना।

श्लोक ४६ :

६४. श्लोक ४६ :

४५वें श्लोक तक मूलगुणों (व्रत षट्क और काय-षट्क) की व्याख्या है। इस श्लोक से उत्तरगुणों की व्याख्या प्रारम्भ होती है। प्रस्तुत अध्ययन में उत्तरगुण छह (अकल्प-वर्जन, गृहि-भाजन-वर्जन, पर्यङ्क-वर्जन, गृहान्तर निषद्या-वर्जन, स्नान-वर्जन और विभूषा-वर्जन) बतलाए हैं। वे मूलगुणों के संरक्षण के लिए हैं, जैसे—पाँच महाव्रतों की रक्षा के लिए २५ (प्रत्येक की पाँच पाँच) भावनाएँ होती हैं, वैसे ही व्रत और काय-षट्क की रक्षा के लिए ये छह स्थान हैं। जिस प्रकार भीत और किवाड़युक्त गृह के लिए भी प्रदीप और जागरण रक्षा-हेतु होते हैं, वैसे ही पंचमहाव्रतयुक्त साधु के लिए भी ये उत्तरगुण महाव्रतों के अनुपालन के हेतु होते हैं। उनमें पहला उत्तरगुण 'अकल्प' है[3]।

६५. अकल्पनीय (अभोज्जाइं क) :

यहाँ अभोज्य (अभोग्य) का अर्थ अकल्पनीय है। जो भक्त-पान, शय्या, वस्त्र और पात्र साधु के लिए अग्राह्य हो—विधि सम्मत न हो, संयम का अपकारी हो उसे अकल्पनीय कहा जाता है[4]।

६६. (इसिणा ख) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह तृतीया का एक वचन है[5] और टीकाकार ने इसे षष्ठी का बहुवचन माना है[6]।

१—अ० चू० : चकारो हेतौ।

२—जि० चू० पृ० २२५ : चकारः पादपूरणे।

३—जि० चू० पृ० २२६ : कायछक्क गत, गया य मूलगुणा, इदाणि उत्तरगुणा, अकप्पादिणि छट्ठाणाणि, ताणि मूलगुणसारक्खयभूताणि, तं ताव जहा पचमहव्वयाण रक्खणनिमित्त पत्तेयं पंच पच भावणाओ तह अकप्पादिणि छट्ठाणाणि वयकायाण रक्खणत्थ भणियाणि, जहा वा गिहस्स कुड्डकवाडजुत्तस्सवि पदीवजागरमाणादि रक्खणाविसेसा भवन्ति तह पचमहव्वयजुत्तस्सवि साहुणो तेसिमणुपालणत्थ इमे उत्तरगुणा भवन्ति, तत्थ पढम उत्तरगुणो अकप्पो।

४—(क) अ० चू० : 'अभोज्जाणि' अकप्पिताणि।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ : 'अभोज्जाणि' अकप्पियाणि।

(ग) हा० टी० प० २०३ : 'अभोज्यानि' सयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि।

५—(क) अ० चू० : 'इसिणा' साधुणा।

(ख) जि० चू० पृ० २२७ : 'इसिणा' णाम साधुणा।

६—हा० टी० प० २०३ : 'ऋषीणां' साधूनाम्।

६७. (आहारमाईणि ख) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। आदि शब्द के द्वारा शय्या, वस्त्र और पात्र का ग्रहण किया गया है[१]।

श्लोक ४७ :

६८. अकल्पनीय...की इच्छा न करे (अकप्पियं न इच्छेज्जा ग) :

अकल्प दो प्रकार के होते हैं—शैक्ष-स्थापना अकल्प और अकल्प-स्थापना अकल्प। शैक्ष (जो कल्प अकल्प न जानता हो) द्वारा आनीत या याचित आहार, वसति और वस्त्र ग्रहण करना, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना या ऋतुबद्ध-काल (वर्षाकाल के अतिरिक्त काल) में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' कहलाता है[२]। जिनदास महत्तर के अनुसार जिसने पिण्डनिर्युक्ति का अध्ययन न किया हो उसका लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्या (आचा० २.२) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा याचित वसति और जिसने वस्त्रैषणा (आचा० २.५) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत वस्त्र, वर्षाकाल में किसी को प्रव्रजित करना और ऋतुबद्ध-काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना 'शैक्ष स्थापना अकल्प' कहलाता है[३]। जिसने पात्रैषणा (आचा० २.६) का अध्ययन न किया हो उसके द्वारा आनीत पात्र भी 'शैक्ष-स्थापना अकल्प' है[४]। अकल्पनीय पिण्ड आदि को 'अकल्प-स्थापना-अकल्प' कहा जाता है। यहाँ यही प्रस्तुत है[५]।

श्लोक ५० :

६९. कांसे के प्याले (कंसेसु क) :

कांसे से बने हुए वर्तन को 'कस' (कांस्य) कहते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर ने प्याले या क्रीड़ा-पान के वर्तन को 'कस' माना है[६]। जिनदास महत्तर थाल या खोरक—गोलाकार वर्तन को 'कस' मानते हैं[७]। टीकाकार के अनुसार कटोरा आदि 'कस' कहलाता है[८]। कंस गगरी जैसा पात्र विशेष है। कुछ लोग इसे फूल या कासे का पात्र समझते हैं। यूनानियों का ध्यान इसकी ओर गया था। उन्होंने लिखा है कि वह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था[९]।

१—(क) अ० चू० आहारो आदी जेसिं ताणि आहारदीणि।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ : आहारो आई जेसिं ताणि आहारमादीणि ताणि अ भोज्जाणि।
(ग) हा० टी० प० २०३ : आहारशय्यावस्त्रपात्राणि।

२—अ० चू० पढमोत्तर गुणो अकप्पो सो दुविहो त सेहठवणा कप्पो अकप्पट्ठवणाकप्पो य पिंडसेज्जवत्थ एताणि अप्पणो अकप्पितेण उप्पाइयाणि ण कप्पति, वासासु सव्वे ण पव्वाविजति उडुबद्धे अणलो अकप्पठवणाकप्पो इमो।

३—जि० चू० पृ० २२६ : तत्थ सेहट्ठवणाकप्पो नाम जेण पिंडणिज्जुत्ती ण सुता तेण आणियं न कप्पइ भोत्तुं, जेण सेज्जाओ ण सुयाओ तेण वसही उग्गमिता ण कप्पइ, जेण वत्थेसणा ण सुया तेण वत्थं, उडुबद्धे अणला ण पव्वाविज्जति, वासासु सव्वेऽवि।

४—हा० टी० प० २०३ अणहीआ खलु जेण पिंडेसणसेज्जवत्थपाएसा।
तेणाणियाणि जतिणो कप्पंति ण पिंडमाईणि॥१॥
उउबद्धंमि न अणला वासावासे उ दोऽवि णो सेहा।
दिक्खिज्जती पाय ठवणाकप्पो इमो होइ॥२॥

५—हा० टी० प० २०३ : अकल्पस्थापनाकल्पमाह—'जाइं'ति सूत्रम्।

६—अ० चू० कंसस्स विकारो कांसं तेसु वट्टगातिसु लीलापाणेसु।

७—जि० चू० पृ० २२७ : कंसाओ जायाणि कंसाणि, ताणि पुण थालाणि हवा खोरगाणि वा तेसु कंसेसुत्ति।

८—हा० टी० प० २०३ : 'कंसेषु' करोटकादिषु।

९—पा० भा० पृ० १४८।

७०. कुंडमोद (कुंडमोएसु ख) :

अगस्त्यचूर्णि के अनुसार कच्छ आदि देशों में प्रचलित कुडे के आकार वाला कासे का भाजन 'कुडमोद' कहलाता है[१]। जिनदास चूर्णि ने हाथी के पाँव के आकार वाले वर्तन को 'कुंडमोद' माना है[२]। टीकाकार ने हाथी के पाँव के आकार वाले मिट्टी आदि के भाजन को 'कुंडमोद' कहा है[३]। चूर्णिद्वय में 'कुंडमोएसु' के स्थान में 'कोंडकोसेसु' पाठान्तर का उल्लेख है। 'कोंड' का अर्थ तिल पीलने का पात्र[४] अथवा मिट्टी का पात्र[५] और 'कोस' का अर्थ शराव—सकोरा[६] किया गया है।

७१. (पुणो ख) :

दोनों चूर्णिकारों के अनुसार 'पुनः' शब्द 'विशेषण' के अर्थ में है और इसके द्वारा सोने, चादी आदि के वर्तन सूचित किए गए हैं[७]।

श्लोक ५१ :

७२. सचित्त जल (सीओदग क) :

यहाँ शीत का अर्थ 'सचित्त' है[८]।

७३. (छन्नंति ग) :

चूर्णिद्वय के अनुसार यह धातु 'क्षणु हिंसायाम्'[९] है। टीकाकार ने 'छिप्पंति' पाठ मानकर उसके लिए संस्कृत धातु 'क्षिपंनज् प्रेरणे' का प्रयोग किया है[१०]।

७४. तीर्थङ्करों ने वहाँ असंयम देखा है (दिट्ठो तत्थ असंजमो घ) :

गृहस्थ के भाजन में भोजन करने से छहों प्रकार के जीवों की विराधना सभव है। क्योंकि जव गृहस्थ उस भाजन को सचित्त जल से धोता है तव अप्काय की और धोए हुए जल को फेंकने से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, तथा त्रसकाय की विराधना होती है। उस पानी को अविधि से फेंकने से वायुकाय की विराधना होती है। यह असयम है[११]।

१—अ० चू० : कुडमोयं कच्छातिष्ठ कुडसंट्ठिय कसभायणमेव महंतं।
२—जि० चू० पृ० २२७ : 'कुडमोयो' नाम हत्थपदागितीसठिय कुडमोय।
३—हा० टी० प० २०३ : 'कुडमोदेपु' हस्तिपादाकारेपु मृन्मयादिपु।
४—अ० चू० : 'जे पढति कोंढकोसेसु वा' तत्थ 'कोंडग' तिलपीलणग।
५—जि० चू० पृ० २२७ : अन्ने पुण एव पठति 'कुढकोसेसु वा पुणो' तत्थ कुण्ड पुढविमय भवति।
६—(क) अ० चू० : 'कोसे' सरावाती।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ : कोसग्गहणेण सरावादीणि गहियाणि।
७—(क) अ० चू० : पुणो इति विसेसणो रुप्पतलिकातिष्ठ (रुप्पधलिकातिष्ठ—रुप्पस्थलिकादिपु) वा।
(ख) जि० चू० पृ० २२७ · पुणोसद्दो विसेसणे वट्टति, किं विसेसयति ?, जहा अन्नेष्ठ छवन्नादिभायणेसुत्ति।
८—(क) जि० चू० पृ० २२८ . सीतग्गहणेण सचेयणस्स उदगस्स गहण कयं।
(ख) हा० टी० प० २०४ : 'शीतोदक......'सचेतनोदकेन।
९—(क) अ० चू० : 'छन्नति' क्षणु हिंसायमिति हिंसज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० २२८ . छणणसद्दो हिंसाए वट्टइ।
१०—हा० टी० प० २०४ : 'क्षिप्यन्ते' हिंस्यन्ते।
११—जि० चू० पृ० २२८ : अणिदिट्ठस्स असजमस्स गहण कय, सो य इमो-जेण आउक्काएण धोव्वति सो आउक्काओ विराहिओ भवति, कदापि पूयरगादिवि तसा होज्जा, धोवित्ता य जत्थ छड्डिज्जति तत्थ पुढविआउतेउहरियतसविराहणा था होज्जा, वाउक्काओ अत्थि चेव, अजयणाए वा छड्डिज्जमाणे वाउक्काओ विराहिज्जइ, एव छण्ह पुढविमाईणं विराहणा भवति, एसो असंजमो तित्थगरेहिं दिट्ठो।

श्लोक ५२ :

७५. संभावना (सिया ख) :

जिनदास ने 'सिया' शब्द को आशंका के अर्थ में और हरिभद्र ने 'कदाचित्' के अर्थ में माना है[1]।

७६. (एयमट्ठं ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ५३ :

७७. आसालक (अवष्टम्भ सहित आसन) (आसालएसु ख) :

अवष्टम्भ वाला (जिसके पीछे सहारा हो वैसा) आसन 'आशालक' कहलाता है। चूर्णि और टीका के अनुसार 'मचमासालएसु वा' इस चरण में दूसरा शब्द 'आसालय' है[2] और अगविज्जा के अनुसार यह 'मासालग' है[3]। 'मचमासालय' में मकार अलाक्षणिक है—इसकी चर्चा चूर्णि और टीका में नहीं है।

श्लोक ५४ :

७८. श्लोक ५४ :

पिछले श्लोक में आसन्दी आदि पर बैठने और सोने का सामान्यतः निषेध है। यह अपवाद सूत्र है। इसमें आसन्दी आदि का प्रतिलेखन किए बिना प्रयोग करने का निषेध है। जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार राजकुल आदि विशिष्ट स्थानों में धर्म-कथा के समय आसन्दी आदि का प्रतिलेखन-पूर्वक प्रयोग करना विहित है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह श्लोक कुछ परम्पराओं में नहीं है[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० २२८ : सियासद्दो आसकाए वट्टइ।
(ख) हा० टी० प० २०४ : स्यात्—तत्र कदाचित्।

२—(क) अ० चू० : 'आसालओ'—सावट्टम्भमासण।
(ख) जि० चू० पृ० २२८ : आसालओ नाम ससावंगम (सावट्टभं) आसण।
(ग) हा० टी० प० २०४ : आशालकस्तु—अवष्टम्भससन्वित आसनविशेष।

३—(क) अगविज्जा पृ० ५२ : सयणाऽऽसणे व फलगे वा मच—मचमासालगेसु वा... .....॥२४॥
(ख) वही पृ० ६५ : मासालो मचको व त्ति पल्लको पडिसेज्जको ... .॥१७२॥

४—(क) जि० चू० पृ० २२६ : जया पुण कारण भवइ तदा निग्गथा पडिलेहाणन्ति, (वृत्ति) धम्मकहारायकुलादिसु पडिलेहेऊण निसीयणादीणि कुव्वति, पडिलेहाए णाम चक्खुणा पडिलेहेऊण सयणादीणि कुव्वति।
(ख) हा० टी० प० २०४ : इह चाप्रत्युपेक्षितासन्यादौ निषीदनादिनिषेधात् धर्मकथादौ राजकुलादिषु प्रत्युपेक्षितेषु निषीदनादिविधिमाह, विशेषणान्यथानुपपत्तेरिति।

५—अ० चू० : णासन्दी पलियंकेसु एस सिलोगो केसिचिणेव अत्थि जेसि अत्थि तेसिं तिण्हमण्णतरागस्स पत्तिए अहवा तस्स जयणा एसा। जे ण पढंति तेसामण्णमेव जयणोवदेसमगीकरेंति। जता कारणे तदा पडिलेहणाए अपडिलेहिया आसंदादिदोसोववायणत्थ मिद भण्णति ॥७॥

७९. आसन (निसेज्जा ख) :

एक या अनेक वस्त्रों से बना हुआ आसन[1]।

८० पीढ़े का (पीढए ख) :

जिनदास महत्तर के अनुसार 'पीढा' पलाल का[2] और टीका के अनुसार वेंत आदि का होता है[3]।

८१. (बुद्धवुत्तमहिट्ठगा घ) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

श्लोक ५५ :

८२. गंभीर-छिद्र वाले (गंभीरविजया क) :

गभीर का अर्थ अप्रकाश और विजय का अर्थ विभाग है। जिनका विभाग अप्रकाशकर होता है वे 'गंभीरविजय' कहलाते हैं[4]। जिनदास चूर्णि में मार्गण, पृथक्करण, विवेचन और विचय को एकार्थक माना है[5]। टीकाकार ने 'विजय' की छाया विजय ही की है और उसका अर्थ आश्रय किया है[6]। जिनदास चूर्णि में 'वैकल्पिक' रूप में 'विजय' का अर्थ आश्रय किया है। इनके अनुसार 'गभीरविजय' का अर्थ 'प्रकाश-रहित आश्रय वाला' है[7]। हमने 'विजय' की संस्कृत-छाया 'विचय' की है। अभयदेवसूरि ने भी इसकी छाया यही की है[8]।

श्लोक ५६ :

८३. अबोधि-कारक अनाचार को (अबोहियं घ) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में अबोधिक का अर्थ—अबोधिकारक[9] या जिसका फल मिथ्यात्व हो वह[10] किया है। जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ केवल मिथ्यात्व किया है[11]।

१—(क) जि० चू० पृ० २०६ : 'निसिज्जा' नाम एगे कप्पो अणेगा वा कप्पा।
(ख) हा० टी० प० २०४ . निषद्यायाम्—एकादिकल्परूपायाम्।
२—जि० चू० पृ० २२६ : 'पीढगं'—पलालपीढगादि।
३—हा० टी० प० २०४ . 'पीठके'—वेत्रमयादौ।
४—अ० चू० : गंभीरमप्पगासं, विजयो-विभागो। गभीरो विजयो जेसि ते गभीरविजया।
५—जि० चू० पृ० २२६ : गभीर अप्पगास भण्णइ, विजओ नाम मग्गणति वा पियक्करणति वा विवेयणंति वा विजओत्ति वा एगट्टा।
६—हा० टी० प० २०४ : गम्भीरम्—अप्रकाश विजय—आश्रयः अप्रकाशाश्रया 'एते'।
७—जि० चू० पृ० २२६ : अहवा विजओ उवस्सओ भण्णइ, जम्हा तेसि पाणाण गभीरो उवस्सओ तओ दुव्विसोधगा।
८—भग० २५.७ पृ० : आणाविजए—आज्ञा-जिनप्रवचनं तस्याविचयो निर्णयो यत्र तदाज्ञाविचय प्राकृतत्वाच्च आणाविजयेत्ति।
९—अ० चू० : अबोहिकारिम बोहिक।
१०—हा० टी० प० २०५ : 'अबोधिक' मिथ्यात्वफलम्।
११—जि० चू० पृ० २२६ : 'अबोहिय'—नाम मिच्छत्तं।

श्लोक ५७ :

८४. श्लोक ५७ :

चूर्णिद्वय में गृहस्थ के घर बैठने से होने वाले ब्रह्मचर्य-नाश आदि के कारणों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है :

स्त्री को बार-बार देखने से और उसके साथ बातचीत करने से ब्रह्मचर्य का विनाश होता है[1]।

कोई वधक तीतर बेचने के लिए आया। गृहस्वामिनी उसे मुनि के सामने लेने में सकुचाती है। वह वस्त्र मरोड़ने के व्याज से उसकी गर्दन तोड़ देने का संकेत जताती है और वह उस तीतर को असमय में ही मार डालता है—इस प्रकार अवधकाल में प्राणियों का वध होता है[2]।

टीका में 'पाणाणं च वहे वहो' ऐसा पाठ व्याख्यात है। इसका अर्थ है—गोचराग्र प्रविष्ट मुनि गृहस्थ के घर बैठता है तब उसके लिए भक्त पान बनाया जाता है—इस प्रकार प्राणियों का वध होता है[3]।

भिक्षाचर घर पर मांगने जाते हैं। स्त्री सोचती है कि साधु से बात करते समय बीच में उठ इन्हें भिक्षा कैसे दूँ? साधु को बुरा लगेगा। यह सोच वह उनकी ओर ध्यान नहीं देती। इससे भिक्षाचरों के अन्तराय होता है और वे साधु का अवर्णवाद बोलते हैं[4]।

स्त्री जब साधु से बातचीत करती है तब उसका पति, ससुर या बेटा सोचने लगता है कि यह साधु के साथ अनुचित बातें करती है। हम भूखे-प्यासे हैं, हमारी तरफ ध्यान नहीं देती और प्रतिदिन का काम भी नहीं करती। इस तरह घर वालों को क्रोध उत्पन्न होता है[5]।

श्लोक ५८ :

८५. ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है (अगुत्ती बंभचेरस्स क) :

स्त्री के अङ्ग-प्रत्यङ्गों पर दृष्टि गड़ाए रखने से और उसकी मनोज्ञ इन्द्रियों को निरखते रहने से ब्रह्मचर्य असुरक्षित होता है[6]।

१—जि० चू० पृ० २२९ : कह बंभचेरस्स विवत्ती होज्जा ?, अवरोप्परओसभासअन्नोऽन्नदसणादीहिं बंभचेरविवत्ती भवति।

२—(क) अ० चू० अवधे वधो—अवहत्याणे ओरत्तो कह ? अविरतियाए सहालवेंतस्स जीवंते तित्तिरए विक्केणुए उवणीए। कहं जीवतमेतस्स पुरतो गेह्नामित्ति वत्थदधवलणसन्नाए गीवं वलावेति एवं अवहेवधो सभवति।

(ख) जि० चू० पृ० २२९-३० : पाणाण अवधे वहो भवति, तत्थ पाणा णाम सत्ता, तेसिं अवधे वधो भवेज्जा, कह ?, सो तत्थ उल्लाव करेइ, तत्थ य तित्तिरओ 'सो चिंतेति-कहमेतस्स अग्गओ जीवंत गेण्हिस्सामि, ताहे ताए सण्णा कया, दसिया वलिया, आगलिय, सेवि जा गिण्हामि ताहे मारिज्जेज्जा, एवं पाणाण अवधे वधो भवति।

३—हा० टी० प० २०५ : प्राणिनां च वधे वधो भवति, तथा संबन्धाद्याधाकर्मादिकरणेन।

४—जि० चू० पृ० २३० : य इमेण पगारेण होज्जा, सो ताए समं उल्लावेइ, तत्थ य बहवे भिक्खायरा एंति, सा चिंतेति—कहमेतस्स सगासाओ उट्ठेहामित्ति अपत्तियं से भविस्सति, ताहे ते अतित्थाविज्जति, तत्थ अंतराइयदोसो भवति, ते तस्स अवण्णं भासति।

५—जि० चू० पृ० २३० : समता कोहो पडिकोहो, समंता नाम सव्वत्तो, तकारडकारलकाराणामेयत्तमितिकाउं पडिकोहो पडिज्झइ, सो य पडिकोधो इमेण पगारेण भवति—जे तीए पतिससुरपुत्तादी ते अपडिगणिज्जमाणा भणेज्जा-एसा एतेण समणएण पसुलाए कहाए अक्खित्ता अम्हे आगच्छमाणे वा भुक्खियतिसिए वा णाभिजाणइ, न वा अप्पणो णिच्चकरणिज्जाणि अणुट्ठेइ, अतो पडिकोधो अगारिणं भवइ।

६—जि० चू० पृ० २३० : इत्थीणं अगपच्चंगेसु दिट्ठिनिवेसमाणस्स इंदियाणि मणुन्नाणि निरिक्खतस्स बंभवतं अगुत्तं भवइ।

८६. स्त्री के प्रति भी शंका उत्पन्न होती है (इत्थीओ यावि संकणं ख) :

स्त्री के प्रफुल्ल वदन और कटाक्ष को देखकर लोग सन्देह करने लगते हैं कि यह स्त्री इस मुनि को चाहती है और वैसे ही मुनि के प्रति भी लोग सन्देह करने लगते हैं। इस तरह स्त्री और मुनि दोनों के प्रति लोग सन्देहशील बनते हैं[1]।

श्लोक ५९ :

८७. श्लोक ५९ :

चूर्णि और टीका के अनुसार अतिजराग्रस्त, अतिरोगी और घोर तपस्वी भिक्षा लेने के लिए नहीं जाते किन्तु जो असहाय होते हैं, जो स्वय भिक्षा कर लाया हुआ खाने का अभिग्रह रखते हैं या जो साधारण तप करते हैं, वे भिक्षा के लिए जाते हैं[2]। गृहस्थ के घर में स्वल्पकालीन विश्राम लेने का अपवाद इन्हीं के लिए है और वह भी ब्रह्मचर्य-विपत्ति आदि दोषों का सभव न हो, उस स्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है[3]।

श्लोक ६० :

८८. आचार (आयारो ग) :

इस श्लोक मे आचार और सयम—ये दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'आचार' का तात्पर्य कायक्लेश आदि बाह्य तप और 'संयम' का तात्पर्य अहिंसा—प्राणि-रक्षा है[4]।

८९. परित्यक्त (जढो घ) :

'जढ' का अर्थ है परित्यक्त[5]। हेमचन्द्राचार्य ने 'त्यक्त' के अर्थ में 'जढ' को निपात किया है[6] और षड्भाषा चन्द्रिका मे इसके अर्थ मे 'जड' का निपात है[7]।

१—जि० चू० पृ० २३० : इत्थी वा पप्फुल्लम्यणा कडक्खविक्खित्तलोयणा सकिज्जेज्जा, जहा एसा एय कामयति, चकारेण तथा समणिय-सरूवादीगुणेहि उववेत संकेज्जा।

२—(क) अ० चू० : अभिभूतइतिअतिप्रपीडितो एव वाहितो वि तवस्सी पक्खमासातिखमणकिलितो एतेसि णेध गोयरावतरणं जस्स य पुण सहाया सतीए अत्तलाभिए वा हिंडेज्जा ततो एतेसि निसेज्जा अणुण्णाता।

(ख) जि० चू० पृ० २३०-३१ : जराभिभूओ 'वाहिअस्स तवस्सिणो' त्ति अभिभूयग्गहण जो अतिकट्ठपत्ताए जराए वज्जइ, जो सो पुण वुड्ढभावेऽवि सति समत्थो ण तस्स गहण कयति, एते तिन्निवि न हिंडाविज्जंति, तिन्नि हिंढाविज्जति सेधो अत्तलाभिओ वा अविकिट्ठतवस्सी वा एवमादि, तिहि कारणेहि हिंडेज्जा, तेसि च तिण्ह णिसेज्जा अणुन्नाया।

(ग) हा० टी० प० २०५ : 'जरयाऽभिभूतस्य' अत्यन्तवृद्धस्य 'व्याधिमतः' अत्यन्तमशक्तस्य 'तपस्विनो' विकृष्टक्षपकस्य। एते च भिक्षाटन न कार्यन्त एव, आत्मलब्धिकाद्यपेक्षया तु सूत्रविषयः।

३—(क) अ० चू० : एतेसि बभविवत्ति वणीमगपडिघातातिजयणाए परिहरताणं णिसेज्जा।

(ख) जि० चू० पृ० २३१ : तत्थ थेरस्स वभचेरस्स विवत्तीमादि दोसा नत्थि, सो मुहुत्त अच्छइ, जहा अन्तरातपडिघातादओ दोसा न भवति, वाहिओऽवि मग्गति किंचि त जाव निक्कालिज्जइ ताव अच्छइ, विस्समणट्ठं वा, तवस्सीवि आतवेण किलामिओ विसमिज्जा।

४—(क) जि० चू० पृ० २३१ : आयारग्गहणेण कायकिलेसादिणो बाहिरतवस्स गहणं कयं।

(ख) हा० टी० प० २०५ : 'आचारो' बाह्यतपोरूप, 'संयम' प्राणिरक्षणादिकः।

५—हा० टी प० २०५ : 'जढः' परित्यक्तो भवति।

६—हैम० ४. २५८ : 'जढ'—त्यक्तम्।

७—षड्भाषा चन्द्रिका पृ० १७८ : त्यक्ते जडम्।

श्लोक ६१ :

६०. श्लोक ६१ :

सचित्त जल से स्नान करने में हिंसा होती है इसलिए उसका निषेध बुद्धिगम्य हो सकता है। किन्तु अचित्त जल से स्नान करने का निषेध क्यों ? सहज ही यह प्रश्न होता है। प्रस्तुत श्लोक में इसी का समाधान है[1]।

६१. पोली भूमि (घसासु ख) :

'घसा' का अर्थ है—शुषिर भूमि, पुराने भूसे की राशि[2] या वह प्रदेश जिसके एक सिरे का आक्रमण करने से सारा प्रदेश हिल उठे[3]।

६२. दरार-युक्त भूमि में (भिलुगासु ख) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है दरार[4]।

६३. जल से (वियडेण घ) :

'विकृत' का अर्थ जल या[5] प्रासुक जल है[6]।

श्लोक ६२ :

६४. श्लोक ६२ :

सूक्ष्म प्राणी की जहाँ हिंसा न होती हो उस स्थिति में भी स्नान नहीं करना चाहिए। जिनदास महत्तर ने इसके कारणों का उल्लेख करते हुए बताया है कि स्नान करने से ब्रह्मचर्य की अगुप्ति होती है, अस्नान रूप काय-क्लेश तप नहीं होता और विभूषा का दोष लगता है[7]।

६५. शीत या उष्ण जल से (सीएण उसिणेण वा ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'शीत' का अर्थ जिसका स्पर्श सुखकर हो वह जल और 'उष्ण' का अर्थ आयु-विनाशकारी जल किया है[8]। टीकाकार ने 'शीत' और 'उष्ण' का अर्थ प्रासुक और अप्रासुक जल किया है[9]।

१—हा० टी० प० २०५ : प्रासुकस्नानेन कथ सयमपरित्याग इत्याह।

२—(क) अ० चू० : गसति छुहुमसरीरजीवविसेसा इति घसी, अतो छुणो भूमिपदेसो पुराणभूसातिरासी वा।
(ख) हा० टी० प० २०५ : 'घसासु' शुषिरभूमिषु।

३—जि० चू० पृ० २३१ घसा नाम जत्थ एगदेसे अक्कममाणे सो पदेसो सव्वो चलइ सा घसा भण्णइ।

४—(क) जि० चू० पृ० २३१ : भिलुगा राई।
(ख) हा० टी० प० २०५ 'भिलुगासु च' तथाविधभूमिराजीषु च।

५—जि० चू० पृ० २३१ : वियड पाणय भण्णइ।

६—(क) अ० चू० : 'विगडेण' फासुपाणिण्ण।
(ख) हा० टी० प० २०६ 'विकृतेन' प्रासुकोदकेन।

७—जि० चू० पृ० २३२ : जइ उप्पीलावणादिदोसा न भवति ?, तहावि अन्ने ण्हायमाणस्स दोसा भवति, कह ?, ण्हायमाणस्स बंभचेरे अगुत्ती भवति, असिणाणपच्चइयो य कायकिलेसो तवो सो ण हवइ, विभूसादोसो य भवति।

८—अ० चू० : सीतेण वा सुहफरिसेण, उसिणेण वा आउविणासकारिणा।

९—हा० टी० प० २०६ शीतेन वोष्णेनोदकेन प्रासुकेनाप्रासुकेन चेत्यर्थ।

६६. (असिणाणमहिट्ठगा घ) :

यहाँ 'मकार' अलाक्षणिक है।

श्लोक ६३ :

६७. गन्ध-चूर्ण (सिणाणं क) :

यहाँ 'स्नान' का अर्थ गन्ध-चूर्ण है। टीकाकार ने 'स्नान' को उसके प्रसिद्ध अर्थ अग-प्रक्षालन में ग्रहण किया है[1]। वह सही नहीं है। चूर्णिद्वय में इसकी विस्तृत जानकारी नहीं मिलती फिर भी उससे यह स्पष्ट है कि यह कोई उद्वर्तनीय गन्ध द्रव्य है[2]। उमास्वाति ने इसको घ्राणेन्द्रिय का विषय बतलाया है[3]। उससे भी इसका गन्ध-द्रव्य होना प्रमाणित है। मोनियर-मोनियर विलियम्स ने भी अपने सस्कृत-अग्रेजी कोष में इसका एक अर्थ सुगन्धित चूर्ण किया है[4]।

६८. कल्क (कक्कं क) :

इसका अर्थ स्नान-द्रव्य, विलेपन-द्रव्य अथवा गन्धाट्टक—गन्ध-द्रव्य का आटा है। प्राचीन काल में स्नान में सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। स्नान से पहले तेल-मर्दन किया जाता और उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगन्धित उबटन लगाया जाता था। इसी का नाम कल्क है[5]। इसे चूर्ण-कषाय भी कहा जाता है।

६६. लोध्र (लोद्धं ख) :

लोध—(गन्ध-द्रव्य) का प्रयोग ईषत् पाण्डुर छवि करने के लिए होता था[6]। 'मेघदूत' के अनुसार लोध्र-पुष्प के पराग का प्रयोग मुख की पाण्डुता के लिए होता था[7]। 'कालीदास का भारत' के अनुसार स्नान के बाद काला-गुरु, लोध्र-रेणु, धूप और दूसरे सुवासित द्रव्यों (कोपेय) के सुगन्धमय धूप में केश सुखाए जाते थे[8]। 'प्राचीन भारत' के प्रसाधन[9] के अनुसार लोध्र (पठानी लोध)

१—हा० टी० प० २०६ : 'स्नान' पूर्वोक्तम्।

२—अ० चू० : सिणाण सामायिग उवण्हाण अधवा गधवट्टओ।

३—(क) प्र० प्र० ४३ : स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासै.।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति॥

(ख) प्र० प्र० ४३ अव० . स्नानमङ्गप्रक्षालनं चूर्णम्।

४—A Sanskrit English Dictionary Page 1266 : Anything used in ablution (e.g. Water, Perfumed Powder)।

५—(क) अ० चू० : कक्क ण्हाण सजोगो वा।

(ख) जि० चू० पृ० २३२ · कक्को लवन्तयो कीरइ, वण्णादी कक्को वा, उन्वलय अट्टगमादि कक्को भण्णइ।

६—(क) अ० चू० : लोद्ध कसायादि आपड्डुरच्छवि करणत्थ दिज्जति।

(ख) हा० टी० प० २०६ · लोध्र—गन्धद्रव्यम्।

७—मेघ० उ० २ : हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्ध,
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्री.।
चूडापाशे नवकुरबक चारुकर्णे शिरीष,
सीमन्ते च त्वदुपगमज यत्र नीप वधूनाम्॥

८—कालीदास का भारत पृ० ३२०।

९—प्राचीन भारत पृ० ७५।

वृक्ष की छाल का चूर्ण शरीर पर, मुख्यत मुख पर, लगाया जाता था। इसका रग पाण्डुर होता है और पसीने को सुखाता है। सभवतः इन्हीं दो गुणों के कारण कवियों को यह प्रिय रहा होगा। इसका उपयोग श्वेतिमा गुण के लिए ही हुआ है। स्वास्थ्य की दृष्टि से सुश्रुत में लोध्र के पानी से मुख को धोना कहा है। लोध्र के पानी से मुख धोने पर झांई, फुसी, दाग मिटते हैं[१]।

लोध के वृक्ष बंगाल, आसाम और हिमालय तथा खासिया पहाडियों में पाए जाते हैं। यह एक छोटी जाति का हमेशा हरा रहने वाला वृक्ष होता है। इसके पत्ते ३ से ६ इच तक लम्बे, अडाकृति और कगूरेदार होते हैं। इसके फूल पीले रग के और सुगन्धित होते हैं। इसके प्रायः आधा इच लम्बा और अडाकृति का फल लगता है। यह फल पकने पर बैंगनी रग का होता है। इस फल के अन्दर एक कठोर गुठली रहती है। उस गुठली में दो-दो बीज रहते हैं। इसकी छाल गेरुए रग की और बहुत मुलायम होती है। इसकी छाल और पत्तों में से रग निकाला जाता है[२]।

१००. पद्म-केसर (पउमगाणि ख) :

अगस्त्य चूर्णि[३] के अनुसार 'पद्मक' का अर्थ 'पद्म-केसर' अथवा कुकुम, टीकाकार[४] के अनुसार उसका अर्थ कुकुम और केसर तथा जिनदास चूर्णि[५] के अनुसार कुकुम है। सर मोनियर मोनियर विलियम्स ने भी इसका अर्थ एक विशेष सुगन्धित द्रव्य किया है[६]।

'पद्मक' का प्रयोग महाभारत में मिलता है—तुलाधार ने जाजलि से कहा—"मैने दूसरों के द्वारा काटे गए काठ और घास-फूस से यह घर तैयार किया है। अलक्तक (वृक्ष विशेष की छाल), पद्मक (पद्माख), तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दनादि गन्ध-द्रव्य एव अन्य छोटी-बडी वस्तुओं को मैं दूसरों से खरीद कर बेचता हूँ[७]।" सुश्रुत में भी इसका प्रयोग हुआ है—न्यग्रोधादि गण मे कहे आम्र से लेकर नन्दी वृक्ष पर्यन्त वृक्षों की त्वचा, शङ्ख, लाल चन्दन, मुलेहठी, कमान, गैरिक, अजन (सुरमा), मजीठ, कमलनाल, पद्माख—इनको बारीक पीसकर, दूध में घोलकर, शर्करा मधु मिलाकर, भली प्रकार छानकर ठण्डा करके जलन अनुभव करते रोगी को वस्ति देवे[८]।

श्लोक ६४ :

१०१. नग्न (नगिणस्स क) :

चूर्णिद्वय में 'नगिण' का अर्थ नग्न किया है[९]। टीका में उसके दो प्रकार किए हैं—औपचारिक नग्न और निरुपचरित नग्न।

१—सु० चि० २४ ८ : भिल्लोदककषायेण तथैवामलकस्य वा।
प्रक्षालयेन्मुख नेत्रे स्वस्थ शीतोदकेन वा॥
नीलिकां मुखशोष च पिडकां व्यगमेव च।
रक्तपित्तकृतान् रोगान् सद्य एव विनाशयेत्॥

२—व० च० भा० ६ पृ० २२१०।

३—अ० चू० : 'पउम' केसर कुकुम वा।

४—हा० टी० प० २०६ : 'पद्मकानि च' कुङ्कुमकेसराणि।

५—जि० चू० पृ० २३२ पउम कुकुम भण्णइ।

६—A Sanskrit English Dictionary Page 584 : Padmaka—A Particular fragrant Substance.

७—महा० शा० अ० २६२ श्लोक ७ : परिच्छिन्नै काष्ठतृणैर्मयेद शरण कृतम्।
अलक्त पद्मक तुङ्ग गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा॥

८—सु० उत्तरभाग. ३९. १४८ : आम्रादीनां त्वच शङ्ख चन्दनामलकोत्पलै.॥
गैरिकाञ्जनमञ्जिष्ठामृणालान्यथ पद्मकम्।
श्लक्ष्णपिष्ट तु पयसा शर्करामधुसयुतम्॥

९—(क) अ० चू० : 'णगिणो' णग्गो।
(ख) जि० चू० पृ० २३२ : णगिणो—णग्गो भण्णइ।

जिनकल्पिक वस्त्र नहीं पहनते इसलिए वे निरुपचरित नग्न होते हैं। स्थविर-कल्पिक मुनि वस्त्र पहनते हैं किन्तु उनके वस्त्र अल्प मूल्य वाले होते हैं, इसलिए उन्हें कुचेलवान् या औपचारिक नग्न कहा जाता है[1]।

१०२. दीर्घ रोम और नख वाले (दीहरोमनहंसिणो ख) :

स्थविर-कल्पिक मुनि प्रमाणयुक्त नख रखते हैं जिससे अन्धकार मे दूसरे साधुओं के शरीर में वे लग न जाए। जिन-कल्पिक मुनि के नख दीर्घ होते हैं[2]। अगस्त्य चूर्णि से विदित होता है कि नखों के द्वारा नख काटे जाते हैं किन्तु उनके कोण भलीभाँति नहीं कटते इसलिए वे दीर्घ हो जाते हैं[3]।

श्लोक ६७ :

१०३. अमोहदर्शी (अमोहदंसिणो क) :

मोह का अर्थ विपरीत है अमोह इसका प्रतिपक्ष है। जिमका दर्शन अविपरीत है उसे अमोहदर्शी कहते हैं[4]।

१०४. शरीर को (अप्पाणं क) :

'आत्मा' शब्द शरीर और जीव—इन दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। मृत शरीर के लिए कहा जाता है कि इसका आत्मा चला गया—आत्मा शब्द का यह प्रयोग जीव के अर्थ में है। यह कृशात्मा है, स्थूलात्मा है—आत्मा शब्द का यह प्रयोग शरीर के अर्थ में है। प्रस्तुत श्लोक में आत्मा शब्द शरीर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शरीर अनेक प्रकार के होते हैं। यहाँ कार्मण शरीर का अधिकार है। कार्मण शरीर—सूक्ष्म शरीर को क्षय करने के लिए तप किया गया है तब औदारिक शरीर—स्थूल शरीर स्वय कृश हो जाता है अथवा औदारिक शरीर को तप के द्वारा कृश किया जाता है तब कार्मण शरीर स्वय कृश हो जाता है[5]।

श्लोक ६८ :

१०५. आत्म-विद्यायुक्त (सविज्जविज्जाणुगया ख) :

'स्वविद्या' का अर्थ अध्यात्म-विद्या है। 'स्वविद्या' ही विद्या है, उमसे जो अनुगत—युक्त है उसे 'स्वविद्याविद्यानुगत' कहते हैं[6]। यह

१—हा० टी० प० २०६ 'नग्नस्य वापि' कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य निरुपचरितस्य नग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यमेव सूत्रम्।

२—हा० टी० प० २०६ : 'दीर्घरोमनखवत' दीर्घरोमवतः कक्षादिपु दीर्घनखवतो हस्तादौ जिनकल्पिकस्य, इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता एव नखा भवन्ति यथाऽन्यसाधूनां शरीरेपु तमस्यपि न लगन्ति।

३—अ० चू० : दिहाणि रोमाणि कक्खादिए जस्स सो दीहरोमो आसीयगो णहाणं आसीयो णहस्सीयो णहा जदिविपडिणहादीहि अतिदीहा कप्पिज्जति तहवि असठविताओ णाहधूराओ दीहाओ भवति—दीहसद्दो पत्तेय भवति, दीहाणि रोमाणि णहस्सीयो य जस्स सो दीहरोमणहस्सी तस्स एवरुवस्स।

४—(क) अ० चू० : मोह विवरीय, ण मोह अमोह। अमोह पस्सति अमोहदसिणो।
(ख) जि० चू० पृ० २३३ : अमोह पासतित्ति अमोहदसिणो सम्मदिट्ठी··· ·····।

५—(क) अ० चू० : अप्पाण अप्पा इति एस सद्दो जीवे सरीरे य दिट्ठप्रयोगो जीवे जधा मतसरीर भण्णति गतो सो अप्पा जस्सिम सरीरं थूलप्पा किसप्पा इह पुण न खविज्जति, त्ति अप्पवयण सरीर ओरालियसरीरग्गहणेण कम्मणासरीरग्गहणमिति उभयेणाधिकारो।
(ख) जि० चू० पृ० २३३ : आह—किं ताव अप्पाण गवेति उदाहु सरीरति ?, आयरिओ भणइ—अप्पसद्दो दोहिवि दीसइ—सरीरे जीवे य, तत्थ सरीरे ताव जहा एसो मतो दीसइ सा णं हिसिहिसि, जीवे जहा गओ सो जीवो जस्सेय सरीरं, तेण भणितं खवेति अप्पाणति, तत्थ सरीर औदारिक कम्मग च, तत्थ कम्मएण अधिगारो, तस्स य तवसा एए कीरमाणे ओदारियमवि खिज्जइ।

६—अ० चू० : सविज्जविज्जाणुगता 'स्व' इति अप्पा 'विज्जा' विन्नाण आत्मनि विद्या सविज्जा, अज्झप्पविज्जा विज्जागणातो ते सिज्जति। अज्झप्पविज्जा जाविज्जा ताए अणुगता सविज्जविज्जाणुगता।

अगस्त्य चूर्णि की व्याख्या है। जिनदास महत्तर विद्या शब्द के पुनः प्रयोग को लौकिक-विद्या का प्रतिषेध करने लिए ग्रहण किया हुआ बतलाते हैं[1]। टीकाकार ने 'स्वविद्या' को केवल-ज्ञान या श्रुत-ज्ञान रूप माना है[2]।

१०६. शरद् ऋतु के (उउप्पसन्ने ग) :

सब ऋतुओं में अधिक प्रसन्न ऋतु शरद् है। इसलिए उसे 'ऋतु प्रसन्न' कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ—प्रसन्न-ऋतु भी किया जा सकता है[3]।

१०७. चन्द्रमा (चंदिमा ग) :

चूर्णि और टीका में 'चंदिमा' का अर्थ 'चन्द्र' किया है[4]। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'चंदिमा' का संस्कृत रूप चन्द्रिका होता है[5]।

१०८. सौधर्मावतंसक आदि विमानों को (विमाणाइ घ) :

वैमानिक देवों के निवास-स्थान 'विमान' कहलाते हैं[6]। सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना करने वाले उत्कृष्टतः अनुत्तर विमान तक चले जाते हैं[7]।

१—जि० चू० पृ० २३४ : बीय विज्जागहण लोइयविज्जापडिसेहणत्थं कतं।

२—हा० टी० प० २०७ : स्वविद्या—परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा।

३—अ० चू० : उडुछ तेसु पसन्नो उडुपसण्णो सो पुण सरदो अहवा उडु एव पसण्णो।

४—(क) अ० चू० : चन्द्रमा चन्द्र इत्यर्थः।

(ख) जि० चू० पृ० २३४ : जहा सरए चंदिमा विसेसेण निम्मलो भवति।

(ग) हा० टी० प० २०७ : चन्द्रमा इव विमला।

५—हैम० ८.१.१८५ : चन्द्रिकायां मः।

६—हा० टी० प० २०७ : 'विमानानि' सौधर्मावतंसकादीनि।

७—अ० चू० : विमाणाणि उक्कोसेण अणुत्तरादीणि।

सत्तमज्झयणं

वक्कसुद्धि

सप्तम अध्ययन

वाक्यशुद्धि

आमुख

आचार का निरूपण उसी को करना चाहिए जिसे वाक्य-शुद्धि का विवेक मिला हो। मौन गुप्ति है, वाणी का प्रयोग समिति। गुप्ति का लाभ अकेले साधक को मिलता है, समिति का लाभ वक्ता और श्रोता दोनों को मिलता है। वाणी का वही प्रयोग समिति है जो सावद्य और अनवद्य के विवेक से सम्वलित हो। जिसे सावद्य-अनवद्य का विवेक न हो उसे बोलना भी उचित नहीं फिर उपदेश देने की बात तो बहुत दूर है[१]।

प्रस्तुत अध्ययन में असत्य और सत्यासत्य भाषा के प्रयोग का निषेध किया गया है[२]। क्योंकि भाषा के ये दोनों प्रकार सावद्य ही होते हैं। सत्य और असत्याऽमृषा (व्यवहार-भाषा) के प्रयोग का निषेध भी है[३] और विधान भी है[४]।

सत्य और व्यवहार-भाषा सावद्य और निरवद्य दोनों प्रकार की होती है। वस्तु के यथार्थ रूप का स्पर्श करने वाली भाषा सत्य हो सकती है किन्तु वह वक्तव्य हो भी सकती है और नहीं भी। जिससे कर्म-परमाणु का प्रवाह आए वह जीव-वधकारक-भाषा सत्य होने पर भी अवक्तव्य है[५]। इस प्रकार निर्ग्रन्थ के लिये क्या वक्तव्य है और क्या अवक्तव्य—इसका प्रस्तुत अध्ययन में बहुत सूक्ष्म विवेचन है। अहिंसा की दृष्टि से यह बहुत ही मननीय है। दशवैकालिक सूत्र अहिंसा का आचार-दर्शन है। वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अङ्ग है। अहिंसक को बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिए, यह अध्ययन उसका निदर्शन है।

भाषा के प्रकारों का वर्णन यहाँ नहीं किया गया है। उसके लिए प्रज्ञापना (पद ११) और स्थानाङ्ग (स्था० १०) द्रष्टव्य हैं।

१—हा० टी० प० २०७ : "सावज्जणवज्जाणं, वयणाण जो न याणइ विसेस।
वोत्तु पि तस्स ण खमं, किमग पुण देसणं काउं ॥"

२—दश० ७ १,२।

३—वही ७ २।

४—वही ७.३।

५—वही ७. ११-१३।

वाक्य-शुद्धि से संयम की शुद्धि होती है। अहिंसात्मक वाणी भाव-शुद्धि का निमित्त बनती है। अतः वाक्य-शुद्धि का विवेक देने के लिये स्वतन्त्र अध्ययन रचा गया है[1]। प्रस्तुत अध्ययन सत्य-प्रवाद (छठे) पूर्व से उद्धृत किया गया है[2]। निर्युक्तिकार ने मौन और भाषण दोनों को कसौटी पर कसा है। भाषा-विवेक-हीन मौन का कोई विशेष मूल्य नहीं है। भाषा-विवेक-सम्पन्न व्यक्ति दिन भर बोलकर भी मौन की आराधना कर लेता है। इसलिए पहले बुद्धि से विमर्श करना चाहिये फिर बोलना चाहिए। आचार्य ने कहा—शिष्य! तेरी वाणी बुद्धि का वैसे अनुगमन करे जैसे अन्धा आदमी अपने नेता (ले जाने वाले) का अनुगमन करता है[3]।

१—आ० नि० २८८ : जं वक्कं वयमाणस्स संजमो सुज्झई न पुण हिंसा।
न य अत्तकलुसभावो तेण इह वक्कसुद्धित्ति॥

२—वही १७ : सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।

३—वही २९०-२९२ वयणविभत्तिअकुसलो वओगयं बहुविहं अयाणंतो।
जइवि न भासइ किंची न चेव वयगुत्तयं पत्तो॥
वयणविभत्तीकुसलो वओगयं बहुविहं वियाणंतो।
दिवसंपि भासमाणो तहावि वयगुत्तयं पत्तो॥
पुव्वं बुद्धीइ पेहित्ता पच्छा वयमुयाहरे।
अचक्खुओ व नेतारं बुद्धिमन्नेउ ते गिरा॥

सत्तमज्झयणं : सप्तम अध्ययन

वक्कसुद्धि : वाक्यशुद्धि

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चउण्हं खलु भासाणं परिसंखाय पन्नवं । दोण्हं तु विणयं सिक्खे दो न भासेज्ज सव्वसो ॥	चतसृणां खलु भाषाणां, परिसंख्याय प्रज्ञावान् । द्वाभ्या तु विनयं शिक्षेत, द्वे न भाषेत सर्वशः ॥१॥	१—प्रज्ञावान् मुनि चारो भाषाओं को जानकर दो के द्वारा विनय (शुद्ध प्रयोग)[1] सीखे और दो सर्वथा न बोले ।
२—जा य सच्चा अवत्तव्वा सच्चामोसा य जा मुसा । जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना न तं भासेज्ज पन्नवं ॥	या च सत्या अवक्तव्या, सत्यामृषा च या मृषा । या च बुद्धैरनाचीर्णा, न ता भाषेत प्रज्ञावान् ॥२॥	२—जो अवक्तव्य-सत्य[2], जो सत्यमृषा, जो मृषा और जो (असत्याऽमृषा) भाषा बुद्धो के द्वारा अनाचीर्ण हो[3], उसे प्रज्ञावान् मुनि न बोले ।
३—असच्चमोसं सच्चं च अणवज्जमकक्कसं । समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पन्नवं ॥	असत्यामृषा सत्या च, अनवद्यामकर्कशाम् । समुत्प्रेक्षां (क्ष्य) असंदिग्धा, गिरं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३॥	३—प्रज्ञावान् मुनि असत्याऽमृषा (व्यवहार-भाषा) और सत्य-भाषा—जो अनवद्य, मृदु और सन्देह-रहित हो, उसे सोच-विचार कर बोले ।
४—[4] एयं च अट्ठमन्नं वा जं तु नामेइ सासयं[8] । स भासं सच्चमोसं पि तं पि धीरो विवज्जए ॥	एतं चार्थमन्यं वा, यस्तु नामयति शाश्वतम् । स भाषा सत्यामृषा अपि, तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥४॥	४—वह धीर पुरुष उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी[5] न बोले जो अपने आशय को 'यह[6] अर्थ है या दूसरा'[7]—इस प्रकार सदिग्ध बना देती हो ।
५—[9]वितहं पि तहामुत्ति जं गिरं भासए नरो । तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए ॥	वितथामपि तथा-मूर्ति, या गिरं भाषते नरः । तस्मात्स स्पृष्टः पापेन, किं पुनर्यो मृषा वदेत् ॥५॥	५—जो पुरुष सत्य दीखने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है (पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहता है) उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है तो फिर उसका क्या कहना जो साक्षात् मृषा बोले ?
६—तम्हा गच्छामो वक्खामो अमुगं वा णे भविस्सई । अहं वा णं करिस्सामि एसो वा णं करिस्सई ॥	तस्माद् गच्छामः वक्ष्यामः, अमुकं वा नो भविष्यति । अहं वा इदं करिष्यामि, एष वा इदं करिष्यति ॥६॥	६-७—इसलिए[10]—'हम जाएंगे'[11], 'कहेंगे', 'हमारा अमुक कार्य हो जाएगा', 'मैं यह करूंगा' अथवा 'यह (व्यक्ति) यह (कार्य) करेगा'—यह और इस प्रकार की

७—एवमाई उ जा भासा
एसकालम्मि संकिया ।
संपयाईयमट्ठे वा
तं पि धीरो विवज्जए ॥

एवमादिस्तु या भाषा,
एष्यत्काले शङ्किता ।
साम्प्रतातीतार्थयोर्वा,
तामपि धीरो विवर्जयेत् ॥७॥

दूसरी भाषा जो भविष्य-सम्बन्धी होने के कारण (सफलता की दृष्टि से) शंकित हो अथवा वर्तमान और अतीतकाल-सम्बन्धी अर्थ के बारे में शंकित[12] हो, उसे भी धीर-पुरुष न बोले ।

८—[13]अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जमट्ठं तु न जाणेज्जा
एवमेयं ति नो वए ॥

अतीते च काले,
प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यमर्थं तु न जानीयात्,
एवमेतदिति नो वदेत् ॥८॥

८—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी अर्थ को (सम्यक् प्रकार से) न जाने, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे ।

९—अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
जत्थ संका भवे तं तु
एवमेयं ति नो वए ॥

अतीते च काले,
प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
यत्र शंका भवेत्तत्तु,
एवमेतदिति नो वदेत् ॥९॥

९—अतीत, वर्तमान और अनागत काल के जिस अर्थ में शंका हो, उसे 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा न कहे ।

१०—[14]अईयम्मि य कालम्मी
पच्चुप्पन्नमणागए ।
निस्संकियं भवे जं तु
एवमेयं ति निद्दिसे ॥

अतीते च काले,
प्रत्युत्पन्नेऽनागते ।
निश्शङ्कितं भवेद्यत्तु,
एवमेतदिति निर्दिशेत् ॥१०॥

१०—अतीत, वर्तमान और अनागत काल-सम्बन्धी जो अर्थ निःशंकित हो (उसके बारे में) 'यह इस प्रकार ही है'—ऐसा कहे ।

११—तहेव फरुसा भासा
गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा
जओ पावस्स आगमो ॥

तथैव परुषा भाषा,
गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्यापि सा न वक्तव्या,
यतः पापस्य आगमः ॥११॥

११—इसी प्रकार परुष[15] और महान् भूतोपघात करने वाली[16] सत्य-भाषा भी न बोले । क्योंकि इनसे पाप-कर्म का बंध होता है ।

१२—तहेव काणं काणे त्ति
पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥

तथैव काण 'काण' इति,
पण्डकं पण्डक इति वा ।
व्याधितं वाऽपि रोगीति,
स्तेन "चोर" इति नो वदेत् ॥१२॥

१२—इसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।

१३—एएणन्नेण अट्ठेण
परो जेणुवहम्मई ।
आयारभावदोसन्नू
न तं भासेज्ज पन्नवं ॥

एतेनाऽन्येन वाऽर्थेन,
परो येनोपहन्यते ।
आचार-भाव-दोषज्ञः,
न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१३॥

१३—आचार (वचन-नियमन) संबंधी भाव-दोष (चित्त के प्रद्वेष या प्रमाद) को जानने वाला[17] प्रज्ञावान् पुरुष पूर्व श्लोकोक्त अथवा इसी कोटि की दूसरी भाषा, जिससे चोट लगे—न बोले ।

१४—[18]तहेव होले गोले त्ति
साणे वा वसुले त्ति य ।
दमए दुहए वा वि
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव 'होलः' 'गोल' इति,
'श्वा' वा 'वृषल' इति च ।
'द्रमको' 'दुर्भग' श्चाऽपि,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥१४॥

१४—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ता !, ओ वृषल !, ओ द्रमक !, ओ दुर्भग !—ऐसा न बोले ।

१५—[19]अज्जिए पज्जिए वा वि
अम्मो माउस्सिय त्ति य ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति
धूए नत्तुणिए त्ति य ॥

आर्यिके ! प्रार्यिके ! वाऽपि,
अम्ब ! मातृष्वसः ! इति च ।
पितृष्वसः ! भागिनेयि इति,
दुहितः ! नप्तृके ! इति च ॥१५॥

१६—[20]हले हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति
इत्थियं नेवमालवे ॥

हले ! हला ! इति 'अन्ने' इति,
'भट्टे !' स्वामिनि ! गोमिनि !
'होले' ! गोले ! 'वृषले' ! इति,
स्त्रियं नैवमालपेत् ॥१६॥

१७—नामधिज्जेण णं बूया
इत्थीगोत्तेण[21] वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

नामधेयेन तां ब्रूयात्,
स्त्री-गोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य,
आलपेत् लपेत् वा ॥१७॥

१५-१६-१७—हे आर्यिके !, (हे दादी !, हे नानी !), हे प्रार्यिके !, (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्ब !, (हे मा !), हे मौसी !, हे बुआ !, हे भानजी !, हे पुत्री !, हे पोती !, हे हले !, हे हली !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले !, हे गोले !, हे वृषले !—इस प्रकार स्त्रियों को आमन्त्रित न करे । किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर[22] एक वार या वार-वार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे ।

१८—अज्जए पज्जए वा वि
बप्पो चूल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति
पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥

आर्यक ! प्रार्यक ! वाऽपि,
वप्तः ! क्षुल्लपितः ! इति च ।
मातुल ! भागिनेय ! इति,
पुत्र ! नप्तः ! इति च ॥१८॥

१९—[23]हे हो हले त्ति अन्ने त्ति
भट्टा सामिय गोमिए ।
होल गोल वसुले त्ति
पुरिसं नेवमालवे ॥

हे ! भो ! हल ! इति 'अन्न !' इति,
भट्ट ! स्वामिक ! गोमिक ! ।
'होल !' 'गोल' 'वृषल !' इति
पुरुषं नैवमालपेत् ॥१९॥

२०—नामधेज्जेण णं बूया
पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ
आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥

नामधेयेन तं ब्रूयात्,
पुरुष-गोत्रेण वा पुनः ।
यथार्हमभिगृह्य,
आलपेत् लपेत् वा ॥२०॥

१८-१९-२०—हे आर्यक !, (हे दादा !, हे नाना !), हे प्रार्यक !, (हे परदादा !, हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोता !, हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल !, हे वृषल !—इस प्रकार पुरुष को आमन्त्रित न करे । किन्तु यथायोग्य (अवस्था, देश, ऐश्वर्य आदि की अपेक्षा से) गुण-दोष का विचार कर एक वार या वार-वार उन्हें उनके नाम या गोत्र से आमंत्रित करे ।

२१—[24]पंचिंदियाण पाणाणं
एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न विजाणेज्जा
ताव जाइ त्ति आलवे ॥

पञ्चेन्द्रियाणा प्राणाना,
एपा स्त्री अयं पुमान्।
यावत्ता(तं) न विजानीयात्,
तावत् 'जातिः' इत्यालपेत् ॥२१॥

२१—पचेन्द्रिय प्राणियों के बारे में जब तक—यह स्त्री है या पुरुष—ऐसा (निश्चित रूप से) न जान जाए तब तक गाय की जाति, घोड़े की जाति—इस प्रकार बोले।

२२—[25]तहेव मणुस्सं पसुं
पक्खि वा वि सरीसिवं।
थूले पमेइले वज्झे
पाइमे त्ति य नो वए ॥

तथैव मनुष्यं पशुं,
पक्षिण वाऽपि सरीसृपम्।
स्थूलः प्रमेदुरो वध्यः (वाह्यः),
पाक्य (पात्य) इति च नो वदेत् ॥२२॥

२३—[26]परिवुड्ढे त्ति णं बूया
बूया उवचिए त्ति य।
संजाए पीणिए वा वि
महाकाए त्ति आलवे ॥

परिवृद्ध इत्येन ब्रूयात्,
ब्रूयादुपचित इति च।
संजातः प्रीणितो वाऽपि,
महाकाय इत्यालपेत् ॥२३॥

२२-२३—इसी प्रकार मनुष्य, पशु-पक्षी और सांप को (देख यह) स्थूल, प्रमेदुर (बहुत चर्बी वाला), वध्य (या वाह्य)[26] अथवा पाक्य[27] (पकाने योग्य) है, ऐसा न कहे। (प्रयोजनवश कहना हो तो) उसे परिवृद्ध[29] कहा जा सकता है, उपचित[30] कहा जा सकता है अथवा सजात (युवा)[31], प्रीणित[32] और महाकाय कहा जा सकता है।

२४—तहेव गाओ दुज्झाओ
दम्मा गोरहग त्ति य।
वाहिमा रहजोग त्ति
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव गावो दोह्याः,
दम्या 'गोरहगा' इति च।
वाह्या रथयोग्या इति,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२४॥

२५—[38]जुवं गवे त्ति णं बूया
धेणुं रसदय त्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि
वए संवहणे त्ति य ॥

युवा गौरित्येनं ब्रूयात्,
धेनुं रसदा इति च।
ह्रस्वो वा महान् वाऽपि,
वदेत् संवहन इति च ॥२५॥

२४-२५—इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि गायें दुहने योग्य हैं[33], बैल[34] दमन करने योग्य है[35], हल में जोतने योग्य है, वहन करने योग्य है[36] (भार ढोने योग्य है) और रथ योग्य है[37]—इस प्रकार न बोले।

(प्रयोजनवश कहना हो तो) बैल युवा है[39]—यों कहा जा सकता है। धेनु दूध देने वाली है—यों कहा जा सकता है। (बैल) छोटा है, बड़ा है[40] अथवा संवहन—धुरा को वहन करने वाला है[41]—यों कहा जा सकता है।

२६—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव गत्वोद्यानं,
पर्वतान् वनानि च।
रुक्षान् महतः प्रेक्ष्य,
नैव भाषेत प्रज्ञावान् ॥२६॥

२६—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ खड़े वृक्षों को देख प्रज्ञावान् मुनि यों न कहे—

२७—अलं पासायखंभाणं
तोरणाणं गिहाण य।
फलिहग्गलनावाणं
अलं उदगदोणिणं ॥

अलं प्रासादस्तम्भाभ्या,
तोरणेभ्यो गृहेभ्यश्च।
परिघार्गलनौभ्यः,
अलं उदकद्रोण्यै ॥२७॥

२७—(ये वृक्ष) प्रासाद[42], स्तम्भ, तोरण (नगरद्वार), घर, परिघ, अर्गला[43], नौका और जल की कूंडी के लिए[44] उपयुक्त (पर्याप्त या समर्थ) हैं।

२८—पीढए चंगबेरे य
नंगले मइयं सिया।
जंतलट्ठी व नाभी वा
गंडिया[47] व अलं सिया ॥

पीठकाय 'चंगबेराय' च,
लाङ्गलाय 'मयिकाय' स्यात्।
यन्त्रयष्ट्यै वा नाभये वा,
गण्डिकायै वा अलं स्यात् ॥२८॥

२८—(ये वृक्ष) पीठ, काष्ठ-पात्री,[45] हल, मयिक[46] (बोये हुए बीजो के ढकने का उपकरण) कोल्हू, नाभि (पहिए का मध्य भाग) अथवा अहरन के उपयुक्त हैं।

२९—आसणं सयणं जाणं
होज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं
नेवं भासेज्ज पन्नवं ॥

आसनं शयनं यानं,
भवेद्वा किञ्चिदुपाश्रये।
भूतोपघातिनीं भाषां,
नैवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥२९॥

२९—(इन वृक्षों में) आसन, शयन, यान और उपाश्रय के[48] उपयुक्त कुछ (काष्ठ) है—इस प्रकार भूतोपघातिनी भाषा प्रज्ञावान् भिक्षु न बोले।

३०—तहेव गंतुमुज्जाणं
पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए
एवं भासेज्ज पन्नवं ॥

तथैव गत्वोद्यानं,
पर्वतान् वनानि च।
रुक्षान् महतः प्रेक्ष्य,
एवं भाषेत प्रज्ञावान् ॥३०॥

३१—जाइमंता इमे रुक्खा
दीहवट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा
वए दरिसणि त्ति य ॥

जातिमन्त इमे रुक्षाः,
दीर्घवृत्ताः महान्तः।
प्रजातशाला विटपिनः,
वदेद् दर्शनीया इति च ॥३१॥

३०-३१—इसी प्रकार उद्यान, पर्वत और वन में जा वहाँ बड़े वृक्षों को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) प्रज्ञावान् भिक्षु यों कहे—ये वृक्ष उत्तम जाति के है, दीर्घ (लम्बे) हैं, वृत्त (गोल) हैं, महालय (बहुत विस्तार वाले अथवा स्कन्ध युक्त) हैं[49], शाखा वाले हैं, प्रशाखा वाले है[50] और दर्शनीय है।

३२—तहा फलाइं पक्काइं
पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं
वेहिमाइ त्ति नो वए ॥

तथा फलानि पक्वानि,
पाकखाद्यानि नो वदेत्।
वेलोचितानि 'टालाइं',
वेध्यानि इति नो वदेत् ॥३२॥

३२—तथा ये फल पक्व हैं, पकाकर खाने योग्य हैं[51]—इस प्रकार न कहे। (तथा ये फल) वेलोचित (अविलम्ब तोड़ने योग्य) हैं[52], इनमें गुठली नहीं पड़ी है[53], ये दो टुकड़े करने योग्य हैं[54] (फाक करने योग्य हैं)—इस प्रकार न कहे।

३३—[55]असंथडा इमे अंबा
बहुनिवट्टिमा[56] फला।
वएज्ज बहुसंभूया
भूयरूव त्ति वा पुणो ॥

असंस्कृता इमे आम्राः,
बहुनिर्वर्तित-फलाः।
वदेद् बहुसंभूता,
भूतरूपा इति वा पुनः ॥३३॥

३३—(प्रयोजनवश कहना हो तो) ये आम्र-वृक्ष अब फल-धारण करने में असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (प्रायः निष्पन्न) फल वाले हैं, बहु-सम्भूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहे।

३४—तहेवोसहीओ पक्काओ
नीलियाओ छवीइ य।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति
पिहुखज्ज त्ति नो वए ॥

तथैवौषधयः पक्वाः,
नीलिकाः छविमत्यः।
लवनीया भर्जनीया इति,
पृथु-खाद्या इति नो वदेत् ॥३४॥

३४—इस प्रकार औषधियाँ[57], पक गई हैं, अपक्व हैं[58], छवि (फली) वाली है[59], काटने योग्य हैं, भूनने योग्य हैं, चिड़वा बनाकर खाने योग्य हैं—[60]इस प्रकार न बोले।

४९—नाणदंसणसंपन्नं
संजमे य तवे रयं।
एवंगुणसमाउत्तं
संजयं साहुमालवे ॥

ज्ञानदर्शनसपन्न,
संयमे च तपसि रतम्।
एवं गुणसमायुक्तं,
संयतं साधुमालपेत् ॥४९॥

४९—ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, संयम और तप में रत—इस प्रकार गुण समायुक्त संयमी को ही साधु कहे।

५०—[७४]देवाणं मणुयाणं च
तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुयाण जओ होउ
मा वा होउ त्ति नो वए ॥

देवानां मनुजानाञ्च,
तिरश्चां च व्युद्ग्रहे।
अमुकानां जयो भवतु,
मा वा भवतु इति नो वदेत् ॥५०॥

५०—देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों (पशु पक्षियों) का आपस में विग्रह होने पर अमुक की विजय हो अथवा अमुक की विजय न हो—इस प्रकार न कहे।

५१—[७५]वाओ वुट्ठं व सीउण्ह
खेमं धायं सिवं ति वा।
कया णु होज्ज एयाणि
मा वा होउ त्ति नो वए ॥

वातो वृष्टं वा शीतोष्णं,
क्षेमं 'धाय' शिवमिति वा।
कदा नु भवेयुरेतानि,
मा वा भवेयुरिति नो वदेत् ॥५१॥

५१—वायु, वर्षा, सर्दी, गर्मी, क्षेम[७६], सुभिक्ष[७७] और शिव[७८], ये कब होंगे अथवा ये न हों तो अच्छा रहे—इस प्रकार न कहे।

५२—[७९]तहेव मेहं व नहं व माणवं
न देव देव त्ति गिरं वएज्जा।
सम्मुच्छिए उन्नए वा पओए
वएज्ज वा वुट्ठ बलाहए त्ति ॥

तथैव मेघं वा नभो वा मानवं,
न देव देव इति गिरं वदेत्।
संमूर्छितः उन्नतो वा पयोदः,
वदेद् वा वृष्टो बलाहक इति ॥५२॥

५२—इसी प्रकार मेघ, नभ[८०] और मानव[८१] के लिए 'ये देव हैं'—ऐसी वाणी न बोले। मेघ समूर्च्छित हो रहा है, उमड़ रहा है अथवा उन्नत हो रहा है (झुक रहा है), अथवा बलाहक बरस पड़ा है—इस प्रकार बोले।

५३—[८२]अंतलिक्खे त्ति णं बूया
गुज्झाणुचरियं त्ति य।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स
रिद्धिमंतं ति आलवे ॥

अन्तरिक्षमिति तद् ब्रूयात्,
गुह्यानुचरितमिति च।
ऋद्धिमन्तं नरं दृष्ट्वा,
ऋद्धिमान् इत्यालपेत् ॥५३॥

५३—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। ऋद्धिमान् नर को देखकर 'यह ऋद्धिमान् पुरुष है'—ऐसा कहे।

५४—तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा
ओहारिणी जा य परोवघाइणी
से कोह लोह भयसा व माणवो
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः,
अवधारिणी या च परोपघातिनी।
सक्रोध-लोभ-भयेन वा मानव,
न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥५४॥

५४—इसी प्रकार सावद्य का अनुमोदन करनेवाली, अवधारिणी (शंकित अर्थ वाली)[८३] और जीवघातकारक भाषा न बोले। मुनि[८४] क्रोध, लोभ और भयवश न बोले। दूसरों की हँसी करता हुआ भी न बोले।

५५—सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

सवाक्यशुद्धिं समुत्प्रेक्ष्य मुनिः,
गिरं च दुष्टां परिवर्जयेत् सदा।
मितामदुष्टां अनुविविच्य भाषकः,
सतां मध्ये लभते प्रशंसनम् ॥५५॥

५५—वह मुनि वाक्य-शुद्धि को भली भाँति समझ कर दोषयुक्त वाणी का प्रयोग न करे। मित और दोष-रहित वाणी सोच-विचार कर बोले। ऐसा करने वाला साधु सत् पुरुषों (भाषा के गुण दोष जानने वालों) में प्रशंसा को प्राप्त होता है।

५६—भासाए दोसे य गुणे य जाणिया
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

भाषायाः दोषांश्च गुणाश्च ज्ञात्वा,
तस्याश्च दुष्टायाः परिवर्जकः सदा ।
षट्सुसंयतः श्रामण्ये सदा यतः,
वदेद्बुद्धः हितामानुलोमिकीम् ॥५६॥

५६—भाषा के दोषों और गुणों को जानकर दोषपूर्ण भाषा को सदा वर्जने वाला, छह जीवकाय के प्रति संयत, श्रामण्य में सदा सावधान रहने वाला प्रबुद्ध भिक्षु हित और आनुलोमिक वचन बोले।

५७—[८५]परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए
चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुन्नमलं पुरेकडं
आराहए लोगमिणं तहा परं ॥
—त्ति बेमि ॥

परीक्ष्यभाषी सुसमाहितेन्द्रियः,
अपगतचतुष्कषायः अनिश्रितः।
स निर्धूय धुन्नमलं पुराकृतं,
आराधयेल्लोकमिमं तथा परम् ॥५७॥
इति ब्रवीमि

५७—गुण-दोष को परख कर बोलने वाला[८६], सुसमाहित-इन्द्रिय वाला, चार कषायों से रहित, अनिश्रित (तटस्थ) भिक्षु पूर्वकृत पाप-मल[८७] को नष्ट कर वर्तमान तथा भावी लोक की आराधना करता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ७

श्लोक १ :

१. विनय (शुद्ध प्रयोग) (विणयं ग) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार भाषा का वह प्रयोग, जिसमें धर्म का अतिक्रमण न हो, विनय कहलाता है[1]। टीकाकार ने भाषा के शुद्ध प्रयोग को विनय कहा है[2]। अगस्त्य चूर्णि में मूल पाठ 'विजय' है और 'विनय' को वहाँ पाठान्तर माना है[3]। विजय (विचय) अर्थात् निर्णय। यहाँ जो चार भाषाएं बताई गई हैं उनमें से असत्य और मिश्र तो साधु को सर्वथा बोलनी ही नहीं चाहिए। शेष दो भाषाओं (सत्य और व्यवहार) का साधु को निर्णय करना चाहिए—उसे क्या और कैसे बोलना या नहीं बोलना है—इसका विवेक करना चाहिए।

श्लोक २ :

२. अवक्तव्य-सत्य (सच्चा अवत्तव्वा क) :

अवक्तव्य-सत्य-भाषा का स्वरूप ग्यारहवें श्लोक से तेरहवें श्लोक तक बतलाया गया है।

३. जो...भाषा बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हो (जा य बुद्धेहिंऽणाइन्ना ग) :

श्लोक के इस चरण में असत्यामृषा का प्रतिपादन हुआ है। वह क्रम-दृष्टि से 'जा य सच्चा अवत्तव्वा' के बाद होना चाहिए था, किन्तु पद्य-रचना की अनुकूलता की दृष्टि से विभक्ति-भेद, वचन-भेद, लिङ्ग-भेद और क्रम-भेद हो सकता है। इसलिए यहाँ क्रम भेद किया गया है[4]।

श्लोक ४ :

४. श्लोक ४ :

इस श्लोक का अनुवाद चूर्णि और टीका के अभिमत से भिन्न है। हमारे अनुवाद का आधार इसके पूर्ववर्ती दो श्लोक हैं। दूसरे के अनुसार असत्य और सत्य-मृषा भाषा सर्वथा वर्जनीय है तथा सत्य और असत्याऽमृषा, जो बुद्धों के द्वारा अनाचीर्ण हैं वह वर्जनीय है। तीसरे श्लोक में आचीर्ण-सत्य और असत्याऽमृषा का स्वरूप बताकर उनके बोलने का विधान किया है। इसके पश्चात् क्रमशः चौथे में असत्याऽमृषा और पाँचवें में सत्य-भाषा के अनाचीर्ण स्वरूप का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

१—जि० चू० पृ० २४४ : जं भासमाणो धम्मं णातिक्कमइ, एसो विणयो भण्णइ।

२—हा० टी० प० २१३ : 'विनयं' शुद्धप्रयोग विनीयतेऽनेन कर्मेतिकृत्वा।

३—अ० चू० : विजयो समाणजातियाओ णिकरिसण। जधा वितियो छभिणयो। तत्थ वयणीयावयणीयत्तेण विजय सिक्खे केसिंचि आलावओ 'विणय सिक्खे'। तेसिं विसेसेण जो णयो भणितव्वो।

४—(क) जि० चू० पृ० २४४ : चउत्थीवि जा अ बुद्धेहिं णाइन्नागहणेण असच्चामोसावि गहिता, उक्कमकरणे मोसावि गहिता, एवं बंधाणुलोमत्थं, इतरहा सच्चाए उवरिमा भाणियव्वा, गंथाणुलोमताए विभत्तिभेदो होज्जा वयणभेदो वष्ठ (यी) पुमल्लिंगभेदो व होज्जा अत्थ असुचंतो।

(ख) हा० टी० प० २१३ : या च 'बुद्धैः' तीर्थंकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा।

'सासय' का संस्कृत रूप 'स्वाशय' भी होता है। मोक्ष के लिए 'सासयं ठाणं' शब्द व्यवहृत होता है, जब कि स्वाशय यहाँ स्वतंत्र रहकर भी अपना पूर्ण अर्थ देता है। असत्याऽमृषा (व्यवहार) भाषा के बारह प्रकार हैं उनमें दसवां प्रकार है—'संशयकरणी'[1]। जो भाषा अनेकार्थवाचक होने के कारण श्रोता को संशय में डाल दे उसे संशयकरणी कहा जाता है। जैसे—किसी ने कहा—"सैन्धव लाओ।" सैन्धव का अर्थ—नमक और सिन्धु देश का घोड़ा, पुरुष और वस्त्र होता है[2]। श्रोता संशय में पड़ जाता है। वक्ता अपने सहजभाव से अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग करता है। वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण नहीं है। किन्तु आशय को छिपाकर दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अनेकार्थ शब्द का प्रयोग (जैसे—अश्वत्थामा हतः) किया जाए वह संशयकरणी व्यवहार-भाषा अनाचीर्ण है अथवा जो शब्द सामान्यतः संदिग्ध हों—सन्देह-उत्पादक हों उनका प्रयोग भी अनाचीर्ण है।

टीकाकार ने चौथे श्लोक में सत्यासत्य[3], सावद्य एवं कर्कश सत्य और पाँचवें में असत्य[4] का निषेध बतलाया है, किन्तु वह आवश्यक नहीं लगता। वे सर्वथा त्याज्य हैं। इसलिए उनके पुनर् निषेध की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। असत्य-भाषा सावद्य ही होती है इसलिए सावद्य आदि विशेषणयुक्त असत्य के निषेध का कोई अर्थ नहीं होता।

५. उस अनुज्ञात असत्याऽमृषा को भी (स भासं सच्चमोसं पि ग तं पि घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इस श्लोक में सत्य और असत्याऽमृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[5]। जिनदास महत्तर असत्याऽमृषा का प्रतिषेध बतलाते हैं[6] और टीकाकार सत्य तथा सत्य-मृषा का निषेध बतलाते हैं[7]।

हमारी धारणा के अनुसार ये दोनों श्लोक तीसरे श्लोक के 'असंदिग्ध' शब्द से सम्बन्धित होने चाहिए—वह व्यवहार और सत्य-भाषा अनाचीर्ण है जो संदिग्ध हो। अगस्त्य चूर्णि के आधार पर इसका अनुवाद यह होगा—यह (सावद्य और कर्कश) अर्थ या इसी प्रकार का दूसरा (सक्रिय, आस्रवकर और छेदनकर आदि) अर्थ जो शाश्वत मोक्ष को भग्न करे, उस असत्याऽमृषा-भाषा और सत्य-भाषा का भी धीर पुरुष प्रयोग न करे।

६. यह (एयं क) :

दोनों चूर्णिकार और टीकाकार 'एय' शब्द से सावद्य और कर्कश वचन का निर्देश करते हैं[8]।

१—पन्न० भा० ११ सू० १६५।

२—दश० नि० गाथा २७७, हा० टी० प० २१० : संशयकरणी च भाषा—अनेकार्थसाधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्।

३—हा० टी० प० २१३ : साम्प्रतं सत्यासत्यामृषाप्रतिषेधार्थमाह।

४—हा० टी० प० २१४ : साम्प्रतं मृषाभाषासंरक्षणार्थमाह।

५—अ० चू० : साधुणा साधुणो अब्भणुण्णतात्ति सच्चा, असच्चामोसा अपि स पढम मणुण्णतामवि।

६—जि० चू० पृ० २४५-२४६ : स भिक्खू ण केवलं जाओ पुव्वभणियाओ सावज्जभासाओ वज्जेज्जा, किन्तु जावि असच्चमोसा भासा तमवि धीरो विविहं अणेगप्पगारं वज्जए विवज्जएत्ति।

७—हा० टी० प० २१३ : 'स' साधुः पूर्वोक्तभाषाभाषकत्वेनाधिकृतो भाषां 'सत्यामृषामपि' पूर्वोक्ताम्, अपिशब्दात्सत्यापि या तथाभूता तामपि 'धीरो' बुद्धिमान् 'विवर्जयेत्' न ब्रूयादिति भावः।

८—(क) अ० चू० : एतमितिसावज्ज कक्कसं च।

(ख) जि० चू० पृ० २४५ : एयं सावज्जं कक्कसं च।

(ग) हा० टी० प० २१३ : 'एतं चार्थम्' अनन्तरप्रतिषिद्धं सावद्यकर्कशविषयम्।

७. दूसरा (अन्नं [क]) :

अगस्त्यसिंह स्थविर अन्य शब्द के द्वारा सक्रिय, आस्नवकर और छेदनकर आदि का ग्रहण करते हैं[1]। इसकी तुलना आचाराङ्ग (२.४ १) मे होती है। वहाँ भापा के चार प्रकारों का निरूपण करने के पश्चात् बतलाया है कि मुनि सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निप्ठुर, परुप, आस्नवकरी, छेदनकरी, भेदनकरी, परितापनकरी और भूतोपघातिनी सत्य-भापा भी न बोले[2]। वृत्तिकार शीलाङ्कसूरि ने लिखा है—'मृपा और सत्य-मृपा भापा मुनि के लिए सर्वथा अवाच्य है। कर्कश आदि विशेपणयुक्त सत्य-भापा भी उसे नहीं बोलनी चाहिए[3]।

८. (सासयं [ख]) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में इसका अर्थ मोक्ष है[4]। हमने इसका अर्थ स्वाशय—अपना आशय किया है। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'सासय' का अर्थ स्वाश्रव—अपना श्रोता होना चाहिए[5]। आस्रव का अर्थ श्रोता भी है[6]। इसका अर्थ वचन, प्रतिज्ञा और अंगीकार भी है[7]। इसलिए इसका अर्थ अपना वचन, प्रतिज्ञा या अंगीकार भी हो सकता है।

श्लोक ५ :

६. श्लोक ५ :

इस श्लोक में बतलाया गया है कि सफेद झूठ बोलने वाला पाप से स्पृष्ट होता ही है, किन्तु वस्तु का यथार्थ निर्णय किए बिना सत्य लगने वाली असत्य वस्तु को सहसा सत्य कहने वाला भी पाप से बच नहीं पाता। इसलिए सत्य-भापी पुरुप को अनुविचिन्त्य भापी (सोचविचार कर बोलने वाला) और निष्ठा-भापी (निश्चयपूर्वक बोलने वाला) होना चाहिए। इस श्लोक की तुलना आचाराङ्ग (२४.१ ३-४) से होती है।

अगस्त्यसिंह स्थविर वितथ का अर्थ अन्यथावस्थित करते हैं[8]। जिनदास महत्तर अतद्रूप वस्तु को 'वितथ' कहते हैं[9]।

१—अ० चू० : अण्ण सकिरिय अण्हयकरी च्छेदनकरी एवमादि।

२—आचा० २ ४.१ ३५६ : तहप्पगार भास सावज्ज, सकिरिय कक्कस कडुय निट्ठुरं फरुस अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परियावणकरिं भूओवघाइय अभिकख नो भासिज्जा।

३—आचा० २ ४. १. ३५६ वृ० : तत्र मृपा सत्यामृपा च साधूनां तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या, तां च दर्शयति—सहावद्येन वर्त्तत इति सावद्यां सत्यामपि न भापेत, तथा सह क्रियया—अनर्थदण्डप्रवृत्तिलक्षणया वर्त्तत इति सक्रिया तामिति, तथा 'कर्कशां' चर्वितासरां, तथा 'कटुकां' चित्तोद्वेगकारिणीं, तथा 'निष्ठुरां' हक्काप्रधानां, 'परपां' मर्मोद्घाटनपराम् 'अण्हयकरिं'न्ति कर्मास्रवकरीम्, एव छेदनभेदनकरीं, यावत् अपद्रावणकरीमित्येवमादिकां 'भूतोपघातिनीं' प्राण्युपतापकारिणीम्, 'अभिकाङ्क्ष्य' मनसा पर्यालोच्य सत्यामपि न भापेतेति।

४—(क) अ० चू० : सासतो मोक्खो।

(ख) हा० टी० प० २१२ : शाश्वतम्—मोक्षम्।

५—जि० चू० पृ० २४५ : जहा जं थोवमवि थुणणादि त च सोयारस्स अप्पिय भवइ।

६—पाइयसद्दमहण्णव पृ० १५७।

७—वृहद् हिन्दी कोप।

८—अ० चू० : अतथ वितह-अण्णहावत्थित।

६—जि० चू० पृ० २४६ : वितह नाम ज वत्थु न तेण सभावेण अत्थि त वितहं भण्णइ।

टीकाकार 'वितथ' का अर्थ 'अतथ्य' करते हैं[1]। मूर्ति का अर्थ दोनों चूर्णिकारों के अनुसार शरीर[2] और टीकाकार के अनुसार स्वरूप है[3]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अपि' शब्द को 'भी' के अर्थ में लिया है[4]। जिनदास महत्तर 'अपि' शब्द को सभावना के अर्थ में ग्रहण करते हैं[5]। हरिभद्रसूरि 'अपि' का अर्थ 'भी' मानते हैं किन्तु उसे तथामूर्ति के आगे प्रयुक्त मानते हैं[6]।

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ होता है—(१) जो पुरुष अन्यथावस्थित, किन्तु किसी भाव से तथाभूतरूप वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है; (२) जिनदास महत्तर के अनुसार जो पुरुष वितथ-मूर्ति वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है और (३) हरिभद्रसूरि के अनुसार इसका अर्थ होता है—तथामूर्ति होते हुए भी जो वितथ हो, उसका आश्रय लेकर जो बोलता है।

चूर्णिकार और टीकाकार के उदाहरणों में बहुत बडा अन्तर है[7]। जिनदास चूर्णि के अनुसार स्त्री-वेषधारी पुरुष को देखकर यह कहना कि स्त्री गा रही है तथा पुरुष-वेषधारी स्त्री को देखकर यह कहना कि पुरुष गा रहा है—सदोष है[8]। टीका के अनुसार—'पुरुष-वेषधारी स्त्री को स्त्री कहना सदोष है[9]। चूर्णिकार वेष के आधार पर किसी को पुरुष या स्त्री कहना सदोष मानते हैं और टीकाकार इसे निर्दोष मानते हैं। यह परस्पर विरोध है।

चूर्णि—पुरुष = स्त्रीवेष = स्त्री = सदोष
स्त्री = पुरुषवेष = पुरुष = सदोष
टीका—स्त्री = पुरुषवेष = स्त्री = सदोष

रूप-सत्य भाषा की अपेक्षा टीकाकार का मत ठीक लगता है। उनकी दृष्टि से पुरुष-वेषधारी स्त्री को पुरुष कहना चाहिए, स्त्री नहीं, किन्तु सातवें श्लोक की टीका में उन्होंने लिखा है कि जहाँ किसी व्यक्ति के बारे में उसके स्त्री या पुरुष होने का निश्चय न हो तब 'यह पुरुष है' ऐसा कहना वर्तमान शंकित भाषा है[10]। इससे चूर्णिकार के मत की ही पुष्टि होती है। वे उसको सन्देह-दशा की स्थिति में जोडते हैं। नाटक आदि के प्रसङ्ग में जहाँ वेष-परिवर्तन की संभावना सहज होती है वहाँ दूसरों को भ्रम में डालने के लिए अथवा स्वयं को सन्देह हो वैसी स्थिति में तथ्य के प्रतिकूल, केवल वेष के अनुसार, स्त्री या पुरुष कहना सदोष है।

सत्य-भाषा का चौथा प्रकार रूप-सत्य है[11]। जैसे—प्रव्रजित रूपधारी को प्रव्रजित कहना 'रूप-सत्य-सत्य भाषा' है। इस श्लोक मे बतलाया है कि परिवर्तित वेष वाली स्त्री को स्त्री नहीं कहना चाहिए। इसका तात्पर्य यही है कि जिसके स्त्री या पुरुष होने में सन्देह हो उसे केवल बाहरी रूप या वेष के आधार पर स्त्री या पुरुष नहीं कहना चाहिए किन्तु उसे स्त्री या पुरुष का वेष धारण करने

१—हा० टी० प० २१४ : 'वितथम्' अतथ्यम्।

२—अ० चू०, जि० चू० पृ० २४६ : 'मुत्ती सरीरं भण्णइ।'

३—हा० टी० प० २१४ : 'तथामूर्त्यपि' कथंचित्तत्स्वरूपमपि वस्तु।

४—अ० चू० : अविसद्देण केणतिभावेण तथाभूतमवि।

५—जि० चू० पृ० २४६ : अविसद्दो संभावणे।

६—हा० टी० प० २१४ : अपिशब्दस्य व्यवहितः सम्बन्ध।

७—अ० चू० : जहा पुरिसं मित्थिनेवत्थं भणंति—सोभणे इत्थी एवमादि।

८—जि० चू० पृ० २४६ : तत्थ पुरिसं इत्थिणेवत्थियं इत्थिं या पुरिसनेवत्थियं दट्ठूण जो भासइ—इमा इत्थिया गायति णच्चइ वाएइ गच्छइ, इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति।

९—हा० टी० प० २१४ : पुरुषनेपथ्यस्थितवनितायप्यङ्गीकृत्य यां गिरं भाषते नरः, इयं स्त्री आगच्छति गायति वेत्यादिरूपाम्।

१०—हा० टी० प० २१४ : साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति।

११—पन्न० पद ११।

वाला कहना चाहिए। आचाराङ्ग से भी इस आशय की पुष्टि होती है[1]।

श्लोक ६ :

१०. इसलिए (तम्हा क) :

यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध है। अगस्त्यसिंह ने इनका सम्बन्ध इस प्रकार मिलाया है—संदिग्ध वेप आदि के आधार पर बोलना भी सदोष है। इसलिए मृषावाद की संभावना हो वैसी शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए[2]।

हरिभद्रसूरि के अनुसार सत्य लगने वाली असत्य वस्तु का आश्रय लेकर बोलने वाला पाप से लिप्त होता है, इसलिए जहाँ मृषावाद की संभावना हो वैसी शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए[3]। तात्पर्य यह है कि पूर्व श्लोकोक्त वेप-शंकित भाषा बोलने वाला पाप से लिप्त होता है, इसलिए क्रिया-शंकित भाषा नहीं बोलनी चाहिए।

११. हम जायेंगे (गच्छामो क) :

यहाँ 'वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा'[4] इस सूत्र के अनुसार निकट भविष्य के अर्थ में वर्तमान विभक्ति है।

श्लोक ७ :

१२. वर्तमान और अतीत काल-संबन्धी अर्थ के बारे में शंकित (संपयाईयमट्ठे ग) :

काल की दृष्टि से शंकित भाषा के तीन प्रकार होते हैं :

(१) भविष्यकालीन, (२) वर्तमानकालीन और (३) अतीतकालीन। भविष्यकालीन शंकित भाषा के उदाहरण छट्ठे श्लोक में आ चुके हैं। निश्चित जानकारी के अभाव में—अमुक वस्तु अमुक की है—इस प्रकार कहना वर्तमानकालीन शंकित भाषा है।

टीकाकार के अनुसार—स्त्री या पुरुष है—ऐसा निश्चय न होने पर किसी को स्त्री या पुरुष कहना वर्तमान शंकित भाषा है। बैल देखा या गाय, इसकी ठीक स्मृति न होते हुए भी ऐसा कहे कि मैंने गाय देखी थी—यह अतीतकालीन शंकित भाषा है[5]।

श्लोक ८-६ :

१३. श्लोक ८-१० :

दोनों चूर्णियों में आठवें, नवें और दसवें श्लोक के स्थान पर दो ही श्लोक हैं और रचना-दृष्टि से वे इनसे भिन्न हैं।

१—आचा० २.४.१. सू० ३५५ : इत्थी वेस, पुरिसो वेस, नपुंसग वेस एयं वा वेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ णिट्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा—

वृत्ति—तथा स्त्र्यादिके दृष्टे सति स्त्र्येवैषा पुरुषो वा नपुंसकं वा, एवमेवैतदन्यद्वं तत्, एवम् 'अणुविचिन्त्य' निश्चित्य निष्ठाभाषी सन् समित्या समतया संयत एव भाषां भाषेत।

२—अ० चू० : जतो एव नेवत्थदीणाय संदिद्धे वि दोसो, तम्हा।

३—हा० टी० प० २१४ : 'तम्ह' त्ति सूत्र, यस्माद्वितथं तथामूर्त्यपि वस्त्वङ्गीकृत्य भाषमाणो बद्ध्यते तस्मात्।

४—भिक्षु० ४ ४ ७६।

५—हा० टी० प० २१४ : तथा साम्प्रतातीतार्थयोरपि या शङ्किता, साम्प्रतार्थे स्त्रीपुरुषाविनिश्चये एष पुरुष इति, अतीतार्थेऽप्येवमेव बलीवर्दतत्स्त्र्याद्यनिश्चये तदाऽत्र गौरस्माभिर्दृष्ट इति।

विषय-वर्णन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं जान पड़ता किन्तु शब्द-संकलन की दृष्टि से चूर्णि में व्याख्यात श्लोक गम्भीर हैं।

टीकाकार ने चूर्णि से भिन्न परम्परा के आदर्शों का अनुसरण किया है। अगस्त्य चूर्णिगत श्लोक और उनकी व्याख्या इस प्रकार है :

तहेव णागतं अट्ठं जं वऽण्णा मणु (ण) व धारियं।
संकितं पडुपण्णं वा 'एवमेयं' ति णो वदे ॥८॥
तेहवाणागतं अट्ठं जं वऽण्णा मु (म) वधारियं।
नीसंकितं पडुपण्णं थावथावाए णिद्दिसे ॥९॥

छाया

तथैवानागतमर्थं, यं वान्यमनुप (नव) धारितम्।
शङ्कितं प्रत्युत्पन्नं वा, 'एवमेतत्' इति नो वदेत् ॥८॥
तथैवानागतमर्थं, यं वान्यमुप (मव) धारितम्।
निश्शङ्कितं प्रत्युत्पन्नं, स्थापं स्थापं निर्दिशेत् ॥९॥

अनुवाद

इसी प्रकार सुदूर भविष्य और अतीत के अज्ञात तथा वर्तमान के संदिग्ध अर्थ के बारे में यह इस प्रकार ही है—ऐसा न कहे।

इसी प्रकार सुदूर भविष्य और अतीत के सुज्ञात तथा वर्तमान के निश्चित अर्थ को हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थापित कर उसका निर्देश करे—जैसा हो वैसा कहे।

छट्ठे तथा सातवें श्लोक में जिस क्रिया का हो सकना संदिग्ध हो उसे निश्चयपूर्ण शब्दों में कहने का निषेध किया है और इन दो श्लोकों में अतीत, अनागत और वर्तमान की घटनाओं तथा व्यक्तियों की निश्चित जानकारी के अभाव में या संदिग्ध जानकारी की स्थिति में उनका निश्चित भाषा में प्रतिपादन करने का निषेध किया है। अगस्त्य चूर्णि में 'एष्यत्' का अर्थ निकट भविष्य और अनागत का अर्थ सुदूर भविष्य किया है[1]। कल्की होगा—यह सुदूर भविष्य का अविज्ञात अर्थ है[2]। दिलीप सुदूर अतीत में हुए हैं[3]। उनके बारे में निर्धारित बातें कहना असत्य वचन है।

उप(अव)धारित का अर्थ वस्तु की सामान्य जानकारी (उपलब्धिमात्र) और निःशङ्कित का अर्थ वस्तु की विशिष्ट जानकारी (सर्वोपलब्धि) है[4]।

अतीत और अनागत के साथ उपधारित और वर्तमान के साथ निःशंकित का प्रयोग किया है वह सापेक्ष है। वर्तमान की जितनी पूर्ण जानकारी हो सकती है उतनी अतीत और भविष्य की नहीं हो सकती।

सामान्य बात यही है कि दोनों काल के अनवधारित और शंकित अर्थ के बारे में 'यह इसी प्रकार है' इस प्रकार नहीं कहना चाहिये किन्तु 'मैं नहीं जानता' इस प्रकार कहना चाहिए। मिथ्या वचन और विवाद से बचने का यह उत्तम उपाय है।

जिनदास चूर्णि (पृ० २४८) में ये श्लोक इस प्रकार हैं :

तं तहेव अईयंमि, कालंमिऽणवधारियं।
जं चऽण्णं संकियं वावि, एवमेवंति नो वए॥
तहेवाणागयं अद्धं, जं होइ उवहारियं।
निस्संकियं पडुप्पन्ने, एवमेयंति निद्दिसे॥

१—अ० चू० : एसो आसण्णो, अणागतो विकिट्ठो।
२—अ० चू० : अणुवधारितं—अविण्णातं।
३—अ० चू० : जहा दिलीपादयो एव विधा आसी।
४—अ० चू० : उवधारिय वत्थुमत्तं, नीसंकितं सव्वपगारं।

छाया

तत्रथैव अतीते कालेऽनवधारितम् ।
तत्रान्यच्छङ्कितं वापि एवमेवमिति नो वदेत् ॥
तथैव अनागता अद्धां यद् भवति उपधारितम् ।
निःशङ्कितं प्रत्युत्पन्ने एवमेतत् इति निर्दिशेत् ॥

अनुवाद

इसी प्रकार अतीतकाल के अनिश्चित अर्थ तथा अन्य (वर्तमान तथा भविष्य) के शंकित अर्थ के विषय में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे।

इसी प्रकार भविष्यकाल तथा वर्तमान और अतीत के निश्चित अर्थ के बारे में यह ऐसे ही है—इस प्रकार न कहे।

श्लोक १० :

१४. श्लोक १० :

छट्टे श्लोक से नवें श्लोक तक निश्चयात्मक भाषा बोलने का निषेध किया है और इस श्लोक में उसके बोलने का विधान है। निश्चयात्मक भाषा बोलनी ही नहीं चाहिए, ऐसा जैन दृष्टिकोण नहीं है, किन्तु जैन दृष्टिकोण यह है कि जिस विषय के बारे में वक्ता को सन्देह हो या जिस कार्य का होना संदिग्ध हो उसके बारे में निश्चयात्मक भाषा नहीं बोलनी चाहिए—ऐसा करूँगा, ऐसा होगा, इस प्रकार नहीं कहना चाहिए। किन्तु मेरी कल्पना है कि मैं ऐसा करूँगा, संभव है कि यह इस प्रकार होगा—यों कहना चाहिए। स्याद्वाद को जो लोग सन्देहवाद कहते हैं और जो कहते हैं कि जैन लोग निश्चयात्मक भाषा में बोलते ही नहीं उनके लिए यह श्लोक सहज प्रतिवाद है।

श्लोक ११ :

१५. परुष (फरुसा [क]) :

जिनदास और हरिभद्र ने 'परुष' का अर्थ स्नेह-वर्जित—रूखा किया है[1]। शीलाङ्कसूरि के अनुसार इसका अर्थ मर्म का प्रकाशन करने वाली वाणी है[2]।

१६. महान् भूतोपघात करने वाली (गुरुभूओवघाइणी [ख]) :

आचाराङ्ग (२.४.१.६) में केवल 'भूओवघाइय' शब्द का प्रयोग मिलता है। यहाँ 'गुरु' शब्द का प्रयोग संभवतः पद-रचना की दृष्टि से हुआ है। 'गुरु' शब्द भूत का विशेषण हो तो अर्थ का विरोध आता है। छोटे या बड़े किसी भी जीव की घात करने वाली भाषा मुनि के लिए अवाच्य है। इसलिए यह भूतोपघातिनी का विशेषण होना चाहिए। जिस भाषा के प्रयोग से महान् भूतोपघात हो उसे गुरु-भूतोपघातिनी भाषा कहा जा सकता है[3]।

१—(क) जि० चू० पृ० २४६ : 'फरुसा' णाम णेहवज्जिया।
(ख) हा० टी० प० २१५ : 'परुषा भाषा' निष्ठुरा भावस्नेहरहिता।
२—आचा० २.४.१.६ सू० ३५६ वृ० : 'परुषां' मर्मोद्घाटनपराम्।
३—जि० चू० पृ० २४६ : जीए भासाए भासियाए गुरुओ भूयाणुवघाओ भवइ।

अगस्त्य चूर्णि में 'गुरु-भूतोपघातिनी' के तीन अर्थ किए गए हैं : (१) वृद्ध आदि गुरुजन या सब जीवों को उपतप्त करने वाली, (२) गुरु अर्थात् बड़े व्यक्तियों का उपघात करने वाली, जैसे—कोई विदेशागत व्यक्ति है। वह अपने को कुल-पुत्र या ब्राह्मण बतलाता है उसे दास आदि कहना उसके उपघात का हेतु बनता है। (३) गुरु अर्थात् बड़ी भूतोपघात करने वाली, जैसे—कोई ऐसी बात कहना जिससे विद्रोह भड़क जाए, अन्तःपुर आदि को मार डाले[1]।

यहाँ उपघात के प्राणिवध, पीड़ा और अभ्याख्यान—ये तीन अर्थ हो सकते हैं[2]।

प्रस्तुत श्लोक में स्नेह-वर्जित, पीड़ा और प्राणिवधकारक तथा अभ्याख्यानात्मक सत्य वचन बोलने का निषेध है।

श्लोक १३ :

१७. आचार...सम्बन्धी भाव-दोष को जानने वाला (आयारभावदोसन्नू ग) :

जिनदास चूर्णि और टीका में 'आयार' का कोई अर्थ नहीं किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'आयार' का अर्थ—'वचन-नियमन' किया है। भाव-दोष का अर्थ प्रदुष्ट चित्त है। काना किसी व्यक्ति का नाम हो उसे काना कहने में दोष नहीं है, किन्तु द्वेषपूर्ण चित्त से काने व्यक्ति को काना नहीं कहना चाहिए।

भाव-दोष का दूसरा अर्थ प्रमाद है। प्रमादवश किसी को काना नहीं कहना चाहिए[3]।

श्लोक १४ :

१८. श्लोक १४ :

होल, गोल आदि शब्द भिन्न-भिन्न देशों में प्रयुक्त होने वाले तुच्छता, दुश्चेष्टा, विग्रह, परिभव, दीनता और अनिष्टता के सूचक हैं। एक शब्द में ये अवज्ञा-सूचक शब्द हैं[4]। होल—निष्ठुर आमंत्रण। गोल—जारपुत्र। वृषल—शूद्र। द्रमक—रंक। दुर्भग—भाग्यहीन[5]।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग (२.४.१६) तथा 'होलावायं सहीवायं, गोयावाय च नो वदे' (सूत्रकृताङ्ग १.६.२७)।

श्लोक १५ :

१६. श्लोक १५ :

इन शब्दों का प्रयोग करने से स्नेह उत्पन्न होता है। 'यह श्रमण अभी भी लोक-संज्ञा को नहीं छोड़ रहा है, यह चाटुकारी

१—अ० चू० विद्धादीण गुरुण सव्वभूताण वा उवघातिणी (उवतापिणी) अहवा गुरूणि जाणि भूताणि महती, तेसिं कुलपुत्तबंभणत्त-भावित विदेसागत तहा जातीयकतसथव दासादि वदति जतो से उवघातो भवति। गुरुं वा भूतोवघात जा करेति रायतोऽराति अभिद्रोहातिणामरणंतिय सव्वावि सा न वत्तव्वा, किमुत अलिया।

२—(क) स्था० १०.१ सू० ७४१ वृ० : उवघात निस्सते-उपघाते-प्राणिवधे निश्रितम्, आश्रितम्, दशम मृषा।
(ख) नि० चू० : उपघात—पीडा व्यापादन वा।
(ग) प्र० वृ० ११ उवघाइय णिस्सिया—आघातनि सृता चौरस्त्वमित्याद्यभ्याख्यानम्।

३—अ० चू० : वयण-नियमण मायारो, एयमि आयारे सति भाव दोसो—पदुट्ठ चित्त, तेण भावदोसेण न भासेज्जा जति पुण काण चोरोति कस्सति णाम ततो भासेज्जावि अहवा आयारे भाव दोसो-पमातो। पमातेण ण भासेज्जा।

४—हा० टी० प० २१५ : इह होलादिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचका।

५—अ० चू० : होलेत्ति निठुर मामंतण देसीए भविल वदणमिव, एव गोल इतिदुच्चेठितातो, छणएणोवमाणवदण वसलो छद्दपरिभव वयण, भोयण निमित्त घरे घरे द्रमति गच्छतीति दूमको रको दुभगो अणिट्ठो।

है'—ऐसा लोग अनुभव करते हैं, इसलिए इनका निषेध किया गया है[1]।

श्लोक १६ :

२०. श्लोक १६ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'हले' और 'अन्ने' तरुणी स्त्री के लिए सम्बोधन-शब्द हैं। इनका प्रयोग महाराष्ट्र में होता था। लाट (मध्य और दक्षिणी गुजरात) देश में उसके लिए 'हला' शब्द का प्रयोग हुआ करता था। 'भट्टे' पुत्र-रहित स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था। 'सामिणी' यह लाट देश में प्रयुक्त होने वाला सम्मान-सूचक सम्बोधन-शब्द है और 'गोमिणी' प्रायः सब देशों में प्रयुक्त होता था। होले, गोले और वसुले—ये तीनों प्रिय वचन वाले आमत्रण हैं, जो कि गोल देश में प्रयुक्त होते थे[2]।

जिनदास के अनुसार 'हले' आमंत्रण का प्रयोग वरदा-तट में होता था, 'हला' का प्रयोग लाट देश में। 'अन्ने' का प्रयोग महाराष्ट्र में वेश्याओं के लिए होता था। 'भट्टे' का प्रयोग लाट देश में ननद के लिए होता था। 'सामिणी' और 'गोमिणी'—ये चाटुता के आमन्त्रण हैं। होले, गोले और वसुले—ये तीनों मधुर आमंत्रण हैं[3]।

श्लोक १७ :

२१. (नामधिज्जेण क ......गोत्तेण ख) :

प्राचीन काल में व्यक्ति के दो नाम होते थे—गोत्र-नाम और व्यक्तिगत-नाम। व्यक्ति को इन दोनों नामों से सम्बोधित किया जाता था। जैसे—भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य का नाम इन्द्रभूति था और वे आगमों में गोतम—इस गोत्रज नाम से प्रसिद्ध हैं।

पाणिनी ने गोत्र का अर्थ—पौत्र आदि अपत्य किया है[4]। यशस्वी और प्रसिद्ध पुरुष के परपर-वंशज गोत्र कहलाते थे। स्थानाङ्ग में काश्यप, गोतम, वत्स, कुत्स, कौशिक, मण्डव, वाशिष्ट—ये सात गोत्र बतलाये हैं[5]।

वैदिक साहित्य में गोत्र शब्द व्यक्ति विशेष या रक्त-सम्बन्ध से संबद्ध जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[6]।

बौधायनश्रौतसूत्र के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गोतम, अत्रि, वशिष्ठ और कश्यप—ये सात गोत्र कर्त्ता ऋषि हैं तथा आठवाँ गोत्र-कर्त्ता ऋषि अगस्त्य है। इनकी संतति या वंश-परम्परा को गोत्र कहा जाता है[7]

१—जि० चू० पृ० २५० : एयाणि अज्जियादीणि णो भासेज्जा, किं कारण ? जम्हा एय भणतस्स णेहो जायइ परोप्पर, लोगो य भणेज्जा, एवं वा लोगो चिंतेज्जा, एसऽज्जवि लोगसन्नं ण मुयइ, चाटुकारी वा।

२—अ० चू० : हले-अन्नेति, मरहट्ठेसु तरुणित्थी मामतण। हलेति लाडेसु। भट्टेति अव्म-रहित वयण पायो लाडेसु। समिणित्ति सव्व देसेसु। गोमिणी गोल्ल विसए। होले गोले वसुलेत्ति देसिए लालणगत्थाणीयाणि प्रियवयणामतणाणि।

३—जि० चू० पृ० २५० : तत्थ वरदातडे हलेत्ति आमतण, लाडविसए समाणवयमण्ण वा आमतण जहा हलित्ति, अण्णेत्ति मरहट्ठविसए आमतण, दोमूलक्खरगाण चाटुवयण अण्णेत्ति, भट्टेति लाडाण पतिभगिणी भण्णइ, सामिणी गोमिणिओ चाटुए वयण, होलेत्ति आमतण, जहा—'होलवणिओ ते पुच्छइ, सयक्कू परमेसाणो इदो। अण्णपि किर बारसा इदमहसत समतिरेक'॥ एव गोल्लवरगारि महुरं सप्पिवास आमतण।

४—पा० व्या० ४. १. १६२ : अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्।

५—स्था० ७.३. ५५१ : सत्त मूलगोत्ता प० त०—कासवा गोतमा वच्छा कोच्छा कोसिता मडवा वासिट्ठा।

६—अ० वे० ५. २१ ३।

७—प्रवराध्याय ५४।

इस श्लोक में बताया गया है कि नाम याद हो तो नाम लेकर सम्बोधित करे, नाम याद न हो तो गोत्र से सम्बोधित करे अथवा नाम या गोत्र दोनों में से जो अधिक उचित हो उससे सम्बोधित करे। अवस्था आदि की दृष्टि से जिस व्यक्ति के लिए जो उचित हो उसी शब्द से उसको सम्बोधित करे[1]। मध्य प्रदेश में वयोवृद्धा स्त्री को 'ईश्वरा' कहा जाता है, कहीं उसे 'धर्म-प्रिया' और कहीं 'धर्मशीला'। इस प्रकार जहाँ जो शब्द उचित हो, उसीसे सम्बोधित करे[2]।

२२. गुण-दोष का विचार कर (अभिगिज्झ ग) :

'अभिगिज्झ' शब्द की तुलना आचाराङ्ग (२. ४. १. ३५६) के 'अभिकख' शब्द से होती है। टीकाकार ने इसका अर्थ किया है—'अभिकाङ्क्ष्य-पर्यालोच्य' अर्थात् पर्यालोचन कर। प्रस्तुत श्लोक के 'अभिगिज्झ' शब्द का चूर्णिकार और टीकाकार दोनों को यही अर्थ अभिमत है[3]।

श्लोक १६ :

२३. श्लोक १६ :

हे! और भो! सामान्य आमन्त्रण शब्द हैं। 'अण्णं' यह महाराष्ट्र में पुरुष के सम्बोधन के लिये प्रयुक्त होता था। 'भट्टि' 'सामि' और 'गोमि'—ये पूजावाची शब्द हैं। 'होल' प्रभुवाची शब्द हैं। 'गोल' और 'वसुल' युवा पुरुष के लिए प्रयुक्त प्रिय-शब्द हैं[4]।

श्लोक २१ :

२४. श्लोक २१ :

शिष्य ने पूछा—यदि पञ्चेन्द्रिय जीवों के बारे में स्त्री-पुरुष का सन्देह हो तो उनके लिए जाति शब्द का प्रयोग करना चाहिए तब फिर चतुरिन्द्रिय तक के जीव जो नपुसक ही होते हैं, उनके लिये स्त्री और पुरुष लिङ्गवाची शब्दों का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? और यह जो प्रयोग किया जाता है, जैसे—

	पुरुष	स्त्री
पृथ्वी	पत्थर	मृत्तिका
जल	करक	उस्सा (अवश्याय)
अग्नि	मुर्मुर	ज्वाला
वायु	वात	वातुली (वात्या)
वनस्पति	आम्र	अंबिया

१—जि० चू० पृ० २५१ : जं तीए नामं तेण नामधिज्जेण सा इत्थी आलवियव्वा, जाहे नाम न सरेज्जा ताहे गोत्तेण आलवेज्जा, जहा कासव गोत्ते! एवमादि, 'जहारिहं' नाम जा वुड्ढा सा अम्होत्ति वा तुज्भेति वा भाणियव्वा, जा समाणवया सा तुमंति वा वत्तव्वा, वच्छं पुणो पप्प ईसरीति वा, समाणवया ऊणा वा तहावि तुब्भेत्ति भाणियव्वा, जेणप्पगारेण लोगो आभासइ जहा भट्टा गोमिणित्ति वा एवमादि।

२—हा० टी० प० २१६ : तत्र वयोवृद्धा मध्यदेशे ईश्वरा धर्मप्रियाऽन्यत्रोच्यते धर्मशीले इत्यादिना, अन्यथा च यथा न लोकोपघातः।

३—(क) जि० चू० पृ० २५१ : अभिगिज्झ नाम पुव्वमेव दोसगुणे चिंतेऊण।

(ख) हा० टी० प० २१६ : 'अभिगृह्य' गुणदोषानालोच्य।

४—अ० चू० : हे भो हरेत्ति सामण्ण मामंतणवयण। 'अण्ण' इति मरहट्ठाण भट्टि, सामि, गोमिया पूया वयणाणि निद्देसातिसु सव्व विभत्तिसु। होल इति पहुवयणं। गोल वसुल जवाणप्रियवयण।

द्वीन्द्रिय	शख	शुक्ति
त्रीन्द्रिय	मत्कोटक	पिपीलिका
चतुरिन्द्रिय	मधुकर	मधुकरी

क्या वह सही है ?

आचार्य ने कहा—जनपद-सत्य और व्यवहार-सत्य भाषा की दृष्टि से यह सही है।

शिष्य—तब फिर पचेन्द्रिय के लिए भी ऐसा हो सकता है ?

आचार्य—पचेन्द्रिय में स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों होते हैं, इसलिए उनका यथार्थ निर्देश करना चाहिए। असदिग्ध जानकारी के अभाव में सही निर्देश नहीं हो सकता इसलिए वहाँ 'जाति' शब्द का प्रयोग करना चाहिए[1]।

श्लोक २२ :

२५. श्लोक २२ :

	अवाच्य		अवाच्य
१ मनुष्य	स्थूल है।	३ मनुष्य	वध्य है।
पशु	स्थूल है।	पशु	वध्य है।
पक्षी	स्थूल है।	पक्षी	वध्य है।
अजगर	स्थूल है।	अजगर	वध्य है।
२ मनुष्य	प्रमेदुर है।	४ मनुष्य	पाक्य है।
पशु	प्रमेदुर है।	पशु	पाक्य है।
पक्षी	प्रमेदुर है।	पक्षी	पाक्य है।
अजगर	प्रमेदुर है।	अजगर	पाक्य है।

२६. वध्य (या वाह्य) (वज्झे ग) :

शीलाङ्कसूरि ने 'वज्झ' शब्द के दो संस्कृत रूप दिए हैं—वध्य और वाह्य। इनका क्रमशः अर्थ होता है—वध करने योग्य और वहन करने योग्य[2]।

अगस्त्य चूर्णि में मनुष्य की वध्यता के लिए पुरुष-मेध का उदाहरण दिया गया है[3]।

२७. पाक्य (पाइमे घ) :

टीकाकार ने इसका मूल अर्थ पकाने योग्य तथा मतान्तर के अनुसार काल-प्राप्त किया है[4]। शीलाङ्कसूरि ने इसके दो अर्थ किए हैं—पचन योग्य और पातन-योग्य—देवता आदि के बलि देने योग्य[5]।

१—हा० टी० प० २१७ : जइ लिंगवच्चए दोसो ता कीस पुढवादि नपुंसगत्तेवि पुरिसित्थियनिद्देसो पयट्टइ, जहा पत्थरो मट्टिआ करओ उस्सा मुम्मुरो जाला वाओ वाउली अयओ अयिलिया किमिओ जलूया मक्कोडओ कीडिआ भमरओ मच्छिया इच्चेवमादि ?, आयरिओ आह—जणवयसच्चेण ववहारसच्चेण य एव पयट्टइत्ति ण एत्थ दोसो, पंचिंदिएसु पुण ण एयमंगीकीरइ, गोत्ताकाईणवि ण सुदिट्ठधम्मत्ति विपरिणामसंभवाओ, पुच्छि अमामायारिकहणे वा गुणसंभवादिति।

२—आचा० २ १ ४ २. सू० ३६१ वृ० : वध्यो वहनयोग्यो वा।

३—अ० चू० : तत्थ मणुस्सो पुरिस मेधादिसु।

४—हा० टी० प० २१७ : पाक्य इति च नो वदेत, 'पाक्य' पाकप्रायोग्यः, कालप्राप्त इत्यन्ये।

५—आचा० २ १ ४ २ सू० ३६१ वृ० : पचनयोग्यो देवतादेः पातनयोग्यो वेति।

श्लोक २३ :

२८. श्लोक २३ :

पूर्वोक्त श्लोक में स्थूल आदि जिन चार शब्दों के प्रयोग का निषेध किया है उनकी जगह आवश्यकता होने पर परिवृद्ध आदि शब्दों के प्रयोग का विधान इस श्लोक में किया गया है।

अवाच्य	वाच्य
स्थूल	परिवृद्ध
प्रमेदुर	उपचित
वध्य या वाह्य	सजात और प्रीणित
पाक्य	महाकाय

आचाराङ्ग (२.४ २) में स्थूल आदि के स्थान पर परिवृद्ध-काय, उपचित-काय, स्थिर-सहनन, चित-मांस-शोणित और वहुप्रति-पूर्णेन्द्रिय शब्दों के प्रयोग का विधान है।

२९. परिवृद्ध (परिवुड्ढे क)

हरिभद्रसूरि ने इसका सस्कृत रूप 'परिवृद्ध' किया है और शीलाङ्कसूरि भी आचाराङ्ग (२.४ वृत्ति) में इसका यही रूप मानते हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार भी वृद्ध का वुड्ढ रूप वनता है[1]। चूर्णियों तथा कुछ प्राचीन आदर्शों में 'परिवूढ' ऐसा पाठ मिलता है।

उत्तराध्ययन (७. २, ६) में 'परिवूढ' शब्द का प्रयोग हुआ है। शान्त्याचार्य ने इसका संस्कृत रूप 'परिवृढ' और इसका अर्थ 'समर्थ' किया है[2]।

उपाध्याय कमलसंयम ने एक स्थल पर उसका संस्कृत रूप 'परिवृढ' और दूसरे स्थल पर 'परिवृद्ध' किया है[3]।

३०. उपचित (उवचिए ख) :

मांस के उपचय से उपचित[4]।

३१. संजात (युवा) (संजाए ग) :

संजात का अर्थ युवा है[5]।

३२. प्रीणित (पीणिए ग) :

प्रीणित का अर्थ है—आहार आदि से तृप्त[6]।

१—हैम० ८.२.४० : दग्धविदग्ध-वृद्धि वृद्धे ढः।

२—उत्त० वृ० वृ० पत्र २७३, २७४।

३—उत्त० स० पत्र १५८-१५९।

४—अ० चू० : उवचितो मसोवचएण।

५—अ० चू० : सजातो सम्मत्त—जोव्वणो।

६—अ० चू० : पीणितो आहारातितित्तो।

श्लोक २४ :

३३. दुहने योग्य हैं (दुज्झाओ क) :

दोह्य का अर्थ है—दुहने योग्य[१] अथवा दोहन-काल, जैसे—अभी इन गायों के दुहने का समय है[२]।

३४. बैल (गोरहग ख) :

गोरहग—तीन वर्ष का बछड़ा[३]। रथ की भाँति दौड़ने वाला बैल, जो रथ में जुत गया वह बैल, पाण्डु-मथुरा आदि में होने वाला बछड़ा[४]। टीका में 'गोरहग' का अर्थ कल्होड किया है[५]। कल्होड देशी शब्द है। इसका अर्थ है—वत्सतर—बछड़े से आगे की ओर सभोग में प्रवृत्त होने के पहले की अवस्था[६]।

३५. दमन करने योग्य हैं (दम्मा ख) :

दम्य अर्थात् दमन करने योग्य[७]। बधिया करने योग्य—कृत्रिम नपुंसक करने योग्य भी दम्य का अर्थ है।

३६. वहन करने योग्य है (वाहिमा ग) :

वाह्य—गाड़ी का भार ढोने में समर्थ[८]।

३७. रथ-योग्य है (रहजोग ग) :

अभिनव युवा होने के कारण यह बैल अल्प-काय है, वहुत भार ढोने में समर्थ नहीं है, इसलिए यह रथ-योग्य है[९]।

श्लोक २५ :

३८. श्लोक २५ :

इस तथा पूर्ववर्ती श्लोक के अनुसार—

१—हा० टी० प० २१७ : तथैव गावो 'दोह्या' दोहार्हा दोहसमय आसां वर्तत इत्यर्थ।

२—(क) आचा० २. १. ४. २ सू० ३६१ वृ० : दोहनयोग्या एता गावो दोहनकालो वा वर्त्तते।

(ख) जि० चू० पृ० २५३ : दोहणिज्जा दुज्झा, जहा गावीणं दोहणवेला वट्टइ।

३—सूत्र० १. ४ २ १३ वृ० : 'गोरहग'ति त्रिहायण बलीवर्दम्।

४—अ० चू० : गो जोग्गा रहा गोरह जोग्गत्तणेण गच्छंति गोरहगा पण्डु-मथुरादीसु किसोर-सरिसा गोपोतल्गा।

५—हा० टी० प० २१७ : गोरथकाः कल्होडाः।

६—दे० ना० २ ६. पृ० ५६ : कल्होडो वच्छयरे . . . ..कल्होडो वत्सतर।

७—(क) अ० चू० : दम्मा दमणपत्तकाला।

(ख) जि० चू० पृ० २५३ : दमणीया दम्मा, दमणपयोग्गा।१ वुत्त भवइ।

८—जि० चू० पृ० २५३ : वाहिमा नाम जे सगडादीभरसमत्था।

९—जि० चू० पृ० : २५३ : रथजोग्गा णाम अहिणवजोव्वणत्तणेण अप्पकाया, ण ताव बहुभारस्स समत्था, किन्तु संपय रहजोग्गा एतेचि।

अवाच्य	वाच्य
१. गाय दुहने योग्य है।	धेनु दूध देने वाली है।
२ बैल दम्य है।	बैल युवा है।
३. बैल हल में जोतने योग्य है।	बैल ह्रस्व है—छोटा है।
४ बैल वाह्य है।	बैल महालय—बड़ा है।
५ बैल रथ-योग्य है।	बैल संवहन योग्य है।

३९. बैल युवा है (जुवं गवे क) :

युवा बैल—चार वर्ष का बैल[1]।

४०. बड़ा है (महल्लए ग) :

दोनों चूर्णियों में 'महल्लए' के स्थान पर 'महव्वए' पाठ है[2]। आचाराङ्ग (२४२) में 'महल्लेइवा', 'महव्वएइवा'—ये दोनों पाठ हैं।

४१. धुरा को वहन करने वाला है (संवहणे घ) :

संवहण—जो धुरा को धारण करने में क्षम हो उसे संवहन कहा जाता है[3]।

श्लोक २७

४२. प्रासाद (पासाय क) :

एक खंभे वाले मकान को प्रासाद कहा जाता है[4]। चूर्णिकारों ने इसका व्युत्पत्तिक-लभ्य अर्थ भी किया है—जिसे देखकर लोगों के मन और आँखें प्रसन्न हों वह प्रासाद कहलाता है[5]।

४३. परिघ, अर्गला (फलिहग्गल ग) :

नगर-द्वार की आगल को परिघ और गृहद्वार की आगल को अर्गला कहा जाता है[6]।

१—जि० चू० पृ० २५४ : जुव गवो नाम जुवाणगोणोत्ति, चउहाणगो वा।
२—(क) अ० चू० : वाहिम मवि महव्वय मालवे।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : जो वाहिमो त महव्वय भणेज्जा।
३—(क) दश० दी० ७.२५ : संवहन धुर्यम्।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : जो रहजोगो त संवहण भणेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २१७ : संवहनमिति रथयोग्य संवहन वदेत्।
४—(क) जि० चू० पृ० २५४ : पासादस्स एगक्खभस्स।
(ख) हा० टी० प० २१८ : एकस्तम्भ· प्रासादः।
५—(क) अ० चू० : पसीदति जमि जणस्स मणोणयणाणि सो पासादो।
(ख) जि० चू० पृ० २५४ : पसीयति जमि जणस्स णयणाणि पासादो भण्णइ।
६—हा० टी० प० २१८ : तत्र नगरद्वारे परिघः गोपुरकपाटादिष्वर्गला।

४४. जल की कुंडी के लिए (उदगदोणिणं घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार—एक काठ के बने हुए जल-मार्ग को अथवा काठ की बनी हुई जिस प्रणाली से रहँट आदि के जल का संचार हो उसे 'द्रोणि' कहा जाता है[१]।

जिनदास महत्तर के अनुसार जिसमें रहँट की घड़ियाँ पानी डालें वह जल-कुंडी अथवा काठ की बनी हुई वह कुंडी जो कम पानी वाले देशों में जल से भरकर रखी जाती है और जहाँ स्नान तथा कुल्ला किया जाता है, वह 'उदगदोणि' कहलाती है[२]।

टीकाकार ने इसका अर्थ—रहँट के जल को धारण करने वाली—किया है[३]। आचाराङ्ग (२.४.२) में 'उदजोग्गाइ वा दोण-जोग्गाइ वा'—ऐसा पाठ है। इसमें 'उदक' और 'द्रोण'—शब्द का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसका अर्थ यह है कि इस वृक्ष की लकड़ी उदक में रहने योग्य है अथवा द्रोण के योग्य है। द्रोण अनाज को मापने का एक साधन है[४]। सम्भव है चूर्णिकार और टीकाकार का ध्यान इन दोनों के पार्थक्य की ओर न गया हो। 'द्रोणी' का अर्थ जल-कुंडी के सिवाय काष्ठमय नौका भी हो सकता है[५]। अर्थशास्त्र में 'द्रोणी' का अर्थ काष्ठमय जलाधार किया है[६]।

श्लोक २८ :

४५. काष्ठ-पात्री (चंगवेरे क) :

काष्ठमयी या वशमयी पात्री को 'चगवेर' कहा जाता है[७]। प्रश्न व्याकरण में इसी अर्थ में 'चंगेरी' शब्द का प्रयोग मिलता है[८]।

४६. मयिक (मइयं ख) :

मइय अर्थात् बोए हुए बीजों को ढाँकने के काम में लाया जाने वाला एक कृषि का उपकरण[९]। आचाराङ्ग में 'मइय' की जगह 'कुलिय' शब्द का प्रयोग हुआ है[१०]। शीलाङ्काचार्य ने 'कुलिय' का अर्थ नहीं किया है। अनुयोगद्वार की वृत्ति में इसका अर्थ यह है—कृषि का उपकरण विशेष जिसके नीचे तिरछे और तीखी लोह की पट्टियां बंधी हुई हों, वेसा लघुतर काष्ठ। इसका उपयोग खेत की घास काटने के लिये किया जाता है[११]। प्रश्न व्याकरण में इसी अर्थ में 'मत्तिय' शब्द मिलता है[१२]।

१—अ० चू० : एग कट्ठ उदगजाण मेव जेण वा अरहट्टादीण उदग सचरति सा दोणि।

२—जि० चू० पृ० २५४ : उदगदोणी अरहट्टस्स भवति, जीए उवरिं घडीओ पाणियं पाडेंति, अहवा उदगदोणी घरांगणए कट्ठमयी अप्पोद-एसु देसेसु कीरइ, तत्थ मणुस्सा ण्हातंति आयमंति वा।

३—हा० टी० प० २१८ : उदकद्रोण्योऽरहट्टजलधारिका।

४—अनु० सू० १३२ : चत्तारि आढगाइ दोणो।

५—(क) प्रश्न० (आश्रवद्वार) १.१३ वृ० : दोणि—द्रोणी नौ.।

(ख) अ० चि० ३ ५४१।

६—कौटि० अर्थ० २.५६ : द्रोणी दारुमयो जलाधारो जलपूर्ण।

७—जि० चू० पृ० २५४ : चगवेर कट्ठमयभायण भाणद, अहवा चगेरी वसमयी भवति।

८—प्रश्न० (आश्रवद्वार) १.१३ वृ० . चगेरी—चङ्गेरी महती काष्ठ-पात्री बृहत्पटलिका वा।

९—हा० टी० प० २१८ : मयिकम्—उप्तबीजाच्छादनम्।

१०—आचा० २ ४.२. सू० ३६१ . पीढचगवेरनंगलकुलियजतलट्ठीनाभिगढीआसणजोग्गाइ वा।

११—अनु० वृ० : अधोनिबद्धतिर्यक्तीक्ष्णलोहपट्टिक कुलिकं लघुतर काष्ठ तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रे वाह्यते तन्मरुमंडलादि प्रतीतं कुलिक मुच्यते।

१२—प्रश्न० (आश्रवद्वार) १ वृ० : मत्तियत्ति मत्तिक, येन कृष्ट वा क्षेत्र मृज्यते।

४७. (गंडिया घ) :

गण्डिका अर्थात् अहरन[1], काष्ठफलक[2]। कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक स्थल पर गण्डिका को जल-सतरण का उपाय बतलाया है[3]। व्याख्याकार ने माधव को उद्धृत करते हुए उसका अर्थ प्लवन-काष्ठ किया है[4]।

श्लोक २९ :

४८. उपाश्रय के (उवस्सए ख) :

उपाश्रय—घर अथवा साधुओं के रहने का स्थान[5]।

श्लोक ३१ :

४९. दीर्घ···हैं, वृत्त···हैं, महालय···हैं (दीहवट्टा महालया ख) :

नालिकेर, ताड आदि वृक्ष दीर्घ होते हैं[6]। अशोक, नन्दि आदि वृक्ष वृत्त होते हैं[7]। बरगद आदि वृक्ष महालय होते हैं[8] अथवा जो वृक्ष बहु विस्तृत होने के कारण नानाविध पक्षियों के आधारभूत हों, उन्हें महालय कहा जाता है[9]।

५०. प्रशाखा वाले हैं (विडिमा ग) :

विटपी—जिसमें प्रशाखाएं फूट गई हों[10]।

श्लोक ३२ :

५१. पकाकर खाने योग्य हैं (पायखज्जाइं ख) :

पाक-खाद्य—इन फलों में गुठलियाँ पड गई हैं, इसलिए ये भूसे आदि में पकाकर खाने योग्य हैं[11]।

१—(क) हा० टी० प० २१८ : गण्डिका सुवर्णकाराणामधिकरणी (अहिगरणी) स्थापनी।
(ख) कौटि० अर्थ० २. ३२ : गण्डिका—काष्ठाधिकरणी।

२—कौटि० अर्थ० २. ३१ : गण्डिकासु कुट्टयेत्, (व्याख्या) गण्डिकासु काष्ठफलकेषु कुट्टयेत्।

३—वही १०२।

४—वही १०२ : गण्डिकाभि प्लवनकाष्ठैरिति माधव.।

५—अ० चू० : उवस्सय साधुणिलयणं।

६—जि० चू० पृ० २५५ : दीहा जहा नालिएरतालमादी।

७—(क) जि० चू० पृ० २५५ : वट्टा जहा असोगमाई।
(ख) हा० टी० प० २१८ : वृत्ता नन्दिवृक्षादय.।

८—जि० चू० पृ० २५५ : महालया नाम वडमादि।

९—जि० चू० पृ० २५५ : अहवा महसद्दो बाहुल्ले वट्टइ, बहूण पक्खिसंघाण आलया महालया।

१०—(क) जि० चू० पृ० २५५ : 'विडिमा' तत्थ जे खधओ ते साला भण्णंति, सालाहितो जे णिग्गया ते विडिमा भण्णंति।
(ख) हा० टी० प० २१८ : 'विटपिनः' प्रशाखावन्तः।

११—(क) जि० चू० पृ० २५६ : पाइखज्जाणि णाम जहा एताणि फलाणि बद्धट्ठियाणि संपयं कारसपलादिसु पाइऊण खाइयव्वाणित्ति।
(ख) हा० टी० प० २१८-१९ : 'पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनीति गर्तप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपाच्य भक्षणयोग्यानीति।

५२. वेलोचित…हैं (वेलोइयाइं ग) :

जो फल अति पक्व होने के कारण डाल पर लगा न रह सके—तत्काल तोड़ने योग्य हो उसे 'वेलोचित' कहा जाता है[1]।

५३. इनमें गुठली नहीं पड़ी है (टालाइं ग) :

जिस फल में गुठली न पड़ी हो उसे 'टाल' कहा जाता है[2]।

५४. ये दो टुकड़े करने योग्य हैं (वेहिमाइं घ) :

जिन आमों में गुठली न पड़ी हों उनकी फाकें की जाती हैं[3]। वैसे आमों को देखकर उन्हें वेध्य नहीं कहना चाहिए।

श्लोक ३३ :

५५. श्लोक ३३ :

मार्ग बताने के लिये वृक्ष का संकेत करना जरूरी हो तो—'वृक्ष पक्व हैं' के स्थान पर ये असलृत हैं—फल धारण करने में असमर्थ हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[4]।

पाक-खाद्य के स्थान पर ये वृक्ष बहुनिर्वर्तित फल (प्रायः निष्पन्न फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[5]।

'वेलोचित' के स्थान पर ये वृक्ष बहु सम्भूत (एक साथ उत्पन्न बहुत फल वाले हैं) इस प्रकार कहा जा सकता है[6]।

'टाल—इन फलों में गुठली नहीं पड़ी है' के स्थान पर ये फल भूत-रूप (कोमल) हैं—इस प्रकार कहा जा सकता है[7]।

'द्वैधिक—दो टुकड़े करने योग्य' के स्थान पर क्या कहना चाहिए? यह न तो यहाँ बतलाया गया है और न आचाराङ्ग में भी। इससे यह जाना जा सकता है कि 'टाल' और 'द्वैधिक' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित हैं। आचार के लिए केरी या अँबिया (बिना जाली—अन्दर का तन्तु पड़ा आम का कच्चा फल) तोड़ी जाती है और उसकी फाकें की जाती हैं, इसलिए 'टाल' और 'वेहिम' कहने का निषेध है।

५६. (बहुनिवट्टिमा घ) :

इसमें मकार दीर्घ है, वह अलाक्षणिक है।

१—(क) हा० टी० प० २१६ : 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अत: परं कालं न विषहन्ति इत्यर्थः ।

(ख) जि० चू० पृ० २५६ : 'वेलोइयाणि' नाम वेला-कालो, तं जा णिति वेला तेसिं उच्चिणिऊणति, अतिपक्काणि एयाणि पडंति जइ न उच्चिणिज्जति।

२—(क) जि० चू० पृ० २५६ : टालाणि नाम अबद्धट्ठिगाणि भन्नति।

(ख) हा० टी० प० २१६ : 'टालानि' अबद्धास्थीनि कोमलानीति।

३—(क) जि० चू० पृ० २५६ : वेहिमं, अबद्धट्ठिगाण अयाण पेसियाओ कीरति।

(ख) हा० टी० प० २१६ . 'द्वैधिकानी'ति पेशीसंपादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि।

४—हा० टी० प० २१६ : असमर्था 'एते' आम्रा, अतिभारेण न शक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थः।

५—हा० टी० प० २१६ : बहूनि निर्वर्तितानि—बद्धास्थीनि फलानि येषु ते तथा, अनेन पाकखाद्यार्थ उक्तः।

६—हा० टी० प० २१६ : 'बहुसंभूता' बहूनि सम्भूतानि—पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः।

७—(क) जि० चू० पृ० २५६ : 'भूतरूवा' णाम फलगुणोववेया।

(ख) हा० टी० प० २१६ : भूतानि रूपाणि—अबद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालार्थ उपलक्षितः।

श्लोक ३४ :

५७. औषधियाँ (ओसहीओ [क]) :

एक फसला पौधा, चावल, गेहूँ आदि[1]।

५८. अपक्व हैं (नीलियाओ [ख]) :

नीलिका का अर्थ हरी या अपक्व है[2]।

५६. छवि (फली) वाली हैं (छवी इय [ख]) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'नीलिया' औषधि का[3] और टीका के अनुसार 'छवि' का विशेषण है[4]।

टीकाकार को सभवत 'फलियाँ नीली हैं, कच्ची हैं' यह अर्थ अभिप्रेत रहा है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पक्काओ' और 'नीलियाओ' 'छवी इय' के भी विशेषण होते हैं, जैसे—फलियाँ पक गई हैं या अपक्व हैं[5]।

आचाराङ्ग के अनुसार पक्काओ, नीलियाओ, छवीइ, लाइमा, भज्जिमा, पिहुखज्जा—ये सारे 'ओसहिओ' के विशेषण हैं[6]।

६०. चिड़वा वनाकर खाने योग्य हैं (पिहुखज्ज [घ]) :

पृथुक का अर्थ चिडवा है[7]। आचाराङ्ग (२.१.४ २) में 'वहुखज्जाइवा' ऐसा पाठ है। शीलाङ्कसूरि ने उसका वैकल्पिक रूप में वही अर्थ किया है जो 'पिहुखज्ज' का है[8]।

श्लोक ३५ :

६१. श्लोक ३५ :

(१) रूढ़   (४) उत्सृत
(२) वहुसम्भूत   (५) गर्भित
(३) स्थिर   (६) प्रसूत
(७) ससार

वनस्पति की ये सात अवस्थाएँ हैं। इनमें वीज के अंकुरित होने से पुनर् वीज वनने तक की अवस्थाओं का क्रम है।

१—(क) अ० चू० : ओसहिओ फलपाकपज्जत्ताओ सालिमादिओ।
(ख) हा० टी० प० २१६ · 'ओषधय' शाल्यादिलक्षणाः।
२—अ० चू० · णवा पाकपत्ताओ णीलियाओ।
३—जि० चू० पृ० २५६ : तत्थ सालिवीहिमादियातो ताओ पक्काओ नीलियाओ वा णो भणेज्जा, छविग्गहणेण णिप्पवालिसेंदगादीणं सिगातो छविमताओ णो भणेज्जा।
४—हा० टी० प० २१६ : तथा नीलाश्छवय इति वा वल्लचवलकादिफललक्षणा.।
५—अ० चू० : छवीओ सपलीओ णिप्पावादीण तओ वि पक्काओ नीलिताओ वा।
६—आचा० २ १.४.२ सू० ३६१ : से भिक्खू वा भिक्खुणी वा वहुसभूया ओसही पेहाए तहावि ताओ न एव वइज्जा, तजहा—पक्काइ वा नीलियाइ वा छवीइयाइ वा लाइमाइ वा भज्जिमाइ वा वहुखज्जाइ वा।
७—(क) अ० चि० ३.६५ · पृथुकश्चिपिटस्तुल्यौ।
(ख) जि० चू० पृ० २५६ : पिहुखज्जाओ नाम जवगोधूमादीण पिहुगा कीरति ताधे खज्जति।
(ग) हा० टी० प० २१६ : पृथुका अर्धपक्वशाल्यादिपु क्रियन्ते।
८—आचा० २ १.४.२ सू० ३६१ वृ० : 'वहुखज्जा' वहुभक्ष्या पृथुकरणयोग्या वेति।

(१) बीज बोने के पश्चात् जब वह प्रादुर्भूत होता है तो दोनों बीज-पत्र एक दूसरे से अलग हो जाते हैं, भ्रूणाग्र को बाहर निकलने का मार्ग मिलता है—इस अवस्था को 'रूढ़' कहा जाता है।

(२) पृथ्वी के ऊपर आने के पश्चात् बीज-पत्र हरे हो जाते हैं और बीजांकुर की पहली पत्ती बन जाते हैं—इस अवस्था को 'सम्भूत' कहा जाता है।

(३) भ्रूणमूल नीचे की ओर बढ़कर जड़ के रूप में विस्तार पाता है—इस अवस्था को 'स्थिर' कहा जाता है।

(४) भ्रूणाग्र स्तम्भ के रूप में आगे बढ़ता है इसे 'उत्सृत' कहा जाता है।

(५) आरोह पूर्ण हो जाता है और भुट्टा नहीं निकलता उस अवस्था को 'गर्भित' कहा जाता है।

(६) भुट्टा निकलने पर उसे 'प्रसूत' और

(७) दाने पड़ जाने पर उसे 'ससार' कहा जाता है।

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार—(१) अंकुरित को रूढ (२) सुफलित (विकसित) को बहुसम्भूत (३) उपघात से मुक्त बीजांकुर की उत्पादक शक्ति को स्थिर (४) सुसवर्धित स्तम्भ को उत्सृत (५) भुट्टा न निकला हो तो उसे गर्भित (६) भुट्टा निकलने पर प्रसूत और (७) दाने पड़ने पर ससार कहा जाता है[1]।

जिनदास चूर्णि और टीका में भी शब्दान्तर के साथ लगभग यही अर्थ है[2]।

श्लोक ३६ :

६२. संखडि (जीमनवार) (संखडिं क):

भोज (जीमनवार या प्रकरण) में जीव-वध होता है, इसलिए इसे 'सखडि' कहा जाता है[3]। भोज में अन्न का संस्कार किया जाता है—पकाया जाता है, इसलिए इसे संस्कृति भी कहा जाता है।

६३. ये कृत्य करणीय हैं (किच्चं कज्जं ख):

किच्च—कृत्य अर्थात् मृत-भोज। पितर आदि देवों के प्रीति-सम्पादनार्थ 'कृत्य' किए जाते थे। 'गृहस्थ को ये कृत्य करने चाहिए'—ऐसा मुनि नहीं कह सकता। इससे मिथ्यात्व की वृद्धि होती है[4]।

१—(क) अ० चू० : विरूढा—अंकुरिता।
(ख) ,, : बहुसम्भूता—सुफलिता।
(ग) ,, : जोग्गादि उवघातातीताओ थिरा।
(घ) ,, : सुसवड्ढिता—उस्सढा।
(ङ) ,, : अणिव्विसुणाओ—गब्भिणाओ।
(च) ,, : णिव्विसुताओ—पसूताओ।
(छ) ,, सव्वोववातविरहिताओ सुणिप्फणाओ ससाराओ।

२—(क) जि० चू० पृ० २५७ : 'विरूढा' णाम जाता, बहुसभूया णाम निप्पन्ना, थिरा णाम निब्भयीभूया, उसगया यत्ति उस्सिया भण्णति, गब्भिया णाम जासि ण ताव सीसय निप्फिड इत्ति, निप्फाडिएसु पसूताओ भण्णति, ससारातो नाम सहसारेण ससारातो सतंदुला ओत्ति वुत्त भवइ।
(ख) हा० टी० प० २१६ : 'रूढा' प्रादुर्भूता. 'बहुसंभूता' निष्पन्नप्राया…… 'उत्सृता' इति उपघातेभ्यो निर्गता इति वा, तथा 'गर्भिता' अनिर्गतशीर्षका 'प्रसूता' निर्गतशीर्षका 'ससारा' सजाततन्दुलादिसारा.।

३—(क) जि० चू० पृ० २५७ : छण्हं जीवनिकायाण आउयाणि संखडिज्जंति जीए सा संखडी भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० २१६ : संखण्ड्यन्ते प्राणिनामायूंषि यस्यां प्रकरणक्रियायां सा संखडी।

४—(क) अ० चू० : किच्चमेयं धरत्थेण देवपीति मणुस्सकज्जमिति।
(ख) जि० चू० पृ० २५७ : किच्चमेयं जं पितीण देवयाण य अट्ठाए दिज्जइ, करणिज्जमेयं ज पियकारियं देवकारियं वा किज्जइ।
(ग) हा० टी० प० २१६ : 'करणीये' ति पित्रादिनिमित्त कृत्यैवेति नो वदेत्।

'कृत्य' शब्द का प्रयोग हरिभद्र सूरी ने भी किया है :

संखडि-पमुहे किच्चे, सरसाहारं खुजे पगिण्हंति।
भत्तठं थुव्वति, वणीमगा ते वि न हु मुणिणो ॥

श्लोक ३७ :

६४. पणितार्थ (धन के लिए जीवन की बाजी लगाने वाला) (पणियट्ठ ख) :

चोर धन के अर्थी होते हैं। वे उसके लिए अपने प्राणों की भी बाजी लगा देते हैं[1]। इसीलिए उन्हें सांकेतिक भाषा में पणितार्थ कहा जाता है। प्रयोजन होने पर भी भाषा-विवेक सम्पन्न मुनि को वैसे सांकेतिक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जिससे कार्य भी सध जाए और कोई अनर्थ भी न हो।

श्लोक ३८ :

६५. (कायतिज्ज ख) :

इसका पाठान्तर 'कायपेज्ज' है। उसका अर्थ है काकपेया नदियाँ अर्थात् तट पर बैठे हुए कौए जिनका जल पी सकें वे नदियाँ[2]। किन्तु इसी श्लोक के चौथे चरण में 'पाणिपेज्ज' पाठ है। जिनके तट पर बैठे हुए प्राणी जल पी सकें वे नदियाँ 'पाणिपेज्ज' कहलाती हैं[3]। इसलिए उक्त पाठान्तर विशेष अर्थवान् नहीं लगता।

श्लोक ३९ :

६६. दूसरी नदियों के द्वारा जल का वेग बढ़ रहा है (उप्पिलोदगा ख) :

दूसरी नदियों के द्वारा जिनका जल उत्पीड़ित होता हो वे या बहुत भरने के कारण जिनका जल उत्पीडित हो गया हो—दूसरी ओर मुड़ गया हो—वे नदियाँ 'उप्पिलोदगा' कहलाती हैं[4]।

श्लोक ४१ :

६७. श्लोक ४१ :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'सुकृत' सर्व क्रिया का प्रशसक (अनुमोदक) वचन है। इसी प्रकार 'सुपक्व' पाक-क्रिया, 'सुच्छिन्न' छेद-क्रिया, 'सुहृत' हरण-क्रिया, 'सुमृत' लीन-क्रिया, 'सुनिष्ठित' सम्पन्न-क्रिया, 'सुलष्ट' शोभन या विशिष्ट-क्रिया के प्रशसक वचन हैं। दशवैकालिक-चूर्णिकार और टीकाकार इनके उदाहरण भोजन-विषयक भी देते हैं और सामान्य भी।

१—हा० टी० प० २१९ : पणितेनार्थोऽस्येति पणितार्थः, प्राणद्यूतप्रयोजन इत्यर्थ.।

२—जि० चू० पृ० २५८ : अण्णे पुण एव पढति, जहा-कायपेज्जति नो वदे, काआ तडत्था पिबतीति कायपेज्जातो।

३—जि० चू० पृ० २५८ : तडत्थिएहि पाणीहि पिज्जतीति पाणिपिज्जाओ।

४—जि० चू० पृ० २५८ : 'उप्पिलोदगा' नाम जासि परनदीहि उप्पीलियाणि उदगाणि, अहवा बहुउप्पिलोदओ जासि अइभरियत्तणेण अण्णओ पाणियं वच्चइ।

उत्तराध्ययन के टीकाकार कमल सयमोपाध्याय इसके सारे उदाहरण भोजन-विषयक देते हैं[1]। नेमिचन्द्राचार्य इन सारे प्रयोगों की भोजन-विषयक व्याख्या कर विकल्प के रूप में सुपक्व शब्द को छोड़कर शेष शब्दों की सामान्य विषयक व्याख्या भी करते हैं[2]।

सुकृत आदि के प्रयोग सामान्य हो सकते हैं, किन्तु इस श्लोक में मुख्यतया भोजन के लिए प्रयुक्त हैं—ऐसा लगता है।

आचाराङ्ग में कहा है—भिक्षु बने हुए भोजन को देखकर यह बहुत अच्छा किया है—इस प्रकार न कहे[3]।

दशवैकालिक के प्रस्तुत श्लोक की तुलना इसीसे होती है, इससे यह सहज ही जाना जाता है कि यहाँ ये सारे प्रयोग भोजन आदि से सम्बन्धित हैं।

सुकृत आदि शब्दों का निरवद्य प्रयोग किया जा सकता है। जैसे—इसने बहुत अच्छी सेवा की, इसका ब्रह्मचर्य पका हुआ है। इसने स्नेह-बन्धन को बहुत अच्छी तरह छेद डाला है आदि-आदि[4]।

६८. बहुत अच्छा किया है (सुकडे त्ति क) :

जिसे स्नेह, नमक, कालीमिर्च आदि मसाले के साथ सिद्ध किया जाए वह 'कृत' कहलाता है। सुकृत अर्थात् बहुत अच्छा किया हुआ[5]।

श्लोक ४२ :

६९. कर्म-हेतुक (कम्महेउयं ग) :

कर्म-हेतुक का अर्थ है—शिक्षापूर्वक या सधे हुए हाथों से किया हुआ[6]।

श्लोक ४३ :

७०. यह अभी विक्रेय (बेचने योग्य) नहीं है (अवक्कियं ग) :

हस्तलिखित (ख और ग) आदर्शों में अचक्किय, अगस्त्य चूर्णि में अपक्किय तथा कुछ आदर्शों में अविक्किय है। दोनों चूर्णिकारों

१—उत्त० स० १.३६ : सुकृतम्—अन्नादि, सुपक्व—घृतपूर्णादि, सुच्छिन्न—पत्र-शाकादि, सुहृतं—शाकादेस्तिक्तादि, सुमृत—घृतादि सक्तुसूपादौ, सुनिष्ठित—रसप्रकर्षतया निष्ठांगतम्, सुलष्ट—शोभन शाल्यादिभरणडोज्वलादि प्रकारैरेवमन्यदपि सावद्य वर्जयेत् मुनि।

२—उत्त० ने० १.३६ वृ० . यद्वा सुष्ठु कृत यदनेनाऽराते प्रतिकृत, सुपक्व पूर्ववत्, सुच्छिन्नोऽय न्यग्रोधद्रुमादि, सुहृतं कदर्यस्य धन चौरादिभि, सुमृतोऽय प्रत्यनीकधिग्वर्णादि, सुनिष्ठितोऽय प्रासादादि, सुलष्टोऽय करितुरगादिरिति सामान्येनैव सावद्य वचो वर्जयेद मुनि।

३—आचा० २.४ २ सू० ३६० . से भिक्खू वा, भिक्खुणी वा असण वा पाण वा खाइम वा साइमं वा उवक्खडिय पेहाए, तहावि त णो एव वदेज्जा, तजहा—सुकडे ति वा, सुट्ठकडे ति वा, साहुकडे ति वा, कल्लाणे ति वा, करणिज्जे ति वा। एयप्पगारं भास सावज्जं जाव णो भासेज्जा।

४—उत्त० ने० १ ३६ वृ० : निरवद्य तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्न स्नेहनिगडादि, सुहृतोऽयमुत्प्राजयितुकामेभ्यो निजकेभ्यः शैक्षक, सुमृतमस्य पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितोऽय साध्वाचारे, सुलष्टोऽय दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिरूपम्।

५—अ० (सू०) २७ २६४ की व्याख्या :

'अस्नेहलवण सर्वमकृत कटुकैर्विना।
विज्ञेय लवणस्नेह-कटुकै सस्कृत कृतम्॥'

६—जि० चू० पृ० २५६ · कम्महेउयं नाम सिक्खापुव्वगति वुत्त भवति।

ने इसका अर्थ 'असक्क' (अशक्य) किया है[1]। उसके आधार पर 'अचक्किय' पाठ की कल्पना भी की जा सकती है।

हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—असंस्कृत—दूसरी जगह सुलभ किया है[2]।

७१. इसका गुण वर्णन नहीं किया जा सकता (अचियत्तं घ) :

जिनदास चूर्णि में इसका अर्थ अचिन्त्य[3] और टीका में अप्रीतिकर[4] किया गया है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह पाठ "अचितितं' होना चाहिए[5]।

श्लोक ४७ :

७२. श्लोक ४७ :

असयमी को आ-जा आदि क्यों नहीं कहना चाहिए ? इस प्रश्न के समाधान में चूर्णिकार कहते हैं—असयमी पुरुष तपे हुए लोहे के गोले के समान होते हैं। गोले को जिधर से छूओ वह उधर से जला देता है वैसे ही असयमी मनुष्य चारों ओर से जीवों को कष्ट देने वाला होता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नहीं होता फिर जागते हुए का तो कहना ही क्या[6] ?

श्लोक ४८ :

७३. जो साधु हो उसी को साधु कहे (साहुं साहु त्ति आलवे घ) :

साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नहीं होता, वास्तव में साधु वह होता है जो निर्वाण-साधक-योग की साधना करे[7]।

श्लोक ५० :

७४. श्लोक ५० :

अमुक व्यक्ति या पक्ष की विजय हो, यह कहने से युद्ध के अनुमोदन का दोष लगता है और दूसरे पक्ष को द्वेष उत्पन्न होता है, इसलिए मुनि को ऐसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए[8]।

१—(क) अ० चू० : अवक्किय मसक्क।

(ख) जि० चू० पृ० २६० : अविक्किय नाम असक्क, जहा कइएण विक्कायएण वा पुच्छिओ इमस्स मोल्लं करेहित्ति, ताहे भणियव्वं—को एतस्स मोल्लं करेउ समत्थोत्ति, एव अविक्किय भण्णइ।

२—हा० टी० प० २२१ : 'अविक्किअति' असस्कृत सुलभमीदृशमन्यत्रापि।

३—जि० चू० पृ० २६० : अचिअत्तं णाम ण एतस्स गुणा अम्हारिसेहिं पागएहिं चिंतिज्जति।

४—हा० टी० प० २२१ : अविअतं वा—अप्रीतिकरम्।

५—अ० चू० : अचिंतित चिंतेतु पि ण तीरति।

६—जि० चू० पृ० २६१ : अस्सजतो सव्वतो दोसमावहति चिट्ठतो तत्तायगोलो, जहा तत्तायगोलो जओ छिवइ ततो डहइ तहा असजओवि सयमाणोऽवि णो जीवाण अणुवरोधकारओ भवति, किं पुण जागरमाणोत्ति।

७—जि० चू० पृ० २६१ : जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयति ते भावसाधवो भण्णति।

८—(क) जि० चू० पृ० २६२ : तत्थ अमुयाण जतो होउत्ति भणिए अणुमइए दोसो भवति, तप्पक्खिओ वा पओसमावज्जेज्जा, अओ एरिस भास णो वएज्जा।

(ख) हा० टी० प० २२२ : 'अमुकानां' ·····जयो भवतु मा वा भवत्विति नो वदेद्, अधिकरणतत्स्वाम्यादि द्वेषदोषप्रसङ्गादिति।

श्लोक ५१ :

७५. श्लोक ५१ :

जिसमें अपनी या दूसरों की शारीरिक सुख-सुविधा के लिए अनुकूल स्थिति के होने और प्रतिकूल स्थिति के न होने की आशंसा हो वैसा वचन मुनि न कहे—इस दृष्टि से यह निषेध है[1]।

७६. क्षेम (खेमं ख) :

शत्रु-सेना तथा इस प्रकार का और कोई उपद्रव नहीं होता, उस स्थिति का नाम क्षेम है[2]। व्यवहार भाष्य की टीका में क्षेम का अर्थ शुभ लक्षण किया है। उससे राज्य भर में नीरोगता व्याप्त रहती है[3]।

७७. सुभिक्ष (धायं ख) :

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—सुभिक्ष[4]।

७८. शिव (सिवं ख) :

शिव अर्थात् रोग, मारी का अभाव[5], उपद्रव न होना[6]।

श्लोक ५२ :

७९. श्लोक ५२ :

मेह, नभ और राजा देव नहीं हैं। उन्हें देव कहने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है, इसलिए उन्हें देव नहीं कहना चाहिए[7]।

वैदिक साहित्य में आकाश, मेह और राजा को देव माना गया है किन्तु यह वस्तु-स्थिति से दूर है। जनता में मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया गया है।

तुलना के लिए देखिए आचाराङ्ग (२१४१)।

१—अ० चू० : एताणि सरीर सुह हेउ पयाण वा णो वदे।

२—(क) अ० चू० : खेम परचक्कातिणिरुवद्दव।

(ख) हा० टी० प० २२२ : 'क्षेम' राजविड्वरशून्यम्।

३—व्य० उ० ३ गाथा २०६ : क्षेमं नाम सुलक्षण यद् वशात् सर्वत्र राज्ये नीरोगता।

४—(क) अ० चू० : धात सुभिक्खं।

(ख) हा० टी० प० २२२ : 'ध्रात' सुभिक्षम्।

५—अ० चू० : कुलरोगमारीविरहितं शिवम्।

६—हा० टी० प० २२२ : 'शिव' मिति चोपसर्गरहितम्।

७—(क) अ० चू० : मिच्छत्तथिरीकरणादयो दोसा इति।

(ख) जि० चू० पृ० २६२ : तत्थ मिच्छत्तथिरीकरादि दोसा भवंति।

(ग) हा० टी० प० २२३ : मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात्।

८०. नभ (नहं क) :

मिथ्यावाद से बचने के लिए 'आकाश' को देव कहने का निषेध किया गया है। प्रकृति के उपासक आकाश को देव मानते थे। प्रश्न उपनिषद् में 'आकाश' को देव कहा गया है। आचार्य पिप्पलाद ने उससे कहा—वह देव आकाश है। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक् (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ), मन (अन्तःकरण) और चक्षु (ज्ञानेन्द्रिय-समूह) (ये भी देव हैं)। ये सभी अपनी महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं—हम ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करते हैं[1]।

८१. मानव (माणवं क) :

यहाँ मानव (राजा) को देव कहने का निषेध किया गया है। टीकाकार के अनुसार मानव को देव कहने से मिथ्यावाद, लाघव आदि दोष प्राप्त होते हैं[2]।

प्राचीन ग्रन्थों में राजा को देव मानने की परम्परा रही है। रामायण में स्पष्ट उल्लेख है कि राजा देव हैं, वे इस पृथ्वी तल पर मनुष्य-शरीर धारण कर विचरण करते हैं :

तान्नहिंस्यान्नचाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेण, चरन्त्येते महीतले॥
(वाल्मिकीय रामायण किष्किन्धाकाण्ड सर्ग १८.४३)

महाभारत के अनुसार राजा एक परम देव है जो मनुष्य रूप धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है :

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥
(महाभारत शांतिपर्व अ० ६८.४०)

मनुस्मृति में भी राजा को परम देव माना गया है :

बालोऽपि नावमन्तव्यो, मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा, नररूपेण तिष्ठति॥ (मनुस्मृति अ० ७.८)

चाणक्य ने भी ऐसा ही माना है :

'न राज्ञः परं दैवतम्' (चाणक्य सूत्र ३७२)

श्लोक ५३ :

८२. श्लोक ५३ :

'अंतलिक्खे त्ति ण बूया गुज्झाणुचरिय त्ति य'—नभ और मेघ को अन्तरिक्ष अथवा गुह्यानुचरित कहे। अन्तरिक्ष और गुह्यानुचरित मेघ और नभ दोनों के वाचक हैं[3]। गुह्यानुचरित का अर्थ दोनों चूर्णिकारों ने नहीं किया है। हरिभद्रसूरि इसका अर्थ 'देवसेवित' करते हैं[4]।

१—प्र० उ० प्रश्न २.२ : तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निराप: पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः।

२—हा० टी० प० २२३ : 'मानव' राजानं'''देवमिति नो वदेत्, मिथ्यावादलाघवादिप्रसङ्गात्।

३—(क) जि० चू० पृ० २६३ : तत्थ नभ अतलिक्खंति वा वदेज्जा, गुज्झाणुचरितति वा त''' '''मेहोवि अतरिक्खो भएणइ, गुज्झगाणुचरिओ भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २२३।

४—हा० टी० प० २२३ : गुह्यानुचरितमिति वा, सुरसेवितमित्यर्थ ।

श्लोक ५४ :

८३. अवधारिणी (शंकित अर्थ वाली) (ओहारिणी ख) :

चूर्णियों में अवधारिणी का अर्थ शंकित भाषा अर्थात् संदिग्ध वस्तु के बारे में असंदिग्ध वचन बोलना किया गया है[1]। टीका में इसका मूल अर्थ निश्चयकारिणी भाषा और वैकल्पिक अर्थ संशयकारिणी भाषा किया गया है[2]। दश० ९.३ के श्लोक ९ में आए हुए इस शब्द का अर्थ भी चूर्णि और टीका में ऐसा ही है[3]।

८४. मुनि (माणवो ग) :

मुनि 'माणव' शब्द का भाषानुवाद है[4]। जिनदास चूर्णि के अनुसार मनुष्य ही मुनि बन सकते हैं। इसलिए यहाँ उन्हें 'मानव' शब्द से सम्बोधित किया है[5]।

श्लोक ५७ :

८५. श्लोक ५७ :

भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से सावद्य और निरवद्य भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रिय, हित, मित, मनोहर, वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है। इसकी पुष्टि नीति के द्वारा भी होती है किन्तु अहिंसा की दृष्टि नीति से बहुत आगे जाती है। ऋग्वेद में भाषा के परिष्कार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि[6]॥

जैसे चलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि के बल से भाषा को परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

महात्मा बुद्ध ने चार अंगों से युक्त वचन को निरवद्य वचन कहा है :

"ऐसा मैंने सुना :

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ ! चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा ; विज्ञों के अनुसार वह निरवद्य है, दोष रहित है। कौन से

१—(क) अ० चू० : सदिद्धेह एवमिद मिति निच्छयवयणमवधारणम्।

(ख) जि० चू० पृ० २६२ : ओहारिणी णाम संकिया, भणिय—से णूण भंते ! मन्नामीति ओहारिणी भासा ?, आलावगो।

२—हा० टी० प० २२३ : 'अवधारिणी' इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा।

३—(क) अ० चू० : ओधारिणी मसंदिद्धस्व संदिद्धेवि भणितं च सेणूण भंते ! मण्णामीति ओधारिणी भासा।

(ख) जि० चू० पृ० ३२१ : तत्य ओहारिणी संकिया भण्णति, जहा एसो चोरो, पारदारिओ ?, एवमादि, भणिय च 'से भन्ते ! मण्णामित्ति ओहारिणी भासा' आलावगो।

(ग) हा० टी० प० २५४ : 'अवधारिणीम्' अशोभन एवायमित्यादिरूपाम्।

४—हा० टी० प० २२३ : 'मानव' पुमान् साधु।

५—जि० चू० पृ० २६२ : माणवा इति मणुस्सजातीए एस साहुधम्मोत्तिकाऊण मणुस्सामंतण कय, जहा हे माणवा !

६—ऋग्वेद १०.७१।

चार अंग ? भिक्षुओ ! यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि बुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य। भिक्षुओ! इन चार अगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, वह विज्ञों के अनुसार निरवद्य तथा दोष रहित है।' ऐसा बताकर भगवान् ने फिर कहा :

'सन्तों ने अच्छे वचन को ही उत्तम बताया है। धार्मिक वचन को ही बोले न कि अधार्मिक वचन को—यह दूसरा है। प्रिय वचन को ही बोले न कि अप्रिय वचन को—यह है तीसरा। सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को'—यह है चौथा ॥१॥

तब आयुष्मान् वंगीस ने आसन से उठकर, एक कधे पर चीवर संभालकर, भगवान् को हाथ जोड़ अभिवादन कर उन्हें कहा—'भन्ते! मुझे कुछ सूझता है।' भगवान् ने कहा—'वंगीस! उसे सुनाओ।' तब आयुष्यमान् के सम्मुख अनुकूल गाथाओं में यह स्तुति की :

'वह बात बोले जिससे न स्वयं कष्ट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी ही बात सुन्दर है।'

'आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले। पापी बातों को छोड़कर दूसरों को प्रिय वचन ही बोले।'

'सत्य ही अमृत वचन है, यह सदा का धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित सन्तों ने (ऐसा) कहा है।'

'बुद्ध जो कल्याण-वचन निर्वाण प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए बोलते हैं, वही वचनों में उत्तम है[1]'।"

८६. गुण-दोष को परख कर बोलने वाला (परिक्खभासी [क]) :

गुण-दोष की परीक्षा करके बोलने वाला परीक्ष्य-भाषी कहलाता है[2]। जिनदास चूर्णि में 'परिज्जभासी' और 'परिक्खभासी' को एकार्थक माना गया है[3]।

८७. पाप-मल (धुन्नमलं [ग]) :

धन्न का अर्थ पाप है[4]।

१—सु० नि० सुभाषित सुत्त २-५ पृ० ८९।

२—(क) अ० चू० : परिक्ख सुपरिक्खित तधाभासितु सील यस्स सो परिक्खभासी।

(ख) हा० टी० प० २२३ : 'परीक्ष्यभाषी' आलोचितवक्ता।

३—जि० चू० पृ० २६४ : 'परिज्झभासी' नाम परिज्झभासित्ति वा परिक्खभासित्ति वा एगट्ठा।

४—(क) अ० चू० : धुण्णं पाप मेव।

(ख) जि० चू० पृ० २६४ : तत्थ धुण्णंति वा पावंति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २२४ : 'धून्नमल' पापमलम्।

श्लोक ५४ :

८३. अवधारिणी (शंकित अर्थ वाली) (ओहारिणी ख) :

चूर्णियों में अवधारिणी का अर्थ शंकित भाषा अर्थात् संदिग्ध वस्तु के बारे में असंदिग्ध वचन बोलना किया गया है[1]। टीका में इसका मूल अर्थ निश्चयकारिणी भाषा और वैकल्पिक अर्थ संशयकारिणी भाषा किया गया है[2]। दश० ९.३ के श्लोक ९ में आए हुए इस शब्द का अर्थ भी चूर्णि और टीका में ऐसा ही है[3]।

८४. मुनि (माणवो ग) :

मुनि 'माणव' शब्द का भाषानुवाद है[4]। जिनदास चूर्णि के अनुसार मनुष्य ही मुनि बन सकते हैं। इसलिए यहाँ उन्हें 'मानव' शब्द से सम्बोधित किया है[5]।

श्लोक ५७ :

८५. श्लोक ५७ :

भगवान् महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से सावद्य और निरवद्य भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है। प्रिय, हित, मित, मनोहर, वचन बोलना चाहिए—यह स्थूल बात है। इसकी पुष्टि नीति के द्वारा भी होती है किन्तु अहिंसा की दृष्टि नीति से बहुत आगे जाती है। ऋग्वेद में भाषा के परिष्कार को अभ्युदय का हेतु बतलाया है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि[6]॥

जैसे चलनी से सत्तू को परिष्कृत किया जाता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग बुद्धि के बल से भाषा को परिष्कृत करते हैं। उस समय विद्वान् लोग अपने अभ्युदय को जानते हैं। विद्वानों के वचन में मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती है।

महात्मा बुद्ध ने चार अंगों से युक्त वचन को निरवद्य वचन कहा है :

"ऐसा मैंने सुना :

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डक के जेतवनाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ ! चार अंगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा; विज्ञों के अनुसार वह निरवद्य है, दोष रहित है। कौन से

१—(क) अ० चू० : संदिद्धेऽ एवमिद मिति निच्छयवयणमवधारणम्।
(ख) जि० चू० पृ० २६३ : ओहारिणी णाम संकिया, भणिय—से नूण भंते ! मन्नामीति ओहारिणी भासा ?, आलावगो।
२—हा० टी० प० २२३ : 'अवधारिणी' इदमित्थमेवेति, संशयकारिणी वा।
३—(क) अ० चू० : ओधारिणी मसंदिद्धस्त्व संदिद्धेवि भणित च सेणूण भंते ! मण्णामीति ओधारिणी भासा।
(ख) जि० चू० पृ० ३२१ : तत्थ ओहारिणी संकिया भण्णति, जहा एसो चोरो, पारदारिओ ?, एवमादि, भणियं च 'से मन्ते ! मण्णामित्ति ओहारिणी भासा' आलावगो।
(ग) हा० टी० प० २५४ : 'अवधारिणीम्' अशोभन एवायमित्यादिरूपाम्।
४—हा० टी० प० २२३ 'मानव' पुमान् साधुः।
५—जि० चू० पृ० २६३ : माणवा इति मणुस्सजातीए एस साहुधम्मोत्तिकाऊण मणुस्सामंतणं कयं, जहा हे माणवा !
६—ऋग्वेद १०.७१।

चार अंग ? भिक्षुओ ! यहाँ भिक्षु अच्छा वचन ही बोलता है न कि बुरा, धार्मिक वचन ही बोलता है न कि अधार्मिक, प्रिय वचन ही बोलता है न कि अप्रिय, सत्य वचन ही बोलता है न कि असत्य। भिक्षुओ ! इन चार अगों से युक्त वचन अच्छा है न कि बुरा, वह विज्ञों के अनुसार निरवद्य तथा दोष रहित है।' ऐसा बताकर भगवान् ने फिर कहा :

'सन्तों ने अच्छे वचन को ही उत्तम बताया है। धार्मिक वचन को ही बोले न कि अधार्मिक वचन को—यह दूसरा है। प्रिय वचन को ही बोले न कि अप्रिय वचन को—यह है तीसरा। सत्य वचन को ही बोले न कि असत्य वचन को'—यह है चौथा ॥१॥

तब आयुष्मान् वगीस ने आसन से उठकर, एक कधे पर चीवर संभालकर, भगवान् को हाथ जोड़ अभिवादन कर उन्हें कहा—'भन्ते ! मुझे कुछ सूझता है।' भगवान् ने कहा—'वंगीस ! उसे सुनाओ।' तब आयुष्मान् के सम्मुख अनुकूल गाथाओं में यह स्तुति की :

'वह बात बोले जिससे न स्वय कष्ट पाए और न दूसरे को ही दुःख हो, ऐसी ही बात सुन्दर है।'

'आनन्ददायी प्रिय वचन ही बोले। पापी बातों को छोड़कर दूसरों को प्रिय वचन ही बोले।'

'सत्य ही अमृत वचन है, यह सदा का धर्म है। सत्य, अर्थ और धर्म में प्रतिष्ठित सन्तों ने (ऐसा) कहा है।'

'बुद्ध जो कल्याण-वचन निर्वाण प्राप्ति के लिए, दुःख का अन्त करने के लिए बोलते हैं, वही वचनों में उत्तम है[1]।"

८६. गुण-दोष को परख कर बोलने वाला (परिक्खभासी [क]) :

गुण-दोष की परीक्षा करके बोलने वाला परीक्ष्य-भाषी कहलाता है[2]। जिनदास चूर्णि में 'परिज्जभासी' और 'परिक्खभासी' को एकार्थक माना गया है[3]।

८७. पाप-मल (धुन्नमलं [ग]) :

धन्न का अर्थ पाप है[4]।

१—सु० नि० सुभाषित सुत्त २-५ पृ० ८६।

२—(क) अ० चू० : परिक्ख सुपरिक्खित तधाभासितु सील यस्स सो परिक्खभासी।

(ख) हा० टी० प० २२३ : 'परीक्ष्यभाषी' आलोचितवक्ता।

३—जि० चू० पृ० २६४ : 'परिज्जभासी' नाम परिज्जभासित्ति वा परिक्खभासित्ति वा एगट्ठा।

४—(क) अ० चू० : धुण्ण पाप मेव।

(ख) जि० चू० पृ० २६४ : तत्थ धुण्णंति वा पावंति वा एगट्ठा।

(ग) हा० टी० प० २२४ : 'धून्नमल' पापमलम्।

अट्ठमज्झयणं

आयारपणिही

अष्टम अध्ययन

आचार-प्रणिधि

आमुख

आचार वही है जो संक्षेप में तीसरे और विस्तार से छट्ठे अध्ययन में कहा गया है[1]। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य आचार नहीं है। इसका अभिधेय अर्थ है—आचार की प्रणिधि या आचार-विषयक प्रणिधि। आचार एक निधि है। उसे पाकर निर्ग्रन्थ को जैसे चलना चाहिए उसका पथ-दर्शन इस अध्ययन में मिलता है। आचार की सरिता में निर्ग्रन्थ इन्द्रिय और मन को कैसे प्रवाहित करे, उसका दिशा-निर्देश मिलता है। प्रणिधि का दूसरा अर्थ है—एकाग्रता, स्थापना या प्रयोग। ये प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं। उच्छृङ्खल-अश्व सारथि को उन्मार्ग में ले जाते हैं वैसे ही दुष्प्रणिहित (राग-द्वेष प्रयुक्त) इन्द्रियाँ श्रमण को उत्पथ में ले जाती हैं[2]। यह इन्द्रिय का दुष्प्रणिधान है।

शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श मे इन्द्रियों की मध्यस्थ प्रवृत्ति हो—राग और द्वेष का लगाव न हो—यह उनका सुप्रणिधान है।

क्रोध, मान, माया और लोभ का संग्राहक शब्द है—कषाय। जिस श्रमण का कषाय प्रबल होता है उसका श्रामण्य ईक्षु-पुष्प की भांति निष्फल होता है[3]। इसलिए श्रमण को कषाय का निग्रह करना चाहिए। यही है मन का सुप्रणिधान।

"श्रमण को इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त-प्रयोग नहीं करना चाहिए, प्रशस्त-प्रयोग करना चाहिए"—यह शिक्षण ही इस अध्ययन की आत्मा है, इसलिए इसका नाम 'आचार-प्रणिधि' रखा गया है[4]।

कौटिल्य-अर्थशास्त्र मे गूढ़-पुरुष-प्रणिधि, राज-प्रणधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि उत्तरपद वाले कई प्रकरण हैं। इस प्रकार के नामकरण की पद्धति उस समय प्रचलित थी—ऐसा जान पड़ता है। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य में लगाना व व्यापार किया है। आचार मे प्रवृत्त करना व व्यापार करना—ये दोनों अर्थ यहाँ संगत होते हैं। यह 'प्रत्याख्यान प्रवाद' नामक नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[5]। इसकी दिशाएं प्रकीर्ण हैं। वे दैनंदिन व्यवहारों को बड़े मार्मिक ढंग से छूती हैं।

१—दश० नि० २९३ : जो पुव्वि उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।

२—दश० नि० २९६ : जस्स खलु दुप्पणिहिआणि, इंदिआइ तव चरतस्स।
सो हीरइ असहीणेहिं, सारही वा तुरंगेहिं॥

३—दश० नि० ३०१ : सामन्नमणुचरतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुफुल्ल व, निप्फल तस्स सामन्न॥

४—दश० नि० ३०८ : तम्हा उ अप्पसत्थ, पणिहाण उज्झिऊण समणेण।
पणिहाणमि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि'त्ति॥"

५—दश० नि० १-१७

कान खुले रहते हैं, बहुत सुना जाता है; आँखें खुली रहती हैं, बहुत दीख पड़ता है; किन्तु सुनी और देखी गई सारी बातों को दूसरों से कहे—यह भिक्षु के लिए उचित नहीं है। श्रुत और दृष्ट बात के औपघातिक अंश को पचा ले, उसे प्रकाशित न करे (श्लोक २०-२१)।

'देह में उत्पन्न दुःख को सहना महान् फल का हेतु है'—इस विचार-मन्थन का नवनीत है अहिंसा। एक दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का हृदय 'देहे दुक्खं महाफलं' (श्लोक २७) है। यह 'देहली-दीपक न्याय' से अध्ययन के आर और पार—दोनों भागों को प्रकाशित करता है और श्रामण्य के रक्त की शुद्धि के लिए शोधन-यंत्र का काम करता है।

इसमें कषाय-विजय, निद्रा-विजय, अट्टहास्य-विजय के लिए बड़े सुन्दर निर्देशन किए गए हैं।

श्रद्धा का सातत्य रहना चाहिए। भाव-विशुद्धि के जिस उत्कर्ष से पैर बढ़ चलें, वे न रुकें और न अपने पथ से हटें—ऐसा प्रयत्न होना चाहिए (श्लोक ६१)।

स्वाध्याय और ध्यान—ये आत्म-दोषों को मांजने वाले हैं। इनके द्वारा आत्मा परमात्मा बने (श्लोक ६३)।

यहाँ पहुँचकर 'आचार-प्रणिधि' सम्पन्न होती है।

*

आयारपणिही : आचार-प्रणिधि

अट्ठमज्झयणं : अष्टम अध्ययन

मूल	संस्कृत	हिन्दी अनुवाद
१—आयारप्पणिहिं लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा। तं भे उदाहरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥	आचार-प्रणिधिं लब्ध्वा, यथा कर्तव्यं भिक्षुणा। त भवद्भ्यः उदाहरिष्यामि, आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥१॥	१—आचार-प्रणिधि को[1] पाकर[2] भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए वह मै तुम्हें कहूँगा। अनुक्रमपूर्वक मुझसे सुनो।
२—[3]पुढवि दग अगणि मारुय तणरुक्ख सबीयगा[4]। तसा य पाणा जीव त्ति इइ वुत्तं महेसिणा॥	पृथिवीदकाग्निमारुताः, तृणरुक्षाः सबीजकाः। त्रसाश्च प्राणाः जीवा इति, इति उक्तं महर्षिणा ॥२॥	२—पृथ्वी, उदक, अग्नि, वायु, बीज-पर्यन्त तृण-वृक्ष और त्रस प्राणी—ये जीव हैं—ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है।
३—तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया। मणसा कायवक्केण एवं भवइ संजए॥	तेषामक्षण-योगेन, नित्यं भवितव्यं स्यात्। मनसा काय-वाक्येन, एवं भवति संयतः ॥३॥	३—भिक्षु को मन, वचन और काया से उनके प्रति अहिंसक[5] होना चाहिए। इस प्रकार अहिंसक रहने वाला संयत (सयमी) होता है।
४—[6]पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं नेव भिंदे न संलिहे। तिविहेण करणजोएण संजए सुसमाहिए॥	पृथिवीं भित्तिं शिला लेष्टुं, नैव भिन्द्यात् न संलिखेत्। त्रिविधेन करण-योगेन, सयतः सुसमाहितः ॥४॥	४—सुसमाहित संयमी तीन करण और तीन योग से पृथ्वी, भित्ति[7] (दरार), शिला और ढेले का भेदन न करे और न उन्हें कुरेदे।
५—सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि[9] य आसणे। पमज्जित्तु निसीएज्जा जाइत्ता जस्स ओग्गहं॥	शुद्धपृथिव्या न निषीदेत्, ससरक्षे च आसने। प्रमृज्य निषीदेत्, याचित्वा यस्यावग्रहम् ॥५॥	५—मुनि शुद्ध पृथ्वी[8] और सचित्त-रज से संसृष्ट आसन पर न बैठे[10]। अचित्त-पृथ्वी पर प्रमार्जन कर[11] और वह जिसकी हो उसकी अनुमति लेकर[12] बैठे।
६—सीओदगं न सेवेज्जा सिलावुट्ठं[14] हिमाणि य। उसिणोदगं तत्तफासुयं पडिगाहेज्ज संजए॥	शीतोदकं न सेवेत, शिलावृष्टं हिमानि च। उष्णोदकं तप्तप्रासुकं, प्रतिगृह्णीयात् सयतः ॥६॥	६—सयमी शीतोदक[13], ओले, बरसात के जल और हिम का[15] सेवन न करे। तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल[16] ले।

७—उदउल्लं अप्पणो कायं
नेव पुंछे न संलिहे ।
समुप्पेह तहाभूयं
नो णं संघट्टए मुणी ॥

उदआर्द्रमात्मनः कायं,
नैव प्रोञ्छेत न संलिखेत् ।
समुत्प्रेक्ष्य तथाभूतं,
नैनं संघट्टयेत् मुनिः ॥७॥

७—मुनि जल से भीगे अपने शरीर को[17] न पोंछे और न मले[18]। शरीर को तथाभूत[19] (भीगा हुआ) देखकर[20] उसका स्पर्श न करे।

८—[21]इंगालं अगणिं अच्चिं
अलायं वा सजोइयं ।
न उंजेज्जा न घट्टेज्जा
नो णं निव्वावए मुणी ॥

अङ्गारमग्निमर्चिः,
अलातं वा सज्योतिः ।
नोत्सिञ्चेत् न घट्टयेत्,
नैनं निर्वापयेद् मुनिः ॥८॥

८—मुनि अङ्गार, अग्नि, अर्चि और ज्योतिसहित अलात (जलती लकड़ी) को न प्रदीप्त करे, न स्पर्श करे और न बुझाए।

९—तालियंटेण पत्तेण
साहाविहुयणेण वा ।
न वीएज्ज अप्पणो कायं
बाहिरं वा वि पोग्गलं ॥

तालवृन्तेन पत्रेण,
शाखा-विधुवनेन वा ।
न व्यजेदात्मनः कायं,
बाह्यं वाऽपि पुद्गलम् ॥९॥

९—मुनि बीजन, पत्र, शाखा या पंखे से अपने शरीर अथवा बाहरी पुद्गलों पर[22] हवा न डाले।

१०—तणरुक्खं न छिंदेज्जा
फलं मूलं व कस्सई ।
आमगं विविहं बीयं
मणसा वि न पत्थए ॥

तृणरुक्षं न छिन्द्यात्,
फलं मूलं च कस्यचित् ।
आमकं विविधं बीजं,
मनसापि न प्रार्थयेत् ॥१०॥

१०—मुनि तृण, वृक्ष[23] तथा किसी भी (वृक्ष आदि के) फल या मूल का छेदन न करे और विविध प्रकार के सचित्त बीजों की मन से भी इच्छा न करे।

११—गहणेसु न चिट्ठेज्जा
बीएसु हरिएसु वा ।
उदगम्मि तहा निच्चं
उत्तिंगपणगेसु वा ॥

गहनेषु न तिष्ठेत्,
बीजेषु हरितेषु वा ।
उदके तथा नित्यं,
'उत्तिङ्गपनकेषु' वा ॥११॥

११—मुनि वन-निकुंज के बीच[24] बीज, हरित, अनन्तकायिक-वनस्पति[25], सर्पच्छत्र[26] और काई पर खड़ा न रहे[27]।

१२—तसे पाणे न हिंसेज्जा
वाया अदुव कम्मुणा ।
उवरओ सव्वभूएसु
पासेज्ज विविहं जगं ॥

त्रसान् प्राणान् न हिंस्यात्,
वाचा अथवा कर्मणा ।
उपरतः सर्वभूतेषु,
पश्येद् विविधं जगत् ॥१२॥

१२—मुनि वचन अथवा काया से त्रस प्राणियों की हिंसा न करे। सब जीवों के[28] वध से उपरत होकर विविध प्रकार वाले[29] जगत को देखे—आत्मौपम्य दृष्टि से देखे।

१३—अट्ठ सुहुमाइं पेहाए
जाइं जाणित्तु संजए ।
दयाहिगारी भूएसु
आस चिट्ठ सएहि वा ॥

अष्टौ सूक्ष्माणि प्रेक्ष्य,
यानि ज्ञात्वा संयतः ।
दयाधिकारी भूतेषु,
आस्स्व, तिष्ठ, शेष्व वा ॥१३॥

१३—संयमी मुनि आठ प्रकार के सूक्ष्म (शरीर वाले जीवों) को देखकर बैठे, खड़ा हो और सोए। इन सूक्ष्म शरीर वाले जीवों को जानने पर ही कोई सब जीवों की दया का अधिकारी होता है।

१४—कयराइं अट्ठ सुहुमाइं
जाइं पुच्छेज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी
आइक्खेज्ज वियक्खणो ॥

कतराणि अष्टौ सूक्ष्माणि,
यानि पृच्छेत् संयतः।
इमानि तानि मेधावी,
आचक्षीत विचक्षणः ॥१४॥

१४—वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से हैं ? संयमी शिष्य यह पूछे तब मेधावी और विचक्षण आचार्य कहे कि वे ये हैं—

१५—[30]सिणेहं पुप्फसुहुमं च
पाणुत्तिगं तहेव य।
पणगं बीय हरियं च
अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

स्नेहं पुष्प-सूक्ष्मं च,
'प्राणोत्तिङ्ग' तथैव च।
'पनकं' बीज-हरितं च,
'अण्डसूक्ष्मं' च अष्टमम् ॥१५॥

१५—स्नेह, पुष्प, प्राण, उत्तिङ्ग[31], काई, बीज, हरित और अण्ड—ये आठ प्रकार के सूक्ष्म हैं।

१६—एवमेयाणि जाणित्ता
सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं
सव्विंदियसमाहिए ॥

एवमेतानि ज्ञात्वा,
सर्वभावेन संयतः।
अप्रमत्तो यतेत् नित्यं,
सर्वेन्द्रिय-समाहितः ॥१६॥

१६—सब इन्द्रियों से समाहित साधु इस प्रकार इन सूक्ष्म जीवों को सब प्रकार से[32] जानकर अप्रमत्त-भाव से यतना करे।

१७—धुवं च पडिलेहेज्जा
जोगसा पायकंबलं।
सेज्जमुच्चारभूमिं च
संथारं अदुवासणं ॥

ध्रुवं च प्रतिलेखयेत्,
योगेन पात्र-कम्बलम्।
शय्यामुच्चारभूमिं च,
सस्तारमथवासनम् ॥१७॥

१७—मुनि पात्र[33], कम्बल[34], शय्या[35], उच्चार-भूमि[36], सस्तारक[37] अथवा आसन का[38] यथासमय[39] प्रमाणोपेत[40] प्रतिलेखन करे[41]।

१८—[42]उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं।
फासुयं पडिलेहित्ता
परिट्ठावेज्ज संजए ॥

उच्चारं प्रस्रवणं,
'खेलं' सिंघाणं 'जल्लियम्'।
प्रासुकं प्रतिलेख्य,
परिष्ठापयेत् संयतः ॥१८॥

१८—संयमी मुनि प्रासुक (जीव रहित) भूमि का प्रतिलेखन कर वहाँ उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक के मैल और शरीर के मैल का[43] का उत्सर्ग करे।

१९—पविसित्तु परागारं
पाणट्ठा भोयणस्स वा[44]।
जयं चिट्ठे मियं भासे
ण य रूवेसु मणं करे ॥

प्रविश्य परागारं,
पानार्थं भोजनाय वा।
यतं तिष्ठेत् मितं भाषेत्,
न च रूपेषु मनः कुर्यात् ॥१९॥

१९—मुनि जल या भोजन के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करके उचित स्थान में खड़ा रहे[45], परिमित बोले[46] और रूप में मन न करे[47]।

२०—[48]बहुं सुणेइ कण्णेहिं
बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं
भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥

बहु शृणोति कर्णाभ्यां,
बह्वक्षीभिः प्रेक्षते।
न च दृष्टं श्रुतं सर्वं,
भिक्षुराख्यातुमर्हति ॥२०॥

२०—कानों से बहुत सुनता है, आँखों से बहुत देखता है। किन्तु सब देखे और सुने को कहना भिक्षु के लिए उचित नहीं।

२१—सुयं वा जइ वा दिट्ठं
न लवेज्जोवघाइयं ।
न य केणइ उवाएणं
गिहिजोगं समायरे ॥

श्रुतं वा यदि वा दृष्टं,
न लपेद् औपघातिकम् ।
न च केनचिदुपायेन,
गृहियोगं समाचरेत् ॥२१॥

२१—सुना[४९] या देखा हुआ[५०] औपघातिक-वचन साधु न कहे और किसी उपाय से गृहस्थोचित कर्म का[५१] समाचरण न करे।

२२—निट्ठाणं रसनिज्जूढं
भद्दगं पावगं ति वा ।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा
लाभालाभं न निद्दिसे ॥

निष्ठान निर्यूढरसम्,
भद्रक पापकमिति वा ।
पृष्टो वाप्यपृष्टो वा,
लाभालाभं न निर्दिशेत् ॥२२॥

२२—किसी के पूछने पर या बिना पूछे यह सरस[५२] है, यह नीरस[५३] है, यह अच्छा है, यह बुरा है—ऐसा न कहे और सरस या नीरस आहार मिला या न मिला—यह भी न कहे।

२३—न य भोयणम्मि गिद्धो
चरे उंछं अयंपिरो ।
अफासुयं न भुंजेज्जा
कीयमुद्देसियाहडं ॥

न च भोजने गृद्धः,
चरे दुगञ्छमजल्पिता ।
अप्रासुक न भुञ्जीत,
क्रीतमौद्देशिकाहृतम् ॥२३॥

२३—भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए[५४] किन्तु वाचालता से रहित होकर[५५] उञ्छ[५६] (अनेक घरों से थोड़ा थोड़ा) ले। अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत आहार प्रमादवश आ जाने पर भी न खाए।

२४—सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
अणुमायं पि संजए ।
मुहाजीवी असंबद्धे
हवेज्ज जगनिस्सिए ॥

सन्निधिं च न कुर्यात्,
अणुमात्रमपि संयतः ।
मुधाजीवी असंबद्धः,
भवे 'जग' निश्रितः ॥२४॥

२४—संयमी अणुमात्र भी सन्निधि[५७] न करे। वह मुधाजीवी[५८], असंबद्ध[५९] (अलिप्त) और जनपद के आश्रित[६०] हो।

२५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे
अप्पिच्छे सुहरे सिया ।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा
सोच्चाणं जिणसासणं ॥

रूक्षवृत्तिः सुसन्तुष्टः,
अल्पेच्छः सुभरः स्यात् ।
आसुरत्वं न गच्छेत्,
श्रुत्वा जिन-शासनम् ॥२५॥

२५—मुनि रूक्षवृत्ति,[६१] सुसन्तुष्ट, अल्प इच्छा वाला[६२] और अल्पाहार से तृप्त होने वाला[६३] हो। वह जिन-शासन को[६४] सुनकर क्रोध[६५] न करे।

२६—''कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं
पेमं नाभिनिवेसए ।
दारुणं कक्कसं फासं
काएण अहियासए ॥

कर्णसौख्येषु शब्देषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत् ।
दारुण कर्कशं स्पर्शं,
कायेन अध्यासीत ॥२६॥

२६—कानों के लिए सुखकर[६६] शब्दों में प्रेम न करे, दारुण और कर्कश[६७] स्पर्श[६८] को काया से सहन करे।

२७—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं
सीउण्हं अरई भयं ।
अहियासे अव्वहिओ
देहे दुक्खं महाफलं ॥

क्षुधा पिपासां दुःशय्यां,
शीतोष्णमरतिं भयम् ।
अध्यासीताऽव्यथितः,
देहे दुःखं महाफलम् ॥२७॥

२७—क्षुधा, प्यास, दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना)[६९], शीत, उष्ण, अरति[७०] और भय को[७१] अव्यथित[७२] चित्त से सहन करे। क्योंकि देह में उत्पन्न कष्ट को[७३] सहन करना महाफल[७४] का हेतु होता है।

२८—अत्थंगयम्मि आइच्चे
पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं[७८] सव्वं
मणसा वि न पत्थए॥

अस्तङ्गते आदित्ये,
पुरस्तात् चानुद्गते।
आहारमयं सर्वं,
मनसापि न प्रार्थयेत्॥२८॥

२८—सूर्यास्त से लेकर[७६] पुन: सूर्य पूर्व में[७७] न निकल आए तब तक सब प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे[७९]।

२९—अतिंतिणे अचवले
अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते
थोवं लद्धुं न खिंसए॥

'अतिंतिणः' अचपलः,
अल्पभाषी मिताशनः।
भवेदुदरे दान्तः,
स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत्॥२९॥

२९—आहार न मिलने या अरस आहार मिलने पर बकवास न करे[८०], चपल न बने, अल्पभाषी[८१], मितभोजी[८२] और उदर का दमन करने वाला[८३] हो। थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे[८४]।

३०—[८५]न बाहिरं परिभवे
अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा
जच्चा तवस्सिबुद्धिए॥

न बाह्यं परिभवेत्,
आत्मानं न समुत्कर्षयेत्।
श्रुतलाभे न माद्येत,
जात्या तपस्वि-बुद्ध्या॥३०॥

३०—दूसरे का[८६] तिरस्कार न करे। आत्मोत्कर्ष (गर्व) न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का[८७] मद न करे।

३१—[८८]से[८९] जाणमजाणं वा
कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं
बीयं तं न समायरे॥

अथ जानन्नजानन्वा,
कृत्वा अधार्मिकं पदम्।
संवृणुयात् क्षिप्रमात्मानं,
द्वितीयं तं न समाचरेत्॥३१॥

३१—जान या अजान में[९०] कोई अधर्म-कार्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को उससे तुरन्त हटा ले, फिर दूसरी बार[९१] वह कार्य न करे।

३२—अणायारं परक्कम
नेव गूहे न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे
असंसत्ते जिइंदिए॥

अनाचारं पराक्रम्य,
नैव गूहेत न निन्हुवीत।
शुचिः सदा विकटभावः,
असंसक्तो जितेन्द्रिय॥३२॥

३२—अनाचार[९२] का सेवन कर उसे न छिपाए और न अस्वीकार करे[९३] किन्तु सदा पवित्र[९४], स्पष्ट[९५], अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।

३३—अमोहं वयणं कुज्जा
आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

अमोघं वचनं कुर्यात्,
आचार्यस्य महात्मनः।
तत्परिगृह्य वाचा,
कर्मणोपपादयेत्॥३३॥

३३—महात्मा-आचार्य के वचन को सफल करे। (आचार्य जो कहे) उसे वाणी से ग्रहण कर कर्म से उसका आचरण करे।

३४—अधुवं जीवियं नच्चा
सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु[९७]
आउं परिमियमप्पणो॥

अध्रुवं जीवितं ज्ञात्वा,
सिद्धिमार्गं विज्ञाय।
विनिवर्तेत भोगेभ्यः,
आयुः परिमितमात्मनः॥३४॥

३४—मुमुक्षु जीवन को अनित्य और अपनी आयु को परिमित जान तथा सिद्धि-मार्ग का[९६] ज्ञान प्राप्त कर भोगों से निवृत्त बने।

* (बलं थामं च पेहाए
सद्धामारोगमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय
तहप्पाणं निजुंजए) ॥

बलं स्थाम च प्रेक्ष्य,
श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय,
तथात्मानं नियुञ्जीत ॥

अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर आत्मा को लगाए—शक्ति के अनुसार तप आदि का आचरण करे।

३५—जरा जाव न पीलेइ
वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति
ताव धम्मं समायरे ॥

जरा यावन्न पीडयति,
व्याधिर्यावन्न वर्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते,
तावद्धर्मं समाचरेत् ॥३५॥

३५—जब तक जरा पीड़ित न करे, व्याधि न बढ़े और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

३६—कोहं माणं च मायं च
लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ
इच्छंतो हियमप्पणो ॥

क्रोधं मानं च मायां च,
लोभं च पापवर्धनम् ।
वमेच्चतुरो दोषांस्तु,
इच्छन् हितमात्मनः ॥३६॥

३६—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढ़ाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोड़े।

३७—[99]कोहो पीइं पणासेइ
माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ
लोहो सव्वविणासणो ॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति,
मानो विनयनाशनः ।
माया मित्राणि नाशयति,
लोभः सर्वविनाशनः ॥३७॥

३७—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रों का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है[99]।

३८—[100]उवसमेण हणे कोहं[101]
माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण
लोभं संतोसओ जिणे ॥

उपशमेन हन्यात् क्रोधं,
मानं मार्दवेन जयेत् ।
मायां च ऋजुभावेन,
लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥३८॥

३८—उपशम से[100] क्रोध का हनन करे, मृदुता से[101] मान को जीते, ऋजुभाव से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।

३९—कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः,
सिंचन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥३९॥

३९—वश में न किए हुए क्रोध और मान, बढ़ते हुए माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट[102] कषाय[103] पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते हैं।

---

* यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ में नहीं।

४०—राइणिएसु विणयं पउंजे
धुवसीलयं सययं न हावएज्जा।
कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो
परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि॥

रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत,
ध्रुवशीलतां सततं न हापयेत्।
कूर्म इवालीनप्रलीनगुप्तः,
पराक्रामेत् तपस्संयमे॥४०॥

४०—पूजनीयों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति[106] विनय का प्रयोग करे। अष्टादश-सहस्र शीलाङ्गों की[107] कभी हानि न करे। कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त[108] हो तप और सयम में पराक्रम करे।

४१—निद्दं च न बहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए।
मिहोकहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया॥

निद्रा च न बहु मन्येत,
सम्प्रहासं विवर्जयेत्।
मिथः कथासु न रमेत,
स्वाध्याये रतः सदा॥४१॥

४१—निद्रा को बहुमान न दे[109], अट्टहास[110] का वर्जन करे, मैथुन की कथा में[111] रमण न करे, सदा स्वाध्याय मे[112] रत रहे।

४२—जोगं च समणधम्मम्मि[113]
जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो य समणधम्मम्मि
अट्ठं लहइ अणुत्तरं॥

योगं च श्रमणधर्मे,
युञ्जीतानलसो ध्रुवम्।
युक्तश्च श्रमणधर्मे,
अर्थं लभतेऽनुत्तरम्॥४२॥

४२—मुनि आलस्य-रहित हो श्रमण-धर्म में योग (मन, वचन और काया) का यथोचित[114] प्रयोग करे। जिस क्रिया का जो काल हो उसमें वह अवश्य करे। श्रमण-धर्म में लगा हुआ[115] मुनि अनुत्तर फल[116] को प्राप्त होता है।

४३—[117]इहलोगपारत्तहियं
जेण गच्छइ सोग्गइं।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा
पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं॥

इहलोकपरत्रहितं,
येन गच्छति सुगतिम्।
बहुश्रुतं पर्युपासीत,
पृच्छेदर्थविनिश्चयम॥४३॥

४३—जिसके द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत[118] की पर्युपासना करे और अर्थ-विनिश्चय[119] के लिए प्रश्न करे।

४४—[120]हत्थं पायं च कायं च
पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए
सगासे गुरुणो मुणी॥

हस्तं पादं च कायं च,
प्रणिधाय जितेन्द्रियः।
आलीनगुप्तो निषीदेत्,
सकाशे गुरोर्मुनिः॥४४॥

४४—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को सयमित कर[121], आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से सयत) होकर[122] गुरु के समीप बैठे।

४५—[123]न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासेज्जा
चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए॥

न पक्षतः न पुरतः,
नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न च ऊरुं समाश्रित्य,
तिष्ठेद् गुर्वन्तिके॥४५॥

४५—आचार्यों के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर[124] न बैठे।

४६—अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा
मायामोसं विवज्जए॥

अपृष्टो न भाषेत,
भाषमाणस्यान्तरा।
पृष्ठमांसं न खादेत्,
मायामृषा विवर्जयेत्॥४६॥

४६—बिना पूछे न बोले[125], बीच में[126] न बोले, चुगली न खाए[127] और कपटपूर्ण असत्य का[128] वर्जन करे।

* (बलं थामं च पेहाए
सद्धामारोगमप्पणो ।
खेत्तं कालं च विन्नाय
तहप्पाणं निजुंजए) ॥

बलं स्थाम च प्रेक्ष्य,
श्रद्धामारोग्यमात्मनः ।
क्षेत्रं कालं च विज्ञाय,
तथात्मानं नियुञ्जीत ॥

अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा और आरोग्य को देखकर, क्षेत्र और काल को जानकर आत्मा को लगाए—शक्ति के अनुसार तप आदि का आचरण करे।

३५—जरा जाव न पीलेइ
वाही जाव न वड्ढई ।
जाविंदिया न हायंति
ताव धम्मं समायरे ॥

जरा यावन्न पीडयति,
व्याधिर्यावन्न वर्धते ।
यावदिन्द्रियाणि न हीयन्ते,
तावद्धर्मं समाचरेत् ॥३५॥

३५—जब तक जरा पीडित न करे, व्याधि न बढे और इन्द्रियाँ क्षीण न हों, तब तक धर्म का आचरण करे।

३६—कोहं माणं च मायं च
लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ
इच्छंतो हियमप्पणो ॥

क्रोधं मानं च मायां च,
लोभं च पापवर्धनम् ।
वमेच्चतुरो दोषास्तु,
इच्छन् हितमात्मन ॥३६॥

३६—क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पाप को बढाने वाले हैं। आत्मा का हित चाहने वाला इन चारों दोषों को छोडे।

३७—[99]कोहो पीइं पणासेइ
माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ
लोहो सव्वविणासणो ॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति,
मानो विनयनाशन ।
माया मित्राणि नाशयति,
लोभः सर्वविनाशनः ॥३७॥

३७—क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करने वाला है, माया मित्रों का विनाश करती है और लोभ सब (प्रीति, विनय और मैत्री) का नाश करने वाला है[99]।

३८—[100]उवसमेण हणे कोहं[102]
माणं मद्दवया जिणे ।
मायं चज्जवभावेण
लोभं संतोसओ जिणे ॥

उपशमेन हन्यात् क्रोधं,
मानं मार्दवेन जयेत् ।
माया च ऋजुभावेन,
लोभं सन्तोषतो जयेत् ॥३८॥

३८—उपशम से[101] क्रोध का हनन करे, मृदुता से[103] मान को जीते, ऋजुभाव से माया को जीते और सन्तोष से लोभ को जीते।

३९—कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥

क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ,
माया च लोभश्च प्रवर्धमानौ ।
चत्वार एते कृत्स्नाः कषायाः,
सिंचन्ति मूलानि पुनर्भवस्य ॥३९॥

३९—वश में न किए हुए क्रोध और मान, बढते हुए माया और लोभ—ये चारों संक्लिष्ट[104] कषाय[105] पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जडों का सिंचन करते हैं।

* यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती हैं, कुछ में नहीं।

४०—राइणिएसु विणयं पउंजे
धुवसीलयं सययं न हावएज्जा।
कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो
परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि॥

रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत,
ध्रुवशीलता सततं न हापयेत्।
कूर्म इवालीनप्रलीनगुप्तः,
पराक्रामेत् तपस्संयमे॥४०॥

४०—पूजनीयों (आचार्य, उपाध्याय और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं) के प्रति[१०६] विनय का प्रयोग करे। अष्टादश-सहस्र शीलाङ्गों की[१०७] कभी हानि न करे। कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त[१०८] हो तप और सयम में पराक्रम करे।

४१—निद्दं च न बहुमन्नेज्जा
संपहासं विवज्जए।
मिहोकहाहिं न रमे
सज्झायम्मि रओ सया॥

निद्रां च न बहु मन्येत,
सम्प्रहासं विवर्जयेत्।
मिथः कथासु न रमेत,
स्वाध्याये रतः सदा॥४१॥

४१—निद्रा को बहुमान न दे[१०९], अट्टहास[११०] का वर्जन करे, मैथुन की कथा में[१११] रमण न करे, सदा स्वाध्याय में[११२] रत रहे।

४२—जोगं च समणधम्मम्मि[११३]
जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो य समणधम्मम्मि
अट्ठं लहइ अणुत्तरं॥

योगं च श्रमणधर्मे,
युञ्जीतानलसो ध्रुवम्।
युक्तश्च श्रमणधर्मे,
अर्थं लभतेऽनुत्तरम्॥४२॥

४२—मुनि आलस्य-रहित हो श्रमण-धर्म में योग (मन, वचन और काया) का यथोचित[११४] प्रयोग करे। जिस क्रिया का जो काल हो उसमें वह अवश्य करे। श्रमण-धर्म में लगा हुआ[११५] मुनि अनुत्तर फल[११६] को प्राप्त होता है।

४३—[११७]इहलोगपारत्तहियं
जेणं गच्छइ सोग्गइं।
बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा
पुच्छेज्जत्थविणिच्छयं॥

इहलोकपरत्रहितं,
येन गच्छति सुगतिम्।
बहुश्रुतं पर्युपासीत,
पृच्छेदर्थविनिश्चयम्॥४३॥

४३—जिसके द्वारा इहलोक और परलोक में हित होता है, मृत्यु के पश्चात् सुगति प्राप्त होती है, उसकी प्राप्ति के लिए वह बहुश्रुत[११८] की पर्युपासना करे और अर्थ-विनिश्चय[११९] के लिए प्रश्न करे।

४४—[१२०]हत्थं पायं च कायं च
पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए
सगासे गुरुणो मुणी॥

हस्तं पादं च कायं च,
प्रणिधाय जितेन्द्रियः।
आलीनगुप्तो निषीदेत्,
सकाशे गुरोर्मुनिः॥४४॥

४४—जितेन्द्रिय मुनि हाथ, पैर और शरीर को सयमित कर[१२१], आलीन (न अतिदूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से सयत) होकर[१२२] गुरु के समीप बैठे।

४५—[१२३]न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासेज्जा
चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए॥

न पक्षतः न पुरतः,
नैव कृत्यानां पृष्ठतः।
न च ऊरुं समाश्रित्य,
तिष्ठेद् गुर्वन्तिके॥४५॥

४५—आचार्यों के बराबर न बैठे, आगे और पीछे भी न बैठे। गुरु के समीप उनके ऊरु से अपना ऊरु सटाकर[१२४] न बैठे।

४६—अपुच्छिओ न भासेज्जा
भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा
मायामोसं विवज्जए॥

अपृष्टो न भाषेत,
भाषमाणस्यान्तरा।
पृष्ठमांसं न खादेत्,
मायामृषा विवर्जयेत्॥४६॥

४६—बिना पूछे न बोले[१२५], बीच में[१२६] न बोले, चुगली न खाए[१२७] और कपटपूर्ण असत्य का[१२८] वर्जन करे।

४७—अप्पत्तियं जेण सिया
आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा
भासं अहियगामिणिं॥

अप्रीतिर्येन स्यात्,
आशु कुप्येद्वा परः।
सर्वशस्ता न भाषेत,
भाषामहितगामिनीम्॥४७॥

४७—जिससे अप्रीति उत्पन्न हो और दूसरा शीघ्र कुपित हो ऐसी अहितकर भाषा सर्वथा[१२९] न बोले।

४८—दिट्ठं मियं असंदिद्धं
पडिपुन्नं वियंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं
भासं निसिर अत्तवं॥

दृष्टां मितामसंदिग्धां,
प्रतिपूर्णां व्यक्तां जिताम्।
अजल्पाकीमनुद्विग्नां,
भाषां निसृजेदात्मवान्॥४८॥

४८—आत्मवान्[१३०], दृष्ट[१३१], परिमित[१३२], असदिग्ध, प्रतिपूर्ण[१३३], व्यक्त, परिचित[१३४], वाचालता-रहित और भय-रहित भाषा बोले।

४९—[१३५]आयारपन्नत्तिधरं
दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइविक्खलियं नच्चा
न तं उवहसे मुणी॥

आचार-प्रज्ञप्ति-धरं,
दृष्टिवादाभिज्ञम्।
वाग्विस्खलितं ज्ञात्वा,
न तमुपहसेन्मुनिः॥४९॥

४९—वाक्य-रचना के नियमों को तथा प्रज्ञापन की पद्धति को जानने वाला[१३६] और नयवाद का अभिज्ञ मुनि बोलने में स्खलित हुआ है[१३७] (उसने वचन, लिङ्ग और वर्ण का विपर्यास किया है) यह जान कर भी मुनि उसका उपहास न करे।

५०—[१३८]नक्खत्तं सुमिणं जोगं
निमित्तं मंत भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे
भूयाहिगरणं पयं॥

नक्षत्रं स्वप्नं योगं,
निमित्तं मंत्र-भेषजम्,
गृहिणस्तन्नाचक्षीत,
भूताधिकरणं पदम्॥५०॥

५०—नक्षत्र[१३९], स्वप्नफल[१४०], वशीकरण[१४१], निमित्त[१४२], मन्त्र[१४३] और भेषज—ये जीवों की हिंसा के[१४४] स्थान है, इसलिए मुनि गृहस्थों को इनके फलाफल न बताए।

५१—अन्नट्ठं पगडं लयणं
भएज्ज सयणासणं।
उच्चारभूमिसंपन्नं
इत्थीपसुविवज्जियं॥

अन्यार्थं प्रकृतं लयनं,
भजेत शयनासनम्।
उच्चारभूमिसम्पन्नं,
स्त्रीपशुविवर्जितम्॥५१॥

५१—मुनि अन्यार्थ-प्रकृत (दूसरों के लिए बने हुए)[१४५], मल-मूत्र की भूमि से युक्त, स्त्री और पशु से रहित[१४६] गृह[१४७], शयन और आसन का सेवन करे।

५२—विवित्ता य भवे सेज्जा
नारीणं न लवे कहं।
गिहिसंथवं न कुज्जा
कुज्जा साहूहिं संथवं॥

विविक्ता च भवेच्छय्या,
नारीणां न लपेत् कथाम्।
गृहि-संस्तवं न कुर्यात्,
कुर्यात् साधुभिः संस्तवम्॥५२॥

५२—मुनि एकान्त स्थान हो वहाँ केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे[१४८], गृहस्थों से परिचय न करे, परिचय साधुओं से करे[१४९]।

५३—[१५०]जहा कुक्कुडपोयस्स
निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स
इत्थीविग्गहओ भयं॥

यथा कुक्कुटपोतस्य,
नित्यं कुललतो भयम्।
एवं खलु ब्रह्मचारिणः,
स्त्रीविग्रहतो भयम्॥५३॥

५३—जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को[१५१] सदा बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है[१५२]।

५४—चित्तभित्तिं न निज्झाए
नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं
दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

चित्रभित्तिं न निध्यायेत्,
नारीं वा स्वलङ्कृताम्।
भास्करमिव दृष्ट्वा,
दृष्टिं प्रतिसमाहरेत् ॥५४॥

५४—चित्र-भित्ति[153] (स्त्रियों के चित्रों से चित्रित भित्ति) या आभूषणों से सुसज्जित[154] स्त्री को टकटकी लगाकर न देखे। उन पर दृष्टि पड़ जाए तो उसे वैसे खींच ले जैसे मध्याह्न के सूर्य पर पड़ी हुई दृष्टि स्वयं खिंच जाती है।

५५—हत्थपायपडिच्छिन्नं
कण्णनासविगप्पियं[155] ।
अवि [156]वाससइं नारिं
बंभयारी विवज्जए ॥

प्रतिच्छिन्न-हस्तपादां,
विकल्पित-कर्णनासाम्।
अपि वर्षशतां नारीं,
ब्रह्मचारी विवर्जयेत् ॥५५॥

५५—जिसके हाथ-पैर कटे हुए हों, जो कान-नाक से विकल हो वैसी सौ वर्ष की बूढ़ी नारी से भी ब्रह्मचारी दूर रहे।

५६—विभूसा इत्थिसंसग्गी
पणीयरसभोयणं ।
नरस्सत्तगवेसिस्स
विसं तालउडं जहा ॥

विभूषा स्त्री-संसर्गः,
प्रणीत-रसभोजनम्।
नरस्यात्मगवेषिणः,
विषं तालपुटं यथा ॥५६॥

५६—आत्मगवेषी[157] पुरुष के लिए विभूषा[158], स्त्री का संसर्ग और प्रणीत-रस[159] का भोजन तालपुट-विष[160] के समान है।

५७—अंगपच्चंगसंठाणं
चारुल्लवियपेहियं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए
कामरागविवड्ढणं ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग-संस्थानं,
चारुल्लपितप्रेक्षितम्।
स्त्रीणां तन्न निध्यायेत्,
कामरागविवर्धनम् ॥५७॥

५७—स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान[161], चारु-भाषित (मधुर बोली) और कटाक्ष[162] को न देखे—उनकी ओर ध्यान न दे, क्योंकि ये सब काम-राग को बढ़ाने वाले हैं।

५८—विसएसु मणुन्नेसु
पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय
परिणामं पोग्गलाण उ ॥

विषयेषु मनोज्ञेषु,
प्रेम नाभिनिवेशयेत्।
अनित्यं तेषां विज्ञाय,
परिणामं पुद्गलानां तु ॥५८॥

५८—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलों के परिणमन को[163] अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग-भाव न करे[164]।

५९—पोग्गलाण परीणामं
तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे
सीईभूएण अप्पणा ॥

पुद्गलानां परिणामं,
तेषां ज्ञात्वा यथा तथा।
विनीततृष्णो विहरेत्,
शीतीभूतेनात्मना ॥५९॥

५९—इन्द्रियों के विषयभूत पुद्गलों के परिणमन को, जैसा है वैसा जानकर अपनी आत्मा को शीतल बना[165] तृष्णा-रहित हो विहार करे।

६०—जाए[166] सद्धाए निक्खंतो
परियायट्ठाणमुत्तमं ।
तमेव अणुपालेज्जा
गुणे आयरियसम्मए ॥

यया श्रद्धया निष्क्रान्तः,
पर्यायस्थानमुत्तमम्।
तामेवाऽनुपालयेत्,
गुणेषु आचार्यसम्मतेषु ॥६०॥

६०—जिस श्रद्धा से[167] उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए घर से निकला, उसीका[168] अनुपालन करे। आचार्य-सम्मत[169] गुणों की आराधना में उसे पूर्ववत् बनाए रखे।

६१—तवं चिमं संजमजोगयं च
सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाए[170] समत्तमाउहे
अलमप्पणो होइ अलं परेसिं[171]॥

तपश्चेदं संयमयोगं च,
स्वाध्याययोगं च सदाऽधिष्ठेत्।
शूर इव सेनया समाप्तायुधः,
अलमात्मने भवत्यल परेभ्यः ॥६१॥

६१—जो तप, संयम-योग[172] और स्वाध्याय-योग में[173] प्रवृत्त रहता है[174] वह अपनी और दूसरों की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर आयुधों से सुसज्जित[175] वीर।

६२—सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो
अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जं सि[176] मलं पुरेकडं
समीरियं रुप्पमलं व जोइणा॥

स्वाध्याय-सद्ध्यानरतस्य त्रायिणः,
अपापभावस्य तपसि रतस्य।
विशुद्ध्यते यत् तस्यमलं पुराकृतं,
समीरितं रूप्यमलमिव ज्योतिषा॥६२॥

६२—स्वाध्याय और सद्ध्यान में[177] लीन, त्राता, निष्पाप मन वाले और तप में रत मुनि का पूर्व सञ्चित मल[178] उसी प्रकार विशुद्ध होता है जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए सोने का मल।

६३—से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए
सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे।
विरायई कम्मघणम्मि अवगए[179]
कसिणब्भपुडावगमे व चंदिमा[180]॥
ति बेमि।

स तादृशो दुःखसहो जितेन्द्रियः,
श्रुतेन युक्तोऽममोऽकिञ्चनः।
विराजते कर्मघनेऽपगते,
कृत्स्नाभ्रपुटापगमे इव चन्द्रमाः ॥६३॥

इति ब्रवीमि।

६३—जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त है, दुःखों को सहन करने वाला[181] है, जितेन्द्रिय है, श्रुतवान् है, ममत्व-रहित[182] और अकिञ्चन[183] है, वह कर्म रूपी बादलों के दूर होने पर उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकारसम्पूर्ण अभ्रपटल से वियुक्त[184] चन्द्रमा।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ८

श्लोक १ :

१. आचार-प्रणिधि को (आयारप्पणिहिं क) :

प्रणिधि का अर्थ समाधि या एकाग्रता है[1]। आचार में सर्वात्मना जो अध्यवसाय (एकाग्र चिन्तन या दृढ मानसिक संकल्प) होता है, उसे 'आचार-प्रणिधि' कहा जाता है[2]।

२. पाकर (लद्धुं क) :

अगस्त्य चूर्णि[3] और टीका[4] के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया (क्त्वा प्रत्यय) का और जिनदास चूर्णि[5] के अनुसार यह 'तुम् प्रत्यय' का रूप है। 'तुम्' प्रत्यय का रूप मानने पर 'आयारप्पणिहिं लद्धु' का अनुवाद 'आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के लिए' होगा।

श्लोक २ :

३. श्लोक २ :

तुलना कीजिए—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सवीयगा॥
अहावरा तसा पाणा, एव छक्काय आहिया।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई॥
(सूत्रकृताङ्ग १.११.७-८)

४. (सवीयगा ख) :

देखिए ४.८ की टिप्पणी सख्या २० पृष्ठ १३७।

श्लोक ३ :

५. अहिंसक (अच्छणजोएण क) :

'छण' का अर्थ हिंसा है[6]। न छण—अच्छण अर्थात् अहिंसा। 'योग' का अर्थ सम्बन्ध[7] या व्यापार है। जिसका प्रयत्न

१—अ० चि० ६.१४ : अवधानसमाधानप्रणिधानानि तु समाधौ स्युः।

२—अ० चू० : आयारप्पणिधी—आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो।

३—अ० चू० : 'लद्धुं' पाविऊण।

४—हा० टी० प० २२७ : 'लब्ध्वा' प्राप्य।

५—जि० चू० पृ० २७१ : (लद्धुं) प्राप्तये।

६—अ० चू० : क्षणु हिंसायामिति एयस्स रूवं, क्षगारस्स य छगारता पाकते जधा अक्षीणि अच्छीणि।

७—अ० चू० : जोगो संबन्धो।

अहिंसक (हिंसा-रहित) होता है, उसे 'अक्षण योग' कहा जाता है[1]।

श्लोक ४ :

६. श्लोक ४ :

भेदन और लेखन करने से पृथ्वी आदि अचित्त हों तो उसके आश्रित जीवों की और सचित्त हों तो उसकी और उसके आश्रित जीव—दोनों की हिंसा होती है[2], इसलिए इनका निषेध है।

७. भित्ति (भित्तिं क) :

इसका अर्थ है—दरार[3]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पणी संख्या ६६ पृष्ठ १६०।

श्लोक ५ :

८. शुद्ध पृथ्वी (सुद्धपुढवीए क) :

'शुद्ध पृथ्वी' के दो अर्थ हैं—शस्त्र से अनुपहत पृथ्वी अर्थात् सचित्त पृथ्वी और शस्त्र से उपहत—अचित्त होने पर भी जिस पर कंबल आदि बिछा हुआ न हो वह पृथ्वी[4]। गात्र की उष्मा से पृथ्वी के जीवों की विराधना होती है, इसलिए सचित्त पृथ्वी पर नहीं बैठना चाहिए और कंबल आदि बिछाए बिना जो अचित्त पृथ्वी पर बैठता है उसका शरीर धूलि से लिप्त हो जाता है अथवा उसके निम्न भाग में रहे हुए जीवों की गात्र की उष्मा से विराधना होती है, इसलिए अचित्त पृथ्वी पर भी आसन आदि बिछाए बिना नहीं बैठना चाहिए[5]।

९. (ससरक्खम्मि ख):

सचित्त-रज से संसृष्ट[6]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ४.१८ की टिप्पणी संख्या ६६ पृष्ठ-संख्या १६०-६१।

१—(क) अ० चू० : अहिंसणेण अच्छणेण जोगो जस्स सो अच्छणजोगो।

(ख) जि० चू० पृ० २७४ : अकारो पडिसेहे वट्टइ, छणसद्दो हिंसाए वट्टइ, जोगो मणवयणकाइओ तिविधो, ण छणजोगो अच्छणजोगो तेण अच्छणजोएण निव्वाघाएण।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'अक्षणयोगेन' अहिंसाव्यापारेण।

२—जि० चू० पृ० २७५ : तत्थ अचित्ताए तन्निस्सिया विराधिज्जति, सचित्ताए पुढवी जीवा तण्णिस्सिया य विराहिज्जति।

३—(क) अ० चू० : 'भित्ति' तडी।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : भित्तिमादि णदितडीतो जवोवहलिया सा भित्ती भन्नति।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'भित्तिं' तटीम्।

४—(क) अ० चू० : असत्थोवहता सुद्धपुढवी, सत्थोवहतावि कयल्मातिहि अणंतरिया।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : सुद्धपुढवी नाम न सत्थोवहता, असत्थोवहयावि जा णो वत्थंतरिया सा सुद्धपुढवी भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'शुद्धपृथिव्याम्' अशस्त्रोपहतायामनन्तरितायाम्।

५—जि० चू० पृ० २७५ : तत्थ सचित्तपुढवीए गायउण्हाए विराधिज्जइ, अचित्ताए पुयाए पति (गायआ) सगायी गुडिज्जंति, हेट्ठिला वा तण्णिस्सिता सत्ता उण्हाए विराधिज्जति।

६—(क) जि० चू० पृ० २७५ : ससरक्ख नाम जमि सचित्तरतो वाउद्धुयो तमासण ससरक्ख भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'सरजस्के वा' पृथ्वीरजोऽवगुण्ठिते वा।

१०. न बैठे (न निसिए [क]) :

बैठने का स्पष्ट निषेध है। इसके उपलक्षण से खड़ा रहने, सोने आदि का भी निषेध समझ लेना चाहिए[१]।

११. प्रमार्जन कर (पमज्जित्तु [ग]) :

सचित्त-पृथ्वी पर बैठने का सर्वथा निषेध है। अचित्त-पृथ्वी पर सामान्यतः आसन बिछाए बिना बैठने का निषेध है, किन्तु धूलि का प्रमार्जन कर बैठने का विधान भी है। यह उस सामान्य विधि का अपवाद है[२]।

१२. लेकर (जाइत्ता [घ]) :

चूर्णि और टीका के अनुसार यह पाठ 'जाणित्तु' रहा—ऐसा संभव है। उसके संस्कृत रूप 'ज्ञात्वा' और 'ज्ञपयित्वा' दोनों हो सकते हैं। ज्ञात्वा अर्थात् पृथ्वी को अचेतन जानकर, ज्ञपयित्वा अर्थात् वह जिसकी हो उसे जताकर—अनुमति लेकर या मांगकर। टीका में 'जाइत्ता' की भी व्याख्या है[३]।

श्लोक ६ :

१३. शीतोदक (सीओदगं [क]) :

यहाँ इसका अर्थ है—भूम्याश्रित सचित्त जल[४]।

१४. (वुट्ठं [ख]) :

बरसात का पानी, अन्तरिक्ष का जल[५]।

१५. हिम का (हिमाणि [ख]) :

हिम-पात शीतकाल में होता है[६] और वह प्रायः उत्तरापथ में होता है[७]।

१—हा० टी० प० २२८ न निषीदेत्, निषीदनग्रहणात् स्थानत्वग्वर्तनपरिग्रहः।

२—हा० टी० प० २२८ : अचेतनायां तु प्रमृज्यतां रजोहरणेन निषीदेत्।

३—(क) अ० चू० : जाणित्तु सत्थोवहता इति लिंगतो पंचविह वा उग्गहं जाणित्तु तं जाइय अणुण्णवित।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : जाणिऊण जहा एसा अचित्तजयणा, अगणिमाई उवहयस्स य जस्स सो परिग्गहो तस्स उग्गहं अणुजाणावेऊण निसीदणादीणि कुज्जा।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'ज्ञात्वे' त्यचेतनां ज्ञात्वा 'याचयित्वाऽवग्रह' मिति यस्य संबन्धिनी पृथिवी तमवग्रहमनुज्ञाप्येति।

४—(क) अ० चू० : 'सीतोदग' तलागादिपु भौम पाणित।

(ख) जि० चू० पृ० २७५ : सीतोदगगहणेण सचेतणस्स उदयस्स गहणं कय।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'शीतोदक' पृथिव्युद्भव सच्चित्तोदकम्।

५—(क) अ० चू० : 'वुट्ठ' तक्कालवरिसोदग।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : वुट्ठग्गहणेण सेसअतरिक्खोदगस्स गहण कय।

६—अ० चू० · हिम हिमवति सीतकाले भवति।

७—(क) जि० चू० पृ० २७६ : हिम पाउसे उत्तरापहे भवति।

(ख) हा० टी० प० २२८ : हिम प्रतीत प्राय उत्तरापथे भवति।

१६. तप्त होने पर जो प्रासुक हो गया हो वैसा जल (उसिणोदगं तत्तफासुयं ग) :

शिष्य ने पूछा—भगवन्! जो उष्णोदक होता है वह तप्त भी होता है और प्रासुक भी होता है तब फिर उसके साथ तप्त-प्रासुक विशेषण क्यों लगाया गया ?

आचार्य ने कहा—सारा उष्णोदक तप्त-प्रासुक नहीं होता, किन्तु पर्याप्त मात्रा में उबल जाने पर ही वह तप्त-प्रासुक होता है। इसलिए यह विशेषण सार्थक है। मुनि के लिए वही उष्णोदक ग्राह्य है, जो पूर्ण मात्रा में तप्त होने पर प्रासुक हो जाए[1]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.२.२२ की टिप्पणी संख्या ४०-४१ पृष्ठ ३०६-७।

श्लोक ७ :

१७. जल से भीगे अपने शरीर को (उदउल्लं अप्पणो कायं क) :

मुनि के शरीर भीगने का प्रसंग तब आता है जब वे नदी पार करते हैं या भिक्षाटन में वर्षा आ जाती है[2]।

१८. पोंछे...मले (पुंछे...संलिहे ख) :

वस्त्र, तृण आदि से पोंछना 'प्रोञ्छन' और उंगली, हाथ आदि से पोंछना 'संलेखन' कहलाता है[3]।

१९. तथाभूत (तहाभूयं ग) :

'तथाभूत' का अर्थ आर्द्र या स्निग्ध है[4]।

२०. देखकर (समुप्पेह ग) :

टीका में इसका अर्थ 'देखकर' किया है[5]। चूर्णियों के अनुसार 'समुप्पेहे' पाठ है। इसका अर्थ है—सम्यक् प्रकार से देखे[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० २७६ : त पुण उसिणोदग जाहे तत्त फासुग भवति ताहे सजतो पडिग्गाहिज्जत्ति, आह—उसिणोदगमेव वत्तव्वं तत्त-फासुगगहण न कायव्व, जम्हा ज उसिणोदग तमवस्स तत्त फासुय च भविस्सइ?, आयरियो आह—न सव्व उसिणोदग तत्तफासुय भवति, जाहे सव्वत्ता उव्वत्ता ताहे फासुय भवति, अतो तत्तफासुयगहण कय भवति।

(ख) हा० टी० प० २२८ : 'उष्णोदक' क्वथितोदक 'तप्तप्रासुक' तप्त सत्प्रासुक त्रिदण्डोद्वृत्त, नोष्णोदकमात्रम्।

२—हा० टी० प० २२८ : नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहत 'उदकार्द्रम्' उदकबिन्दुचितमात्मन: 'काय' शरीर स्निग्धं वा।

३—(क) अ० चू० : पुछण वत्थादीहिं सल्लेहणमंगुलिमादीहिं।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : तत्थ पुछण वत्थेहिं तणादीहिं वा भवइ, सलिहणं ज पाणिणा सलिहिऊण णिच्छोडेइ एवमादि।

(ग) हा० टी० प० २२८ : 'पुञ्छयेद्' वस्त्रतृणादिभि: 'न संलिखेत्' पाणिना।

४—(क) अ० चू० : तथाभूतमिति उदओल्ल ससरिस ससणिद्धादि।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : तहाभूअ णाम ज उदउल्ल ससणिद्ध।

(ग) हा० टी० प० : 'तथाभूतम्' उदकार्द्रादिरूपम्।

५—हा० टी० प० २२८ : 'सप्रेक्ष्य' निरीक्ष्य।

६—(क) अ० चू० : समुप्पेहे उवेक्खेज्जा परिधारेज्जा तहा भूतमिति।

(ख) जि० चू० पृ० २७६ : समुप्पेहे नाम सम्मं उवेहे, सम णिरिक्खतित्ति वुत्त भवइ।

श्लोक ८ :

२१. श्लोक ८ :

अङ्गार आदि शब्दों की विशेष जानकारी के लिए देखिए ४.२० की टिप्पणी-सख्या ८९-१०० पृष्ठ १६५-६।

श्लोक ९ :

२२. बाहरी पुद्गलों पर (बाहिरं······पोग्गलं घ) :

बाह्य पुद्गल का अर्थ शरीर व्यतिरिक्त वस्तु[१]—उष्णोदक आदि पदार्थ हैं[२]।

श्लोक १० :

२३. तृण, वृक्ष (तणरुक्खं क) :

'तृण' शब्द से सभी प्रकार की घासों और 'वृक्ष' शब्द से सभी प्रकार के वृक्षों एवं गुच्छ, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है[३]। तृणद्रुम सयुक्त शब्द भी है। कोश में नालिकेर, खर्जूर और पूग आदि ताल जाति के वृक्षों को तृणद्रुम कहा है[४], सभवतः इसीलिए कि तृणों के समान इनके भी रेशे समानान्तर और कांटे नुकीले होते हैं। किन्तु यहाँ इनका वियुक्त अर्थ-ग्रहण ही अधिक संगत है।

श्लोक ११ :

२४. वन-निकुञ्ज के बीच (गहणेसु क) :

गहन का अर्थ है वृक्षाच्छन्न प्रदेश। गहन में हलन-चलन करने से वृक्ष की शाखा आदि का स्पर्श होने की सभावना रहती है इसलिए वहाँ ठहरने का निषेध है[५]।

२५. अनन्तकायिक वनस्पति (उदगम्मि ग) :

'उदक' के दो अर्थ किए गए हैं—अनन्तकायिक वनस्पति और जल[६]। किन्तु यह वनस्पति का प्रकरण है, इसलिए यहाँ इसका

१—अ० चू० : सरीरवतिरित्त बाहिरं पोग्गल।

२—(क) जि० चू० पृ० २७७ : बाहिरपोग्गलग्गहणेण उसिणोदयादीण गहण।

(ख) हा० टी० प० २२९ : 'बाह्यं वापि पुद्गलम्' उष्णोदकादि।

३—(क) जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ तण दब्भादि, रुक्खगहणेण एगट्ठियाण बहुबीयाण य गहण, 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण' मितिकाउं सेसावि गुच्छगुम्मादि गहिया।

(ख) हा० टी० प० २२९ : तृणानि—दर्भादीनि, वृक्षा —कदम्बादय।

४—अमर० काण्ड २ वर्ग ४ श्लोक १७० : खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः।

५—(क) जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ गहण गुविलं भण्णइ, तत्थ उव्वत्तमाणो परियत्तमाणो वा साहादीणि घट्टेइ त गहणं, तत्थ नो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २२९ 'गहनेषु' वननिकुञ्जेषु न तिष्ठेत्, सघट्टनादिदोषप्रसङ्गात्।

६—जि० चू० पृ० २७७ : तत्थ उदग नाम अणतवणप्फई, से भणिय च—'उदए अवए पणए सेवाले' एवमादि, अहवा उदगगहणेण उदगस्स गहणं करेंति, कम्हा ?, जेण उदएण वणप्फइकाओ अत्थि।

अर्थ वनस्पति-परक ही संगत है। प्रज्ञापना व भगवती में अनन्तकायिक वनस्पति के प्रकरण में 'उदक' नामक वनस्पति का उल्लेख हुआ है[1]। जहाँ जल होता है वहाँ वनस्पति होती है अर्थात् जल में वनस्पति होने का नियम है। इस वनस्पति-प्रधान दृष्टि से इसका अर्थ जल भी किया जा सकता है।

२६. सर्पच्छत्र (उत्तिंग घ) :

इसका अर्थ सर्पच्छत्र[2]— कुकुरमुत्ता है। यह पौधा बरसात के दिनों में पेड़ों की जड़ों में या सील की जगह में उगा करता है।

२७. खड़ा न रहे (न चिट्ठेज्जा क) :

यह शब्द न बैठे, न सोए आदि का संग्राहक है[3]।

श्लोक १२ :

२८. सब जीवों के (सव्वभूएसु ग) :

यह त्रस का प्रकरण है इसलिए यहाँ 'सर्वभूत' का अर्थ 'सर्व त्रस जीव' है[4]।

२९. विभिन्न प्रकार वाले (विविहं घ) :

इसका अर्थ हीन, मध्य और उत्कृष्ट[5] अथवा कर्म की पराधीनता से नरक आदि गतियों में उत्पन्न है[6]।

श्लोक १५ :

३०. श्लोक १५ :

आठ सूक्ष्मों की व्याख्या इस प्रकार है :

१—स्नेहपुष्प के पाँच प्रकार हैं—ओस, बरफ, कुहासा, ओला और उद्भिद् जलबिन्दु[7]।

२—पुष्पसूक्ष्म—बड़, उम्बर आदि के फूल या उन जैसे वर्ण वाले दुर्विभाव्य फूल[8]।

३—प्राण सूक्ष्म—अणुद्धरी-कुंथु, जो चलने पर जाना जाता है किन्तु स्थिरावस्था में दुर्ज्ञेय है[9]।

४—उत्तिंग सूक्ष्म—कीडी-नगरा, जहाँ प्राणी दुर्ज्ञेय हों[10]।

१—पन्न १.४३ पृ० १०५ जलरुहा अणेगविहा पन्नत्ता, तंजहा—उदए, अवए, पणए ....।

२—हा० टी० प० २२६ : 'उत्तिङ्ग'—सर्पच्छत्रादि।

३—अ० चू० : ण चिट्ठे णिसीदणादि सव्वं ण चेएज्जा।

४—अ० चू० : सव्वभूताणि तसकायाधिकारोत्ति सव्वतसा।

५—अ० चू० : विविधमणेगागारं हीणमज्झाधिकभावेण।

६—हा० टी० प० २२६ : विविधं 'जगत्' कर्मपरतन्त्रं नरकादिगतिरूपम्।

७—जि० चू० पृ० २७८ : सिणेहसुहुमं पंचपगारं, तं०—ओसा हिमए महिया करए हरतणुए।

८—जि० चू० पृ० २७८ : पुप्फसुहुमं नाम वडउम्बरादीनि संति पुप्फाणि, तेसिं सरिवन्नाणि दुव्विभावणिज्जाणि ताणि सुहुमाणि।

९—जि० चू० पृ० २७८ : पाणसुहुमं अणुद्धरी कुंथू जा चलमाणा विभाविज्जइ थिरा दुव्विभावा।

१०—अ० चू० : उत्तिंग सुहुमं कीडियाघरगं जत्थ पाणिणो दुव्विभावणिज्जा।

५—पनक सूक्ष्म—काई, यह पाँच वर्ण की होती है। वर्षा में भूमि, काठ और उपकरण (वस्त्र) आदि पर उस द्रव्य के समान वर्णवाली उत्पन्न होती है[1]।

६—बीज सूक्ष्म—सरसों और शाल के अग्रभाग पर होने वाली कणिका, जिसे लोग 'सुमधु' भी कहते हैं[2]। स्थानाङ्ग वृत्तिकार के अनुसार इसे लोक-भाषा में 'तुषमुख' भी कहा जाता है[3]।

७—हरित सूक्ष्म—जो तत्काल उत्पन्न, पृथ्वी के समान वर्ण वाला और दुर्ज्ञेय हो वह अंकुर[4]।

८—अंड-सूक्ष्म के पाँच प्रकार हैं—मधुमक्खी, कीडी, मकड़ी (स्थानाङ्ग ८२० में वृत्तिकार ने लूता—मकड़ी के स्थान में गृहकोकिला—गिलहरी का उदाहरण दिया है) ब्राह्मणी और गिरगिट के अंडे[5]।

३१. उत्तिङ्ग (उत्तिंग ख) :

स्थानाङ्ग में आठ सूक्ष्म बतलाए हैं[6]। दशवैकालिक और स्थानाङ्ग के सूक्ष्माष्टक में अर्थ-दृष्टि से अभेद है। जो क्रम-भेद है उसका कारण गद्य और पद्य रचना है। शब्द-दृष्टि से सात शब्द तुल्य हैं केवल एक शब्द में अन्तर है। स्थानाङ्ग में 'लेण' है वहाँ दशवैकालिक में 'उत्तिंग' है। स्थानाङ्ग वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने 'लेण' का अर्थ जीवों का आश्रय-स्थान किया है[7]। दशवैकालिक के टीकाकार हरिभद्र सूरि ने 'उत्तिंग' का अर्थ 'कीटिका-नगर' किया है[8]। इन दोनों सूत्रों के शाब्दिक-भेद और आर्थिक-अभेद से एक बड़ा लाभ हुआ है, वह है 'उत्तिंग' शब्द के अर्थ का निश्चय। विभिन्न व्याख्याकारों ने 'उत्तिंग' शब्द के विभिन्न अर्थ किए हैं (देखिए आचा० २ १.१ का टिप्पण)। किन्तु प्रस्तुत-श्लोक में प्रयुक्त 'उत्तिंग' का अर्थ वही होना चाहिए जो 'लयन' का है। इस प्रकार 'लयन' शब्द 'उत्तिंग' के अर्थ को कस देता है। इसी अध्ययन के ग्यारहवें श्लोक में जो 'उत्तिंग' शब्द आया है वह वनस्पति का वाचक है। प्रस्तुत प्रकरण त्रसकाय से सम्बन्धित है। प्रकरण-भेद से दोनों में अर्थ-भेद है।

श्लोक १६ :

३२. सब प्रकार से (सव्वभावेण ख) :

अगस्त्य चूर्णि में लिङ्ग, लक्षण, भेद, विकल्प—यह सर्वभाव की व्याख्या है[9]। लिङ्ग आदि सर्व साधनों से जानना, सर्वभाव से जानना कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ 'सर्वस्वभाव' किया है[10]। जिनदास चूर्णि में वर्ण, संस्थान आदि को 'सर्वभाव' माना गया है[11]।

१—जि० चू० पृ० २७८ : पणगसुहुम णाम पंचवन्नो पणगो वासासु भूमिकट्ठउवगरणादिसु तद्दव्वसमवन्नो पणगसुहुम।

२—जि० चू० पृ० २७८ : बीयसुहुम नाम सरिसवादि सालिस्स वा मुहमूले जा कणिया सा बीयसुहुमं, सा य लोगेण उ सुमहु (धुम)त्ति भण्णइ।

३—स्था० ८.३ सू० ६१७ वृ : लोके या तुषमुखमित्युच्यते।

४—जि० चू० पृ० २७८ : हरितसुहुम णाम जो अहुणुट्ठिय पुढविसमाणवण्ण दुव्विभावणिज्ज त हरियसुहुमं।

५—अ० चू० : उद्दसड महुमच्छिगादीण, कीडिया अडग—पिपीलियाअढ, उक्कलिअडं लूया—पडागस्स, हलियडबभणियाअंड, सरडि-अडग,—हल्लोहलिअडं।

६—स्था० ८ ३ सू० ६१५ : अट्ठ सुहुमा प० त० पाणसुहुमे, पणगसुहुमे, बीयसुहुमे, हरियसुहुमे, पुप्फसुहुमे, अंडसुहुमे, लेणसुहुमे, सिणेहसुहुमे।

७—स्था० ८.३ सू० ६१५ वृ० . लयनम्—आश्रय सत्त्वानाम्, तच्च कीटिकानगरादि, कीटिकाश्चान्ये च सूक्ष्माः सत्त्वा भवन्तीति।

८—हा० टी० प० २३० : उत्तिगसूक्ष्म-कीटिका-नगरम्। तत्र कीटिका अन्ये च सूक्ष्मसत्त्वा भवन्ति।

९—अ० चू० : सव्वभावेण लिंगलक्खण भेदविकप्पेण।

१०—अ० चू० : अहवा सव्वसभावेण।

११—जि० चू० पृ० २७८ : सव्वप्पगारेहिं वण्णसठाणाईहिं णाऊणति।

वहाँ एक विशेष जानकारी दी गई है कि छद्मस्थ सब पर्यायों को नहीं जान सकता। इसलिए 'सर्वभाव' का अर्थ होगा जिसका जो विषय है उसे पूर्णरूप से (जानकर)[1]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपनी शक्ति के अनुरूप स्वरूप-संरक्षण' किया है[2]।

श्लोक १७ :

३३. पात्र (पाय ख) :

यहाँ पात्र शब्द से काष्ठ, तुंबा और मिट्टी—ये तीनों प्रकार के पात्र ग्राह्य हैं[3]

३४. कम्बल (कंबलं ख) :

यहाँ 'कम्बल' शब्द से ऊन और सूत—दोनों प्रकार के वस्त्र ग्राह्य हैं[4]।

३५. शय्या (सेज्जं ग) :

शय्या का अर्थ है वसति—उपाश्रय। उसका दिन में दो या तीन बार प्रतिलेखन करने की परम्परा का उल्लेख है[5]।

३६. उच्चार-भूमि (उच्चारभूमिं ग) :

जहाँ लोगों का अनापात और असंलोक हो अर्थात् लोगों का गमनागमन न हो और लोग न दीखते हों, वह उच्चार—मलोत्सर्ग करने योग्य भूमि है। साधु उसका प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर उसमें प्रवेश करे[6]।

३७. संस्तारक (संथारं घ) :

संस्तारक-भूमि के लिए भी प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों का विधान है[7]।

१—जि० चू० पृ० २७८-७९ : अहवा ण सव्वपरियाएहिं छउमत्थो सक्केइ उवलभिउ, किं पुण जो जस्स विसयो ? तेण सव्वेण भावेण जाणिऊणति।

२—हा० टी० प० २३० : 'सर्वभावेन' शक्त्यनुरूपेण स्वरूपसंरक्षणादिना।

३—(क) अ० चू० : पाय लाउदारुमट्टियामय।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : पायग्गहणेण दारुअलाउयमट्टियपायाण गहण।

(ग) हा० टी० प० २३१ : पात्रग्रहणाद्—अलाबुदारुमयादिपरिग्रहः।

४—(क) अ० चू० : कंबलोपदेसेण तज्जातीय वत्थादि सव्वमुपदिट्ठ।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : कम्बलग्गहणेण उन्नियसोत्तियाण सव्वेसिं गहण।

(ग) हा० टी० प० २३१ : कम्बलग्रहणादूर्णासूत्रमयपरिग्रह।

५—(क) जि० चू० पृ० २७९ : सेज्जाओ वसहीओ भण्णइ, तमवि दुकाल तिकाल वा पडिलेहिज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'शय्यां' वसतिं द्विकाल त्रिकाल च।

६—(क) अ० चू० : उच्चारो सरीरमलो तस्स भूमी उच्चारभूमी तमवि अणावातमसंलोगादिविहिणा पडिलेहिज्जा पडिलेहितपमज्जिते वा आयरेज्ज।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : उच्चारभूमिमवि अणावायमसंलोयादिगुणेहिं जुत्त गवमाणो।

(ग) हा० टी० प० २३१ : उच्चारभुव च—अनापातवदादि स्थण्डिलम्।

७—(क) जि० चू० पृ० २७९ : तहा संथारभूमिमवि पडिलेहिय पमज्जिय अत्थुरेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'संस्तारक' तृणमयादिरूपम्।

३८. आसन का (आसणं घ) :

बैठते समय आसन का प्रतिलेखन करने का विधान है[१]।

३९. यथासमय (धुवं क) :

इसका अर्थ नित्य-नियत समय या यथासमय है[२]।

४०. प्रमाणोपेत (जोगसा ख) :

इसका अर्थ अन्यूनातिरिक्त अर्थात् प्रमाणोपेत है। प्रतिलेखन न हीन करना चाहिए और न अतिरिक्त, किन्तु प्रमाणोपेत करना चाहिए। जैसे योग-रक्त साड़ी का अर्थ प्रमाण-रक्त साड़ी होता है, वैसे ही जोगसा का अर्थ प्रमाण—प्रतिलेखन होता है[३]। व्याख्याओं में इसका मूल अर्थ—'सामर्थ्य होने पर' भी किया गया है[४]।

४१. प्रतिलेखन करे (पडिलेहेज्जा क) :

प्रतिलेखन का अर्थ है देखना। मुनि के लिए दिन में दो बार (प्रातः और सायं) वस्त्र आदि का प्रतिलेखन करना विहित है। प्रतिलेखन-विधि की जानकारी के लिए उत्तराध्ययन (२६ २२.३१) और ओघनिर्युक्ति गाथा (२५६-२७५) द्रष्टव्य हैं।

श्लोक १८ :

४२. श्लोक १८ :

इस श्लोक में निर्दिष्ट उच्चार आदि की तरह अन्य शरीर के अवयव, आहार या उपकरण आदि का भी प्रासुक स्थान में उत्सर्ग करना चाहिए। यह उपाश्रय में उत्सर्ग करने की विधि का वर्णन है[५]।

४३. शरीर के मैल का (जल्लियं ख) :

'जल्लिय' का अर्थ है शरीर पर जमा हुआ मैल। चूर्णिद्वय के अनुसार मुनि के लिए उसका उद्वर्तन करना—मैल उतारना विहित

१—जि० चू० पृ० २७९ : तहा आसणमवि पडिलेहिऊण उवविसेज्ज।

२—(क) अ० चू० : धुवं णियत।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : धुव णाम जो जस्स पच्चुवेक्खणकालो त तमि णिच्चं।

(ग) हा० टी० प० २३० : 'ध्रुव च' नित्य च यो यस्य काल उक्तोऽनागत परिभोगे च तस्मिन्।

३—जि० चू० पृ० २७९ : जोगसा नाम सति सामत्थे, अहवा जोगसा णाम ज पमाण भणित ततो पमाणाओ ण हीणमहितं वा पडिलेहिज्जा, जहा जोगरत्ता साडिया पमाणरत्तित्ति वुत्त भवइ तहा पमाणपडिलेहा जोगसा भण्णइ।

४—(क) अ० चू० : जोगसा जोग सामत्थे सति अहवा उवउज्जिऊण पुव्विं तिजोगेण जोगसा उणातिरित्तपडिलेहणावजित वा जोगसा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : 'योगे सति' सति सामर्थ्ये अन्यूनातिरिक्तम्।

५—(क) जि० चू० पृ० २७९ : अन्न वा सरीरावयव आहारोवकरणादि वा, फासुय ठाणं 'पडिलेहिऊण परिट्ठवेज्ज सजए'त्ति, एस उवस्सए विधी भणिओ।

(ख) हा० टी० प० २३१ : उपाश्रयस्थानविधिरुक्तः।

नहीं है। पसीने से गलकर मैल उतरता है अथवा ग्लान साधु शरीर पर जमे हुए मैल को उतार सकता है। यहाँ मैल के उत्सर्ग का उल्लेख इन्हीं की अपेक्षा से है[१]।

अगस्त्यसिंह ने 'जाव सरीरभेओ' इस वाक्य के द्वारा 'जल्ल परीषह' की ओर संकेत किया है। इसकी जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (२ ३७)।

श्लोक १९ :

४४. (वा ख) :

सामान्यतः गृहस्थ के घर जाने के भोजन और पानी—ये दो प्रयोजन बतलाए हैं। रुग्ण साधु के लिए औषध लाने के लिए तथा इसी कोटि के अन्य कारणों से भी गृहस्थ के घर में प्रवेश करना होता है—यह 'वा' शब्द से सूचित किया गया है[२]।

४५. उचित स्थान में खड़ा रहे (जयं चिट्ठे ग) :

इसका शाब्दिक अर्थ है यतनापूर्वक खड़ा रहे। इसका भावार्थ है—गृहस्थ के घर में मुनि झरोखा, सन्धि आदि स्थानों को न देखता हुआ खड़ा रहे अर्थात् उचित स्थान में खड़ा रहे[३]।

४६. परिमित बोले (मियं भासे ग) :

गृहस्थ के पूछने पर मुनि यतना से एक बार या दो बार बोले[४] अथवा प्रयोजन वश बोले[५]। जो बिना प्रयोजन बोलता है वह भले थोड़ा ही बोले, मितभाषी नहीं होता और प्रयोजनवश अधिक बोलने वाला भी मितभाषी है। आहार एषणीय न हो तो उसका प्रतिषेध करे[६] यह भी 'मिय भासे' का एक अर्थ है।

४७. रूप में मन न करे (ण य रूवेसु मणं करे घ) :

भिक्षाकाल में दान देने वाली या दूसरी स्त्रियों का रूप देखकर यह चिन्तन न करे—इसका आश्चर्यकारी रूप है, इसके साथ मेरा सयोग हो आदि। रूप की तरह शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श में भी मन न लगाए—आसक्त न बने[७]।

१—(क) अ० चू० : जल्लिया मलो तस्स य जाव सरीरभेदाए नत्थि उव्वट्टणं तदा पुण पस्सेदेण मलति गिलाणातिकज्जे वा अवकरिसए तदा एव।

(ख) जि० चू० पृ० २७९ : जल्लिय नाम मलो, णो कप्पइ उवट्टेउ, जो पुण गिम्हकाले पस्सेयो भवति, अण्णमि गिलाणादि कारणे मलत्थं के (ओ क) रिसो कीरइ तस्स त गहण कयति।

२—(क) जि० चू० पृ० २७९-२८० . अन्नेसु वा कारणेसु पविसिऊण।

(ख) हा० टी० प० २३१ ग्लानादेरौषधार्थं वा।

३—(क) जि० चू० पृ० २८० : तत्थ जय चिट्ठे नाम तमि गिहदुवारे चिट्ठे, णो आलोयत्थिग्गलाईणि, वज्जयंति, अक्खेव सोहयतो चिट्ठेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३१ : यत—गवाक्षकादीन्यनवलोकयन् तिष्ठेदुचितदेशे।

४—जि० चू० पृ० २८० · मित भासेज्जा णाम पुच्छिओ सजओ जयणाए एक्क वा दो वा वारे भासेज्जा।

५—जि० चू० पृ० २८० · कारणणिमित्त वा भासइ।

६—जि० चू० पृ० २८० · अणेसण वा पडिसेहयइ।

७—जि० चू० पृ० २८० : रूवं दायगस्स अण्णेमि वा दट्ठूण तेसु मण ण कुज्जा, जहा अहो रूव, जति नाम एतेण सह सजोगो होज्जति एवमादि।

श्लोक २० :

४८. श्लोक २० :

चूर्णिकार ने इस श्लोक के प्रतिपाद्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण दिया है :

एक व्यक्ति पर-स्त्री के साथ मैथुन सेवन कर रहा था। किसी साधु ने उसे देख लिया। वह लज्जित हुआ और सोचने लगा कि साधु किसी दूसरे को कह देगा, इसलिए मैं उसे मार डालूँ। उसने आगे जाकर मार्ग रोका और मौका देखकर साधु से पूछा—'आज तूने मार्ग में क्या देखा ?' साधु ने कहा :

बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खु अक्खाउमरिहइ॥

यह सुनकर उसने मारने का विचार छोड़ दिया। इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि सत्य भी विवेकपूर्ण बोलना चाहिए। साधु को झूठ नहीं बोलना चाहिए। किन्तु जहाँ सत्य बोलने से हिंसा का प्रसंग हो वहाँ सत्य भी नहीं बोलना चाहिए। वैसी स्थिति में मौन रखना ही अहिंसक का धर्म है। इसका सम्बन्ध आचाराङ्ग से भी है। वहाँ बताया गया है—पथिक ने साधु से पूछा : क्या तुमने मार्ग में मनुष्य, वृषभ, महिष, पशु, पक्षी, साँप, सिंह या जलचर को देखा ? यदि देखा हो तो बताओ। वैसी स्थिति में साधु जानता हुआ भी 'जानता हूँ'—ऐसा न कहे। किन्तु मौन रहे[1]।

श्लोक २१ :

४९. सुना (सुयं क) :

किसी के बारे में दूसरों से सुनकर कहना कि 'तू चोर है'—यह सुना हुआ औपघातिक वचन है[2]।

५०. देखा हुआ (दिट्ठं क) :

मैंने इसे लोगों का धन चुराते देखा है—यह देखा हुआ औपघातिक वचन है[3]।

५१. गृहस्थोचित कर्म का (गिहिजोगं घ) :

'गृहियोग' का अर्थ है—गृहस्थ का संसर्ग या गृहस्थ का कर्म—व्यापार। 'इस लड़की का तूने वैवाहिक सम्बन्ध नहीं किया ?', 'इस लड़के को तूने काम में नहीं लगाया'—ऐसा प्रयत्न गृहियोग कहलाता है[4]।

१—आचा० २.१.३.३. सू० ३५२ : तुसिणीए उवेहिज्जा, जाणं वा नो जाणति वइज्जा।

२—(क) जि० चू० पृ० २८१ : तत्थ सुत जहा तुमं मए सुओ अट्टावद्धो चोरो एवमादि।

(ख) हा० टी० प० २३१ : यथा—चौरस्त्वमित्यादि।

३—(क) जि० चू० पृ० २८१ : दिट्ठो—दिट्ठोसि मए परदव्वं हरमाणो एवमादि।

(ख) हा० टी० प० २३१ : यदि वा दृष्टं स्वयमेव।

४—(क) अ० चू० : गिहिजोग गिहिसंसग्गि गिहवावार वा गिहिजोग।

(ख) जि० चू० पृ० २८१ : गिहीहिं सम जोगं गिहिजोग, संसग्गित्ति वुत्त भवति, अहवा गिहिकम्म जोगो भण्णइ, तस्स गिहिकम्माणं कयाण अकयाणं च तत्थ उवेक्खण सयं वाऽकरण, जहा एस दारिया किं न दिज्जइ ? दारगो वा किं न निवेसिज्जइ ?, एवमादि।

(ग) हा० टी० प० २३१ : 'गृहियोग' गृहिसंबन्ध तद्बालग्रहणादिरूप गृहिव्यापार वा।

श्लोक २२ :

५२. सरस (निट्ठाणं क) :

जो भोजन सब गुणों से युक्त और वेपवारों से संस्कृत हो उसे निष्ठान कहा जाता है[१] जैसे—चटनी, मसाला, छौंक (तेमन) आदि। दाल, शाक आदि भोजन के उपकरण भी निष्ठान कहलाते हैं। निष्ठान का भावार्थ सरस है।

५३. नीरस (रसनिज्जूढं क) :

रस-निर्यूढ। जिसका रस चला गया हो उसे 'निर्यूढ रस' कहा जाता है। 'निर्यूढ रस' अर्थात् निकृष्ट या रस-रहित भोजन[२]।

श्लोक २३ :

५४. भोजन में गृद्ध होकर विशिष्ट घरों में न जाए (न य भोयणम्मि गिद्धो क चरे ख) :

भोजन से चारों प्रकार के आहार का ग्रहण होता है। भोजन की आसक्ति से मुनि नीच कुलों को छोड़कर उच्च कुलों में प्रवेश न करे[३] और विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए दाता की श्लाघा करता हुआ भिक्षाटन न करे[४]।

५५. वाचालता से रहित होकर (अयंपिरो ख) :

चूर्णि काल में इसका अर्थ अजल्पनशील रहा है[५]। टीकाकार ने—'धर्म-लाभ' मात्र बोलने वाला—इतना और विस्तृत किया है[६]। भिक्षा लेने से पूर्व 'धर्म-लाभ' कहने की परम्परा आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय में प्रचलित है।

५६. उञ्छ (उंछं ख) :

'उञ्छ' शब्द मूलतः कृषि से सम्बन्धित है। सिट्टों या भुट्टों को काटा जाता है उसे 'शिल' कहते हैं और नीचे गिरे हुए धान्यकणों को एकत्र करने को 'उञ्छ' कहते हैं। यह विस्तार पाते-पाते भिक्षा से जुड़ गया और खाने के बाद रहा हुआ शेष भोजन लेना, घर-घर से थोड़ा-थोड़ा भोजन लेना—इनका वाचक बन गया और सामान्यतः भिक्षा का पर्यायवाची जैसा बन गया। महाभारत में भिक्षा के लिए 'उञ्छ' और 'शिल' दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं[७]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८१ : णिट्ठाणं णाम जं सव्वगुणोववेयं सव्वसंभारसभियं तं णिट्ठाणं भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० २३१ : 'निष्ठानं' सर्वगुणोपेतं संभृतमन्नम्।

२—(क) जि० चू० पृ० २८१ : रसणिज्जूढं णाम जं कदसणं ववगयरसं तं रसणिज्जूढं भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० २३१ : रस निर्यूढमेतद्विपरीतं कदशनम्।

३—जि० चू० पृ० २८१ : भोयणगहणेण चउव्विहस्सवि आहारस्स गहणं कयं, तस्स भोयणस्स गेहीए ण णीयकुलाणि अतिक्कमंतो उच्चकुलाणि पविसेज्जा।

४—हा० टी० प० २३१ : न च भोजने गृद्धः सन् विशिष्टवस्तुलाभायेश्वरादिकुलेषु मुखमङ्गलिकया चरेत्।

५—(क) अ० चू० : अजंपण सीलो अयंपुरो।
(ख) जि० चू० पृ० २८१ : अयंपिरो नाम अजंपणसीलो।

६—हा० टी० प० २३१ : अजल्पनशीलो धर्मलाभमात्राभिधायी चरेत्।

७—महा० शान्ति० ३६३.४ : अमङ्गतिरनाकाङ्क्षी नित्यमुञ्छशिलाशनः।
सर्वभूतहिते युक्त एष विप्रो भुजङ्गम ॥

दशवैकालिक में 'उञ्छ' शब्द का प्रयोग तीन स्थलों में 'अन्नाय' शब्द के साथ[१] और दो स्थलों में स्वतन्त्र रूप[२] से हुआ है।

श्लोक २४ :

५७. सन्निधि (सन्निहिं [क]) :

इसका शाब्दिक अर्थ है पास में रखना, जमा करना, संग्रह करना। इसका भावार्थ है रातवासी रखना[३]। मुनि के लिए आगामी काल की चिन्ता से प्रेरित हो संग्रह करने का निषेध किया गया है[४]।

५८. मुधाजीवी (मुहाजीवी [ग]) :

यहाँ अगस्त्यसिंह ने 'मुहाजीवी' का अर्थ मूल्य के बिना जीने वाला अर्थात् अपने जीवन के लिए धन आदि का प्रयोग न करने वाला किया है[५]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.१ की टिप्पणी संख्या १०० पृष्ठ २८७।

५९. असंबद्ध (अलिप्त) (असंबद्धे [ग]) :

इसका एक अर्थ है—सरस आहार में आसक्त न हो—बद्ध न हो[६]। दूसरा अर्थ है—जिस प्रकार कमल-पत्र पानी में लिप्त नहीं होता उसी प्रकार गृहस्थों से निर्लिप्त[७]।

६०. जनपद के आश्रित (जगनिस्सिए [घ]) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार मुनि एक कुल या ग्राम के निश्रित न रहे, किन्तु जनपद के निश्रित रहे[८]। जिनदास चूर्णि के अनुसार 'जगन्निश्रित' की व्याख्या इस प्रकार है—मुनि गृहस्थ के निश्रित रहे अर्थात् गृहस्थों के घर से जो भिक्षा प्राप्त हो वह ले, किन्तु मंत्र तन्त्र से जीविका न करे[९]। टीका के अनुसार इसका अर्थ है—त्रस और स्थावर जीवों के संरक्षण में संलग्न[१०]। स्थानाङ्ग में श्रमण के लिए पाँच निश्रा—स्थान बतलाए गए हैं—छहकाय, गण—गणराज्य, राजा, गृहपति और शरीर[११]। भिक्षु इनकी निश्रा में विहार करता है। चूर्णियों के अर्थ टीका की अपेक्षा अधिक मूलस्पर्शी हैं।

१—दश० ९ ३.४, १०.१६; चू० २.५।

२—दश० ८.२३, १०.१७।

३—जि० चू० पृ० २८२ : सन्निधी—गुलघयतिल्लादीण दव्वाण परिवासणंति।

४—अ० चू० : सण्णिधाण सण्णिधी उत्तरकाल भुंजीहामित्ति सण्णिचय—करणमणेगदेवसिय तं ण कुव्वेज्जा।

५—अ० चू० : मुधा अमुल्लेण तधा जीवति मुधाजीवी जहा पढमपिंडेसणाए।

६—अ० चू० : असबद्धो रसादिपडिबधेहि।

७—(क) जि० चू० पृ० २८२ : असबद्धे णाम जहा पुक्खरपत्त तोएण न सबज्झइ एव गिहीहिं सम असंबद्धेण भवियव्वंति।

(ख) हा० टी० प० २३१ : असबद्ध- पद्मिनीपत्रोदकवद्गृहस्थै-।

८—अ० चू० : ण एक्क कुलं गाम वा णिस्सितो जणपदमेव।

९—जि० चू० पृ० २८२ : 'जगनिनिस्सिए' णाम तत्थ पत्ताणि लभिस्सामोत्तिकाऊण गिहत्याण णिस्साए विहरेज्जा, न तेहिं समं कुटलाइ करेज्जा।

१०—हा० टी० प० २३१ : 'जगन्निश्रित.' चराचरसरक्षणप्रतिबद्धः।

११—स्था० ५.३.४४७ : धम्म चरमाणस्स पंच णिस्साथाणा प० त०—छक्काए गणे राया गिहवती सरीर।

श्लोक २५ :

६१. रूक्षवृत्ति (लूहवित्ती क) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'रूक्षवृत्ति' के दो अर्थ हैं—सयम के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला और चने, निष्पाव, कोद्रव आदि रूक्ष द्रव्यों से जीविका करने वाला[1]। जिनदास चूर्णि और टीका को दूसरा अर्थ अभिमत है[2]।

अनुसन्धान के लिए देखिए ५.२ ३४ की टिप्पणी सख्या ५३ पृष्ठ ३११।

६२. अल्प इच्छा वाला (अप्पिच्छे ख) :

जिसके आहार की जितनी मात्रा हो उससे कम खाने वाला 'अल्पेच्छ' अल्प इच्छा वाला कहलाता है[3]।

६३. अल्पाहार से तृप्त होने वाला (सुहरे ख) :

रूक्षवृत्ति, सुसतुष्ट, अल्पेच्छ और सुभर इनमें कारण-भाव—फल-भाव है। रूक्षवृत्ति का फल सुसतोष, सुसतोष का अल्पेच्छता और अल्पेच्छता का फल सुभरता है[4]।

६४. जिन-शासन को (जिणसासणं घ) :

जिन-शासन को सुनकर—अक्रोध की शिक्षा के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जिन वचन में क्रोध के बहुत ही कटु विपाकों का वर्णन किया है। जीव चार प्रकार से नारकीय कर्मों का बन्धन करता है। उनमें पहला है—क्रोध-शीलता। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर क्रोध न किया जाए इसके लिए जिन-शासन में अनेक आलम्बन बतलाए गए हैं जैसे—कोई अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि पुरुष भिक्षु को गाली दे, मारे-पीटे तब वह सोचे कि यह मेरा अपराध नहीं कर रहा है। मुझे कष्ट दे रहे हैं मेरे किए हुए कर्म। इस प्रकार सोचकर जो गाली और मार-पीट को सहन करता है वह अपनी आत्मा का शोधन करता है[5]। देखिए उत्तराध्ययन (२ २४-२७)। अगस्त्यसिंह ने अक्रोध की आलम्बनभूत एक गाथा उद्धृत की है :

अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भसाण बालसुलभाणं।
लाभं मन्नति धीरो, जहुत्तराण अभावमि॥

इसका अर्थ है 'गाली देना, पीटना और मारना—ये कार्य बालजनों के लिए सुलभ हैं। कोई आदमी गाली दे तब भिक्षु यह सोचे कि खैर, अच्छा गाली दी, पीटा तो नहीं। पीटे तो सोचे कि चलो पीटा, पर मारा तो नहीं। मारे तब सोचे कि खैर, मेरा धर्म तो नहीं लूटा। इस प्रकार क्रोध पर विजय पाए।

६५. क्रोध (आसुरत्तं ग) :

'आसुर' शब्द का सम्बन्ध असुर जाति से है। आसुर अर्थात् असुर-सबन्धी। असुर क्रोध-प्रधान माने जाते हैं, इसलिए 'आसुर'

१—अ० चू० : लूह सजमो तस्स अणुवरोहेण वित्ति जस्स सो लूहवित्ती, अहवा लूहदव्वाणि चणगनिप्फावकोद्दवादीणि वित्ती जस्स।

२—(क) जि० चू० पृ० २८२ णिप्फावकोद्दवातिलूहदव्वे वित्ती जस्स सो लूहवित्ती भण्णइ, णिच्चं साहुणा लूहवित्तिणा भवियव्व।

(ख) हा० टी० प० २३१ - रूक्षैः—वल्लचणकादिभिर्वृत्तिरस्येति रूक्षवृत्ति।

३—(क) जि० चू० पृ० २८२ : अप्पिच्छो णाम जो जस्स आहारो ताओ आहारपमाणाओ ऊणमाहारेमाणो अप्पिच्छो भवति।

(ख) हा० टी० प० २३१ : अल्पेच्छो न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागी।

४—हा० टी० प० २३१ " सुभर- स्यात् अल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादाविति फल प्रत्येक वा स्यात्।

५—स्था० ४.४.३५४ : चउहि ठाणेहि जीवा आउरत्ताते कम्मं पगरेंति, त०—कोवसीलाते, पाहुडसीलयाते ससत्ततवोकम्मेण निमित्ताजीवयाते।

शब्द क्रोध का पर्याय बन गया। आसुरत्व अर्थात् क्रोध-भाव[1]।

श्लोक २६ :

६६. श्लोक २६ :

श्लोक के प्रथम दो चरणों में श्रोत्र-इन्द्रिय के और अन्तिम दो चरणों में स्पर्शन-इन्द्रिय के निग्रह का उपदेश है। इससे मध्यवर्ती शेष इन्द्रिय चक्षु, घ्राण और रसन के निग्रह का उपदेश स्वय जान लेना चाहिए। जिस प्रकार मुनि मनोज्ञ शब्दों में राग न करे उसी प्रकार अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष न करे। इसी प्रकार शेष इन्द्रियों के प्रिय और अप्रिय विषयों में राग और द्वेष न करे। जैसे बाहरी वस्तुओं से राग और द्वेष का निग्रह कर्म-क्षय के लिए किया जाता है, वैसे ही कर्म-क्षय के लिए आन्तरिक दु:ख भी सहने चाहिए[2]।

६७. कानों के लिए सुखकर (कण्णसोक्खेहिं क) :

वेणु, वीणा आदि के जो शब्द कानों के सुख के हेतु होते हैं, वे शब्द 'कर्णसौख्य' कहे जाते हैं[3]।

६८. दारुण और कर्कश (दारुणं कक्कसं ग) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार 'दारुण' का अर्थ है विदारण करने वाला और कर्कश का अर्थ है शरीर को कृश करने वाले शीत, उष्ण आदि के स्पर्श। इन दोनों को एकार्थक भी माना है। तीव्रता बताने के लिए अनेक एकार्थक शब्दों का प्रयोग करना पुनरुक्त नहीं कहलाता[4]। टीका के अनुसार 'दारुण' का अर्थ अनिष्ट और 'कर्कश' का अर्थ कठिन है[5]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार शीत, उष्ण आदि दारुण स्पर्श हैं और ककड़ आदि के स्पर्श कर्कश हैं। पहले का सम्बन्ध ऋतु-विशेष और दूसरे का सम्बन्ध मार्ग-गमन से है[6]।

६९. स्पर्श (फासं ग) :

स्पर्श का अर्थ स्पर्शन-इन्द्रिय का विषय (कठोर आदि) है। इसका दूसरा अर्थ दु:ख या कष्ट भी है[7]। यहाँ दोनों अर्थ किए जा सकते हैं।

१—(क) अ० चू० : असुराण एस विसेसण ति आसुरो कोहो तब्भावो आसुरत्त।
(ख) जि० चू० पृ० २८२।

२—जि० चू० पृ० २८३ : तत्थ कण्णसोक्खेहि सद्देहिंति एतेण आदिल्लस्स सोइंदियस्स गहणं कय, दारुणं कक्कस फासति—एतेण अतिल्लस्स फासिंदियस्स गहणं कयं, आदिल्ले अतिल्ले य गहिए सेसावि तस्स मज्झपडिया चक्खुघाणजीहा गहिया, कन्नेहिं विरूविहि रागं ण गच्छेज्जा, एव गरहा, सेसेसुवि राग न गच्छेज्जत्ति, जहा एतेसु सद्दाइसु मणुण्णेसु राग न गच्छेज्जा तहा अमणुण्णेसुवि दोसं न गच्छेज्जा, जहा बाहिरवत्थूसु रागदोसनिग्गहो कम्मखवणत्थ कीरइ तहा कम्मखवणत्थमेव अन्तवद्दियमवि दुक्ख सहियव्व।

३—(क) जि० चू० पृ० २८३ : कन्नाण सुहा कन्नसोक्खा तेसु कन्नसोक्खेसु वंसीवीणाइसद्देसु।
(ख) हा० टी० प० २३२ : कर्णसौख्यहेतव: कर्णसौख्या: शब्दा—वेणुवीणादिसवन्धिन.।

४—जि० चू० पृ० २८३ : दारुण णाम दारणसीलं दारुण, कक्कस नाम जो सीउण्हकोसादिफासो सो सरीरं किस कुव्वईति कक्कसं, तं कक्कसं फास उदिण्णं काएण अहियासएत्ति, अहवा दारुणसद्दो कक्कससद्दोऽविय एगट्ठा, अच्चत्थनिमित्तं पउज्जमाणा णो पुणरुत्तं भवइ।

५—हा० टी० प० २३२ : 'दारुणम्' अनिष्ट 'कर्कश' कठिनम्।

६—अ० चू० : दारुण- तीव्र सीउण्हाति कक्कसो वयत्थो वयत्थाए जो फासो सोवि वयत्थो तं पुण रच्छादि संकरेसुवि पदिमग्गेसु वा फरिसितो।

७—सूत्र० १.५.२.२२।

श्लोक २७ :

७०. दुःशय्या (विषम भूमि पर सोना) (दुस्सेज्जं क) :

जिन पर सोने से कष्ट होता है उन्हें दुःशय्या कहा जाता है। विषमभूमि, फलक आदि दुःशय्या हैं[१]।

७१. अरति (अरई ख) :

अरति भूख, प्यास आदि से उत्पन्न होती है[२]। टीकाकार ने मोहजनित उद्वेग को 'अरति' माना है[३]।

७२. भय को (भयं ख) :

सिंह, साप आदि के निमित्त से उत्पन्न होने वाला उद्वेग 'भय' कहलाता है[४]।

७३. अव्यथित (अव्वहिओ ग) :

अव्यथित का अर्थ—अहीन, अक्लीब और असीदमान—विषाद न करता हुआ है[५]।

७४. देह में उत्पन्न कष्ट को (देहे दुक्खं घ) :

कष्ट दो प्रकार के होते हैं—उदीर्ण—स्वतः उत्पन्न और उदीरित—जान बूझ कर उत्पादित। यहाँ 'देह' शब्द में सप्तमी विभक्ति है। इसके आधार पर अगस्त्यसिंह ने 'देहे दुक्ख' का अर्थ देह में उत्पन्न दुःख किया है[६]। जिनदास इस विषय में मौन हैं[७]। हरिभद्र इनका सम्बन्ध इस प्रकार बतलाते हैं—देह होने पर दुःख होता है। देह असार है—यह सोचकर दुःख को सहन करना महा फल का हेतु होता है[८]।

मुनि की अनेक भूमिकाएँ हैं। जिन-कल्पी या विशिष्ट अभिग्रहधारी मुनि कष्टों की उदीरणा करते हैं। स्थविर-कल्पी का मार्ग इनसे भिन्न है। वे उत्पन्न कष्टों को सहन करते हैं। अगस्त्यसिंह की व्याख्या इस भूमिका-भेद को 'उत्पन्न' शब्द के द्वारा स्पष्ट करती है।

१—(क) अ० चू० : विसमादिभूमिछदु खसयण दुस्सेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : दुसिज्जा नाम विसमभूमि फलगमादी।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'दु शय्यां' विषमभूम्यादिरूपाम्।

२—जि० चू० पृ० २८३ : अरती एतेहि खुप्पिवासादीहि भवइ।

३—हा० टी० प० २३२ 'अरति' मोहनीयोद्भवाम्।

४—(क) अ० चू० : भयमुद्वेगो सिंहसप्पातीतो।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : 'भय' सप्पसीहवाघादि वा भवति।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'भय' व्याघ्रादिसमुत्थम्।

५—(क) जि० चू० पृ० २८३ : अव्वहिओ नाम अहीणो अविक्लीवो असीयमाणोत्ति वुत्तं भवति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'अव्यथित.' अदीनमना सन्।

६—अ० चू० : देहो सरीर तमि उत्पन्न दुक्ख।

७—जि० चू० पृ० २८३ : देहे दुक्ख महाफल।

८—हा० टी० प० २३२ : देहे दुःख महाफल सचिन्त्येति वाक्यशेष। तथा च शरीरे सत्येतद्दुःख, शरीर चासारं, सम्यगतिसह्यमानं च मोक्षफलमेवेदम्।

७५. महाफल (महाफलं घ) :

आत्मवादी का चरम साध्य मोक्ष है। इसलिए वह उसीको सबसे महान् फल मानता है। उत्पन्न दुःख को सहन करने का अंतिम फल मोक्ष होता है, इसलिए उसे महाफल कहा गया है[1]।

श्लोक २८ :

७६. सूर्यास्त से लेकर (अत्थंगयम्मि क) :

यहाँ 'अस्त' के दो अर्थ हो सकते हैं—सूर्य का डूबना—अदृश्य होना अथवा वह पर्वत जिसके पीछे सूर्य छिप जाता है[2]।

७७. पूर्व में (पुरत्था ख) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'पुरस्तात्' का अर्थ पूर्व दिशा और टीका के अनुसार प्रातःकाल है[3]।

७८. (आहारमइयं ग) :

यहाँ 'मइय' मयट् प्रत्यय के स्थान में है[4]।

७९. मन से भी इच्छा न करे (मणसा वि न पत्थए घ) :

मन से भी इच्छा न करे तब वचन और शरीर के प्रयोग की कल्पना ही कैसे की जा सकती है—यह स्वयंगम्य है[5]।

श्लोक २९ :

८०. बकवास न करे (अतिंतिणे क) :

तेन्दु आदि की लकड़ी को अग्नि में डालने पर जो तिण-तिण शब्द होता है उसे 'तिंतिण' कहते हैं। यह ध्वनि का अनुकरण है जो व्यक्ति मनचाहा कार्य न होने पर बकवास करता है उसे भी 'तिंतिण' कहा जाता है। आहार न मिलने पर या मनचाहा न मिलने पर जो बकवास नहीं करता वह 'अतिंतिण' होता है[6]।

१—(क) अ० चू० : मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफलं।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : महाफलं—महा मोक्खो भण्णइ, तं मोक्खपज्जवसाण फलमितिकाऊण खुहादिउयह (दुक्खं) मधियासेज्जा।

२—(क) अ० चू० : आइच्चादितिरोभावकरण पव्वयो अत्थो सेत्तविप्पकरिस भावेण वा अदरिसणमत्थो तं गते।
(ख) जि० चू० पृ० २८३ : अत्थो णाम पव्वओ, तंमि गतो आदिच्चो अत्थगओ, अहवा अचक्खुविसयपत्थो, अत्थंगते आदिच्चे।
(ग) हा० टी० प० २३२ : 'अस्तं गत आदित्ये' अस्तपर्वत प्राप्ते अदर्शनीभूते वा।

३—(क) अ० चू० : पुरत्था वा पुव्वाए दिसाए।
(ख) हा० टी० प० २३२ : 'पुरस्ताच्चानुद्गते' प्रत्यूषस्यनुदिते।

४—पाइयसद्दमहण्णव पृ० ८१८।

५—(क) जि० चू० पृ० २८४ : किमग पुण वायाए कम्मुणा इति।
(ख) हा० टी० प० २३२ : मनसापि न प्रार्थयेत्, किमङ्ग पुनर्वाचा कर्मणा वेति।

६—(क) अ० चू० : तेंदुरु विकट्ठडहणमिव चिणिचिणिण तिंतिण तहा अरसादि न हीलिउमिच्छतित्ति अतिंतिणे।
(ख) जि० चू० पृ० २८४ : जहा टिंबरुदयदारुअं अगणिमि पक्खित्तं तडतडेती ण साहुणा तहावि तडतडियव्वं।
(ग) हा० टी० प० २३३ : अतिन्तिणो नामालाभेऽपि नेषद्यत्किञ्चनभाषी।

८१. अल्पभाषी (अप्पभासी ख) :

अल्पभाषी का अर्थ है कार्य के लिए जितना बोलना आवश्यक हो उतना बोलने वाला[1]।

८२. मितभोजी (मियासणे ख) :

जिनदास चूर्णि के अनुसार इसका समास दो तरह से होता है।

१ मित+अशन=मिताशन

२ मित+असन=मितासन

मिताशन का अर्थ मितभोजी और मितासन का अर्थ थोड़े समय तक बैठने वाला है। इसका आशय है कि श्रमण भिक्षा के लिए जाए तब किसी कारण से बैठना पड़े तो अधिक समय तक न बैठे[2]।

८३. उदर का दमन करने वाला (उयरे दंते ग) :

जो जिस-तिस प्रकार के प्राप्त भोजन से सतुष्ट हो जाता है, वह उदर का दमन करने वाला कहलाता है[3]।

८४. थोड़ा आहार पाकर दाता की निन्दा न करे (थोवं लद्धुं न खिंसए घ) :

थोड़ा आहार पाकर श्रमण देय—अन्न, पानी आदि और दायक की खिंसना न करे, निन्दा न करे[4]।

श्लोक ३० :

८५. श्लोक ३० :

श्रुत मद की तरह मैं कुल-सम्पन्न हूँ, बल-सम्पन्न हूँ और रूप-सम्पन्न हूँ—इस प्रकार मुनि कुल, बल और रूप का भी मद न करे[5]।

८६. दूसरे का (बाहिरं क) :

बाह्य अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्ति[6]।

१—(क) अ० चू० : अप्पवादी जो कारणमत्त जायणाति भासति

(ख) जि० चू० पृ० २८४ : अप्पवादी नाम कज्जमेत्तभासी।

(ग) हा० टी० प० २३३ : 'अल्पभाषी' कारणे परिमितवक्ता।

२—(क) जि० चू० पृ० २८४ : मितासणे नाम मिय असतीति मियासणे, परिमितमाहारतित्ति वुत्त भवति, अहवा मियासणे भिक्खट्ठाए णिग्गओ कारणे उवट्ठातु मित इच्छइ।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'मिताशनो' मितभोक्ता।

३—(क) जि० चू० पृ० २८४ 'उदर पोट्ट'—तमि दंतेण होयव्व, जेण तेणेव सतुसियव्वति।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'उदरे दान्तो' येन वा तेन वा वृत्तिशील·।

४—(क) जि० चू० पृ० २८४ : त वा अण्ण पाण दायग वा नो खिसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ : 'स्तोक लब्ध्वा न खिंसयेत्' देय दातारं वा न हीलयेदिति।

५—हा० टी० प० २३३ उपलक्षण चैतत्कुलबलरूपाणाम्, कुलसपन्नोऽह बलसपन्नोऽह रूपसपन्नोऽहमित्येवं न माद्येतेति।

६—(क) अ० चू० : अप्पाणवतिरित्तो बाहिरो।

(ख) जि० चू० पृ० २८४ : बाहिरो नाम अत्ताण मोत्तूण जो सो लोगो सो बाहिरो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २३३ : 'बाह्यम्' आत्मनोऽन्यम्।

८७. श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि का (सुयलाभे ग ···बुद्धिए घ) :

श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि—ये आत्मोत्कर्ष के हेतु हैं। मैं बहुश्रुत हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार श्रमण श्रुत का गर्व न करे। लाभ का अर्थ है—लब्धि, प्राप्ति। लब्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार लाभ का गर्व न करे। मै उत्तम जातीय हूँ, बारह प्रकार के तप करने में और बुद्धि में मेरे समान दूसरा कौन है ? इस प्रकार जाति, तप और बुद्धि का मद न करे[१]। लाभ का वैकल्पिक पाठ लज्जा है। लज्जा अर्थात् संयम में मेरे समान दूसरा कौन है—इस प्रकार लज्जा का मद न करे।

श्लोक ३१ :

८८. श्लोक ३१-३३ :

जान या अजान में लगे हुए दोष को आचार्य या बड़े साधुओं के सामने निवेदन करना आलोचना है। अनाचार का सेवन कर गुरु के समीप उसकी आलोचना करे तब आलोचक को बालक की तरह सरल होकर सारी स्थिति स्पष्ट कर देनी चाहिए[२]। जो ऋजु नहीं होता वह अपने अपराध की आलोचना नहीं कर सकता[३]। जो मायावी होता है वह (आकपयित्ता) गुरु को प्रसन्न कर आलोचना करता है। इसके पीछे भावना यह होती है कि गुरु प्रसन्न होंगे तो मुझे प्रायश्चित्त थोडा देंगे।

जो मायावी होता है वह (अणुमाणइत्ता) छोटा अपराध बताने पर गुरु थोड़ा दण्ड देंगे, यह सोच अपने अपराध को बहुत छोटा बताता है। इस प्रकार वह भगवती (२५.७) और स्थानाङ्ग (१०.३ ७३३) में निरूपित आलोचना के दश दोषों का सेवन करता है। इसीलिए कहा है कि आलोचना करने वाले को विकट-भाव (बालक की तरह सरल और स्पष्ट भाव वाला) होना चाहिए[४]। जिसका हृदय पवित्र नहीं होता, वह आलोचना नहीं कर सकता। आलोचना नहीं करने वाले विराधक होते हैं, यह सोचकर आलोचना की जाती है[५]। आलोचना करने पर अपराधी भी पवित्र हो जाता है अथवा पवित्र वही है जो स्पष्ट (दोष से निर्लिप्त) होता है[६]। आलोचना करने के पश्चात् आलोचक को असंसक्त और जितेन्द्रिय (फिर दोषपूर्ण कार्य न करने वाला) होना चाहिए[७]।

आलोचना करने योग्य साधु के दश गुण बतलाए हैं। उनमें आठवाँ गुण दान्त है[८]। दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय। जो जितेन्द्रिय और असंसक्त होता है वही आलोचना का अधिकारी है।

आलोचना के पश्चात् शिष्य का यह कर्तव्य होता है कि गुरु जो प्रायश्चित्त दे, उसे स्वीकार करे और तदनुकूल प्रवृत्ति करे, उसका निर्वाह करे[९]।

१—(क) जि० चू० पृ० २८४ · छएण उक्करिस गच्छेज्जा, जहा बहुस्सुतोऽहं को मए समाणोत्ति, (पाटवेण) लाभेणऽवि को मए अण्णो ?, लद्धीएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादिएअहियत्ति लज्जा (ह्री) संजमो भण्णइ, तेणवि संजमेण उक्करिस गच्छेज्जा, को मए संजमेण सरिसोत्ति ?, जातीएवि जहा उत्तमजातीओऽहं तवेण को अण्णो बारसविधे तवे समाणो मएत्ति ?, बुद्धीएवि जहा को मए समाणोत्ति एवमादि, एतेहिं छयादीहिं णो उक्करिसं गच्छेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३३ : श्रुतलाभाभ्यां न माद्येत पण्डितो लब्धिमानहमित्येवं, तथा जात्या—तापस्त्येन बुध्या वा, न माद्येतेति वर्त्तते, जातिसपन्नस्तपस्वी बुद्धिमानहमित्येवम्।

२—भग० २५.७ ६८, स्था० १०.१ ७३३।

३—स्था० ८.३ ५९७।

४—अ० चू० : सदा विगडभावो सव्वावत्थ जधाबालो जपतो तहेव विगडभावो।

५—स्था० ८.३.५९७।

६—जि० चू० पृ० २८५ : अहवा सो चेव सुई जो सदा वियडभावो।

७—अ० चू० · असंसत्तो दोसेहिं गिहत्थकज्जेहिं वा जितसोतादिदिओ ण पुण तहाकारी।

८—भग० २५.७.९९ स्था० १०.१. ७३३।

९—अ० चू० : एव सदरिसितसव्वसब्भावो अणायारविसोधणत्थं जं आणवेंति गुरवो त।

अनाचार-सेवन, उसकी आलोचना-विधि और प्रायश्चित्त का निर्वाह—ये तीनों तथ्य क्रमशः ३१,३२,३३—इन तीन श्लोकों में प्रतिपादित हुए हैं।

८९. (से क):

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'से' का अर्थ वाक्य का उपन्यास है[१]। जिनदास चूर्णि और टीका के अनुसार 'से' शब्द साधु का निर्देश करने वाला है[२]।

९०. जान या अजान में (जाणमजाणं वा क):

अधर्म का आचरण केवल अजान में ही नहीं होता, किन्तु यदा कदा ज्ञानपूर्वक भी होता है। इसका कारण मोह है। मोह का उदय होने पर राग और द्वेष से ग्रस्त मुनि जानता हुआ भी मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगा लेता है और कभी कल्प्य और अकल्प्य को न जानकर अकल्प्य का आचरण कर लेता है[३]।

९१. दूसरी वार (बीयं घ):

प्राकृत में कहीं-कहीं एक पद में भी सन्धि हो जाती है। इसके अनुसार 'विइओ' का 'वीओ' बना है[४]।

श्लोक ३२:

९२. अनाचार (अणायारं क):

अनाचार अर्थात् अकरणीय वस्तु[५], उन्मार्ग[६], सावद्यप्रवृत्ति[७]।

९३. न छिपाए और न अस्वीकार करे (नेव गूहे न निण्हवे ख):

पूरी बात न कहना, थोड़ा कहना और थोड़ा छिपा लेना—यह 'गूहन' का अर्थ है[८]। 'निन्हव' का अर्थ है—सर्वथा अस्वीकार, इन्कार[९]।

१—अ० चू० . से इति वयणोवन्नासो।
२—(क) जि० चू० पृ० २८४ . सेत्ति साधुनिद्देसे।
(ख) हा० टी० प० २३३ . 'स' साधु।
३—(क) जि० चू० पृ० २८४-८५ : तेण साहुणा जाहे जाणमाणेण रागदोसवसएण मूलगुणउत्तरगुणाण अण्णतर आधम्मिय पय पडिसेवियं भवइ, अजाणमाणेण वा अकप्पिय बुद्धी ए पडिसेविय होज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'जानन्नजानन् वा' आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थ।
४—हैम० ८.१ ५।
५—अ० चू० : अणायार अकरणीय वत्थु।
६—जि० चू० पृ० २८५ . अणायारो उम्मग्गोत्तिवुत्त भवइ।
७—हा० टी० प० २३३ · 'अनाचार' सावद्ययोगम्।
८—(क) अ० चू० : गूहण पडिच्छायण।
(ख) जि० चू० पृ० २८५ गूहणं किंचि कहण भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २३३ : गूहन किंचित्कथनम्।
९—(क) जि० चू० पृ० २८५ : णिण्हवो णाम पुच्छिओ सतो सव्वहा अवलवइ।
(ख) हा० टी० प० २३३ : निह्नव एकान्तापलापः।

६४. पवित्र (सुई ग) :

शुचि अर्थात् आलोचना के दोषों को वर्जने वाला[1] अथवा अकलुषित मति[2]। शुचि वह होता है जो सदा स्पष्ट रहता है[3]।

६५. स्पष्ट (वियडभावे ग) :

जिसका भाव—मन प्रकट होता है—स्पष्ट होता है, वह 'विकटभाव' कहलाता है[4]।

श्लोक ३४ :

६६. सिद्धि-मार्ग का (सिद्धिमग्गं ख) :

सिद्धि-मार्ग—सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्रात्मक मोक्ष-मार्ग[5]।
विशेष जानकारी के लिए देखिए उत्तराध्ययन (अ० २८)।

६७. (भोगेसु ग) :

यहाँ पचमी के स्थान में सप्तमी विभक्ति है[6]।

श्लोक ३७ :

६८. श्लोक ३७ :

क्रोधादि को वश में न करने पर केवल पारलौकिक हानि ही नहीं होती किन्तु इहलौकिक हानि भी होती है। इस श्लोक में यही बतलाया गया है[7]।

६९. लोभ सब···का नाश करने वाला है (लोहो सव्वविणासणो घ) :

लोभ से प्रीति आदि सब गुणों का नाश होता है। जिनदास चूर्णि में इसे सोदाहरण स्पष्ट किया है। लोभवश पुत्र मृदु-स्वभाव वाले पिता से भी रुष्ट हो जाता है—यह प्रीति का नाश है। धन का भाग नहीं मिलता है तब वह उद्धत हो प्रतिज्ञा करता है कि धन का भाग अवश्य लूँगा—यह विनय का नाश है। वह कपटपूर्वक धन लेता है और पूछने पर स्वीकार नहीं करता, इस प्रकार मित्र-भाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुण नाशक वृत्ति है। लोभ से वर्तमान और आगामी दोनों जीवन नष्ट होते हैं। इस दृष्टि से

१—अ० चू० : सती ण आकंपतित्ता अणुमाणतित्ता।
२—हा० टी० प० २३३ : 'शुचि' अकलुषितमति.।
३—जि० चू० पृ० २८५ : सुयीणाम अकलुसमयी, अहवा सो चेव सुई जो सदा वियडभावो।
४—हा० टी० प० २३३ : 'विकटभावः' प्रकटभावः।
५—(क)जि० चू० पृ० २८५ : सिद्धिमग्ग च णाणदसणचरित्तमइयं।
(ख) हा० टी० प० २३३ : 'सिद्धिमार्गं' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणम्।
६—हा० टी० प० २३३ : भोगेभ्यो यन्धैकहेतुभ्यः।
७—जि० चू० पृ० २८६ : तेसिं कोहादीणमणिग्गहियाणं (च) इहलोइओ इमो दोसो भवइ।

भी यह सर्वनाश करने वाला है[1]।

श्लोक ३८ :

१००. श्लोक ३८ :

इस श्लोक में क्रोधादि चार कषायों के विजय का उपदेश है।

अनुदित क्रोध का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह क्रोध-विजय है[2]।

अनुदित मान का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह मान-विजय है[3]।

अनुदित माया का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह माया-विजय है[4]।

अनुदित लोभ का निरोध और उदय-प्राप्त का विफलीकरण—यह लोभ-विजय है[5]।

१०१. उपशम से (उवसमेण [क]) :

उपशम का अर्थ है क्षमा, शान्ति[6]।

१०२. (उवसमेण हणे कोहं [क]) :

तुलना कीजिए—

अक्कोधेन जिने कोध··· · · धम्मपद-क्रोधवर्ग श्लोक ३

अर्थात् अक्रोध से क्रोध को जीतो।

१०३. मृदुता से (मद्दवया [ख]) :

मृदुता का अर्थ है—उच्छ्रितता—उद्धतभाव न होना, न अकड़ना[7]।

श्लोक ३९ :

१०४. संक्लिष्ट (कसिणा [ग]) :

टीकाकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—कृत्स्न और कृष्ण[8]। कृत्स्न अर्थात् सम्पूर्ण,[9] कृष्ण अर्थात् संक्लिष्ट[10] कृष्ण का

१—(क) जि० चू० पृ० २८६ लोभो पुण सव्वाणि एयाणि पीतिविणयमित्ताणि नासेइत्ति, त०—मिठणोविय तायस्स पुत्तो लोभेण स्सेह, लोभे य अदिज्जमाणेण पढिगणमारुभेज्जा, जहा अवस्स मए भाग दवावेमि, मायाए तसत्थ गिण्हिऊण अवलवेज्जा, अओ लोभो सव्वविणासणो, अहवा इम लोग पर वा लोग दोऽवि लोभेण णासयइत्ति सव्वविणासण ते य।

(ख) हा० टी० प० २३४ · लोभ सर्वविनाशन, तत्त्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति।

२—जि० चू० पृ० २८६ · कोहस्स उदयनिरोधो कायव्वो, उदयपत्तस्स (वा) विफलीकरणं।

३—जि० चू० पृ० २८६ · माणोदयनिरोधो कायव्वो, उदयपत्तस्स (वा) विफलीकरण।

४—हा० टी० प० २३४ : मायां च ऋजुभावेन—अशठतया जयेत् उदयनिरोधादिनैव।

५—जि० चू० पृ० २८६ : लोभोदयनिरोहो कायव्वो, उदयपत्तस्स विफलीकरण।

६—(क) अ० चू० : खमा उवसमो तेण।

(ख) जि० चू० पृ० २८६ : उवसमो खमा भण्णइ, तीए।

(ग) हा० टी० प० २३४ : 'उपशमेन' शान्तिरूपेण।

७—हा० टी० प० २३४ : मार्दवेन—अनुच्छ्रितता।

८—हा० टी० प० २३४ : 'कृत्स्ना' सपूर्णा 'कृष्णा वा' क्लिष्टाः।

९—अ० चू० : कसिणो पडिपुण्णो।

१०—जि० चू० पृ० २८६ · अहवा सकिलिट्ठा कसिणा भवति।

प्रधान अर्थ काले रंग से सम्बन्धित है किन्तु मन के बुरे या दुष्ट विचार आत्मा को अन्धकार में ले जाते हैं, इसलिए कृष्ण शब्द मानसिक संक्लेश के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

१०५. कषाय (कसाया ग) :

यह अनेकार्थक शब्द है। कुछ एक अर्थ, जो क्रोधादि की भावना से सम्बन्धित हैं, ये हैं—गेरुआ रंग, लेप, गोंद, भावावेश[1]। क्रोध, मान, माया और लोभ रंग हैं—इनसे आत्मा रंजित होता है। ये लेप हैं—इनके द्वारा आत्मा कर्म-रज से लिप्त होता है। ये गोंद हैं—इनके चेप से कर्म-परमाणु आत्मा पर चिपकते हैं। ये भावावेश हैं—इनके द्वारा मन का सहज सन्तुलन नष्ट होता है, इसलिए इन्हें 'कषाय' कहा गया है। प्राचीन व्याख्याओं के अनुसार 'कष' का अर्थ है संसार। जो आत्मा को संसारोन्मुख बनाता है, वह 'कषाय' है। कषाय-रस से भींगे हुए वस्त्र पर मजीठ का रंग लगता है और टिकाऊ होता है, वैसे ही क्रोध आदि से भींगे हुए आत्मा पर कर्म परमाणु चिपकते हैं और टिकते हैं, इसलिए ये 'कषाय' कहलाते हैं।

श्लोक ४० :

१०६. पूजनीयों…के प्रति (राइणिएसु क) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार आचार्य, उपाध्याय आदि सर्व साधु, जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हों, रात्निक कहलाते हैं[2]। जिनदास महत्तर ने रात्निक का अर्थ पूर्व-दीक्षित अथवा सद्भाव (पदार्थ) के उपदेशक किया है[3]। टीकाकार के अनुसार चिर-दीक्षित[4] अथवा जो ज्ञान आदि भाव-रत्नों से अधिक समृद्ध हों वे रात्निक कहलाते हैं[5]।

रत्न दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-रत्न और भाव-रत्न। पार्थिव-रत्न द्रव्य-रत्न हैं। कारण कि ये परमार्थ-दृष्टि से अकिंचित्कर हैं। परमार्थ-दृष्टि से भाव-रत्न हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ये जिनके पास अधिक उन्नत हों उन्हें टीकाकार रत्नाधिक कहते हैं। अभयदेवसूरि ने 'रायणिय' का संस्कृत रूप 'रात्निक' दिया है[6]। इसका सम्बन्ध रत्नी से है। रत्नी ज्येष्ठ, सम्मानित या उच्चाधिकारी के अर्थ में प्रयुक्त होता रहा है। शतपथ ब्राह्मण (५.५.१.१) में ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित, राजन्य, सेनानी, कोषाध्यक्ष, भागदुघ् (राजग्राह्य कर सञ्चित करने वाला) आदि के लिए 'रत्नी' का प्रयोग हुआ है। इसलिए रात्निक का प्रवृत्ति-लभ्य-अर्थ, पूजनीय या विनयास्पद व्यक्ति होना चाहिए।

स्थानाङ्ग में साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन सभी के लिए 'राइणिते' और 'ओमरातिणिते'[7] तथा मूलाचार में साधुओं के लिए 'रादिणिय' और ऊणरादिणिय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं[8]। सूत्रकृताङ्ग में 'रातिणिय' और 'समव्वय' शब्द मिलते हैं[9]। ये दीक्षा-पर्याय की दृष्टि से साधुओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं :

१—वृ० हि० पृ० २६६।

२—अ० चू० : रातिणिया पुव्वदिक्खिता आयरियोवज्झायादिसु सव्वसाधुसु वा अप्पणतो पढमपव्वतियेसु।

३—जि० चू० पृ० २८६ : रायणिआ पुव्वदिक्खिया सब्भावोवदेसगा वा।

४—हा० टी० प० २३४ : 'रत्नाधिकेषु' चिरदीक्षितादिषु।

५—हा० टी० प० २४२-२४३ : 'रत्नाधिकेषु' ज्ञानादिभावरत्नाभ्युच्छ्रितेषु।

६—स्था० ४.१ सू० ३६६ वृ० : रत्नानि द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कर्केतनादीनि भावतो ज्ञानादीनि तत्र रत्नैः—ज्ञानादिभिर्व्यवहरतीति रात्निक—बृहत्पर्याय.।

७—स्था० ४.३.३२० वृ० : रत्नानि भावतो ज्ञानादीनि तैर्व्यवहरतीति रात्निकः पर्यायज्येष्ठ इत्यर्थः।

८—मूला० अधि० ५. गा० १८७ पृ० ३०३ : रादिणिए ऊणरादिणिएसु अ, अज्जासु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिओ सो, कायव्वो अप्पमत्तेण॥

९—सूत्र० १.१४ ७।

१. रात्निक—पूर्वदीक्षित

२. समव्रत—सहदीक्षित

३ ऊनरात्निक—पश्चात्‌दीक्षित

श्रमण वसुनन्दी ने मूलाचार की टीका में 'रादिणिय' और 'ऊणरादिणिय' के सस्कृत रूप रात्निक और ऊनरात्निक किए हैं।

१०७. अष्टादश सहस्र शीलाङ्गों की (धुवसीलयं ख) :

ध्रुवशीलता का अर्थ चूर्णिकार और टीकाकार ने अष्टादश-सहस्र-शीलाङ्ग किया है[1]। वह इस प्रकार है :

जेणो करंति मणसा णिज्जिय आहार सन्ना सोइंदिये।
पुढविकायारंभं, खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे॥१॥

यह एक गाथा है। दूसरी गाथा में 'खंति' के स्थान पर 'मुत्ति' शब्द आएगा शेष ज्यों का त्यों रहेगा। तीसरे में 'अज्जव' आएगा। इस प्रकार १० गाथाओं में दश धर्मों के नाम क्रमशः आएगे। फिर ग्यारहवीं गाथा में 'पुढवि' के स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा। पुढवि के साथ १० धर्मों का परिवर्तन हुआ था उसी प्रकार 'आउ' शब्द के साथ भी होगा। फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः 'तेउ', 'वाउ', 'वणस्सइ', 'वेइंदिय', 'तेइंदिय' 'चतुरिंदिय', 'पचेंदिय' और 'अजीव' ये दश शब्द आएँगे। प्रत्येक के साथ दस धर्मों का परिवर्तन होने से (१०×१० =) एक सौ गाथाएँ हो जाएँगी। १०१ गाथा में 'सोइंदिय' के स्थान पर 'चक्खुरिंदिय' शब्द आएगा। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों की (१००×५=) पाँच सौ गाथाएँ होंगी। फिर ५०१ में 'आहारसन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना' फिर 'मेहुणसन्ना' और 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएँगे। एक सज्ञा के ५०० होने से ४ संज्ञा के (५००×४=) २००० होंगे। फिर 'मणसा' शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान पर 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा।

एक-एक का २००० होने से तीन कायों के (२०००×३) ६००० होंगे। फिर 'करंति' शब्द में परिवर्तन होगा। 'करंति' के स्थान पर 'कारयंति' और 'समणुजाणंति' शब्द आयेंगे। एक-एक के ६००० होने से तीनों के (६०००×३=) १८,००० हो जाएँगे। सक्षेप में यों कह सकते हैं—दस धर्म क्रमशः बदलते रहेंगे। प्रत्येक धर्म १८०० बार आएगा। १० धर्मों के बाद 'पुढविकाय' में परिवर्तन आएगा। प्रत्येक दशक के बाद ये दस काय बदलते रहेंगे। प्रत्येक काय १८० बार आएगा। फिर 'सोइंदिय' शब्द बदल जाएगा। प्रत्येक सौ के बाद 'इंदिय' परिवर्तन होगा। प्रत्येक इंदिय ३६ बार आएगा। फिर 'आहार-सन्ना' में परिवर्तन होगा। चारों सज्ञाएँ क्रमशः बदलती जाएँगी। प्रत्येक ५०० के बाद सज्ञा बदलेगी, प्रत्येक सज्ञा ९ बार आएगी। फिर 'मणसा' शब्द में परिवर्तन होगा। तीनकाय क्रमशः बदलती रहेंगी। प्रत्येक दो हजार के बाद काय का परिवर्तन होगा। प्रत्येक काय ३ बार आएगा। फिर 'करंति' में परिवर्तन होगा। प्रत्येक ६००० के बाद तीनों करण का परिवर्तन होगा। प्रत्येक करण एक-एक बार आएगा। इस प्रकार एक गाथा के १८,००० गाथाएँ बन जाएँगी। ये अठारह हजार शील के अङ्ग हैं। इन्हें रथ से निम्न प्रकार उपमित किया जाता है :

१—(क) जि० चू० पृ० २८७ : धुवसीलय णाम अट्ठारससीलंगसहस्साणि।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'ध्रुवशीलताम्' अष्टादशशीलाङ्गसहस्रपालनरूपाम्।

जे णो करंति ६...	जे णो कारवंति ६...	जे णाणु मोयंति ६...							
मणसा २...	वयसा २...	कायसा २...							
णिज्जिय आहार सन्ना ५००	णिज्जिय भय सन्ना ५००	णिज्जिय मेहुण सन्ना ५००	णिज्जिय परिग्रह सन्ना ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शनेन्द्रिय १००					
पृथिवी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पंचेन्द्रिय १०	
क्षान्ति १	मुक्ति २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	सयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	अकिञ्चन १०

श्रमण सूत्र (परिशिष्ट)

१०८. कूर्म की तरह आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त (कुम्मो व्व अल्लीणपलीणगुत्तो ग) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गुप्त' शब्द 'आलीन' और 'प्रलीन' दोनों से सम्बद्ध है अर्थात् आलीन-गुप्त और प्रलीन-गुप्त। कूर्म की तरह काय-चेष्टा का निरोध करे, वह 'आलीन-गुप्त' और कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करे, वह 'प्रलीन-गुप्त' कहलाता है[1]। जिनदास चूर्णि के अनुसार आलीन का अर्थ थोड़ा लीन और प्रलीन का अर्थ विशेष लीन होता है। जिस प्रकार कूर्म अपने अङ्गों को गुप्त रखता है तथा आवश्यकता होने पर उन्हें धीमे से फैलाता है, उसी तरह श्रमण आलीन-प्रलीन-गुप्त रहे[2]।

१—अ० चू० : कायचेट्ठं निरुंभिऊण अल्लीणगुत्तो। कारणे जतणाए ताणि चेव पवत्तयंतो पल्लीणगुत्तो। गुत्तसद्दो पत्तेय परिसमप्पति।

२—(क) जि० चू० पृ० २८७ : जहा कुम्मो सए सरीरे अंगाणि गोवेऊण चिट्ठइ, कारणेवि सणियमेव पसारेइ, तहा साहूवि अल्लीणपलीणगुत्तो परक्कमेज्जा तवसंजममित्ति, आह—आलीणाणं पलीणाण को पइविसेसो ?, भण्णइ, ईसि लीणाणि आलीणाणि, अच्चत्थलीणाणि पलीणाणित्ति।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'कूर्म इव' कच्छप इवालीनप्रलीनगुप्तः अङ्गोपाङ्गानि सम्यक् संयम्येत्यर्थः।

श्लोक ४१ :

१०९. निद्रा को बहुमान न दे (निद्दं च न बहुमन्नेज्जा क) :

बहुमान न दे अर्थात् प्रकामशायी न बने—सोता ही न रहे[1]। सूत्रकृताङ्ग में बताया है कि सोने के समय में सोए "सयणं सयणकाले।" वृत्तिकार के अनुसार अगीतार्थ दो प्रहर तक सोए और गीतार्थ एक प्रहर तक[2]।

११०. अट्टहास (संपहासं ख) :

सप्रहास अर्थात् समुदित रूप में होने वाला सशब्द हास्य[3]। जिनदास चूर्णि और टीका में 'सप्पहास' पाठ है। उसका अर्थ है अट्टहास[4]।

१११. मैथुन की कथा में (मिहोकहाहिं ग) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी रहस्य-कथा किया है[5]। जिनदास महत्तर के अनुसार इसका अर्थ स्त्री-सम्बन्धी या भक्त, देश आदि सम्बन्धी रहस्यमयी कथा है[6]। टीकाकार ने इसे राहस्यिक-कथा कहा है[7]। आचाराङ्ग, उत्तराध्ययन और ओघ-निर्युक्ति की टीका में भी इसका यह अर्थ मिलता है[8]।

११२. स्वाध्याय में (सज्झायम्मि घ) :

स्वाध्याय का अर्थ है—विधिपूर्वक अध्ययन। इसके पाँच प्रकार हैं[9] :

१. वाचना—पढाना

२. प्रच्छना—सदिग्ध विषय को पूछना

१—(क) जि० चू० पृ० २८७ : बहुमनिज्जा नाम नो पकामसायी भवेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३५ . 'निद्रां च न बहुमन्येत', न प्रकामशायी स्यात्।

(ग) अ० चू० : णिद्दा प्रतीवा तं ण बहुमन्नेज्ज। बहुमत प्रिय, ण तत्थ प्रीतिमावरेज्ज।

२—सूत्र २ १.१५ पृ० ३०१ वृ० · शय्यतेऽस्मिन्निति शयन—सस्तारक स च शयनकाले, तत्राप्यगीतार्थानां प्रहरद्वयं निद्राविमोक्षो गीतार्थानां प्रहरमेकमिति।

३—अ० चू० : समेच्च समुदियाण पहसणं अतिवालाव पुव्व संपहासो।

४—(क) जि० चू० पृ० २८७ : सप्पहासो नाम अतीव पहासो सप्पहासो, परवादिउद्धसणादिकारणे जइ हसेज्जा तहावि सप्पहासं विवज्जए।'

(ख) हा० टी० प० २३५ · 'सप्रहास च' अतीवहासरूपम्।

५—अ० चू० : मिधुकहाओ रहस्सकधाओ इत्थी सबद्धाओ तथाभूताओ वातायो।

६—जि० चू० पृ० २८७ . मिहोकहाओ रहसियकहाओ भएणति, ताओ इत्थिसबद्धाओ वा होज्जा अएणाओ वा भत्तदेसकहादियायो ताछ।

७—हा० टी० प० २३५ : 'मिथ. कथासु' राहस्यिकीषु।

८—(क) आचा० १.९.१ सू० ५१ · गढिए मिहुकहासु समयमि नायसुए विसोगे अदक्खु। टीका—'ग्रथितः' अवबद्धो 'मिथः' अन्योन्यं 'कथासु' स्वैरकथासु।

(ख) उत्त० २६.२६ : पडिलेहण कुणतो, मिहोकह कुणइ जणवयकह वा। (बृहद्वृत्ति) 'मिथ कथां' परस्परसभाषणात्मिकां......... स्त्र्यादिकथोपलक्षणमेतत्।

(ग) ओ० नि० वृ० २७२ : 'मिथ· कथां' मैथुनसबद्धाम्।

९—औप० ३० : सज्झाए पचविहे पण्णत्ते त जहा—वायणा, पडिपुच्छणा, परियट्टणा, अणुप्पेहा, धम्मकहा।

३. परिवर्तना—कण्ठस्थ किए हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना

४. अनुप्रेक्षा—अर्थ-चिन्तन करना

५. धर्मकथा—श्रुत आदि धर्म की व्याख्या करना

जिनदास चूर्णि में 'अज्झयणम्मि रओ सया' पाठ है और 'अध्ययन' का अर्थ स्वाध्याय किया है[१]। हरिभद्रसूरि ने स्वाध्याय का अर्थ वाचना आदि किया है[२]।

श्लोक ४२ :

११३. (च समणधम्मम्मि क) :

यहाँ अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और प्रतिलेखन आदि श्रमण-चर्या को 'श्रमण-धर्म' कहा है। सूत्रकार का आशय यह है कि अनुप्रेक्षा-काल में मन को, स्वाध्याय-काल में वचन को और प्रतिलेखन-काल में काया को श्रमण-धर्म में लगा देना चाहिए और भङ्ग-प्रधान (विकल्प-प्रधान) श्रुत में तीनों योगों का प्रयोग करना चाहिए। उसमें मन से चिन्तन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन—ये तीनों होते हैं[३]।

११४. यथोचित (धुवं ख) :

ध्रुव का शब्दार्थ है निश्चित। यथोचित इसका भावार्थ है। जिस समय जो क्रिया निश्चित हो, जिसका समाचरण उचित हो उस समय वही क्रिया करनी चाहिए[४]।

११५. लगा हुआ (जुत्तो ग) :

युक्त का अर्थ है व्यापृत—लगा हुआ[५]।

११६. फल (अट्ठं घ) :

यहाँ अर्थ शब्द फलवाची है[६]। इसका दूसरा अर्थ है—ज्ञानादि रूप वास्तविक अर्थ[७]।

श्लोक ४३ :

११७. श्लोक ४३ :

पिछले श्लोक में कहा है—श्रमण-धर्म में लगा हुआ मुनि अनुत्तर फल को प्राप्त होता है, उसी को इस श्लोक के प्रथम दो चरणों

१—जि० चू० पृ० २८७ : 'अज्झयणंमि रओ सया' अज्झयण सज्झाओ भण्णइ, तंमि सज्झाए सदा रतो भविज्जत्ति।

२—हा० टी० प० २३५ : 'स्वाध्याये' वाचनादौ।

३—अ० चू० : जोगं मणोवयणकायमय अणुप्पेहणासज्झायपडिलेहणादिसु पत्तेयं समुच्चयेण वा। च सद्देण नियमेण भगितछते तिविधमवि जुंजे।

४—(क) अ० चू० : अप्पणो काले अण्णोणमयाहंत धुवं।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'ध्रुवं' कालाद्यौचित्येन नित्यं संपूर्णं सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगमध्ययनकाले वाग्योग प्रत्युपेक्षणाकाले काययोगमिति।

५—हा० टी० प० २३५ : 'युक्त' एव व्यापृतः।

६—अ० चू० : अत्थो सद्दो इह फलवाची।

७—हा० टी० प० २३५ : भावार्थं ज्ञानादिरूपम्।

में स्पष्ट किया है। श्रमण-धर्म में मन, वाणी और शरीर का प्रयोग करने वाला इहलोक में वन्दनीय होता है। श्रमण-धर्म में एक दिन के दीक्षित साधु को भी लोग विनयपूर्वक वन्दन करते हैं और वह परलोक में उत्तम स्थान में उत्पन्न होता है[1]। आगामी दो चरणों में श्रमण-धर्म की उपलब्धि के दो उपाय बतलाए हैं—(१) बहुश्रुत की उपासना और (२) अर्थ-विनिश्चय के लिए प्रश्न[2]।

११८. बहुश्रुत (बहुस्सुयं ग) :

जो आगम-वृद्ध हो—जिसने श्रुत का बहुत अध्ययन किया हो, वह बहुश्रुत कहलाता है[3]। जिनदास चूर्णि ने आचार्य, उपाध्याय आदि को बहुश्रुत माना है[4]। बहुश्रुत तीन प्रकार के होते हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। प्रकल्पाध्ययन (निशीथ) का अध्ययन करने वाला जघन्य, चतुर्दश पूर्वों का अध्ययन करने वाला उत्कृष्ट तथा प्रकल्पाध्ययन और चतुर्दश पूर्वों के बीच का अध्ययन करने वाला मध्यम बहुश्रुत कहलाता है[5]।

११९. अर्थ-विनिश्चय (अत्थविणिच्छयं घ) :

अर्थ-विनिश्चय—तत्त्व का निश्चय, तत्त्व की यथार्थता[6]।

श्लोक ४४ :

१२०. श्लोक ४४ :

पिछले श्लोक में कहा है—बहुश्रुत की पर्युपासना करे। इस श्लोक में उसकी विधि बतलाई गई है[7]।

१२१. संयमित कर[8] (पणिहाय ख) :

इसका अर्थ है—हाथों को न नचाना, पैरों को न फैलाना और शरीर को न मोड़ना[9]।

१—अ० चू० : इहलोगे धम्मेण सम्मणधम्मे एगदिवस पदिक्खितोवि विणएण वदिज्जते पूतिज्जते य अविरायरायीहिं, परलोए उकुलसंभवादि जेण धम्मेण गच्छति।

२—अ० चू० : सव्वस्सेयस्स उवलभणत्थं बहुसुत पज्जुवासेज्ज पज्जुवासेज्जमाणो पुच्छेज्जत्थविणिच्छय।

३—हा० टी० प० २३५ : 'बहुश्रुतम्' आगमवृद्धम्।

४—जि० चू० पृ० २८७ : बहुस्सुयगहणेणं आयरियउवज्झायादीयाण गहण।

५—नि० पी० भा० (गाथा ४९५) : बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो, सो तिविहो—जहण्णो मज्झिमो उक्कोसो। जहण्णो जेण पकप्पज्झयण अधीत, उक्कोसो चोद्दस्सपुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

६—(क) अ० चू० : अत्थनिच्छयो तब्भावनिच्छयो त।

(ख) जि० चू० पृ० २८७ : विणिच्छओ णाम विणिच्छओत्ति वा अवितहभावोत्ति वा एगट्ठ।

(ग) हा० टी० प० २३५ : 'अर्थविनिश्चयम्' अपायरक्षक कल्याणावहं वाऽर्थावितथभावमिति।

७—अ० चू० : पज्जुवासणे अय विही—'हत्थ पाय च काय च' सिलोगो।

८—हा० टी० प० २३५ : 'प्रणिधाये'ति सयम्य।

९—जि० चू० पृ० २८८ : पणिहाय णाम हत्थेहिं हत्थवट्टगादीणि अकर पाएहिं पसारणादीणि अकुव्वंतो काएण सासणदूगादीणि अकुव्वतो।

१२२. आलीन…और गुप्त…होकर (अल्लीणगुत्तो ग) :

आलीन का शाब्दिक अर्थ है—थोड़ा लीन। तात्पर्य की भाषा में जो गुरु के न अति-दूर और न अति-निकट बैठता है, उसे 'आलीन' कहा जाता है[1]। जो मन से गुरु के वचन में दत्तावधान[2] और प्रयोजनवश बोलने वाला होता है, उसे 'गुप्त' कहा जाता है[3]। शिष्य को गुरु के समीप आलीन-गुप्त हो बैठना चाहिए।

श्लोक ४५ :

१२३. श्लोक ४५ :

पिछले श्लोक में कहा है—गुरु के समीप बैठे। इस श्लोक में गुरु के समीप कैसे बैठना चाहिए उसकी विधि बतलाई गई है[4]। शिष्य के लिए गुरु के पार्श्व-भाग में, आगे और पीछे बैठने का निषेध है। इसका तात्पर्य है कि पार्श्व-भाग में, कानों की समश्रेणि में न बैठे। वहाँ बैठने पर शिष्य का शब्द सीधा गुरु के कान में जाता है। उससे गुरु की एकाग्रता का भंग होता है। इस आशय से कहा है कि गुरु के पार्श्व-भाग में अर्थात् बराबर न बैठे[5]। आगे न बैठे अर्थात् गुरु के सम्मुख अत्यन्त निकट न बैठे। वैसा करने से अविनय होता है और गुरु को वन्दना करने वालों के लिए व्याघात होता है, इस आशय को 'आगे न बैठे' इन शब्दों में समाहित किया है[6]।

पीछे न बैठे—इसका आशय भी यही है कि गुरु से सटकर न बैठे अथवा पीछे बैठने पर गुरु के दर्शन नहीं होते[7]। उनके इङ्गित और आकार को नहीं समझा जा सकता, इसलिए कहा है—'पीछे न बैठे'। 'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु सटाकर बैठना' अविनय है। इसलिए इसका निषेध है। सारांश की भाषा में असभ्य और अविनयपूर्ण ढंग से बैठने का निषेध है।

१२४. ऊरु से अपना ऊरु सटाकर (ऊरुं समासेज्जा ग) :

ऊरु का अर्थ है—घुटने के ऊपर का भाग। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप टीका में 'समाश्रित्य' है। समाश्रित्य अर्थात् करके[8]। 'समासेज्जा' का संस्कृत रूप 'समाश्रयेत्' होना चाहिए। समासि (समा+श्रि) धातु है। इसके आगे 'ज्जा' लगाने पर 'समासेज्जा' रूप बनता है। यदि 'समासाद्य' रूप माना जाए तो पाठ 'समास (सि) ज्ज' होना चाहिए। आचाराङ्ग (१.८.८.१) में 'समासिज्ज' (या समासज्ज) शब्द मिलता है। उसका संस्कृत रूप 'समासाद्य' (प्राप्त करके) किया है[9]। इन दोनों का शाब्दिक अर्थ है—ऊरु

१—जि० चू० पृ० २८८ : अल्लीणो नाम ईसिलीणो अल्लीणो, णातिदूरत्थो ण वा अच्चासण्णो।

२—अ० चू० : मणसा गुरुवयणे उवयुत्तो।

३—जि० चू० पृ० २८८ : वायाए कज्जमेत्त भासंतो।

४—अ० चू० : तस्स ट्ठाणनियमणमिम।

५—अ० चू० : समुप्पहप्पेरिया सद्दपोग्गला कण्णविलमणुपविसतीति कण्णसमसेढी पक्खो ततो ण चिट्ठे गुरूण संतिए सधा अणेगग्गता भवति।

६—जि० चू० पृ० २८८ : पुरओ नाम अग्गओ, तत्थवि अविणओ वदमाणाण य वग्घाओ, एवमादि दोसा भवंतित्तिकाऊण पुरओ गुरूणं नवि चिट्ठेज्जत्ति।

७—हा० टी० प० २३५ : यथासल्यमविनयवन्दमानान्तरायादर्शनादिदोषप्रसङ्गात्।

८—हा० टी० प० २३५ : समाश्रित्य ऊरोरपर्यूरु कृत्वा।

९—आचा० वृ० १.८.८.१ : 'समासाद्य' प्राप्य।

टिप्पणियाँ अध्ययन ९ (प्रथम उद्देशक) :

श्लोक १ :

१. (विणयं न सिक्खे ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने 'विणय न सिक्खे' के स्थान पर 'विणए न चिट्ठे' पाठ मानकर व्याख्या की है[1]। टीकाकार ने इसे पाठान्तर माना है[2]। इसका अर्थ—विनय में नहीं रहता—किया है।

२. माया (मय क) :

मूल शब्द 'माया' है। छन्द-रचना की दृष्टि से 'या' को 'य' किया गया है[3]।

३. प्रमादवश (प्पमोया क) :

यहाँ प्रमाद का अर्थ इन्द्रियों की आसक्ति, नींद, मद्य का आसेवन, विकथा आदि है[4]।

४. विनय की (विणयं ख) :

यहाँ विनय शब्द अनुशासन, नम्रता, सयम और आचार के अर्थ में प्रयुक्त है। इन विविध अर्थों की जानकारी के लिए देखिए दशाश्रुतस्कन्ध ट० ४। विनय दो प्रकार का होता है—ग्रहण-विनय और आसेवन-विनय। ज्ञानात्मक विनय को ग्रहण-विनय और क्रियात्मक विनय को आसेवन-विनय कहा जाता है[5]। अगस्त्य चूर्णि और टीका में केवल आसेवन-विनय और शिक्षा-विनय—ये दो भेद माने हैं[6]। आसेवन-विनय का अर्थ सामाचारी शिक्षण, प्रतिलेखनादि क्रिया का शिक्षण या अभ्यास होता है और शिक्षा-विनय का अर्थ है इनका ज्ञान।

१—(क) अ० चू० : विणए न चिट्ठे विणए ण ट्ठाति।
(ख) जि० चू० पृ० ३०२ : विनयेन न तिष्ठति।

२—हा० टी० प० २४३ : अन्ये तु पठन्ति—गुरो सकाशे 'विनये न तिष्ठति' विनये न वर्त्तते, विनय नासेवत इत्यर्थः।

३—(क) अ० चू० : मय इति मायातो इति एत्थ आयारस्स हस्सता। सरहस्सता य लक्खणविजाए अत्थि जधा—'ह्रस्वो णपुसके' प्रातिपदिकस्य पराते विसेसेण जधा एत्थ 'व' 'वा' सद्दस्स।
(ख) जि० चू० पृ० ३०१ : मयगहणेण मायागहण, मयकारहस्सत्त वधाणुलोमकय।
(ग) हा० टी० प० २४२ : मायातो—निकृतिरूपाया।

४—(क) अ० चू० : इदिय निद्दामज्जादिप्पमादेण।
(ख) जि० चू० पृ० ३०१ : प्रमादग्रहणेण णिद्दाविकहादिपमादट्ठाणा गहिया।
(ग) हा० टी० प० २४२ : प्रमादाद्—निद्रादेः सकाशात्।

५—जि० चू० पृ० ३०१ : विणये दुविहे—गहणविणए आसेवणाविणए।

६—(क) अ० चू० : दुविहे आसेवण सिक्खा विणए।
(ख) हा० टी० प० २४२ : 'विनयम्' आसेवनाशिक्षाभेदभिन्नम्।

५. विनाश (अभूइभावो ग) :

अभूतिभाव—'भूति' का अर्थ है विभव या ऋद्धि। भूति के अभाव को 'अभूतिभाव' कहते हैं। यह अगस्त्य चूर्णि और टीका की व्याख्या है[1]। जिनदास चूर्णि में अभूतिभाव का पर्याय शब्द विनाशभाव है[2]।

६. कीचक (बांस) का (कीयस्स घ) :

हवा से शब्द करते हुए बांस को कीचक कहते हैं[3]। वह फल लगने पर सूख जाता है। इसकी जानकारी चूर्णि में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक से मिलती है। जैसे कहा है—चींटियों के पर, ताड़, कदली, वंश और वेत्र के फल तथा अविद्वान्—अविवेकशील व्यक्ति का ऐश्वर्य उन्हीं के विनाश के लिए होता है[4]।

तुलना—यो सासनं अरहत अरियानं धम्मजीविनं।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठिं निस्साय पापिकं।
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तहञ्ञाय फुल्लति॥ (धम्मपद १२.८)

—जो दुर्बुद्धि मनुष्य अरहन्तों तथा धर्म-निष्ठ आर्य-पुरुषों के शासन की, पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर, अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए बांस के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

श्लोक २ :

७. (हीलंति ग) :

संस्कृत में अवज्ञा के अर्थ में 'हील्' धातु है। अगस्त्य चूर्णि में इसका समानार्थक प्रयोग 'हेपयति' और 'अहिपालेंति' है।

८. मंद (मंदि क) :

मन्द का अर्थ सत्प्रज्ञाविकल—अल्पबुद्धि है। प्राणियों में ज्ञानावरण के क्षयोपशम की विचित्रता होती है। उसके अनुसार कोई तीव्र बुद्धि वाला होता है—तन्त्र, युक्ति आदि की आलोचना में समर्थ होता है और कोई मन्द बुद्धि होता है—उनकी आलोचना में समर्थ नहीं होता[5]।

६. आशातना (आसायण घ) :

आशातना का अर्थ विनाश करना या कदर्थना करना है। गुरु की लघुता करने का प्रयत्न या जिससे अपने सम्यग्-दर्शन का ह्रास हो, उसे आशातना कहते हैं। भिन्न-भिन्न स्थलों में इसके प्रतिकूल वर्तन, विनय-भ्रंश, प्रतिषिद्धकरण, कदर्थना आदि ये भिन्न-भिन्न अर्थ भी मिलते हैं

१—(क) अ० चू० : भूती विभवो ऋद्धी भूतीए अभावो अभूतिभावो तस्स अविणीयस्स एव अभूतिभावो अभूतिभवण।
(ख) हा० टी० प० २४२ : 'अभूतिभाव' इति अभूतेर्भावोऽभूतिभावः, असद्भाव इत्यर्थः।

२—जि० चू० पृ० ३०२ : अभूतिभावो नाम अभूतिभावोत्ति वा विणासभावोत्ति वा एगट्ठा।

३—अ० चि० ४.२१६ : स्वनन् वाताद् स कीचक.।

४—अ० चू० : सो य फलेण सुक्खति, उक्तं च—
पक्षाः पिपीलिकानां, फलानि तलकदलीवंशवेत्राणाम्।
ऐश्वर्यञ्चाऽविदुषामुत्पद्यन्ते विनाशाय॥

५—हा० टी० प० २४३ : क्षयोपशमवैचित्र्यात्तन्त्रयुक्त्यालोचनाऽसमर्थः सत्प्रज्ञाविकल इति।

श्लोक ३ :

१०. (पगईए मंदा वि क) :

इसका अनुवाद 'वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मद (प्रज्ञा-विकल)' किया है। इसका आधार टीका है[१]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अनुवाद—स्वभाव से मद होते हुए भी उपशान्त होते हैं—यह होता है[२]।

११. श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न (सुयबुद्धोववेया ख) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ बहुश्रुत पण्डित किया है[३]। परन्तु टीकाकार ने भविष्य में होने वाली बहुश्रुतता के आधार पर वर्तमान में उनको 'अल्पश्रुत' माना है[४]।

श्लोक ४ :

१२. संसार में (जाइपहं घ) :

इसका अर्थ है 'संसार'। अगस्त्य चूर्णि मे जातिवध को मूल और जातिपथ को वैकल्पिक पाठ माना है। जातिवध का अर्थ—जन्म-मरण और जातिपथ का अर्थ जातिमार्ग (संसार) है[५]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ द्वीन्द्रिय आदि की योनियों में भ्रमण करना किया है[६]।

श्लोक ५ :

१३. श्लोक ५ :

इस श्लोक के तृतीय और चतुर्थ चरण और दसवें श्लोक के प्रथम और द्वितीय चरण तुल्य हैं। टीकाकार अबोधि को कर्म मानते हैं और 'कुर्वन्ति' क्रिया का अध्याहार करते हैं[७]। इनमें प्रयुक्त 'आसायण' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है। उसे तीन विभक्तियों में परिवर्तित किया जा सकता है : **'आसातनया, आसातनातः, सत्यामासातनायाम्'**—आसातना से, आसातना के द्वारा, आसातना में। जिनदास चूर्णि (पृ० ३०६) में 'आसायणा दोसावहा' ऐसा किया है।

१—हा० टी० प० २४४ : 'पगइ'त्ति सूत्र, 'प्रकृत्या' स्वभावेन कर्मवैचित्र्यात् 'मन्दा अपि' सद्बुद्धिरहिता अपि भवन्ति 'एके' केचन वयोवृद्धा अपि।

२—अ० चू० : सभावो पगती तीए मंदावि णातिवायाला उवसता।

३—अ० चू० : सुतबुद्धोववेता' ' बहुस्सुता पढिता।

४—हा० टी० प० २४४ : भाविनीं वृत्तिमाश्रित्याल्पश्रुता इति।

५—अ० चू० : जाति समुप्पत्ती वधो मरण—जम्ममरणाणि अथवा जातिपथ—जातिमग्ग ससारं।

६—(क) जि० चू० पृ० ३०४ : बेइंदियाईसु जातीसु।

(ख) हा० टी० प० २४४ : 'जातिपन्थान' द्वीन्द्रियादिजातिमार्गम्।

७—(क) दश० ६.१ ५ हा० टी० प० २४४ : कुर्वन्ति' 'अबोधिम्।

(ख) वही ६.१ १० हा० टी० प० २४५ : पूर्वार्धं पूर्ववत्।

१४. आशीविष सर्प (आसीविसो [क]):

इसका अर्थ सर्प है। अगस्त्य चूर्णि में 'आसी' का अर्थ सर्प की दाढा किया है। जिसकी दाढा में विष हो, उसे 'आसीविस' कहा जाता है[1]।

श्लोक ११ :

१५. आहिताग्नि ब्राह्मण (आहियग्गी [क]):

वह ब्राह्मण जो अग्नि की पूजा करता है और उसको सतत ज्वलित रखता है, आहिताग्नि कहलाता है[2]।

१६. आहुति (आहुई [ख]):

देवता के उद्देश्य से मन्त्र पढकर अग्नि में घी आदि डालना[3]।

१७. मन्त्रपदों से (मंतपय [ख]):

मन्त्रपद का अर्थ 'अग्नये स्वाहा' आदि मन्त्र वाक्य हैं[4]। जिनदास चूर्णि में 'पद' का अर्थ 'क्षीर' किया है[5]।

श्लोक १२ :

१८. धर्मपदों की (धम्मपयाइ [क]):

वे धार्मिक वाक्य जिनका फल धर्म का बोध हो[6]।

१९. शिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर (सक्कारए सिरसा पंजलीओ [ग]):

ये शब्द 'पञ्चाङ्ग-वदन' विधि की ओर सकेत करते हैं। अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। दोनों घुटनों को भूमि पर टिका कर, दोनों हाथों को भूमि पर रखकर, उस पर अपना मस्तक रखे—यह पञ्चाङ्ग—(दो पैर, दो हाथ और एक शिर) वन्दन की विधि है[7]। टीकाकार ने इस विधि का कोई उल्लेख नहीं किया है। बंगाल में नमस्कार की यह विधि आज भी प्रचलित है।

१—अ० चू० : आसी सप्पस्स दाढा, आसीए विसं जस्स सो आसीविसो।

२—(क) अ० चू० : आहिअग्गी—एस वेदवादो जधा हव्ववाहो सव्वदेवाण हव्व पावेति अतो ते तं परमादरेण हुणंति।
(ख) जि० चू० पृ० ३०६ : आहियअग्गी-बभणो।
(ग) हा० टी० प० २४५ : 'आहिताग्नि' कृतावसथादिर्ब्राह्मणः।

३—(क) जि० चू० पृ० ३०६ : णाणाविहेणघयादिणा मंत उच्चारेऊण आहुयं दलयइ।
(ख) हा० टी० प० २४५ : आहुतयो—घृतप्रक्षेपादिलक्षणा।

४—हा० टी० प० २४५ : मंत्रपदानि—अग्नये स्वाहेत्येवमादीनि।

५—जि० चू० पृ० ३०६ : पय खीर भण्णइ।

६—हा० टी० प० २४५ : 'धर्मपदानि' धर्मफलानि सिद्धान्तपदानि।

७—(क) अ० चू० : सिरसा पजलित्तोत्ति—एतेण पचगितस्स वदण गहणं .....जाणुदुवलपाणिततणदुतं सिरं च भूमिए णिमेऊग।
(ख) जि० चू० पृ० ३०६ : पचंगीएण वंदणिएण, तंजहा—जाणुदुगं भूमीए निवडिएण हत्थदुएण भूमीए अवट्ठभिय ततो सिर पंचमं निवाएज्जा।

श्लोक १३ :

२०. लज्जा (लज्जा [क]) :

अकरणीय का भय या अपवाद का भय[1]।

श्लोक १४ :

२१. भारत (भारहं [ख]) :

यहाँ भारत का अर्थ जम्बूद्वीप का दक्षिण भाग है[2]।

श्लोक १५ :

२२. कार्तिक-पूर्णिमा (कोमुइ [क]) :

दशवैकालिक की व्याख्या में इसका अर्थ कार्तिक-पूर्णिमा किया है[3]। मोनियर विलियम्स ने इसके कार्तिक-पूर्णिमा और आश्विन-पूर्णिमा—ये दोनों अर्थ किए हैं[4]। 'खे सोहइ विमले अब्भमुक्के' इसके साथ आश्विन-पूर्णिमा की कल्पना अधिक सगत है। शरद्-पूर्णिमा की विमलता अधिक प्रचलित है।

श्लोक १६ :

२३. समाधियोग…और बुद्धि के (समाहिजोगे…बुद्धिए [ख]) :

चूर्णि-द्वय में इनका अर्थ षष्ठी विभक्ति और टीका में तृतीया विभक्ति के द्वारा किया है तथा सप्तमी के द्वारा भी हो सकता है। चूर्णि के अनुसार समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि का सम्बन्ध 'महाकर' शब्द से होता है[5]—जैसे—समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के महान् आकर। टीका के अनुसार इनका सम्बन्ध 'महेसी' शब्द से है—जैसे समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के द्वारा महान् की एषणा करने वाले[6]।

१—(क) अ० चू० : अकरणिज्जासंकण लज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० २०६ : लज्जा अववादभय।
(ग) हा० टी० प० २४६ : 'लज्जा' अपवादभयरूपा।

२—अ० चू० सव्व दक्खिण जबूदीववरिस।

३—(क) अ० चू० : कुमुदाणि उप्पलविसेसो, कुमुदेहि पहसणभूतेहि कीडण जिए सा कोमुदी कुमुयाणि वा सन्ति सा पुण कत्तिय पुण्णिमा।
(ख) जि० चू० पृ० २०७।
(ग) हा० टी० प० २४६।

४—A Sanskrit English Dictionary P 316.

५—(क) अ० चू० : महागरा समाधिजोगाणं सुतस्स बारसगस्स सीलस्स य बुद्धीए य अधवा सुतसीलबुद्धीए समाधिजोगाण महागरा।
(ख) जि० चू० पृ० २०८।

६—हा० टी० प० २४६ : 'महेसिणो' मोक्षैषिण, कथं महैषिण इत्याह—'समाधियोगश्रुतशीलबुद्धिभि' समाधियोगै—ध्यानविशेषै श्रुतेन—द्वादशाङ्गाभ्यासेन शीलेन—परद्रोहविरतिरूपेण बुद्ध्या च औत्पत्तिक्यादिरूपया।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(बीओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(द्वितीय उद्देशक)

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (बीओ उद्देसो) : विनय-समाधि (द्वितीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा। साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता तओ से पुप्फं च फलं रसो य॥	मूलात् स्कन्धप्रभवो द्रुमस्य, स्कन्धात्पश्चात्समुपयन्ति शाखाः। शाखाभ्यः प्रशाखा विरोहन्ति पत्राणि, ततस्तस्य पुष्पं च फलं च रसश्च ॥१॥	१—वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है, स्कन्ध के पश्चात् शाखाएँ आती हैं, शाखाओं में से प्रशाखाएँ निकलती हैं। उसके पश्चात् पत्र, पुष्प, फल और रस होता है।
२—एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छई॥	एवं धर्मस्य विनयो, मूलं परमस्तस्य मोक्षः। येन कीर्तिं श्रुतं श्लाघ्यं, नि शेषं चाधिगच्छति ॥२॥	२—इसी प्रकार धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम (अन्तिम) फल[1] है मोक्ष। विनय के द्वारा मुनि कीर्ति, श्लाघनीय[2] श्रुत और समस्त इष्ट तत्त्वों को[3] प्राप्त होता है।
३—जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे। वुज्झइ से अविणीयप्पा कट्ठं सोयगयं जहा॥	यश्च चण्डो मृगस्तब्धः, दुर्वादी निकृतिः शठः। उह्यते सोऽविनीतात्मा, काष्ठं स्रोतोगतं यथा ॥३॥	३—जो चण्ड, अज्ञ (मृग[4]), स्तब्ध, अप्रियवादी, मायावी और शठ[5] है, वह अविनीतात्मा संसार-स्रोत में वैसे ही प्रवाहित होता रहता है जैसे नदी के स्रोत में पड़ा हुआ काठ।
४—विणयं पि जो उवाएणं चोइओ कुप्पई नरो। दिव्वं सो सिरिमेज्जंतिं दंडेण पडिसेहए॥	विनयमपि यः उपायेन, चोदितः कुप्यति नरः। दिव्या स श्रियमायान्तीं, दण्डेन प्रतिषेधति ॥४॥	४—विनय में उपाय के द्वारा भी प्रेरित करने पर जो कुपित होता है, वह आती हुई दिव्य लक्ष्मी को डंडे से रोकता है।
५—तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया। दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया॥	तथैवाऽविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः। दृश्यन्ते दु:खमेधमानाः, आभियोग्यमुपस्थिताः ॥५॥	५—जो औपवाह्य[1] घोड़े और हाथी अविनीत होते हैं, वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।
६—तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया। दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा॥	तथैव सुविनीतात्मानः, उपवाह्या हया गजाः। दृश्यन्ते सुखमेधमानाः, ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥६॥	६—जो औपवाह्य घोड़े और हाथी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

७—तहेव अविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति दुहमेहंता
छाया विगलितेंदिया॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
छाता विकलितेन्द्रियाः ॥७॥

८—दंडसत्थपरिजुण्णा
असब्भ वयणेहि य।
कलुणा विवन्नछंदा
खुप्पिवासाए परिगया॥

दण्डशस्त्राभ्यां परिजीर्णाः,
असभ्यवचनैश्च।
करुणा विपन्नच्छन्दसः,
क्षुत्पिपासया परिगताः ॥८॥

७-८—लोक में जो पुरुष और स्त्री अविनीत होते हैं, वे क्षत-विक्षत या दुर्बल[७], इन्द्रिय-विकल[८], दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनों के द्वारा तिरस्कृत, करुण, परवश, भूख और प्यास से पीड़ित होकर दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

६—तहेव सुविणीयप्पा
लोगंसि नरनारिओ।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
लोके नरनार्यः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥६॥

६—लोक में जो पुरुष या स्त्री सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१०—तहेव अविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता
आभिओगमुवट्ठिया॥

तथैवाऽविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते दुःखमेधमानाः,
आभियोग्यमुपस्थिताः ॥१०॥

१०—जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवन-वासी देव) अविनीत होते है, वे सेवाकाल में दुःख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

११—तहेव सुविणीयप्पा
देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता
इड्ढिं पत्ता महायसा॥

तथैव सुविनीतात्मानः,
देवा यक्षाश्च गुह्यकाः।
दृश्यन्ते सुखमेधमानाः,
ऋद्धिं प्राप्ता महायशसः ॥११॥

११—जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि और महान् यश को पाकर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं।

१२—जे आयरियउवज्झायाणं
सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति
जलसित्ता इव पायवा॥

ये आचार्योपाध्याययोः,
शुश्रूषावचनकराः।
तेषां शिक्षाः प्रवर्धन्ते,
जलसिक्ता इव पादपाः ॥१२॥

१२—जो मुनि आचार्य और उपाध्याय की[९] शुश्रूषा और आज्ञा-पालन करते हैं, उनकी शिक्षा[१०] उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे जल से सींचे हुए वृक्ष।

१३—अप्पणट्ठा परट्ठा वा
सिप्पा णेउणियाणि य।
गिहिणो उवभोगट्ठा
इहलोगस्स कारणा॥

आत्मार्थं परार्थं वा,
शिल्पानि नैपुण्यानि च।
गृहिण उपभोगार्थं,
इहलोकस्य कारणाय ॥१३॥

१३-१४—जो गृही अपने या दूसरों के लिए, लौकिक उपभोग के निमित्त शिल्प[११] और नैपुण्य[१२] सीखते हैं, वे शिल्प ग्रहण

१४—[१३]जेण वंधं वहं घोरं
परियावं च दारुणं ।
सिक्खमाणा नियच्छंति
जुत्ता ते ललिइंदिया ॥

येन वन्ध वधं घोरं,
परितापं च दारुणम् ।
शिक्षमाणा नियच्छन्ति,
युक्तास्ते ललितेन्द्रियाः ॥१४॥

करने में लगे हुए पुरुष, ललितेन्द्रिय[१४] होते हुए भी शिक्षा-काल में घोर वन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते है ।

१५—ते वि तं गुरुं पूयंति
तस्स सिप्पस्स कारणा ।
सक्कारेंति नमंसंति
तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥

तेऽपि तं गुरुं पूजयन्ति,
तस्य शिल्पस्य कारणाय ।
सत्कुर्वन्ति नमस्यन्ति,
तुष्टा निर्देशवर्तिनः ॥१५॥

१५—वे भी उस शिल्प के लिए उस गुरु की पूजा करते है, सत्कार करते हैं[१५], नमस्कार करते है[१६] और सन्तुष्ट होकर उसकी आज्ञा का पालन करते है ।

१६—किं पुण जे सुयग्गाही
अणंतहियकामए ।
आयरिया जं वए भिक्खू
तम्हा तं नाइवत्तए ॥

किं पुनर्यः श्रुतग्राही,
अनन्तहितकामकः ।
आचार्या यद् वदेयुः भिक्षुः,
तस्मात्तन्नातिवर्तयेत् ॥१६॥

१६—जो आगम-ज्ञान को पाने में तत्पर और अनन्तहित (मोक्ष) का इच्छुक है उसका फिर कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो कहे भिक्षु उसका उल्लघन न करे ।

१७—नीयं सेज्जं गइं ठाणं
नीयं च आसणाणि य ।
नीयं च पाए वंदेज्जा
नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥

नीचां शय्यां गतिं स्थानं,
नीचं चासनानि च ।
नीचं च पादौ वन्देत,
नीचं कुर्याच्चाञ्जलिम् ॥१७॥

१७—भिक्षु (आचार्य से) नीची शय्या करे[१७], नीची गति करे[१८], नीचे खडा रहे[१९], नीचा आसन करे[२०], नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे[२१] और नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोडे[२२] ।

१८—[२३]संघट्टइत्ता काएणं
तहा उवहिणामवि[२४] ।
खमेह अवराहं मे
वएज्ज न पुणो त्ति य ॥

संघट्य कायेन,
तथोपधिनापि ।
क्षमस्वापराधं मे,
वदेन्नपुनरिति च ॥१८॥

१८—अपनी काया से तथा उपकरणों से एव किसी दूसरे प्रकार से[२५] आचार्य का स्पर्श हो जाने पर शिष्य इस प्रकार कहे—"आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं फिर ऐसा नही करूँगा ।"

१९—[२६]दुग्गओ वा पओएणं ।
चोइओ वहई रहं ।
एवं दुबुद्धि किच्चाणं[२७]
वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥

दुर्गवो वा प्रतोदेन,
चोदितो वहति रथम् ।
एवं दुर्बुद्धिः कृत्यानां,
उक्त उक्तः प्रकरोति ॥१९॥

१९—जैसे दुष्ट बैल चाबुक आदि से प्रेरित होने पर रथ को वहन करता है, वैसे ही दुर्बुद्धि शिष्य आचार्य के बार-बार कहने पर कार्य करता है ।

* (आलवंते लवंते वा न निसेज्जाए पडिस्सुणे। मोत्तूणं आसणं धीरो सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥)	आलपन्तं लपन्तं वा, न निषिद्यायां प्रतिश्रृणुयात्। मुक्त्वा आसनं धीर, शुश्रूषया प्रतिश्रृणुयात् ॥)	(बुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक बार बुलाने पर या बार-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे, किन्तु आसन को छोड़कर शुश्रूषा के साथ उनके वचन को स्वीकार करे।)
२०—कालं छंदोवयारं च पडिलेहित्ताण हेउहिं। तेण तेण उवाएण तं तं संपडिवायए ॥	कालं छन्दोपचारं च, प्रतिलेख्य हेतुभिः। तेन तेनोपायेन, तत्तत्संप्रतिपादयेत् ॥२०॥	२०—काल[२८], अभिप्राय[२९] और आराधन-विधि[३०] को हेतुओं से जानकर, उस-उस (तदनुकूल) उपाय के द्वारा उस-उस प्रयोजन का सम्प्रतिपादन करे—पूरा करे।
२१—विवत्ती अविणीयस्स संपत्ती विणियस्स य। जस्सेयं दुहओ नायं सिक्खं से अभिगच्छइ ॥	विपत्तिरविनीतस्य, सम्पत्ति (सम्प्राप्ति) विनीतस्य च। यस्यैतद्द्विधा ज्ञातं, शिक्षां सोऽभिगच्छति ॥२१॥	२१—'अविनीत के विपत्ति और विनीत के सम्पत्ति[३१] होती है'—ये दोनों जिसे ज्ञात है, वही शिक्षा को प्राप्त होता है।
२२—जे यावि चंडे मइइड्ढिगारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे। अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥	यश्चापि चण्डो मतिऋद्धिगौरवः, पिशुनो नरः साहसो हीनप्रेषणः। अदृष्टधर्मा विनयेऽकोविदः, असंविभागी न खलु तस्य मोक्षः॥२२॥	२२—जो नर चण्ड है, जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है[३२], जो पिशुन है, जो साहसिक है[३३], जो गुरु की आज्ञा का यथा-समय पालन नहीं करता[३४], जो अदृष्ट (अज्ञात) धर्मा है, जो विनय में अकोविद है, जो असंविभागी है[३५] उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।
२३—निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया। तरित्तु ते ओहमिणं दुरुत्तरं खवित्तु कम्मं गइमुत्तमं गय ॥ त्ति बेमि।	निर्देशवर्तिनः पुनर्ये गुरूणां, श्रुतार्थधर्माणो विनये कोविदाः। तीर्त्वा ते ओघमिमं दुरुत्तरं, क्षपयित्वा कर्म गतिमुत्तमां गताः॥२३॥ इति ब्रवीमि।	२३—और जो गुरु के आज्ञाकारी हैं, जो गीतार्थ हैं[३६], जो विनय में कोविद हैं, वे इस दुस्तर संसार-समुद्र को तर कर कर्मों का क्षय कर उत्तम गति को प्राप्त होते हैं। ऐसा मैं कहता हूँ।

*यह गाथा कुछ प्रतियों में मिलती है, कुछ में नहीं।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ६ (द्वितीय उद्देशक)

श्लोक २ :

१. परम (अंतिम) फल (परमो ख) :

उपमा में मूल और परम की मध्यवर्ती अपरम अवस्थाओं का उल्लेख है। परन्तु उपमेय में केवल मूल और परम का उल्लेख है। देवलोक-गमन, सुकुल में उत्पन्न होना, क्षीरास्रव, मध्वास्रव आदि यौगिक-विभूतियों को प्राप्त होना विनय के अपरम तत्त्व हैं[१]।

२. श्लाघनीय (सिग्घं ग) :

प्राकृत में श्लाघ्य के 'सग्घ' और 'सिग्घ' दोनों रूप बनते हैं। यह श्रुत का विशेषण है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'सग्घं' का प्रयोग किया है[२]। सूत्रकृताङ्ग (३.२.१६) में भी 'सग्घं' रूप मिलता है—'भुंज भोगे इमे सग्घे'।

३. समस्त इष्ट तत्त्वों को (निस्सेसं घ) :

जिनदास चूर्णि में इसका प्रयोग 'कीर्ति, श्लाघनीय श्रुत इत्यादि समस्त' इस अर्थ में किया है[३]। टीका के अनुसार यह श्रुत का विशेषण है[४]। अगस्त्य चूर्णि में इसे 'णिसेयस' (निश्रेयस्—मोक्ष) शब्द माना है[५]।

श्लोक ३ :

४. मृग (मिए क) :

मृग-पशु की तरह उ... ...भी होता है, उसे मृग कहा गया है[६]। मृग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। आरण्यक-पशु[७] या सामान्य पशुओं[८] को भी ...ाता है।

५. मायावी और शठ (...वाई सढे ख) :

अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ 'माया के द्वारा शठ' किया है[९]। टीका में इन दोनों को पृथक् मानकर 'नियडी' का अर्थ मायावी और 'सढे' का अर्थ संयम-योग में उदासीन किया है[१०]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३०६ : अपरमाणि उ खधो साहा पत्तपुप्फफलाणित्ति, एव धम्मस्स परमो मोक्खो, अपरमाणि उ देवलोगसुकुल-पच्चायाया—खीणि खीरासवमधुयासवादीणित्ति।
(ख) हा० टी० प० २४७।

२—(क) अ० चू० : सुत च सग्घ साघणीयमविगच्छति।
(ख) हा० टी० प० २४७ : 'श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'श्लाघ्य' प्रशसास्पदभूतम्।

३—जि० चू० पृ० ३०६ : एवमादि, निस्सेस अभिगच्छतीति।

४—हा० टी० प० २४७ : 'श्रुतम्' अङ्गप्रविष्टादि 'श्लाघ्य' प्रशसास्पदभूतं 'निःशेष' सम्पूर्णम् 'अधिगच्छति'।

५—अ० चू० : णिसेयसं च मोक्खमधिगच्छति।

६—अ० चू० : मदग्घी मितो।

७—सूत्र० १.१.२.६ वृ० : मृगा आरण्याः पशव.।

८—An animal in general (A Sanskrit English Dictionary. Page 689

९—अ० चू० : नियडी मातातीए सढो नियडी सढो।

१०—हा० टी० प० २४७ : 'निकृतिमान्' मायोपेत. 'शठः' सयमयोगेष्वनादृत।

श्लोक ५ :

६. औपवाह्य (उववज्झा ^घ^) :

इसके संस्कृत रूप 'उपवाह्य और औपवाह्य'—दोनों किए जा सकते हैं[1]। इन दोनों का अर्थ—सवारी के काम में आने वाले अथवा राजा की सवारी में काम आने वाले वाहन—हाथी, रथ आदि हैं[2]। कारण या अकारण—सब अवस्थाओं में जिसे वाहन बनाया जाए, उसे औपवाह्य कहा जाता है[3]।

श्लोक ७ :

७. क्षत-विक्षत या दुर्बल (छाया ^घ^) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने मूल पाठ 'छाया विगलिंदिया' और वैकल्पिक रूप से 'छाया विगलितिंदिया' माना है। उनके अनुसार मूल पाठ का अर्थ है—शोभा-रहित या अपने विषय को ग्रहण करने में असमर्थ-इन्द्रिय वाले काने, अंध, बधिर आदि और वैकल्पिक पाठ का अर्थ है—भूख से अभिभूत विगलित-इन्द्रिय वाले[4]। वैकल्पिक पाठ के 'छाया' का संस्कृत रूप 'छाता.' होता है और इसका अर्थ है—दुर्बल[5]। यह बुभुक्षित और कृश के अर्थ में देशी शब्द भी है[6]।

जिनदास महत्तर और टीकाकार ने यह पाठ 'छायाविगलितेंदिया' माना है और छाया का अर्थ 'चाबुक के प्रहार से व्रणयुक्त शरीर वाला' किया है[7]।

८. इन्द्रिय-विकल (विगलितेंदिया ^घ^) :

जिनकी इन्द्रियाँ विकल हों—अपूर्ण या नष्ट हो उन्हें 'विकलितेंदिय' या (विकलेन्द्रिय) कहा जाता है। काना, अन्धा, बहरा अथवा जिनकी नाक, हाथ, पैर आदि कटे हुए हों, वे विकलितेन्द्रिय होते हैं[8]।

१—पाइयसद्दमहण्णव परिशिष्ट पृष्ठ १२७४।

२—(क) हा० टी० प० २४८ : उपवाह्यानां—राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा इत्यौपवाह्याः।

(ख) अ० चि० ४ २८८ : राजवाह्यस्तूपवाह्यः।

(ग) वृ० हि० पृ० २००,२२८।

३—(क) अ० चू० : उप्पेध सव्वावत्थ वाहणीया उववज्झा।

(ख) जि० चू० पृ० ३१० : कारणमकारणे वा उवेज्ज वाहिज्जति उववज्झा

४—अ० चू० : छाया शोभा सा पुण सरूवता सविसयगहण सामत्थं वा। छायातो विगलेंदियाणि जेसिं ते छायाविगलेंदिया काणंध-बधिरादयो भट्ठछायेंदिया अहवा छाया छुहाभिभूता विगलितिंदिया विभगतिंदिया।

५—अ० चि० ३.११३ ···· ···दुर्बल कृश.।

क्षामः क्षीणस्तनुश्छातस्तलिनाऽमांसपेलवाः ॥

६—(क) दे० ना० वर्ग ३ ३३ पृ० १०४ : "छाओ बुभुक्षित कृशश्च"

(ख) ओ० नि० भा० २६०।

७—(क) हा० टी० प० २४८ : 'छाता.' कसघातव्रणाङ्कितशरीरा.।

(ख) जि० चू० पृ० ३११।

८—(क) अ० चू० : विगलिंदिया काणंधबधिरादयो।

(ख) हा० टी० प० २४८ : 'विगलितेन्द्रिया' अपनीतनासिकादीन्द्रियाः पारदारिकादयः।

(ग) जि० चू० पृ० ३११ : विगलितेंदिया णाम हत्थपायाईहिं छिन्ना, उद्धियणयणा य विगलिंदिया भन्नति।

श्लोक १२ :

६. आचार्य और उपाध्याय की (आयरियउवज्झायाणं क) :

जैन परम्परा में आचार्य और उपाध्याय का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। परम्परा एक प्रवाह है। उसका स्रोत सूत्र है। उसकी आत्मा है अर्थ। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते हैं। अर्थ की वाचना आचार्य देते हैं। उपाध्याय का कार्य है सूत्र की वाचना देना[1]। स्मृतिकार की भाषा में भी आचार्य और उपाध्याय की सही व्याख्या मिलती है[2]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरु-पद पर स्थापित होता है, वह आचार्य कहलाता है[3]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सूत्र और अर्थ को जानने वाला आचार्य होता है और सूत्र तथा अर्थ का जानकार हो किन्तु गुरु-पद पर स्थापित न हो वह भी आचार्य कहलाता है[4]।

टीका के अनुसार सूत्रार्थ दाता अथवा गुरु—स्थानीय ज्येष्ठ-आर्य 'आचार्य' कहलाता है[5]। इन सबका तात्पर्य यही है कि गुरुपद पर स्थापित या अस्थापित जो सूत्र और अर्थ प्रदाता है, वह आचार्य है। इससे गुरु और आचार्य के तात्पर्यार्थ में जो अन्तर है, वह स्पष्ट होता है।

१०. शिक्षा (सिक्खा ग) :

शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) ग्रहण-शिक्षा और (२) आसेवन-शिक्षा। कर्तव्य का ज्ञान ग्रहण-शिक्षा और उसका आचरण या अभ्यास आसेवन-शिक्षा कहलाता है[6]।

श्लोक १३ :

११. शिल्प (सिप्पा ख) :

कारीगरी। स्वर्णकार, लोहकार, कुम्भकार आदि का कर्म[7]।

१—ओ० नि० वृ० : 'अत्थं वाएइ आयरिओ'
'सुत्तं वाएइ उवज्झाओ'
वृत्ति—सूत्रप्रदा उपाध्यायाः, अर्थप्रदा आचार्याः।

२—वृ० गौ० स्मृ० अ० १४ ५६,६० : "इहोपनयन वेदान् योऽध्यापयति नित्यशः।
सकल्पान् इतिहासांश्च स उपाध्याय उच्यते॥
साङ्गान् वेदांश्च योऽध्याप्य शिक्षयित्वा व्रतानि च।
विवृणोति च मन्त्रार्थानाचार्यः सोऽभिधीयते॥"

३—अ० चू० ६.२.१ : सुत्तत्थ तदुभयादि गुणसम्पन्नो अप्पणो गुरुहि गुरुपदेत्थावितो आयरिओ।

४—जि० चू० पृ० ३१८ : आयरिओ सुत्तत्थतदुभयविऊ, जो वा अण्णोऽवि सुत्तत्थतदुभयगुणेहि य उववेओ गुरुपए ण ठाविओ सोऽवि आयरिओ चेव।

५—हा० टी० प० २५२ : 'आचार्य' सूत्रार्थप्रद तत्स्थानीय याऽन्यं ज्येष्ठार्यम्।

६—(क) जि० चू० पृ० ३१३ : सिक्खा दुविहा—गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य।
(ख) हा० टी० प० २४६ : 'शिक्षा' ग्रहणासेवनालक्षणा।

७—(क) अ० चू० : सिप्पाणि सुवण्णकारादीणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१३ : सिप्पाणि—कुंभारलोहारादीणि।
(ग) हा० टी० प० २४६ : 'शिल्पानि' कुम्भकारक्रियादीनि।

१२. नैपुण्य (णेउणियाणि ख) :

कौशल, वाण-विद्या[१], लौकिक-कला[२], चित्र-कला[३]।

श्लोक १४ :

१३. श्लोक :

इनमें बन्ध, वध और परिताप के द्वारा अध्यापन की उस स्थिति पर प्रकाश पड़ता है जिस युग में अध्यापक अपने विद्यार्थियों को सांकल से बाँधते थे, चाबुक आदि से पीटते थे और कठोर वाणी से भर्त्सना देते थे[४]।

१४. ललितेन्द्रिय (ललिइंदिया घ) :

जिनकी इन्द्रिया ललित—क्रीडाशील या रमणीय होती हैं, वे ललितेन्द्रिय कहलाते हैं[५]। अगस्त्य चूर्णि में वैकल्पिक व्याख्या 'लालितेंदिय' शब्द की हुई है। जिनकी इन्द्रियाँ सुख के द्वारा लालित होती हैं, उन्हें लालितेन्द्रिय कहा जाता है। 'लकार' को ह्रस्वादेश करने पर ललितेन्द्रिय हो जाता है[६]।

श्लोक १५ :

१५. सत्कार करते हैं (सक्कारंति ग) :

किसी को भोजन, वस्त्र आदि से सम्मानित करना 'सत्कार' कहलाता है[७]।

१—अ० चू० . ईसत्थ सिक्खाकोसलादीणि।

२—जि० चू० पृ० ३१३ णेउणिआणि लोइयाओ कलाओ।

३—हा० टी प० २४६ : 'नैपुण्यानि च' आलेख्यादिकलालक्षणानि।

४—(क) अ० चू० · बध णिगलादीहिं वध लकुडादीहिं घोर पासत्थिपाण भयाणट्ठं परितावण संगभगादीहिं।

(ख) जि० चू० पृ० ३१३, ३१४ तत्थ निगलादीहि बध पावेति, वेत्तासयादिहिं य वध घोर पावेति, तओ तेहिं बधेहिं वधेहि य परितावो सुदारुणो भवइत्ति, अहवा परितावो निट्ठुरचोयणतज्जियस्स जो मणि सतावो सो परितावो भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २४६ · 'बन्ध' निगडादिभि 'वध' कषादिभि 'घोर' रौद्र परिताप च 'दारुणम्' एतज्जनितमनिष्ट निर्भर्त्सनादि-वचनजनितम्।

५—(क) अ० चू० · ललिताणि नाडगातिउस्सवसमुदिताणि इदियाणि जेसि रायपुत्तप्पभीतीण ते ललितेंदिया।

(ख) जि० चू० पृ० ३१४ . ललिइदिया णाम आगब्भाओ ललियाणि इदियाणि जेसि ते ललिइदिया, अच्चन्तसुहितत्ति वुत्त भवति, ते य रायपुत्तादि।

(ग) हा० टी० प० २४६ · 'ललितेन्द्रिया' गर्भेश्वरा राजपुत्रादय।

६—अ० चू० . लालितेंदिया वा सुहेहिं, लकारस्स ह्रस्सादेसो।

७—(क) अ० चू० · भोयणच्छादण गंधमल्लेणय सक्कारति।

(ख) जि० चू० पृ० ३१४ : सक्कारो भोजणाच्छादणादिसपादणओ भवइ।

(ग) हा० टी० प० २५० · 'सत्कारयन्ति' वस्त्रादिना।

१६. नमस्कार करते हैं (नमंसंति ग) :

गुरुजन के आने पर उठना, हाथ जोडना आदि 'नमस्कार' कहलाता है[१]। अगस्त्यसिंह चूर्णि में इसके स्थान पर 'समार्णेति' पाठ है और उसका अर्थ स्तुति-वचन, चरण-स्पर्श आदि किया है[२]।

श्लोक १७ :

१७. नीची शय्या करे (नीयं सेज्जं क) :

आचार्य की शय्या (बिछौने) से अपनी शय्या नीचे स्थान मे करना[३]।

१८. नीची गति करे (गइं क) :

नीची गति अर्थात् शिष्य आचार्य से आगे न चले पीछे चले। अति समीप और अति दूर न चले। अति समीप चलने से रजें उड़ती हैं और अति दूर चलना प्रत्यनीकता तथा आशातना है[४]।

१९. नीचे खड़ा रहे (ठाणं क) :

मुनि आचार्य खडे हों उनसे नीचे स्थान में खड़ा रहे[५]। आचार्य के आगे और पार्श्वभाग में खड़ा न हो[६]।

२०. नीचा आसन करे (नीयं च आसणाणि ख) :

आचार्य के आसन—पीठ, फलक आदि से अपना आसन नीचा करना[७]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३१४ णमसणा अब्भुट्ठाणजलिपग्गहादी।
(ख) हा० टी० प० २५० : 'नमस्यन्ति' अञ्जलिप्रग्रहादिना।

२—अ० चू० . थुतिवयणपादोवफरिसं समयक्करणादीहिं य समाणेंति।

३—(क) अ० चू० : सेज्जा सथारवो त णीयतरमायरियसथारगाओ कुज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४ : सेज्जा सथारओ भण्णइ, सो आयरियस्संतियाओ णीयतरो कायव्वो।
(ग) हा० टी० प० २५० : नीचां 'शय्यां' सस्तारकलक्षणामाचार्यशय्याया. सकाशात्कुर्यादिति योगः।

४—(क) अ० चू० : न आयरियाण पुरतो गच्छेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३१४-३१५ : 'णीया' नाम आयरियाण पिट्ठओ गतव्व, तमवि णो अच्चासण्ण, न वा अतिदूरत्थेण गंतव्वं, अच्चासन्ने ताव पादरेणुण आयरियसघट्टणदोसो भवइ, अइदूरे पडिणीय आसायणादि बहवे दोसा भवंतीति, अतो णच्चासण्णे णातिदूरे य चकमितव्व।
(ग) हा० टी० प० २५० : नीचां गतिमाचार्यगतेः, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुत यायादित्यर्थ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा जमिवि ठाणे आयरिया उवविट्ठा अच्छति तत्थ ज नीययर ठाणं तमि ठाइयव्व।
(ख) हा० टी० प० २५० : नीच स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमितिभाव।

६—अ० चू० : ठाणमवि त ण पच्छतो ण पुरतो एवमादि अविरुद्ध त णीत तहा कुज्जा।

७—(क) अ० चू० : एव पीढफलगादिसुवि आसणं।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ . तहा नीययरे पीढगाईंमि आसणे आयरिअणुन्नाए उवविसेज्जा।
(ग) हा० टी० प० २५० : 'नीचानि' लघुतराणि कदाचित्कारणजाते 'आसनानि' पीठकानि तस्मिन्नुपविष्टे तदनुज्ञातः सेवेत।

२१. नीचा होकर आचार्य के चरणों में वन्दना करे (नीयं च पाए वंदेज्जा ग) :

आचार्य आसन पर आसीन हों और शिष्य निम्न भूभाग में खड़ा हो फिर भी सीधा खड़ा-खड़ा वन्दना न करे, कुछ झुककर करे। शिर से चरण स्पर्श कर सके उतना झुककर वन्दना करे[1]।

२२. नीचा होकर अञ्जलि करे—हाथ जोड़े (नीयं कुज्जा य अंजलिं घ) :

वन्दना के लिए सीधा खड़ा-खड़ा हाथ न जोड़े, किन्तु कुछ झुककर वैसा करे[2]।

श्लोक १८ :

२३. श्लोक १८ :

आसातना होने पर क्षमा-याचना करने की विधि इस प्रकार है—शिर झुकाकर गुरु से कहे—"मेरा अपराध हुआ है उसके लिए मैं "मिच्छामि दुक्कड" का प्रायश्चित्त लेता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। मैं फिर से इसे नहीं दोहराऊँगा[3]।

२४. (उवहिणामवि ख) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है।

२५. किसी दूसरे प्रकार से (अवि ख) :

यह अपि शब्द का भावानुवाद है। यहाँ 'अपि' सभावना के अर्थ में है[4]। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'गमन से उत्पन्न वायु से' और जिनदास चूर्णि के अनुसार 'काया और उपधि—दोनों से एक साथ स्पर्श हो जाने पर' यह 'अपि' का सभावित अर्थ है[5]।

श्लोक १९ :

२६. पाठान्तर :

उन्नीसवें श्लोक के पश्चात् कुछ आदर्शों में 'आलवते··· ·····' यह श्लोक है। किन्तु चूर्णि और टीका में यह व्याख्यात नहीं है। उत्तराध्ययन (१.२१) में यह श्लोक है। प्रकरण की दृष्टि से व्याख्या के रूप में उद्धृत होते-होते मूल में प्रक्षिप्त हो गया—ऐसा सभव है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : जइ आयरिओ आसणे इतरो भूमिए नीययरे भूमिप्पदेसे वदमाणो उवट्ठिओ न वदेज्जा, किन्तु जाव सिरेण फुसे पादे ताव णीय वदेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २५० : 'नीचं' च सम्यगवनतोत्तमाङ्गः सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया।

२—(क) जि० चू० पृ० ३१५ : तहा अजलिमवि कुव्वमाणेण णो पक्षाणमि उवविट्ठेण अजली कायव्वा, किंतु ईसिअवणएण कायव्वा।

(ख) हा० टी० प० २५० : 'नीच' नम्रकाय 'कुर्यात्' सपादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत्स्तब्ध एवेति।

३—जि० चू० पृ० ३१५ : सो य उवाओ इमो—सिर भूमीए निवाडेऊण एव वएज्जा, जहा—अवराहो मे, मिच्छामि दुक्कड, खतव्वमेय, णाह भुज्जो करिहामित्ति।

४—अ० चू० : अविसद्देण अच्चासण्ण गमण वायुणा वा।

५—जि० चू० पृ० ३१५ : अविसद्दो सभावणे वट्टइ, कि सभावयति ?, जहा दोहिवि कायोवहीहि जया जमगसमग घट्टिओ भवइ।

२७. (किच्चाणं ग) :

'कृत्य' का अर्थ वन्दनीय या पूजनीय है। आचार्य, उपाध्याय आदि वन्दनीय गुरुजन 'कृत्य' कहलाते हैं[१]। चूर्णियों में और वैकल्पिक रूप में टीका में 'किच्चाइ' पाठ माना है। उसका अर्थ है—आचार्य, उपाध्याय के द्वारा अभिलषित कार्य[२]।

श्लोक २० :

२८. काल (कालं क) :

'काल को जानकर'—इसका आशय यह है कि शिष्य आचार्य के लिए शरद् आदि ऋतुओं के अनुरूप भोजन, शयन, आसन आदि लाए[३]। जैसे—शरद्-ऋतु में वात-पित्त हरने वाले द्रव्य, हेमन्त मे ऊष्ण, वसन्त में श्लेष्म हरने वाले, ग्रीष्म में शीतकर और वर्षा में ऊष्ण आदि-आदि[४]।

२९. अभिप्राय (छंदं क) :

शिष्य का कर्तव्य है कि वह आचार्य की इच्छा को जाने। देशकाल के आधार पर इच्छाएँ भी विभिन्न होती हैं, जैसे—किसी को छाछ आदि, किसी को सत्तू आदि इष्ट होते हैं। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि की भिन्नता होती है, जैसे—कोंकण देश वालों को पेया प्रिय होती है, उत्तरापथ वासियों को सत्तू आदि-आदि[५]।

३०. आराधन-विधि (उवयारं क) :

अगस्त्य चूर्णि में 'उवयार' का अर्थ आज्ञा[६], जिनदास चूर्णि में 'विधि[७]' और टीका में 'आराधना का प्रकार[८]' किया है।

श्लोक २१ :

३१. सम्पत्ति (संपत्ती ख) :

इसका अर्थ है सम्पदा[९]। अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ कार्य-लाभ[१०] और टीका में सम्प्राप्ति किया है[११]।

१—हा० टी० प० २५० : 'कृत्यानाम्' आचार्यादीनाम्।

२—(क) अ० चू० : आयरिय करणीयाणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३१५ : जाणि आयरियउवज्झायाईणं किच्चाइ मणरुइयाणि ताणि।
(ग) हा० टी० प० २५० : 'कृत्यानि वा' तदभिरुचितकार्याणि।

३—अ० चू० : जधा काल जोग्ग भोजणसयणासणादि उवणेय।

४—जि० चू० पृ० ३१५-१६ : तत्थ सरदि वातपित्तहराणि दव्वाणि आहरति, हेमन्ते उण्हाणि, वसते हिंभरहाणि (सिंभहराणि), गिम्हे सीयकरणानि, वासासु उण्हवाणाणि (उण्णवण), एव ताव उदुं उदु पप्प गुरुण अट्टाए दव्वाणि आहरिज्जा, तहा उदुं पप्प सेज्जमवि आणेज्जा।

५—जि० चू० पृ० ३१६ : छन्दो णाम इच्छा भण्णइ, कयाइ अणुउप्पयोगमवि दव्व इच्छति, भणियं च—'अण्णस्स पिया छासी अण्णस्स आसुरी किसरा। अण्णस्स घारिया पूरिया य बहुढोहलो लोगो ॥' तहा कोई मणुए इच्छइ कोति एगरस इच्छइ, देस वा पप्प अण्णस्स पिय जहा कुडुक्काण कोंकणयाण पेज्जा, उत्तरापहगाणं सत्तुया, एवमादि।

६—अ० चू० : उवयारो आणा कोति आणत्तिआए तूसति।

७—जि० चू० पृ० ३१६ : 'उवयार' णाम विधी भण्णइ।

८—हा० टी० प० २५० : 'उपचारम्' आराधनाप्रकारम्।

९—जि० चू० पृ० ३१६ : अट्ठेहि विणीयस्स संपदा भवति।

१०—अ० चू० : संपत्ती कज्जलाभो।

११—हा० टी० प० २५१ : संप्राप्तिर्विनीतस्य च ज्ञानादिगुणानाम्।

श्लोक २२ :

३२. जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है (मइइड्ढिगारवे क) :

जो मति द्वारा ऋद्धि का गर्व वहन करता है[१], जो जातीयता का गर्व करता है और जो ऋद्धि-गौरव में अभिनिविष्ट है[२]—ये क्रमशः अगस्त्य चूर्णि, जिनदास चूर्णि और टीका के अर्थ हैं। मति अर्थात् श्रुत और ऋद्धि-ऐश्वर्य का गर्व—यह इसका सरल अर्थ प्रतीत होता है[३]।

३३. जो साहसिक है (साहस ख) :

इसका अर्थ है—विना सोचे समझे आवेश में कार्य करने वाला अथवा 'अकृत्य कार्य करने में तत्पर[४]।' इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ है। प्राचीन साहित्य में इसका प्रयोग चोर, हिंसक, शोषक आदि के अर्थ में होता था। परन्तु कालान्तर में इसका अर्थ शक्तिशाली, सकल्पवान् हुआ है। प्रश्नव्याकरण सूत्र मे 'साहस' को हिंसा का पर्यायवाची शब्द माना है[५]। कोशकार होरेस हेमैन विल्सन ने 'साहस' के हिंसा और शक्ति दोनों अर्थ किए हैं परन्तु 'साहसिक' का हिंसापरक अर्थ ही किया है[६]।

३४. जो गुरु की आज्ञा यथासमय पालन नहीं करता (हीणपेसणे ख) :

'पेसण' का अर्थ है नियोजन, कार्य में प्रवृत्त करना, आज्ञा आदि। जो शिष्य अपने गुरु की आज्ञा को हीन—लघु करता है—यथासमय उसका पालन नहीं करता, वह हीन-प्रेषण कहलाता है[७]।

३५. जो असंविभागी है (असंविभागी घ) :

जो अपने लाए हुए आहार आदि का दूसरे समानधर्मी साधुओं को सविभाग नहीं देता, वह 'असविभागी' कहलाता है[८]। 'असविभागी न हु तस्स मोक्खो'—यह धर्म-सूत्र आधुनिक समाजवाद की भावना का प्रतिनिधि-वाक्य है।

१—अ० चू० : जो मतीए इड्ढिगारवमुव्वहति।

२—जि० चू० पृ० ३१६ : जातीए इड्ढिगारवं वहति, जहाऽहं उत्तमजातीओ कहमेतस्स पादे लग्गिहामित्ति मति इड्ढी गारवो भण्णति।

३—हा० टी० प० २५१ : 'ऋद्धिगौरवमति' ऋद्धिगौरवे अभिनिविष्ट।

४—(क) अ० चू० : रभसेण किच्चकारी साधसो।

(ख) जि० चू० पृ० ३१७ : साहसो णाम जं किंचि तारिसं तं असकिओ चेव पडिसेवतित्तिकाऊण साहस्सिओ भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २५१ : 'साहसिक' अकृत्यकरणपर।

५—प्रश्न० आस्रवद्वार १।

६—A Sanskrit English Dictionary Page 986 : साहस oppression, cruelty, violence, strength साहसिक violent, Brutal, etc

७—(क) अ० चू० : पेसणं जधाकालं मुपपादयितु मसत्तो हीणपेसणो।

(ख) जि० चू० पृ० ३१७ : जो य पेसणत्तं आयरिएहिं दिन्नं तं देसकालादीहिं हीणं करेतित्ति हीणपेसणे।

(ग) हा० टी० प० २५१ : 'हीनप्रेषण' हीनगुर्वाज्ञापर।

८—(क) अ० चू० : असंविभयणसीलो—असंविभागी।

(ख) जि० चू० पृ० ३१७ : संविभायणासीलो संविभागी, ण संविभागी असंविभागी।

(ग) हा० टी० प० २५१ : यत्र क्वचन लाभे न संविभागवान्।

(घ) उत्त० १७।११ बृ० वृ० : संविभजति—गुरुग्लानबालादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवंशील संविभागी न तथा य आत्म-पोषकत्वेनैव सोऽसंविभागी।

श्लोक २३ :

३६. जो गीतार्थ हैं (सुयत्थधम्मा ख) :

अगस्त्य चूर्णि में इसका अर्थ गीतार्थ किया है और इसकी व्युत्पत्ति 'जिसने अर्थ और धर्म सुना है' की है[1]। जिनदास चूर्णि में भी इसकी दो व्युत्पत्तियाँ (जिसने अर्थ धर्म सुना है अथवा धर्म का अर्थ सुना है) मिलती हैं[2]। टीकाकार दूसरे व्युत्पत्तिक अर्थ को मानते हैं[3]।

१—(क) अ० चू० : सुतो अत्थो धम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा।

२—जि० चू० पृ० ३१७ : सुयोऽत्थधम्मो जेहिं ते सुतत्थधम्मा, गीयत्थित्ति वुत्त भवइ, अहवा सुओ अत्थो धम्मस्स जेहिं ते सुतत्थधम्मा।

३—हा० टी० प० २५१ : 'श्रुतार्थधर्मा' इति प्राकृतशैल्या श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थः।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(तइओ उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(तृतीय उद्देशक)

विणयसमाही (तइओ उद्देसो) : विनय-समाधि (तृतीय उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—आयरियं अग्गिमिवाहियग्गी सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा । आलोइयं इंगियमेव नच्चा जो छन्दमाराहयइ स पुज्जो ॥	आचार्यमग्निमिवाहिताग्निः, शुश्रूषमाणः प्रतिजागृयात् । आलोकितं इङ्गितमेव ज्ञात्वा, यश्छन्दमाराधयति स पूज्यः ॥१॥	१—जैसे आहिताग्नि अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, वैसे ही जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहता है, जो आचार्य के आलोकित और इङ्गित को जानकर उसके अभिप्राय की आराधना करता है[1], वह पूज्य है ।
२—आयारमट्ठा विणयं पउंजे सुस्सूसमाणो परिगिज्झ वक्कं । जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो गुरुं तु नासाययई स पुज्जो ॥	आचारार्थं विनयं प्रयुञ्जीत, शुश्रूषमाणः परिगृह्य वाक्यम् । यथोपदिष्टमभिकाङ्क्षन्, गुरुं तु नाशातयति स पूज्यः ॥२॥	२—जो आचार के लिए[2] विनय का प्रयोग करता है, जो आचार्य को सुनने की इच्छा रखता हुआ उसके वाक्य को ग्रहण कर उपदेश के अनुकूल आचरण करता है, जो गुरु की आशातना नहीं करता, वह पूज्य है ।
३—राइणिएसु विणयं पउंजे डहरा वि य जे परियायजेट्ठा । नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो ॥	रात्निकेषु विनयं प्रयुञ्जीत, डहरा अपि ये पर्यायज्येष्ठाः । नीचत्वे वर्तते सत्यवादी, अवपातवान् वाक्यकरः स पूज्यः ॥३॥	३—जो अल्पवयस्क[3] होने पर भी दीक्षा-काल में ज्येष्ठ[4] हैं—उन पूजनीय साधुओं के प्रति जो विनय का प्रयोग करता है, जो नम्र व्यवहार करता है, जो सत्यवादी है, जो गुरु के समीप रहने वाला है[5] और जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, वह पूज्य है ।
४—अन्नायउंछं चरई विसुद्धं जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं । अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा ॥ लद्धुं न विकत्थयई स पुज्जो ॥	अज्ञातोञ्छं चरति विशुद्धं, यापनार्थं समुदानं च नित्यम् । अलब्ध्वा न परिदेवयेत्, लब्ध्वा न विकत्थते स पूज्यः ॥४॥	४—जो जीवन-यापन के लिए[6] अपना परिचय न देते हुए विशुद्ध सामुदायिक उञ्छ (भिक्षा) की[7] सदा चर्या करता है, जो भिक्षा न मिलने पर खिन्न नहीं होता[8], मिलने पर श्लाघा नहीं करता[9], वह पूज्य है ।
५—संथारसेज्जासणभत्तपाणे अप्पिच्छया अइलाभे वि संते । जो एवमप्पाणभितोसएज्जा संतोसपाहन्न रए स पुज्जो ॥	संस्तार-शय्यासन-भक्तपाने, अल्पेच्छताऽतिलाभेऽपि सति । य एवमात्मानमभितोषयेत्, सन्तोषप्राधान्यरतः स पूज्यः ॥५॥	५—संस्तारक, शय्या, आसन, भक्त और पानी का अधिक लाभ होने पर भी जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता[10], जो इस प्रकार जिस किसी भी वस्तु से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है, जो सन्तोष-प्रधान जीवन में रत है, वह पूज्य है ।

६—"सक्का सहेउं आसाए कंटया
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए
वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥

शक्याः सोढुमाशाया कण्टकाः,
अयोमया उत्सहमानेन नरेण।
अनाशया यस्तु सहेत कण्टकान्,
वाङ्मयान् कर्णशरान् स पूज्यः ॥६॥

६—पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटो को सहन कर लेता है परन्तु जो किसी प्रकार की आशा रखे विना कानों में पैठते हुए[12] वचनरूपी काटो को सहन करता है, वह पूज्य है।

७—मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥

मुहूर्तदुःखास्तु भवन्ति कण्टका,
अयोमयास्तेऽपि तत. सूद्धरा।
वाग्-दुरुक्तानि दुरुद्धराणि,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥७॥

७—लोहमय काटे अल्पकाल तक दुःखदायी होते हैं और वे भी शरीर से सहजतया निकाले जा सकते हैं[13] किन्तु दुर्वचनरूपी काटे सहजतया नही निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा को वढाने वाले[14] और महाभयानक होते हैं।

८—समावयंता वयणाभिघाया
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे
जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥

समापतन्तो वचनाभिघाताः,
कर्णंगता दौर्मनस्यं जनयन्ति।
धर्मेति कृत्वा परमाग्रशूरः,
जितेन्द्रियो यः सहते स पूज्यः ॥८॥

८—सामने से आते हुए वचन के प्रहार कानों तक पहुँचकर दौर्मनस्य उत्पन्न करते हैं। जो शूर व्यक्तियो में अग्रणी[15], जितेन्द्रिय पुरुष, 'इन्हें सहन करना मेरा धर्म है'—यह मानकर उन्हें सहन करता है, वह पूज्य है।

९—अवण्णवायं च परम्मुहस्स
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥

अवर्णवादश्च पराङ्मुखस्य,
प्रत्यक्षतः प्रत्यनीकाञ्च भाषाम्।
अवधारिणीमप्रियकारिणीञ्च,
भाषा न भाषेत सदा स पूज्यः ॥९॥

९—जो पीछे से अवर्णवाद नही बोलता, जो सामने विरोधी[16] वचन नही कहता, जो निश्चयकारिणी[17] और अप्रियकारिणी भाषा नहीं बोलता, वह पूज्य है।

१०—अलोलुए अक्कुहए "अमाई
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए नो वि य भावियप्पा
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

अलोलुपः अकुहकः अमायी,
अपिशुनश्चापि अदीनवृत्तिः।
नो भावयेत् नो अपि च भावितात्मा
अकौतूहलश्च सदा सपूज्यः ॥१०॥

१०—जो रसलोलुप नही होता[18], जो इन्द्रजाल आदि के चमत्कार प्रदर्शित नहीं करता, जो माया नहीं करता, जो चुगली नहीं करता[20], जो दीनभाव से याचना नहीं करता[21], जो दूसरों से आत्मश्लाघा नहीं करवाता[22], जो स्वयं भी आत्मश्लाघा नहीं करता, जो कुतूहल नहीं करता[23], वह पूज्य है।

११—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू
गिण्हाहि साहूगुण मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं
जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥

गुणैः साधुरगुणैरसाधुः,
गृहाण साधुगुणान् मुञ्चाऽसाधून्।
विज्ञाय आत्मकमात्मकेन,
यो राग-द्वेषयोः समः स पूज्यः ॥११॥

११—गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु। इसलिए साधुओं के गुणों को ग्रहण कर और असाधुओं के गुणों को छोड[24]। आत्मा को आत्मा से जानकर जो राग और द्वेष में सम (मध्यस्थ) रहता है, वह पूज्य है।

१२—तहेव डहरं व महल्लगं वा
इत्थीपुमं पव्वइयं गिहिं वा ।
नो हीलए नो वि य खिंसएज्जा
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

तथैव डहरं च 'महान्तं' वा,
स्त्रियं पुमांसं प्रव्रजितं गृहिणं वा ।
नो हीलयेन्नो अपि च खिंसयेत्,
स्तम्भश्च क्रोधश्च त्यजेत् स पूज्यः ॥१२॥

१२—बालक या वृद्ध, स्त्री या पुरुष, प्रव्रजित या गृहस्थ को दुश्चरित की याद दिलाकर जो लज्जित नही करता, उनकी निन्दा नही करता[२५], जो गर्व और क्रोध का त्याग करता है, वह पूज्य है ।

१३—[२६]जे माणिया सययं माणयंति
जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ।
ते माणए माणरिहे तवस्सी
जिइंदिए सच्चरए[२७] स पुज्जो ॥

ये मानिताः सततं मानयन्ति,
यत्नेन कन्यामिव निवेशयन्ति ।
तान्मानयेन्मानार्हांस्तपस्विनः,
जितेन्द्रियान् सत्यरतान् स पूज्यः ॥१३॥

१३—अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मानित किए जाने पर जो शिष्यों को सतत सम्मानित करते हैं—श्रुत ग्रहण के लिए प्रेरित करते है, पिता जैसे अपनी कन्या को यत्न-पूर्वक योग्य कुल में स्थापित करता है, वैसे ही जो आचार्य अपने शिष्यों को योग्य मार्ग में स्थापित करते हैं, उन माननीय, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यरत आचार्य का जो सम्मान करता है, वह पूज्य है ।

१४—तेसिं गुरूणं गुणसागराणं
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं ।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो
चउकसायावगए स पुज्जो ॥

तेषां गुरूणां गुणसागराणां,
श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि ।
चरेन्मुनिः पञ्चरतस्त्रिगुप्तः,
अपगत-चतुष्कषायः स पूज्यः ॥१४॥

१४—जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओं के सुभाषित सुनकर उनका आचरण करता है, पाँच महाव्रतों में रत, मन, वाणी और शरीर से गुप्त[२८] तथा क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है[२९], वह पूज्य है ।

१५—गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी
जिणमयनिउणे अभिगमकुसले ।
धुणिय रयमलं पुरेकडं
भासुरमउलं गइं गय ॥
त्ति बेमि ।

गुरुमिह सततं प्रतिचर्य मुनिः,
जिनमतनिपुणोऽभिगमकुशलः ।
धूत्वा रजोमलं पुरा कृतं,
भास्वरामतुला गतिं गतः ॥१५॥
इति ब्रवीमि ।

१५—इस लोक में गुरु की सतत सेवा कर[३०], जिनमत-निपुण[३१] (आगम-निपुण) और अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल[३२] मुनि पहले किए हुए रज और मल को[३३] कम्पित कर प्रकाशयुक्त अनुपम गति को प्राप्त होता है ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ६ (तृतीय उद्देशक)

श्लोक १ :

१. अभिप्राय की आराधना करता है (छन्दमाराहयइ [घ]) :

छन्द का अर्थ है इच्छा। विनीत शिष्य केवल गुरु का कहा हुआ काम ही नहीं, किन्तु उनके निरीक्षण और संकेत को समझ कर स्वयं समयोचित कार्य कर लेता है। शीतकाल की ऋतु है। आचार्य ने वस्त्र की ओर देखा। शिष्य समझ गया। आचार्य को शीत लग रहा है, वस्त्र की आवश्यकता है। उसने वस्त्र लिया और आचार्य को दे दिया—यह 'आलोकित' को समझ कर छन्द की आराधना का प्रकार है[1]।

आचार्य को कफ का प्रकोप हो रहा है। औषध की अपेक्षा है। उन्होने कुछ भी नही कहा फिर भी शिष्य उनका इङ्गित—मन का भाव बताने वाली अङ्ग-चेष्टा देखकर सूंठ ला देता है। वह इङ्गित के द्वारा छन्द की आराधना का प्रकार है[2]। आलोकित और इङ्गित से जैसे अभिप्राय जाना जाता है, वैसे और-और साधनों से भी जाना जा सकता है। कहा भी है

इङ्गिताकारितैश्चैव, क्रियाभिर्भाषितेन च।
नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ अ० चू० ॥

इङ्गित, आकार, क्रिया, भाषण, नेत्र और मुँह का विकार—इनके द्वारा आन्तरिक चेष्टाएँ जानी जाती हैं।

श्लोक २ :

२. आचार के लिए (आयारमट्ठा [ग])

ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्र और वीर्य—ये पाँच आचार कहलाते हैं। विनय इन्हीं की प्राप्ति के लिए करना चाहिए[3]। यह परमार्थ का उपदेश है। ऐहिक या पारलौकिक पूजा, प्रतिष्ठा आदि के लिए विनय करना परमार्थ नही है।

श्लोक ३ :

३. अल्पवयस्क (डहरा [ख]) :

'डहर' और 'दहर' एक ही शब्द हैं। वेदान्तसूत्र में 'दहर' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसका अर्थ ब्रह्म है (इसके लिए १.३.१४ से १.३.२३ तक का प्रकरण द्रष्टव्य है)। छान्दोग्य उपनिषद् में भी 'दहर' शब्द प्रयुक्त हुआ है[4]।

शाङ्करभाष्य के अनुसार उसका अर्थ अल्प—लघु है[5]।

१—हा० टी० प० २४२ यथा शीते पतति प्रावरणावलोकने तदानयने।

२—हा० टी० प० २४२ : इङ्गिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्याद्यानयनेन।

३—जि० चू० पृ० ३१८ : पंचविधस्स णाणाइआयारस्स अट्ठाए साधु आयरियस्स विणयं पउंजेज्जा।

४—छान्दो० ८.१.१ : यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

५—वही शा० भाष्य : दहरमल्पं पुण्डरीकं पुण्डरीकसदृशं वेश्मेव वेश्म द्वारपालादिमत्त्वात्। 'दहर' अर्थात् छोटा-सा कमल-सदृश गृह है—द्वारपालादि से युक्त होने के कारण जो गृह के समान गृह है।

४. दीक्षा-काल में ज्येष्ठ (परियायजेट्ठा ख) :

ज्येष्ठ या स्थविर तीन प्रकार के होते हैं :

(१) जाति-स्थविर—जो जन्म से ज्येष्ठ होते हैं।
(२) श्रुत-स्थविर—जो ज्ञान से ज्येष्ठ होते हैं।
(३) पर्याय-स्थविर—जो दीक्षा-काल से ज्येष्ठ होते हैं।

यहाँ इन तीनों में से 'पर्याय ज्येष्ठ' की विशेषता बतलाई गई है[१]। जो जाति और श्रुत से ज्येष्ठ न होने पर भी पर्याय से ज्येष्ठ हो उसके प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए।

५. जो गुरु के समीप रहने वाला है (ओवायवं घ) :

आगम-टीकाओं में 'ओवाय' के संस्कृत रूप 'उपपात और अवपात' दोनों दिए जाते हैं। उपपात का अर्थ है समीप व आज्ञा और अवपात का अर्थ है वन्दन, सेवा आदि। अगस्त्य चूर्णि में 'ओवायव' का अर्थ 'आचार्य का आज्ञाकारी' किया है[२]। जिनदास चूर्णि में भी 'ओवाय' का अर्थ आज्ञा—निर्देश किया है[३]। टीकाकार ने 'ओवायव' के दो अर्थ किए हैं—वन्दनशील या समीपवर्ती[४]। 'अव' को 'ओ' होता है परन्तु 'उप' को प्राकृत व्याकरण में 'ओ' नहीं होता। आर्ष प्रयोगों में 'उप' को 'ओ' किया जाता है, जैसे—उपवास=ओवास (पउमचरिय ४२, ८६)।

वन्दनशील के अतिरिक्त 'समीपवर्ती या आज्ञाकारी' अर्थ 'उपपात' शब्द को ध्यान में रखकर ही किए गए हैं। 'ओवायव' से अगला शब्द 'वक्ककर' है। इसका अर्थ है—गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला[५]। इसलिए 'ओवायवं' का अर्थ 'वन्दनशील' और 'समीपवर्ती' अधिक उपयुक्त है। जिनदास महत्तर ने 'आज्ञायुक्त वचन करने वाला'—इस प्रकार संयुक्त अर्थ किया है। परन्तु 'ओवायव' शब्द स्वतन्त्र है, इसलिए उसका अर्थ स्वतंत्र किया जाए यह अधिक संगत है।

श्लोक ४ :

६. जीवन-यापन के लिए (जवणट्ठया ख) :

संयम-भार को वहन करने वाले शरीर को धारण करने के लिए—यह अगस्त्यसिंह स्थविर और टीकाकार की व्याख्या है[६]। जिनदास महत्तर इसी व्याख्या को कुछ और स्पष्ट करते हैं, जैसे—यात्रा के लिए गाड़ी के पहिए में तेल चुपड़ा जाता है, वैसे ही संयम-यात्रा को निभाने के लिए भोजन करना चाहिए[७]।

१—अ० चू० : जातिसुत थेर भूमीहितो परियागथेरे भूमि मुक्करिस्सतेहिं विसेसिज्जति डहरावि जो वयसा परियाय जेट्ठा पव्वज्जा महेल्ला।

२—अ० चू० : आयरिअ आणाकारी ओवायवं।

३—जि० चू० पृ० ३१६ : उवातो नाम आणानिद्देसो।

४—हा० टी० प० २५३ : 'अवपातवान्' वन्दनशीलो निकटवर्त्ती वा।

५—हा० टी० प० २५३ : 'वाक्यकरो' गुरुनिर्देशकरणशील:।

६—(क) अ० चू० : संजम भारव्वह सरीरधारणत्थं जवणट्ठता।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'यापनार्थं' संयमभरोद्वाहिशरीरपालनाय नान्यथा।

७—जि० चू० पृ० ३१६ : 'जवणट्ठया' णाम जहा सगडस्स अब्भंगो जत्तत्थं कीरइ, तहा संजमजत्तानिव्वहणत्थं आहारेयव्वंति।

७. अपना परिचय न देते हुए…उञ्छ (भिक्षा) की (अन्नायउञ्छं क):

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'अज्ञात' और 'उञ्छ' की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न स्थलों में इस प्रकार की हैं—जो मित्र, स्वजन आदि न हो वह 'अज्ञात' कहलाता है[1]। पूर्व-संस्तव—मातृ-पितृपक्षीय परिचय और पश्चात्-संस्तव—ससुरपक्षीय परिचय के बिना प्राप्त भैक्ष्य 'अज्ञात-उञ्छ' कहलाता है[2]। उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित जो भैक्ष्य उपलब्ध हो वह 'अज्ञात-उञ्छ' है[3]। 'अज्ञात-उञ्छ' की ८.२३ में भी यही व्याख्या है[4]। उक्त व्याख्याओं के आधार पर 'अज्ञात-उञ्छ' के फलितार्थ दो हैं :

१. अज्ञात घर का उञ्छ।

२. अज्ञात—अपना परिचय दिए बिना प्राप्त उञ्छ।

जिनदास महत्तर के अनुसार भी 'अज्ञात उञ्छ' के ये दोनों अर्थ फलित होते हैं[5]। टीकाकार 'अज्ञात' को केवल मुनि का ही विशेषण मानते हैं[6]। शीलाङ्काचार्य ने 'अज्ञातपिण्ड' का अर्थ अन्त-प्रान्त और पूर्वापर अपरिचितों का पिण्ड किया है[7]। उत्तराध्ययन की वृत्ति में 'अज्ञातैषी' का अर्थ अपने विशेष गुणों का परिचय न देकर गवेषणा करने वाला किया है[8]। प्रश्नव्याकरण में शुद्ध उञ्छ की गवेषणा के प्रकरण में 'अज्ञात' शब्द भिक्षु के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है[9]। यहाँ 'अज्ञात' मुनि का विशेषण है। इसका अर्थ यह है कि मुनि अपना परिचय दिए बिना शुद्ध उञ्छ की गवेषणा करे।

अनुसन्धान के लिए देखिए दशवैकालिक ८.२३।

८. विलखा…होता (परिदेवएज्जा ग):

भिक्षा न मिलने पर विलखा होना——"मैं मन्दभाग्य हूँ, यह देश अच्छा नहीं है"—इस प्रकार विलाप या खेद करना[10]।

९. श्लाघा………करता (विकत्थयई घ):

भिक्षा मिलने पर "मैं भाग्यशाली हूँ या यह देश अच्छा है"—इस प्रकार श्लाघा करना[11]।

१—अ० चू० ९.३.४ : अज्ञात जं न मित्तसयणादि।

२—अ० चू० चूलिका २.५ : तमेव समुदाणं पुव्वपच्छा संथवादीहिं ण उप्पादियमिति……अन्नातउंछं।

३—अ० चू० १०.१६ : 'उग्गमुप्पायणेसणा सुद्धं अन्नायमन्नातेण समुप्पादितं……अन्नातउंछं।

४—अ० चू० : भावुंछं 'अन्नातमेसणा सुद्धमुपपातियं'।

५—जि० चू० पृ० ३१६ : भावुंछं अन्नायेण, तमन्नाय उंछं चरति।

६—हा० टी० प० २५३ : 'अज्ञातोञ्छं' परिचयाकरणेनाज्ञातः सन् भावोञ्छं गृहस्थोद्धरितादि।

७—सूत्र० १.७.२७ वृ० : अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञातपिण्डः अन्तप्रान्त इत्यर्थः, अज्ञातेभ्यो वा-पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातपिण्डः।

८—उत्त० १५.१ बृ० वृ० : अज्ञातः तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगतः एषयते ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी।

९—प्रश्न० संवरद्वार १.४ : चउत्थं आहारएसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं अण्णाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे……।

१०—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : परिदेवइज्जा, जहाऽहं मंदभागो न लभामि, अहो पावो एस जणो, एवमादि।

(ख) हा० टी० प० २५३ : परिदेवेत खेदं यायात्, यथा—मन्दभाग्योऽहमशोभनो वाऽयं देश इति।

११—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : तत्थ विकत्थणा णाम सलाघा भण्णति, जह अहो एसो सुगहियणामो जणो, जहा वा अहं लभामि, को अन्नो एवं लभिहिति।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'विकत्थते' श्लाघां करोति—सपुण्योऽहं शोभनो वाऽयं देश इति।

श्लोक ५ :

१०. जिसकी इच्छा अल्प होती है, जो आवश्यकता से अधिक नहीं लेता (अप्पिच्छया ख) :

अल्पेच्छता का तात्पर्य है—प्राप्त होने वाले पदार्थों में मूर्च्छा न करना और आवश्यकता से अधिक न लेना[1]।

श्लोक ६ :

११. श्लोक ६ :

पुरुष धन आदि की आशा से लोहमय कांटों को सहन कर लेता है—यहाँ सूत्रकार ने एक प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है। चूर्णिकार उसे इस भाषा में प्रस्तुत करते हैं—

कई व्यक्ति तीर्थ-स्थान में धन की आशा से भाले की नोक या बबूल आदि के कांटों पर बैठ या सो जाते थे। उधर जाने वाले व्यक्ति उनकी दयनीय दशा से द्रवित हो कहते "उठो, उठो जो तुम चाहोगे वही तुम्हें देंगे।" इतना कहने पर वे उठ खड़े होते[2]।

१२. कानों में पैठते हुए (कण्णसरे घ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—'कानों में प्रवेश करने वाले अथवा कानों के लिए बाण जैसे तीखे'[3]। जिनदास और टीकाकार ने इसका केवल एक (प्रथम) अर्थ ही किया है[4]।

श्लोक ७ :

१३. सहजतया निकाले जा सकते हैं (सुउद्धरा ख) :

जो बिना कष्ट के निकाला जा सके और मरहमपट्टी कर व्रण को ठीक किया जा सके—यह 'सुउद्धर' का तात्पर्यार्थ है[5]।

१४. वैर की परम्परा को बढ़ाने वाले (वेराणुबंधीणि घ) :

अनुबन्ध का अर्थ सातत्य, निरन्तरता है। कटुवाणी से वैर आगे से आगे बढ़ता जाता है, इसलिए उसे वैरानुबन्धी कहा है[6]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२० : अप्पिच्छया णाम णो मुच्छं करेइ, ण वा अत्तिरित्ताण गिण्हइ।

(ख) हा० टी० प. २५३ : 'अल्पेच्छता' अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताग्रहणं वा।

२—(क) अ० चू० : सक्कणीया सक्का सहितु मरिसेतु, लाभो आसा, ताए कटगा बब्बूल पभीतीण जधा केति तित्थादित्याणेसु लोभेण अयस्स मम्हे धम्ममुद्दिस्स कोति उत्थावेहितित्ति कंटक सयण मा जहा तताए धणासाए सक्का सहितु तधा गतो मतावपहरण चिनेस्सा संगामादिसु सामियाण पुरतो धणासाए चेव।

(ख) जि० चू० पृ० ३२० : जहा कोयि लोहमयकटया पत्थरेऊण सयमेव उच्छहमाणा ण पराभियोगेण तेसि लोहकंटगाणं उवरिं णुविसंति, ते य अण्णे पासित्ता किवापरिगयचेतसा अहो वरागा एते अत्थहेउं इम आवइं पतत्ति मन्नति जहा उट्ठेह उट्ठेहनि, ज मग्गह तं भे पयच्छामो, तओ तिक्खकंटाणिभिन्नसरीरा उट्ठेंनि।

३—अ० चू० : कण्ण सरंति पावति कण्णसरा अधवा सरीरस्स दु स्सह मायुधं सरो तहा ते कण्णस्स एव कण्णसरा।

४—(क) जि० चू० पृ० ३१६ : कन्न सरतीति कन्नसरा, कन्न पविसंतीति वुत्त भवइ।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'कर्णसरान्' कर्णगामिनः।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२० : सुहं च उद्धरिज्जंति, वणपरिकम्मणादीहि य उवाएहि रुज्झविज्जंति।

(ख) हा० टी० प० २५३ : 'सूद्धराः' सुखेनैवोद्ध्रियन्ते व्रणपरिकर्म च क्रियते।

६—हा० टी० प० २५३ : तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति।

श्लोक ८

१५. जो शूर व्यक्तियों में अग्रणी (परमग्गसूरे ग) :

स्थानाङ्ग सूत्र (४.३ ३१७) में चार प्रकार के शूर बतलाए हैं :

(१) युद्ध-शूर, (२) तपस्या-शूर, (३) दान-शूर और (४) धर्म-शूर।

इन सब मे धर्म-शूर (धार्मिक श्रद्धा से कष्टों को सहन करने वाला) परमाग्र-शूर होता है[1]। अग्र का एक अर्थ लक्ष्य भी है[2]। परम (मोक्ष) के लक्ष्य में जो शूर होता है, वह 'परमाग्र-शूर' कहलाता है।

श्लोक ६ :

१६. विरोधी (पडिणीयं ख) :

प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी, अपमानजनक या आपत्तिजनक[3]।

१७. निश्चयकारिणी (ओहारिणिं ग):

देखिए ७ ५४ की टिप्पणी सख्या ८३ पृष्ठ ३६८।

श्लोक १० :

१८. जो रसलोलुप नहीं होता (अलोलुए क) :

इसका अर्थ है—'आहार आदि में लुब्ध न होने वाला'—स्वदेह में अप्रतिबद्ध रहने वाला[4]।

१६. (अक्कुहए क) :

देखिए १० २० की 'कुहक' शब्द की टिप्पणी।

२०. जो चुगली नहीं करता (अपिसुणे ख) :

अपिशुन अर्थात् मिले हुए मनों को न फाड़ने वाला, चुगली न करने वाला[5]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२१ : परमग्गसूरे णाम जुद्धसूर-तवसूर दाणसूरादीण सूराण सो धम्मसद्धाए सहमाणो परमग्गसूरो भवइ, सव्वसूराण पाहण्णयाए उवरि वट्टइत्ति वुत्त भवति।

(ख) हा० टी० प० २४४ · 'परमाग्रशूरो' दानसग्रामशूरापेक्षया प्रधान शूर·।

२—A Sanskrit English Dictionary P. 6.

३—हा० टी० प० २४४ : 'प्रत्यनीकाम्' अपकारिणीं चौरस्त्वमित्यादिरूपाम्।

४—(क) अ० चू० : आहारदेहादिए अपडिबद्धे अलोलुए।

(ख) जि० चू० पृ० ३२१ · उक्कोसेसु आहारादिसु अलुद्धो भवइ, अहवा जो अप्पणोवि देहे अप्पडिबद्धो सो अलोलुओ भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २४४ : 'अलोलुप' आहारादिष्वलुब्ध।

५—(क) अ० चू० · अभेदकारए।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२ : 'अपिसुणे' णाम नो मनोपीतिभेदकारए।

(ग) हा० टी० प० २४४ · 'अपिशुनश्चापि' नो भेदकर्त्ता।

२१. जो दीन-भाव से याचना नहीं करता (अदीणवित्ती ख) :

अनिष्ट की प्राप्ति और इष्ट की अप्राप्ति होने पर जो दीन न हो, जो दीन-भाव से याचना न करे, उसे अदीन-वृत्ति कहा जाता है[1]।

२२. जो दूसरों से आत्म-श्लाघा······करवाता (भावए ग) :

'भाव' धातु का अर्थ है—वासित करना, चिन्तन करना, पर्यालोचन करना। 'नो भावए नो वि य भावियप्पा'—इसका शाब्दिक अर्थ है—न दूसरों को अकुशल भावना से भावित—वासित करे और न स्वय अकुशल भावना से भावित हो। 'जो दूसरों से आत्म-श्लाघा नहीं करवाता और जो स्वय भी आत्म-श्लाघा नहीं करता'—यह इसका उदाहरणात्मक भावानुवाद है[2]।

'भावितात्मा' मुनि का एक विशेषण भी है। जिसकी आत्मा धर्म-भावना से भावित होती है, उसे 'भावितात्मा' कहा जाता है। यहाँ भावित का अभिप्राय दूसरा है। प्रकारान्तर से इस चरण का अर्थ—नो भापयेद् नो अपि च भापितात्मा—न दूसरों को डराए और न स्वयं दूसरों से डरे—भी किया जा सकता है।

२३. जो कुतूहल नहीं करता (अकोउहल्ले घ) :

कुतूहल का अर्थ है—उत्सुकता, किसी वस्तु या व्यक्ति को देखने की उत्कट इच्छा, क्रीडा। जो उत्सुकता नहीं रखता, क्रीड़ा नहीं करता अथवा नट-नर्तक आदि के करतबों को देखने की इच्छा नहीं करता, वह अकुतूहल होता है[3]।

श्लोक ११ :

२४. असाधुओं के गुणों को छोड़ (मुंचऽसाहू ख) :

यहाँ 'असाहू' शब्द के अकार का लोप किया गया है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ समान की दीर्घता न कर कितत (कृतान्त—कृतो अन्तो येन) की तरह 'पररुप' ही रखा है[4]। जिनदास महत्तर ने ग्रन्थ-लाघव के लिए अकार का लोप किया है—ऐसा माना है[5]। टीकाकार ने 'प्राकृतशैली' के अनुसार 'अकार' का लोप माना है[6]। यहाँ गुण शब्द का अध्याहार होता है—मुंचासाधुगुणा अर्थात् असाधु के गुणों को छोड़[7]।

१—(क) अ० चू० आहारोवहिमादीसु विरूवेसु लब्भमाणेसु अलब्भमाणेसु ण दीण वत्तए अदीणवित्ती।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२ : अदीणवित्ती नाम आहारोवहिमाइसु अलब्भमाणेसु णो दीणभाव गच्छइ, तेसु लद्धेसुवि अदीणभावो भवइत्ति।

२—(क) अ० चू० : परत्थेण अण्णतित्थियेण वा मए लोगमज्झे गुणमत भाविज्जासित्ति एवं णो भावये देतेसि या कचि अप्पणा णो भावये। अहमेव गुण इति अप्पणा वि ण भावितप्पा।

(ख) जि० चू० पृ० ३२२।

(ग) हा० टी० प० २५४।

३—(क) जि० चू० पृ० ३२२ : तहा नडनट्टगादिसु णो कुटहल करेइ।

(ख) हा० टी० प० २५४ : अकौतुकश्च सदा नटनर्त्तकादिषु।

४—अ० चू० : एत्थ ण समाणदीर्घता किंतु पररूवं कततं वदिति।

५—जि० चू० पृ० ३२२ : गंथलाघवत्थमकारलोप काऊण एवं पढिज्जइ जहा मुंचऽसाधुत्ति।

६—हा० टी० प० २५४।

७—अ० चू० : मुंचासाधु गुणा इति वयण सेसो।

श्लोक १२ :

२५. जो लज्जित नहीं करता, उनकी निन्दा नहीं करता (हीलए······खिंसएज्जा ग) :

अगस्त्यसिंह ने किसी को उसके दुश्चरित्र की स्मृति कराकर लज्जित करने को हीलना और बार-बार लज्जित करने को खिंसना माना है[1]। जिनदास महत्तर ने—दूसरों को लज्जित करने के लिए अनीश्वर को ईश्वर और दुष्ट को भद्र कहना हीलना है—ऐसा माना है और खिंसना के पाँच कारण माने हैं :

(१) जाति से, यथा—तुम म्लेच्छ जाति के हो।

(२) कुल से, यथा—तुम जार से उत्पन्न हुए हो।

(३) कर्म से, यथा—तुम मूर्खों से सेवनीय हो।

(४) शिल्प से, यथा—तुम चमार हो।

(५) व्याधि से, यथा—तुम कोढ़ी हो।

आगे चलकर हीलना और खिंसना का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

दुर्वचन से किसी व्यक्ति को एक बार लज्जित करना 'हीलना' और बार-बार लज्जित करना 'खिंसना' है, अथवा अतिपरुष वचन कहना 'हीलना' और सुनिष्ठुर वचन कहना 'खिंसना' है[2]।

टीकाकार ने ईर्ष्या या अनीर्ष्या से एक बार किसी को 'दुष्ट' कहना हीलना और बार बार कहना खिंसना—ऐसा माना है[3]।

श्लोक १३ :

२६. श्लोक १३ :

अगस्त्य चूर्णि[4] और टीका[5] के अनुसार 'तवस्सी, 'जइंदिए, सच्चरए'—ये 'पूज्य' के विशेषण हैं और जिनदास चूर्णि के अनुसार ये आचार्य—आचार्य के विशेषण हैं[6]। अनुवाद में हमने इस अभिमत का अनुसरण किया है। पूर्वोक्त अभिमत के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—'जो तपस्वी है, जो जितेन्द्रिय है, जो सत्यरत है।'

२७. (सच्चरए घ) :

सच्चरत अर्थात् संयम में रत। देखिए, पूर्वोक्त टिप्पणी के पादटिप्पण सं० ४६।

१—अ० चू० : पुव्वदुच्चरितादि लज्जावण हीलग, अबाढणाति किलेसण खिंसण।

२—जि० चू० पृ० ३२३ : तत्थ हीलणा जहा सूया'अणीसर ईसरं भणइ, दुट्ठ भद्दग भणइ, एवमादि, खिंसीद असूयाइ जाइतो कुलओ कम्माओ सिप्पओ वाहिओ वा भवति, जाइओ जहा तुम मच्छजाइजातो, कुलओ जहा तुम जारजाओ, कम्मओ जहा तुम जडेहि भयणिज्जो, सिप्पओ जहा तुम सो चम्मगारो, वाहिओ जहा तुम सो कोढिओ, अहवा हीलणाखिंसणाण इमो विसेसो—हीलणा नाम एक्कवार दुव्वयणियस्स भवइ, पुणो २ खिंसणा भवइ।

३—हा० टी० प० २४९ : सूयया असूयया वा सकृद्दुष्टाभिधानं हीलनं, तदेवासकृत्खिंसनमिति।

४—अ० चू० : बारस विहे तवोम्मि तवस्सी, जितसोतादिइंदिए, सच्च सजमो तमि जधा भणित विणयसचकरणे वा रते सच्चरते स एव पुज्जो भवति।

५—हा० टी० प० २४९ : तपस्वी सन् जितेन्द्रियः सत्यरत इति, प्राधान्यख्यापनार्थं विशेषणद्वयम्।

६—जि० चू० पृ० ३२३ : तवस्सी णाम तवो बारसविधो सो जेसिं आयरियाण अत्थि ते तवस्सिणो, जिइंदिए णाम जियाणि सोयाईणि इंदियाणि जेहिं ते जिइंदिया, सच्च पुण भणियं जहा वक्कसुद्धीए तमि रओ सच्चरओ।

श्लोक १४ :

२८. मन, वाणी और शरीर से गुप्त (तिगुत्तो [ग]) :

गुप्ति का अर्थ है—गोपन, संवरण। वे तीन हैं :

(१) मन-गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति[1]।

इन तीनों से जो युक्त होता है, वह 'त्रिगुप्त' कहलाता है[2]।

२९. क्रोध, मान, माया और लोभ को दूर करता है (चउक्कसायावगए [घ]) :

कषाय की जानकारी के लिए देखिए ८.३६-३९।

श्लोक १५ :

३०. सेवा कर (पडियरिय [क]) :

प्रतिचर्य अर्थात् विधिपूर्वक आराधना करके, शुश्रूषा करके, भक्ति करके[3]।

३१. जिनमत-निपुण (जिणमयनिउणे [ख]) :

जो आगम में प्रवीण होता है, उसे 'जिनमत-निपुण' कहा जाता है[4]।

३२. अभिगम (विनय-प्रतिपत्ति) में कुशल (अभिगमकुसले [ख]) :

अभिगम का अर्थ है अतिथि—साधुओं का आदर-सम्मान व भक्ति करना। इस कार्य में जो दक्ष होता है, वह 'अभिगम-कुशल' कहलाता है[5]।

३३. रज और मल को (रयमलं [ग]) :

आश्रव-काल में कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट तथा निकाचित काल से 'मल' कहलाता है[6]। यह अगस्त्यसिंह स्थविर की व्याख्या है। कहीं कहीं 'रज' का अर्थ आश्रव द्वारा आकृष्ट होने वाले 'कर्म' और 'मल' का अर्थ आश्रव किया है।

१—उत्त० २४ १९-२५।

२—हा० टी० प० २५५ : 'त्रिगुप्तो' मनोगुप्त्यादिमान्।

३—(क) अ० चू० : जधा जोगं सुस्सूसिऊण पडियरिय।

(ख) जि० चू० पृ० ३२४ : जिणोवदट्ठेण विणएण आराहेऊण।

(ग) हा० टी० प० २५५ : 'परिचर्य' विधिना आराध्य।

४—हा० टी० प० २५५ : 'जिनमतनिपुण' आगमे प्रवीणः।

५—(क) जि० चू० पृ० ३२४ : अभिगमो नाम साधूणमायरियाण जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तमि कुसले।

(ख) हा० टी० प० २५५ : 'अभिगमकुशलो' लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्ष।

६—अ० चू० : आश्रवकाले रयो बद्धपुट्ठनिकाइय कम्मं मलो।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(चउत्थो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(चतुर्थ उद्देशक)

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (चउत्थो उद्देसो) : विनय-समाधि (चतुर्थ उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं—इह खलु[2] थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० १	श्रुतं मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्, इह खलु स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥१॥	आयुष्मन्! मैंने सुना है उस भगवान् ने इस प्रकार कहा—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[1] स्थविर[3] भगवान् ने विनय-समाधि[4] के चार स्थानों का प्रज्ञापन किया है।
कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता। सू० २	कतराणि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि ॥२॥	वे विनय-समाधि के चार स्थान कौन से हैं? जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है।
इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता तंजहा— (१) विणयसमाही (२) सुयसमाही (३) तवसमाही (४) आयारसमाही।	इमानि खलु तानि स्थविरैर्भगवद्भिश्चत्वारि विनय-समाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा—(१) विनय-समाधिः, (२) श्रुत समाधिः, (३) तपः समाधिः, (४) आचार समाधिः।	वे विनय-समाधि के चार प्रकार ये हैं, जिनका स्थविर भगवान् ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि।
१—[5]विणए सुए अ तवे आयारे निच्चं पंडिया। अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया। सू० ३	विनये श्रुते च तपसि, आचारे नित्यं पण्डिताः। अभिरामयन्त्यात्मानं, ये भवन्ति जितेन्द्रियाः ॥१॥	१—जो जितेन्द्रिय होते हैं वे पण्डित पुरुष अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार में लीन किए रहते हैं[6]।
चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ तंजहा—(१) अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ (२) सम्मं संपडिवज्जइ (३) वेयमाराहयइ (४) न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थं पयं भवइ। भवइ य इत्थ सिलोगो—	चतुर्विधः खलु विनय-समाधिर्भवति। तद्यथा—(१) अनुशास्यमानः शुश्रूषते, (२) सम्यक् सम्प्रतिपद्यते, (३) वेदमाराधयति, (४) न च भवति सम्प्रगृहीतात्मा,—चतुर्थं पदं भवति। भवति चाऽत्र श्लोकः—	विनय-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे— (१) शिष्य आचार्य के अनुशासन को सुनना चाहता है[7]। (२) अनुशासन को सम्यग् रूप से स्वीकार करता है। (३) वेद (ज्ञान)[8] की आराधना करता है[9] अथवा (अनुशासन अनुकूल आचरण कर आचार्य की वाणी को सफल बनाता है)।

(४) आत्मोत्कर्ष (गर्व) नहीं करता[10]—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (विनय समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है —

२—पेहेइ हियाणुसासणं
सुस्सूसइ तं च पुणो अहिट्ठए ।
न य माणमएण मज्जइ
विणयसमाही आययट्ठिए[15] ॥
सू० ४

स्पृहयति हितानुशासन,
शुश्रूषते तच्च पुनरधितिष्ठति ।
न च मान-मदेन माद्यति,
विनयसमाधावायतार्थिकः ॥२॥

मोक्षार्थी मुनि[11] (१) हितानुशासन की अभिलाषा करता है[12]—सुनना चाहता है।

(२) शुश्रूषा करता है—अनुशासन को सम्यग् रूप से ग्रहण करता है।

(३) अनुशासन के अनुकूल आचरण करता है[13]।

(४) मैं विनय-समाधि में कुशल हूँ—इस प्रकार गर्व के उन्माद से[14] उन्मत्त नहीं होता।

चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ तंजहा—(१) सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (२) एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (३) अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ (४) ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ। चउत्थं पयं भवइ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खलु श्रुतसमाधिर्भवति। तद्यथा —(१) श्रुत मे भविष्यतीत्यध्येतव्य भवति, (२) एकाग्रचित्तो भविष्यामीत्यध्येतव्यं भवति, (३) आत्मान स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्यं भवति, (४) स्थितः पर स्थापयिष्यामीत्यध्येतव्य भवति,—चतुर्थं पद भवति।

भवति चाऽत्र श्लोकः —

श्रुत समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) 'मुझे श्रुत[15] प्राप्त होगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

(२) 'मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

(३) 'मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

(४) 'मैं धर्म में स्थित होकर दूसरों को उसमें स्थापित करूँगा', इसलिए अध्ययन करना चाहिए। यह चतुर्थपद है और यहाँ (श्रुत-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

३—नाणमेगग्गचित्तो य
ठिओ ठावयई परं ।
सुयाणि य अहिज्जित्ता
रओ सुयसमाहिए ॥
सू० ५

ज्ञानमेकाग्रचित्तश्च,
स्थितः स्थापयति परम् ।
श्रुतानि चाधीत्य,
रतः श्रुतसमाधौ ॥३॥

अध्ययन के द्वारा ज्ञान होता है, चित्त की एकाग्रता होती है, धर्म में स्थित होता है और दूसरों को स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत का अध्ययन कर श्रुत समाधि में रत हो जाता है।

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ तंजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा, (४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खलु तपः समाधिर्भवति। तद्यथा (१) नो इहलोकार्थं तपोधितिष्ठेत, (२) नो परलोकार्थं तपोधितिष्ठेत्, (३) नो कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थं तपोधितिष्ठेत्, (४)नान्यत्र निर्जरार्थात् तपोधितिष्ठेत् चतुर्थं पद भवति।

भवति चाऽत्र श्लोकः —

तप-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे—

(१) इहलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक के निमित्त[17] तप नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक[18] के लिए तप नहीं करना चाहिए।

(४) निर्जरा के[19] अतिरिक्त[20] अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ पद है और यहाँ (तप समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है —

४—विविहगुणतवोरए य निच्चं
भवइ निरासए[21] निज्जरट्ठिए।
तवसा धुणइ पुराणपावगं
जुत्तो सया तवसमाहिए॥
सू० ६

विविधगुणतपोरतश्च नित्यं,
भवति निराशकः निर्जरार्थिकः।
तपसा धुनोति पुराण-पापकं,
युक्तः सदा तपः-समाधिना ॥४॥

सदा विविध गुण वाले तप में रत रहने वाला मुनि पौद्‌गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होता है। वह केवल निर्जरा का अर्थी होता है, तप के द्वारा पुराने कर्मों का विनाश करता है और तप-समाधि में सदा युक्त हो जाता है।

चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ तंजहा—(१) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (२) नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, (३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा (४) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा। चउत्थं पयं भवइ।

भवइ य इत्थ सिलोगो—

चतुर्विधः खल्वाचारसमाधिर्भवति। तद्यथा—(१) नो इहलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (२) नो परलोकार्थमाचारमधितिष्ठेत, (३) नो कीर्तिवर्णशब्दश्लोकार्थमाचारमधितिष्ठेत्, (४) नान्यत्रार्हतेभ्यो हेतुभ्य आचारमधितिष्ठेत्, चतुर्थं पदं भवति।

भवति चाऽत्र श्लोकः—

आचार-समाधि के चार प्रकार हैं, जैसे-

(१) इहलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के निमित्त आचार का पालन नहीं करना चाहिए

४—आर्हत-हेतु के[22] अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से आचार का पालन नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थपद है और यहाँ (आचार-समाधि के प्रकरण में) एक श्लोक है—

५—जिणवयणरए अतिंतिणे
पडिपुण्णाययमाययट्ठिए।
आयारसमाहिसंवुडे
भवइ य दंते भावसंधए[26]॥
सू० ७

जिनवचनरतोऽतिन्तिणः,
प्रतिपूर्ण आयतमायतार्थिकः।
आचारसमाधिसंवृतः,
भवति च दान्तो भावसन्धकः ॥५॥

५—जो जिनवचन[23] मे रत होता है, जो वकवास नहीं करता, जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है[24], जो अत्यन्त मोक्षार्थी होता है, वह आचार-समाधि के द्वारा संवृत्त होकर इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला[25] तथा मोक्ष को निकट करने वाला होता है।

६—अभिगम चउरो समाहिओ
सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउलहियसुहावहं पुणो
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो॥

अभिगम्य चतुरः समाधीन्,
सुविशुद्धः सुसमाहितात्मकः।
विपुलहितसुखावहं पुनः,
करोति स पदं क्षेममात्मनः ॥६॥

६—जो समाधियों को जानकर[27] सुविशुद्ध और सुसमाहित-चित्त वाला होता है, वह अपने लिए विपुल हितकर और सुखकर मोक्ष स्थान को प्राप्त करता है।

७—जाइमरणाओ मुच्चई
इत्थंथं च चयइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए॥
त्ति बेमि।

जातिमरणात् मुच्यते,
इत्थस्थं च त्यजति सर्वशः।
सिद्धो वा भवति शाश्वतः,
देवो वाऽल्परजा महर्द्धिकः ॥७॥

इति ब्रवीमि।

७—वह जन्म-मरण से[28] मुक्त होता है, नरक आदि अवस्थाओं को[29] पूर्णतः त्याग देता है। इस प्रकार वह या तो शाश्वत सिद्ध होता है अथवा अल्प कर्म वाला[30] महर्द्धिक देव[31] होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ६ (चतुर्थ उद्देशक) :

सूत्र १ :

१. इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (इह) :

'इह' शब्द के द्वारा दो अर्थ गृहीत किए गए —(१) निर्ग्रन्थ-प्रवचन में और (२) इस लोक में—इस क्षेत्र में[1]।

२. (खलु) :

यहाँ 'खलु' शब्द से अतीत और अनागत स्थविरों का ग्रहण किया गया है[2]।

३. स्थविर (थेरेहिं) :

यहाँ स्थविर का अर्थ गणधर किया है[3]।

४. समाधि (समाही) :

समाधि शब्द अनेकार्थक है। टीकाकार ने यहाँ उसका अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है[4]। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए समाधि के चार रूप बतलाए गए हैं। अगस्त्यसिंह ने समारोपण और गुणों के समाधान (स्थिरीकरण या स्थापन) को समाधि कहा है। उनके अनुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि कहा जाता है[5]।

सूत्र ३ :

५. (विणए सुए अ तवे······) :

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस श्लोक से पूर्व गद्य-भाग में चार समाधियों का नामोल्लेख हो चुका है तो फिर उसकी पुनरावृत्ति क्यों की गई? अगस्त्यसिंह स्थविर एवं जिनदास महत्तर इस शंका का निरसन करते हुए कहते हैं कि उद्दिष्ट अर्थ की स्फुट

१—(क) जि० चू० पृ० ३२५ : इहत्ति नाम इह सासणे।
(ख) अ० चू० : इहेति इहलोगे सासणे वा।
(ग) हा० टी० प० २४५ : इह क्षेत्रे प्रवचने वा।

२—(क) अ० चू० : खलु सद्दो अतीताणागत थेराण वि एव पण्णवणा विसेसणत्थ।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : खलुसद्दो·········विसेसयति।
(ग) हा० टी० प० २४५ : खलुशब्दो विशेषणार्थं न केवलमत्र किं त्वन्यत्राप्यन्यतीर्थकृत्प्रवचनेष्वपि।

३—(क) अ० चू० : थेरा पुण गणधरा।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : थेरग्गहणेन गणहराण गहण कय।
(ग) हा० टी० प० २४५ : 'स्थविरैः' गणधरैः।

४—हा० टी० प० २४६ : समाधानं समाधिः—परमार्थत आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यम्।

५—अ० चू० : जं विणय समारोवण विणएण वा जं गुणाण समाधाणं एस विणय समाधी भवतीति।

अभिव्यक्ति के लिए श्लोक दिया जाता है[1]। इस अभिमत की पुष्टि के लिए वे पूर्वज आचार्यों के अभिमत का भी उल्लेख करते हैं। जो अर्थ गद्य में कहकर पुनः श्लोक में कहा जाता है, वह व्यक्ति के अर्थ-निश्चय (स्फुट अर्थ-निश्चय) में सहायक होता है और दुरूह स्थलों को सुगम बना देता है[2]।

६. लीन किए रहते हैं (अभिरामयंति) :

'अभिराम' का यहाँ अर्थ है जोतना, योजित करना[3], विनय आदि गुणों में लगाना[4], लीन करना।

सूत्र ४ :

७. सुनना चाहता है (सुस्सूसइ) :

'शुश्रूष्' धातु का यहाँ अर्थ है—सम्यक् रूप से ग्रहण करना[5]। इसका दूसरा अर्थ है—सुनने की इच्छा करना या सेवा करना।

८. (ज्ञान) की (वेयं) :

वेद का अर्थ है ज्ञान[6]।

९. आराधना करता है (आराहयइ) :

आराधना का अर्थ है—ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना[7]।

१०. आत्मोत्कर्ष······नहीं करता (अत्तसंपग्गहिए) :

जिसकी आत्मा गर्व से सप्रगृहीत (अभिमान से अवलिप्त) हो, उसे सप्रगृहीतात्मा (आत्मोत्कर्ष करने वाला) कहा जाता है। मैं विनीत हूँ, यथोक्त कार्यकारी हूँ—ऐसा सोचना आत्मोत्कर्ष है[8]।

१—(क) अ० चू० : उद्दिट्ठस्स अत्थस्स फुडीकरणत्थ सुभणणत्थ सिलोग बंधो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : तेसिं चेव अत्थाण फुडीकरणणिमित्त अविकप्पणानिमित्त च।

२—(क) अ० चू० : गद्येनोक्तः पुन. श्लोके, योऽर्थः समनुगीयते।
स व्यक्तिव्यवसायार्थं, दुरुक्तग्रहणाय च॥
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : "यदुक्तो यः (ऽत्र) पुनः श्लोकैरर्थस्समनुगीयते।

३—जि० चू० पृ० ३२५ : अप्पाण जोतति त्ति।

४—हा० टी० प० २५६ : 'अभिरमयन्ति' अनेकार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते।

५—(क) अ० चू० : सुस्सूसतीय परमेणादरेण आयरि ओवज्झाए।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : आयरियउवज्झायादओ य आदरेण हिओवदेसगत्तिकाऊण सुस्सूसइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ : 'शुश्रूषती' त्यनेकार्थत्वाद्यथाविषयमवबुध्यते।

६—(क) अ० चू० : विदति जेण अत्थिविसेसे जमि वा भणिते विदति सो वेदो तं पुण नाणमेव।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : वेदो—नाण भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ : वेद्यतेऽनेनेति वेदः—श्रुतज्ञानम्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : तत्थ ज जहा भणितं तहेव कुव्वमाणो तमायरइत्ति।
(ख) हा० टी० प० २५६ : आराधयति······यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति।

८—(क) अ० चू० : सपग्गहितो गव्वेण जस्स अप्पासो अत्तसंपग्गहितो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : अत्तुक्करिसं करेइत्ति, जहा विणीयो जहुत्तकारी य एवमादि।

टिप्पणियाँ : अध्ययन ६ (चतुर्थ उद्देशक) :

सूत्र १ :

१. इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (इह) :

'इह' शब्द के द्वारा दो अर्थ गृहीत किए गए—(१) निर्ग्रन्थ-प्रवचन में और (२) इस लोक में—इस क्षेत्र में[१]।

२. (खलु) :

यहाँ 'खलु' शब्द से अतीत और अनागत स्थविरों का ग्रहण किया गया है[२]।

३. स्थविर (थेरेहिं) :

यहाँ स्थविर का अर्थ गणधर किया है[३]।

४. समाधि (समाही) :

समाधि शब्द अनेकार्थक है। टीकाकार ने यहाँ उसका अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है[४]। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए समाधि के चार रूप बतलाए गए हैं। अगस्त्यसिंह ने समारोपण और गुणों के समाधान (स्थिरीकरण या स्थापन) को समाधि कहा है। उनके अनुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणों के समाधान को विनय-समाधि, श्रुत-समाधि, तप-समाधि और आचार-समाधि कहा जाता है[५]।

सूत्र २ :

१. (विणए सुए अ तवे······) :

यहाँ यह शंका हो सकती है कि इस श्लोक से पूर्व गद्य-भाग में चार समाधियों का नामोल्लेख हो चुका है तो फिर उसकी पुनरावृत्ति क्यों की गई ? अगस्त्यसिंह स्थविर एवं जिनदास महत्तर इस शंका का निरसन करते हुए कहते हैं कि उद्दिष्ट अर्थ की स्फुट

१—(क) जि० चू० पृ० ३२५ : इहति नाम इह सासणे ।

(ख) अ० चू० : इहेति इहल्लोगे सासणे वा ।

(ग) हा० टी० प० २५५ : इह क्षेत्रे प्रवचने वा ।

२—(क) अ० चू० : खलु सद्दो अतीतागागत थेराण वि एव पण्णवणा विसेसणत्थ ।

(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : खलुसद्दो······ विसेसयति ।

(ग) हा० टी० प० २५५ : खलुशब्दो विशेषणार्थः न केवलमत्र किं त्वन्यत्राप्यन्यतीर्थकृत्प्रवचनेष्वपि ।

३—(क) अ० चू० : थेरा पुण गणधरा ।

(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : थेरगहणेण गणहराण गहणं कयं ।

(ग) हा० टी० प० २५५ : 'स्थविरैः' गणधरैः ।

४—हा० टी० प० २५६ : समाधानं समाधिः—परमार्थत आत्मनो हितं सुखं स्वास्थ्यम् ।

५—अ० चू० : जं विणय समारोवणं विणयेण वा जं गुणाण समाधाणं एस विणय समाधी भवतीति ।

अभिव्यक्ति के लिए श्लोक दिया जाता है[1]। इस अभिमत की पुष्टि के लिए वे पूर्वज आचार्यों के अभिमत का भी उल्लेख करते हैं। जो अर्थ गद्य में कहकर पुनः श्लोक में कहा जाता है, वह व्यक्ति के अर्थ-निश्चय (स्फुट अर्थ-निश्चय) में सहायक होता है और दुरूह स्थलों को सुगम बना देता है[2]।

६. लीन किए रहते हैं (अभिरामयंति) :

'अभिराम' का यहाँ अर्थ है जोतना, योजित करना[3], विनय आदि गुणों में लगाना[4], लीन करना।

सूत्र ४ :

७. सुनना चाहता है (सुस्सूसइ) :

'शुश्रूष्' धातु का यहाँ अर्थ है—सम्यक् रूप से ग्रहण करना[5]। इसका दूसरा अर्थ है—सुनने की इच्छा करना या सेवा करना।

८. (ज्ञान) को (वेयं) :

वेद का अर्थ है ज्ञान[6]।

९. आराधना करता है (आराहयइ) :

आराधना का अर्थ है—ज्ञान के अनुकूल क्रिया करना[7]।

१०. आत्मोत्कर्ष......नहीं करता (अत्तसंपग्गहिए) :

जिसकी आत्मा गर्व से सम्प्रगृहीत (अभिमान से अवलिप्त) हो, उसे सम्प्रगृहीतात्मा (आत्मोत्कर्ष करने वाला) कहा जाता है। मैं विनीत हूँ, यथोक्त कार्यकारी हूँ—ऐसा सोचना आत्मोत्कर्ष है[8]।

१—(क) अ० चू० : उद्दिट्ठस्स अत्थस्स फुडीकरणत्थ छभणणत्थं सिलोग बंधो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : तेसिं चेव अत्थाण फुडीकरणणिमित्त अविकप्पणानिमित्तं च।

२—(क) अ० चू० : गद्येनोक्तः पुन. श्लोके, योऽर्थः समनुगीयते।
स व्यक्तिव्यवसायार्थं, दुरुक्तग्रहणाय च॥
(ख) जि० चू० पृ० ३२५ : "यदुक्तो य. (ऽत्र) पुनः श्लोकैरर्थस्समनुगीयते।

३—जि० चू० पृ० ३२५ : अप्पाणं जोतति त्ति।

४—हा० टी० प० २५६ : 'अभिरमयन्ति' अनेकार्थत्वादाभिमुख्येन विनयादिषु युञ्जते।

५—(क) अ० चू० : छस्सूसतीय परमेणादरेण आयरि ओवज्भाए।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : आयरियउवज्भायादओ य आदरेण हिओवदेसगत्तिकाऊण छस्सूसइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ : 'शुश्रूषती' त्यनेकार्थत्वाद्यथाविषयमवबुध्यते।

६—(क) अ० चू० : विंदति जेण अत्थिविसेसे जमि वा भणिते विंदति सो वेदो तं पुण नाणमेव।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : वेदो—नाण भण्णइ।
(ग) हा० टी० प० २५६ : वेद्यतेऽनेनेति वेदः—श्रुतज्ञानम्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३२६ : तत्थ जं जहा भणित तहेव कुव्वमाणो तमायरइत्ति।
(ख) हा० टी० प० २५६ : आराधयति.....यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति।

८—(क) अ० चू० : सपग्गहितो गव्वेण जस्स अप्पासो अत्तसपग्गहितो।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : अत्तुक्करिस करेइत्ति, जहा विणीयो जहुत्तकारी य एवमादि।

११. मोक्षार्थी मुनि (आययट्ठिए) :

आयतार्थी—मोक्षार्थी[1]। इसका दूसरा अर्थ है भविष्यकालीन सुख का इच्छुक[2]।

१२. अभिलाषा करता है (पेहेइ) :

इसके संस्कृत रूप तीन होते हैं :

१. प्र+ईक्ष=प्रेक्षते—देखना
२. प्र+ईह=प्रेहते
३. स्पृह्—स्पृहयति—प्रार्थना करना, इच्छा करना, चाहना[3]।

१३. आचरण करता है (अहिट्ठए) :

अनुशासन के अनुकूल आचरण करना[4]।

१४. गर्व के उन्माद से (माणमएण) :

मान का अर्थ गर्व और मद का अर्थ उन्माद है[5]। टीका में मद का अर्थ गर्व किया है[6]।

१५. (विणयसमाही आययट्ठिए) :

इस चरण में विनय-समाधि और आयतार्थिक—इन दोनों का समास है। विनय-समाधि में आयतार्थिक है—इसका विग्रह इस प्रकार किया है[7]।

सूत्र ५ :

१६. श्रुत (सुयं) :

गणिपिटक[8]।

१—(क) अ० चू० : विणयसमाधिमतेण विणयसमाधीए आतयमट्ठाण विप्पकरिसतो मोक्खो तेण तमि वा अत्थी आययत्थी सएव आययत्थिक'।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : आयओ मोक्खो भण्णइ, त आयय कखयतीति आययट्ठए।
२—अ० चू० : अहवा आयती आगामीकालो तमि एहत्थी आययत्थी।
३—(क) अ० चू० : पत्थयति पीहेति।
(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : पेहतित्ति वा पेच्छतित्ति वा एगट्ठा।
(ग) हा० टी० प० २५६ : 'प्रार्थयते हितानुशासनम्' इच्छति।
४—(क) अ० चू० : जधा भणितं करेति।
(ख) जि० चू० पृ० ३२७ : अहिट्ठेति नाम अहिट्ठयतित्ति वा आयरइत्ति वा एगट्ठा।
(ग) हा० टी० प० २५६ : अधितिष्ठति—यथावत् करोति।
५—अ० चू० : अप्पाणं अप्पमाण मण्णमाणो माण एव मतो माणमतो।
६—हा० टी० प० २५६ : मानगर्वेण।
७—(क) हा० टी० प० २५६ : 'विनयसमाधौ' विनयसमाधिविषये 'आयतार्थिको' मोक्षार्थी।
(ख) अ० चू० : विणय समाधीए वा वट्टइ आयतेण अत्थी विणयसमाधी आययट्ठिए।
८—(क) जि० चू० पृ० ३२७ : दुवालसगं गणिपिडग।
(ख) हा० टी० प० २५७ : आचारादि द्वादशाङ्गम्।

सूत्र ६ :

१७. इहलोक के निमित्त···परलोक के निमित्त (इहलोगट्ठयाए···परलोगट्ठयाए) :

उत्तराध्ययन में कहा है—धर्म करने वाला इहलोक और परलोक दोनों की आराधना कर लेता है और यहाँ बतलाया है कि इहलोक और परलोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। इनमें कुछ विरोधाभास जैसा लगता है। पर इसी सूत्र के श्लोकगत 'निरासए' शब्द की ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो इनमें कोई विरोध नहीं दीखता। इहलोक और परलोक के लिए जो तप का निषेध है उसका सम्बन्ध पौद्गलिक सुख की आशा से है। तप करने वाले को निराश (पौद्गलिक सुखरूप प्रतिफल की कामना से रहित होकर) तप करना चाहिए। तपस्या का उद्देश्य ऐहिक या पारलौकिक भौतिक सुख-समृद्धि नहीं होना चाहिए। जो प्रतिफल की कामना किए बिना तप करता है उसका इहलोक भी पवित्र होता है और परलोक भी। इस तरह वह दोनों लोकों की आराधना कर लेता है[१]।

१८. कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (कित्तिवण्णसद्दसिलोग) :

अगस्त्यसिंह स्थविर इन चार शब्दों के अलग-अलग अर्थ करते हैं[२]

कीर्ति—दूसरों के द्वारा गुणकीर्तन।

वर्ण—लोकव्यापी यश।

शब्द—लोक-प्रसिद्धि।

श्लोक—ख्याति।

हरिभद्र के अर्थ इनसे भिन्न हैं। सर्व दिग्व्यापी प्रशंसा कीर्ति, एक दिग्व्यापी प्रशंसा वर्ण, अर्द्ध दिग्व्यापी प्रशंसा शब्द और स्थानीय प्रशंसा श्लोक[३]।

जिनदास महत्तर ने चारों शब्दों को एकार्थक माना है[४]।

१९. निर्जरा के (निज्जरट्ठयाए) :

निर्जरा नव-तत्त्वों में एक तत्त्व है। मोक्ष के ये दो साधन हैं—संवर और निर्जरा। संवर के द्वारा अनागत कर्म-परमाणुओं का निरोध और निर्जरा के द्वारा पूर्व-संचित कर्म-परमाणुओं का विनाश होता है। कर्म-परमाणुओं के विनाश और उससे निष्पन्न आत्म-शुद्धि—इन दोनों को निर्जरा कहा जाता है[५]। भगवान् ने कहा—'केवल आत्म-शुद्धि के लिए तप करना चाहिए।' यह वचन उन सब मतवादों के साथ अपनी असहमति प्रगट करता है जो स्वर्ग या ऐहिक एवं पारलौकिक सुख-सुविधा के लिए धर्म करने का विधान करते थे, जैसे—'स्व कामोऽग्नि यथा यजेत्' आदि।

२०. अतिरिक्त (अन्नत्थ) :

अतिरिक्त, छोड़कर, वर्जकर[६]। देखिए अ० ४ सू० ८ का टिप्पण।

१—उत्त० ८.२० : इह एस धम्मे अक्खाए, कविलेण च विसुद्धपन्नेण।
तरिहिंति जे उ काहिंति, तेहिं आराहिया दुवे लोग॥

२—अ० चू० : परेहिं गुणससद्दण कित्ती, लोकव्यापी जसोवण्णो, लोके विदितया सद्दो, परेहिं पूर (य) ण सिलोगो।

३—हा० टी० प० २४७ : सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्त्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लाघा।

४—जि० चू० पृ० ३२८ : कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठया एगट्ठा।

५—जैन० सि० ५.१३,१४।

६—जि० चू० पृ० ३२८ : अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ।

२१. (निरासए) :

पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित[1]।

सूत्र ७ :

२२. आर्हत-हेतु के (आरहंतेहिं हेऊहिं) :

आर्हत-हेतु—अर्हन्तों के द्वारा मोक्ष-साधना के लिए उपदिष्ट या आचीर्ण हेतु। वे दो हैं—संवर और निर्जरा[2]।

२३. जिनवचन (जिणवयण) :

इसका अर्थ जिनमत या आगम है[3]।

२४. जो सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण होता है (पडिपुण्णाययं) :

अगस्त्यसिंह ने इसका अर्थ 'पूर्ण भविष्यत्काल' किया है[4]।
जिनदास और हरिभद्र ने 'पडिपुण्ण' का अर्थ सूत्रार्थ से प्रतिपूर्ण और 'आयय' का अर्थ 'अत्यन्त' किया है[5]।

२५. इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला (दंते) :

इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय का दमन करने वाला 'दान्त' कहलाता है[6]।

२६. (भावसंधए) :

मोक्ष को निकट करने वाला[7]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३२८ : निग्गता आसा अप्पसत्था जस्स सो निरासए।
(ख) हा० टी० प० २५७ : 'निराशो' निष्प्रत्याशः इहलोकादिषु।
२—(क) अ० चू० : जे अरहंतेहिं अणासवत्तकम्मनिज्जरणादयो गुणा भणिता आयिण्णा वा ते आरहतिया हेतवो कारणाणि।
(ख) जि० चू० पृ० ३२८ : जे आरहंतेहिं अणासवत्तणकम्मणिज्जरणमादि मोक्खहेतवो भणिता आचिन्ना वा ते आरहतिए हेऊ।
(ग) हा० टी० प० २५८ : 'आर्हतैः' अर्हत्सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभिः।
३—(क) अ० चू० : जिणाण वयणं जिणवयणं मतं।
(ख) हा० टी० प० २५८ : 'जिनवचनरतः' आगमे सक्तः।
४—अ० चू० : पडिपुण्णं आयतं आगामिकालं सव्वं आगामिणं कालं पडिपुण्णायतं।
५—(क) जि० चू० पृ० ३२९ : पडिपुन्नं नाम पडिपुन्नंति वा निरवसेसंति वा एगट्ठा, सुत्तत्थेहिं पडिपुण्णो, आययं अच्चत्थं।
(ख) हा० टी० प० २५८ : प्रतिपूर्णं सूत्रादिना, आयतम्—अत्यन्तम्।
६—(क) अ० चू० : इन्दिए नोइन्दिए दमेण दंते।
(ख) जि० चू० पृ० ३२९ : दंते दुविहे—इंदिएहिं य नोइंदिएहिं य।
(ग) हा० टी० प० २५८ : दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्याम्।
७—(क) जि० चू० पृ० ३२९ : भावो मोक्खो तं सुपसत्थेण सह संधए।
(ख) हा० टी० प० २५८ : 'भावसंधकः' भावो—मोक्षस्तत्संधक आत्मनो मोक्षासन्नकारी।

श्लोक ६ :

२७. जानकर (अभिगम) :

टीका के अनुसार यह पूर्वकालिक क्रिया का रूप है[१]। 'अभिगम्य' के 'य' का लोप होने पर 'अभिगम्म' ऐसा होना चाहिए। किन्तु प्राप्त सभी प्रतियों में 'अभिगम' ऐसा पाठ मिलता है। इसलिए लिखित आधार के अभाव में इसी को स्थान दिया गया है।

श्लोक ७ :

२८. जन्म-मरण से (जाइमरणाओ) :

अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसके दो अर्थ किए हैं—जन्म-मृत्यु और ससार[२]। जिनदास और हरिभद्र ने जाति-मरण का अर्थ ससार किया है[३]।

२९. नरक आदि अवस्थाओं को (इत्थंथं) :

इत्थ का अर्थ है—इस प्रकार। जो इस प्रकार स्थित हो—जिसके लिए 'यह ऐसा है'—इस प्रकार का व्यपदेश किया जाए उसे 'इत्थस्थ' कहा जाता है। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—ये चार गतियाँ, शरीर, वर्ण, संस्थान आदि जीवों के व्यपदेश के हेतु हैं। इत्थस्थ को त्याग देता है अर्थात् उक्त हेतुओं के द्वारा होने वाले अमुक-अमुक प्रकार के निश्चित रूपों को त्याग देता है[४]। अगस्त्य चूर्णि में 'इत्थत्त' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है—इस प्रकार की अवस्था का भाव[५]।

३०. अल्प कर्म वाला (अप्परए) :

इसका संस्कृत रूप है—'अल्परजा.' और इसका अर्थ है—थोडे कर्म वाला[६]। टीकाकार ने इसका सस्कृत रूप 'अल्परतः' देकर इसका अर्थ 'अल्प आसक्ति वाला' किया है[७]।

३१. महर्द्धिक देव (महिड्ढिए) :

महान् ऋद्धि वाला, अनुत्तर आदि विमानों में उत्पन्न[८]।

१—हा० टी० प० २५८ : 'अभिगम्य' विज्ञायासेव्य च।

२—अ० चू० जाती सामुप्पत्ती, देहपरिच्चागो मरण अहवा जातीमरणं ससारो।

३—(क) जि० चू० पृ० ३२६ · जातीमरण ससारो।

(ख) हा० टी० प० २५८ : 'जातिमरणात्' ससारात्।

४—(क) हा० टी० प० २५८ : इद प्रकारमापन्नमित्थम् इत्थं स्थितमित्थस्थ नारकादिव्यपदेशबीज वर्णसंस्थानादि।

(ख) जि० चू० पृ० ३२६ : 'इत्थत्थं' णाम जेण भण्णइ एस नरो वा तिरिओ मणुस्सो देवो वा एवमादि।

५—अ० चू० : अय प्रकार इत्थ—तस्स भावो इत्थत्त।

६—(क) अ० चू० · अप्परते अप्पकम्म् मावसेसे।

(ख) जि० चू० पृ० ३२६ · थोवावसेसेहु कम्मत्तणेण।

७—हा० टी० प० २५८ : 'अल्परत ' कण्डूपरिगतकण्डूयनकल्परतरहित।

८—हा० टी० प० २५८ : 'महर्द्धिक '—अनुत्तरवैमानिकादि।

दसमज्झयणं

स-भिक्खु

दशम अध्ययन

सभिक्षु



आमुख

सदृश वेष और रूप के कारण मूलत: भिन्न-भिन्न वस्तुओं की संज्ञा एक पड़ जाती है।

जात्य-सोने और यौगिक-सोने—दोनों का रंग सदृश (पीला) होने से दोनों 'सुवर्ण' कहे जाते हैं।

जिसकी आजीविका केवल भिक्षा हो वह 'भिक्षु' कहलाता है। सच्चा साधु भी भिक्षा कर खाता है और ढोंगी साधु भी भिक्षा कर खाता है, इससे दोनों की संज्ञा 'भिक्षु' बन जाती है।

पर असली सोना जैसे अपने गुणों से कृत्रिम सोने से सदा पृथक् होता है, वैसे ही सद्-भिक्षु असद्-भिक्षु से अपने गुणों के कारण सदा पृथक् होता है।

कसौटी पर कसे जाने पर जो खरा उतरता है, वह सुवर्ण होता है। जिसमें सोने की युक्ति—रंग आदि तो होते हैं पर जो कसौटी पर अन्य गुणों से खरा नहीं उतरता, वह सोना नहीं कहलाता।

जैसे नाम और रूप से यौगिक-सोना सोना नहीं होता, वैसे ही केवल नाम और वेष से कोई सच्चा भिक्षु नहीं होता। गुणों से ही सोना होता है और गुणों से ही भिक्षु। विष की घात करने वाला, रसायन, मांगलिक, विनयी, लचीला, भारी, न जलने वाला, काट रहित और दक्षिणावर्त्त—इन गुणों से उपेत सोना होता है।

जो कष, छेद, ताप और ताडन—इन चार परीक्षाओं में विषघाती आदि गुणों से संयुक्त ठहरता है, वह भाव-सुवर्ण—असली सुवर्ण है और अन्य द्रव्य-सुवर्ण—नाम मात्र का सुवर्ण।

संवेग, निर्वेद, विवेक (विषय-त्याग), सुशील-संसर्ग, आराधना, तप, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विनय, क्षांति, मार्दव, आर्जव, अदीनता, तितिक्षा, आवश्यक-शुद्धि—ये सच्चे भिक्षु के लिङ्ग हैं।

जो इनमें खरा ठहरता है, वही सच्चा भिक्षु है। जो केवल भिक्षा मांगकर खाता है पर अन्य गुणों से रहित है, वह सच्चा भिक्षु नहीं होता। वर्ण से जात्य-सुवर्ण के सदृश होने पर भी अन्य गुण न होने से जैसे यौगिक-सोना सोना नहीं ठहरता।

सोने का वर्ण होने पर भी जात्य-सुवर्ण वही है जो गुण-संयुक्त हो। भिक्षाशील होने पर भी सच्चा भिक्षु वही है जो इस अध्ययन में वर्णित गुणों से संयुक्त हो।

भिक्षु का एक निरुक्त है—जो भेदन करे वह 'भिक्षु'। इस अर्थ से जो कुल्हाडा ले वृक्ष का छेदन-भेदन करता है वह भी भिक्षु कहलाएगा। पर ऐसा भिक्षु द्रव्य-भिक्षु (नाम मात्र से भिक्षु) होगा। भाव-भिक्षु (वास्तविक भिक्षु) तो वह होगा जो तपरूपी कुल्हाडे से संयुक्त हो। वैसे ही जो याचक तो है पर अविरत है—वह भाव-भिक्षु नहीं द्रव्य-भिक्षु है।

जो भीख मांगकर तो खाता है पर सदार और आरंभी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर मिथ्या-दृष्टि है, त्रस-स्थावर जीवों का नित्य वध करने में रत है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर संचय करने वाला है, परिग्रह में मन, वचन, काया और कृत, कारित अनुमोदन रूप से निरत—आसक्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर सचित्त-भोजी है, स्वयं पकाने वाला है, उद्दिष्ट-भोजी है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

जो मांगकर तो खाता है पर तीन करण तीन योग से आत्म, पर और उभय के लिए सावद्य प्रवृत्ति करता है तथा अर्थ-अनर्थ पाप में प्रवृत्त है वह भाव-भिक्षु नहीं, द्रव्य-भिक्षु है।

प्रश्न है फिर भाव-भिक्षु (सद्-भिक्षु) कौन है ?

उत्तर है—जो आगमत उपयुक्त और भिक्षु के गुणों को जानकर उनका पालन करता है, वही भाव-भिक्षु है।

वे गुण कौन से हैं ? इस अध्ययन में इसी प्रश्न का उत्तर है।

इस अध्ययन का नाम 'स-भिक्षु' या 'सद्-भिक्षु' है[1]। यह प्रस्तुत सूत्र का उपसंहार है। पूर्ववर्ती ९ अध्ययनों में वर्णित आचारनिधि का पालन करने के लिए जो भिक्षा करता है वही भिक्षु है, केवल उदर-पूर्ति करने वाला भिक्षु नहीं है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है[2]। 'स' और 'भिक्खु' इन दोनों के योग से भिक्षु शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ हो गया है। इसके अनुसार भिक्षाशील व्यक्ति भिक्षु नहीं है। किन्तु जो अहिंसक जीवन के निर्वाह के लिए भिक्षा करता है वही भिक्षु है। इससे भिखारी और भिक्षु के बीच की भेद-रेखा स्पष्ट हो जाती है। इस अध्ययन की २१ गाथाएँ हैं। सबके अन्त 'सभिक्षु' शब्द का प्रयोग है। उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें अध्ययन में भी ऐसा ही है। उसका नाम भी यही है। विषय और पदों की भी कुछ समता है। सभव है शय्यम्भवसूरि ने दसवें अध्ययन की रचना में उसे आधार माना हो।

भिक्षु-वर्ग विश्व का एक प्रभावशाली संगठन रहा है। धर्म के उत्कर्ष के साथ धार्मिकों का उत्कर्ष होता है। धार्मिकों का नेतृत्व भिक्षु-वर्ग के हाथ में रहा। इसलिए सभी आचार्यों ने भिक्षु की परिभषाएं दीं और उसके लक्षण बताए। महात्मा बुद्ध ने भिक्षु के अनेक लक्षण बतलाए हैं। 'धम्मपद' में 'भिक्खुवग्ग' के रूप में उनका संकलन भी है। उसकी एक गाथा 'स-भिक्खु' अध्ययन की १५वें श्लोक से तुलनीय है :

हत्थसञ्ञतो पादसञ्ञतो, वाचायसञ्ञतो सञ्ञतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खू ॥ (धम्म० २५ ३)
हत्थ-सजए पाय-संजए, वाय-संजए, सजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा, सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खू ॥ (दश० १० १५)

भिक्षु-चर्या की दृष्टि से इस अध्ययन की सामग्री बहुत ही अनुशीलन योग्य है। वोसट्ठचत्तदेहे (श्लोक १३), अन्नाय उंछं (श्लोक १६), पत्तेयं पुण्णपाव (श्लोक १८) आदि-आदि वाक्यांश यहाँ प्रयुक्त हुए हैं, जिनके पीछे श्रमणों का त्याग और विचार-मन्थन का इतिहास झलक रहा है।

यह नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत हुआ है[3]।

१—हैम० ८.१.११ : सद्-भिक्षु का भी प्राकृत रूप सभिक्खू बनता है। अन्त्यव्यञ्जनस्य⋯ ⋯सद्भिक्षु=सभिक्खू।

२—(क) दश० नि० ३३० जे भावा दसवेआलिअम्मि, करणिज्ज वण्णिअ जिणेहिं।
तेसि समावणमिति (मी) जो भिक्खू भन्नइ स भिक्खू ॥

(ख) दश० नि० ३४६ : जो भिक्खू गुणरहिओ भिक्खं गिण्हइ न होइ सो भिक्खू।

३—दश० नि० गा० १७

दसमज्झयणं : दशम अध्ययन

स-भिक्खु : सभिक्षु

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—निक्खम्ममाणाए[1] बुद्धवयणे निच्चं चित्तसमाहिओ हवेज्जा। इत्थीण वसं न यावि गच्छे वंतं नो पडियायई जे स भिक्खू॥	निष्क्रम्याज्ञया बुद्धवचने, नित्यं समाहितचित्तो भवेत्। स्त्रीणा वश न चापि गच्छेत्, वान्तं न प्रत्यापिबति (प्रत्यादत्ते) यः स भिक्षुः ॥१॥	१—जो तीर्थङ्कर के उपदेश से[2] निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले[3]), निर्ग्रन्थ-प्रवचन में[4] सदा समाहित-चित्त[5] (समाधि-युक्त मन वाला) होता है, जो स्त्रियो के अधीन नही होता, जो वमे हुए को वापस नही पीता[6] (त्यक्त भोगो का पुन. सेवन नहीं करता)—वह भिक्षु[7] है।
२—[8]पुढविं न खणे न खणावए सीओदगं न पिए न पियावए। अगणिसत्थं जहा सुनिसियं तं न जले न जलावए जे स भिक्खू॥	पृथ्वीं न खनेन्न खानयेत्, शीतोदकं न पिबेन्न पाययेत्। अग्निशस्त्रं यथा सुनिशितं, तन्न ज्वलेन्न ज्वलयेद्यः स भिक्षुः ॥२॥	२—जो पृथ्वी का खनन न करता है[9] और न कराता है, जो शीतोदक[10] न पीता है और न पिलाता है[11], शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण[12] अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है[13]—वह भिक्षु है।
३—अनिलेण न वीए न वीयावए हरियाणि न छिंदे न छिंदावए। बीयाणि सया विवज्जयंतो सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू॥	अनिलेन न व्यजेन्न व्यजयेत्, हरितानि न छिन्द्यान्न छेदयेत्। बीजानि सदा विवर्जयन्, सचित्तं नाहरेत् यः स भिक्षुः ॥३॥	३—जो पंखे आदि से[14] हवा न करता है और न कराता है[15], जो हरित का छेदन न करता है और न कराता है[16], जो बीजों का सदा विवर्जन करता है (उनके सस्पर्श से दूर रहता है), जो सचित्त का आहार नही करता[17]—वह भिक्षु है।
४—वहणं तसथावराण होइ पुढवितणकट्ठनिस्सियाणं। तम्हा उद्देसियं न भुंजे नो वि पए न पयावए जे स भिक्खू॥	हननं त्रसस्थावराणा भवति, पृथ्वीतृणकाष्ठनिःश्रितानाम्। तस्मादौद्देशिकं न भुञ्जीत, नो अपि पचेन्न पाचयेत् यः स भिक्षुः ॥४॥	४—भोजन बनाने में पृथ्वी, तृण और काष्ट के आश्रय में रहे हुए त्रस-स्थावर जीवो का वध होता है, अत. जो औद्देशिक[18] (अपने निमित्त बना हुआ) नहीं खाता तथा जो स्वय न पकाता है और न दूसरो से पकवाता है[19]—वह भिक्षु है।
५—रोइय नायपुत्तवयणे अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पि काए। पंच य फासे महव्वयाइं पंचासवसंवरे जे स भिक्खू	रोचयित्वा ज्ञातपुत्रवचनम्, आत्मसमान्मन्येत षडपि कायान्। पञ्च च स्पृशेन्महाव्रतानि, पंचाश्रवान् संवृणुयात् यः स भिक्षुः ॥५॥	५—जो ज्ञात-पुत्र के वचन में श्रद्धा रखकर छहो कायों (सभी जीवो) को आत्म-सम मानता है[20], जो पाँच महाव्रतों का पालन करता है[21], जो पाँच आस्रवों का सवरण करता है[22]—वह भिक्षु है।

१८—न परं वएज्जासि अयं कुसीले
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं पुण्णपावं
अत्ताणं न समुक्कसे जे स भिक्खू ॥

न परं वदेदयं कुशीलः,
येनान्यः कुप्येन्न तद् वदेत्।
ज्ञात्वा प्रत्येकं पुण्यपाप,
आत्मानं न समुत्कर्पयेद्यः स भिक्षुः॥१८॥

१८—प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं[66]—ऐसा जानकर जो दूसरे को[67] "यह कुशील (दुराचारी)[68] है" ऐसा नहीं कहता, जिससे दूसरा (सुनने वाला) कुपित हो ऐसी बात नहीं कहता, जो अपनी विशेपता पर उत्कर्प नहीं लाता (गर्व नहीं करता)—वह भिक्षु है।

१९—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते
न लाभमत्ते न सुएणमत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता
धम्मज्झाणरए जे स भिक्खू ॥

न जातिमत्तो न च रूपमत्तः,
न लाभमत्तो न श्रुतेन मत्तः।
मदान् सर्वान् विवर्ज्य,
धर्मध्यानरतो यः स भिक्षुः ॥१९॥

१९—जो जाति का मद नहीं करता, जो रूप का मद नहीं करता, जो लाभ का मद नहीं करता, जो श्रुत का मद नहीं करता, जो सव मदों को[69] वर्जता हुआ धर्म-ध्यान में रत रहता है—वह भिक्षु है।

२०—पवेयए अज्जपयं महामुणी
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि।
निक्खम्मं वज्जेज्ज कुसीललिंगं
न यावि हस्सकुहए जे स भिक्खू॥

प्रवेदयेदार्यपदं महामुनिः,
धर्मे स्थितः स्थापयति परमपि।
निष्क्रम्य वर्जयेत् कुशीललिङ्गं,
न चापि हास्यकुहको यः स भिक्षुः॥२०॥

२०—जो महामुनि आर्य (धर्मपद)[70] का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म में स्थित होकर दूसरे को भी धर्म में स्थित करता है, जो प्रव्रजित हो कुशील-लिङ्ग का[71] वर्जन करता है, जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतू-हल पूर्ण चेष्टा नहीं करता[72]—वह भिक्षु है

२१—तं देहवासं असुइं असासयं
सया चए निच्च हियट्ठियप्पा।
छिंदित्तु जाईमरणस्स वंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणागमं गइं ॥
त्ति वेमि।

तं देहवासमशुचिमशाश्वतं,
सदा त्यजेन्नित्यहितः स्थितात्मा।
छित्वा जातिमरणस्य बन्धनम्,
उपैति भिक्षुरपुनरागमा गतिम् ॥२१॥
इति ब्रवीमि।

२१—अपनी आत्मा को सदा शाश्वत-हित में सुस्थित रखने वाला भिक्षु इस अशुचि और अशाश्वत देहवास को[73] सदा के लिए त्याग देता है और वह जन्म मरण के वन्धन को छेदकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

टिप्पणियाँ : अध्ययन १०

श्लोक १ :

१. (निक्खम्ममाणाए क) :

यहाँ म्कार अलाक्षणिक है।

२. तीर्थंकर के उपदेश से (आणाए क) :

आज्ञा का अर्थ वचन, सन्देश[1], उपदेश[2] या आगम है[3]। इसका पाठान्तर 'आदाय' है। उसका अर्थ है ग्रहणकर अर्थात् तीर्थङ्करों की वाणी को स्वीकार कर[4]।

३. निष्क्रमण कर (प्रव्रज्या ले) (निक्खम्म क) :

निष्क्रम्य का भावार्थ—

अगस्त्य चूर्णि[5] में घर या आरम्भ-समारम्भ से दूर होकर, सर्वसंग का परित्याग कर किया है।

जिनदास चूर्णि[6] में गृह से या गृहस्थभाव से दूर होकर द्विपद आदि को छोड़कर किया है।

टीका[7] में द्रव्य-गृह और भाव-गृह से निकल (प्रव्रज्या ग्रहण कर) किया है।

द्रव्य-गृह का अर्थ है—घर। भाव-गृह का अर्थ है गृहस्थ-भाव—गृहस्थ-सम्बन्धी प्रपंच और सम्बन्ध। इस तरह चूर्णिकार और टीकाकार के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है। टीकाकार ने चूर्णिकार के ही अर्थ को गूढ रूप में रखा है।

४. निर्ग्रन्थ-प्रवचन में (बुद्धवयणे क) :

तत्त्वों को जानने वाला[8] अथवा जिसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ हो[9], वह व्यक्ति बुद्ध कहलाता है। जिनदास महत्तर यहाँ एक प्रश्न उपस्थित करते हैं। शिष्य ने कहा कि 'बुद्ध' शब्द से शाक्य आदि का बोध होता है। आचार्य ने कहा—यहाँ द्रव्य-बुद्ध-पुरुष (और द्रव्य-भिक्षु) का नहीं, किन्तु भाव-बुद्ध-पुरुष (और भाव-भिक्षु) का ग्रहण किया है। जो ज्ञानी कहे जाते हैं पर सम्यक् दर्शन के अभाव से जीवाजीव के भेद को नहीं जानते और पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा करते हैं, वे द्रव्य-बुद्ध (और द्रव्य-भिक्षु) हैं—नाम मात्र के बुद्ध (और

१—अ० चू० : आणा वयण सदेसो वा।

२—हा० टी० प० २६५ : 'आज्ञया' तीर्थकरगणधरोपदेशेन।

३—जि० चू० पृ० ३३८ : आणा वा आणत्ति नाम उववायोत्ति वा उवदेसोत्ति वा आगमोत्ति वा एगट्ठा।

४—जि० चू० पृ० ३३७ : अथवा निष्क्रम्य—आदाय, 'बुद्धवयण' बुद्धाः—तीर्थकराः तेषां वचनमादाय गृहीत्वेत्यर्थः।

५—अ० चू० : निक्खम्म निक्खम्मिऊण निग्गच्छिऊण गिहातो आरभातो वा।

६—जि० चू० पृ० ३३७ : निष्क्रम्य, तीर्थकरगणधराज्ञया निष्क्रम्य सर्वसंगपरित्याग कृत्वेत्यर्थः.........निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्थ भावाओ वा दुपदादीणि य चइऊण।

७—हा० टी० प० २६५ : 'निष्क्रम्य' द्रव्यभावगृहात् प्रव्रज्यां गृहीत्वेत्यर्थ।

८—देखें पृ० ५२२ पाद-टि० ३।

९—देखें पृ० ५२२ पाद-टि० २।

नाम मात्र के भिक्षु) हैं। जो पृथ्वी आदि जीवों को जानकर उनकी हिंसा का परिहार करते हैं, वे भाव-बुद्ध (और भाव-भिक्षु) कहलाते हैं अर्थात् वे ही वास्तव में बुद्ध हैं[1] (और वे ही वास्तव में भिक्षु हैं)। इसलिए यहाँ बुद्ध का अर्थ तीर्थङ्कर या गणधर है[2]। चूर्णिकार ने इस आशंका में उत्तरकालीन प्रसिद्धि को प्रधानता दी है। महात्मा गौतम बुद्ध उत्तरकाल में बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गए। जैन-साहित्य में प्राचीनकाल से ही तीर्थङ्कर या आगम-निर्माता के अर्थ में बुद्ध शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होता रहा है।

बुद्ध-प्रवचन का अर्थ द्वादशाङ्गी (गणीपिटक) है[3]। द्वादशाङ्गी और उसके आधारभूत धर्मशासन के लिए 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' शब्द आगम विश्रुत है। इसलिए हमने 'बुद्धवयणे' का अनुवाद यही किया।

५. समाहित-चित्त (चित्तसमाहिओ ख) :

जिसका चित्त सम्—अच्छी तरह से आहित—लीन होता है, उसे समाहित-चित्त कहते हैं[4]। जो चित्त से अतिप्रसन्न होता है, उसे समाहित-चित्त कहते हैं[5]। समाहित-चित्त अर्थात् चित्त की समाधि वाला—प्रसन्नता वाला।

चित्त समाधि का सबसे बड़ा विघ्न विषय की अभिलाषा है। स्पर्श, रस आदि विषयों में स्त्री-सम्बन्धी विषयेच्छा सर्वाधिक दुर्जेय है, इसलिए श्लोक के अगले दोनों चरणों में चित्त-समाधि की सबसे बड़ी व्याधि से बचने का मार्ग बताया गया है[6]।

६. जो वमे हुए को वापस नहीं पीता (वंतं नो पडियायई घ) :

इसके स्पष्टीकरण के लिए देखिए २.६,७,८ का अर्थ और टिप्पण। यह वहाँ प्रयुक्त—'नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे'। 'वंतं इच्छसि आवेउं सेयं ते मरणं भवे'—वाक्यों को याद दिलाता है।

७. भिक्षु (भिक्खू घ) :

सूत्रकृताङ्ग के अनुसार भिक्षु की व्याख्या इस प्रकार है—जो निरभिमान, विनीत, पाप-मल को धोने वाला, दान्त, बन्धन-मुक्त होने योग्य, निर्मम, नाना प्रकार के परीषह और उपसर्गों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध-चारित्र-सम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी या विवेकशील और परदत्त भोजी हो, वह भिक्षु कहलाता है[7]।

श्लोक २ :

८. श्लोक २-३ :

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा के परिहार का उपदेश चौथे, पाँचवें, छट्ठे और आठवें अध्ययन में दिया

१—जि० चू० पृ० ३३९ : आह—णणु बुद्धग्गहणेण य सक्काइणो गहणं पावइ, आयरिओ आह—न एत्थ दव्वबुद्धाण दव्वभिक्खूण य गहणं कयं, कह ते दव्वबुद्धा दव्वभिक्खुया ?, जम्हा ते सम्मद्दसणाभावेण जीवाजीवविसेसं अजाणमाणा पुढविमाई जीवे हिंसमाणा दव्वबुद्धा दव्वभिक्खू य भवंति, कहं तेहिं चित्तसमाधियत्तं भविस्सइ जे जीवाजीवविसेसं ण उवलभंति ?, जे पुढविमादि जीवे णाऊण परिहरंति ते भावबुद्धा भावभिक्खू य भन्नंति, छज्जीवनिकायजाणगो य रक्खणपरो य भावभिक्खू भवति।

२—हा० टी० प० २६६ : 'बुद्धवचने' अवगततत्त्वतीर्थकरगणधरवचने।

३—अ० चू० : बुद्धा जाणगा तेसिं वयणं—बुद्धवयणं दुवालसंगं गणिपिडगं।

४—जि० चू० पृ० ३३८ : चित्तं पसिद्धं तं सम्मं आहितं जस्स सो चित्तसमाहिओ।

५—हा० टी० प० २६५ : 'चित्तसमाहितः' चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भः।

६—अ० चू० : चित्त समाधाणं विग्घभूता विसया तत्थवि पाहण्णेण इत्थिगतत्ति भणति—इत्थीणवसं।

७—सूत्र० १.१६.३ : एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खूति वच्चे।

गया है। उसी को यहाँ दोहराया है। प्रश्न होता है एक ही आगम में इस प्रकार की पुनरुक्तियाँ क्यों? आचार्य ने उत्तर दिया—शिष्य को स्थिर मार्ग पर आरूढ करने के लिए ऐसा किया गया है, इसलिए यह पुनरुक्त दोष नहीं है।

(१) पुत्र विदेश जाता है तब पिता उसे शिक्षा देता है। कर्तव्य की विस्मृति न हो जाए, इसलिए वह अपनी शिक्षा की कई पुनरावृत्तियाँ कर देता है।

(२) सम्भ्रम या स्नेहवश पुनरुक्ति की जाती है, जैसे—साँप है—आ, आ, आ।

(३) रोगी को बार-बार औषध दिया जाता है।

(४) मन्त्र का जप तब तक किया जाता है जब तक वेदना का उपशम नहीं होता। इन सबमें पुनरावर्तन है पर उनकी उपयोगिता है, इसलिए वे पुनरुक्त नहीं माने जाते। वही पुनरावर्तन या पुनरुक्ति दोष माना जाता है जिसकी कोई उपयोगिता न हो।

लौकिक और वैदिक-साहित्य में भी अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। तात्पर्य यही है कि प्रकृत विषय की स्पष्टता, उसके समर्थन या उसे अधिक महत्त्व देने के लिए उसका उल्लेख किया जाता है, वह दोष नहीं है।

९. पृथ्वी का खनन न करता है (पुढविं न खणे [क]) :

पृथ्वी जीव है[1]। उसका खनन करना हिंसा है। जो पृथ्वी का खनन करता है, वह अन्य त्रस-स्थावर जीवों का भी वध करता है। खनन शब्द यहाँ सांकेतिक है। इसका भाव है—मन, वचन, काया से ऐसी कोई भी क्रिया न करना, न कराना और न अनुमोदन करना जिससे पृथ्वी-जीव की हिंसा हो।

देखिए—४ सू० १८; ५.१.३; ६.२७,२८,२९, ८.४,५।

१०. शीतोदक (सीओदगं [ख]) :

जो जल शस्त्र-हत नहीं होता (सजीव होता है) उसे शीतोदक कहते हैं[2]। इसी सूत्र के चौथे अध्ययन (सू० ५) में कहा है—'आऊ चित्तमतमक्खाया''''''अन्नत्थ सत्थ परिणएणं।'

११. न पीता है और न पिलाता है (न पिए न पियावए [ख]) :

पीना-पिलाना केवल सांकेतिक शब्द हैं। इनका भावार्थ है—ऐसी कोई क्रिया या कार्य नहीं करना चाहिए जिससे जल की हिंसा हो।

देखिए—४ सू० १९; ६.२९,३०,३१; ७ ३९; ८.६,७,५१,६२।

१२. शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण (सुनिसियं [ग]) :

जैसे शस्त्र की तेज धार घातक होती है, वैसे ही अग्नि छह जीवकाय की घातक है। इसलिए इसे 'सुनिशित' कहा जाता है[3]।

१—दश० ४ सू० ४ : पुढवी चित्तमतमक्खाया''' '''अन्नत्थ सत्थपरिणएणं।

२—(क) अ० चू० : सीतोदग अविगतजीव।

(ख) जि० चू० पृ० ३३९ : 'सिओदग' नाम उदग असत्थहय सजीव सीतोदग भण्णइ।

(ग) हा० टी० प० २६५ : 'शीतोदक' सचित्तं पानीयम्।

३—अ० चू० : जधाखग्गपरसछुरिगादि सत्थ मणुधार छेदग तधा समंततो दहणरूवं।

१३. न जलाता है और न जलवाता है (न जले न जलावए घ):

'जलाना' केवल सांकेतिक शब्द है। भाव यह है कि ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे अग्नि का नाश हो। देखिए—४ सू० २०, ६ ३२,३३,३४,३५ ; ८.८

श्लोक ३ :

१४. पंखे आदि से (अनिलेण क):

चूर्णिद्वय में 'अनिल' का अर्थ वायु[1] और टीका में उसका अर्थ 'अनिल' के हेतुभूत वस्त्र कोण आदि किया है[2]।

१५. हवा न करता है और न कराता है (न वीए न वीयावए क):

हवा लेना केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वायु का हनन हो। देखिए—४ सू० २१, ६ ३६,३७,३८,३९; ८ ९

१६. छेदन न करता है और न कराता है (न छिंदे न छिंदावए ख):

छेदन शब्द केवल सांकेतिक है। ऐसी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिए जिससे वनस्पतिकाय का हनन हो। देखिए—४ २२, ६.४१,४२,४३, ८.१०,११

१७. सचित्त का आहार नहीं करता (सचित्तं नाहारए घ):

जैन-दर्शन के अनुसार वनस्पतिकाय सजीव है। भगवान् ने कहा है—सुसमाहित संयमी मन, वचन, काय द्वारा तीन प्रकार से (करने, कराने और अनुमोदन रूप से) वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते। जो साधु वनस्पतिकाय की हिंसा करता है, वह तदाश्रित देखे जाते हुए और नहीं देखे जाते हुए विविध त्रस प्राणियों की भी हिंसा करता है। साधु दुर्गति को बढ़ाने वाले इस वनस्पतिकाय के समारम्भ का यावज्जीवन के लिए त्याग करे (दश० ६.४१,४२)। दश० ४ सूत्र २२ में वनस्पति की तीन करण तीन योग से विराधना न करने की व्रत-प्रज्ञप्ति दी है। दश० ८.१०,११ में कहा है—"साधु तृण-घास-वृक्षादि तथा किसी वृक्षादि के फल और मूल को न काटे तथा नाना प्रकार के सचित्त बीजों के सेवन की मन से भी इच्छा न करे। वृक्षों के कुंज में एवं गहन वन में, बीजों पर अथवा दूब आदि हरितकाय पर, उदक पर, सर्पच्छत्रा पर, पनक पर एवं लीलन-फूलन पर साधु कभी भी खड़ा न हो।"

सूत्रकृताङ्ग १ ७,८,९ में कहा है—"हरित वनस्पति सजीव है। मूल, शाखा और पत्रादि में पृथक् पृथक् जीव हैं। जो अपने सुख के लिए—आहार और देह के लिए उसका छेदन करता है, वह प्रगल्भ बहुत प्राणियों का अतिपात करता है। जो बीज का नाश करता है, वह जाति-अङ्कुर और उसकी वृद्धि का विनाश करता है, वह अनार्यधर्मी है।" इसी तरह आचाराङ्ग १ १.५ में वनस्पतिकाय के आरम्भ-त्याग का उपदेश दिया है। इस श्लोक में मुनि के लिए सचित्त वनस्पति खाने का निषेध है[3]।

जो वनस्पति सचित्त है—शस्त्रादि के प्रयोग से पूर्ण परिणत नहीं (अचित्त नहीं हुई) है उसका भक्षण साधु न करे। उसका

१—(क) अ० चू० आणिलो वायु।

(ख) जि० चू० पृ० ३४० . अनिलो वाऊ भण्णइ।

२—हा० टी० प० २६५ : 'अनिलेन' अनिलहेतुना चेलकर्णादिना।

३—जि० चू० पृ० ३४१ : सचित्तग्गहणेण सव्वस्स पत्तेयसाहारणस्स सभेदस्स वणप्फइकायस्स गहण कय, त सचित्त नो आहारेज्जा।

भक्षण करना अनाचीर्ण है। प्रश्न हो सकता है शस्त्र-परिणत अचित्त वनस्पति कहाँ मिलेगी ? इसका समाधान यह है—गृहस्थों के यहाँ नाना प्रयोजनों से कन्द, मूल, फल और बीज का स्वाभाविक रूप से छेदन-भेदन होता ही रहता है। खाने के लिए नाना प्रकार की वनस्पतियाँ छेदी-भेदी और पकाई जाती हैं। साधु ऐसी अचित्त (प्रासुक—निर्जीव) वनस्पतियाँ प्राप्त हों तो ले, अन्यथा नहीं। कहा है—'भूख से पीड़ित होने पर भी संयम-बल वाले तपस्वी साधु को चाहिए कि वह फल आदि को स्वयं न तोडे, न दूसरों से तुड़ाए, न स्वयं पकाए, न दूसरों से पकवाए[1]।'

इस विषय में बौद्धों का नियम जान लेना भी आवश्यक है। विनयपिटक में कहा है—"जो भिक्षुणी कच्चे अनाज को माँगकर या मगवाकर, भूनकर या भूनवाकर, कूटकर या कुटवाकर, पकाकर या पकवाकर, खाए उसे 'पाचित्तिय' कहा है[2]।" इसी तरह वहाँ कहा है—"जो भिक्षुणी पेशाब या पाखाने को, कूड़े या जूठे को हरियाली पर फेंके उसे 'पाचित्तिय' कहा है[3]।" इसी तरह वृक्ष काटने को 'पाचित्तिय' कहा है[4]।

एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन कलन्दक निपाप में विहार करते थे। उनके पेट में वायु की पीडा उत्पन्न हुई। आनन्द ने स्वयं तिल, तन्दुल और मूंग को माँग, आराम के भीतर ला, स्वयं पका यवागू (खिचडी) बुद्ध के सामने उपस्थित की। बुद्ध ने यवागू कहाँ से आई, यह जाना। उसकी उत्पत्ति की बात जान फटकारते हुए बोले—"आनन्द ! अनुचित है, अकरणीय है। आनन्द ! जो कुछ भीतर रखा गया है वह भी निषिद्ध है, जो कुछ भीतर पकाया गया है वह भी निषिद्ध है, जो स्वयं पकाया गया है वह भी निषिद्ध है। जो भीतर रखे, भीतर पकाए और स्वयं पकाए को खाए उसे दुक्कट का दोष हो और द्वार पर पकाए तो दोष नहीं, बाहर रखे, बाहर पकाए किन्तु दूसरों द्वारा पकाए का भोजन करे तो दोष नहीं[5]।"

एक बार राजगृह में दुर्भिक्ष पड़ा। बाहर रखने से दूसरे ले जाते थे। बुद्ध ने भीतर रखने की अनुमति दी। भीतर रखवाकर बाहर पकाने में भी ऐसी ही दिक्कत थी। बुद्ध ने भीतर पकाने की अनुमति दी। दूसरे पकाने वाले बहु भाग ले जाते थे। बुद्ध ने स्वयं पकाने की अनुमति दी। नियम हो गया—"भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ भीतर रखे, भीतर पकाए और हाथ से पकाए की[6]।"

श्लोक ४ :

१८. औद्देशिक (उद्देसियं ग) :

इसके अर्थ के लिए देखिए दश० ३.२ का अर्थ और टिप्पण।

१९. न पकाता है और न···पकवाता है (नो वि पए न पयावए घ) :

'पकाते हुए की अनुमोदना नही करता' इतना अर्थ यहाँ और जोड़ लेना चाहिए। पकाने और पकवाने में त्रस-स्थावर दोनों प्रकार के प्राणियों की हिंसा होती है अतः मन, वचन, काया से तथा कृत, कारित, अनुमोदन से पाक का वर्जन किया गया है।

श्लोक २ और ३ में स्थावर जीव (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) का खनन आदि क्रियाओं

१—उत्त० २.२।

२—भिक्खुनो पात्तिमोक्ख अ० ४.७।

३— ,, ,, ४.८।

४— ,, ,, ५.११।

५—वि० पि० म० अ० ३.८।

६—वि० पि० म० अ० ६।

द्वारा वध करने का निषेध किया गया है। श्लोक ४ में ऐसे कार्यों का निषेध आ जाता है, जिसमें त्रस-स्थावर जीवों की घात हो। त्रस जीवों के घात का वर्जन भी अनेक स्थलों पर आया है।

देखिए—४ सू० २३; ६ ४३,४४,४५।

श्लोक ५ :

२०. आत्म-सम मानता है (अत्तसमे मन्नेज्ज ख) :

जैसे दुःख मुझे अप्रिय है वैसे ही छह ही प्रकार के जीव-निकायों को अप्रिय है—जो ऐसी भावना रखता है तथा किसी जीव की हिंसा नहीं करता, वही सब जीवों को आत्मा के समान मानने वाला होता है। इसी आगम में साधु को बार-बार 'छसु संजए'—छह ही प्रकार के जीवों के प्रति संयमी रहने वाला—कहा गया है।

देखिए—४ सू० १०; ६ ८,६,१०; ७.५६; ८.२,३।

२१. पालन करता है (फासे ग) :

'स्पर्श' शब्द का व्यवहार साधारणतः 'छूने' के अर्थ में होता है। आगम-साहित्य में इसका प्रयोग पालन या आचरण के अर्थ में भी होता है[1]। यहाँ 'स्पृश्' धातु पालन या सेवन के अर्थ में व्यवहृत है[2]।

२२. पाँच आस्रवों का संवरण करता है (पंचासवसंवरे घ) :

पाँच आस्रवों की गिनती दो प्रकार से की जाती है :

१. मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

२. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

यहाँ पाँच आस्रव से स्पर्शन आदि विवक्षित हैं[3]। अगस्त्य चूर्णि में 'संवरे' पाठ है और जिनदास चूर्णि एवं टीका में वह 'संवर' के रूप में व्याख्यात है[4]।

श्लोक ६ :

२३. ध्रुवयोगी (धुवजोगी ख) :

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार जो बुद्ध (तीर्थङ्कर) के वचनानुसार मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति करने वाला हो, प्रतिलेखन आदि आवश्यक कार्यों को नियमित रूप से करने वाला हो, वह 'ध्रुवयोगी' कहलाता है। कहा भी है—जिनशासन बुद्धों के वचनरूप द्वादशाङ्गी

१—उत्त० १०.२०।

२—हा० टी० प० २६५ सेवते महाव्रतानि।

३—अ० चू० : पंचासव द्वाराणि इंदियाणि ताणि आसवा चेव ताणि संवरे।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४१ : 'पंचासवसंवरे' णाम पंचिंदियसंवुडे, जहा 'सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयं उवगएसु। तुट्ठेण व रुट्ठेण य समणेण सया न होयव्वं॥' एवं सव्वेसु भाणियव्वं।

(ख) हा० टी० प० २६५ : 'पञ्चाश्रवसंवृतश्च' द्रव्यतोऽपि पञ्चेन्द्रियसंवृतश्च।

गणीपिटक में जिसका योग (मन, वचन और काया) हो, जो पाँच प्रकार के स्वाध्याय में रत हो, जिसके धन (चतुष्पद) आदि न हों, वह 'ध्रुवयोगी' है[1]।

जिनदास महत्तर के अनुसार जो क्षण, लव और मुहूर्त में जागरूकता आदि गुणयुक्त हो, प्रतिलेखन आदि संयम के कार्य को नियमित रूप से करने वाला हो, सावधान होकर मन, वचन और काया से प्रवृत्ति करने वाला हो, बुद्ध-वचन (द्वादशाङ्गी) में निश्चल योग वाला हो, सदा श्रुत में उपयुक्त हो, वह 'ध्रुवयोगी' कहलाता है[2]।

२४. गृहियोग (गिहिजोगं [घ]) :

चूर्णियों में गृहियोग का अर्थ पचन-पाचन, क्रय-विक्रय आदि किया है[3]। हरिभद्रसूरि ने इसका अर्थ—मूर्च्छावश गृहस्थ-सम्बन्ध किया है[4]।

श्लोक ७ :

२५. सम्यक्-दर्शी (सम्मदिट्ठी [क]) :

जिसका जिन-प्रतिपादित जीव, अजीव आदि पदार्थों में सम्यग्-विश्वास होता है, उसे सम्यक्-दर्शी—सम्यक्-दृष्टि कहा जाता है[5]।

२६. अमूढ़ है (अमूढे [क]) :

मिथ्या विश्वासों में रत व्यक्तियों का वैभव देखकर मूढ भाव लाने वाला अपने दृष्टिकोण को सम्यक् नहीं रख सकता। इसलिए सम्यग्-दृष्टि बने रहने के लिए आवश्यक है कि वह अमूढ बना रहे। ज्ञान, तप और संयम हैं—यह श्रद्धा अमूढ दृष्टि के ही होती है। मूढ-दृष्टि को इस तत्त्व-त्रयी में विश्वास नहीं होता। इसलिए भिक्षु को अमूढ रहना चाहिए[6]।

२७. (अत्थि हु [ख]) :

'ज्ञान, तप और संयम जिनशासन में ही हैं, कुप्रवचनों में नहीं हैं'—इस प्रकार भिक्षु को अमूढ-दृष्टि होना चाहिए। यह जिनदास

१—अ० चू० : बुद्धा जा तेसिं वयण बुद्धवयण तम्मि जोगो कायवातमणेमत कम्म सो धुवो जोगो जस्स सो धुवजोगीति जोगेण जहा करणीयमायुत्तेण पडिलेहणादि जो जोगो तत्थ निच्चजोगिणाण पुण कदापि करेति कदापि न करेति, भणित च—

जोगो जोगो जिणसासणम्मि दुक्खक्खयवयणे।
दुवालसंगे गणिपिडए धुवजोगी पचविध सज्झायपरो॥

२—जि० चू० पृ० ३४१ : धुवजोगी णाम जो खणलवमुहुत्त पडिबुज्झमाणादिगुणजुत्तो सो धुवजोगी भवइ, अहवा जे पडिलेहणादि संजम-जोगा तेहि धुवजोगी भवेज्जा, ण ते अण्णदा कुज्जा······अहवा मणवयणकायए जोगे जुंजेमाणो आउत्तो जुंजेज्जा, अहवा बुद्धाण वयणं दुवालसंग तंमि धुवजोगी भवेज्जा, उओवउत्तो सव्वकालं भवेज्जत्ति।

३—(क) अ० चू० : गिहिजोगो—जो तेसिं वायारो पयण पयावणं त।
(ख) जि० चू० पृ० ३४२ : गिहिजोगो नाम पयणविक्कयमादि।

४—हा० टी० प० २६६ : 'गृहियोग' मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धम्।

५—अ० चू० : सब्भावं सद्दहणा लक्खणा समादिट्ठी जस्स सो सम्मदिट्ठी।

६—(क) अ० चू० : परतित्थियविभवादीहिं अमूढे।
(ख) जि० चू० पृ० ३४२ : अण्णतित्थियाण सोऊण अण्णेसिं रिद्धीओ दट्ठूण अमूढो भवेज्जा, अहवा सम्मद्दिट्ठिणा जो इदाणिं अत्थो भण्णइ तमि अत्थि सया अमूढा दिट्ठी कायव्वा।
(ग) हा० टी० प० २६६ : 'अमूढः' अविप्लुतः।

चूर्णि मे 'अत्थि हु' का अर्थ किया है[1] और टीका में—'ज्ञान, तप और सयम है' भिक्षु अमूढ़ भाव से इस प्रकार मानता है—यह किया है[2]।

२८. मन, वचन तथा काय से सुसंवृत्त (मणवयकायसुसंवुडे घ) :

अकुशल मन का निरोध अथवा कुशल मन की उदीरणा करना मन से सुसंवृत्त होना है। अकुशल वचन का निरोध और प्रशस्त वचन की उदीरणा अथवा मौन रहना वचन से सुसंवृत्त होना है। विहित नियमो के अनुसार आवश्यक शारीरिक क्रियाएँ करना—काया से अकरणीय क्रियाएँ नहीं करना—काय से सुसवृत्त होना है[3]।

श्लोक ८ :

२६. परसों (परे ग) :

इसका मूल 'परे' है। टीका मे इसका अर्थ 'परसों' किया है[4] और जिनदास चूर्णि में तीसरा, चौथा आदि दिन किया है[5]।

३०. न सन्निधि (संचय) करता है (न निहे घ) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ किया है—वासी नहीं रखता[6]। टीका में इसका अर्थ है—स्थापित कर नहीं रखता। भावार्थ है—सग्रह नहीं करता[7]।

इस श्लोक के साथ मिलाएँ :

अन्नानमथो पानानं खादनीयानमथोऽपि वत्थान।
लद्धा न सन्निधिं कयिरा, न च परित्तसे तानि अलभमानो॥ सुत्तनिपात ५२ १०।

श्लोक ६ :

३१. साधर्मिकों को (साहम्मियाण ग) :

साधर्मिक का अर्थ समान-धार्मिक साधु है[8]। साधु भोजन के लिए विषम-भोगी साधु तथा गृहस्थ को निमन्त्रित नहीं कर सकता। अपने सघ के साधुओं को—जो महाव्रत तथा अन्य नियमों की दृष्टि से समान-धर्मी हैं, उन्हें ही निमन्त्रित कर सकता है।

१—जि० चू० पृ० ३४२ : जहा अत्थि हु जोगे नाणे य, तस्स णाणस्स फल सजमे य, सजमस्स फल, ताणि य इमंमि चेव जिणवयणे सपुण्णाणि, णो अण्णेसु कुप्पावयणेसुत्ति।

२—हा० टी० प० २६६ : 'अमूढ' अविप्लुत सन्नेव मन्यते—अस्त्येव ज्ञान हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तरकर्म-मलापनयनजलकल्प सयमश्च नवकर्मानुपादानरूप।

३—जि० चू० पृ० ३४२ : मणवयणकायजोगे सुट्ठु सवुडेत्ति, कह पुण सवुडे ?, तत्थ मणेण ताव अकुसलमणणिरोध करेइ, कुसलमणोदीरण च, वायाएवि पसत्थाणि वायणपरियट्टयाईणि कुव्वइ, मोण वा आसेवई काएण सयणासणआदाणणिक्खेवणट्ठाणचक्कमणाइसु काय-चेट्टाणियन कुव्वति, सेसाणि य अकरणिज्जाणि य ण कुव्वइ।

४—हा० टी० प० २६६ : परश्व।

५—जि० चू० पृ० ३४२ : परग्गहणेण तइयचउत्थमादीण दिवसाण गहण कय।

६—जि० चू० पृ० ३४२ : 'न निहे न निहावए' णाम न परिवासिमत्तिवुत्तं भवति।

७—हा० टी० प० २६६ : 'न निधत्ते' न स्थापयति।

८—अ० चू० : साधम्मिया समाणधम्मिया साधुणो।

३२. निमन्त्रित कर (छंदिय ग) :

छद का अर्थ इच्छा है। इच्छापूर्वक निमन्त्रित कर—यह 'छंदिय' का अर्थ है[१]। इसका भावार्थ है—जो आहार आदि प्राप्त किया हो उसमें समविभाग के लिए समान-धर्मी साधुओं को निमन्त्रित करना चाहिए और यदि कोई लेना चाहे तो बाँटकर भोजन करना चाहिए[२]। इस नियम के अर्थ को समझने के लिए देखिए—५.१.६४,६५,६६ का अर्थ और टिप्पण।

श्लोक १० :

३३. कलहकारी कथा (वुग्गहियं कहं क) :

विग्रह का अर्थ कलह, युद्ध या विवाद है। जिस कथा, चर्चा या वार्ता से विग्रह उत्पन्न हो, उसे वैग्रहिकी-कथा कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार अमुक राजा, देश या और कोई ऐसा है—इस प्रकार की कथा नहीं करनी चाहिए। प्रायः ऐसा होता है कि एक व्यक्ति किसी के बारे में कुछ कहता है और दूसरा तत्काल उसका विरोध करने लग जाता है। बात ही बात में विवाद बढ़ जाता है, कलह हो जाता है[३]।

जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ कलह-प्रतिबद्ध-कथा किया है[४]। सारांश यह है कि युद्ध-सम्बन्धी और कलह या विवाद उत्पन्न करने वाली कथा नहीं करनी चाहिए। सुत्तनिपात (तुवटक-सुत्त—५.२.१६) में भिक्षु को शिक्षा देते हुए प्रायः ऐसे ही शब्द कहे गए हैं :

न च कत्थिता सिया भिक्खु, न च वाचं पयुतं भासेय्य।
'पागब्भियं' न सिक्खेय्य, कथं विग्गाहिकं न कथयेय्य॥

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ किया है—कलह की बात न करे। गुजराती अनुवाद में (पृ० २०१) अ० धर्मानन्द कोसम्बी ने अर्थ किया है—'भिक्षु को वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए।'

३४. जो कोप नहीं करता (न य कुप्पे ख) :

इसका आशय है कोई विवाद बढ़ाने वाली चर्चा छेड़े तो उसे सुन मुनि क्रोध न करे अथवा चर्चा करते हुए कोई मतवादी कुतर्क उपस्थित करे तो उसे सुन क्रोध न करे[५]।

१—(क) अ० चू० : छदो इच्छा इच्छाकारेण जोयण छदण। एवं छंदिय।
(ख) हा० टी० प० २६६ : 'छन्दित्वा' निमन्त्र्य।

२—जि० चू० पृ० ३४३ : अणुग्गहमिति मन्नमाणो धम्मयाते साहम्मियाते छदिया भुजेज्जा, छदिया णाम निमंतिऊण, जइ पडिगाहता तओ तेसिं दाऊण पच्छा सय भुजेज्जा।

३—अ० चू० : विग्गहो कलहो। तम्मि तस्स वा कारण विग्गहिता जधा अमुगो, एरिसो रायादेसो वा। एत्थ सज्ज कलहो समुपज्जति।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ : वुग्गहिया नाम कुसम (कलह) जुत्ता, त वुग्गहिय कह णो कहिज्जा।
(ख) हा० टी० प० २६६ : न च 'वैग्रहिकीं' कलहप्रतिबद्धां कथां कथयति।

५—(क) अ० चू० : जति वि परो कहेज्ज तधावि अम्हं रायाण देस वा णिं दसित्ति ण कुप्पेज्जा। वादादौ सयमवि कहेज्जा विग्गह कहं ण य पुण कुप्पेज्जा।
(ख) जि० चू० पृ० ३४३ : जयावि केणई कारणेण वादकहा जल्पकहादी कहा भवेज्जा, ताहे तं कुव्वमाणो नो कुप्पेज्जा।

३५. जिसकी इन्द्रियाँ अनुद्धत हैं (निहुइंदिए ख) :

निभृत का अर्थ विनीत है[१]। जिसकी इन्द्रियाँ विनीत हैं—उद्धत नहीं हैं, उसे निभृतेन्द्रिय कहा जाता है[२]।

३६. जो संयम में ध्रुवयोगी है (संजमधुवजोगजुत्ते ग) :

'ध्रुव' का अर्थ अवश्य करणीय[३] और सर्वदा है[४]। योग का अर्थ है—मन, वचन और काया। सयम में मन, वचन, काया—इन तीनों योगों से सदा सयुक्त रहने वाला ध्रुवयोगी कहलाता है[५]।

३७. जो उपशान्त है (उवसंते घ) :

इसका अर्थ अनाकुल, अव्याक्षिप्त[६] और काया की चपलता आदि से रहित है[७]।

३८. जो दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता (अविहेडए घ) :

विग्रह, विकथा आदि के प्रसगों में समर्थ होने पर भी जो ताड़ना आदि के द्वारा दूसरों को तिरस्कृत नहीं करता, उसे 'अविहेडक' कहा जाता है—यह चूर्णि की व्याख्या है[८]। टीका के अनुमार जो उचित के प्रति अनादर नहीं करता, उसे 'अविहेडक' कहा जाता है। क्रोध आदि का परिहार करने वाला अविहेडक कहलाता है—यह टीका में व्याख्यान्तर का उल्लेख है[९]।

श्लोक ११ :

३९. कांटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयों (गामकंटए क) :

विषय, शब्द, अस्त्र, इन्द्रिय, भूत और गुण से आगे समूह के अर्थ में ग्राम शब्द का प्रयोग होता है—यह शब्दकोश का अभिमत है[१०]। आगम के व्याख्या-ग्रन्थों में ग्राम का अर्थ इन्द्रिय किया है[११]। जो इन्द्रियों को कांटों की भांति चुभें, उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जाता है। जैसे शरीर में लगे हुए कांटे उसे पीडित करते हैं, उसी तरह अनिष्ट शब्द आदि श्रोत्र आदि इन्द्रियों में प्रविष्ट होने पर उन्हें

१—अ० चि० ३ ९५ · विनीतस्तु निभृत प्रश्रितोऽपि च।

२—हा० टी० प० २६६ : 'निभृतेन्द्रिय' अनुद्धतेन्द्रिय।

३—अ० चू० : सजमे धुवो जोगो तदवस्सकरणीयाण सजम धुवजोगो कायावायमणो-म तेण जोगेण जुत्ते सजमधुवजोगजुत्ते।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ 'धुव' नाम सव्वकाल।
(ख) हा० टी० प० २६६ : 'ध्रुव' सर्वकालम्।

५—जि० चू० पृ० ३४३ सजमधुवजोगजुत्तो भवेज्जा, सजमो पुव्वभणिओ, 'धुव' नाम सव्वकाल, जोगो मणमादि, तमि सजमे सव्वकाल तिविहेण जोगेण जुत्तो भवेज्जा।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४३ . 'उवसते' नाम अणाकुलो अव्वक्खित्तो भवेज्जत्ति।

७—हा० टी० प० २६६ 'उपशान्त' अनाकुल· कायचापलादिरहित।

८—अ० चू० : परे विग्गह विकथादि पसगेसु समत्थो वि ण तालणादिणा विहेढयति एव स अविहेडए।

९—(क) जि० चू० पृ० ३४३ · 'अविहेडए' णाम जे पर अक्कोसतप्पणादीहि न विघेडयति से अविहेडए।
(ख) हा० टी० प० २६६ · 'अविहेठक' न क्वचिदुचितेऽनादरवान्, क्रोधादीनां विश्लेषक इत्यन्ये।

१०—अ० चि० ६ ४९ . ग्रामो विषयशब्दास्त्रभूतेन्द्रियगुणाद् व्रजे।

११—(क) जि० चू० पृ० ३४३ · गामगहणेण इदियगहण कय।
(ख) हा० टी० प० २६७ ग्रामा—इन्द्रियाणि।

दुःखदायी होते हैं अतः कर्कश शब्द आदि ग्राम-कण्टक (इन्द्रिय-कण्टक) कहलाते हैं[1]। जो व्यक्ति ग्राम में काँटे के समान चुभने वाले हों, उन्हें ग्राम-कण्टक कहा जा सकता है। संभव है ग्राम-कण्टक की भाँति चुभन उत्पन्न करने वाली स्थितियों को 'ग्राम-कण्टक' कहा हो। यह शब्द उत्तराध्ययन (२.२५) में भी प्रयुक्त हुआ है :

सोच्चाणं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटगा।
तुसिणीउ उवेहेज्जा ण ताउ मणसीकरे॥

४०. आक्रोश वचनों, प्रहारों, तर्जनाओं (अक्कोसपहारतज्जणाओ [ख]) :

आक्रोश का अर्थ गाली है। चाबुक आदि से पीटना प्रहार[2] और 'कर्मों से डर साधु बना है'—इस प्रकार भर्त्सना करना तर्जना[3] कहलाता है। जिनदास चूर्णि और टीका में आक्रोश, प्रहार, तर्जना को ग्राम-कण्टक कहा है[4]।

४१. वेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासों को (भयभेरवसद्दसंपहासे [ग]) :

भय-भेरव का अर्थ अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाला है। 'अत्यन्त भयोत्पादक शब्द से युक्त सप्रहास उत्पन्न होने पर'—इस अर्थ में 'भयभेरवसद्दसपहासे' का प्रयोग हुआ है[5]। टीका में 'सप्रहास' को शब्द का विशेषण मान कर व्याख्या की है—जिस स्थान में अत्यन्त रौद्र भयजनक प्रहास सहित शब्द जहाँ हो, उस स्थान में[6]।

मिलाएँ सुत्तनिपात की निम्नलिखित गाथाओं से —

भिक्खुनो विजिगुच्छतो भजतो रित्तमासन।
रुक्खमूलं सुसानं वा पव्बतानं गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा।
येहि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने॥ (५४४-५)

४२. सहन करता है (सहइ [क]) :

आक्रोश, प्रहार, वध आदि परीषहों को साधु किस तरह सहन करे, इसके लिए देखिए—उत्तराध्ययन २.२४-२७।

श्लोक १२ :

४३. जो श्मशान में प्रतिमा को ग्रहणकर (पडिमं पडिवज्जिया मसाणे [क]) :

यहाँ प्रतिमा का अर्थ कायोत्सर्ग और अभिग्रह (प्रतिज्ञा) दोनो सभव हैं[7]। कुछ विशेष प्रतिज्ञाओं को स्वीकार कर कायोत्सर्ग

१—जि० चू० पृ० ३४३ : जहा कटगा सरीरानुगता सरीर पीडयति तथा अणिट्ठा विपयकटका सोताइंदियगामे अणुप्पविट्ठा तमेव इंदियं पीडयति।

२—हा० टी० प० २६७ . प्रहारा· कशादिभि·।

३—जि० चू० पृ० ३४३ : तज्जणाए जहा एते समणा किवणा कम्मभीता पव्वतिया एवमादि।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४३ · ते य कटगा इमे 'अक्कोसपहारतज्जणाओ।
(ख) हा० टी० प० २६७ : 'ग्रामकण्टकान्' ग्रामा—इन्द्रियाणि तद्दु खहेतव· कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह—आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति।

५—अ० चू० · पचवायो भय। रोद्द भैरवं वेतालकालिवादीण सद्दो। भयभेरव सद्देहिं समेच्च पहसणं भयभेरव सद्द सपहासो। तम्मि समुवत्थिते।

६—(क) जि० चू० पृ० ३४३-३४४ · भय पसिद्ध, भय च भेरव, न सव्वमेव भय भेरव, किन्तु ?, तत्थवि जं अतीव दारुणं भय त भेरव भण्णइ, वेतालगणादयो भयभेरवकायेण महता सद्देण जत्थ ठाणे पहसति सप्पहासे, त ठाणं भयभेरवसप्पहास भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० २६७ : 'भैरवभया' अत्यन्तरौद्रभयजनका· शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते तत्तथा तस्मिन्, वेतालादिकृतार्त्तनादाट्टहास इत्यर्थ।

७—हा० टी० प० २६७ : 'प्रतिमां' मासादिरूपाम्।

की मुद्रा में स्थित हो श्मशान में ध्यान करने की परम्परा जैन मुनियों में रही है। इसका सम्बन्ध उसी से है[१]।

श्मशानिकाङ्ग बौद्ध-भिक्षुओं का ग्यारहवाँ धुताङ्ग है। देखिए—विशुद्धिमार्ग पृ० ७५, ७६।

४४. जो विविध गुणों और तपों में रत होता है (विविहगुणतवोरए ग):

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार बौद्ध-भिक्षुओं को श्मशानिक होना चाहिए। उनके आचार्यो का ऐसा उपदेश है[२]। जिनदास चूर्णि के अनुसार सब वस्त्रधारी सन्यासी श्मशान में रहते हैं वे भी नहीं डरते। केवल श्मशान में रहकर नहीं डरना ही कोई बड़ी बात नहीं है। उसके साथ-साथ विविध गुणों और तपों में नित्य रत भी रहना चाहिए[३]। निर्ग्रन्थ भिक्षु के लिए यह विशिष्ट मार्ग है।

४५. जो शरीर की आकाँक्षा नहीं करता (न सरीरं चाभिकंखई घ):

भिक्षु शरीर के प्रति निस्पृह होता है[४]। उसे कभी भी यह नहीं सोचना चाहिए कि मेरा शरीर उपसर्गों से बच निकले, मेरे शरीर को दुःख न हो, वह विनाश को प्राप्त न हो[५]।

श्लोक १३ :

४६. जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और त्याग करता है (असइं वोसट्ठचत्तदेहे क):

जिसने शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग किया हो, उसे व्युत्सृष्ट-त्यक्त देह कहा जाता है[६]। व्युत्सर्ग और त्याग—ये दोनों लगभग समानार्थक हैं फिर भी आगमों में इनका प्रयोग विशेष अर्थ में रूढ है। अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार कर शारीरिक-क्रिया का त्याग करने के अर्थ में व्युत्सर्ग का और शारीरिक परिकर्म (मर्दन, स्नान और विभूषा) के परित्याग के अर्थ में त्याग शब्द का प्रयोग होता है[७]।

जिनदास महत्तर ने वोसट्ठ का केवल पर्याय-शब्द दिया है[८]। जो कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान के द्वारा शारीरिक अस्थिरता से निवृत्त होना चाहता है, वह 'वोसिरइ' क्रिया का प्रयोग करता है[९]।

हरिभद्रसूरि ने प्रतिबन्ध के अभाव के साथ व्युत्सृष्ट का सम्बन्ध जोडा है[१०]। व्यवहार भाष्य की टीका में भी यही अर्थ मिलता है[११]।

१—दशा० ७।

२—अ० चू० : जधा सपभिक्खूण एस उवदेसो मासाणिगेण भवितव्व। ण य ते तम्मि बिभेंति तम्मतिणिसेधणत्थं विसेसिज्जति।

३—जि० चू० पृ० ३४४ : जहा रत्तपडादीवि सुसाणेसु अच्छति, ण य बीहिति, तप्पडिसेधणत्थमिद भण्णइ।

४—हा० टी० प० २६७ : न शरीरमभिकाङ्क्षते निःस्पृहतया वार्त्तमानिक भावि च।

५—जि० चू० पृ० ३४४ : ण य सरीर तेहिं उवसग्गेहिं वाहिज्जमाणोऽवि अभिकखइ, जहा जइ मम एत सरीरं न दुक्खाविज्जेज्जा, न वा विणिस्सिज्जेज्जा।

६—अ० चू० : वोसट्ठो चत्तोय देहो जेण सो वोसट्ठचत्तदेहो।

७—अ० चू० : वोसट्ठो पडिमादिसु विनिवृत्तक्रियो। ण्हाणुमद्दणातिविभूषाविरहितो चत्तो।

८—जि० चू० पृ० ३४४ : वोसट्ठत्ति वा वोसिरियत्ति वा एगट्ठा।

९—आव० ४ : ठाणेण, मोणेण झाणेण, अप्पाणं वोसिरामि।

१०—हा० टी० प० २६७ : व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देहः।

११—व्य० भा० टी० : व्युत्सृष्ट प्रतिबन्धाभावतः त्यक्त परिकर्म करणतो देहो येन स व्युत्सृष्टत्यक्तदेहः।

व्यवहार भाष्य में वोसट्ठ, निसट्ठ और चत्त—इन तीनों का भी एक साथ प्रयोग मिलता है[१]। तप के बारह प्रकारों में व्युत्सर्ग एक प्रकार का तप है। उसका संक्षिप्त अर्थ है—शरीर की चेष्टाओं का निरोध[२] और विस्तृत अर्थ है—गण (सहयोग), शरीर, उपधि और भक्त-पान का त्याग तथा कषाय, ससार और कर्म के हेतुओं का परित्याग[३]।

शरीर, उपधि और भक्त-पान के व्युत्सर्ग का अर्थ इस प्रकार है :

शरीर की सार-सम्हाल को त्यागना या शरीर को स्थिर करना काय-व्युत्सर्ग कहलाता है। एक वस्त्र और एक पात्र के उपरान्त उपधि न रखना अथवा पात्र न रखना तथा चुल्लपट्ट और कटिबन्ध के सिवाय उपधि न रखना उपधि-व्युत्सर्ग है। अनशन करना भक्त-पान व्युत्सर्ग है[४]।

निशीथ भाष्य में सलेखना, व्युत्सृष्टव्य और व्युत्सृष्ट के तीन-तीन प्रकार बतलाये हैं[५]। वे आहार, शरीर और उपकरण हैं[६]।

भगवान् महावीर ने अभिग्रह स्वीकार किया तब शरीर के ममत्व और परिकर्म के परित्याग की संकल्प की भाषा में उन्होंने कहा—'मै सब प्रकार के उपसर्गों को सहन करूँगा।' यह उपसर्ग-सहन ही शरीर का वास्तविक स्थिरीकरण है और जो अपने शरीर को उपसर्गों के लिए समर्पित कर देता है, उसीको व्युत्सृष्ट-देह कहा जाता है। भगवान् ने ऐसा किया था[७]।

भिक्षु को बार-बार देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसे काया का स्थिरीकरण या कायोत्सर्ग और उपसर्ग सहने का अभिग्रह करते रहना चाहिए।

४७. पृथ्वी के समान सर्वसह (पुढवि समे ग) :

पृथ्वी आक्रोश, हनन और भक्षण करने पर भी द्वेष नहीं करती, सबको सह लेती है। उसी प्रकार भिक्षु आक्रोश आदि को निर्वैर भाव से सहन करे[८]।

४८. जो निदान नहीं करता (अनियाणे घ) :

जो ऋद्धि आदि के निमित्त तप-संयम नहीं करता[९] जो भाविफलाशसा से रहित होता है[१०], जो किए हुए तप के बदले में ऐहिक फल की कामना नहीं करता, उसे अनिदान कहते हैं।

१—व्य० भा० · वोसट्ठनिसट्ठचत्तदेहाओ।

२—उत्त० ३०.३६ : सयणासणठाणे वा जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

३—भग० २५.७ · औप० तपोधिकार।

४—भग० जोड़ २५ ७।

५—गाथा १७२० : सलिहित पि य तिविध, वोसिरियव्व च तिविह वोसट्ठ।

६—नि० चू० : आहारो सरीर उवकरण च।

७—आचा० २.३.१५ सू० ४०२ : तओ णं समणे भगव महावीरे······इमं एयारूव अभिग्गह अभिगिण्हइ—वारस वासाइ वोसट्ठकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा समुप्पज्जति, तजहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहिआसइस्सामि।

८—जि० चू० पृ० ३४४ : जहा पुढवी अक्कुस्समाणी हम्ममाणी भक्खिज्जमाणी च न य किंचि पओस वहइ, तहा भिक्खुणावि सव्वफास-विसघेण होयव्व।

९—जि० चू० पृ० ३४५ : माणुसरिद्धिनिमित्त तवसजम न कुव्वइ, से अनियाणे।

१०—हा० टी० प० २६७ : 'अनिदानो' भाविफलाशसारहित.।

श्लोक १४ :

४९. शरीर के (काएण [क]) :

अधिकांश परीषह काया से सहे जाते हैं, इसलिए यहाँ—काया से परीषहों को जीतकर—ऐसा कहा है। बौद्ध आदि मन को ही सब कुछ मानते हैं। उनसे मतभेद दिखाने के लिए भी 'काय' का प्रयोग हो सकता है[1]। जैन-दृष्टि यह है कि जैसे मन का नियन्त्रण आवश्यक है, वैसे काया का नियत्रण भी आवश्यक है और सच तो यह है कि काया को समुचित प्रकार से नियंत्रित किए बिना मन को नियंत्रित करना हर एक के लिए सम्भव भी नहीं है[2]।

५०. परीषहों को (परीसहाइं [क]) :

निर्जरा (आत्म-शुद्धि) के लिए और मार्ग से च्युत न होने के लिए जो अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियाँ और मनोभाव सहे जाते हैं, वे परीषह कहलाते हैं[3]। वे क्षुधा, प्यास आदि बाईस हैं[4]।

५१. जाति-पथ (संसार) से (जाइपहाओ [ख]) :

दोनों चूर्णियों में 'जातिवह' और टीका में 'जातिपह'—ऐसा पाठ है। 'जातिवह' का अर्थ जन्म और मृत्यु[5] तथा 'जातिपथ' का अर्थ संसार किया है[6]। 'जातिपथ' शब्द अधिक प्रचलित एवं गम्भीर अर्थ वाला है, इसलिए मूल में यही स्वीकृत किया है।

५२. (तवे [घ]) :

चूर्णिद्वय में 'भवे' और टीका में 'तवे' पाठ है। यह सम्भवतः लिपिदोष के कारण वर्ण-विपर्यय हुआ है। श्रामण्य में रत रहता है यह सहज अर्थ है[7]। किन्तु 'तवे' पाठ के अनुसार—श्रमण-सम्बन्धी तप में रत रहता है[8]—यह अर्थ करना पड़ा। श्रामण्य को तप का विशेषण माना है, पर वह विशेष अर्थवान् नहीं है।

श्लोक १५ :

५३. हाथों से संयत, पैरों से संयत (हत्थसंजए पायसंजए [क]) :

जो प्रयोजन न होने पर हाथ-पैरों को कूर्म की तरह गुप्त रखता है और प्रयोजन होने पर प्रतिलेखन, प्रमार्जन कर सम्यक् रूप से

१—(क) अ० चू० . परीसहा पायेण कायेण सहणीया अतो कायेणेति भणति। जे बौद्धादयो चित्तमेवणियंतव्वमिति तप्पडिसेधणत्थ कायवयण।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ . सक्काण चेत्तनेतसिगा धम्मा इति त णिसेहणत्थमिदमुच्यते।

२—हा० टी० प० २६७ 'कायेन' शरीरेणापि, न भिक्षुसिद्धान्तनीत्या मनोवाग्भ्यामेव, कायेनानभिभवे तत्त्वतस्तदनभिभवात्।

३—तत्त्वा० ९.८ : मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्या परीषहा।

४—उत्त० २।

५—(क) अ० चू० : जातिवधो पुव्व भणितो।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ · जातिग्गहणेण जम्मणस्स गहण कय, वधगहणेण मरणस्स गहण कय।

६—हा० टी० प० २६७ . 'जातिपथात्' संसारमार्गात्।

७—(क) अ० चू० : भवे रते सामणिए—समणभावो सामणिय तम्मि रतो भवे।

(ख) जि० चू० पृ० ३४५ · सामण्णिए रते भवेज्जा, समणभावो सामण्णिय भन्नइ।

८—हा० टी० प० २६७ : 'तपसि रत' तपसि सक्तः, किंभूत इत्याह—'श्रामण्ये' श्रमणानां सम्बन्धिनि, शुद्ध इति भाव।

व्यवहार करता है, उसे हाथों से संयत, पैरों से संयत कहते हैं[1]।

देखिए—'संजइंदिए' का टिप्पण ५५।

५४. वाणी से संयत (वायसंजए ख) :

जो अकुशल वचन का निरोध करता है और कार्य होने पर कुशल वचन की उदीरणा करता है, उसे वाणी से संयत कहते हैं[2]।

देखिए—'संजइंदिए' का टिप्पण ५५।

५५. इन्द्रियों से संयत (संजइंदिए ख) :

जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को विषयों में प्रविष्ट नहीं होने देता तथा विषय प्राप्त होने पर जो उनमें राग-द्वेष नहीं करता, उसे इन्द्रियों से संयत कहते हैं[3]।

मिलाएँ—

चक्खुना संवरो साधु साधु सोतेन संवरो।
घाणेन संवरो साधु साधु जिह्वाय संवरो ॥
कायेन संवरो साधु साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो भिक्खू सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥ धम्मपद २५.१-२।

५६. अध्यात्म (अज्झप्प ग) :

अध्यात्म का अर्थ शुभ ध्यान है[4]।

श्लोक १६ :

५७. जो मुनि वस्त्रादि उपधि (उपकरणों) में मूर्च्छित नहीं है, जो अगृद्ध है (उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे क) :

जिनदास महत्तर के अनुसार मूर्च्छा और गृद्धि एकार्थक भी हैं। जहाँ बलपूर्वक कहना हो या आदर प्रदर्शित करना हो वहाँ एकार्थक शब्दों का प्रयोग पुनरुक्त नहीं कहलाता और उन्होने इनमें अन्तर बताते हुए लिखा है कि—'मूर्च्छा' का अर्थ मोह और 'गृद्धि'

१—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : हत्थपाएहिं कुम्मो इव णिक्कारणे जो गुत्तो अच्छइ, कारणे पडिलेहिय पमज्जिय वावार कुव्वइ, एव कुव्वमाणो हत्थसंजओ पायसजओ भवइ।

(ख) हा० टी० प० २६७ : हस्तसयत पादसयत इति-कारण विना कूर्मवल्लीन आस्ते कारणे च सम्यग्गच्छति।

२—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : वायाएवि सजओ, कह ?, अकुसलवइनिरोध कुव्वइ, कुसलवइउदीरण च कज्जे कुव्वइ।

(ख) हा० टी० प० २६७ : वाक्सयतः अकुशलवाग्निरोधकुशलवागुदीरणेन।

३—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : 'सजइदिए' नाम इंदियविसयपयारणिरोध कुव्वइ, विसयपत्तेछ इदियत्थेछ रागदोसविणिग्गहं च कुव्वतित्ति।

(ख) हा० टी० प० २६७ : 'सयतेन्द्रियो' निवृत्तविषयप्रसरः।

४—(क) जि० चू० पृ० ३४५ : 'अज्झप्परए' नाम सोभणज्झाणरए।

(ख) हा० टी० प० २६७ : 'अध्यात्मरत.' प्रशस्तध्यानासक्त।

का अर्थ प्रतिबन्ध है। उपधि में मूर्च्छित रहने वाला करणीय और अकरणीय को नहीं जानता और गृद्ध रहने वाला उसमें बंध जाता है। इसलिए मुनि को अमूर्च्छित और अगृद्ध रहना चाहिए[1]।

५८. जो अज्ञात कुलों से भिक्षा की एषणा करने वाला है, जो संयम को असार करने वाले दोषों से रहित है। (अन्नायउंछं पुलनिप्पुलाए ख):

अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'अज्ञातोच्छपुल' का अर्थ है—अज्ञात कुल की एषणा करने वाला[2] और 'निष्पुलाक' का अर्थ है—मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाकर संयम को निस्सार न करने वाला[3]।

जिनदास महत्तर ने 'पुल' को 'पुलाक' शब्द मानकर 'पुलाक निष्पुलाक' की व्याख्या इस प्रकार की है—मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाने से संयम निस्सार बनता है, वह भावपुलाक है। उससे रहित 'पुलाक निष्पुलाक' कहलाता है अर्थात् जिससे संयम पुलाक (सार रहित) बनता हो, वैसा अनुष्ठान न करने वाला[4]।

टीकाकार ने भी 'पुल' को 'पुलाक' शब्द मानकर 'पुलाक निष्पुलाक' का अर्थ संयम को निस्सार बनाने वाले दोषों का सेवन न करने वाला किया है[5]।

हलायुध कोश में 'पुलक' और 'पुलाक' का अर्थ तुच्छ धान्य किया है। मनुस्मृति में इसी अर्थ में 'पुलाक' शब्द का प्रयोग हुआ है[6]।

५९. सन्निधि से (सन्निहिओ ग):

अशन आदि को रातवासी रखना सन्निधि कहलाता है[7]।

६०. जो क्रय-विक्रय···से विरत (कयविक्कय···विरए ग):

क्रय-विक्रय को भिक्षु के लिए अनेक जगह वर्जित बताया है। बुद्ध ने भी अपने भिक्षुओं को यही शिक्षा दी थी[8]।

६१. जो सब प्रकार के संगों से रहित है (निर्लेप है) (सव्वसंगावगए घ):

संग का अर्थ है इन्द्रियों के विषय[9]। सर्व संगापगत वही हो सकता है जो बारह प्रकार के तप और सत्तरह प्रकार के संयम में लीन हो।

१—जि० चू० पृ० ३४५-३४६ : मुच्छासद्दो य गिद्धिसद्दो य दोऽवि एगट्ठा, अच्चत्थणिमित्त आयरणिमित्त च पउजमाणा ण पुणरत्त भवति, अहवा मुच्छियगहियाण इमो विसेसो भण्णइ, तत्थ मुच्छासद्दो मोहे दट्ठव्वो, गेहियसद्दो पडिबंधे दट्ठव्वो, जहा कोइ मुच्छिओ तेण मोहकारणेण कज्जाकज्ज न याणइ, तहा सोऽवि भिक्खू उवहिमि अज्झोववण्णो मुच्छिओ किर कज्जाकज्ज न याणइ, तम्हा न मुच्छिओ अमुच्छिओ, अगिद्धिओ अबद्धो भण्णइ, कह ?, सो तमि उवहिमि निच्चमेव आसन्नभव्वत्तणेण अबद्धो इव दट्ठव्वो, णो गिद्धिए अगिद्धिए।

२—अ० चू० : त पुलएति तमेसति एस अण्णाउच्छपुलाए।

३—अ० चू० : मूलुत्तरगुणपडिसेवणाए निस्सार सजम करेंति एस भावपुलाए तधा णिपुलाए।

४—जि० चू० पृ० ३४६ : जेण मूलगुणउत्तरगुणपदेण पडिसेविएण णिस्सारो संजमो भवति सो भावपुलाओ, एत्थ भावपुलाएण अहिगारो, सेसा उच्चारियसरिसत्तिकाऊण परूविया, तेण भावपुलाएण निपुलाए भवेज्जा, णो त कुव्वेज्जा जेण पुलागो भवेज्जत्ति।

५—हा० टी० प० २६८ : 'पुलाकनिष्पुलाक' इति सयमासारतापादकदोषरहित।

६—१० १२५ : पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदा।

७—जि० चू० पृ० ३४६ : 'सन्निही' असणादीण परिवासण भण्णइ।

८—सु० नि० ५२.१४ : 'कयविक्कये' न तिट्ठेय्य।

९—जि० चू० पृ० ३४६ : सगोत्ति वा इदियत्थोत्ति वा एगट्ठा।

श्लोक १७ :

६२. जो अलोलुप है (अलोल क) :

जो अप्राप्त रसों की अभिलाषा नहीं करता, उसे 'अलोल' कहा जाता है[1]। दश० ६ ३.१० में भी यह शब्द आया है। यह शब्द बौद्ध-पिटकों में भी अनेक जगह प्रयुक्त हुआ है।

मिलाएँ—

चक्खूहि नेव लोलस्स, गामकथाय आवरये सोतं।
रसे च नानुगिज्झेय्य, न च ममायेथ किञ्चि लोकस्मिं ॥ सुत्तनिपात ५२.८

६३. (उंछं ख) :

पिछले श्लोक में 'उछं' का प्रयोग उपधि के लिए हुआ और इस पद्य में आहार के लिए हुआ है। इसलिए पुनरुक्त नहीं है[2]।

६४. ऋद्धि (इड्ढि ग) :

यहाँ इड्ढि—ऋद्धि का अर्थ योगजन्य विभूति है। इसे लब्धि भी कहा जाता है। ये अनेक प्रकार की होती हैं[3]।

६५. स्थितात्मा (ठियप्पा घ) :

जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र में स्थित होती है, उसे स्थितात्मा कहते हैं[4]।

श्लोक १८ :

६६. प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते हैं (पत्तेयं पुण्णपावं ग) :

सबके पुण्य-पाप अपने-अपने हैं और सब अपने-अपने कृत्यों का फल भोग रहे हैं—यह जानकर न दूसरे की अवहेलना करनी चाहिए और न अपनी बडाई। हाथ उसीका जलता है जो अग्नि हाथ में लेता है। उसी तरह कृत्य उसी को फल देते हैं जो उन्हें करता है। जब ऐसा नियम है तब यह समझना चाहिए कि मै क्यों दूसरे की निन्दा करूँ और क्यों अपनी बड़ाई[5]।

पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा—ये दोनों महान् दोष हैं। मुनि को मध्यस्थ होना चाहिए, इन दोनो से बचकर रहना चाहिए। इस श्लोक में इसी मर्म का उपदेश है और उस मर्म का आलम्बन सूत्र 'पत्तेय पुण्णपाव' है। जो इस मर्म को समझ लेता है, वह पर-निन्दा और आत्म-श्लाघा नहीं करता।

१—(क) जि० चू० पृ० ३४६ : जइ तित्तकडुअकसायाई रसे अप्पत्ते णो पत्थेइ से अलोले।
(ख) हा० टी० प० २६८ : अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपरः।

२—हा० टी० प० २६८ : तत्रोपधिमाश्रित्योक्तमिह त्वाहारमित्यपौनरुक्त्यम्।

३—जि० चू० पृ० ३४७ : इड्ढि-विउव्वणमादि।

४—जि० चू० पृ० ३४७ : णाणदसणचरित्तेसु ठिओ अप्पा जस्स सो ठियप्पा।

५—(क) जि० चू० पृ० ३४७ : आह—किं कारणं परो न वत्तव्वो ?, जहा जो चेव अग्गिं गिण्हइ सो चेव डज्झइ, एवं नाऊण पत्तेयं पत्तेय पुण्णपावं अत्ताण ण समुक्कसइ, जहाऽह सोभणो एस असोभणोत्ति एवमादि।
(ख) हा० टी० प० २६८ : प्रत्येक पुण्यपाप, नान्यसबन्ध्यन्यस्य भवति अग्निदाहवेदनावत्।

६७. दूसरे को (परं [क]) :

प्रव्रजित के लिए अप्रव्रजित 'पर' होता है[१]। जिनदास महत्तर 'पर' का प्रयोग गृहस्थ और वेषधारी के अर्थ में बतलाते हैं[२]। टीकाकार ने इसका अर्थ—अपनी परम्परा से अतिरिक्त दूसरी परम्परा का शिष्य—ऐसा किया है[३]।

६८. कुशील (दुराचारी) (कुसीले [क]) :

गृहस्थ या वेषधारी साधु अव्यवस्थित आचार वाला हो फिर भी 'यह कुशील है'—ऐसा नहीं कहना चाहिए। दूसरे के चोट लगे, अप्रीति उत्पन्न हो, वैसा व्यक्तिगत आरोप करना अहिंसक मुनि के लिए उचित नहीं होता[४]।

श्लोक १९ :

६९. सब मदों को (मयाणि सव्वाणि [ग]) :

मद के आठ प्रकार बतलाए हैं :

१. जाति-मद
२. कुल-मद
३. रूप-मद
४. तप-मद
५. श्रुत-मद
६. लाभ-मद
७. ऐश्वर्य-मद
८. प्रज्ञा-मद

इस श्लोक में जाति, रूप, लाभ और श्रुत के मद का उल्लेख किया है और मद के शेष प्रकारों का 'मयाणि सव्वाणि' के द्वारा निर्देश किया है[५]।

श्लोक २० :

७०. आर्य (धर्मपद) (अज्जपयं [क]) :

चूर्णियों में इसके स्थान पर 'अज्जवय' पाठ है और इसका अर्थ ऋजुभाव है[६]। 'अज्जवय' की अपेक्षा 'अज्जपय' अधिक अर्थ

१—अ० चू० : परोपव्वतियस्स अपव्वतियो।
२—जि० चू० पृ० ३४७ : परो णाम गिहत्था लिंगी वा।
३—हा० टी० प० २६८ : 'पर' स्वपक्षविनेयव्यतिरिक्तम्।
४—(क) जि० चू० पृ० ३४७ : जइवि सो अप्पणो कम्मेसु अव्ववत्थिओ तहावि न वत्तव्वो जहाऽय कुसियसीलोत्ति, किं कारण ?, तत्थ अप्पत्तियमादि बहवे दोसा भवति।
(ख) हा० टी० प० २६८ : न ... वदति—अयं कुशील., तदप्रीत्यादिदोषप्रसङ्गात्।
५—हा० टी० प० २६६ : न जातिमत्तो यथाऽहं ब्राह्मण क्षत्रियो वा, न च रूपमत्तो यथाऽहं रूपवानादेय, न लाभमत्तो यथाऽहं लाभवान्, न श्रुतमत्तो यथाऽहं पण्डित, अनेन कुलमदादिपरिग्रह, अत एवाह—मदान् सर्वान् कुलादिविषयानपि।
६—(क) अ० चू० : ऋजुभावंदरिसिज्जति।
(ख) जि० चू० पृ० ३४८ : अज्जवग्गहणेण अहिंसाइलक्खणस्स एयारिसस्स धम्मस्स गहण कय, त आयरिय धम्मपद गिहीण साहूण य पवेदेज्जा।

सग्राहक है, इसलिए मूल में वही स्वीकृत किया है[१]।

७१. कुशील-लिङ्ग का (कुसीललिंगं ग) :

इसका अभिप्राय यह है कि परतीर्थिक या आचार रहित स्वतीर्थिक साधुओं का वेष धारण न करे। इसका दूसरा अर्थ है जिस आचरण से कुशील है, ऐसी प्रतीति हो, वैसे आचरण का वर्जन करे[२]। टीका के अनुसार कुशीलों द्वारा चेष्टित आरम्भ आदि का वर्जन करे[३]।

७२. जो दूसरों को हँसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा नहीं करता (न यावि हस्सकुहए घ) :

कुहक शब्द 'कुह्' धातु से बना है। इसका प्रयोग विस्मय उत्पन्न करने वाला, ऐन्द्रजालिक, वञ्चक आदि अर्थों में होता है। यहाँ पर विस्मित करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हास्यपूर्ण कुतूहल न करे अथवा दूसरों को हंसाने के लिए कुतूहलपूर्ण चेष्टा न करे—ये दोनो अर्थ अगस्त्यसिंह स्थविर करते हैं[४], जिनदास-महत्तर और हरिभद्रसूरि केवल पहला[५]।

दश० ९.३.१० में 'अक्कुहए' शब्द प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इसका अर्थ इन्द्रजाल आदि न करने वाला[६] तथा वादित्र न बजाने वाला किया है[७]।

श्लोक २१ :

७३. अशुचि और अशाश्वत देहवास को (देहवासं असुइं असासयं क) :

अशुचि अर्थात् अशुचिपूर्ण और अशुचि से उत्पन्न। शरीर की अशुचिता के सम्बन्ध में सुत्तनिपात अ० ११ में निम्न अर्थ की गाथाएँ मिलती हैं :

"हड्डी और नस से सयुक्त, त्वचा और मास का लेप चढा तथा चाम से ढँका यह शरीर जैसा है वैसा दिखाई नहीं देता।

"इस शरीर के भीतर हैं—आंत, उदर, यकृत, वस्ति, हृदय, फुफ्फुस, वक्क—तिल्ली, नासा-मल, लार, पसीना, मेद, लोहू, लसिका, पित्त और चर्बी।

१—हा० टी० प० २६६ : 'आर्यपदम्' शुद्धधर्मपदम्।

२—अ० चू० : पडुरगादीण कुसीलाणलिंग वज्जेज्जा। अणायरादिवा कुसीललिंगं न रक्खए।

३—(क) जि० चू० पृ० ३४८ : कुसीलाणं पडुरगाईण लिंग "अथवा जेण आयरिएण कुसीलो संभाविज्जति तं।

(ख) हा० टी० प० २६६ : 'कुशीललिङ्गम्' आरम्भादि कुशीलचेष्टितम्।

४—अ० चू० : हस्समेव कुहगं, त जस्स अत्थि सो हस्सकुहतो। तधा न भवे। हस्सनिमित्तं वा कुहगं तधाकरेति जधा परस्स हस्स मुप्पज्जति। एव णयावि हस्सकुहए।

५—(क) जि० चू० पृ० ३४८ : हासकुहए णाम ण ताणि कुहगाणि कुज्जा जेण अन्ने हसंतीति।

(ख) हा० टी० प० २६६ : न हास्यकारिकुहकयुक्त।

६—(क) अ० चू० : इद-जाल कुहेडगादीहिं ण कुहावेति णति कुहाविज्जति अकुहए।

(ख) जि० चू० पृ० ३२१ : कुहग—इदजालादीयं न करेइत्ति अक्कुहएत्ति।

(ग) हा० टी० प० २५४ : 'अकुहक' इन्द्रजालादिकुहकरहित।

७—जि० चू० पृ० ३२२ : अहवा वाइत्तादि कुहग भण्णइ, त न करेइ अकुहएत्ति।

"उसके नौ द्वारों से हमेशा गन्दगी निकलती रहती है। आँख से आँख की गन्दगी निकलती है और कान से कान की गन्दगी।

"नाक से नासिका-मल, मुख से पित्त और कफ, शरीर से पसीना और मल निकलते हैं।

"इसके सिर की खोपड़ी गुदा से भरी है। अविद्या के कारण मूर्ख इसे शुभ मानता है।

"मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूजकर नीला हो श्मशान में पड़ा रहता है तो उसे बन्धु-बान्धव भी छोड़ देते हैं।"

ज्ञाता धर्मकथा सूत्र में शरीर की अशाश्वतता के बारे में कहा गया है कि "यह देह जल के फेन की तरह अध्रुव है; बिजली के झपकारे की तरह अशाश्वत है, दर्भ की नोक पर ठहरे हुए जल-बिन्दु की तरह अनित्य है।" देह जीवरूपी-पक्षी का अस्थिरवास कहा गया है क्योंकि जल्दी या देर से उसे छोड़ना ही पड़ता है।

पढमा चूलिया

रइवक्का

प्रथम चूलिका

रतिवाक्या

आमुख

इस चूलिका का नाम 'रतिवाक्या-अध्ययन' है। असंयम में सहज ही रति और संयम में अरति होती है। भोग में जो सहज आकर्षण होता है वह त्याग में नहीं होता। इन्द्रियों की परितृप्ति में जो सुखानुभूति होती है वह उनके विषय-निरोध में नहीं होती।

सिद्ध योगी कहते हैं—'भोग सहज नहीं है, सुख नहीं है।' साधना से दूर जो हैं वे कहते हैं—'यह सहज है, सुख है।' पर वस्तुतः सहज क्या है? सुख क्या है? यह चिन्तनीय रहता है। खुजली के कीटाणु शरीर में होते हैं तब खुजलाने में सहज आकर्षण होता है और वह सुख भी देता है। स्वस्थ आदमी खुजलाने को न सहज मानता है और न सुखकर भी। यहाँ स्थिति-भेद है और उसके आधार पर अनुभूति-भेद होता है। यही स्थिति साधक और असाधक की है। मोह के परमाणु सक्रिय होते हैं तब भोग सहज लगता है और वह सुख की अनुभूति भी देता है। किन्तु अल्प-मोह या निर्मोह व्यक्ति को भोग न सहज लगता है और न सुखकर भी। इस प्रकार स्थिति-भेद से दोनों मान्यताओं का अपना-अपना आधार है।

आत्मा की स्वस्थदशा मोहशून्य स्थिति या वीतराग भाव है। इसे पाने का प्रयत्न ही संयम या साधना है। मोह अनादिकालीन रोग है। वह एक बार के प्रयत्न से ही मिट नहीं जाता। इसकी चिकित्सा जो करने चलता है वह सावधानी से चलता है किन्तु कहीं-कहीं बीच में वह रोग उभर जाता है और साधक को फिर एक बार पूर्व स्थिति में जाने को विवश कर देता है। चिकित्सक कुशल होता है तो उसे सम्हाल लेता है और उभार का उपशमन कर रोगी को आरोग्य की ओर ले चलता है। चिकित्सक कुशल न हो तो रोगी की डावांडोल मनोदशा उसे पीछे ढकेल देती है। साधक मोह के उभार से न डगमगाए, पीछे न खिसके—इस दृष्टि से इस अध्ययन की रचना हुई है। यह वह चिकित्सक है जो संयम से डिगते चरण को फिर से स्थिर बना सकता है और भटकते मन पर अंकुश लगा सकता है।

इसीलिए कहा है—"हयरस्सिगयकुसपोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं"—इस अध्ययन में वर्णित ये अठारह स्थान—घोड़े के लिए वल्गा, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका जैसे हैं। इसके वाक्य संयम में रति उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है[1]।

प्रस्तुत अध्ययन में स्थिरीकरण के अठारह सूत्र हैं। उनमें गृहस्थ-जीवन की अनेक दृष्टियों से अनुपादेयता बतलाई है। जैन और वैदिक परम्परा में यह बहुत बड़ा अन्तर है। वैदिक व्यवस्था में चार आश्रम हैं। उनमें गृहस्थाश्रम सबका मूल और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्मृतिकारों ने उसे अति महत्त्व दिया है। गृहस्थाश्रम उत्तरवर्ती विकास का मूल है। यह जैन-सम्मत भी है। किन्तु वह मूल है, इसलिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, यह अभिमत जैनों का नहीं है। समाज-व्यवस्था में इसका जो स्थान है, वह निर्विवाद है। आध्यात्मिक-चिन्तन में इसकी उत्कर्षपूर्ण स्थिति नहीं है। इसलिए 'गृहवास बन्धन है और संयम मोक्ष'[2], यह विचार स्थिर रूप पा सका।

१—हा० टी० प० २७० : 'धर्मे' चारित्ररूपे 'रतिकारकाणि' रतिजनकानि तानि च वाक्यानि येन कारणेन 'अस्यां' चूडायां तेन निमित्तेन-रतिवाक्यैषा चूडा, रतिकर्तॄणि वाक्यानि यस्यां सा रतिवाक्या।

२—चू० १ सूत्र १ स्था० १२ : बंधे गिहवासे मोक्खे परियाए।

"पुण्य-पाप का कर्तृत्व और भोक्तृत्व अपना-अपना है।" "किए हुए पाप-कर्मों को भोगे बिना अथवा तपस्या के द्वारा उनको निर्वीर्य किए बिना मुक्ति नहीं मिल सकती[1]।" ये दोनों विचार अध्यात्म व नैतिक परम्परा के मूल हैं।

जर्मन-दार्शनिक काण्ट ने जैसे आत्मा, उसका अमरत्व और ईश्वर को नैतिकता का आधार माना है वैसे ही जैन-दर्शन सम्यक्-दर्शन को अध्यात्म का आधार मानता है। आत्मा है, वह ध्रुव है, कर्म (पुण्य-पाप) की कर्त्ता है, भोक्ता है, सुचीर्ण और दुश्चीर्ण कर्म का फल है, मोक्ष का उपाय है और मोक्ष है—ये सम्यक्-दर्शन के अंग हैं। इनमें से दो-एक अंगों को यहाँ वस्तु-स्थिति के सम्यक् निरीक्षण के लिए प्रस्तुत किया गया है। संयम का बीज वैराग्य है। पौद्गलिक पदार्थों से राग हटता है तब आत्मा में लीनता होती है, वही विराग है। "काम-भोग जन-साधारण के लिए सुप्राप्य हैं। किन्तु संयम वैसा सुलभ नहीं है। मनुष्य का जीवन अनित्य है।" ये वाक्य वैराग्य की धारा को वेग देने के लिए हैं। इस प्रकार ये अठारह स्थान बहुत ही अर्थवान् और स्थिरीकरण के अमोघ आलम्बन हैं। इनके बाद संयम-धर्म से भ्रष्ट होने वाले मुनि की अनुतापपूर्ण मनोदशा का चित्रण मिलता है।

भोग अतृप्ति का हेतु है या अतृप्ति ही है। तृप्ति संयम में है। भोग का आकर्षण साधक को संयम से भोग में घसीट लेता है। वह चला जाता है। जाता है एक आकांक्षा लिए। किन्तु भोग में अतृप्ति बढ़ती है, संयम का सहज आनन्द नहीं मिलता तब पूर्व दशा से हटने का अनुपात होता है। उस स्थिति में ही संयम और भोग का यथार्थ मूल्य समझ में आता है।

"आकांक्षा-हीन व्यक्ति के लिए संयम देवलोक सम है और आकांक्षावान् व्यक्ति के लिए वह नरकोपम है।"

इस स्याद्वादात्मक-पद्धति से संयम की उभयरूपता दिखा संयम में रमण करने का उपदेश जो दिया है, वह सहसा मन को खींच लेता है। आकांक्षा का उन्मूलन करने के लिए अनेक आलम्बन बताए हैं। उनका उत्कर्ष "चइज्जदेहं न हु धम्मसासणं"—शरीर को त्याग दे पर धर्म-शासन को न छोड़े—इस वाक्य में प्रस्फुटित हुआ है। समग्र-दृष्टि से यह अध्ययन अध्यात्म-आरोह का अनुपम सोपान है।

१—चू० १ सूत्र १ स्था० १८ : पावाण च खलु भो ! कडाण कम्माण पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कन्ताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

पढमा चूलिया : प्रथमा चूलिका

रइवक्का : रतिवाक्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
इह खलु भो! पव्वइएणं, उप्पन्न-दुक्खेणं, संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं, ओहाणु[2]प्पेहिणा अणोहाइएणं चेव, हयरस्सि-गयंकुसं-पोयपडागाभूयाइं इमाइं अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति। तंजहा—	इह खलु भोः! प्रव्रजितेन उत्पन्नदुःखेन संयमेऽरतिसमापन्नचित्तेन अवधावनोत्प्रेक्षिणा अनवधावितेन चैव हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताकाभूतानि इमान्यष्टादशस्थानानि सम्यक् संप्रतिलेखितव्यानि भवन्ति। तद्यथा :—	मुमुक्षुओ! निर्ग्रन्थ-प्रवचन में जो प्रव्रजित है किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया[1], संयम में उसका चित्त अरति-युक्त हो गया, वह सयम को छोड़ गृहस्थाश्रम में चला जाना चाहता है, उसे सयम छोड़ने से पूर्व इन अठारह स्थानों का भलीभाँति आलोचन करना चाहिए। अस्थितात्मा के लिए इनका वही स्थान है जो अश्व के लिए लगाम, हाथी के लिए अंकुश और पोत के लिए पताका[3] का है। अठारह स्थान इस प्रकार हैं :
१—हं भो! दुस्समाए दुप्पजीवी॥	(१) हं हो! दुष्षमाया दुष्प्रजीविनः।	(१) ओह![4] इस दुष्षमा (दुःख बहुल पाँचवें आरे) में लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं[5]।
२—लहुस्सगा इत्तरिया गिहीणं कामभोगा॥	(२) लघुस्वका इत्वरिका गृहिणां कामभोगाः।	(२) गृहस्थों के काम-भोग स्वल्प-सार-सहित[6] और अल्पकालिक हैं।
३—भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा॥	(३) भूयश्च साचि(ति) बहुला मनुष्याः।	(३) मनुष्य बड़े कुटिल हैं[7]।
४—इमे य से दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सइ॥	(४) इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति।	(४) यह मेरा परीषह-जनित दुःख चिरकाल स्थायी नहीं होगा।
५—ओमजणपुरक्कारे॥	(५) अवमजनपुरस्कारः।	(५) गृहवासी को नीच जनों का पुरस्कार करना होता है—सत्कार करना होता है।
६—वंतस्स य पडियाइयणं॥	(६) वान्तस्य च प्रत्यापानम् (दानम्)	(६) सयम को छोड़ घर में जाने का अर्थ है वमन को वापस पीना।
७—अहरगइवासोवसंपया॥	(७) अधरगतिवासोपसंपदा।	(७) सयम को छोड़ गृहवास में जाने का अर्थ है नारकीय-जीवन का अङ्गीकार।
८—दुल्लभे खलु भो! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसंताणं॥	(८) दुर्लभः खलु भो! गृहिणां धर्मो गृहवासमध्ये वसताम्।	(८) ओह! गृहवास[8] में रहते हुए गृहियों के लिए धर्म का स्पर्श निश्चय ही दुर्लभ है।
९—आयंके से वहाय होइ॥	(९) आतङ्कस्तस्य वधाय भवति।	(९) वहाँ आतंक[9] वध के लिए होता है।
१०—संकप्पे से वहाय होइ॥	(१०) संकल्पस्तस्य वधाय भवति।	(१०) वहाँ संकल्प[10] वध के लिए होता है।

११—सोवक्केसे[11] गिहवासे ॥
निरुवक्केसे परियाए ॥

(११) सोपक्लेशो गृहवासः । निरुपक्लेशः पर्यायः ।

(११) गृहवास क्लेश सहित है[12] और मुनि पर्याय[13] क्लेश रहित ।

१२—बंधे गिहवासे ॥
मोक्खे परियाए ॥

(१२) बन्धो गृहवासः । मोक्षः पर्यायः ।

(१२) गृहवास बन्धन है और मुनि पर्याय मोक्ष ।

१३—सावज्जे गिहवासे ॥
अणवज्जे परियाए ॥

(१३) सावद्यो गृहवासः । अनवद्यः पर्यायः ।

(१३) गृहवास सावद्य है और मुनि-पर्याय अनवद्य ।

१४—बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा ॥

(१४) बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगाः ।

(१४) गृहस्थों के काम-भोग बहुजन सामान्य हैं—सर्व सुलभ हैं।

१५—पत्तेयं पुण्णपावं ॥

(१५) प्रत्येकं पुण्यपापम् ।

(१५) पुण्य और पाप अपना-अपना होता है।

१६—अणिच्चे खलु भो! मणुयाण
जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले ॥

(१६) अनित्यं खलु भो ! मनुजानां जीवितं कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलम्

(१६) ओह ! मनुष्यों का जीवन अनित्य है, कुश के अग्र भाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान चचल है ।

१७—बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ॥

(१७) बहु च खलु भो ! पाप-कर्म प्रकृतम् ।

(१७) ओह ! मैंने इससे पूर्व बहुत ही पाप-कर्म किए हैं ।

१८—पावाणं च खलु भो ! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता । अट्ठारसमं पयं भवइ ॥
सू० १

(१८) पापानां च खलु भो ! कृतानां कर्मणां पूर्वं दुश्चीर्णानां दुष्प्रतिक्रान्तानां वेदयित्वा मोक्षः—नास्त्यऽवेदयित्वा,तपसा वा शोषयित्वा । अष्टादशपदं भवति ।

(१८) ओह ! दुश्चरित्र और दुष्ट-पराक्रम के द्वारा पूर्व-काल में अर्जित किए हुए पाप-कर्मों को भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है[14]—उनसे छुटकारा होता है, उन्हें भोगे बिना (अथवा तप के द्वारा उनका क्षय किए बिना) मोक्ष नहीं होता—उनसे छुटकारा नहीं होता । यह अठारहवाँ पद है ।

भवइ य इत्थ सिलोगो[15]—

भवति चाऽत्र श्लोकः—

अब यहाँ श्लोक है ।

१—जया य चयई धम्मं
अणज्जो भोगकारणा ।
से तत्थ मुच्छिए बाले
आयइं नावबुज्झइ ॥

यदा च त्यजति धर्मं,
अनार्यो भोगकारणात् ।
स तत्र मूर्च्छितो बालः,
आयतिं नावबुध्यते ॥१॥

१—अनार्य साधु[16] जब भोग के लिए धर्म को छोड़ता है तब वह भोग में मूर्च्छित अज्ञानी अपने भविष्य को[17] नहीं समझता ।

२—जया ओहाविओ होइ
इंदो वा पडिओ छमं ।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदाऽवधावितो भवति,
इन्द्रो वा पतितः क्षमाम् ।
सर्वधर्मपरिभ्रष्टः,
सः पश्चात्परितप्यते ॥२॥

२—जब कोई साधु उत्प्रव्रजित होता है—गृहवास में प्रवेश करता है—तब वह सब धर्मों से भ्रष्ट होकर वैसे ही परिताप करता है जैसे देवलोक के वैभव से च्युत होकर भूमितल पर पड़ा हुआ इन्द्र ।

३—जया य वंदिमो होइ
पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च वन्द्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यवन्द्यः ।
देवतेव च्युता स्थानात्,
स पश्चात् परितप्यते ॥३॥

३—प्रव्रजित काल में साधु वदनीय होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अवन्दनीय हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे अपने स्थान से च्युत देवता ।

४—जया य पूइमो होइ
पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च पूज्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यपूज्यः ।
राजेव राज्यप्रभ्रष्टः,
स पश्चात्परितप्यते ॥४॥

४—प्रव्रजित काल में साधु पूज्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अपूज्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे राज्य भ्रष्ट राजा ।

५—जया य माणिमो होइ
पच्छा होइ अमाणिमो ।
सेट्ठि व्व कब्बडे छूढो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च मान्यो भवति,
पश्चाद् भवत्यमान्यः ।
श्रेष्ठीव कर्बटे क्षिप्तः,
स पश्चात्परितप्यते ॥५॥

५—प्रव्रजित काल में साधु मान्य होता है, वही जब उत्प्रव्रजित होकर अमान्य हो जाता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कर्बट (छोटे से गाँव) में[१८] अवरुद्ध किया हुआ श्रेष्ठी[१९] ।

६—जया य थेरओ होइ
समइक्कंतजोव्वणो ।
मच्छो व्व गलं गिलित्ता
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च स्थविरो भवति,
समतिक्रान्तयौवनः ।
मत्स्य इव गलं गिलित्वा,
स पश्चात्परितप्यते ॥६॥

६—यौवन के बीत जाने पर जब वह उत्प्रव्रजित साधु बूढ़ा होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे कांटे को निगलने वाला मत्स्य ।

७—जया य कुकुडंबस्स
कुतत्तीहिं विहम्मइ ।
हत्थी व बंधणे बद्धो
स पच्छा परितप्पइ ॥

यदा च कुकुटुम्बस्य,
कुतप्तिभिर्विहन्यते ।
हस्तीव बन्धने बद्धः,
स पश्चात्परितप्यते ॥७॥

७—वह उत्प्रव्रजित साधु जब कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओं से प्रतिहत होता है तब वह वैसे ही परिताप करता है जैसे बन्धन में बधा हुआ हाथी ।

८—पुत्तदारपरिकिण्णो
मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो
स पच्छा परितप्पइ ॥

पुत्रदारपरिकीर्णः,
मोहसन्तानसन्ततः ।
पङ्कावसन्नो यथा नागः,
स पश्चात्परितप्यते ॥८॥

८—पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से परिव्याप्त[२०] वह वैसे ही परिताप करता है जैसे पंक में फँसा हुआ हाथी ।

९—अज्ज आहं गणी हुंतो
भावियप्पा बहुस्सुओ।
जइ हं रमंतो परियाए
सामण्णे जिणदेसिए ॥

अद्य तावदहं गणी अभविष्यं,
भावितात्मा बहुश्रुतः।
यद्यहमरंस्ये पर्याये,
श्रामण्ये जिनदेशिते ॥९॥

९—आज मैं भावितात्मा[21] और बहुश्रुत[22] गणी होता[23] यदि जिनोपदिष्ट श्रमण-पर्याय (चारित्र) में रमण करता।

१०—देवलोगसमाणो उ
परियाओ महेसिणं।
रयाण अरयाणं तु
महानिरयसारिसो ॥

देवलोकसमानस्तु,
पर्यायो महर्षीणाम्।
रतानामरताना च,
महानरकसदृशः ॥१०॥

१०—संयम में रत महर्षियों के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान ही सुखद होता है और जो संयम में रत नहीं होते उनके लिए वही (मुनि-जीवन) महानरक के समान दुःखद होता है।

११—अमरोवमं जाणिय सोक्खमुत्तमं
रयाण परियाए तहारयाणं।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं
रमेज्ज तम्हा परियाय पंडिए ॥

अमरोपमं ज्ञात्वा सौख्यमुत्तमं,
रताना पर्याये तथाऽरतानाम्।
निरयोपमं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं,
रमेत तस्मात्पर्याये पण्डितः ॥११॥

११—संयम में रत साधुओं का सुख देवों के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर तथा संयम में रत न रहने वाले मुनियों का दुःख नरक के समान उत्तम (उत्कृष्ट) जानकर पण्डित मुनि संयम में ही रमण करे।

१२—धम्माउ भट्ठं सिरिओ ववेयं
जन्नग्गि विज्झायमिव प्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥

धर्माद्भ्रष्टं श्रियोऽव्यपेत,
यज्ञाग्नि विध्यातमिवाल्पतेजसम्।
हीलयन्ति एन दुर्विहितं कुशीला,
उद्धृतदंष्ट्रं घोरविषमिव नागम् ॥१२॥

१२—जिसकी दाढ़े उखाड़ ली गई हों उस घोर विषधर सर्प की साधारण लोग भी अवहेलना करते हैं वैसे ही धर्म-भ्रष्ट, चारित्र रूपी श्री से[24] रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि की भाँति निस्तेज[25] और दुर्विहित साधु की[26] निन्दनीय आचार वाले लोग भी निन्दा करते हैं[27]।

१३—इहेवधम्मो अयसो अकित्ती
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ॥

इहैव अधर्मोऽयशोऽकीर्तिः,
दुर्नामधेयं च पृथग्जने।
च्युतस्य धर्मादधर्मसेविनः,
सभिन्नवृत्तस्य चाधस्ताद् गतिः ॥१३॥

१३—धर्म से च्युत, अधर्मसेवी और चारित्र को खण्डन करने वाला साधु[28] इसी मनुष्य-जीवन में अधर्म का[29] आचरण करता है, उसका अयश[30] और अकीर्ति होती है। साधारण लोगों में भी उसका दुर्नाम होता है तथा उसकी अधोगति होती है।

१४—भुंजित्तु भोगाइ पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो ॥

भुक्त्वा भोगान् प्रसह्य चेतसा,
तथाविध कृत्वाऽसंयमं बहुम्।
गति च गच्छेदनभिध्यातां दुःखा,
बोधिश्च तस्य नो सुलभा पुनः पुनः ॥१४॥

१४—वह संयम से भ्रष्ट साधु आवेग-पूर्ण—चित्त से[31] भोगों का भोगकर और तथाविध प्रचुर असंयम का आसेवन कर अनिष्ट[32] एवं दुःखपूर्ण गति में जाता है और बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि[33] सुलभ नहीं होती।

१५—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो
दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं?॥

अस्य तावन्नारकस्य जन्तोः,
उपनीतदुःखस्य क्लेशवृत्तेः।
पल्योपम क्षीयते सागरोपमं,
किमङ्ग पुनर्ममेदं मनोदुःखम्॥१५॥

१५—दुःख से युक्त और क्लेशमय जीवन बिताने वाले इन नारकीय जीवों की पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर यह मेरा मनोदुःख कितने काल का है?

१६—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई
असासया भोगपिवास जंतुणो।
न चे सरीरेण इमेणवेस्सई
अविस्सई जीवियपज्जवेण मे॥

न मे चिर दुःखमिदं भविष्यति,
अशाश्वती भोगपिपासा जन्तोः।
न चेच्छरीरेणानेनापैष्यति,
अपैष्यति जीवित-पर्यवेण मे॥१६॥

१६—यह मेरा दुःख चिरकाल तक नहीं रहेगा। जीवों की भोग-पिपासा अशाश्वत है। यदि वह इस शरीर के होते हुए न मिटी तो मेरे जीवन की समाप्ति के समय[३४] तो अवश्य ही मिट जाएगी।

१७—जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ
चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं।
तं तारिसं नो पयलेंति इंदिया
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं॥

यस्यैवमात्मा तु भवेन्निश्चितः,
त्यजेद्देहं न खलु धर्मशासनम्।
तं तादृशं न प्रचालयन्तीन्द्रियाणि,
उपयद्वाता इव सुदर्शनं गिरिम्॥१७॥

१७—जिसकी आत्मा इस प्रकार निश्चित होती है (दृढ संकल्पयुक्त होती है)—"देह को त्याग देना चाहिए पर धर्म-शासन को नहीं छोड़ना चाहिए"—उस दृढ-प्रतिज्ञ साधु को इन्द्रियाँ उसी प्रकार विचलित नहीं कर सकतीं जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ महावायु सुदर्शन गिरि को।

१८—इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो
आयं उवायं विविहं वियाणिया।
काएण वाया अदु माणसेणं
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिजासि॥
त्ति बेमि॥

इत्येव संदृश्य बुद्धिमान्नरः,
आयमुपायं विविधं विज्ञाय।
कायेन वाचाऽथ मानसेन,
त्रिगुप्तिगुप्तो जिनवचनमधितिष्ठेत्॥१८॥
इति ब्रवीमि।

१८—बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् आलोचना कर तथा विविध प्रकार के लाभ और उनके साधनों को[३५] जानकर त्रिगुप्तियों (काय, वाणी और मन) से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ले।
ऐसा मैं कहता हूँ।

रतिवाक्या : प्रथम चूलिका

सूत्र १ :

१. किन्तु उसे मोहवश दुःख उत्पन्न हो गया (उप्पन्नदुक्खेणं सू० १) :

दुःख दो प्रकार के होते हैं :

१. शारीरिक और

२. मानसिक

शीत, उष्ण आदि परीषह शारीरिक दुःख हैं और काम, भोग, सत्कार, पुरस्कार आदि मानसिक। संयम में ये दोनों प्रकार के दुःख उत्पन्न हो सकते हैं[1]।

२. (ओहाण सू० १) :

अवधावन का अर्थ पीछे हटना है। यहाँ इसका आशय है संयम को छोड़ वापस गृहस्थवास में जाना[2]।

३. पोत के लिए पताका (पोयपडागा सू० १) :

पताका का अर्थ पतवार होना चाहिए। पतवार नौका के नियंत्रण का एक साधन है। जिनदास महत्तर और टीकाकार ने 'पताका' तथा अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'पटागार' का अर्थ नौका का पाल किया है। वस्त्र के बने इस पाल के कारण नौका लहरों से क्षुब्ध नहीं होती और उसे इच्छित स्थान की ओर ले जाया जा सकता है[3]।

४. ओह! (हं भो सू०१स्था०१) :

'हं' और 'भो'—ये दोनों आदर सूचक सम्बोधन हैं। चूर्णिकार इन दोनों को भिन्न मानते हैं[4] और टीकाकार अभिन्न[5]।

५. लोग बड़ी कठिनाई से जीविका चलाते हैं (दुप्पजीवी सू०१स्था०१) :

अगस्त्य चूर्णि में 'दुप्पजीव' पाठ है। इसका अर्थ है—जीविका के साधनों को जुटाना बड़ा दुष्कर है। चूर्णिकार ने आगे

१—(क) जि० चू० पृ० ३५२ : दुक्खं दुविध-सारीरं माणसं वा, तत्थ सारीरं सीउण्हदंसमसगादि, माणसं इत्थीनिसीहियसक्कारपरीसहादीणि एयं दुविहं दुक्खं उप्पन्नं जस्स तेण उप्पण्णदुक्खेण।

(ख) हा० टी० प० २७२ : 'उत्पन्नदुःखेन' संजातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन।

२—(क) जि० चू० पृ० ३५२,३५३ : अवहावणं अवसप्पणं अतिक्कमणं, संजमातो अवक्कमणमवहावणं।

(ख) हा० टी० प० २७२ : अवधावनम्—अपसरणं संयमात्।

३—(क) जि० चू० पृ० ३५२ : जाणवत्त-पोतो तस्स पडागा सीतपडो, पोतोऽवि सीयपडेण विततेण वीयीहिं न खोहिज्जइ, इच्छियं च देसं पाविज्जइ।

(ख) हा० टी० प० २७२ : अवस्पलिनगजाङ्कुशपोदित्यसितपटतुल्यानि।

(ग) अ० चू० : जाणवत्त पोतो तस्स पडागारोसीतपडो। पोतो वि सीतपडेण विततेण वीचीहिं ण खोभिज्जति, इच्छितं च देसं पाविज्जति।

४—जि० चू० पृ० ३५३ : हंति भोत्ति संबोधनद्वयमादराय।

५—हा० टी० प० २७२ : हंभो—शिष्यामन्त्रणे।

बताया है कि समर्थ व्यक्तियों के लिए भी जीविका का निर्वाह कठिन है तब औरों की बात ही क्या ? राज्याधिकारी, व्यापारी और नौकर—ये सब अपने-अपने प्रकार की कठिनाइयों में फँसे हुए हैं[1] ।

६. स्वल्प-सार-सहित (लहुस्सगा सू०१स्था०२) :

जिन वस्तुओं का स्व (आत्म-तत्त्व) लघु (तुच्छ या असार) होता है, उन्हें 'लघुस्वक' कहा जाता है। चूर्णि और टीका के अनुसार काम-भोग कदलीगर्भ की तरह[2] और टीका के शब्दों में तुषमुष्टि की तरह असार हैं[3] ।

७. बड़े कुटिल हैं (साइबहुला सू०१स्था०३) :

'साचि' का अर्थ कुटिल है[4] । 'बहुल' का प्रयोग चूर्णियों के अनुसार प्रायः[5] और टीका के अनुसार प्रचुर के अर्थ में है[6] । 'साइ' असत्य-वचन का तेरहवाँ नाम है[7] । प्रश्न व्याकरण की वृत्ति में उसका अर्थ अविश्वास किया है[8] । असत्य-वचन अविश्वास का हेतु है, इसलिए 'साइ' को भी उसका नाम माना गया। टीका में इसका संस्कृत रूप 'स्वाति' किया है। डा० वाल्थर शुब्रिंग ने 'स्वाति' को त्रुटिपूर्ण माना है[9] । 'स्वाद' का एक अर्थ कलुषता है[10] । चूर्णि और टीका में यही अर्थ है।

'साय' (सं—स्वाद) का अर्थ भी माया हो सकता है। हमने इसका संस्कृत रूप 'साचि' किया है। 'साचि' तिर्यक् का पर्यायवाची नाम है[11] ।

'साइबहुला' का आशय यह है कि जो पारिवारिक लोग हैं, वे एक दूसरे के प्रति विश्वस्त नहीं होते, वैसी स्थिति में जा क्या सुख पाऊँगा—ऐसा सोच धर्म में रति करनी चाहिए। संयम को नहीं छोड़ना चाहिए[12] ।

१—(क) अ० चू० : दुक्खं एत्थ पजीवं साधगाणि सपातिज्जतीति ईसरेहिं किं पुण सेसेहिं ? रायादियाण चिंता भरेहिं, वणियाण भंडविणएहिं, सेसाण पेसणेहिं य जीवणं सपादणं दुक्खं।

(ख) जि० चू० पृ० ३५३ : दुप्पजीवी नाम दुक्खेण प्रजीवणं, आजीविआ।

(ग) हा० टी० प० २७२ : दुःखेन—कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीला दुष्प्रजीविनः।

२—अ० चू० : लहुसगाइत्तरकाला कदलीगब्भवदसारगा जम्हा गिहत्थ भोगे चतिऊण रतिं कुणइ धम्मे।

३—हा० टी० प० २७२ : सन्तोऽपि 'लघवः' तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः।

४—अ० चू० : साति कुडिलं।

५—(क) अ० चू० : बहुलमिति पायो वृत्ति।

(ख) जि० चू० पृ० : ३५४ : बहुला इति पायसो।

६—हा० टी० प० २७२ : 'स्वातिबहुला' मायाप्रचुरा।

७—प्रश्न० आस्रवद्वार २।

८—प्रश्न० आस्रवद्वार २ : साति—अविश्रम्भः।

९—दसवेआलिय सुत्त पृ० १२६ : साय-बहुल=स्वाति (wrong for स्वाति)-बहुल, मायाप्रचुर H. I think that the sense of this phrase is as Translated

१०—A Dictionary of Urdu, Classical Hindi, and English Page 691 Blackness, The black or inner part of the heart

११—अ० चिं० ६ १५१ : तिर्यक् साचि.।

१२—(क) अ० चू० : पुणो २ कुडिल हियया प्रायेण भुज्जो साति बहुला मणुस्सा।

(ख) जि० चू० पृ० ३५४ : सातिकुडिला, बहुला इति पायसो, कुडिलहियओ पाएण भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा।

(ग) हा० टी० प० २७२ : न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानां च कीदृक्सुखम् ? तथा मायावधहेतुत्वेन दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् ३।

८. गृहवास (गिहिवास सू०१स्था०८) :

चूर्णियों में 'गिहिवास' का अर्थ गृहवास[1] और टीका में गृहपाश[2] किया है। चूर्णि के अनुसार गृहवास प्रमाद-बहुल होता है और टीका के अनुसार 'गृह' पाश है। उसमें पुत्र-पुत्री आदि का बन्धन है।

९. आतंक (आयंके सू०१स्था०९) :

हैजा आदि रोग जो शीघ्र ही मार डालते हैं, वे आतङ्क कहलाते हैं[3]।

१०. संकल्प (संकप्पे सू०१स्था०१०) :

आतंक शारीरिक रोग है और संकल्प मानसिक। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग से जो मानसिक आतंक होता है, उसे यहाँ संकल्प कहा गया है[4]।

११. (सोवक्केसे... सू०१स्था०११) :

टीकाकार ने वृद्धाभिप्राय का उल्लेख किया है। उसके अनुसार प्रतिपक्ष सहित 'सोवक्केसे, निरुवक्केसे' आदि छह स्थान होते हैं और 'पत्तेयपुण्णपाव' से लेकर 'फोसइत्ता' तक एक ही स्थान है। दूसरा मत यह है कि 'सोवक्केसे' आदि प्रतिपक्ष सहित तीन स्थान हैं और 'पत्तेयपुण्णपाव' आदि स्वतन्त्र हैं[5]। वृद्ध शब्द का प्रयोग चूर्णिकारों के लिए किया गया है[6]। दूसरा मत किन का है—यह स्पष्ट नहीं होता। टीकाकार ने वृद्धाभिप्राय को ही मान्य किया है[7]।

१२. क्लेश सहित हैं (सोवक्केसे सू०१स्था०११) :

कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, सेवा, घृत-लवण आदि की चिन्ता—ये गृहि-जीवन के उपक्लेश हैं, इसलिए उसे सोपक्लेश कहा गया है[8]।

१—(क) अ० चू० : ....गिहत्थवासे।
(ख) जि० चू० पृ० ३५५ : ....गिही (ण) वासे।

२—हा० टी० प० २७३ : 'गृहपाशमध्ये वसता' मित्यत्र गृहशब्देन पाशकल्पा पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते।

३—हा० टी० प० २७३ : 'आतङ्क' सद्योघाती विषूचिकादिरोग।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५६ : आयको सारीर दुक्खं, संकप्पो माणस, त च पियविप्पयोगमय संवाससोगभयविसादादिकमणेगहा सभवति।
(ख) हा० टी० प० २७३ : 'संकल्प' इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानसआतङ्क।

५—हा० टी० प० २७३ : एतदन्तर्गतो वृद्धाभिप्रायेण शेषग्रन्थ समस्तोऽप्यत्रैव, अन्ये तु व्याचक्षते—सोपक्लेशो गृहिवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रय गृह्यते, एव च बहुसाधारणा गृहिणा कामभोगा इति चतुर्दश स्थानम्।

६—जि० चू० पृ० ३५६-५७ : मिलाइए—'सोवक्केसे गिहवासे' ...... एक्कारसम पदं गय।
'निरुवक्केसे परियाए' .... बारसम पद गत।
'बंधे गिहवासे' .... तेरसम पद गत।
'मोक्खे परियाए' .... चोद्दसम पदं गत।
'सावज्जे गिहवासे' .... पण्णरसम पद गत।
'अणवज्जे परियाए' .... सोलसम पद गतं।

७—हा० टी० प० २७३ : 'प्रत्येकं पुण्यपाप'मिति ...एवमष्टादश स्थानम्।

८—हा० टी० प० २७३ : उपक्लेशा—कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगता पण्डितजनगर्हिताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेति।

१३. मुनि-पर्याय (परियाए सू०१स्था०११) :

पर्याय का अर्थ प्रव्रज्याकालीन-दशा या मुनि-व्रत है[१]। प्रव्रज्या में चारों ओर से (परितः) पुण्य का आगमन होता है, इसलिए इसे पर्याय कहा जाता है। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार यह प्रव्रज्या शब्द का अपभ्रंश है[२]।

१४. भोग लेने पर अथवा तप के द्वारा उनका क्षय कर देने पर ही मोक्ष होता है (वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता सू०१स्था०१८) :

किया हुआ कर्म भुगते विना उससे मुक्ति नहीं होती—यह कर्मवाद का ध्रुव सिद्धान्त है। बद्ध कर्म की मुक्ति के दो उपाय हैं—स्थिति परिपाक होने पर उसे भोगकर अथवा तपस्या के द्वारा उसे क्षीण-वीर्य कर नष्ट कर देना। सामान्य स्थिति यह है कि कर्म अपनी स्थिति पकने पर फल देता है। किन्तु तपस्या के द्वारा स्थिति पकने से पहले ही कर्म को भोगा जा सकता है। इससे फल-शक्ति मंद हो जाती है और वह फलोदय के विना ही नष्ट हो जाता है।

१५. श्लोक (सिलोगो सू०१स्था०१८) :

श्लोक शब्द जातिवाचक है, इसलिए इसमें अनेक श्लोक होने पर भी विरोध नहीं आता[३]।

श्लोक १ :

१६. अनार्य-साधु (अणज्जो ख) :

अनार्य का अर्थ म्लेच्छ है। जिसकी चेष्टाएँ म्लेच्छ की तरह होती हैं, वह अनार्य कहलाता है[४]।

१७. भविष्य को (आयइं घ) :

आयति का अर्थ भविष्यकाल है[५]। चूर्णि में इसका वैकल्पिक अर्थ 'गौरव'[६] व 'आत्महित'[७] भी किया है।

श्लोक ५ :

१८. कर्वट (छोटे से गाँव) में (कब्बडे ग) :

कर्वट के अनेक अर्थ हैं :

१ कुनगर जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो[८]।

१—हा० टी० प० २७३ : प्रव्रज्या पर्याय.।

२—अ० चू० : परियातो, समतयो पुन्नागमणं पव्वज्जासद्दस्सेव अवब्भसो परियातो।

३—हा० टी० प० २७४ : श्लोक इति च जातिपरो निर्देश, ततः श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासेऽपि न विरोध·।

४—(क) जि० चू० पृ० ३५६ : अणज्जा मेच्छादयो, जो तद्दाठिओ अणज्ज इव अणज्जो।

(ख) हा० टी० प० २७४,२७५ : 'अनार्य' इत्यनार्य इवानार्यो—म्लेच्छचेष्टितः।

५—हा० टी० प० २७५ : 'आयतिम्' आगामिकालम्।

६—अ० चू० : आतती आगामीकाल त आततिहित आयति क्षममित्यर्थ······व्येयी भणति—आयती गौरव त।

७—जि० चू० पृ० ३५६ · 'आयती' आगामिको कालो त·· ··अथवा आयतीहित आत्मनो हितमित्यर्थ·।

८—जि० चू० पृ० ३६० : कब्बड कुनगर, जत्थ जलत्थलसमुब्भवविचित्तभडविणियोगो णत्थि।

२ बहुत छोटा सन्निवेश[1]।

३ वह नगर जहाँ बाजार हो।

४ जिले का प्रमुख नगर[2]।

चूर्णियों में कर्वट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है[3]।

१९. श्रेष्ठी (सेट्ठि ग) :

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वैसा वेष्टन बाँधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है[4]।

हिन्दू राज्यतंत्र में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते हैं, हिन्दुओं के काल में वह 'श्रेष्ठिन्' या प्रधान कहलाता था[5]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ 'श्रेष्ठी' को वणिक् ग्राम का महत्तर कहा है[6]। इसलिए यह पौराध्यक्ष नहीं, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए। वह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है[7]। सम्भवतः नैगम के समान ही पौर संस्था का भी एक अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा, किन्तु श्रेणी तथा पूग के साधारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड़ दिया जाता होगा, जैसे—राजगृह श्रेष्ठी तथा श्रावस्ती श्रेष्ठी (निग्रोध जातक ४४५) में राजगृह सेट्ठी तथा एक अन्य साधारण सेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है।

श्लोक ८ :

२०. परम्परा से परिव्याप्त (संताणसंतओ ख) :

'संताण' का अर्थ अव्यवच्छित्ति या प्रवाह है[8] और संतत का अर्थ है व्याप्त[9]।

१—हा० टी० प० २७५ : 'कर्वटं' महाक्षुद्रसन्निवेशं।

२—A Sanskrit English Dictionary-P 259 By Sir Monier Williams Market-Town, the Capital of a District (of two or four hundred Villages)

३—(क) अ० चू० : चाढचोवगकूडसक्खिसमुब्भावित दुव्ववहारारम्भोकव्वड जहा सेट्ठी तम्मि 'छूढो' विभवहरणाय सद्दमितो परितप्पति अधवा कव्वड कुणगर जत्थ जलथल समुब्भव विचित्रभंड विणिओगो णत्थि तम्मि एत्थ वासितव्व तिरायकुलणियोगेण छूढो कयविक्कयाभावे विभवोपयोग परिहीणो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६० : चाढयोपस (चाढचोवग) कूडसक्खिसमुब्भाविय-दुक्कयछलव्ववहारत कव्वड, जहा सिट्ठी तम्मि छूढो विभवहरणाऽसद्दमिओ परितप्पइ, अहवा कव्वड कुनगर, जत्थ जलत्थलसमुब्भवविचित्तभंडविणियोगो णत्थि, तम्मि वसियव्व, रायकुलनियोगेण छूढो कयविक्कयाभावे विभवोपयोगपरिहीणो।

४—नि० भा० ६ ३५०३ चूर्णि जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति त वेट्टणग त जस्स रण्णा अणुन्नात सो सेट्ठी भण्णति।

५—दूसरा खण्ड पृ० १३२।

६—(क) अ० चू० : राजकुललद्धसम्माणो समाविद्धवेट्ठणो वणिग्गाममहत्तरो य सेट्ठी।

(ख) जि० चू० पृ० ३६०।

७—'धर्म-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक परपराएं' पृ० १०६।

८—अ० चू० : संताणो अवोच्छित्ती।

९—हा० टी० प० २७५ : 'संतत' दर्शनादिमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्त'।

श्लोक ६ :

२१. भावितात्मा (भावियप्पा ख) :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विविध प्रकार की अनित्य आदि भावनाओं से जिसकी आत्मा भावित होती है, उसे भावितात्मा कहा जाता है[1] ।

२२. बहुश्रुत (बहुस्सुओ ख) :

बहुश्रुत का अर्थ है—द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) का जानकार[2] या बहुआगम-वेत्ता[3] ।

२३. होता (हुंतो क) :

'अभविष्यत्' और 'भवन्', इन दोनों के स्थान में 'हुंतो' रूप बनता है[4] । अनुवाद में 'अभविष्यत्' का अर्थ ग्रहण किया है। 'भवन्' के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होऊँ, यदि जिनोपदिष्ट श्रमण पर्याय चरित्र में रमण करूँ ।

श्लोक १२ :

२४. चारित्र-रूपी श्री से (सिरिओ क) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ श्रामण्यरूपी लक्ष्मी या शोभा और हरिभद्रसूरि ने तप रूपी लक्ष्मी किया है[5] ।

२५. निस्तेज (अप्पतेयं ख) :

इसमें अल्प शब्द अभाववाची है[6] । अल्पतेज अर्थात् निस्तेज । समिधा, चर्बी, रुधिर, मधु, घृत आदि से हुत अग्नि जैसे दीप्त होती है और हवन के अन्त में बुझकर वह निस्तेज हो जाती है, वैसे ही श्रमण-धर्म की श्री को त्यागने वाला मुनि निस्तेज हो जाता है[7] ।

२६. दुर्विहित साधु की (दुव्विहियं ग) :

जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, उसे दुर्विहित कहा जाता है । सामाचारी का विधिवत् पालन करने वाले भिक्षुओं के लिए सुविहित और उसका विधिवत् पालन न करने वालों के लिए दुर्विहित शब्द का प्रयोग होता है[8] ।

१—अ० चू० : सम्मद्दंसणेण बहुविहेहिय तवोजोगेहि अणिच्चयादिभावणाहि य भावितप्पा ।

२—जि० चू० पृ० ३६१ . 'बहुस्सुओ'त्ति जइ ण ओहावतो तो दुवालसगगणिपिडगाहिज्जणेण अज्ज बहुस्सुओ ।

३—हा० टी० प० २७६ : 'बहुश्रुत' उभयलोकहितबह्वागमयुक्त ।

४—हैम० ८ ३.१८०,१८१ ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३६२ : सिरी लच्छी सोभा वा, सा पुण जा समणभावाणुरूवा सामण्णसिरी ।
   (ख) हा० टी० प० २७६ : 'श्रियोऽपेत' तपोलक्ष्म्या अपगतम् ।

६—हा० टी० प० २७६ : अल्पशब्दोऽभावे, तेज शून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः ।

७—अ० चू० : जधामघमुहेससमिधासमुदायवसारुहिर महुघतादीहिं हूयमाणो अग्गी सभावदित्तीओ अधिग दिप्पति हवणावसाणे परिविज्झाण मुम्मुरगारावत्थो भवति ।

८—(क) अ० चू० : विहितो उप्पादितो, दुट्ठु विधितो—दुव्विहितो ।
   (ख) हा० टी० प० २७६ : 'दुर्विहितम्' उन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनम् ।

२. बहुत छोटा सन्निवेश[1]।

३. वह नगर जहाँ बाजार हो।

४. जिले का प्रमुख नगर[2]।

चूर्णियों में कर्वट का मूल अर्थ माया, कूटसाक्षी आदि अप्रामाणिक या अनैतिक व्यवसाय का आरम्भ किया है[3]।

१९. श्रेष्ठी (सेट्ठि ग) :

जिसमें लक्ष्मी देवी का चित्र अंकित हो वैसा वेष्टन बाँधने की जिसे राजा के द्वारा अनुज्ञा मिली हो, वह श्रेष्ठी कहलाता है[4]।

हिन्दू राज्यतंत्र में लिखा है कि इस सभा (पौर सभा) का प्रधान या सभापति एक प्रमुख नगर-निवासी हुआ करता था जो साधारणतः कोई व्यापारी या महाजन होता था। आजकल जिसे मेयर कहते हैं, हिन्दुओं के काल में वह 'श्रेष्ठिन्' या प्रधान कहलाता था[5]।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने यहाँ 'श्रेष्ठी' को वणिक् ग्राम का महत्तर कहा है[6]। इसलिए यह पौराध्यक्ष नहीं, नैगमाध्यक्ष होना चाहिए। वह पौराध्यक्ष से भिन्न होता है[7]। संभवतः नैगम के समान ही पौर संस्था का भी एक अध्यक्ष होता होगा जिसे नैगमाध्यक्ष के समान ही श्रेष्ठी कहा जाता होगा, किन्तु श्रेणी तथा पूग के साधारण श्रेष्ठी से इसके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पौराध्यक्ष के रूप में श्रेष्ठी के साथ राजनगरी का नाम भी जोड़ दिया जाता होगा, जैसे—राजगृह श्रेष्ठी तथा श्रावस्ती श्रेष्ठी (निग्रोध जातक ४४५) में राजगृह सेट्ठी तथा एक अन्य साधारण सेट्ठी में स्पष्ट अन्तर किया गया है।

श्लोक ८ :

२०. परम्परा से परिव्याप्त (संताणसंतओ ख) :

'संताण' का अर्थ अव्यवच्छित्ति या प्रवाह है[8] और संतत का अर्थ है व्याप्त[9]।

१—हा० टी० प० २७५ : 'कर्वटं' महाक्षुद्रसनिवेशं।

२—A Sanskrit English Dictionary-P. 259 By Sir Monier Williams : Market-Town, the Capital of a District (of two or four hundred Villages)

३—(क) अ० चू० : चाडचोवगकूडसक्खिसमुब्भावित दुव्ववहारारंभोकव्वड जहा सेट्ठी तम्मि 'रूढो' विसयहरणाय संदूमितो परितप्पति अधवा कव्वड कुणगरं जत्थ जलथल समुब्भव विचित्रभंड विणिओगो णत्थि तम्मि एत्थ वासितव्व तिरायकुलणियोगेण रूढो क्रयविक्रयाभावे विभवोपयोग परिहीणो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६० : वाडगोपम (चाडचोवग) कूडसक्खिसमुब्भाविय-दुक्खवहारव्ववहारत कव्वड, जहा सिट्ठी तम्मि रूढो विभवहरणाइमदूसिओ परितप्पइ, अहवा कव्वड कुनगरं, जत्थ जलत्थलसमुब्भवविचित्तभंडविणियोगो णत्थि, तमि वसियव्व, रायकुलनियोगेण रूढो क्रयविक्रयाभावे विभवोपयोगपरिहीणो।

४—नि० भा० ४ २५०३ चूर्णि : जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति तं वेट्टणगं तं जस्स रण्णा अणुन्नातं सो सेट्ठी भण्णति।

५—दूसरा खण्ड पृ० १३२।

६—(क) अ० चू० : राजकुललद्धसम्माणो समाविद्धवेट्टणो वणिग्गाममहत्तरो य सेट्ठी।

(ख) जि० चू० पृ० ३६०।

७—'धर्म-निरपेक्ष प्राचीन भारत की प्रजातन्त्रात्मक परंपराएं' पृ० १०६।

८—अ० चू० : संताणो अवोच्छित्ती।

९—हा० टी० प० २७५ : 'संतत' ज्ञानावरणीयमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्त।

श्लोक ६ :

२१. भावितात्मा (भावियप्पा [ख]) :

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विविध प्रकार की अनित्य आदि भावनाओं से जिसकी आत्मा भावित होती है, उसे भावितात्मा कहा जाता है[१] ।

२२. बहुश्रुत (बहुस्सुओ [ख]) :

बहुश्रुत का अर्थ है—द्वादशाङ्गी (गणिपिटक) का जानकार[२] या बहुआगम-वेत्ता[३] ।

२३. होता (हुंतो [क]) :

'अभविष्यत्' और 'भवन्', इन दोनों के स्थान मे 'हुतो' रूप बनता है[४] । अनुवाद में 'अभविष्यत्' का अर्थ ग्रहण किया है । 'भवन्' के अनुसार इसका अनुवाद इस प्रकार होगा—आज मैं भावितात्मा और बहुश्रुत गणी होऊँ, यदि जिनोपदिष्ट श्रमण पर्याय चरित्र में रमण करूँ ।

श्लोक १२ :

२४. चारित्र-रूपी श्री से (सिरिओ [क]) :

जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ श्रामण्यरूपी लक्ष्मी या शोभा और हरिभद्रसूरि ने तप रूपी लक्ष्मी किया है[५] ।

२५. निस्तेज (अप्पतेयं [ख]) :

इसमें अल्प शब्द अभाववाची है[६] । अल्पतेज अर्थात् निस्तेज । समिधा, चर्वी, रुधिर, मधु, घृत आदि से हुत अग्नि जैसे दीप्त होती है और हवन के अन्त में बुझकर वह निस्तेज हो जाती है, वैसे ही श्रमण-धर्म की श्री को त्यागने वाला मुनि निस्तेज हो जाता है[७] ।

२६. दुर्विहित साधु की (दुव्विहियं [ग]) :

जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, उसे दुर्विहित कहा जाता है । सामाचारी का विधिवत् पालन करने वाले भिक्षुओं के लिए सुविहित और उसका विधिवत् पालन न करने वालो के लिए दुर्विहित शब्द का प्रयोग होता है[८] ।

१—अ० चू० . सम्मद्दसणेण बहुविहेहिय तवोजोगेहि अणिच्चयादिभावणाहि य भावितप्पा ।

२—जि० चू० पृ० ३६१ . 'बहुस्सुओ'त्ति जइ ण ओहावतो तो दुवालसंगगणिपिडगाहिज्जणेण अज्ज बहुस्सुओ ।

३—हा० टी० प० २७६ . 'बहुश्रुत' उभयलोकहितबह्वागमयुक्त ।

४—हैम० ८.३.१८०,१८१ ।

५—(क) जि० चू० पृ० ३६३ : सिरी लच्छी सोभा वा, सा पुण जा समणभावाणुरूवा सामण्णसिरी ।
(ख) हा० टी० प० २७६ : 'श्रियोऽपेतं' तपोलक्ष्म्या अपगतम् ।

६—हा० टी० प० २७६ . अल्पशब्दोऽभावे, तेज शून्य भस्मकल्पमित्यर्थ. ।

७—अ० चू० : जधामधमुहेससमिधासमुदायवसारुहिर महुघतादीहि हूयमाणो अग्गी सभावदित्तीओ अधिग दिप्पति हवणावसाणे परि-विज्झाण मुम्मुरगारावत्थो भवति ।

८—(क) अ० चू० : विहितो उप्पादितो, दुट्ठु विधितो—दुव्विहितो ।
(ख) हा० टी० प० २७६ : 'दुर्विहितम्' उन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनम् ।

२७. निन्दा करते हैं (हीलंति ग) :

चूर्णिद्वय के अनुसार 'हील्' धातु का अर्थ लज्जित करना है और यह नाम धातु है[1]। टीका में इसका अर्थ कदर्थना करना किया है[2]।

श्लोक १३ :

२८. चरित्र को खण्डित करने वाला साधु (संभिन्नवित्तस्स घ) :

वृत्त का अर्थ शील या चारित्र है। जिसका शील सभिन्न—खण्डित हो जाता है, उसे सभिन्न-वृत्त कहा जाता है[3]।

२९. अधर्म (अधम्मो क) :

श्रमण-जीवन को छोड़ने वाला व्यक्ति छह काय के जीवों की हिंसा करता है, श्रमण-गुण की हानि करता है, इसलिए श्रमण-जीवन के परित्याग को अधर्म कहा है[4]।

३०. अयश (अयसो क) :

'यह भूतपूर्व श्रमण है'—इस प्रकार दोष-कीर्तन अयश कहलाता है[5]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'अपराक्रम से उत्पन्न न्यूनता' किया है[6]।

श्लोक १४ :

३१. आवेगपूर्ण-चित्त से (पसज्झ चेयसा क) :

प्रसह्य का अर्थ हठात्, वेगपूर्वक, बलात्कारपूर्वक या प्रकट है। विषयों के भोग के लिए हिंसा, असत्य आदि में मन का अभिनिवेश करना होता है। वस्तु एक होती है पर जब उसकी चाह अनेकों में होती है तब उसकी प्राप्ति और संरक्षण के लिए बलात्कार का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार भोगों में चित्त की हठधर्मिता होती है[7]।

१—(क) अ० चू० : ही इति लज्जा, लज्जा मुपणयति हीलेंति, यदुक्तम्—हे पयति।
(ख) जि० चू० पृ० ३६३ ही इति लज्जा, लज्ज वयति हीलति—हे पयति।

२—हा० टी० प० २७६ : 'हीलयन्ति' कदर्थयन्ति, पतितस्त्वमिति पङ्क्त्यपसारणादिना।

३—(क) अ० चू० : वृत्त शील।
(ख) हा० टी० प० २७७ : 'सभिन्नवृत्तस्य च' अखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च।

४—(क) अ० चू० : समणधम्मपरिच्चाग छक्कायारंभेण अपुण्णमाचरति एस अधम्मो—सामण्ण गुणपरिहाणी।
(ख) जि० चू० पृ० ३६३ : समणधम्मपरिचत्तो छक्कायारंभेण अपुन्नमायरइ-त्यए, अधम्मो सामण्णपरिच्चागो।

५—(क) अ० चू० : अयसो एस समणभूतपुव्व इति दोसकित्तण।
(ख) जि० चू० पृ० ३६३ अयसो य, से जहा समणभूतपुव्वो इति दोसकिच्चण।

६—हा० टी० प० २७६ : 'अयश' अपराक्रमकृत न्यूनत्वम्।

७—(क) अ० चू० : परिदायादनपरादीण एग दव्वाभिणिविट्ठाण बलक्कारेण एव पसज्झं विसयसरक्खणेय हिंसामोसादि निविट्ठचेतसा।
(ख) हा० टी० प० २७७ : 'प्रसह्यचेतसा' धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन।

३२. अनिष्ट (अणभिज्झियं [ग]) :

इसका अर्थ अनभिलषित, अनभिप्रेत या अनिष्ट है[1] ।

३३. बोधि (बोही [घ]) :

अर्हत धर्म की उपलब्धि को बोधि कहा जाता है[2] ।

श्लोक १६ :

३४. जीवन की समाप्ति के समय (जीवियपज्जवेण [घ]) :

पर्यय और पर्याय एकार्थक हैं। यहाँ पर्यय का अर्थ अन्त है। जीवित का पर्याय अर्थात् मरण[3] ।

श्लोक १८ :

३५. लाभ और उनके साधनों को (आयं उवायं [ख]) :

आय अर्थात् विज्ञान, सम्यग्-ज्ञान आदि की प्राप्ति और उपाय अर्थात् आय के साधन[4] ।

१—(क) अ० चू० : अभिलासो अभिज्झा, सा जत्थ समुप्पण्णा तं अभिज्झित, तव्विवरीय अणभिज्झित मणभिलसित मणभिप्रेतं।

(ख) हा० टी० प० २७७ : 'अनभिध्याताम्' अभिध्याता—इष्टा न तामनिष्टामित्यर्थः।

२—जि० चू० पृ० ३६४ : अरहतस्स धम्मस्स उवलद्धी बोधी।

३—अ० चू० : परिगमणं पज्जायो अण्णगमण त पुण जीवितस्स पज्जायो मरणमेव।

४—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : आओ विन्नाणादीण आगमो, उवायो तस्स साहण अणुव्वातं।

(ख) हा० टी० प० : २७८ : आयः सम्यग्ज्ञानादेरुपाय —तत्साधनप्रकारः कालविनयादि.।

बिइया चूलिया
बिवित्तचरिया

द्वितीय चूलिका
विविक्तचर्या

आमुख

इस अध्ययन में श्रमण की चर्या, गुणों और नियमो का निरूपण है[1]। इसलिए इसका नाम विविक्त-चर्या है। 'रति-वाक्या' से इसका रचना-क्रम भिन्न है। उसका प्रारम्भ वर्णनीय विषय से होता है—"इह खलु भो ! पव्वइएणं उपन्नदुक्खेणं ……।" इसके आदि-वाक्य में चूलिकाकार विविक्त-चर्या के निर्माण की प्रतिज्ञा करते हैं और उसके केवली-भाषित होने का उल्लेख करते हैं—"चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं।" हरिभद्रसूरि ने इस दूसरे चरण की व्याख्या में प्रस्तुत अध्ययन को सीमंधर स्वामी से प्राप्त कहा है[2]।

इसमें अनुकरण की अन्ध-प्रवृत्ति पर तीव्र प्रहार किया गया है। जनता का बहुमत अनुस्रोतगामी होता है। इन्द्रिय और मन के मनोज्ञ विषयों के आसेवन में रत रहता है। परन्तु साधक ऐसा न करे। वह प्रतिस्रोतगामी बने। उसका लक्ष्य अनुस्रोत-गामियों से भिन्न है। साधना के क्षेत्र में बहुमत और अल्पमत का प्रश्न व्यर्थ है। यहाँ सत्य की एषणा और उपलब्धि का ही महत्त्व है। उसके साधन चर्या, गुण और नियम हैं। नियतवास न करना, सामूहिक भिक्षा करना, एकान्तवास करना, यह चर्या है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य चर्या है। बीच-बीच में गुणों और नियमों की ओर भी सकेत किया गया है। गुण मूल और उत्तर—इन दो भागों मे विभक्त हैं। पाँच महाव्रत मूल गुण हैं और नमस्कार, पौरुषी आदि प्रत्याख्यान उत्तर-गुण हैं। स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि नियम हैं। इनका जागरूक-भाव से पालन करने वाला श्रमण ही 'प्रतिबुद्धजीवी' हो सकता है।

चर्या का स्वतः प्रमाणभूत नियामक व्यक्ति (आगम-विहारी) वर्तमान में नहीं है। इस समय चर्या का नियमन आगम सूत्रों से हो रहा है। इसलिए कहा गया है "सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू"—भिक्षु को सूत्रोक्त मार्ग से चलना चाहिए। सूत्र का अर्थ है विशाल-भावों को संक्षेप में कहना। इसमें अर्थ अधिक होता है और शब्द कम। इस स्थिति में शब्दों की खींचातान होती है। इसलिए कहा गया है "सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ" सूत्र का अर्थ जैसे आज्ञा दे वैसे चलना चाहिए। चूर्णिकार ने बताया है कि गुरु उत्सर्ग (सामान्य-विधि) और अपवाद (विशेष विधि) से जो मार्गदर्शन दे उसके अनुसार चलना चाहिए[3]।

पहले सूत्र होता है फिर अर्थ—सूत्रकर्त्ता एक व्यक्ति होता है किन्तु अर्थकार अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। सूत्र की प्रामा-णिकता के लिए विशेष मर्यादा है। केवली, अवधि-ज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और अभिन्न-दशपूर्वधर द्वारा रचित शास्त्र ही सूत्र—आगम होते हैं। किन्तु अर्थ की प्रामाणिकता के लिए कोई निश्चित मर्यादा नहीं है। साधारण ज्ञानी की व्याख्या को भी अर्थ कहा जाता है। आगमविहारी का किया हुआ अर्थ भी सूत्रवत् प्रमाण होता है। वे अर्थ-आगम अभी अनुपलब्ध हैं। इसीलिए सूत्रकार ने निर्दिष्ट मार्ग से चलने की अनुमति दी है। निर्दिष्ट मार्ग कोई है ही नहीं। मार्ग सूत्र का ही है। अर्थ तो उसीका स्पष्टीकरण मात्र है। उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह सूत्र—सूचित मार्ग से प्रवृत्त होता

१—श्लोक ४ : "चरिया गुणा य नियमा, य होंति साहूण दट्ठव्वा।

२—देखिए पृ० ५६६ श्लोक १ टिप्पण २।

३—अ० चू० : "सूयणामेत्तेण सव्व ण बुज्झति त्ति विसेसो विकीरति—सुत्तस्स अत्थो जह आणवेति—तस्स सुत्तस्स मास कप्पादि सउस्सग्गापवाया गुरुहि निरूविज्जंति अत्थो जहा आणवेति, जधा सो करणीय—मग्गं निरूवेति।"

है[1]। यह विचार व्याख्याकार की व्याख्या-पद्धति के आधार पर किया गया है। सूत्र-रचना की दृष्टि से विचार किया जाए तो सूत्र और अर्थ परस्पर संबद्ध हैं। उनमें कोई विरोध नहीं होता। विरोध का प्रश्न व्याख्याकार के लिए है। वह सूत्रकार की संक्षिप्त भाषा द्वारा उसके प्रतिपाद्य को यथार्थतया पकड नहीं पाता वहाँ सूत्र और अर्थ परस्पर विरुद्ध हो जाते हैं। यहीं सतर्क रहने की आवश्यकता है। सूत्र का आशय समझने के लिए उसके पौर्वापर्य, उत्सर्ग-अपवाद आदि सारी दृष्टियों को ध्यान में रखना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही यथार्थ अर्थ का ग्रहण हो सकता है। सूत्र के कोरे एक शब्द या वाक्य को पकड़ कर चले, वह उसका हृदय नहीं समझ सकता।

छट्ठे अध्ययन (श्लोक ६,७) में कहा है—अठारह स्थानों का वर्जन बाल, वृद्ध और रोगी—सभी निग्रन्थों के लिए अनिवार्य है। इसका अखण्ड और अस्फुटित रूप से पालन होना चाहिए। अठारह में से किसी एक स्थान की विराधना करने वाला निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है। इस शब्दावलि में जो हृदय है, वह पूर्ण अध्ययन को पढ़े बिना नहीं पकडा जा सकता। पर्यङ्क (पन्द्रहवें स्थान) और गृहान्तर-निषद्या (सोलहवें स्थान) के अपवाद भी हैं। विशेष स्थिति में अवलोकनपूर्वक पर्यङ्क आदि पर बैठने की अनुमति भी दी है (देखो ६ ५४)।

वृद्ध, रोगी और तपस्वी के लिए गृहान्तर-निषद्या की भी अनुमति है (देखो ६ ५९)। उनके लिए गृहान्तर-निषद्या का विधान भी है। इन सामान्य और विशेष विधियों को विधिवत् जाने बिना सूत्र का आशय ग्राह्य नहीं बनता। छट्ठे और सातवें श्लोक की भाषा में मूल-दोष का निषेध भी है। उसके लिए भाषा की रचना यही होनी चाहिए। किन्तु पर्यङ्क और निषद्या उत्तर-दोष हैं। इनके निषेध की भाषा इतनी कठोर नहीं हो सकती। इनमें अपवाद का भी अवकाश है। परन्तु सबका निषेध एक साथ है, इसलिए सामान्य-विधि से निषेध की भाषा भी सम है। विशेष-विधि का अवसर आने पर जिनके लिए अपवाद का स्थान था उनके लिए अपवाद बतला दिया गया है। इस प्रकार उत्सर्ग-अपवाद आदि अनेकान्त-दृष्टि से सूत्र के आशय का निरूपण ही अर्थ है। यह सूत्र के मार्ग का आलोक है। इसे जानकर ही साधक सूत्रोक्तमार्ग पर चल सकता है।

अध्ययन के उपसंहार में आत्म-रक्षा का उपदेश है। आत्मा को रखते हुए देह की रक्षा की जाए, वह देह-रक्षा भी संयम है। आत्मा को गँवाकर देह-रक्षा करना साधक के लिए इष्ट नहीं होता। आत्मा की अरक्षा व सुरक्षा ही दु:ख और दु:ख-मुक्ति का हेतु है। इसलिए सर्व यत्न से आत्मा की ही रक्षा करनी चाहिए। समग्र दशवैकालिक के उपदेश का फल यही है।

१—अ० चू० : "छत्तसुद्दएण मग्गेण अत्थो पवत्तइ।"

बिइया चूलिया : द्वितीय चूलिका

विवित्तचरिया : विविक्तचर्या

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चूलियं तु[1] पवक्खामि सुयं केवलिभासियं । जं सुणित्तु सपुन्नाणं धम्मे उप्पज्जए मई ॥	चूलिका तु प्रवक्ष्यामि, श्रुता केवलिभाषिताम् । या श्रुत्वा स पुण्यानां, धर्मे उत्पद्यते मतिः ॥१॥	१—जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है[2], जिसे सुन पुण्यवान् जीवों की[3] धर्म में मति उत्पन्न होती है, उस चूलिका को मैं कहूँगा ।
२—अणुसोयपट्ठिएबहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अप्पा दायव्वो होउकामेणं ॥	अनुस्रोतः प्रस्थिते बहुजने, प्रतिस्रोतो लब्धलक्ष्येण । प्रतिस्रोत एवात्मा, दातव्यो भवितुकामेन ॥२॥	२—अधिकांश लोग स्रोत के अनुकूल प्रस्थान कर रहे हैं[4]—भोग-मार्ग की ओर जा रहे हैं । किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत[5] में गति करने का लक्ष्य प्राप्त है[6], जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है[7], उसे अपनी आत्मा को स्रोत के प्रतिकूल ले जाना चाहिए—विषयानुरक्ति में प्रवृत्त नहीं करना चाहिए ।
३—अणुसोयसुहोलोगो पडिसोओ आसवो सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥	अनुस्रोतः सुखो लोकः, प्रतिस्रोत आश्रवः सुविहितानाम् । अनुस्रोतः संसारः, प्रतिस्रोतस्तस्योत्तारः ॥३॥	३—जन-साधारण को स्रोत के अनुकूल चलने में सुख की अनुभूति होती है । किन्तु जो सुविहित साधु हैं उनका आश्रव[8] (इन्द्रिय-विजय) प्रतिस्रोत होता है । अनुस्रोत संसार है[9] (जन्म-मरण की परम्परा है) और प्रतिस्रोत उसका उतार है[10] (जन्म-मरण का पार पाना है) ।
४—तम्हा आयारपरक्कमेण संवरसमाहिबहुलेणं । चरिया गुणा य नियमा य होंति साहूण दट्ठव्वा ॥	तस्मादाचारपराक्रमेण, संवरसमाधिबहुलेन । चर्या गुणाश्च नियमाश्च, भवन्ति साधूना द्रष्टव्याः ॥४॥	४—इसलिए आचार में पराक्रम करने वाले[11], संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले[12] साधुओं को चर्या[13] गुणों[14], तथा नियमों की[15] ओर दृष्टिपात करना चाहिए ।
५—अणिएयवासो समुयाणचरिया अन्नायउंछं पइरिक्कया य । अप्पोवही कलहविवज्जणा य विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥	अनिकेतवासः समुदानचर्या, अज्ञातोञ्छं प्रतिरिक्तता च । अल्पोपधिः कलहविवर्जना च, विहारचर्या ऋषीणां प्रशस्ताः ॥५॥	५—अनिकेतवास[16] (गृहवास का त्याग), समुदान चर्या (अनेक कुलों से भिक्षा लेना), अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना[17], एकान्तवास[18], उपकरणों की अल्पता[19] और कलह का वर्जन—यह विहार-चर्या[20] (जीवन-चर्या) ऋषियों के लिए प्रशस्त है ।

६—आइण्णओमाणविवज्जणा य
ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ।
संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू
तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा ॥

आकीर्णावमानविवर्जना च,
उत्सन्नदृष्टाहृतभक्तपानं ।
संसृष्टकल्पेन चरेद् भिक्षुः,
तज्जातसंसृष्टे यतिर्यतेत ॥६॥

६—आकीर्ण[21] और अवमान नामक भोज[22] का विवर्जन, प्रायः दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण[23] ऋषियों के लिए प्रशस्त है। भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है उसीसे संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे[24]।

७—अमज्जमंसासि अमच्छरीया
अभिक्खणं निव्विगइं गया य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी
सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥

अमद्यमांसाशी अमत्सरी च,
अभीक्ष्णं निर्विकृतिं गतश्च ।
अभीक्ष्णं कायोत्सर्गकारी,
स्वाध्याययोगे प्रयतो भवेत् ॥७॥

७—साधु मद्य और मांस का अभोजी[25], अमत्सरी, बार-बार विकृतियों को न खाने वाला[26], बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला[27] और स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में[28] प्रयत्नशील हो।

८—न पडिन्नवेज्जा सयणासणाइं
सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे
ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा ॥

न प्रतिज्ञापयेत् शयनासनानि,
शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानम् ।
ग्रामे कुले वा नगरे वा देशे,
ममत्वभावं न क्वचित् कुर्यात् ॥८॥

८—साधु विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन, आसन, उपाश्रय, स्वाध्याय-भूमि जब मैं लौटकर आऊँ तब मुझे ही देना। इसी प्रकार भक्त-पान मुझे ही देना—यह प्रतिज्ञा भी न कराए। गाँव, कुल, नगर या देश में—कहीं भी ममत्व भाव न करे।

९—गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा
अभिवायणं वंदण पूयणं च ।
असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥

गृहिणो वैयापृत्यं न कुर्यात्,
अभिवादनं वन्दनं पूजनं च ।
असंक्लिष्टैः समं वसेत्,
मुनिश्चारित्रस्य यतो न हानिः ॥९॥

९—साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे[29], अभिवादन, वन्दन और पूजन न करे। मुनि संक्लेश रहित[30] साधुओं के साथ रहे जिससे कि चरित्र की हानि न हो।

१०—[31]न या लभेज्जा निउणं सहायं
गुणाहियं वा गुणओ समं वा ।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥

न वा लभेत निपुणं सहायं,
गुणाधिकं वा गुणतः समं वा ।
एकोऽपि पापानि विवर्जयन्,
विहरेत् कामेष्वसज्जन् ॥१०॥

१०—यदि कदाचित् अपने से अधिक गुणी अथवा अपने समान गुण वाला निपुण साथी न मिले तो पाप-कर्मों का वर्जन करता हुआ काम-भोगों में अनासक्त रह अकेला ही विहार करे।

११—संवच्छरं चावि परं पमाणं
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा ।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥

संवत्सरं वाऽपि परं प्रमाणं,
द्वितीयं च वर्षं न तत्र वसेत् ।
सूत्रस्य मार्गेण चरेद् भिक्षुः,
सूत्रस्यार्थो यथाज्ञापयति ॥११॥

११—जिस गाँव में मुनि काल[32] के उत्कृष्ट प्रमाण तक रह चुका हो (अर्थात् वर्षाकाल में चातुर्मास और शेष काल में एक मास रह चुका हो) वहाँ दो वर्ष (दो चातुर्मास और दो मास) का अन्तर किए बिना न रहे। भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग से चले, सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे वैसे चले।

१२—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले
संपिक्खई अप्पगमप्पएणं ।
किं मे कडं किं च मे किच्च सेसं
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥

यः पूर्वरात्रापररात्रकाले,
सम्प्रेक्षते आत्मकमात्मकेन ।
किं मया कृत किं च मे कृत्यशेपं,
किं शकनीयं न समाचरामि ॥१२॥

१२—जो साधु रात्रि के पहले और पिछले प्रहर में अपने आप अपना आलोचन करता है—मैंने क्या किया ? मेरे लिए क्या कार्य करना शेप है ? वह कौन सा कार्य है जिसे मै कर सकता हूँ पर प्रमादवश नहीं कर रहा हूँ ?

१३—किं मे परो[33] पासइ किं व अप्पा
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

किं मम परः पश्यति किं वात्मा,
किं वाऽहं स्खलितं न विवर्जयामि ।
इत्येवं सम्यगनुपश्यन्,
अनागत नो प्रतिवन्धं कुर्यात् ॥१३॥

१३—क्या मेरे प्रमाद को कोई दूसरा देखता है अथवा अपनी भूल को मैं स्वयं देख लेता हूँ ? वह कौन सी स्खलना है जिसे मैं नही छोड़ रहा हूँ ? इस प्रकार सम्यक्-प्रकार से आत्म-निरीक्षण करता हुआ मुनि अनागत का प्रतिवन्ध न करे—असयम में न बँधे, निदान न करे ।

१४—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा
आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं ॥

यत्रैव पश्येत् क्वचिद्दुष्प्रयुक्तं,
कायेन वाचाऽथ मानसेन ।
तत्रैव धीरः प्रतिसहरेत्,
आकीर्णकः क्षिप्रमिव खलिनम् ॥१४॥

१४—जहाँ कही भी मन, वचन और काया को दुष्प्रवृत्त होता हुआ देखे तो धीर साधु वहीं सम्हल जाए। जैसे जातिमान् अश्व लगाम को खीचते ही सम्हल जाता है।

१५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स
धिइमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी
सो जीवइ संजमजीविएणं ॥

यस्येदृशा योगा जितेन्द्रियस्य,
धृतिमतः सत्पुरुपस्य नित्यम् ।
तमाहुर्लोके प्रतिबुद्धजीविनं,
स जीवति संयमजीवितेन ॥१५॥

१५—जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग सदा इस प्रकार के होते हैं उसे लोक में प्रतिबुद्धजीवी कहा जाता है। जो ऐसा होता है, वही संयमी-जीवन जीता है।

१६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ॥
त्ति वेमि ।

आत्मा खलु सततं रक्षितव्यः,
सर्वेन्द्रियैः सुसमाहितैः ।
अरक्षितो जातिपथमुपैति,
सुरक्षितः सर्वदुःखेभ्यो मुच्यते ॥१६॥
इति ब्रवीमि ।

१६—सब इन्द्रियों को सुसमाहित कर आत्मा की सतत् रक्षा करनी चाहिए[34]। अरक्षित आत्मा जाति-पथ (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विविक्तचर्या : द्वितीय चूलिका

श्लोक १ :

१. (तु [क]) :

इसे भावचूला का विशेषण माना गया है[१]। इसके तीसरे चरण में आया हुआ 'ज' सर्वनाम सहज ही 'चूलिय त' पाठ की कल्पना करा देता है।

२. जो सुनी हुई है, केवली-भाषित है (सुयं केवलिभासियं [ख]) :

श्रुत[२] और केवली-भाषित—ये दो शब्द उस वृद्धवाद की ओर संकेत करते हैं जिसमें इस चूलिका को 'सीमंधर केवली के द्वारा भाषित और एक साध्वी के द्वारा श्रुत' कहा गया है[३]। चूर्णियों के अनुसार शास्त्र के गौरव-समुत्पादन के लिए इसे केवली कृत कहा है। तात्पर्य यह है कि यह केवली की वाणी है, जिस किसी का निरूपण नहीं है।

काल-क्रम की दृष्टि से विचार किया जाए तो यह श्रुत-केवली की रचना है—ऐसी संभावना की जा सकती है। 'सुय केवलि-भासिय' इस पाठ को 'सुयकेवलिभासिय' माना जाए तो इसका आधार भी मिलता है। 'सुय' का अर्थ 'श्रुत-ज्ञान' किया है। यह अर्थ यहाँ कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। टीकाकार 'केवली-भाषित' के लिए वृद्धवाद का उल्लेख करते हैं, उसकी चर्चा चूर्णियों में नहीं है[४]। इसलिए 'श्रुतकेवलिभाषित' इसकी संभावना और अधिक प्रबल हो जाती है।

३. पुण्यवान् जीवों की (सपुन्नाणं [ग]) :

चूर्णियों में यह 'सपुण्य' है जब कि टीका में यह 'सुपुण्य' है। सपुण्य का अर्थ पुण्य-सहित[५] और सुपुण्य का अर्थ उत्तम पुण्य वाला होता है[६]।

श्लोक २ :

४. स्रोत के अनुकूल प्रस्थान कर रहे हैं (अणुसोयपट्ठिए [क]) :

अनुस्रोत अर्थात् स्रोत के पीछे, स्रोत के अनुकूल। जब जल की निम्न प्रदेश की ओर गति होती है तब उसमें पड़ने वाली वस्तुएँ बह जाती हैं। इसलिए उन्हें अनुस्रोत-प्रस्थित कहा जाता है। यह उपमा है। यहाँ 'इव' शब्द का लोप माना गया है। अनुस्रोत-

---

१—हा० टी० प० २७८ : तुशब्दविशेषितां भावचूडाम्।

२—अ० चू० : श्रुयते इति श्रुत त पुण सुतनाण।

३—हा० टी० प० २७८,२७९।

४—(क) अ० चू० : केवलिय भासितमिति सत्थगोरव मुप्पायणत्थ भगवता केवलिणा भणित न जेण केण ति।

(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

५—(क) अ० चू० : सहपुण्णेण सपुण्णो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

६—हा० टी० प० २७९ : 'सुपुण्यानां' कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनाम्।

प्रस्थित काठ आदि की भाँति जो लोग इन्द्रिय-विषयों के स्रोत में बहे जाते हैं, वे भी अनुस्रोत-प्रस्थित कहलाते हैं[1]।

५. प्रतिस्रोत (पडिसोय ख):

प्रतिस्रोत का अर्थ है—जल का स्थल की ओर गमन। शब्दादि विषयों से निवृत्त होना प्रतिस्रोत है[2]।

६. गति करने का लक्ष्य प्राप्त है (लद्धलक्खेणं ख):

जिस प्रकार धनुर्वेद या बाण-विद्या में निपुण व्यक्ति बालाग्र जैसे सूक्ष्मतम लक्ष्य को बींध देता है (प्राप्त कर लेता है) उसी प्रकार विषय-भोगों को त्यागने वाला संयम के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है[3]।

७. जो विषय-भोगों से विरक्त हो संयम की आराधना करना चाहता है (होउकामेणं घ):

यहाँ 'होउकाम' का अर्थ है—निर्वाण पाने योग्य व्यक्ति[4]। यह शब्द परिस्थितिवाद के विजय की ओर संकेत करता है। आध्यात्मिक वही हो सकता है जो असदाचारी व्यक्तियों के जीवन को अपने लिए उदाहरण न बनाए, किन्तु आगमोक्त विधि के अनुसार ही चले। कहा भी है—मूर्ख लोग परिस्थिति के अधीन हो स्वधर्म को त्याग देते हैं किन्तु तपस्वी और ज्ञानी साधुपुरुष घोर कष्ट पड़ने पर भी स्वधर्म को नहीं छोड़ते, विकृत नहीं बनते[5]।

श्लोक ३:

८. आश्रव (आसवो ख):

जिनदास चूर्णि में 'आसव' (स=आश्रव) पाठ है। इसका अर्थ इन्द्रिय-जय किया गया है। टीका में 'आसमो' को पाठान्तर माना है[6]। अगस्त्य चूर्णि में वह मूल है। उसका अर्थ तपोवन या व्रतग्रहण, दीक्षा या विश्राम-स्थल है[7]।

१—(क) अ० चू० : अणुसद्दो पच्छाभावे। सोयमिति पाणियस्स णिण्णप्पदेसाभिसप्पण। सोतेण पाणियस्स गमणेपवत्ते ज जत्थ पडितं कट्ठाति वुज्झति, त सोत मणुजातीति अणुसोतपडित। एव अणुसोत पट्ठित इव। इव सद्द लोवो एत्थ दट्ठव्वो।

(ख) जि० चू० पृ० ३६८।

२—(क) अ० चू० : प्रतीपसोत पडिसोत, ज पाणियस्स थल प्रतिगमण।...... ''सद्दादि विसय पडिलोमा प्रवृत्ती दुक्करा।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९ : प्रतीप श्रोत प्रतिश्रोत, ज पाणियस्स थल प्रति गमन, त पुण न साभावित, देवतादिनियोगेण होज्जा, जहा त असक्क एव सद्दादीण विसयाण पडिलोमा प्रवृत्ति- दुक्करा।

३—(क) अ० चू० : जधा ईसत्थ छसिक्खितो छुवग्गहमवि वालादिगं लक्ख लभते तधा कामछुहभावणाभावितै तप्परिच्चागेण संजमलक्खं जो लभते सो पडिसोतलद्धलक्खो तेण पडिसोतलद्धलक्खेण।

(ख) जि० चू० पृ० ३६९।

४—जि० चू० पृ० ३६९ : णिव्वाणगमणारुहो 'भविउकामो' होउकामो तेण होउकामेण।

५—हा० टी० प० २७९ : 'भवितुकामेन' ससारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्रजनाचरितान्युदाहरणीकृत्यासन्मार्ग-प्रवण चेतोऽपि कर्त्तव्यम्, अपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यमिति, उक्त च—"निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन, स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः। तपः श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो, न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम्।"

६—(क) जि० चू० पृ० ३६९ : आसवो नाम इदियजओ।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'आश्रवः' इन्द्रियजयादिरूप- परमार्थपेशलः कायवाङ्मनोव्यापारः 'आश्रमो वा' व्रतग्रहणादिरूपः।

६. अनुस्रोत संसार है (अणुसोओ संसारो ग) :

अनुस्रोत-गमन संसार (जन्म-मरण की परम्परा) का कारण है। अभेद-दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे ससार कहा है[1]।

१०. प्रतिस्रोत उसका उतार है (पडिसोओ तस्स उत्तारो घ) :

प्रतिस्रोत-गमन ससार-मुक्ति का कारण है। अभेद-दृष्टि से कारण को कार्य मान उसे ससार से उत्तरण या मुक्ति कहा है। चूर्णियों में 'उत्तारो' के स्थान में 'निग्घाडो' पाठ है। इसका भावार्थ यही है[2]।

श्लोक ४ :

११. आचार में पराक्रम करने वाले (आयारपरक्कमेण क) :

आचार का अर्थ है—आचार को धारण करने का सामर्थ्य। आचार में जिनका पराक्रम होता है, उन्हे आचार-पराक्रम कहा जाता है। यह साधु का विशेषण है[3]। टीकाकार ने इसका अर्थ 'ज्ञानादि में प्रवर्तमान शक्ति वाला' किया है[4]।

१२. संवर में प्रभूत समाधि रखने वाले (संवरसमाहिबहुलेणं ख) :

सवर का अर्थ इन्द्रिय और मन का सवर है[5]। समाधि का अर्थ समाधान, सवर-धर्म में अप्रकम्प[6] या अनाकुल रहना है। बहुल अर्थात् प्रभूत। सवर में जिनकी समाधि बहुत होती है, वे सवर-समाधि-बहुल कहलाते हैं[7]।

१३. चर्या (चरिया ग) :

चर्या का अर्थ मूल व उत्तरगुण रूप चरित्र है[8]।

१—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : अणुसोओ ससारो तहा अणुसोतसुहमुच्छिओ लोगो पवत्तमाणो ससारे निवडइ, ससारकारण सद्दादयो अणुसोता इति कारणे कारणोवयारो।

(ख) हा० टी० प० २७९ : 'अनुस्रोत ससार' शब्दादिविषयानुकूल्य ससार एव, कारणे कार्योपचारात्, यथा विष मृत्यु दधि त्रपुषी प्रत्यक्षो ज्वर.।

२—(क) जि० चू० पृ० ३६६ : तव्विवरीयकारणे य पुण पडिसोओ, तस्स निग्घाडो, जहा पडिलोम गच्छतो ण पाडिज्जइ पायाले णदीसोएण तहेव सद्दादिसु अमुच्छिओ ससारपायाले ण पडइ।

(ख) हा० टी० प० २७६ 'उत्तार' उत्तरणमुत्तार, हेतौ फलोपचारात् यथाऽऽयुर्घृतं तन्दुलान्वर्षति पर्जन्य.।

३—(क) अ० चू० : आयारोमूलगुणा परक्कम बल आयार धारणे सामत्थ आयारपरक्कमो जस्स अत्थि सो आयारपरक्कमवान् ननु लोवे कते आयारपरक्कमो साधुरेव।

(ख) जि० चू० पृ० ३६६-३७० : आयारपरक्कमेण, आयारो-मूलगुणो परक्कमो-बल, आयारधारणे समत्थं, आयारे परक्कमो जस्स अत्थि सो आयारपरक्कमवान्, ननु लोए कए आयारपरिक्कमो साधुरेव।

४—हा० टी० प० २७६ : 'आचारपराक्रमेणे' त्याचारे—ज्ञानादौ पराक्रम —प्रवृत्ति बल यस्य स तथाविध इति।

५—जि० चू० पृ० ३७० : सवरो इंदियसवरो णोइंदियसवरो य।

६—जि० चू० पृ० ३७० : सवरे समाहाण तओ अवकप्पण बहु लाति-बहुं गिण्हइ, सवरे समाहि बहु पडिवज्जइ, संवरसमाधिबहुले, तेण सवरसमाधिबहुलेण।

७—हा० टी० प० २७६ : सवरे—इन्द्रियादिविषये समाधि—अनाकुलत्व बहुलं—प्रभूतं यस्य सः।

८—जि० चू० पृ० ३७० : चरिया चरित्तमेव, मूलुत्तरगुण समुदायो।

१४. गुणों (गुणा [ग]) :

चारित्र की रक्षा के लिए जो भावनाएँ हैं, उन्हें गुण कहा जाता है[१]।

१५. नियमों की (नियमा [ग]) :

प्रतिमा आदि अभिग्रह नियम कहलाते हैं[२]। आगमों मे भिक्षु के लिए बारह प्रतिमाओं का निरूपण मिलता है[३]।

श्लोक ५ :

१६. अनिकेतवास (अणिएयवासो [क]) :

निकेत का अर्थ घर है। व्याख्याकारों के अनुसार भिक्षु को घर में नहीं किन्तु उद्यान आदि एकान्त स्थान में रहना चाहिए[४]। आगम-साहित्य में सामान्तः भिक्षुओं के उद्यान, शून्यगृह आदि में रहने का वर्णन मिलता है। यह शब्द उसी स्थिति की ओर सकेत करता है। इसका तात्पर्य 'विविक्त-शय्या' से है। मनुस्मृति में मुनि को अनिकेत कहा है[५]। 'अनिकेतवास' का अर्थ गृह-त्याग भी हो सकता है। चूर्णि और टीका में इसका अर्थ अनियतवास—सदा एक स्थान में न रहना भी किया है[६]।

१७. अज्ञात कुलों से भिक्षा लेना (अन्नायउंछं [ख]) :

पूर्व परिचित पितृ-पक्ष और पश्चात् परिचित श्वशुर-पक्ष से गृहीत न हो किन्तु अपरिचित कुलों से प्राप्त हो, उस भिक्षा को अज्ञातोञ्छ कहा जाता है[७]। टीकाकार ने इसका अर्थ विशुद्ध उपकरणों का ग्रहण किया है[८]।

१८. एकान्तवास (पइरिक्कया [ख]) :

इसका अर्थ है—एकान्त स्थान जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुसक, पशु आदि रहते हों वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों की साधना में विघ्न उपस्थित हो सकता है, इसलिए उन्हें विजन-स्थान में रहने की शिक्षा दी गई है[९]।

१—जि० चू० पृ० ३७० : गुणा तेसिं सारक्खणनिमित्त भावणाओ।

२—जि० चू० पृ० ३७० : नियमा—पडिमादयो अभिग्गहविसेसा।

३—दशा० ७वीं दशा।

४—जि० चू० पृ० ३७० : अणिएयवासोत्ति निकेतं-घर तमि ण वसियव्व, उज्जाणाइवासिणा होयव्वं।

५—म० स्मृ० अ० ६.४३ : अनग्निरनिकेतः स्यात्।

६—(क) अ० चू० : अणिययवासो वा जतो ण, निच्चमेगत्थ वसियव्व किन्तु विहरितव्व।

(ख) जि० चू० पृ० ३७० : अणियवासो वा अनिययवासो, निच्चं एगते न वसियव्वं।

(ग) हा० टी० प० २८० : अनियतवासो मासकल्पादिना 'अनिकेतवासो वा' अगृहे उद्यानादौ वासः।

७—जि० चू० पृ० ३७० : पुव्वपच्छासंथवादीहिं ण उप्पाइयमिति भावओ, अन्नायं उछ।

८—हा० टी० प० २८० : 'अज्ञातोञ्छं' विशुद्धोपकरणग्रहणविषयम्।

९—(क) जि० चू० पृ० ३७० : पइरिक्कं विवित्त भण्णइ, दव्वे जं विजणं भावे रागाइ विरहित, सपक्खपरपक्खे माणवज्जियं वा, तब्भावो पइरिक्कयाओ।

(ख) हा० टी० प० २८० : 'पइरिक्कया य' विजनैकान्तसेविता च।

१९. उपकरणों की अल्पता (अप्पोवही ग) :

अल्पोपधि का अर्थ उपकरणों की अल्पता या अक्रोध भाव—ये दोनों हो सकते हैं[१]।

२०. विहार-चर्या (विहारचरिया घ) :

विहार-चर्या का अर्थ वर्तन या जीवन-चर्या है[२]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ विहार—पाद-यात्रा की चर्या किया है[३]। पर यह विहार-चर्या शब्द इस श्लोक में उक्त समस्त चर्या का संग्राहक है, इसलिए अगस्त्य चूर्णि का अर्थ ही अधिक संगत लगता है। कुल-विवरण में भी विहार का यही अर्थ मिलता है[४]।

श्लोक ६ :

२१. आकीर्ण (आइण्ण क) :

वह भोज जहाँ बहुत भीड़ हो, आकीर्ण कहलाता है। भिक्षु आकीर्ण में भिक्षा लेने जाए तो वहाँ हाथ, पैर आदि के चोट आने की संभावना रहती है, इसलिए इसका निषेध है[५]।

तुलना करिए—आचा० २.१ ३।

२२. अवमान नामक भोज (ओमाण क) :

वह भोज, जहाँ गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने के कारण खाद्य कम हो जाए, अवमान कहलाता है[६]। जहाँ 'परिगणित' लोगों के लिए भोजन बने वहाँ से भिक्षा लेने पर भोजकार अपने निमन्त्रित अतिथियों के लिए फिर से दूसरा भोजन बनाता है या भिक्षु के लिए दूसरा भोजन बनाता है या देता ही नहीं, इस प्रकार अनेक दोषों की संभावना से इसका निषेध है।

तुलना करिए—आचा० २ १.३।

२३. प्रायः दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण (ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ख) :

इसका अर्थ है प्रायः[७] दृष्ट-स्थान से भक्त-पान लेना। इसकी मर्यादा यह है कि तीन घरों के अन्तर से लाया हुआ भक्त पान

१—(क) अ० चू० : उपधाणमुपधि। तत्थ दव्व अप्पोपधी ज एगेण वत्थेण परिवुसित एवमादि। भावतो अप्पकोधादी धारणं सपक्ख-परपक्ख गत।
(ख) जि० चू० पृ० ३७० पहाणमुवही ज एगवत्थपरिचाए एवमादि, भावओ अप्प कोहादिवारणं सपक्खपरपक्खे गत।

२—अ० चू० : सव्वा वि एसा विहार चरिया इसिणं पसत्था-विहरण विहारो ज एव पवत्तियव्व। एतस्स विहारस्स आचरण विहारचरिया।

३—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : विहरण विहारो, सो य मासकप्पाइ, तस्स विहारस्स चरणं विहारचरिया।
(ख) हा० टी० प० २८० : 'विहारचर्या' विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा।

४—द्वा० कु० चतुर्थ विवरण : विहरण विहारः—सम्यक्समस्तयतिक्रियाकरणम्।

५—जि० चू० पृ० ३७१ : 'आइण्ण' मिति अच्चत्थ आइन्न, त पुण रायकुलसखडिमाइ, तत्थ महाजणविमद्दो पविसमाणस्स हत्थपादादि-लूसगभाणभेदाई दोसा, उक्कुट्ठगमणा इदिये दायगस्स सोहेइत्ति।

६—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : ओमाणविवज्जण नाम अत्रम-ऊण अत्रमाण ओमो वा मोणा जत्थ समवइ तं ओमाण।
(ख) हा० टी० प० २८०-१ : अवमानं—स्वपक्षपरपक्षप्राभृत्यज लोकाबहुमानादि '' ''अवमाने अलाभाधाकर्मादिदोषात्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : उस्सण्णसद्दो पायोवित्तीए वट्टइ, जहा—'देवा ओसण्ण सात वेयण वेदेंति।
(ख) हा० टी० प० २८१।

हो, वह ले, उससे आगे का न ले[1]।

२४. भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है उसीसे संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। (संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू ग , तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा घ) :

लिप्त हाथ या भाजन से आहार लेना 'संसृष्ट कल्प' कहलाता है। सचित्त वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना मुनि के लिए निषिद्ध है अतः वह 'तज्जात संसृष्ट' होना चाहिए। जात का अर्थ प्रकार है। जो एक ही प्रकार के होते हैं वे 'तज्जात' कहलाते हैं[2]।

स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार 'तज्जात संसृष्ट' का अर्थ है—देय वस्तु के समान—जातीय वस्तु से लिप्त[3]।

सजीव वस्तु से संसृष्ट हाथ और भाजन से लेना निषिद्ध है और पश्चात् कर्म-दोष टालने के लिए तज्जातीय वस्तु से असंसृष्ट हाथ और भाजन से लेना भी निषिद्ध है।

इसके लिए देखिए दशवैकालिक ५.१.३५।

श्लोक ७ :

२५. मद्य और माँस का अभोजी (अमज्जमंसासि क) :

चूर्णिकारों ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है—"पिण्डैषणा—अध्ययन (५.१.७३) में केवल बहु-अस्थि वाले माँस लेने का निषेध किया है और यहाँ माँस-भोजन का सर्वथा वर्जन किया है यह विरोध है?" और इसका समाधान ऐसा किया है—"यह उत्सर्ग सूत्र है तथा वह कारणिक—अपवाद सूत्र है। तात्पर्य यह है कि मुनि माँस न ले सामान्य विधि यही है किन्तु विशेष कारण की दशा में लेने को बाध्य हो तो परिशाटन-दोषयुक्त (दे० ५.१ ७४) न ले[4]।"

यह चूर्णिकारों का अभिमत है। टीकाकार ने यहाँ उसकी चर्चा नहीं की है। हमारा अभिमत आचाराङ्ग (श्रुतस्कन्ध २) की टिप्पणियों में ही व्यक्त होगा—ऐसा संभव है। चूर्णि गत उल्लेखो से भी इतना स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षुओं की भाँति जैन-भिक्षुओं के लिए माँस-भोजन सामान्यतः विहित नहीं किन्तु अत्यन्त निषिद्ध है। अपवाद विधि कब से हुई—यह अन्वेषणीय विषय है। आज के जैन-समाज का बहुमत इस अपवाद को मान्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : दिट्ठाहडं ज जत्थ उवयोगो कीरइ, तिआइघरतराओ परतो, णाणिसि (दि) ट्ठामिहडकरणं, एयं ओसण्णं दिट्ठाहडभत्तपाण गेण्हिज्जत्ति।

(ख) हा० टी० प० २८१ : इदं चोत्सन्नदृष्टाहृत यत्रोपयोग· शुद्धयति, त्रिगृहान्तरादारत इत्यर्थ, 'भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बीओ अ दोसुवओग' मिति वचनात्।

२—अ० चू० : तज्जाय ससट्ठमिति जात सद्दो प्रकारवाची, तज्जातं तधा प्रकार जधा आमगोरसो आमस्स न गोरसस्स तज्जातो कुसणादि पुण अतज्जात।

३—स्था० ५.१ वृ० : तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत्संसृष्टं हस्तादि।

४—(क) अ० चू० : ननु पिंडेसणाए भणित—बहुअट्ठित पोग्गलं, अणिमिस वा बहुकटग (५.१) इति तत्थ बहुअट्ठित निसिद्धमिह सव्वहा। विरुद्धमिह परिहरण, सेइम उस्सग्ग सुत्त। त कारणीय जताकारणे गहणं तदा परिसाडी परिहरणत्थं सुद्ध घेतव्व—ण बहुअट्ठितमिति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : अमज्जमसासी भवेज्जा एवमादि, आह-णणु पिंडेसणाए भणियं 'बहुअट्ठियं पोग्गलं अणिमिस वा बहुकटकं ?', आयरिओ आह—तत्थ बहुअट्ठिय णिसिद्धमितिऽत्थ सव्व णिसिद्ध, इमं उस्सगं सुत्तं, त तु कारणीय, जदा कारणे गहणं तदा पडिसाडिपरिहरणत्थं सुत्तं घेतव्वं-न बहुअट्ठि (अट्ठि) यमिति।

१९. उपकरणों की अल्पता (अप्पोवही ग) :

अल्पोपधि का अर्थ उपकरणों की अल्पता या अक्रोध भाव—ये दोनों हो सकते हैं[१]।

२०. विहार-चर्या (विहारचरिया घ) :

विहार-चर्या का अर्थ वर्तन या जीवन-चर्या है[२]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ विहार—पाद-यात्रा की चर्या किया है[३]। पर यह विहार-चर्या शब्द इस श्लोक में उक्त समस्त चर्या का सग्राहक है, इसलिए अगस्त्य चूर्णि का अर्थ ही अधिक सगत लगता है। कुल-विवरण में भी विहार का यही अर्थ मिलता है[४]।

श्लोक ६ :

२१. आकीर्ण (आइण्ण क) :

वह भोज जहाँ बहुत भीड़ हो, आकीर्ण कहलाता है। भिक्षु आकीर्ण में भिक्षा लेने जाए तो वहाँ हाथ, पैर आदि के चोट आने की सभावना रहती है, इसलिए इसका निषेध है[५]।

तुलना करिए—आचा० २.१ ३।

२२. अवमान नामक भोज (ओमाण क) :

वह भोज, जहाँ गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने के कारण खाद्य कम हो जाए, अवमान कहलाता है[६]। जहाँ 'परिगणित' लोगों के लिए भोजन बने वहाँ से भिक्षा लेने पर भोजकार अपने निमन्त्रित अतिथियों के लिए फिर से दूसरा भोजन बनाता है या भिक्षु के लिए दूसरा भोजन बनाता है या देता ही नहीं, इस प्रकार अनेक दोषों की संभावना से इसका निषेध है।

तुलना करिए—आचा० २ १ ३।

२३. प्रायः दृष्ट-स्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण (ओसन्नदिट्ठाहडभत्तपाणे ख) :

इसका अर्थ है प्रायः[७] दृष्ट-स्थान से भक्त-पान लेना। इसकी मर्यादा यह है कि तीन घरों के अन्तर से लाया हुआ भक्त-पान

१—(क) अ० चू० : उपधाणमुपधि। तत्थ दव्व अप्पोपधी जं एगेण वत्थेण परिवुसित एवमादि। भावतो अप्पकोधादी धारणं सपक्ख-परपक्ख गत।

(ख) जि० चू० पृ० ३७० पहाणमुवही ज एगवत्थपरिचाए एवमादि, भावओ अप्प कोहादिवारणं सपक्खपरपक्खे गत।

२—अ० चू० : सव्वा वि एसा विहार चरिया इरिण पसत्था-विहरण विहारो ज एव पवत्तियव्व। एतस्स विहारस्स आचरण विहारचरिया।

३—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : विहरण विहारो, सो य मासकप्पाइ, तस्स विहारस्स चरण विहारचरिया।

(ख) हा० टी० प० २८० : 'विहारचर्या' विहरणस्थितिर्विहरणमर्यादा।

४—द्वा० कु० चतुर्थ विवरण : विहरण विहारः—सम्यक्समस्तयतिक्रियाकरणम्।

५—जि० चू० पृ० ३७१ : 'आइण्ण' मिति अच्चत्थ आइन्न, त पुण रायकुलसखडिमाइ, तत्थ महाजणविमद्दो पविसमाणस्स हत्थपादादि-लूसणभाणभेदाई दोसा, उक्कूगमणा इदिये दायगस्स सोहेइत्ति।

६—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : ओमाणविवज्जणं नाम अवम-ऊणं अवमाण ओमो वा मोणा जत्थ समवइ त ओमाण।

(ख) हा० टी० प० २८०-१ : अवमानं—स्वपक्षपरपक्षप्राभृत्यज लोकायद्गुमानादि······अवमाने अलाभाधाकर्मादिदोषात्।

७—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : उस्सण्णसद्दो पायोवित्तीए वट्टइ, जहा—'देवा ओसण्णं सातं वेदण वेदेंति।

(ख) हा० टी० प० २८१।

हो, वह ले, उससे आगे का न ले[1]।

२४. भिक्षु संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा ले। दाता जो वस्तु दे रहा है उसीसे संसृष्ट हाथ और पात्र से भिक्षा लेने का यत्न करे। (संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू ग , तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा घ) :

लिप्त हाथ या भाजन से आहार लेना 'ससृष्ट कल्प' कहलाता है। सचित्त वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से भिक्षा लेना मुनि के लिए निषिद्ध है अतः वह 'तज्जात ससृष्ट' होना चाहिए। जात का अर्थ प्रकार है। जो एक ही प्रकार के होते हैं वे 'तज्जात' कहलाते हैं[2]।

स्थानाङ्ग वृत्ति के अनुसार 'तज्जात संसृष्ट' का अर्थ है—देय वस्तु के समान—जातीय वस्तु से लिप्त[3]।

सजीव वस्तु से ससृष्ट हाथ और भाजन से लेना निषिद्ध है और पश्चात् कर्म-दोष टालने के लिए तज्जातीय वस्तु से असंसृष्ट हाथ और भाजन से लेना भी निषिद्ध है।

इसके लिए देखिए दशवैकालिक ५.१.३५।

श्लोक ७ :

२५. मद्य और माँस का अभोजी (अमज्जमंसासि क) :

चूर्णिकारों ने यहाँ एक प्रश्न उपस्थित किया है—"पिण्डैषणा—अध्ययन (५.१.७३) में केवल बहु-अस्थि वाले माँस लेने का निषेध किया है और यहाँ माँस-भोजन का सर्वथा वर्जन किया है यह विरोध है?" और इसका समाधान ऐसा किया है—"यह उत्सर्ग सूत्र है तथा वह कारणिक—अपवाद सूत्र है। तात्पर्य यह है कि मुनि माँस न ले सामान्य विधि यही है किन्तु विशेष कारण की दशा में लेने को बाध्य हो तो परिशाटन-दोषयुक्त (दे० ५.१ ७४) न ले[4]।"

यह चूर्णिकारों का अभिमत है। टीकाकार ने यहाँ उसकी चर्चा नहीं की है। हमारा अभिमत आचाराङ्ग (श्रुतस्कन्ध २) की टिप्पणियों में ही व्यक्त होगा—ऐसा सभव है। चूर्णि गत उल्लेखों से भी इतना स्पष्ट है कि बौद्ध-भिक्षुओं की भाँति जैन-भिक्षुओं के लिए माँस-भोजन सामान्यतः विहित नहीं किन्तु अत्यन्त निषिद्ध है। अपवाद विधि कब से हुई—यह अन्वेषणीय विषय है। आज के जैन-समाज का बहुमत इस अपवाद को मान्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

१—(क) जि० चू० पृ० ३७१ : दिट्ठाहड ज जत्थ उवयोगो कीरइ, तिआइघरतराओ परतो, णाणिसि (दि) ट्ठामिहडकरण, एय ओसण्णं दिट्ठाहडभत्तपाण गेण्हिज्जत्ति।

(ख) हा० टी० प० २८१ : इद चोत्सन्नदृष्टाहृत यत्रोपयोगः शुद्ध्यति, त्रिगृहान्तरादारत इत्यर्थ, 'भिक्खग्गाही एगत्थ कुणइ बीओ अ दोसुवओग' मिति वचनात्।

२—अ० चू० : तज्जाय ससट्ठमिति जात सद्दो प्रकारवाची, तज्जात तधा प्रकार जधा आमगोरसो आमस्स न गोरसस्स तज्जातो कुसणादि पुण अतज्जात।

३—स्था० ५.१ वृ० : तज्जातेन देयद्रव्याविरोधिना यत्संसृष्टं हस्तादि।

४—(क) अ० चू० : ननुपिंडेसणाए भणित—बहुअट्ठित पोग्गल, अणिमिसं वा बहुकटग (५.१) इति तत्थ बहुअट्ठित निसिद्धमिह सव्वहा। विरुद्धमिह परिहरण, सेइम उस्सग्ग सुत्त। तं कारणीय जताकारणे गहणं तदा परिसाडी परिहरणत्थं सुद्ध घेतव्व—ण बहुअट्ठितमिति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : अमज्जमंसासी भवेज्जा एवमादि, आह-णणु पिंडेसणाए भणिय 'बहुअट्ठिय पोग्गलं अणिमिस वा बहुकटक ?', आयरिओ आह—तत्थ बहुअट्ठिय णिसिद्धमितिऽत्थ सव्वं णिसिद्ध, इमं उस्सग सुत्तं, त तु कारणीय, जदा कारणे गहणं तदा पडिसाडिपरिहरणत्थं सुत्त घेतव्व-न बहुपडि (अट्ठि) यमिति।

२६. बार-बार विकृतियों को न खाने वाला (अभिक्खणं निव्विगइं गया ख) :

मद्य और मांस भी विकृति हैं[1]। कुछ विकृति-पदार्थ भक्ष्य हैं और कुछ अभक्ष्य। चूर्णियों के अनुसार भिक्षु के लिए मद्य मांस का जैसे अत्यन्त निषेध है वैसे दूध-दही आदि विकृतियों का अत्यन्त निषेध नहीं है[2]। फिर भी प्रतिदिन विकृति खाना उचित नहीं होता, इसलिए भिक्षु बार-बार निर्विकृतिक (विकृति रहित रूखा) भोजन करने वाले होते हैं।

चूर्णियों में पाठान्तर का उल्लेख है—'केयिपढति'—अभिक्खणिव्वितिय जोगया य (अ० चू०)। इसका अर्थ यही है कि भिक्षु को बार-बार निर्विकृतिक-योग स्वीकार करना चाहिए[3]।

२७. बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला (अभिक्खणं काउस्सग्गकारी ग) :

गमनागमन के पश्चात् मुनि ईर्यापथिक (प्रतिक्रमण-कायोत्सर्ग)[4] किए बिना कुछ भी न करे—यह टीका का आशय है[5]।

चूर्णियों के अनुसार कायोत्सर्ग में स्थित मुनि के कर्म-क्षय होता है, इसलिए उसे गमनागमन, विहार आदि के पश्चात् बार बार कायोत्सर्ग करना चाहिए[6]।

मिलाए—१० १३।

२८. स्वाध्याय के लिए विहित तपस्या में (सज्झायजोगे घ) :

स्वाध्याय के लिए योग-वहन (आचामाम्ल आदि तपोनुष्ठान) करने की एक विशेष विधि है। आगम अध्ययन के समय मुनि इस तपोयोग को वहन करते हैं[7]। इसकी विशेष जानकारी के लिए देखिए—विधिप्रपा।

श्लोक ६ :

२६. साधु गृहस्थ का वैयापृत्य न करे (गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा क) :

गृहि-वैयापृत्य—गृहस्थ का आदर करना, प्रीतिजनक उपकार करना—ये असंयम का अनुमोदन करने वाले हैं, इसलिए मुनि इनका आचरण न करे[8]।

देखिए पृ०८४ ३.६ का टिप्पण ३४।

१—प्रश्न० सवरद्वार ४ भावना ५।

२—(क) अ० चू० : अभिक्खण मिति पुणो पुणो निव्विइय करणीय। ण जधामज्जमंसाण अच्चत पडिसेधो तधा विगतीण।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ 'अभिक्खण निव्विगइ गया ये' ति अप्पो कालविसेसो अभिक्खणमिति, अभिक्खणणिव्वियय करणीयं, जहा मज्जमंसाणं अच्चतपडिसेधो (न) तहा वीयाण।

३—जि० चू० पृ० ३७२ : केई पढति—'अभिक्खण णिव्वितीया जोगो पडिवज्जियव्वो' इति।

४—देखिए ५ १ ८८ में 'इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे' का टिप्पण।

५—हा० टी० प० २८१ : 'कायोत्सर्गकारी भवेत्' ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत् कुर्याद्, तदशुद्धतापत्तेः।

६—(क) अ० चू० : काउसग्गेसु ट्ठितस्स कम्मनिज्जराभवतीति गमणागमणविहारादिसु अभिक्खण काउसग्गकारिणा भवितव्वं।

(ख) जि० चू० पृ० ३७२ : काउसग्गे ठियस्स कम्मनिज्जरा भवइ, गमणागमणविहाराईसु अभिक्खणं काउसग्गे 'सऊसिय नीससियं' पढियव्वा वाया।

७—(क) जि० चू० पृ० ३७२ : वायणादि वज्झो सज्झाओ तस्स ज विहाण आयंबिलाइजोगो तमि।

(ख) हा० टी० प० २८१ 'स्वाध्याययोगे' वाचनाद्युपचारव्यापार आचामाम्लादौ।

८—जि० चू० पृ० ३७२ : वेयावडियं नाम तयाऽऽदरकरण, तेसिं वा पीतिजणण, उपकारक असजमाणुमोदणं ण कुज्जा।

३०. संक्लेश रहित (असंकिलिट्ठेहिं [ग]) :

गृहि-वैयापृत्य आदि राग-द्वेष के द्वारा जिसका मन बाधित होता है, उसे संक्लिष्ट कहा जाता है। असंक्लिष्ट इसका प्रतिपक्ष है[1]।

श्लोक १० :

३१. श्लोक १० :

एकाकी-विहार प्रत्येक मुनि के लिए विहित नहीं है। जिसका ज्ञान समृद्ध होता है, शारीरिक संहनन सुदृढ़ होता है, वह आचार्य की अनुमति पाकर ही एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार कर सकता है। इस श्लोक में आपवादिक स्थिति की चर्चा है। इसका आशय है कि क्वचित् संयम-निष्ठ साधुओं का योग प्राप्त न हो तो संयमहीन के साथ न रहे, भले कदाचित् अकेला रहने की स्थिति आ जाए। जो मुनि रस-लोलुप हो आचार्य के अनुशासन की अवहेलना कर, संयम-विमुख बन अकेले हो जाते हैं और इस सूत्र के आशय को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं, वह अभीष्ट नहीं है।

श्लोक ११ :

३२. काल (संवच्छरं [क]) :

मुनि कारण के विना एक स्थान में नहीं रह सकता[2]। उसके लिए अनियतवास को प्रशस्त कहा गया है[3]। विहार की दृष्टि से वर्षाकाल को दो भागों में बाँटा गया है—वर्षाकाल और ऋतु-बद्ध-काल। वर्षाकाल में मुनि एक स्थान में चार मास रह सकता है और ऋतु-बद्ध-काल में एक मास। चातुर्मास का काल मुनि के एक स्थान में रहने का उत्कृष्ट काल है, इसलिए यहाँ उसे संवत्सर कहा गया है[4]। जिनदास महत्तर और हरिभद्रसूरि का अभिमत भी यही है। चूर्णिकार 'अवि' को सम्भावनार्थक मानते हैं[5]। इनके अनुसार कारण-विशेष की स्थिति में उत्कृष्ट-वास मर्यादा से अधिक भी रहा जा सकता है—'अपि' शब्द का यह अर्थ है। हरिभद्रसूरि 'अपि' शब्द के द्वारा एक मास का सूचन करते हैं[6]। आचाराङ्ग में ऋतु-बद्ध और वर्षाकाल के कल्प का उल्लेख है। किन्तु वर्षाकाल और शेषकाल में एक जगह रहने का उत्कृष्ट कल्प (मर्यादा) कितना है, इसका उल्लेख वहाँ नहीं है। वर्षावास का परम-प्रमाण चार मास का काल है[7] और शेषकाल का परम-प्रमाण एक मास का है[8]। यहाँ बतलाया गया है कि जहाँ उत्कृष्ट काल का वास किया हो वहाँ दूसरी बार वास नहीं करना चाहिए और तीसरी बार भी। तीसरी बार का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु यहाँ चकार के द्वारा

१—(क) जि० चू० पृ० ३७३ : गिहिवेयावडियादिरागदोसविवाहितपरिणामा संकिलिट्ठा, तहा भूते परिहरिऊण असंकिलिट्ठेहिं वसेज्जा, सपरिहारी संवसेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २८२ : 'असंक्लिष्टै' गृहिवैयावृत्त्यकरणसंक्लेशरहितै।

२—बृहत्० भा० १.३६ : कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा हेमंत गिम्हासु चारए।

३—दश० चू० २.५ अ० चू० : जतो ण णिवमेगत्थ वसियव्वं किन्तु विहरितव्वं।

४—अ० चू० : संवच्छर इति कालपरिमाणं। तं पुण णेह बारसमासिगसंवच्छरं किन्तु वरिसा रत्त चातुमासितं। स एव जेट्ठोग्गहो।

५—(क) अ० चू० : अपि सद्दो कारण विसेस दरिसयति।

(ख) जि० चू० पृ० ३७४ : अविसद्दो संभावणे, कारणे अच्छितव्वंति एयं संभावयति।

६—हा० टी० प० २८३ : अपिशब्दान्मासमपि।

७—बृहत्० भा० १.३६।

८—बृहत्० भा० १.६.७८।

यह प्रतिपादित हुआ है, ऐसा चूर्णिकार का अभिमत है[1]। तात्पर्य यह है कि जहाँ मुनि एक मास रहे वहाँ दो मास अन्यत्र विताए विना न रहे। इसी प्रकार जहाँ चातुर्मास करे वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र किए विना चातुर्मास न करे।

श्लोक १३ :

३३. (किं मे परो क) :

हा० टी० प० २८३ : 'किं मे कृत'मिति छान्दसत्वात् तृतीयार्थे षष्ठी।

श्लोक १६ :

३४. आत्मा की सतत् रक्षा करनी चाहिए (अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो क) :

इस चरण में कहा गया है कि आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। कुछ लोग देह-रक्षा को मुख्य मानते हैं। उनकी धारणा है कि आत्मा को गवाकर भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए। शरीर आत्म-साधना करने का साधन है। किन्तु यहाँ इस मत का खण्डन किया गया है और आत्म-रक्षा को सर्वोपरि माना गया है। महाव्रत के ग्रहण-काल से मृत्यु-पर्यन्त आत्म-रक्षा में लगे रहना चाहिए। आत्मा मरती नहीं, अमर है फिर उसकी रक्षा का विधान क्यों ? यह प्रश्न हो सकता है। किन्तु इसका उत्तर भी स्पष्ट है। यहाँ आत्मा से सयमात्मा (संयम-जीवन) का ग्रहण अभिप्रेत है। सयमात्मा की रक्षा करनी चाहिए। श्रमण के लिए कहा भी गया है कि वह सयम से जीता है[2]। सयमात्मा की रक्षा कैसे हो ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में बताया गया है इन्द्रियों को सुसमाहित करने से—उनकी विषयोन्मुखी या बहिर्मुखी वृत्ति को रोकने से आत्म-रक्षा होती है।

१—अ० चू० : बितियं च वासं—बितिय ततो अणंतर च सरेण ततियमवि जतो भणित तदुगुण, दुगणेण अपरिहरित्ता ण वहति। बितियं ततियं च परिहरिऊण चउत्थे होजा।

२—दश० चू० २.१५ : सो जीवइ संजमजीविएण।

परिशिष्ट

परिशिष्ट-१

शब्द-सूची

शब्द सूची

अ

मूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
अ	६।४। सू० ३ गा० १	च	और
अइउक्कस	५।२।४२	अत्युत्कर्ष	गर्वरहित
अइक्कमित्तु	५।२।११	अतिक्रम्य	लाघकर
अइक्कम्म	५।२।२५	अतिक्रम्य	लांघकर
अइदूर	५।१।२३	अतिदूर	बहुत दूर
अइभूमि	५।१।२४	अतिभूमि	वह स्थान जहाँ भिक्षुओं का जाना अनुमत न हो
अइचार	५।१।८९	अतिचार	व्रत या विधि का उल्लघन
अइलाभ	६।३।५	अतिलाभ	अधिक लाभ
अइवत्त	६।२।१६	अति+वृत्	उल्लघन करना
अइवाय	४। सू० ११	अति+पातय्	नाश करना, वियोग करना
अइवायत	४। सू० ११	अति+पातयत्	वियोग करता हुआ
अइहील	५।१।६९	अति हेलय्	अवज्ञा करना
अईअ	७।८, ६।१०	अतीत	भूतकाल
अउल	७।४३, ६।३।१५	अतुल	तुलना-रहित
अओमय	६।३।६,७	अयोमय	लोहमय
अकुस	२।१०; चू०१। सू०१	अङ्कुश	अकुश
अग	८।५७	अङ्ग	अङ्ग
	चू० १। श्लो० १५		कोमल आमत्रण
अगुलिया	४। सू० १८	अङ्गुलिका	उगली
अजण	३।६	अञ्जन	काजल
	५।१।३३	,,	सुरमा
अजली	६।२।१७	अञ्जलि	हाथ जोडना
अड	८।१५	अण्ड	अण्डा
अडय	४। सू० ९	अण्डज	अण्डों से उत्पन्न
अतरा	८।४६	अन्तरा	बीच मे
अंतलिक्ख	७।५३	अन्तरिक्ष	आकाश
अतिय	८।४५; ६।१।१२	अन्तिक	निकट
अधगवण्हि	२।८	अंधकवृष्णि	यदुवश का एक राजा
अब	७।३३	आम्र	आम
अबिल	५।१।९७	अम्ल	खट्टा
अकक्कस	७।३	अकर्कश	कोमल
अकप्प	५।१।४४	अकल्प्य	अग्राह्य

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अकप्पिय	५।१।२७,४१,४३,४८,५०,५२,५४, ५८,६०,६२,६४, ५।२।१५,१७ ; ६।४७	अकल्पिक	अकल्पनीय, अग्राह्य
अकाम	५।१।८०	अकाम	अनिच्छा
अकाल	५।२।४,५	अकाल	असमय
अकिंचण	६।६८ , ८।६३	अकिञ्चन	परिग्रह-रहित
अकीत्ति	चू०१ श्लो०१३	अकीर्ति	अश्लाघा
अकेज्ज	७।४५	अक्रेय	नही खरीदने योग्य
अकोउहल्ल	६।३।१० , १०।१३	अकौतूहल	अनुत्सुक
अकोविय	६।२।२२	अकोविद	अपडित
अक्कम	५।१।७	आ+क्रम्	लाघना
अक्कुट्ठ	१०।१३	आक्रुष्ट	कठोर वचनो से तर्जित
अक्कुहय	६।३।१०	अकुहक	इन्द्रजाल नही करने वाला
अक्कोस	१०।११	आक्रोश	गाली
अक्खाउ	८।२०	आख्यातुम्	कहने के लिये
अक्खाय	४।सू० १,२,३,४,५,६,७,८, ६।४। सू० १	आख्यात	कहा हुआ
अक्खोड	४। सू०१९	आ+स्फोटय्	थोडा या एक वार झाडना
अक्खोडत	४। सू० १९	आस्फोटयत्	एक वार झडकता हुआ
अखडफुडिय	६।६	अखण्डास्फुटित	अखड और अस्फुटित
अगंधण	२।६	अगन्धन	सर्प की एक जाति
अगणि	४। सू० २०;८।२,८ , १०।२	अग्नि	अग्नि
अगारि	६।५७	अगारिन्	गृहस्थ
अगाह	७।३६	अगाव	अथाह
अगिद्ध	१०।१६	अगृद्ध	अनासक्त
अगुण	५।२।४४ ; ६।३।११	अगुण	अवगुण
अगुणप्पेहि	५।२।४१	अगुणप्रेक्षिन्	अवगुणों मे दृष्टि रखने वाला
अगुत्ति	६।५८	अगुप्ति	असुरक्षा
अग्ग	५।१।२	अग्र	प्रवान
	६।१।८,६	,,	नोक
अग्गबीय	४। सू० ८	अग्रवीज	वह वनस्पति जिसका अग्र ही बीज हो
अग्गला	५।२।९, ७।२७	अर्गला	आगल
अग्गि	६।३।१; चू०१। श्लो० १२	अग्नि	अग्नि
अचक्खुविसअ	५।१।२०	अचक्षुर्विषय	चक्षु अगोचर
अचक्खुस	६।२७,३०,४१,४४	अचाक्षुष	चक्षु द्वारा अदृश्य
अचवल	८।२९	अचपल	स्थिर

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अचित्त	५।१।८१,८६ ; ६।१३	अचित्त	निर्जीव, प्रासुक
अचित्तमत	४। सू० १३,१५	अचित्तवत्	,, ,,
अचियत्त	५।१।१७	देशी	अप्रीतिकर या अप्रतीतिकर
	७।४३		अचिन्त्य
अच्चविल	५।१।७८,७९	अत्यम्ल	बहुत खट्टा
अच्चि	४। सू० २०, ८।८	अर्चिस्	अग्नि से टूटी हुई झाल
अच्चिमालि	६।१।१४	अर्चिर्मालिन्	सूर्य
अच्छणजोय	८।३	अक्षणयोग	अहिंसक
अच्छंद	२।२	अच्छन्द	परवश
अच्छि	८।२०	अक्षि	आँख
अजय	४।१,२,३,४,५,६	अयत	असंयत
अजाइया	५।१।१८ , ६।१३	अयाचित्वा	मागे विना
अजाण	६।९ ; ८।३१	अजानत्	नही जानता हुआ
अजीव	४।१२,१३,१४ , ५।१।७७	अजीव	अचेतन
अज्ज	६।५३	आर्य	मुनि
अज्ज	चू०१। श्लो० ९	अद्य	आज
अज्जपय	१०।२०	आर्यपद	धर्मपद
अज्जय	७।१८	आर्यक	नाना, दादा
अज्जव	६।६७	आर्जव	सरलता
अज्जवभाव	८।३८	आर्जवभाव	सरल भाव
अज्जिया	७।१५ ; १०।१५	आर्यिका	पितामही, मातामही
अज्झप्परय	१०।१५	अध्यात्मरत	आत्मलीन, ध्यानमग्न
अज्झयण	४। सू ० १,२,३	अध्ययन	ग्रन्थ-विभाग, अध्याय, परिच्छेद
अज्झाइयव्व	९।४। सू० ५	अध्येतव्य	अध्ययन करने योग्य
अज्झोयर	५।१।५५	अध्यवतर	वह भोजन जो गृहस्थ द्वारा मुनि को ध्यान में रखकर अपनी आवश्यकता से अधिक पकाया जाय
अट्ठ	३।४,१३ ; ४। सू० १७ ; ५।१।३०,४०,४७, ४९,५१,५३,५६,६५,६७,७८,९४,९७ ; ६।११, १९,३४,५२,५५,६३ , ७।७,८,१३,४० ; ८।५१ ; ९।२।१३ ; ९।३।२,४ , ९।४। सू०६,७ ; १०।८	अर्थ	प्रयोजन
	७।४		वाच्य
	७।४६		वस्तु

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अट्ठ	६।७ , ८।१३,१४	अष्टन्	आठ
अट्ठम	८।१५	अष्टम	आठवा
अट्ठया	६।४। सू० ६	अर्थ	प्रयोजन
अट्ठारस	चू०१। सू०१	अष्टादशन्	अठारह
अट्ठारसम	चू०१। सू०१	अष्टादश	अट्ठारहवा
अट्ठावय	३।४	अष्टापद	शतरज
अट्ठिय	५।१।८४	अस्थिक	गुठली
अट्ठियप्प	२।६	अस्थितात्मन्	अस्थिरात्मा
अणतनाण	६।१।११	अनतज्ञान	निरावरणज्ञान, केवलज्ञान
अणतहियकामय	६।२।१६	अनन्तहितकामक	मोक्ष का इच्छुक
अणगारिया	४।१८,१६	अनगारिता	अनगारवृत्ति
अणज्ज	चू० १। श्लो० १	अनार्य	विवेकहीन
अणभिज्झिय	चू० १। श्लो० १४	अनभिध्यात	अनिष्ट
अणलस	८।४२	अनलस	आलस्य-रहित
अणवज्ज	७।३,४६, चू० १। सू० १	अनवद्य	पाप-रहित
अणाइण्ण	३।१,१०	अनाचीर्ण	साधुओ के लिए अकरणीय कार्य
अणाइन्न	७।२	अनाचीर्ण	जिसका आचरण नही किया गया
अणाउल	५।१।१३	अनाकुल	आकुलता-रहित
अणागय	७।८,६, चू० २।१३	अनागत	भविष्य
अणावाह सुहाभिकखि	६।१।१०	अनावाध सुखाभिकांक्षिन्	मोक्ष का अभिलाषी
अणायण	५।१।१०	अनायतन	अस्थान, अगमनीय स्थान
अणायरिय	६।५३	अनाचरित	असेवित
अणायार	६।५६, ८।३२	अनाचार	अनाचार
अणासा	६।३।६	अनाशा	निरपेक्ष मनोभाव
अणिएयवास	चू० २।५	अनिकेतवास	गृहमुक्तवास
अणिग्गहीय	८।३६	अनिगृहीत	वश मे नही किया हुआ
अणिच्च	८।५८, चू० १। सू० १	अनित्य	अशाश्वत
अणिमिस	५।१।७३	अनिमिष	अननास का फल
अणिस्सिय	७।५७	अनिश्रित	अप्रतिवद्ध
अणिह	१०।१३	अनिभ	छल-रहित
अणु	४। सू० १३,१५	अणु	छोटा
अणुगय	६।६८	अनुगत	युक्त
अणुग्गय	८।२८	अनुद्गत	नही उगा हुआ
अणुग्गह	५।१।६४	अनुग्रह	प्रसाद, कृपा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अणुचिट्ठ	५।२।३०	अनु+स्था	ठहरना
अणुजाण	६।१४	अनु+ज्ञा	अनुमोदन करना
अणुत्तर	४। श्लो० १६,२०; ८।४२ , ६।१।१६,१७	अनुत्तर	श्रेष्ठ
अणुदिसा	६।३३	अनुदिशा	दिक्कोण, विदिशा
अणुन्नय	५।१।१३	अनुन्नत	अभिमान-रहित, नतदृष्टि
अणुन्नविय	५।१।१६	अनुज्ञाप्य	आज्ञा लेकर
अणुन्नवेत्तु	५।१।८३	,,	,,
अणुपाल	६।४६, ८।६०	अनु+पालय्	पालन करना
अणुपासमाण	चू० २।१३	अनुपश्यत्	देखता हुआ
अणुप्पत्त	३।१५	अनुप्राप्त	प्राप्त
अणुफास	६।१८	अनुस्पर्श	प्रभाव
अणुबंधि	६।३।७	अनुबंधिन्	अविच्छिन्न
अणुमाय	५।२।४९, ८।२४	अणुमात्र	थोड़ा
अणुमोयणी	७।५४	अनुमोदनी	अनुमोदन करने वाली
अणुवीइ	७।४४,५५	अनुविविच्य	विचार कर
अणुव्विग्ग	५।१।२,९० , ८।४८	अनुद्विग्न	शान्त
अणुसास	९।१।१३	अनु+शास्	अनुशासन करना
अणुसासण	९।४। सू०४ श्लो० २	अनुशासन	शिक्षा
अणुसासिज्जत	९।४। सू० ४	अनुशास्यमान	अनुशासन को प्राप्त होता हुआ
अणुसोय	चू० २।२,३	अनुश्रोतस्	अनुकूल प्रवाह
अणुस्सिन्न	५।२।२१	अनुत्स्विन्न	अग्नि द्वारा अपक्व, जो उबाला हुआ न हो
अणेग	४।सू० ४ से ९ तक, ५।२।४३ ; ९।१।१७	अनेक	अनेक
अणोहाइय	चू०१। सू० १	अनवधावित	संयम से बाहर नहीं गया हुआ
अतिंतिण	८।२९; ९।४। सू० ७ श्लो० ५	अतिन्तिन	बकवास न करने वाला
अत्त	४। सू० १७ ; ८।३०; १०।५	आत्मन्	आत्मा
अत्तकम्म	५।२।३९	आत्म-कर्मन्	अपना किया हुआ कर्म
अत्तगवेसि	८।५६	आत्म-गवेषिन्	आत्महित की खोज करने वाला
अत्तट्ठागुरुअ	५।२।३२	आत्मार्थगुरुक	अपने प्रयोजन को सर्वोपरि मानने वाला
अत्तव	८।४८	आत्मवत्	आत्मवान्
अत्तसपग्गहिय	९।४। सू०४	संप्रगृहीतात्मन्	जिसने आत्म-निग्रह को सबसे उत्कृष्ट मान रखा हो
अत्थ	१०।१५; चू०२।११	अर्थ	अर्थ
अत्थ	३।१४	अत्र	यहाँ
अत्थंगय	८।२८	अस्तगत	अस्तंगत

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अत्यविणिच्छय	८।४३	अर्थ-विनिश्चय	अर्थ का निश्चय
अत्य-सजुत्त	५।२।४३	अर्थ-सयुक्त	आत्म-शुद्धि-युक्त
अत्यिय	५।१।७३	अस्थिक	अस्थिक वृक्ष का फल
अदिट्ठधम्म	६।२।२२	अदृष्टधर्मन्	धर्म से अपरिचित
अदिन्न	४। सू०१३	अदत्त	नही दिया हुआ
अदिन्नादाण	४। सू०१३	अदत्तादान	विना दी हुई वस्तु लेना, चोरी
अदीण	५।२।२६	अदीन	दैन्य-रहित
अदीणवित्ति	६।३।१०	अदीनवृत्ति	दीन भाव से याचना न करने वाला
अदु	चू० १। गा० १८ , चू०२।१४	अथ	या, वा, किंवा
अदुट्ठ	७।५५	अदुष्ट	निर्दोष
अदुव	५।१५; ६।२, ६,२३ ; ८।१२	अथवा	अथवा
अदुवा	५।१।७५, ६।६३, ८।१७	"	"
अदेंत	५।२।२८	अददत्	नही देता हुआ
अधुव	८।३४	अध्रुव	अनित्य
अनियाण	१०।१३	अनिदान	निदान नही करने वाला
अनिल	६।३६, १०।३	अनिल	वायु
अनिव्वाण	५।२।३८	अनिर्वाण	अतृप्ति, मोक्षाभाव
अनिव्वुड	३।७	अनिर्वृत	अपरिणत, वह सचित्त पदार्थ जो किसी विरोधी शस्त्र द्वारा निर्जीव न हुआ हो
	५।२।१८		अपक्व
अन्न	४। सू०१० से १६ तक और १८ से २३ तक,५।१।१६,७१,८०,८४,६७ ; ५।२।१४,१६, १६,३६; ६।११,१४, ७।४, १३; ८।५१, १०।१८	अन्यत्	दूसरा
अन्न	७।१६	देशी	पितृ स्थानीय व्यक्ति
अन्नत्य	४।सू० ४ से ८, ६।५, ६।४।सू०६।७	अन्यत्र	वर्ज कर
अन्नयर	४।सू० २३; ६।७,१८,३२	अन्यतर	कोई एक
अन्नयराग	६।५६	अन्यतरक	" "
अन्ना	७।१६	देशी	धाय, माता
अन्नाणि	४।१०	अज्ञानिन्	ज्ञान-रहित
अन्नायउंछ	६।३।४ ; १०।१६; चू०२।५	अज्ञातोञ्छ	अपना परिचय दिए विना अथवा अपरिचित घरों से थोडी-थोडी भिक्षा लेने वाला
अन्नेसमाण	५।२।३०	अन्वेषयत्	अन्वेषण करता हुआ
अपडिलेहाए	६।५५	अप्रतिलेख्य	देखे विना
अपरिसाडय	५।१।६६	अपरिशाटयत्	नीचे नही गिराता हुआ
अपावभाव	८।६३	अपापभाव	पवित्र चित्त वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अपासत	६।२३	अपश्यत्	नही देखता हुआ
अपि	२।४	अपि	भी
अपिसुण	६।३।१०	अपिसुन	चुगली नही करने वाला
अपुच्छिय	८।४६	अपृष्ट	विना पूछा हुआ
अपुट्ठ	८।२२	"	"
अपुणागम	१०।२१	अपुनरागम	पुनरागमन-रहित
अपूइय	चू०१। गा० ४	अपूज्य	अपूज्य
अप्प	४। सू०१० से १६, १८ से २३, ४। श्लो० ६; ५।१।१८,८०,५।२।५,३६; ६।१३,१४,२१,६७, ८।७,९,३१,३४,३६, ५८,६१;९।१।१५; ९।२।३,५,७, १०, ९।३।५; ९।४। सू०३ गा०१, ९।४। सू०५ श्लो० ६, १०।१५; चू०। १ गा० १७, चू० २।२,१३,१६	आत्मन्	आत्मा
अप्प	४। सू० १३,१५; ५।१।७४,९९; ६।१३; चू० २।५	अल्प	थोडा
अप्पग	९।३।११, चू०२।१२	आत्मक	आत्मा
अप्पग्घ	७।४६	अल्पार्घ	अल्प मूल्य वाला
अप्पण	६।११; ९।२।१३	आत्मन्	आत्मा,स्व
अप्पतेय	चू०१। गा०१२	अल्पतेजस्	निस्तेज
अप्पत्तिय	५।२।१२, ८।४७	देशी	अप्रेम
अप्पभासि	८।२९	अल्पभाषिन्	मितभाषी
अप्पभूय	४।९	आत्मभूत	आत्मतुल्य
अप्पमत्त	८।१६; ९।१।१७	अप्रमत्त	प्रमाद-रहित
अप्पय	१।२; १०।१४	आत्मक	आत्मा
अप्परय	९।४ श्लो० ७	अल्परजस्	अल्पकर्मी
अप्पसन्न	९।१।५,७,१०	अप्रसन्न	अप्रसन्न
अप्पसुय	९।१।२	अल्पश्रुत	अल्प विद्यावान्
अप्पहिट्ठ	५।१।१३	अप्रहृष्ट	उत्सुकता-रहित
अप्पिच्छ	८।२५	अल्पेच्छ	थोड़ी इच्छा वाला
अप्पिच्छया	९।३।५	अल्पेच्छता	अल्प इच्छा का भाव
अप्पियकारिणी	९।३।९	अप्रियकारिणी	अप्रियकर-भाषा
अप्पोवहि	चू०२।५	अल्पोपधि	वस्त्र, पात्र आदि कम रखने वाला
अफासुय	८।२३	अप्रासुक	सजीव

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अबभचरिय	६।१५	अब्रह्मचर्य	अब्रह्मचर्य
अबोहि	४।२०,२१ , ६।१।५,१०	अबोधि	मिथ्यात्व, अज्ञान
अबोहिय	६।५६	अबोधिक	मिथ्यात्व
अब्भ	८।६३	अभ्र	आकाश
	६।१।१५		बादल
अब्भितर	४।१७, १८	अभ्यन्तर	भीतर
अभिकख	१०।१२, १७	अभि+काङ्क्ष	चाहना
अभिकखमाण	६।३।२	अभिकाङ्क्षत्	चाहता हुआ
अभिक्कत	४। सू० ६	अभिक्रान्त	सामने आना
अभिक्खणं	५।१।१०, चू०२।७	अभीक्ष्ण	वार-वार
अभिगच्छ	४।२१,२२, ५।१।१४, ६।२।२,२१	अभि+गम्	पाना
अभिगम	६।३।१५	अभिगम	विनय-प्रतिपत्ति
अभिगम	६।४ श्लो० ६	अभिगम्य	जानकर
अभिगिज्झ	७।१७, २०	अभिगृह्य	आलोचनाकर
अभिघाय	६।३।८	अभिघात	प्रहार
अभितोस	६।३।५	अभि+तोषय्	सन्तुष्ट करना
अभिधार	५।२।२५	अभि+धारय्	जाना
अभिनिवेस	८।२६,५८	अभि+नि+वेशय्	स्थापित करना
अभिभूय	६।५६	अभिभूत	ग्रस्त, पराभूत
अभिभूय	१०।१४	अभिभूय	पराजित कर
अभिमुह	६।१।१०	अभिमुख	सम्मुख, तत्पर
अभिराम	६।४ सू०३ गा०१	अभि+रामय्	लगाना, रमाना
अभिवायण	चू० २।६	अभिवादन	वाचिक नमस्कार
अभिसित्त	६।१।११	अभिषिक्त	सींचा हुआ
अभिहड	३।२	अभिहृत	सामने लाया हुआ
अभूइभाव	६।१।१	अभूतिभाव	ऐश्वर्य-हानि
अभोज्ज	६।४६	अभोज्य	भोगने के अयोग्य
अमच्छरि	चू० २।७	अमत्सरिन्	मात्सर्य-रहित
अमज्जमासासि	चू० २।७	अमद्यमासाशिन्	मद्य और मास नही खाने वाला
अमम	६।६८, ८।६३	अमम	ममत्व-रहित
अमर	चू०१। गा०११	अमर	देवता
अमाइ	६।३।१०	अमायिन्	माया नही करने वाला
अमाणिम	चू०१। गा०५	अमान्य	सम्मान करने के अयोग्य
अमुग	७।६	अमुक	अमुक
अमुच्छिय	५।१।१, ५।२।२६; १०।१६	अमूर्च्छित	मूर्च्छा-रहित

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अमुय	७।५०	अमुग	अमुक
अमूढ	१०।७	अमूढ	मोह-रहित, यथार्थदर्शी
अमोह	८।३३	अमोघ	सफल
अमोहदसि	६।६७	अमोहदर्शिन्	अमोहदर्शी
अम्मा	७।१५	अम्बा	माता
अम्हे	१।४	अस्मत्	हम
अयपिर	५।१।२३; ८।२३,४८	अजल्पितृ	अजल्पनशील, मौनी
अयस	५।२।३८, चू०१।गा०१३	अयशस्	असयम, अयश
अयाणंत	४।१२	अजानत्	नही जानता हुआ
अरइ	८।२७; चू०१।सू०१	अरति	मोह कर्म के उदय से होने वाला मानसिक खेद
अरक्खिय	चू० २।१६	अरक्षित	रक्षा नही किया हुआ
अरय	चू०१।गा० १०,११	अरत	नही रमा हुआ, अप्रवृत्त
अरस	५।१।९८	अरस	रस-वर्जित, बघार-रहित
अरिह	८।२०	अर्ह्	समर्थ होना, सकना
अरोगि	६।६०	अरोगिन्	स्वस्थ
अलं	५।१।७८, ७९, ७।२७, ८।६१	अलम्	पर्याप्त
अलकार	२।२	अलंकार	आभूषण
अलद्धुय	६।३।४	अलब्ध्वा	प्राप्त नही कर
अलाभ	५।२।६; ८।२२	अलाभ	अप्राप्ति
अलाय	४।२०; ८।८	अलात	जलता हुआ ठूंठ
अलोग	४।२२,२३	अलोक	शेष-द्रव्य-शून्य आकाश
अलोल	१०।१७	अलोल	अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा नही करने वाला, अलोलुप
अलोलुअ	९।३।१०	अलोलुप	लोलुपता-रहित
अल्लीणगुत्त	८।४४	आलीन गुप्त	इन्द्रिय और मन से सयत
अल्लीणपलीणगुत्त	८।४०	आलीनप्रलीन गुप्त	इंद्रिय और मन से संयत
अवदिम	चू०१।गा०३	अवन्द्य	अवन्दनीय
अवक्कम	५।१।८५	अव+क्रम्	जाना
अवक्कमित्ता	५।१।८१,८६; ५।२।११	अवक्रम्य	जाकर
अवगम	८।६३	अपगम	नाश
अवक्कम	९।१।६	अप+क्रम्	लांघना
अवगय	७।५७; ८।६३; ९।३।१४; १०।१६	अपगत	दूर हुआ
अवणय	५।१।१३	अवनत	झुका हुआ
अविविक्कय	७।४३	अविक्रेय	वेचने योग्य नही
अविणीय	९।२।३,५,७,१०,२१	अविनीत	उद्धत, विनय-शून्य

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
अविस्सास	६।१२	अविश्वास्य	अविश्वसनीय, विश्वास के अयोग्य
अविहेडअ	१०।१०	अविहेठक	जो दूसरों को तिरस्कृत नही करता
अवे	चू०१।गा०१६	अप+इ	दूर करना
अवेयइत्ता	चू०१।सू०१	अवेदयित्वा	नही वेद कर, भोगे विना
अव्वक्खित्त	५।१।२,६०	अव्याक्षिप्त	अव्याकुल, स्वस्थ
अव्वहिय	८।२७	अव्यथित	व्यथा-रहित
अस	१।३, २।८, ४।सू० ११ से १६, ५।२।२७, ६।२२,६१; ७।४३; ९।१।१०, १०।७, चू० १ सू० १	अस्	होना
असइ	१०।१३	असकृत्	वार-वार
असकिलिट्ठ	चू०२।९	असक्लिष्ट	सक्लेश-रहित, शुद्ध आचार वाला
असजम	५।१।२९,६६, ६।५१, चू०१।गा०१४	असयम	संयम का अभाव
असजय	७।४७	असयत	असयमी
असयड	७।३३	असस्तृत	फलो को धारण करने में असमर्थ
असदिद्ध	७।३, ८।४८	असदिग्ध	सन्देह-रहित
असवद्ध	८।२४	असम्वद्ध	अलिप्त
असभंत	५।१।१	असभ्रान्त	सभ्रम-रहित
असविभागि	९।२।२२	असविभागिन्	आहारादि का अपने सार्मिक श्रमणो को समुचित विभाग न देने वाला
अससट्ठ	५।१।३४, ३५	अससृष्ट	अन्न आदि से अलिप्त
अससत्त	५।१।२३ ८।३२	अससक्त	आसक्ति-रहित अलिप्त
असच्चमोसा	७।३	असत्यामृषा	व्यवहार भाषा, वह भाषा जिसके द्वारा आमन्त्रण, उपदेश आदिदिये जाये
असज्जमाण	चू० २।१०	असजत्	आसक्त न होता हुआ
असण	४। सू० १६,५।१।४७,४९,५१,५३,५७, ५९,६१,६।४९,५०; १०।८,९	अशन	आहार
असत्थपरिणय	५।१।२३	अशस्त्रपरिणत	वह वस्तु जिसकी सजीवता विरोधी वस्तु के द्वारा नष्ट न हुई हो
असब्भवयण	९।२।८	असभ्यवचन	असभ्य वचन
असावज्ज	५।१।९२	असावद्य	निरवद्य, पाप-रहित
असासय	१०।२१; चू०१।गा०१६	अशाश्वत	अनित्य
असाहु	७।४८, ९।३।११	असाधु	असाधु
असाहुया	५।२।३८	असाधुता	असाधुता
असिणाण	६।६२	अस्नान	अस्नान

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
असुइ	१०।२१	अशुचि	अपवित्र
असूइय	५।१।९८	असूपिक	व्यंजन-रहित
अस्सिय	५।१।११	आश्रित	आश्रित
अह	४। सू० ११ से १६, ५।१।७७,९६	अथ	यदि
अहण	१०।६	अघन	घन-रहित
अहम्म	६।१६	अधर्म	अधर्म
अहम्मसेवि	चू०१। गा०१३	अधर्म-सेविन्	हिंसक कर्म करने वाला
अहर	चू०१। सू०१	अधर	नीचे
अहागड	१।४	यथाकृत	गृहस्थ द्वारा अपने लिये बनाया भोजन
अहिंसा	१।१; ६।८	अहिंसा	अहिंसा
अहिगरण	८।५०	अधिकरण	हिंसा
अहिज्जग	८।४९	अभिज्ञ	पढनेवाला
अहिज्जिउ	४। सू०१,२,३	अध्येतुम्	पढने के लिए
अहिज्जित्ता	९।४। सू० ५ श्लो०३	अधीत्य	पढकर
अहिट्ठ	८।६१, ९।४। सू०४ श्लो० २; ९।४ सू० ६,७ ; चू०१। गा० १८	अधि+स्था	आचरण करना
अहिट्ठग	६।५४,६२	अधिष्ठक—अधिष्ठातृ	आचरण करने वाला
अहिय	९।१।४	अहित	अहित
अहिय	चू० २।१०	अधिक	अधिक
अहियगामिणी	८।४७	अहितगामिनी	अहित की ओर जाने वाली भाषा
अहियास	५।२।६; ८।२६,२७	अधि+आस्+सह	सहना
अहुणाधोय	५।१।७५	अधुनाधौत	तत्काल का धोवन, अपरिणत, वह धोवण जो अचित्त नही हुआ हो
अहुणोवलित्त	५।१।२१	अधुनोपलिप्त	तत्काल का लिपा हुआ
अहे	६।३३	अधस्	नीची दिशा
अहो	५।१।९२, ६।२२	अहो	आश्चर्य-सूचक, अव्यय
		आ	
आ	चू० १। गा० ९	तावत्	तक
आइ	६।४६, ७।७	आदि	इत्यादि
आइक्ख	६।३, ८।१४,५०	आ+ख्या	कहना
आइच्च	८।२८	आदित्य	सूर्य
आइद्ध	२।९	आविद्ध	प्रेरित
आइण्ण	चू० २।६	आकीर्ण	व्याप्त
आइन्नअ	चू०२।१४	आकीर्णक	शीघ्र गति आदि गुणों से व्याप्त (जात्य-अश्व)

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आउ	४।सू०५	अप्	पानी
आउ	८।३४	आयुस्	आयुष्य
आउकाइय	४।सू० ३	अप्कायिक	जल शरीर वाला जीव
आउकाय	६।२६,३०,३१	अप्काय	,, ,, ,, ,,
आउरस्सरण	३।६	आतुरस्मरण	आतुर-अवस्था मे पूर्व भुक्त सुख-सुविधा की सामग्री का स्मरण करना
आउलग	४।२६	आकुलक	आकुल
आउस	४।सू०१; ६।४।सू०१	आयुष्मत्	चिरजीवी, एक मगलमय आमंत्रण
आगअ	५।१।८८	आगत	आया
आगइ	४।सू०६	आगति	आगति
आगम	६।१ ७।११	आगम	अंग-उपाग आदि आना
आगमण	५।१।८६	आगमन	आना
आगम्म	५।१।८६	आगम्य	प्राप्त कर
आगाहइत्ता	५।१।३१	आगाह्य	अवगाहन कर
आघाअ	६।३४	आघात	वध
आजीववित्तिया	३।६	आजीववृत्तिता	जाति कुल आदि का गौरव वताकर भिक्षा लेना
आणव	चू० २।११	आ+ज्ञापय्	आज्ञा देना
आणा	१०।१	आज्ञा	तीर्थंकर का उपदेश
आणुपुव्वी	८।१	आनुपूर्वी	क्रम
आणुलोमिआ	७।५६	आनुलोमिका	अनुकूल भाषा
आभिओग	६।२।५,१०	आभियोग्य	सेवा, चाकरी
आभोएत्ताण	५।१।८६	आभोग्य	जानकर
आम	५।१।७०; ५।२।२३	आम	अपक्व
आमग	३।७,८, ५।१।७०, ५।२।१६,२१,२२, २४, ८।१०	आमक	,,
आमिया	५।२।२०	आमिका	,,
आमुस	४।सू०१६	आ+मृश्	थोड़ा या एक वार स्पर्श करना
आमुसंत	४।सू०१६	आमृशत्	स्पर्श करता हुआ
आय	चू०१।गा०१८	आय	लाभ
आयइ	चू०१।गा०१	आयति	भविष्य
आयंक	चू०१।सू०१	आतङ्क	शीघ्र घाती रोग
आयय	६।४।सू०७ श्लो०५	आयत	विस्तार

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आययट्ठि	५।२।३४	आयतार्थिन्	मोक्षार्थी
आययट्ठिय	९।४। सू० ४ श्लो० २	आयतार्थिक	,,
आययण	४।१५	आयतन	स्थान
आयर	६।१५,२१,६३	आ+चर्	आचरण करना
आयरिय	५।२।४०,४५, ८।३३,६०, ९।१।४,५, १०,११,१४,१६,१७, ९।२।१२,१६; ९।३।१	आचार्य	आचार्य
आया	५।२।३१	आ+दा	लेना
आयाण	५।१।२६	आदान	मार्ग
आयाय	५।१।८८	आदाय	लेकर
आयार	६।५०,६०, ९।३।२; ९।४। सू०३ गा० १, ९।४। सू० ७; चू०२।४	आचार	मर्यादा, कल्प
	७।१३; ८।४९		वाक्यरचना के नियम
आयारगोयर	६।२,४	आचार-गोचर	क्रिया-कलाप
आयारपणिहि	८	आचार-प्रणिधि	दशवैकालिक का आठवाँ अध्ययन
	८।१		आचार की समाधि
आयारभावतेण	५।२।४६	आचार-भावस्तेन	आचार और भाव का चोर
आयारमत	९।१।३	आचारवत्	चरित्र-सम्पन्न
आयारसमाहि	९।४। सू० ३,७, ९।४। सू० ७ श्लो० ५	आचार-समाधि	आचारात्मक स्वास्थ्य
आयाव	२।५	आ+तापय्	आतप आदि को सहन करना
	३।१२; ४।सू०१९		धूप मे सुखाना
आयावत	४।सू०१९	आतापयत्	धूप मे सुखाता हुआ
आयावयट्ठ	५।२।२	अयावदर्थ	अपर्याप्त
आरभ	६।३४	आ+रभ्	आरम्भ करना
आरक्खिय	५।१।१६	आरक्षिक	पुलिस, दण्डनायक
आरहत	९।४। सू०७	आर्हत	अर्हत्-सम्बन्धी
आराह	५।२।३९,४०,४५; ७।५७; ९।१।१६; ९।३।१; ९।४। सू०४	आ+राधय्	आराधना करना
आराहइत्ताण	९।१।१७	आराध्य	आराधना कर
आरुह	५।१।६७	आ+रुह्	चढ़ना
आलव	७।१६,१७,२०,२१,२३,३५,४२, ४८,५३	आ+लप्	कहना
आलिह	४। सू०१८	आ+लिख्	रेखा खीचना
आलिहंत	४। सू०१८	आलिखत्	रेखा खीचता हुआ
आलोइय	५।१।९१	आलोचित	गुरु के सामने निवेदित
आलोइय	९।३।१	आलोकित	निरीक्षण

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आलोअ	५।१।९०	आ+लोच्	गुरु के सामने निवेदित करना
आलोय	५।१।१५	आलोक	गवाक्ष, झरोखा
	५।१।९६		चौड़े मुंह वाला भाजन
आवगा	७।३६,३७,३९	आपगा	नदी
आवज्ज	४।सू०२३, ६।५६	आ+पद्	प्राप्त करना
आवण	५।१।७१	आपण	दूकान
आविअ	१।२	आ+पा	पीना
आवील	४।सू०१९	आ+पीड्	थोड़ा या एक बार निचोड़ना
आवीलंत	४।१९	आपीडयत्	निचोड़ता हुआ
आवेउ	२।७	आपातुम्	पीने के लिये
आस	४। श्लो० ७, ७।४७, ८।१३	आस्	बैठना
आसइत्तु	६।५४	आसितुम्	बैठने के लिये
आसदी	३।५, ६।५३,५४,५५	आसदी	भद्रासन
आसण	५।२।२८, ७।२९, ८।५,१७,५१; ९।२।१७, ९।३।५, चू०२।८	आसन	आसन
आसमाण	४।३	आसीन	बैठता हुआ
आसय	५।१।८५	आस्यक	मुंह
आसव	३।११,१०।५, ४।श्लो०९	आश्रव	कर्म-पुद्गलों के आकर्षक आत्मपरिणाम
	चू० २।३		इन्द्रिय-विजय-युक्त प्रवृत्ति
आसा	९।३।६	आशा	किसी वस्तु को पाने की इच्छा
आसाअ	९।१।४, ९।३।२	आ+शातय्	अवज्ञा या असभ्य व्यवहार करना
आसाइत्ताण	५।१।७७	आस्वाद्य	चखकर
आसायण	५।१।७८	आस्वादन	चखना
आसायणा	९।१।२,५,६; ८।१०	आशातना	अबहुमान, असभ्य व्यवहार
आसालय	६।५३	आशालक	अवष्टम्भ-सहित आसन, आराम कुर्सी
आसीविस	९।१।५,६,७	आशीविष	जहरीला साप
आसु	८।४७	आशु	शीघ्र
आसुरत्त	८।२५	आसुरत्व	क्रोधभाव
आहड	५।१।५५, ६।४८,४९; ८।२३	आहृत	सामने लाया हुआ
आहम्मिय	८।३१	अधार्मिक	अधर्म-युक्त
आहर	५।१।२७,३१,४२, ५।२।२३; १०।३	आ+हृ	लाना
आहार	६।२५,४६	आहार	आहार
आहारमइय	८।२८	आहारमय	आहारात्मक
आहारंत	५।१।२८	आहरत्	लाया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आहियग्गि	९।१।११, ९।३।१	आहिताग्नि	अग्नि का उपासक, अग्नि को सदा प्रज्वलित रखने वाला
आहुइ	९।१।११	आहुति	हवन-सामग्री
		इ	
इ	७।४७, ८।१३	इ	जाना
इ	१।४, ३।१४, ५।१।९५,९६	चित्	किम् आदि शब्दों के आगे जुड़ने वाला अव्यय
इइ	२।४	इति	इति
इंगाल	४।सू० २०, ८।८	अङ्गार	जलता हुआ कोयला
इंगाल	५।१।७	आङ्गार	अङ्गार-सम्बन्धी
इंगिय	९।३।१	इंगित	हा, ना सूचक अंग-सचालन
इंद	९।१।१४, चू० १। श्लो०२	इन्द्र	इन्द्र
इंदिय	५।१।१३,२६,६६; ८।१६,३५; १०।१५, चू० १। श्लो० १७, चू० २।१६	इन्द्रिय	इन्द्रिय
इच्छ	२।७, ५।१।२७,३५,३६,३७,३८,८२,८६, ९५,९६, ६।१०,१७,३२,३७,४७, ९।१।८	इष्	इच्छा करना
इच्छत	८।३६	इच्छत्	चाहता हुआ
इच्छा	५।२।२७	इच्छा	अभिलाषा
इट्टाल	५।१।६५	देशी	ईंट का टुकड़ा
इड्ढि	४।१०,१७,२३, ९।२।६,९,११,२२; १०।१७	ऋद्धि	ऋद्धि
इति	२।२	इति	समाप्ति
इत्तरिय	चू०१। सू०१	इत्वरिक	क्षणिक, नश्वर, अल्पकालिक
इत्थ	३।१४; ९।४। सू० ४,५,६,७; चू०१।सू०१	अत्र	यहाँ
इत्थथ	९।४।श्लो०७	इत्थंस्य	नियत संस्थान
इत्थी	२।२; ५।२।२९; ७।१६,१७,२१, ८।५१, ५३,५६,५७, ९।३।१२, १०।१	स्त्री	स्त्री
इत्थीओ	६।५८	स्त्रीतस्	स्त्री से
इम	४।सू०३	इदं	यह
इमेरिस	६।५६	एतादृग्	ऐसा
इरियावहिया	५।१।८८	ऐर्यापथिकी	गमनागमन का प्रतिक्रमण
इव	९।२।१२	इव	तरह
इसि	६।४९, चू० २।५	ऋषि	मुनि
इह	४। सू०१	इह	यहाँ
इहलोग	८।४३, ९।२।१३; ९।४।सू०६,७	इहलोक	इहलोक, वर्तमान जीवन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
आलोअ	५।१।६०	आ+लोच्	गुरु के सामने निवेदित करना
आलोय	५।१।१५	आलोक	गवाक्ष, झरोखा
	५।१।६६		चौडे मुंह वाला भाजन
आवगा	७।३६,३७,३९	आपगा	नदी
आवज्ज	४।सू०२३, ६।५६	आ+पद्	प्राप्त करना
आवण	५।१।७१	आपण	दूकान
आविअ	१।२	आ+पा	पीना
आवील	४।सू०१९	आ+पीड्	थोडा या एक बार निचोडना
आवीलंत	४।१९	आपीडयत्	निचोडता हुआ
आवेउ	२।७	आपातुम्	पीने के लिये
आस	४। श्लो० ७, ७।४७, ८।१३	आस्	बैठना
आसइत्तु	६।५४	आसितुम्	बैठने के लिये
आसंदी	३।५, ६।५३,५४,५५	आसदी	भद्रासन
आसण	५।२।२८, ७।२९, ८।५,१७,५१; ९।२।१७, ९।३।५, चू०२।८	आसन	आसन
आसमाण	४।३	आसीन	बैठता हुआ
आसय	५।१।८५	आस्यक	मुह
आसव	३।११,१०।५, ४।श्लो०९ चू० २।३	आश्रव	कर्म-पुद्गलों के आकर्षक आत्मपरिणाम इन्द्रिय-विजय-युक्त प्रवृत्ति
आसा	९।३।६	आशा	किसी वस्तु को पाने की इच्छा
आसाअ	९।१।४, ९।३।२	आ+शातय्	अवज्ञा या असभ्य व्यवहार करना
आसाइत्ताण	५।१।७७	आस्वाद्य	चखकर
आसायण	५।१।७८	आस्वादन	चखना
आसायणा	९।१।२,५,६, ८।१०	आशातना	अवहुमान, असभ्य व्यवहार
आसालय	६।५३	आशालक	अवष्टम्भ-सहित आसन, आराम कुर्सी
आसीविस	९।१।५,६,७	आशीविष	जहरीला साप
आसु	८।४७	आशु	शीघ्र
आसुरत्त	८।२५	आसुरत्व	क्रोधभाव
आहड	५।१।५५, ६।४८,४९, ८।२३	आहृत	सामने लाया हुआ
आहम्मिय	८।३१	अधार्मिक	अधर्म-युक्त
आहर	५।१।२७,३१,४२, ५।२।३३; १०।३	आ+हृ	लाना
आहार	६।२५,४६	आहार	आहार
आहारमइय	८।२८	आहारमय	आहारात्मक
आहारंत	५।१।२८	आहरत्	लाया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उज्जुमइ	४।२७	ऋजुमति	सरल मतिवाला, मार्ग-गामी-बुद्धिवाला
उट्ठ	५।१।४०	उत्+स्था	खड़ा होना
उट्ठिअ	५।१।४०	उत्थित	खड़ा हुआ
उड्ढ	६।३३	ऊर्ध्व	ऊँची दिशा
उड्ढिय	चू०१।श्लो०१२	उद्धृत	निकाला हुआ
उण्ह	७।५१, ८।२७	उष्ण	गर्मी
उत्तम	८।६०; ९।२।२३ चू०१।श्लो०११	उत्तम	उत्तम उत्कृष्ट
उत्तर	५।२।३	उत्तर	अगला
उत्तरओ	६।३३	उत्तरतस्	उत्तर दिशा मे
उत्तार	चू०२।३	उत्तार	पार
उत्तिग	५।१।५९; ८।११,१५	उत्तिङ्ग	कीडी-नगरा
उदउल्ल	६।२४, ८।७	उद्+आर्द्र	पानी से भीगा हुआ
उदओल्ल	४।सू०१९; ५।१।३३	,,	,, ,, ,,
उदग	४।सू०१९, ५।१।३०,५८,७५ ८।११	उदक	जल अनन्त कायिक वनस्पति
उदगदोणी	७।२७	उदकद्रोणी	जल की कुण्डी
उदर	४।सू०२३	उदर	पेट
उदाहर	८।१	उद्+आ+हृ	कथन करना
उद्देसिय	३।२; ५।१।५५, ६।४८,४९, ८।२३; १०।४	औद्देशिक	साधुओं को उद्दिष्ट कर किया हुआ आहार
उन्नय	७।५२	उन्नत	उन्नत
उप्पज्ज	चू०२।१	उत्+पद्	उत्पन्न होना
उप्पण्ण	५।१।९९ ५।२।२; चू०१।सू०१	उत्पन्न	विधिपूर्वक प्राप्त उत्पन्न
उप्पल	५।२।१४,१६,१८	उत्पल	नील कमल
उप्पिलाव	६।६१	उत्+प्लावय्	बहाना
उप्पिलोदगा	७।३९	उत्पीडोदका	दूसरी नदियो के द्वारा जिसका वेग बढ़े वह नदी
उप्पेहि	चू०१।सू०१	उत्प्रेक्षिन्	इच्छा करने वाला
उप्फुल्ल	५।१।२३	उत्फुल्ल	विकस्वर
उब्भिंदिया	५।१।४६	उद्भिद्य	भेदकर, खोलकर
उब्भिय	४।सू०९	उद्-भिद्	भूमि को फोडकर निकलने वाला जीव
उब्भेइम	६।१७	उद्भेद्य	समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला नमक
उभय	४।११; ५।२।१२	उभय	दोनों
उम्मीस	५।१।५७	उन्मिश्र	मिला हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
ई	५।१।४५, ८।१०,२१	चित्	किम् आदि शब्दों के आगे जुडने वाला अव्यय
		उ	
उ	४।१		अवधारणात्मक अव्यय
उईर	६।३८	उद्+ईरय्	उदीरणा करना
उउप्पसन्न	६।६८	ऋतुप्रसन्न	शरद् ऋतु मे प्रसन्न
उछ	८।२३, १०।१७	उञ्छ	नाना घरों से लिया हुआ थोडा-थोडा आहार
उज	४।सू०२० , ८।८	उत्+सिच्	सींचना
उजत	४।सू०२०	उत्सिंचत्	सीचता हुआ
उडग	४।सू०२३	देशी	उडापात्र, स्थडिलपात्र
उडुय	५।१।८७	देशी	स्थान
उक्कट्ठ	५।१।३४	उत्कृष्ट	फल के सूक्ष्म खण्ड, इमली आदि पत्तों के टुकडे
उक्किट्ठ	१।१, ४।१९,२०	उत्कृष्ट	उत्कृष्ट
उक्का	४।सू०२०	उल्का	वह ज्योति-पिण्ड जिसके गिरने के साथ रेखा खिचती हो
उक्खिवित्तु	५।१।८५	उत्क्षिप्य	फेंक कर
उग्गम	५।१।५६	उद्गम	उत्पत्ति
उच्चार	८।१८	उच्चार	मल
उच्चार-भूमि	८।१७,५१	उच्चार-भूमि	शौच-भूमि
उच्चावय	५।१।१४, ५।२।२५	उच्चावच	ऊँच-नीच
	५।१।७५		मनोज्ञ-अमनोज्ञ
	५।२।७		नाना प्रकार
उच्छह	६।३।६	उत्सहमान	उत्साहित होता हुआ
उच्छुखण्ड	३।७, ५।१।७३, ५।२।१८	इक्षुखण्ड	गडेरी
उच्छोलणा	४।२६	उत्क्षालना	प्रक्षालन
उज्जाण	६।१, ७।२६,३०	उद्यान	उद्यान
उज्जाल	४।सू०२०	उद्+ज्वालय्	जलाना
उज्जालंत	४।सू०२०	उज्ज्वालयत्	जलता हुआ
उज्जालिया	५।१।६३	उज्ज्वाल्य	जला कर
उज्जुदंसि	३।११	ऋजुदर्शिन्	सयमदर्शी
उज्जुप्पन्न	५।१।९०	ऋजुप्रज्ञ	ऋजुप्रज्ञा वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उज्जुमइ	४।२७	ऋजुमति	सरल मतिवाला, मार्ग-गामी-बुद्धिवाला
उट्ठ	५।१।४०	उत्+स्था	खड़ा होना
उट्ठिय	५।१।४०	उत्थित	खड़ा हुआ
उड्ढ	६।३३	ऊर्ध्व	ऊँची दिशा
उड्ढिय	चू०१।श्लो०१२	उद्धृत	निकाला हुआ
उण्ह	७।५१; ८।२७	उष्ण	गर्मी
उत्तम	८।६०; ६।२।२३ चू०१।श्लो०११	उत्तम	उत्तम उत्कृष्ट
उत्तर	५।२।३	उत्तर	अगला
उत्तरओ	६।३३	उत्तरतस्	उत्तर दिशा मे
उत्तार	चू०२।३	उत्तार	पार
उत्तिग	५।१।५९, ८।११,१५	उत्तिङ्ग	कीडी-नगरा
उद+उल्ल	६।२४, ८।७	उद्+आर्द्र	पानी से भीगा हुआ
उदओल्ल	४।सू०१९, ५।१।३३	"	" " "
उदग	४।सू०१९, ५।१।३०,५८,७५ ८।११	उदक	जल अनन्त कायिक वनस्पति
उदगदोणी	७।२७	उदकद्रोणी	जल की कुण्डी
उदर	४।सू०२३	उदर	पेट
उदाहर	८।१	उद्+आ+हृ	कथन करना
उद्देसिय	३।२, ५।१।५५, ६।४८,४९; ८।२३, १०।४	औद्देशिक	साधुओं को उद्दिष्ट कर किया हुआ आहार
उन्नय	७।५२	उन्नत	उन्नत
उप्पज्ज	चू०२।१	उत्+पद्	उत्पन्न होना
उप्पण्ण	५।१।९९ ५।२।३, चू०१।सू०१	उत्पन्न	विधिपूर्वक प्राप्त उत्पन्न
उप्पल	५।२।१४,१६,१८	उत्पल	नील कमल
उप्पिलाव	६।६१	उत्+प्लावय्	बहाना
उप्पिलोदगा	७।३९	उत्पीडोदका	दूसरी नदियों के द्वारा जिसका वेग बढ़े वह नदी
उप्पेहि	चू०१।सू०१	उत्प्रेक्षिन्	इच्छा करने वाला
उप्फुल्ल	५।१।२३	उत्फुल्ल	विकस्वर
उब्भिदिया	५।१।४६	उद्भिद्य	भेदकर, खोलकर
उब्भिय	४।सू०९	उद्-भिद्	भूमि को फोटकर निकलने वाला जीव
उब्भेइम	६।१७	उद्भेद्य	समुद्र के पानी से बनाया जाने वाला नमक
उभय	४।११; ५।२।१२	उभय	दोनों
उम्मीस	५।१।५७	उन्मिश्र	मिला हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उयर	८।२९	उदर	पेट
उल्ल	५।१।२१,६८	आर्द्र	गीला
उल्लघिया	५।१।२२	उल्लध्य	लाघ कर
उवइट्ठ	६।३।२	उपदिष्ट	उपदेश दिया हुआ
उवगय	६।१।११	उपगत	सहित
उवगरण	४।सू०२३	उपकरण	उपकरण
उवघाइणी	७।११,२६,५४	उपघातिनी	हिंसा करने वाली
उवचिट्ठ	६।१।११	अप+स्था	सेवा करना
उवचिय	७।२३	उपचित	पुष्ट
उवज्झाय	६।२।१२	उपाध्याय	उपाध्याय
उवट्ठाइ	चू०१।सू०१	उपस्थायिन्	रहने वाला
उवट्ठिय	४।सू०११,१२,१३,१४,१५,१६, ६।२।५।१,१०	उपस्थित	प्रस्तुत, तत्पर
उवणीय	चू०१श्लो०१५	उपनीत	प्राप्त किया हुआ
उवन्नत्थ	५।१।३६	उपन्यस्त	तैयार किया हुआ
उवभोग	६।२।१३	उपभोग	काम मे लाना, आसेवन
उवमा	६।१।६,८, चू०१।श्लो०११	उपमा	समानता, तुलना
उवयार	६।२।२०	उपचार	शिष्टाचार, आराधना, विधि
उवरअ	८।१२	उपरत	विरत
उववज्झ	६।२।५।६	उपवाह्य	राजा आदि की सवारी मे काम आने वाला वाहन
उववन्न	५।२।४७	उपपन्न	उत्पन्न
उववाइय	४।सू०६	औपपातिक	देव और नारकीय जीव
उववाय	८।३३	उप+पादय्	आचरण करना
उववेय	६।१।३	उपेत	युक्त
उवसकम	५।२।१३	उप+स+क्रम्	भीतर जाना
उवसकमत	५।२।१०	उपसंक्रामत्	भीतर जाता हुआ
उवसत	६।६४,६८, १०।१०	उपशान्त	उपशान्त
उवसपज्जित्ताणं	४।सू०१७	उपसपद्य	अगीकार कर
उवसपया	चू०१।सू०१	उप+सपत्	सप्राप्ति
उवसम	८।३८	उपशम	उपशमन्, शान्ति
उवस्सअ	७।२६	उपाश्रय	साधुओ के रहने का स्थान
उवहण	१।४, ७।१३	उप+हन्	विनाश करना
उवहस	८।५६	उप+हस्	उपहास करना
उवहि	६।२१, ६।२।१८, १०।१६; चू०२।५	उपधि	वस्त्र, पात्र आदि उपकरण
उवाय	८।२१, ६।२।४,२०, चू०१।श्लो०१८	उपाय	साधन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
उवे	६।६८,१०।२१, चू०२।१६	उप+इ	पाना, समीप आना,
उवेत	चू०१। श्लो० १७	उपयत्	आता हुआ
उव्वट्टण	३।५,६।६३,६।१।१२	उद्वर्तन	उवटन
उव्विग्ग	५।२।३६	उद्विग्न	उद्विग्न
उसिण	६।६२	उष्ण	गर्म
उसिणोदग	८।६	उष्णोदक	उवला हुआ जल
उस्सविकया	५।१।६३	उत्ष्वष्क्य	जलते हुए चूल्हे मे ईंधन डालकर
उस्सवित्ताणं	५।१।६७	उत्सृत्य	ऊँचा कर
उस्सिचिया	५।१।६३	उत्सिञ्च्य	अधिक भरे पात्र मे से कुछ निकाल कर
ऊरु	४। सू० २३,८।४५	ऊरु	घुटने के ऊपर का भाग
ऊस	५।१।३३	ऊष	खारी मिट्टी
ऊसढ	५।२।२५	उत्सृत	उच्च, ऐश्वर्य सम्पन्न
	७।३५		ऊपर उठा हुआ

ए

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
एक्क	चू० २।१०	एक	एक
एक्कय	५।१।६६	एक्क	अकेला
एग	५।१।३७,६।१।३	एक	एक
एगअ	४।सू०१८,१६,२०,२१,२२,२३	एकक	अकेला
एगइय	५।२।३१,३३,३७	,,	,,
एगंत	४।सू०२३,५।१।११,८१,८५,८६, ५।२।११	एकान्त	एकान्त
एगग्गचित्त	६।४।सू०५,६।४।सू०५ श्लो०३	एकाग्रचित्त	स्थिर चित्त वाला
एकभत्त	६।२२	एकभक्त	एक वार भोजन, दिवा-भोजन
एगया	५।१।६५	एकदा	कभी
एज्जत	६।२।४	आयत्	आता हुआ
एय	१।३	एत्	यह
एयारिस	५।१।६६	एतादृश	ऐसा
एरिस	६।५, ७।४३; चू० २।२५	ईदृश	इस प्रकार का
एलग	५।१।२२	एडक	भेड
एलमूयया	५।२।४८	एडमूकता	भेड़ की तरह गूगापन
एव	४।सू०१०	एव	अवधारण
एव	१।३	एवम्	ऐसे
एस	५।२।२६	आ+इष्	खोज करना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कम्महेउअ	७।४२	कर्महेतुक	शिक्षा पूर्वक किया हुआ
कय	५।१।३४	कृत	किया हुआ
कय	७।४६, १०।१६	क्रय	खरीदना
कयर	४।सू०२; ८।१४,९।४।सू०२	कतर	कौन-सा
कया	७।५१	कदा	कब
कयाइ	६।६३	कदाचित्	कभी
कर	५।१।१६,२६	कर	करने वाला
कर	२।६,४।१०, ५।१।६४, ५।२।६,६।६७, ७।६,४७, ८।१६,३३,५२,९।१।२,५, ९।२।७, चू० २।८,६,१३	कृ	करना
करत	४।सू०१० से १६, १८ से २३	कुर्वत्	करता हुआ
करग	४।सू०१६	करक	ओला
करण	६।२६,२६,४०, ४३, ८।४	करण	मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति, वीर्य का स्फुरण
करेत्ता	५।१।६३	कृत्वा	करके
करेत्ताण	३।१४	"	"
कलह	५।१।१२, चू०२।५	कलह	वाग्युद्ध
कलुण	९।२।८	करुण	करुण
कलुस	४।२०,२१	कलुष	पाप
कल्लाण	४।११, ५।२।४३	कल्याण	कल्याण
कल्लाणभागि	९।१।१३	कल्याणभागिन्	कल्याण प्राप्त करने वाला, मोक्षका इच्छुक
कवाड	५।१।१८, ५।२।९	कपाट	किंवाड
कविट्ठ	५।२।२३	कपित्थ	कैथ
कसाय	५।१।९७, ७।५७, ८।३९, ९।३।१४, १०।६	कषाय	कसैला
कसिण	८।३९,६३	कृत्सन	सम्पूर्ण
कह	१०।१०	कथय्	कहना
कह	२।१, ४।७, १२, ६।२,२३,२४	कथम्	कैसे
कहा	५।२।८, ८।५२, १०।१०	कथा	बातचीत
कहिं	चू०२।८	क्व	कहाँ
काउस्सग्गकारि	चू०२।७	कायोत्सर्गकारिन्	कायोत्सर्ग करने वाला
काण	७।१२	काण	काना
काम	२।१,५,८।५७, चू०१।सू०१; चू०२।१० ६।१८	काम	काम-भोग की अभिलाषा इच्छक

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कामय	५।२।३५	कामक	इच्छुक
काय	४।सू०१०से१६,१८ से२३; ६।२६, २९,४०,४३, ८।३,७,९,२६,४४, ९।१।१२, ९।२।१८, १०।५,७,१४, चू०१।श्लो०१८, चू०२।१४	काय	शरीर
कायतिज्ज	७।३८	कायतार्य	तैरकर पार करने योग्य
कायव्व	६।६, ८।१	कर्त्तव्य	करने योग्य
कारण	२।७,५।२।३,९।२।१३,१५; चू०१।श्लो०१	कारण	प्रयोजन, हेतु
कारिय	६।६४	कार्य	प्रयोजन
काल	५।१।१; ५।२।४,५,६, ७।८; ९।२।२०; चू०२।१२	काल	समय, अवसर
कालमासिणी	५।१।४०	कालमासिनी	पूर्ण गर्भवती
कालालोण	३।८	काल-लवण	काला नमक
कासव	४।सू०१,२,३	काश्यप	काश्यप नाम का एक गोत्र
कासव-नालिआ	५।२।२१	काश्यपनालिका	श्रीपर्णी वृक्ष का फल
किं	३।१४, ४।१०, ५।२।४७, ६।६४, ७।५; ९।१।५, ९।२।१६, चू०२।१२,१३	किम्	क्या, प्रश्नवाचक अव्यय
किंचि	६।३४, ७।२९	किंचित्	थोडा
किच्च	७।३६, चू०२।१२	कृत्य	भोज
किच्चा	५।२।४७, ९।२।१६, ९।३।८	कृत्वा	करके
किच्चाण	८।४५	,,	,,
कित्त	५।२।४३	कीर्तय्	कहना
कित्ति	९।२।२, ९।४।सू०६,७	कीर्ति	व्यापक प्रशसा
किमिच्छय	३।३	किमिच्छक	'तुम क्या लेना चाहते हो', यों पूछकर दिया जाने वाला भोजन
किलाम	१।२, ५।२।५	क्लामय्	खिन्न करना
किलिंच	४।सू०१८	देशी	खपाच
किलेस	चू०१।श्लो०१५	क्लेश	कष्ट
किविण	५।२।१०	कृपण	कृपण
कीड	४।सू०९,२३	कीट	कीडा, कृमि
कीय	६।४८,४९, ८।२३	क्रीत	खरीदा हुआ
कीय	९।१।१	कीच	वास
कीयगड	३।२, ५।१।५५	क्रीत-कृत	साधु के लिये खरीदा हुआ
कीरमाण	७।४०	क्रियमाण	किया जाता हुआ
कील	५।१।६७	कील	खंभा, खूंटी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
कुडमोय	६।५०	देशी	कुंडे के आकार या हाथी के पैर के आकार वाला मिट्टी का पात्र
कुंथु	४।सू०६,२३	कुन्थु	त्रीन्द्रिय जाति का एक सूक्ष्म जन्तु
कुकुडंव	चू०१।श्लो०७	कुकुटुम्ब	दुष्ट कुटुम्ब
कुक्कुड	८।५३	कुक्कुट	मुर्गा
कुक्कुस	५।१।३४	कुक्कुस	धान्य-कण युक्त तुष-भूसा
कुतत्ति	चू०१।श्लो०७	कुतप्ति	दुश्चिन्ता
कुप्प	५।२।२७,२८,३० , ८।४७ , ६।२।४ , १०।१०,१८	कुप्	कोप करना
कुमारिया	५।१।४२	कुमारिका	कुमारी
कुमुय	५।२।१४,१६,१८	कुमुद	श्वेतकमल, चन्द्रविकासी कमल
कुम्म	८।४०	कूर्म	कछुआ
कुम्मास	५।१।६८	कुल्माष	उड़द
कुल	२।६,८	कुल	कुल, वंश
	५।१।१४,१७,२४, ५।२।२५; चू०२।८		घर
कुललओ	८।५३	कुललतस्	विल्ली से
कुविय	६।१।७,६	कुपित	क्रुद्ध
कुव्व	५।२।३५,४२,४६ ; ६।४।श्लो०६	कृ	करना
कुसग्ग	चू०१।सू०१	कुशाग्र	दर्भ का अग्र भाग
कुसल	६।३।१५	कुशल	कुशल
कुसील	६।५८ , १०।१८ , चू०१।श्लो०१२	कुशील	गर्हित आचार वाला
कुसीलर्लिग	१०।२०	कुशीललिङ्ग	कुशील लिङ्ग
केज्ज	७।४५	क्रेय	खरीदने योग्य
केवल	६।१।१४	केवल	सम्पूर्ण
केवलि	४।२२,२३ , चू०२।१	केवलिन्	सर्वज्ञ
कोट्ठअ	५।१।२१,२२	कोष्ठक	कोठा
कोट्ठग	५।१।२०,८२	,,	,,
कोमुई	६।१।१५	कौमुदी	चाँदनी
कोल	४।सू०२२	कोल	घुन
	५।२।२१		बैर
कोलचुण्ण	५।१।७१	कोल चूर्ण	बैर का चूर्ण
कोविय	६।२।२३	कोविद	पंडित
कोह	४।सू०१२, ६।११, ७।५४, ८।३६ से ३६ , ६।१।१ ; ६।३।१२	क्रोध	क्रोध

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
		ख	
ख	६।१।१५	ख	आकाश
खति	४।२७	क्षान्ति	क्षमा
खघ	६।२।१	स्कन्ध	वृक्ष के तने का वह ऊपरी भाग जिसमे से डालियाँ निकलती हैं
खघवीय	४सू०८	स्कन्ध-वीज	वह वनस्पति जिसका स्कन्ध ही बीज हो
खभ	७।२७	स्कम्भ	खभा
खण	५।१।६३	क्षण	पलभर
खण	१०।२	खन्	खोदना
खणाव	१०।२	खानय्	खुदवाना
खत्तिय	६।२	क्षत्रिय	क्षत्रिय
खम	६।२।१८	क्षम्	क्षमा करना
खलिय	चू०२।१३	स्खलित	स्खलित
खलीण	चू०२।१४	खलिन	घोडे की लगाम
खलु	४सू०१,२,३,६, ७।१ , ६।४।सू०१ से ७ , चू०१।सू०१ , चू०२।१६	खलु	अवधारण अव्यय
खव	६।६७	क्षपय्	नाश करना
खवित्ता	३।१५	क्षपयित्वा	खपा कर
खवित्ताणं	४।२४,२५	,,	,,
खवित्तु	९।२।२३	,,	,,
खाअ	८।४६,६।१।६	खाद्	खाना
खाइम	४सू०१६ , ५।१।४७,४६,५१,५३,५७, ५६,६१ , ५।२।२७ , १०।८,६	खादिम, खाद्य	खाजा आदि खाद्य
खाणु	५।१।४	स्थाणु	कुछ ऊपर उठा हुआ काठ, ठूंठ
खिंस	८।२६ , ६।३।१२	खिंस्	निन्दा करना
खिप्प	८।३१ , चू०२।१४	क्षिप्र	शीघ्र
खु	२।५	खलु	निश्चय
खु	६।२।८	क्षुत्	भूख
खुड्डग	६।६	क्षुद्रक	बाल, अपरिपक्व अवस्था वाला
खुड्डियायारकहा	३	क्षुद्रकाचार-कथा	दशवैकालिक का तीसरा अध्ययन
खुहा	८।२७	क्षुधा	भूख
खेम	७।५१ , ६।४।श्लो०८	क्षेम	क्षेम

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
खेल	८।१८	क्ष्वेल	श्लेष्म
		ग	
गअ	४।सू०१८ से २३ ; ५।१।२,२४,८१ , ५।२।६	गत	उपस्थित जाना
गइ	४।सू०६ , ४।१४,१५ ; ६।२।१७ , चू०१।श्लो०१३,२३ , ६।३।१५ , १०।२१ , चू०१।सू०१	गति	गति
गडिआ	७।२८	गण्डिका	अहरन
गतु	७।२६,३०	गत्वा	जाकर
गंध	२।२, ३।२	गन्ध	सुगन्धी द्रव्य
गंधण	२।८	गन्धन	सर्प की एक जाति, इस जाति के सर्प वमन किये हुए विष को पी लेते हैं
गभीर	५।१।६६	गम्भीर	प्रकाश-रहित
गभीर विजय	६।५५	गम्भीर विच (ज)य	ऊँचे छेद वाला
गच्छ	४।सू०२२ , ४।२४,२५ , ५।१।४,५, १४,२४,६६,१०० , ५।२।३२ , ७।६ , ८।२५,४३,१०।१ , चू०१।श्लो०१४	गम्	जाना
गच्छंत	४।सू०२२	गच्छत्	जाता हुआ
गण	६।१।१५	गण	समूह
गणि	६।१ , ६।१।१५ , चू०१।श्लो०६	गणि	आचार्य, गण के अधिपति
गब्भिय	७।३५	गर्भित	भुट्टों से रहित
गमण	५।१।८६	गमन	जाना
गय	५।१।१२ , ६।२।५,६ , चू०१।सू०१	गज	हाथी
गरह	५।२।४०	गर्ह्	निन्दा करना
गरहिय	६।१२	गर्हित	निन्दित
गरिह	४।सू०१० से १६,१८ से २२ , ५।२।५	गर्ह्	गर्हा करना
गल	चू०१।श्लो०६	गल	मछली फंसाने का काटा
गव	७।२५	गो	बैल
गवेस	५।१।१ , ५।२।३ ; ८।५७	गवेषय्	गवेषणा करना
गहण	८।११	गहन	वन, निकुञ्ज
गहिय	५।१।६०	गृहीत	ग्रहण किया हुआ
गहेऊण	५।१।८५	गृहीत्वा	ग्रहण कर
गा	७।२४	गौ	गाय
गाढ	७।४२	गाढ	गहरा
गाम	४।सू०१३,१५ , ५।१।२ ; चू० २।८	ग्राम	गाँव

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
गाम कटअ	१०।११	ग्राम-कटक	काटो के समान चुभने वाले इन्द्रिय विषय
गाय	३।५ , ६।६३	गात्र	शरीर
गायाभग	३।६	गात्राभ्यङ्ग	तैलादि का मदर्न
गारव	६।२।२२	गौरव	मद
गावी	५।१।१२	देशी	गाय
गिण्ह	४।सू०१३ , ७।४५ ; ६।३।११	ग्रह्	ग्रहण करना
गिद्ध	८।२३ ; १०।१७	गृद्ध	आसक्त, लोलुप
गिम्ह	३।१२	ग्रीष्म	गर्मी
गिरा	७।३५,५२,५४,५५ ; ६।१।१२	गिर्	वाणी
गिरि	६।१।६ , चू०१।श्लो०१७	गिरि	पर्वत
गिलित्ता	चू०१।श्लो०६	गिलित्वा	निगल कर
गिह	७।२७	गृह	घर
गिहतर निसेज्जा	३।५	गृहान्तर-निषद्या	घर के अन्तर्वर्ती भाग मे बैठना, दो घरो के बीच मे बैठना
गिहत्थ	५।२।४०,४५	गृहस्थ	गृहस्थ
गिहवई	५।१।१६	गृहपति	घर का स्वामी
गिहवास	चू०१।सू०१	गृहवास (पाश)	घर मे रहना (घर का बन्धन)
गिहि	३।६ , ६।१८ , ८।५० , ६।२।१३; ६।३।१२ , चू०१।सू०१ ; चू०२।६	गृहिन्	गृहस्थ
गिहिजोग	८।२१ ; १०।६	गृहियोग	गृहस्थ-सम्बन्धी व्यापार
गिहिभायण	६।५२	गृहि-भाजन	गृहस्थ का वर्तन
गिहिमत्त	३।३	गृहामत्र	गृहस्थ का वर्तन
गिहिसयव	८।५२	गृहिसस्तव	गृहस्थ के साथ परिचय
गुज्भग	६।२।१०,११	गुह्यक	देव
गुज्भाणुचरिअ	७।५३	गुह्यानुचरित	आकाश
गुण	४।२७	गुण	ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विशुद्धि
	५।२।४१ , ६।६,६७ , ७।४६,५६ , ८।६० ; ६।१।१३,१७ , ६।३।११,१४, ६।४।सू०६ श्लो०४ , १०।१२ ; चू०२।४,१०		गुण
गुणओ	चू०२।१०	गुणतस्	गुण से
गुणप्पेहि	५।२।४४	गुण-प्रेक्षिन्	गुणग्राही
गुणव	५।२।५०	गुणवत्	गुणवान्
गुत्त	८।४०,४४ , चू०१।श्लो०१८	गुप्त	गुप्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
गुरु	५।१।९८,६० , ७।११ , ८।४४,४५ , ९।१।१,२,६,७,८,१०,१३ , ९।२।१५, २३ , ९।३।२,१४,१५	गुरु	गुरु
गुव्विणी	५।१।३९,४०	गुर्विणी	गर्भवती
गूह	८।३२	गूह्	छिपाना, गुप्त रखना
गेण्ह	६।१४	ग्रह्	ग्रहण करना
गेरुय	५।१।३४	गैरिक	लाल रग की मिट्टी
गेण्हमाण	६।१४	गृण्हत्	लेता हुआ
गोच्छग	४।सू०२३	गोच्छग	पात्र ढाकने के वस्त्र को साफ करने का वस्त्र
गोण	५।१।१२	देशी	बैल
गोत्त	७।१७,२०	गोत्र	गोत्र
गोमय	५।१।७	गौमय	गोबर-सम्बन्धी
गोमि	७।१६	गोमिन्	गोमान्, श्लाघा-सूचक शब्द
गोमिणी	७।१६	गोमिनी	श्लाघा-सूचक शब्द
गोयर	५।१।१४	गोचर	भिक्षा, गाय चरती है वैसे थोडा-थोडा लेना
	५।२।२		छात्रग्वास, मठ
गोयरग्ग	५।१।१६ , ५।२।८ , ६।५६	गोचराग्र	प्रधान गोचरी
गोरहग	७।२४	देशी	वृषभ
गोल	७।१४,१६	देशी	अपमान-सूचक शब्द
गोला	७।१६	देशी	अपमान-सूचक शब्द
		घ	
घट्ट	४।सू०१८ , ८।८	घट्ट	स्पर्श करना, छूना
घट्टंत	४।सू०१८,२०	घट्टयत्	हिलाता हुआ
घट्टियाण	५।१।३०	घट्टयित्वा	हिलाकर
घण	८।६३	घन	बादल
घय	५।१।९७	घृत	घी
घसा	६।६१	देशी	पोली जमीन
घाय	६।९	घातय्	मरवाना
घोर	६।१०,१५,६२,६५ , ९।२।१४ , चू०१। श्लो० १२	घोर	घोर
		च	
च	१।४	च	और
चइत्ताण	५।२।४८	च्युत्वा	च्युत होकर

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
चउ	६।४६ , ७।१,५७,, ८।३६,३९ , ९।३।१४ , ९।४।सू०१,२,३श्लो०६ , १०।६	चतुर्	चार
चउत्थ	४।सू०१४ , ६।४७ , ९।४।सू०४,५,६,७	चतुर्थ	चौथा
चउरिंदिय	४।सू०९	चतुरिन्द्रिय	चार इन्द्रिय (स्पर्श, रसन, घ्राण, और चक्षु) वाला जीव
चउव्विह	९।४।सू०४ से ७	चतुर्विध	चार प्रकार का
चगबेर	७।२८	देशी	काष्ठ-पात्री
चचल	चू०१।सू०१	चञ्चल	चचल
चड	९।२।३,२२	चण्ड	क्रोधी
चदिम	६।६८ ; ८।६३	चन्द्रमस्	चन्द्रमा
चक्खुगोयर	५।२।११	चक्षुर्गोचर	दृष्टि-गम्य
चक्खुस	६।२७,३०,४१,४४	चाक्षुष	चक्षु द्वारा दृश्य
चय	२।३,५ , ४।१७,१८ , ९।३।१२ , ९।४।श्लो०७,१०।१७,२१,चू०१।सू०१	त्यज्	छोडना
चर	८।२	चर्	सेवन करना
	४।श्लो०७ , ५।१।२,३,८,९,१३, ५।२।५,६,२५ ; ६।२३,२४, ८।२३, ९।३।४		चलना
	९।३।१४		पर्यटन करना
	१०।१७,चू०२।६,११		आचरण, भिक्षा लेना
चरत	५।१।१०,१५	चरत्	चलता हुआ
चरमाण	४।१	,,	,,
चरित्त	चू०२।६	चरित्र	सयम
चरिया	चू०२।४,५	चर्या	नियम-पूर्वक चरण
चलइत्ता	५।१।३१	चालयित्वा	चलाकर
चलाचल	५।१।६५	चलाचल	कम्पमान, भूलता हुआ
चाइ	२।२,३	त्यागिन्	त्यागी
चाउल	५।२।२२	देशी	तन्दुल, चावल
चाउलोदग	५।१।७५	देशी	तन्दुलोदक, चावल का धोवन
चारु	८।५७	चारु	सुन्दर
चि	४।सू०९ ; चू०२।८	चित्	अनिश्चय-बोधक अव्यय
चिंत	५।१।९४,९६	चिंतय्	चिन्तन करना
चिक्कण	६।६५	चिक्कण	चिकना
चिट्ठ	४।सू०२२श्लो०७,१० ; ५।१।२६ , ५।२।१०,११ , ७।४७ , ८।११,१३, १९,४५	स्था	ठहरना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
चिट्ठ त	४।सू०२२	तिष्ठत्	ठहरता हुआ
चिट्ठमाण	४।श्लो०२ , ५।१।२७	,,	,,
चिट्ठित्ताण	५।२।२८	स्थित्वा	ठहर कर
चित्त	१०।१ , चू०१।सू०१	चित्त	मन
चित्तभित्ति	८।५४	चित्रभित्ति	चित्रित भीत
चित्तमत	४।सू०४,५,६,७,८,१३,१५ , ६।१३	चित्तवत्	चैतन्य-युक्त, सजीव
चियत्त	५।१।१७,६५	देशी	प्रतीतिकर या प्रीतिकर
चिर	चू०१।श्लो०१६	चिर	दीर्घ काल
चिराघोय	५।१।७६ , चू०१।सू०१	चिराद्घौत	चिरकाल का धोवन
चिरकाल	चू०१।सू०१	चिरकाल	चिरकाल
चुय	चू०१।श्लो०३,१३	च्युत	भ्रष्ट, अपनी जगह से गिरा हुआ
चुल्लपिउ	७।१८	क्षुल्लपितृ	चाचा
चूलिया	चू०२।१	चूलिका	चूलिका
चे	चू०१।श्लो०१६	चेत्	यदि
चेय	५।१।२,६० , ६।६६ , चू०१।श्लो०१४	चेतस्	चित्त
चेल	४।सू०२१	चेल	कपड़ा
चोइय	९।२,४,१९	चोदित	प्रेरित
चोर	७।१२	चोर	चोर

छ

छ	३।११ , ४।सू०९,१० ; ७।५६ , १०।५	षट्	छह
छद	५।१।३७ , ६।२।२० , ६।३।१	छन्द	अभिप्राय
छदिय	१०।९	छन्दित्वा	निमन्त्रित कर
छज्जीवणिया	४।सू०१,२,३ , श्लो० २८	षड्जीवनिका	चौथे अध्ययन का नाम, छह प्रकार के जीवों का समूह
छट्ठ	४।सू०९,१६,१७	षष्ठ	छट्ठा
छड्ड	५।१।८५ , ५।२।१	छर्दय्	छोड़ना
छड्डुण	६।५१	छर्दन	डालना
छण	६।५१	क्षण्	हिंसा करना, मारना
छत्त	३।४	छत्र	छत्र
छमा	चू०१।श्लो०२	क्षमा	पृथ्वी
छविइय	७।३४	छविमत्	ली-युक्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
छाय	६।२।७	छात	जिसके शरीर मे कशाघात के व्रण हो गए हों, भूखा
छारिय	५।१।७	क्षारिक	क्षार (भस्म) सम्बन्धी
छिंद	२।५ , ८।१० , १०।३	छिद्	छेदना
छिंदाव	१०।३	छेदय्	छिदवाना
छिंदित्तु	१०।२१	छित्वा	छेदकर
छिन्न	४।सू०२२ ; ५।१।७० , ७।४२	छिन्न	छेदा हुआ
छिवाडी	५।२।२०	देशी	मूंग आदि की फली
छूढ	चू०१।श्लो०५	क्षिप्त	फेंका हुआ, बन्दी किया हुआ
छेय	४।श्लो०१०,११	छेक	हित

ज

ज	१।१	यत्	जो
जअ	७।५०	जय	विजय
जइ	२।६ , ५।१।६४,६५,६८ , ५।२।२ , ६।११,१३ , ८।२१ ; चू०१।श्लो०६	यदि	यदि
जइ	चू०२।६	यति	मुनि
जओ	७।११	यतस्	जिससे
	चू०२।६		क्योंकि
जतलट्ठि	७।२८	यन्त्र-यष्टि	कोल्हू
जतु	चू०१।श्लो०१५,१६	जन्तु	जीव
जक्ख	६।२।१०,११	यक्षस्	व्यन्तर देवों की तीसरी जाति
जग	५।१।६८	देशी	जीव
जग	८।१२	जगत्	विश्व
जगनिस्सिय	८।२६	जगनिश्रित	जीव-रक्षा में तत्पर (जगन्निश्रित इति वृत्तौ).
जढ	६।६०	त्यक्त	छोडा हुआ
जण	६।३।८	जनय्	उत्पन्न करना
जण	चू०२।२	जन	जन
जत्त	६।३।१३	यत्न	प्रयत्न
जत्थ	५।१।२०,२१ ; ५।२।४८ ; ७।६ ; चू०२।१४	यत्र	जहाँ
जन्न	चू०१।श्लो०१२	यज्ञ	यज्ञ
जय	४।श्लो०८,२८ ; ५।१।६,८१,८६,६६, ५।२।७ ; ६।३८ ; ७।५६ ; ८।१६	यत	संयमपूर्वक

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
जय	८।१६ ; चू०२।६	यत्	प्रयत्न करना
जया	४।१४ से २५ , चू०१।श्लो० १ से ७	यदा	जब
जरा	६।५९ ; ८।३५	जरा	बुढ़ापा
जराउय	४सू०९	जरायुज	जरायु से उत्पन्न होने वाले जीव, मनुष्य, गाय, भैंस आदि
जल	६।२।१२ , चू०१।सू०१	जल	पानी
जल	१०।२	ज्वल्	जलाना
जलइत्तए	६।३३	ज्वलयितुम्	जलाने के लिये
जलण	६।१।११	ज्वलन	अग्नि
जलाव	१०।२	ज्वालय्	जलवाना
जलिय	२।६ , ६।१।६	ज्वलित	जलाया हुआ
जल्लिय	८।१८	देशी	शरीर का मैल
जवण	६।३।४	यापन	जीवन-निर्वाह
जस	५।२।३६	यशस्	सयम, यश
जससि	६।६८	यशस्विन्	यशस्वी
जसोकामि	२।७ , ५।२।३५	यशःकामिन्	यश का इच्छुक
जह	चू०२।११	यथा	जैसे
जहक्कम	५।१।८९,९५	यथाक्रम	अनुक्रम, क्रमवार
जहा	१।२,४ , २।१०,११ , ४।सू०३,८,९ , ५।१।९० , ५।२।३९ , ६।६ , ८।१।५३, ५६,५९ , ६।१।११,१४,१५ , ६।२।३ , ६।४।सू०३ से ७ , १०।२ , चू० १। श्लो०८	यथा	जैसे
जहाभाग	५।१।१३	यथाभाग	अपना-अपना उचित विषय
जहारिह	७।१७,२०	यथार्ह	यथोचित
जहिं	५।१।३५	यत्र	जहाँ
जहोवइट्ठ	६।३।२	यथोपदिष्ट	यथोक्त
जाइ	७।२१ , १०।१९ , ८।३० , ६।४।सू०७ श्लो०७ , १०।१४,२१	जाति	जाति, जन्म
जाइत्ता	८।५	याचित्वा	मांगकर

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
जाइपह	६।१।४ , १०।१४ , चू०२।१६	जाति-पथ	ससार
जाइमत	७।३१	जातिमत्	जात्य, उत्तम जाति वाला
जागरमाण	४।सू०१८ से २३	जाग्रत्	जागता हुआ
जाण	४।११,२२,२३ ; ५।१।४७,७६ ; ५।२।३४,४०,४५ , ७८	ज्ञा	जानना
जाण	६।९,८।३१	जानत्	जानता हुआ
जाण	७।२९	यान	वाहन
जाणिऊण	५।१।६९	ज्ञात्वा	जान कर
जाणित्ता	५।१।२४ , ८।१६	ज्ञात्वा	जान कर
जाणित्तु	८।१३	,,	,,
जाणिय	१०।१८ , चू०१।श्लो०११	,,	,,
जाणिया	५।२।२४ , ७।५६	,,	,,
जाय	२।६ , ४।सू०२२,२३	जात	उत्पन्न, समूह
जाए	५।२।२९	याच्	मागना
जायतेय	६।३२	जात-तेजस्	अग्नि
जाला	४।सू०२०	ज्वाला	अग्नि से लगी हुई शिखा
जाव	७।२१ , ८।३५	यावत्	जब तक
जावत	६।९	यावत्	जितना
जावज्जीव	४।सू०१० से १६, १८ से २३ ; ६।२८,३१,३५,३९,४२,४५,६२	यावज्जीव	जीवन-पर्यन्त
जिइंदिय	३।१३ , ८।३२,४४,६३ , ९।३।८,१३, ९।४।सू०२श्लो०१ , चू०२।१५	जितेन्द्रिय	जितेन्द्रिय
जिण	४।२२,२३ , ५।१।९२	जिन	राग-द्वेष को जीतने वाला
जिण	८।३८	जि	जीतना
जिणत	४।२७	जयत्	जीतता हुआ
जिणदेसिय	चू०१।श्लो०९	जिनदेशित	जिन द्वारा कथित
जिणमय	९।३।१५	जिन-मत	जैन शासन
जिणवयण	९।४।सू०७ श्लो०५ , चू०१।श्लो०१८	जिन वचन	जिन-वाणी
जिणसथव	५।१।९३	जिनसस्तव	तीर्थंकर-स्तुति, चतुर्विशतिस्तव
जिणसासण	८।२५	जिनशासन	जैन शासन
जिय	८।४८	जित्	परिचित
जीव	चू०२।१५	जीव्	जीना
जीव	४।सू०४ से १८ श्लो०१२,१३,१४,१५; ५।१।६८ ; ६।१० , ८।२ ; ९।१।५	जीव	जीव
जीविउं	६।१०	जीवितुम्	जीने के लिये

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
जीविय	२।७, ८।३४, १०।१७; चू०१। सू०१ श्लो०१६	जीवित	जीवन
जीवियट्ठि	६।१।६	जीवितार्थिन्	जीवन का इच्छुक
जुगमाया	५।१।३	युग-मात्रा	चार हाथ परिमित
जुत्त	३।१०,	युक्त	समाहित
	८।४२		व्यापृत
	८।६३, ९।१।१५, ६।४।सू०६, श्लो० ४, १०।१०		युक्त
	६।२।१४		नियुक्त
जुद्ध	५।१।१२	युद्ध	युद्ध
जम्हे	२।८,९	युष्मत्	तू
जुव	७।२५	युवन्	युवा
जोइ	२।६, ३।४, ८।६२	ज्योतिष्	अग्नि
जोग	४।२३,२४; ८।४, चू०२।५	योग	शरीर, वाणी और मन का व्यापार
	७।४०, ८।४२, ६।१।१६		प्रवृत्ति
	८।१७		सामर्थ्य
	८।५०		वशीकरण के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला चूर्ण
	५।१।१, ६।१।१५		सम्बन्ध
जोगय	८।६०	योगक	प्रवृत्ति, समाधि
जोय	६।२६,४०,४३	योग	शरीर, वाणी और मन का व्यापार
जोव्वण	चू०१।श्लो०६	यौवन	जवानी

झ

झुसिर	५।१।६६	शुषिर	पोला
झोसइत्ता	चू०१।सू०१	शोषयित्वा	सुखाकर

ट

टाल	७।३२	देशी	कोमल फल—गुठली उत्पन्न होने से पहली अवस्था का फल

ठ

ठविय	५।१।६५	स्थापित	रखा हुआ
ठाण	५।१।१६	स्थान	क्षेत्र
	६।७,८,५८; ६।२।१७; ६।४।सू०१,२,३; चू०१।सू०१,३		स्थान

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
ठवय	६।४।सू०५श्लो०३	स्थापय्	स्थापित करना
ठिअ	६।४।सू०५श्लो०३ , १०।२०	स्थित	ठहरा हुआ
ठियप्प	६।४९ , १०।१७,२१	स्थितात्मन्	स्थिर चित्तवाला
		ड	
डह	६।१।७	दह्	जलाना
डहर	६।१।२,३,४ , ६।३।३,१२	डहर	अल्पवयस्क
		ण	
ण	५।२।२	न	नही
णं	५।२।२९	ण	वाक्यालकार मे प्रयुक्त
णमस	१।१	नमस्य्	नमस्कार करना
णु	७।५१	नु	वितर्क या आक्षेप वाचक अव्यय
णो	६।२ , ७।६	नो	नही
		त	
त	१।२	तत्	वह
त	२।८,९	त्वत्	तू
तउज्जुय	५।२।७	तदृजुक	उसके सामने
तओ	४।सू०२३, ४।१०, ५।१।९६, ५।२।३, १३ ; ६।२।१ , ६।३।७	ततस्	तत्पश्चात्
तंजहा	४।सू०३	तद्-यथा	वह, जैसे
तच्च	४।सू०१३	तृतीय	तीसरा
तज्जणा	१०।११	तर्जना	डांटना
तज्जायसंसट्ठ	२।६	तज्जात-संसृष्ट	समान जातीय द्रव्य से लिप्त
तण	४।सू०८, ५।१।८४, ८।२,१०, १०।४	तृण	वनस्पति का एक प्रकार, घास
तणग	५।१।१९	तृणक	तृण
तण्हा	५।१।७,८,७९	तृष्णा	प्यास
तत्तो	५।२।४८	ततस्	वहा से
तत्तनिव्वुड	५।२।२२	तप्त-निर्वृत	वह वस्तु जो गर्म होकर ठडी हो गई हो
तत्तफासुय	८।६	तप्तप्रासुक	जो पूर्ण मात्रा मे गर्म होने पर निर्जीव हो गया हो

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
तत्तानिव्वुड भोइत्त	३।६	तप्तनिर्वृत-भोजित्व	एक अनाचार, तप्त होने पर भी जो पूर्ण तप्त न होने के कारण निर्जीव न हुआ हो, वैसा भोजन करना
तत्थ	५।१।५,६,२५,२६,२७,२८,३६, ३७,३८,६६,८३,८४,६५,५।२। ११,२७,४७,५०, ६।७,८,२४, ५१,५२, चू०१।श्लो०१, चू०२।१४	तत्र	वहाँ
तन्निस्सिय	५।१।६८	तन्निःश्रित	उसके आश्रित
तमस	५।१।२०	तामस	अन्धकारपूर्ण
तयस्सिय	६।२७,३०,४१,४४	तदाश्रित	उसके आश्रित
तया	४।१४ से २५	तदा	तक
तरित्तु	९।२।२३	तीर्त्वा	तैरकर
तरुणग	५।२।१९	तरुणक	नसा
तरुणिया	५।२।२०	तरुणिका	नई
तव	१।१ , ३।१५ ; ४।२७ , ५।२।६,४२ , ६।१,६७ , ७।४९ , ८।४०,६१,६२ , ९।४सू०३।श्लो०१, ९।४सू०६।श्लो०४, १०।७,१२,१४ , चू०१।सू०१	तपस्	तपस्या
तवण	६।१।१४	तपन	तेजयुक्त
तवतेण	५।२।४६	तपस्तेन	तप चोर
तवसमाहि	९।४।सू०३,६, ९।४।सू०६श्लो०४	तपःसमाधि	तपस्या से होनेवाली आत्मिक स्वस्थता
तवस्सि	५।२।४२ , ६।५६ , ८।३० , ९।३।१३	तपस्विन्	तपस्वी
तवोकम्म	६।२२	तपःकर्मन्	तपस्या
तस	४।सू०६,११ , ५।१।५ , ६।८,२३,२७, ३०,४१,४४ , ८।२,११ , १०।४	त्रस	गतिशील प्राणी
तसकाइय	४।सू०३	त्रसकायिक	गति योग्य शरीर वाला
तसकाय	४।सू०९ , ६।४३,४४,४५	त्रसकाय	„ „ „ „
तसिय	४।सू०९	त्रसित्	त्रास पाना
तह	चू० २।८	तथा	और
तहा	५।१।३०,४७,४९,५१,५३,५६,६१,७१, ७५ , ५।२।२१ , ६।६ , ७।३२,३८, ५७ , ८।११,५६ ; ९।२।१८, चू१०।श्लो०११	तथा प्रकार	वैसा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
तहाभूय	८।७	तथाभूत	वैसा
तहामुत्ति	७।५	तथा-मूर्त्ति	उस आकार वाला
तहाविह	५।१।७१,८४ , चू०१।श्लो०१४	तथा विध	उस प्रकार
तहिं	चू०२।११	तत्र	वहाँ
तहेव	५।१।७१	तथैव	उसी प्रकार
ता	५।२।३४ , चू०१।श्लो०१५	तावत्	तब तक
ताइ	३।१,१५ , ६।२०,३६,६६,६८ , ८।६२	तायिन्-त्रायिन्-तादृश्	रक्षक, वैसा मुनि
तारिय	५।१।६४	तारित	पार प्राप्त, निहाल
तारिम	७।३८	तार्य	तरने योग्य
तारा	६।१।१५	तारा	तारे
तारिस	५।१।२८,२६,३१,३२,४१,४३,४४,४६, ४८,५०,५२,५४,५८,६०,६२,६४,७२, ७४,७६ , ५।२।१५,१७,२०,३६,४०, ४१,४४,४५ , ६।३६,६६ , ८।६३ चू०१।श्लो०१७	तादृश	वैसा
तारिसग	४।२६,२७	तादृशक	वैसा
तालउड	८।५६	तालपुट	उग्रविष
तालियट	४।सू०२१ , ६।३७ , ८।६	तालवृन्त	ताड़ के पत्ते का पखा, वह पखा जिसके दो पट हों और बीच मे डडी लगी हो
ताव	७।२१ , ८।३५	तावत्	जब तक
ति	६।५६	त्रि	तीन
तिंदुय	५।१।७३	तिन्दुक	तेन्दु का फल
तिक्ख	६।३२	तीक्ष्ण	तीखा
तिगुत्त	३।११ , ६।१।१४	त्रिगुप्त	मन, वाणी और शरीर से गुप्त
तिगुत्ति	चू०१।श्लो०१८	त्रिगुप्ति	शरीर मन और वाणी का सवरण
तित्तग	५।१।६७	तिक्तक	तीता
तित्थ	७।३७	तीर्थ	नदी का तट, घाट
तिरिक्खि जोणि	५।२।४७	तिर्यग्योनि	तिर्यंच—पशु, पक्षी आदि की योनि
तिरक्खि जोणिय	४।सू०६ , ५।२।४२८	तिर्यग्-योनिक (ज)	तिर्यंच योनि मे उत्पन्न होने वाला जीव
तिरक्खि जोणिय	४।सू०१४	तैर्यग्-योनिक	तिर्यंच—पशु-पक्षी आदि सम्बन्धी
तिरिच्छ संपाइम	५।१।८	तिर्यक्-सपातिन्	उड़-उडकर आ गिरने वाले कीट-पतग आदि जीव-जन्तु
तिरिय	७।५०	तिर्यच्	तिर्यंच

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
तिलपप्पडग	५।२।२१	तिलपर्पटक	तिल पपडी
तिलपिट्ठ	५।२।२२	तिलपिष्ट	तिल की पिट्ठी
तिविह	४।सू०१० से १६, १८ से २३, ६।२६, ४०,४३, ८।४	त्रिविध	तीन प्रकार का
तिव्व	५।२।५०	तीव्र	तीव्र
तु	५।१।३७	तु	पादपूर्ति, अवधारण आदि अर्थों मे प्रयुक्त एक अव्यय
तुंबाग	५।१।७०	तुम्बक	कद्दू का फल
तुयट्ट	४।सू०२२	त्वग्+वृत्	सोना, करवट लेना
तुयहत	४।सू०२२	त्वग्+वर्तयत्	करवट लेता हुआ
तुट्ठ	६।२।१५	तुष्ट	सन्तुष्ट
तुस	५।१।१७	तुष	भूसा
तेइंदिय	४।सू०९	त्रीन्द्रिय	तीन इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण) वाला जीव
तेउ	४।सू०६, ५।१।६१	तेजस्	अग्नि
तेउकाइअ	४।सू०३	तेजस्कायिक	अग्नि शरीर वाला जीव
तेउकाय	६।३५	तेजस्काय	" " "
तेगिच्छ	३।४	चैकित्स्य	रोग का प्रतिकार करना
तेण	५।२।३७,३९, ७।१२	स्तेन	चोर
तेणग	७।३६,३७	स्तेनक	चोर
तेल्ल	६।१७	तैल	तैल
तो	५।१।९५	ततस्	उसके वाद
तोरण	७।२७	तोरण	नगर का दरवाजा, सिंहद्वार, वडा दरवाजा
तोस	६।१।१६	तोपय्	सन्तुष्ट करना

थ

थंभ	६।१।१, ६।३।१२	स्तम्भ	अकडाई, अहकार
थणग	५।१।४२	स्तनक	स्तन
थद्ध	६।२।३	स्तब्ध	गर्वोन्मत्त
थावर	४।सू०११, ५।१।५, ६।९,२३, १०।४	स्थावर	गतिशून्य प्राणी
थिग्गल	५।१।१५	देशी	ईंट आदि से रोका हुआ द्वार

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
थिर	७।३५	स्थिर	स्थिर, अचल
थूल	४।सू०१३,१५	स्थूल	बड़ा
	७।२२		मांसल
थेर	६।४।सू०१,२,३	स्थविर	गणधर आदि
थेरअ	चू०१।श्लो०६	स्थविरक	वृद्ध
थोव	५।१।७८ , ८।२९	स्तोक	थोडा

द

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दंड	४।सू०१० , ६।२।४,८	दण्ड	परितापन, वध
दंडग	४।सू०२३	दण्डक	डण्डा, कंधे तक की लाठी
दंत	१।५ , ३।१३ , ४।९ ; ५।१।९ ; ६।३ , ८।२९ , ६।४।सू०७ श्लो०५	दान्त	जितेन्द्रिय
दंतपहोयणा	३।३	दन्त-प्रधावना	दान्त पखालना
दंतवण	३।९	देशी, दन्तपवन	दतौन
दंतसोहण	६।१३	दन्तशोधन	दांत साफ करने का साधन, दतौन
दंसण	४।२१,२२ , ५।१।७६ ; ६।१ ; ७।४९	दर्शन	सामान्य बोध
दग	५।१।४५ , ८।२।१	दक	पानी
दगभवण	५।१।१५	दक-भवन	जल-गृह
दगमट्टिआ	५।१।३,२६	दक-मृत्तिका	चीखल, पंकिल मिट्टी
दच्छ	२।९	दृश्	देखना
दट्ठव्व	चू०२।४	द्रष्टव्य	देखने योग्य
दट्ठूणं	५।१।२१ , ५।२।३१,४९ , ६।२५ ; ८।५४	दृष्ट्वा	देखकर
दमअ	७।१४	देशी	द्रमक—दरिद्र
दमइत्ता	५।१।१३	दमयित्वा	दमन करके
दम्म	७।२४	दम्य	वह बैल जो बोझ ढोने योग्य हो गया हो
दया	४।१० , ६।१।१३	दया	अहिंसा, कृपा
दयाहिगारि	८।१३	दयाधिकारिन्	दया का अधिकारी
दरिसणिय	७।३१	दर्शनीय	देखने योग्य
दलय	५।१।७८	दा	देना
दवदव	५।१।१४	द्रवद्रव	शीघ्रगति वाला गमन
दव्वी	५।१।३२,३५,३६	दर्वी	कडछी, डोव
दस	६।७	दशन्	दस

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दह	६।३३	दह्	दहन करना
दा	५।१।४६,६१,६३ , ५।२।१४,१६,२७	दा	देना
दाइय	५।२।३१	दर्शित	दिखाया हुआ
दाढा	चू०१।श्लो०१२	दाढा	दाढ
दाण	१।३ , ५।१।४७	दान	दान
दायग	५।२।१२	दायक	देने वाला, दाता
दायव्व	चू०२।२	दातव्य	देने योग्य
दार	५।१।१५ , ५।२।९	द्वार	दरवाजा
दार	चू०१।श्लो०८	दार	स्त्री
दारग	५।१।२२,४२	दारक	बच्चा
दारुण	८।३६ , ९।२।१४	दारुण	भयानक, रौद्र
दाव	५।१।८०	दापय्	दान करना
दावय	५।१।४६,६७	दायक	देने वाला
दाहिणओ	६।३३	दक्षिणतस्	दक्षिण दिशा मे
दिज्जमाण	५।१।३५,३६,३७,३८	दीयमान	दिया जाता हुआ
दिट्ठ	५।१।६६ , ६।९,५१ ; ८।२०,२१,४८	दृष्ट	देखा हुआ
दिट्ठि	८।५४	दृष्टि	दृष्टि
दिट्ठिवाय	८।४९	दृष्टिवाद	नयवाद
दित्त	५।१।१२	दृप्त, दीप्त	उन्मत्त
दिन्न	५।२।१३	दत्त	दिया हुआ
दिया	४।सू०१८ से २३ , ६।२४	दिवा	दिवस
दिव्व	४।सू०१४,४।श्लो०१६,१७ ; ९।२।४	दिव्य	देवता-सम्बन्धी
दिस्स	७।५३ , १०।१२	दृष्ट्वा	देखकर
दीसय	५।२।२८	दृश्यमान	दीखने वाला
दीह	६।६४ , ७।४१	दीर्घ	लम्बा
दु	४।१४ ; ५।१।३७,३८,१०० , ७।१	द्वि	दो
दुक्कर	३।१४	दुष्कर	दुष्कर
दुक्ख	२।५ ; ३।१३ , ८।२७ ; १०।११ ; चू०१।सू०१,चू०१।श्लो०११,१६	दु ख	दु:ख
दुक्खसह	८।६३	दुःखसह	दुःख-सहिष्णु
दुग्गअ	९।२।१९	दुर्गव	दुष्ट बैल
दुग्गइ	५।१।११ , ६।२८,३१,३५,३९,४२,४५	दुर्गति	दुर्गति
दुग्ध	५।२।१	दुर्गन्ध	अप्रिय गन्ध वाला, सडा हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दुच्चर	६।५	दुश्चर	जिसका आचरण कष्ट साध्य हो
दुच्चिण्ण	चू०१।सू०१	दुश्चीर्ण	दुराचरित
दुज्झ	७।२४	दोह्य	दोहने योग्य
दुट्ठ	७।५५,५६	दुष्ट	दुष्ट
दुत्तोसअ	५।२।३२	दुस्तोष (ष्य) क	जो सहजतया तृप्त न हो
दुन्नामधेज्ज	चू०१।श्लो०१३	दुर्नामधेय	बदनामी
दुप्पउत्त	चू०२।१४	दुष्प्रयुक्त	दुष्प्रयुक्त
दुप्पजीवि	चू०१।सू०१	दुष्प्रजीविन्	दुख से आजीविका करने वाला
दुप्पडिक्कत	चू०१।सू०१	दुष्प्रतिक्रान्त	जिनका प्रतिक्रमण—निवर्तन न किया गया हो
दुप्पडिलेहग	५।१।२०, ६।५५	दुष्प्रतिलेख्यक	जो कठिई सेना देखा जा सके
दुवुद्धि	६।२।१६	दुर्बुद्धि	दुष्ट बुद्धि वाला
दुम	१।२, ६।२।१	द्रुम	वृक्ष
दुमपुप्फिया	१	द्रुमपुष्पिका	दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन
दुम्मइ	५।२।३६	दुर्मति	दुर्बुद्धि
दुम्मणिय	६।३।८	दौर्मनस्य	दुष्ट मनोभाव
दुरहिट्ठिय	६।४	दुरधिष्ठित	दुर्धर
	६।१५		घृणा प्राप्त कराने वाला
दुरासय	२।६,६।३२	दुरासद—दुराश्रय	जिसे पराजित न किया जा सके
दुरुत्त	६।३।७	दुरुक्त	दुर्वचन
दुरुत्तर	६।६५, ६।२।२३	दुरुतर	दुरुतर, जो कठिनाई से तरा जा सके
दुरुद्धर	६।३।७	दुरुद्धर	जो सुविधापूर्वक न निकाला जा सके
दुरूहमाण	५।१।६८	आरोहत्	चढता हुआ
दुलह	४।२८	दुर्लभ	दुर्लभ
दुल्लभ	चू०१।सू०१	,,	,,
दुल्लह	४।२६, ५।१।१००	,,	,,
दूव्वाइ	६।२।३	दुर्वादिन्	अप्रियभाषी
दुव्विहिय	चू०१।श्लो०१२	दुर्विहित	जिसका आचरण विधि-विधान के प्रतिकूल हो
दुस्समा	चू०१।सू०१	दुष्षमा	दुःखमयकाल, पचम अर
दुस्सह	३।१४	दुःसह	जिसे सहना कठिन हो
दुस्सेज्जा	८।२७	दुःशय्या	सोने की विषम-भूमि
दुह	६।२।५,७,१०, चू०१।श्लो०१४,१५; चू०२।१६	दुःख	दुःख

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दुहअ	७।१४	दुर्भग	भाग्यहीन
दुहओ	६।२।२१	द्विधा	दो प्रकार से
दूरओ	५।१।१२,१६ ; ६।५८	दूरतस्	दूर से
देंतिय	५।१।२८,३१,३२,४१,४३,४४,४६,४८, ५०,५२,५४,५८,६०,६२,६४,७२,७४, ७६ , ५।२।१५,१७,२०	ददत्	देता हुआ
देव	१।१, ४।सू०६, ७।५०, ६।२।१०,११, ६।४।श्लो०७	देव	देवता
	७।५२		मेह, आकाश, राजाओं के लिये आदर सम्बोधन
देवकिव्विस	५।२।४६,४७	देवकिल्विष	निम्नकोटि की देव-जाति
देवत्त	५।२।४७	देवत्व	देव-अवस्था
देवया	चू०१।श्लो०३	देवता	देवता
देवलोग	चू०१।श्लो०१०	देवलोक	स्वर्ग
देवलोय	३।१४	,,	,,
देस	चू०२।८	देश	राज्य, प्रान्त
देसिय	५।१।६२ , ६।८	देशित	उपदिष्ट
देह	५।१।६२ , ६।२१ , ८।२७, चू०१।श्लो०१७	देह	शरीर
देहपलोयणा	३।३	देहप्रलोकन	काच आदि मे शरीर देखना
देहवास	१०।२१	देहवास	शरीर रूपी कारागार
दोच्च	४।सू०१२	द्वितीय	दूसरा
दोस	२।५	दोष	द्वेष
	५।१।११,६६,६६, ५।२।३५,३७, ६।१६, २५,२८,३१,३५,३६,४२,४५ , ७।५६ , ८।३५ , ६।३।११		दोष
दोसन्न	७।१३	दोषज्ञ	दोष को जानने वाला

ध

धम्म	१।१ , २।१० ; ४।१६,२० ; ८।३५, ९।२।२ ; ६।३।८; १०।२०; चू०१।सू०१; चू०१।श्लो०१,२,१२,१३ ; चू०२।१	धर्म	आत्म-शुद्धि का साधन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धम्मकामी	६।१।१६	धर्म-कामिन्	निर्जरार्थी, आत्म-शुद्धि चाहने वाला
धम्मजीवि	६।४६	धर्म-जीविन्	सयमपूर्वक जीने वाला
धम्मज्झाण	१०।१६	धर्मध्यान	धर्म-चिन्तन
धम्मट्ठकहा	६	धर्मार्थकथा	दशवैकालिक का छट्ठा अध्ययन
धम्मत्थकाम	६।३	धर्मार्थकाम	मोक्षार्थी, मुमुक्षु
धम्मपण्णत्ति	४	धर्म-प्रज्ञप्ति	चतुर्थ अध्ययन का एक नाम
	४।सू०१,२,३		धर्म की प्ररूपणा
धम्मपय	६।१।१२	धर्म-पद	सिद्धान्त-वाणी
धम्मसासण	चू०१।१७	धर्म-शासन	धर्म की आज्ञा, धर्म उपदेश
धर	८।४६	धर	धारण करने वाला
धाय	७।५१	देशी	सुभिक्ष
वार	५।१।१६ , ६।१६	धारय्	धारण करना
धारण	३।४	धारण	,, ,,
	५।१।६२		टिकाए रखना
धिइमअ	चू०२।१५	धृतिमत्	धैर्यवान्
धिरत्थु	२।७	धिगस्तु	धिक्कार हो
धीर	३।११ , ७४,७,४७ , चू०२।१४	धीर	स्थिर चित्तवाला
धुण	४।२० , ६।६७ , ६।४।सू०६ श्लो०४ , १०।७	धू	झाडना, हिलाना
धुणिय	६।३।१५	धूत्वा	धुनकर, खपाकर
धुन्नमल	७।५७	धुतमल	जिसने मल को धुन डाला
धुयमोह	३।१३	धुतमोह	मोह को धूनने वाला
धुव	८।१७	ध्रुव	शास्त्र-विधि के अनुसार निश्चित किया हुआ क्रिया करने का समय
	८।४२		यथोचित
धुवयोग	१०।१०	ध्रुवयोग	मन, वचन और काया की स्थिर प्रवृत्ति
धुवजोगि	१०।६	ध्रुवयोगिन्	स्थिर प्रवृत्ति वाला
धुवसीलया	८।४०	ध्रुव शीलता	ध्रुव आचार, अठारह हजार शील के अङ्गों का पालन
धूमकेउ	२।६	धूमकेतु	अग्नि
धूया	७।१५	दुहितृ	वेटी
धूवणेत्ति	३।६	धूमनेत्र	धूम पीने की नली
धेणु	७।२५	धेनु	गाय
धोय	५।१।७६	धौत	धोया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
दुहग	७।१४	दुर्भग	भाग्यहीन
दुहओ	६।२।२१	द्विधा	दो प्रकार से
दूरओ	५।१।१२,१६ ; ६।५८	दूरतस्	दूर से
देंतिय	५।१।२८,३१,३२,४१,४३,४४,४६,४८, ५०,५२,५४,५८,६०,६२,६४,७२,७४, ७६ , ५।२।१५,१७,२०	ददत्	देता हुआ
देव	१।१, ४।सू०६, ७।५०, ६।२।१०,११, ६।४।श्लो०७	देव	देवता
	७।५२		मेह, आकाश, राजाओं के लिये आदरसूचक सम्बोधन
देवकिव्बिस	५।२।४६,४७	देवकिल्बिष	निम्नकोटि की देव-जाति
देवत्त	५।२।४७	देवत्व	देव-अवस्था
देवया	चू०१।श्लो०३	देवता	देवता
देवलोग	चू०१।श्लो०१०	देवलोक	स्वर्ग
देवलोय	३।१४	,,	,,
देस	चू०२।८	देश	राज्य, प्रान्त
देसिय	५।१।९२ , ६।८	देशित	उपदिष्ट
देह	५।१।९२ ; ६।२१ , ८।२७, चू०१।श्लो०१७	देह	शरीर
देहपलोयणा	३।३	देहप्रलोकन	काच आदि मे शरीर देखना
देहवास	१०।२१	देहवास	शरीर रूपी कारागार
दोच्च	४।सू०१२	द्वितीय	दूसरा
दोस	२।५	दोष	द्वेष
	५।१।११,६९,९९, ५।२।३५,३७, ६।१६, २५,२८,३१,३५,३६,४२,४५ , ७।५६ ; ८।३५ , ६।३।११		दोष
दोसन्न	७।१३	दोषज्ञ	दोष को जानने वाला

ध

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धम्म	१।१ ; २।१० ; ४।१९,२० ; ८।३५, ९।२।२ ; ६।३।८; १०।२०; चू०१।सू०१, चू०१।श्लो०१,२,१२,१३ ; चू०२।१	धर्म	आत्म-शुद्धि का साधन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धम्मकामी	६।१।१६	धर्म-कामिन्	निर्जरार्थी, आत्म-शुद्धि चाहने वाला
धम्मजीवि	६।४९	धर्म-जीविन्	सयमपूर्वक जीने वाला
धम्मज्झाण	१०।१९	धर्मध्यान	धर्म-चिन्तन
धम्मट्ठकहा	६	धर्मार्थकथा	दशवैकालिक का छट्ठा अध्ययन
धम्मत्थकाम	६।३	धर्मार्थकाम	मोक्षार्थी, मुमुक्षु
धम्मपण्णत्ति	४	धर्म-प्रज्ञप्ति	चतुर्थ अध्ययन का एक नाम
	४।सू०१,२,३		धर्म की प्ररूपणा।
धम्मपय	६।१।१२	धर्म-पद	सिद्धान्त-वाणी
धम्मसासण	चू०१।१७	धर्म-शासन	धर्म की आज्ञा, धर्म उपदेश
धर	८।४९	धर	धारण करने वाला
धाय	७।५१	देशी	सुभिक्ष
धार	५।१।१९ , ६।१९	धारय्	धारण करना
धारण	३।४	धारण	,, ,,
	५।१।९२		टिकाए रखना
धिइमअ	चू०२।१५	धृतिमत्	धैर्यवान्
धिरत्थु	२।७	धिगस्तु	धिक्कार हो
धीर	३।११ , ७।४,७,४७ , चू०२।१४	धीर	स्थिर चित्तवाला
धुण	४।२० , ६।६७ , ९।४।सू०६ श्लो०४ ; १०।७	धू	झाड़ना, हिलाना
धुणिय	६।३।१५	धूत्वा	धुनकर, खपाकर
धुन्नमल	७।५७	धुतमल	जिसने मल को धुन डाला
धुयमोह	३।१३	धुतमोह	मोह को धूनने वाला
धुव	८।१७	ध्रुव	शास्त्र-विधि के अनुसार निश्चित किया हुआ क्रिया करने का समय
	८।४२		यथोचित
धुवयोग	१०।१०	ध्रुवयोग	मन, वचन और काया की स्थिर प्रवृत्ति
धुवजोगि	१०।६	ध्रुवयोगिन्	स्थिर प्रवृत्ति वाला
धुवसीलया	८।४०	ध्रुव शीलता	ध्रुव आचार, अठारह हजार शील के अङ्गो का पालन
धूमकेउ	२।६	धूमकेतु	अग्नि
धूया	७।१५	दुहितृ	बेटी
धूवणेत्ति	३।९	धूमनेत्र	धूम पीने की नली
धेणु	७।२५	धेनु	गाय
धोय	५।१।७६	धौत	धोया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
धोयण	६।५१	धावन	धोवन

न

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
न	१।२	न	नही
नई	७।३८	नदी	नदी
नगल	७।२८	लाङ्गल	हल
नक्खत्त	८।५० , ९।१।१५	नक्षत्र	अश्विनी आदि २७ नक्षत्र
नगर	४।सू०१३,१५ , ५।१।२ , चू०२।८	नगर	नगर
नगिण	६।६४	नग्न	नंगा
नच्चा	५।१।१९,२९,७७ , ७।३६,४० , ८।३४ ४९,५९ , ९।१।२,४ , ९।३।१	ज्ञात्वा	जानकर
नत्तुणिय	७।१८	नप्तृक	बेटी का बेटा, धेवता
नत्तुणिया	७।१५	नप्तृका	बेटी की बेटी, धेवती
नमस	१।१ , ९।१।११ , ९।२।१५	नमस्य्	नमस्कार करना
नमोक्कार	५।१।९३	नमस्कार	नमस्कार महामत्र
नर	५।२।४६ , ७।५,५३ , ८।५६ , ९।२।४, ७,६,२२ , ९।३।६ , चू०१श्लो०१८	नर	मनुष्य
नरय	५।२।४८ , चू०१।१३	नरक	नरक
नव	६।६७	नव	नया
नह	७।५२	नभस्	आकाश
नहसि	६।६४	नखवत्	नखवाला
ना	४।१०,१२,१३	ज्ञा	जानना
नाग	२।१० ; चू०१।श्लो०८	नाग	हाथी
	९।१।४ , चू०१।श्लो०१२		सांप
नाण	४।१०,२१,२२ , ६।१ , ७।५९ ; ९।४।सू०५श्लो०३ , १० ७	ज्ञान	विशेष बोध
नाणा	९।१।११	नाना	विविध प्रकार
नाणापिंड	१।५	नानापिण्ड	विविध प्रकार का भोजन
नाभि	७।२८	नाभि	चक्र, मध्य, पहिये के बीचों बीच बेलन के आकार का वह अङ्ग जिसमे धुरी पहनाई जाती हो
नाम	४।सू०१,२,३	नाम	अभिवायक या वाचक-शब्द

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
नाम	७।४	नामय्	प्रतिकूल करना
नामधिज्ज	७।१७,२०	नामधेय	नाम
नाय	६।२।२१	ज्ञात	ज्ञात
नायपुत्त	५।२।४६	ज्ञात (नाग) पुत्र	भगवान् महावीर का एक नाम
नारी	२।६ , ८।५२, ५४,५५ , ६।२।७,६	नारी	स्त्री
नालिआ	५।२।१८	नालिका	कमल आदि की नाल
नालीय	३।४	नालीक	नली के द्वारा पासा डालकर खेला जाने वाला जुआ
नावा	७।२७,३८	नौ	नौका
नास	८।३७	नाशय्	नाश करना
नास	६।१।५	नाश	विनाश
नासण	८।३७	नाशन	नष्ट करना
नासा	८।५५	नासा	नाक
निअच्छ	६।२।१४	नि+यम्	नियन्त्रण करना
निउण	६।८ , ६।३।१५ , चू०२।१०	निपुण	चतुर, कुशल
निंद	४।सू०१०,११,१२,१३,१४,१५,१६, १८,१६,२०,२१,२२	निन्द्	निंदा करना
निकाय	४।सू०६,१०	निकाय	समूह
निक्खत	८।६०	निष्क्रान्त	घर से निकाला हुआ
निक्खम	५।२।४	निर्+क्रम्	सन्यास लेना, वाहर जाना, निकालना
निक्खम्म	१०।१,२०	निष्क्रम्य	निकलकर
निक्खित्त	५।१।५६,६१	निक्षिप्त	रक्खा हुआ
निक्खिवित्ताण	५।१।३०	निक्षिप्य	रखकर
निक्खिवित्तु	५।१।४२	,,	,,
निक्खिव	५।१।८५	नि+क्षिप्	फेंकना
निगामसाई	४।२६	निकामशायिन्	काल-मर्यादा से अधिक सोने वाला
निग्गथ	३।१,१०,११ , ६।४,१०,१६,२५,४६, ५२,५४	निर्ग्रन्थ	साधु
निग्गथत्त	६।७	निर्ग्रन्थत्व	साधुत्व
निग्गहण	३।११	निग्रहण	इन्द्रिय और मन का निग्रह करने वाला
निच्च	५।२।३६ , ६।२२ , ८।३,११,१६,५३ , ६।१।१२ ; ६।३।४ , ६।४।सू०३श्लो०१ , ६।४।सू०६श्लो०४ , १०।१,१२,२१ ; चू०२।१५	नित्य	शाश्वत

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
निच्छिय	चू०१।श्लो०१७	निश्चित	निश्चित
निज्जरट्ठिय	९।४।सू०६श्लो०४	निर्जरार्थिक	निर्जरा का अर्थी
निज्जरा	९।४।सू०६	निर्जरा	सचित कर्म का विलय और उससे होने वाली आत्मा की विशुद्धि
निज्जायरूवरयअ	१०।६	निर्जातरूप-रजत	सोना-चादी न रखने वाला
निज्झा	८।५४,५७	नि+ध्यै	देखना
निट्ठाण	८।२२	निष्ठान	सरस भोजन
निट्ठिय	७।४०	निष्ठित	कृत
निण्हव	८।३२	नि+हन्	मुकर जाना
निद्दा	८।४१	निद्रा	नीद
निद्दिस	७।१० , ८।२२	निर्+दिश्	कहना, निर्देश देना
निद्देसवत्ति	९।२।१५,२३	निर्देशवर्तिन्	आज्ञाकारी
निद्धुणे	७।५७	निर्धूय	झाडकर
निप्पुलाअ	१०।१६	निष्पुलाक	निर्दोप
निमंत	५।१।३७,३८,९५	नि+मंत्रय्	निमंत्रण देना, बुलाना
निमित्त	८।५०	निमित्त	लाभ, अलाभ, सुख, दुख आदि बताना
नियट्ट	५।१।२३	निर्+वृत्	लौटना, निवृत्त होना
नियडि	५।२।३७	निकृति	माया
नियडि	९।२।३	निकृति (मत्)	कपटी
नियत्तण	९।३।३	नीचत्व	नम्र व्यवहार
नियत्तिय	५।२।१३	निवर्तित	लौट जाना
नियम	चू०२।४	नियम	यथासमय क्रिया मे किया जाने वाला प्रवर्तन
नियाग	३।२ , ६।४८	नित्याग्र	आदरपूर्वक निमंत्रित कर प्रति दिन दिया जाने वाला भोजन आदि
निरअ	चू०१।श्लो०११	निरय	नरक
निरय	चू०१।श्लो०१०	,,	,,
निरासय	९।४।सू०६श्लो०४	निराशक	प्रतिफल की आशा न रखने वाला
निरुंभित्ता	४।२३,२४	निरुध्य	निरोधकर
निरुवक्केस	चू०१।सू०१	निरुपक्लेश	क्लेश-रहित
निवार	२।१	नि+वारय्	निवारण करना
निवेस	९।३।१३	नि+वेशय्	स्थापित करना
निव्वडिय	६।२४	निपतित	पडा हुआ
निव्वाण	५।२।३२	निर्वाण	तुष्टि, मोक्ष

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
निव्वाव	४।२०, ८।८	निर+वापय्	बुझाना
निव्वावंत	४।सू०२०	निर्वापयत्	बुझाता हुआ
निव्वाविया	५।१।६३	निर्वाप्य	बुझाकर
निव्विंद	४।१६,१७	निर+विद्	विरक्त होना
निव्विगइ	चू०२।७	निर्विकृति	दूध दही आदि रसों का परित्याग
निसंत	६।१।१४	निशान्त	प्रभात
निसन्न	५।१।४०	निषण्ण	बैठा हुआ
निसिर	८।४८	नि+सृज्	बाहर निकालना
निसीज	४।सू०२२ ; ५।१।४० ; ५।२।८ ; ८।५,४४	नि + षद्	बैठना
निसीयंत	४।सू०२२	निषीदत्	बैठता हुआ
निसीहिया	५।२।२	निषीधिका, नैषेधिकी	स्वाध्याय-भूमि
निसेज्जा	३।५, ६।५६,५९	निषद्या	बैठना
	६।५४		गद्दी
निस्संकिय	५।१।५६,७६,७।१०	नि शङ्कित	संदेह-रहित
निस्सर	२।४	निस्+सृ	बाहर निकालना
निस्सिंचिया	५।१।६३	निषिच्य	पानी का छींटा देकर
निस्सिय	१०।४	निश्रित	आश्रित
निस्सेणि	५।१।६७	निःश्रेणि	नसैनी
निस्सेस	६।२।२	नि:शेष	समस्त
निहा	१०।८	नि+धा	सचय करना
निहाव	१०।८	नि+धापय्	संचय करवाना
निहुअ	२।८ ; ६।३	निभृत	निश्चल, स्थिर मन वाला
निहुअप्प	६।२	निभृतात्मन्	निश्चल आत्मा वाला
निहुइंदिय	१०।१०	निभृतेन्द्रिय	जिसकी इन्द्रियाँ उद्धत न हों, स्थिर—शान्त इन्द्रिय वाला
नीम	५।२।२१	नीप	कदम्ब का फल
नीय	५।२।२५	नीच	नीच, तुच्छ
	६।२।१७		नम्रता-सूचक प्रवृत्ति
नीयदुवार	५।१।२०	नीचद्वार	नीचे द्वार वाला घर
नीरय	३।१४ ; ४।२४,२५	नीरजस्	कर्म-रज से रहित
नीलिआ	७।३४	नीलिका	हरी, अवपकी
नीसा	५।१।४५	देशी	चक्की का पाट

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
नीसेस	५।१।८८	निःशेष	सम्पूर्ण
नु	२।१ ; ६।१।५	नु	वितर्क या आक्षेप वाचक अव्यय
नेउणिय	६।२।१३	नैपुण्य	निपुणता
नेरइय	४।सू०६ , चू०१।श्लो०१५	नैरयिक	नारक
नो	२।४	नो	देश-निषेध, आंशिक-निषेध

प

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पइरिक्कया	चू०२।५	प्रतिरिक्तता	एकान्तता
पइट्ठिय	४।सू०२२	प्रतिष्ठित	रखा हुआ
पईव	६।३४	प्रदीप	प्रकाश
पउज	८।४० ; ६।१।१२ , ६।३।२३	प्र+युज्	प्रयोग करना
पउत्त	५।१।६७	प्रयुक्त	प्रयोग किया हुआ
पउम	५।२।१४,१६	पद्म	रक्त कमल
पउमग	६।६३	पद्मक	पद्माख
पओअ	६।२।१६	प्रतोद	चाबुक
पओय	७।५२	पयोद	मेह
पंक	चू०१।श्लो०७	पङ्क	कीचड़
पंच	३।११ ; ४।सू०१७ , ६।३।१४ ; १०।५	पञ्चन्	पांच
पंचम	४।सू०१५	पञ्चम	पांचवां
पंचिंदिय	४।सू०६ , ७।२१	पञ्चेन्द्रिय	पांच इन्द्रिय वाला जीव
पंजलि	६।१।१२	प्राञ्जलि	जुड़े हुए हाथ
पंडग	७।१२	पण्डक	नपुंसक
पंडिय	२।११ , ५।२।२६,२७ , ६।४।सू०३, श्लो०१ , चू०१।श्लो०११	पण्डित	पण्डित
पंत	५।२।३४	प्रान्त	असार
पंसुखार	३।८	पांशुक्षार	ऊपर का खार, नोनी मिट्टी
पकुव्व	५।२।३२ ; ६।२।१६	प्र+कृ, प्र+कुर्व्	करना
पक्क	७।३२,३४,४२	पक्व	पकाया गया
पक्कम	३।१३	प्र+क्रम	समर्थ होना
पक्खओ	८।४५	पक्षतस्	पार्श्व भाग मे
पक्खंद	२।६	प्र+स्कन्द्	प्रवेश करना
पक्खलंत	५।१।५	प्रस्खलत्	स्खलित होता हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पक्खि	७।२२	पक्षिन्	पक्षी
पक्खोड़	४।सू०१९	प्र+स्फोटय्	बार-बार झटकना
पक्खोडंत	४।सू०१९	प्रस्फोटयत्	बार-बार झाड़ता हुआ
पगइ	६।१।३	प्रकृति	स्वभाव
पगड	५।१।४७,४९,५१,५३ ; ८।८१ चू०१।सू०१	प्रकृत	तैयार किया हुआ किया हुआ
पच्चग	८।५७	प्रत्यङ्ग	शरीर के गौण अवयव
पच्चक्खओ	६।३।६	प्रत्यक्षतस्	प्रत्यक्ष से
पच्चक्ख	५।२।२८	प्रत्यक्ष	सामने
पच्चक्ख	४।सू०१०	प्रति+आ+ख्या	त्याग करना
पच्चुपन्न	७।८,९,१०	प्रत्युत्पन्न	वर्तमान काल
पच्छा	५।१।९१ , ६।२।१ ; चू०१।श्लो०२से ८	पश्चाद्	बाद मे
पच्छाकम्म	५।१।३५ ; ६।५२	पश्चात्कर्मन्	साघु को भिक्षा देने के वाद सजीव जल से हाथ धोना आदि कार्य
पज्जय	७।१८	प्रार्यक	परदादा, परनाना, प्रपितामह, प्रमातामह
पज्जव	चू०१।श्लो०१६	पर्यव	अवस्था
पज्जालिया	५।१।६३	प्रज्वाल्य	चूल्हे मे बार-बार ईंधन डालकर
पज्जिया	७।१५	प्रार्यिका	परदादी, परनानी
पज्जुवास	८।४३	परि+उप+आस्	उपासना करना
पट्ठवेत्ताणं	५।१।६३	प्रस्थाप्य	प्रस्थापना करके
पट्ठिय	चू०२।२	प्रस्थित	जिसने प्रस्थान किया हो
पड	६।६५	पत्	गिरना
पडत	५।१।८	पतत्	गिरता हुआ
पडागा	चू०१।सू०१	पताका	पतवार
पडिआय	१०।१	प्रति+आ+पा (दा)	वापस पीना (वापस लेना
पडिकुट्ठ	५।१।१७	प्रतिक्रुष्ट	निषिद्ध
पडिकोह	६।५७	प्रतिक्रोघ	क्रोघ
पडिक्कत	४।सू०९	प्रतिक्रान्त	वापस जाना
पडिक्कम	४।सू०१०,११,१२,१३,१४,१५,१६, १८,१९,२०,२१,२२ ; ५।१।८१,९१	प्रति+क्रम्	निवृत होना
पडिगाह	५।१।२७,५६,७७ ; ६।४७ ; ८।६	प्रति+ग्रह्	ग्रहण करना
पडिग्गह	४।सू०२३ ; ५।२।१	प्रतिग्रह	पात्र
पडिग्घाअ	६।५८	प्रतिघात	अन्तराय
पडिच्छ	५।१।३६,३८	प्रति+इष्	लेना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पडिच्छन्न	५।१।८३	प्रतिच्छन्न	ऊपर से छाया हुआ
पडिच्छिन्न	८।५५	प्रतिछिन्न	काटा हुआ
पडिच्छिय	५।१।८०	प्रतीच्छित	गृहीत
पडिजागर	६।३।१	प्रति+जागृ	जागरूक रहना
पडिण	६।३३	प्रतीचीन	पश्चिम दिशा-सम्बन्धी
पडिणीय	६।३।६	प्रत्यनीक	विरोधी
पडिनिस्सिअ	४।सू०२२	प्रतिनिश्रित	आश्रित
पडिन्नव	चू०२।८	प्रति+ज्ञापय्	प्रतिज्ञा करवाना
पडिपुच्छिऊण	५।१।७६	प्रतिपृच्छ्य	पूछ करके
पडिपुण्ण	६।४।सू०७श्लो०५	प्रतिपूर्ण	पूर्ण
पडिपुन्न	८।४८	,,	,,
पडिबंध	चू०२।१३	प्रतिबन्ध	बंधन
पडिबुद्धजीवि	चू०२।१५	प्रतिबुद्धजीविन्	जागरूक जीवन जीने वाला
पडिबोह	६।१।८	प्रति+बोधय्	जगाना
पडिमा	१०।१२	प्रतिमा	विशेष प्रतिज्ञा, अभिग्रह
पडिय	चू०१श्लो०२	पतित	गिरा हुआ
पडियरिय	६।३।१५	प्रतिचर्य	सेवा करके
पडियाइक्ख	५।१।२८,३०,३२,४१,४३,४४,४६,४८, ५०,५२,५४,५८,६०,६२,६४,७२,७४, ७६, ५।२।१५,१७,२०	प्रति+आ+ख्या	प्रतिषेध करना
पडियाइयण	चू०१।सू०१	प्रत्यापान, प्रत्यादान	वापस पीना, वापस लेना
पडिलेह	५।१।२५,३७ , ५।२।५	प्रति+लेखय्	निरीक्षण करना
पडिलेहिता	८।१८	प्रतिलेख्य	देखकर
पडिलेहित्ताण	५।१।८२ , ६।२।२०	,,	,,
पडिलेहिय	४।सू०२३	,,	,,
पडिलेहिया	५।१।८१,८६,८७	,,	,,
पडिवज्ज	४।२३,२४	प्रति+पद्	स्वीकार करना
पडिवज्जमाण	६।१।२	प्रतिपद्यमान	स्वीकार करता हुआ
पडिवज्जिया	१०।१२	प्रतिपद्य	स्वीकार करके
पडिसंलीण	३।१२	प्रतिसंलीन	शारीरिक प्रवृत्ति का संवरण करने वाला
पडिसमाहर	८।५४	प्रति+सम्+आ+हृ	वापस खींचना, निवृत्त करना
पडिसाहर	चू०२।१४	प्रति+सम्+हृ	वापस खींचना
पडिसेह	६।२।४	प्रति+सिध्	निषेध करना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पडिसेहिय	५।२।१३	प्रतिसिद्ध	निषेध किया गया
पडिसोय	चू०२।२,३	प्रतिस्रोतस्	भोग-विरक्ति
पडिहयपच्चक्खायपावकम्म	४।१८,१९,२०,२१,२२,२३	प्रतिहतप्रत्याख्यातपाप कर्मन्	जिसने पूर्व सचित पाप कर्मों को उदीरणा के द्वारा मन्द किया हो और भविष्य में बंधने वाले पाप कर्मों का विरतीकरण के द्वारा निरोध किया हो, वह
पढम	४।सू०११ ; ४।१० ; ६।८	प्रथम	पहला
पणग	५।१।५९ , ८।११,१५	पनक	काई
पणास	८।३७	प्र + नाशय्	नष्ट करना
पणिय	७।४५	पण्य	विक्रेय वस्तु
पणियट्ठ	७।३७	पण्यार्थ, पणितार्थ	स्वार्थ-सिद्धि के लिये अपने प्राणों को खतरे मे डालने वाला या प्राणों की बाजी लगाने वाला
	७।४६		लेवा-वेची
पणिहाय	८।४४	प्रणिधाय	सयत करके
पणीय	५।२।४२	प्रणीत	स्निग्ध, उपचय-कारक
पणीयरस	८।५६	प्रणीतरस	अतिस्निग्ध रस-पूर्ण भोजन
पणुल्ल	५।१।१८	प्र+णुद्	खोलना
पत्त	४।सू०२१	पत्र	कमल आदि का पत्ता
	६।३७ ; ८।९ ; ९।२।१	,,	पत्र
पत्त	९।२।६, ९,११	प्राप्त	प्राप्त
पत्तेय	१०।१८, चू०१।सू०१	प्रत्येक	एक-एक
पत्थ	५।२।२३ ; ६।६० ; ८।१०,२८	प्र+अर्थय्	चाहना, अभिलाषा करना
पन्नत्त	९।४।सू०१,२,३	प्रज्ञप्त	कथित
पन्नत्ति	८।४९	प्रज्ञप्ति	प्रज्ञापना की पद्धति
पन्नत्त	९।४।सू०१,२,३	प्रज्ञप्त	कथित
पन्नव	७।१,२,३,१३,१४,२४,२६,२९,३० ३९,४४,४७	प्रज्ञावत्	बुद्धिमान्
प्रबन्ध	५।२।८	प्र+बन्ध	विस्तारपूर्वक कहना
पब्भट्ठ	चू०१।४ श्लो०४	प्रभ्रष्ट	च्युत, भ्रष्ट
पभव	९।२।१	प्रभव	प्रादुर्भाव
पभास	९।१।१४	प्र+भास्	प्रकाशित करना
पमज्जित्तु	८।५	प्रमृज्य	पोंछकर, साफकर
पमज्जिय	४।सू०२३	,,	,,

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पमाण	चू०२।११	प्रमाण	मर्यादा, मान
पमाय	६।१५ , ९।१।१	प्रमाद	प्रमाद
पमेइल	७।२२	प्रमेदस्विन्, प्रमेदुर	वहुत चर्बी वाला
पय	८।३१,५० , ९।४।सू०४,५,६,७, ९।४। श्लो०६,चू०१।सू०१	पद	स्थान
	९।१।११	"	शब्द-समूह, वाक्य
पय	१०।४	पच्	पकाना
पयअ	चू०२।७	प्रयत	यत्नशील
पयग	४।सू०९,२३	पतङ्ग	शलभ
पयत्तछिन्न	७।४२	प्रयत्नछिन्न	प्रयत्न से काटा गया
पयत्तपक्क	७।४२	प्रयत्न-पक्व	प्रयत्न से पकाया गया
पयत्तलट्ठ	७।४२	प्रयत्न-लष्ट	प्रयत्न से सुन्दर किया गया
पयल	चू०१।श्लो०१७	प्र+चल्	कम्पित करना
पयाय	७।३१	प्रजात	उत्पन्न
पयाव	४।सू०१९	प्र+तापय्	तपाना
पयाव	६।३४	प्रताप	तपना
पयावत	४।सू०१९	प्रतापयत्	वार-वार सुखाता हुआ
पर	५।१।४	पर	अन्य
	६।११,१४,३७,७।१३,४०,५४,५७, ८।४७,६१,९।१।५,९।२।१२,९।४।सू०५, १०,१८,२०,चू०२।११,१३		साधु से भिन्न असयत गृहस्थ
	१०।८	,,	परसों
परक्कम	५।१।६,२४ , ५।२।७ , ८।४०	पर+क्रम्	पार करना
परक्कम	चू०२।४	पराक्रम	वल
परक्कम्म	८।३२	पराक्रम्य	सेवन करके
परग्घ	७।४३	परार्घ	वहुमूल्य
परघर	५।२।२७	परगृह	गृहस्थ का घर
परम	६।५ ; ९।२।२	परम	प्रधान, उत्कृष्ट
परमाहम्मिय	४।सू०९	परमधार्मिक	सुखेच्छुक
परमग्गसूर	९।३।८	परमाग्रसूर	सबसे अधिक शूर
परम दुच्चर	६।५	परमदुश्चर	अत्यन्त दुष्कर, वह कार्य जिसका आचरण सुकर न हो
परम्मुह	९।३।९	पराङ्मुख	पराङ्मुख

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
परलोग	६।४।सू०६,७	परलोक	आगामी जन्म
परागार	८।१९	परागार	गृहस्थ का घर
परिकिन्न	चू०१।श्लो०७	परिकीर्ण	घिरा हुआ
परिक्खभासि	७।५७	परीक्ष्यभाषिन्	सोच समझकर वोलने वाला
परिगय	६।२।८	परिगत	व्याप्त
परिगिज्झ	८।३३ , ६।३।२	परिगृह्य	ग्रहण करके
परिगेण्ह	४।सू०१५	परि+ग्रह्	ग्रहण करना
परिगेण्हत	४।सू०१५	परिगृण्हत्	सग्रह करता हुआ
परिग्गह	४।सू०१५ , ६।२०	परिग्रह	मूर्छा, ममत्व
परिग्गह	६।२१	परि+ग्रह	ग्रहण करना
परिज्जुण्ण	६।२।८	परिजीर्ण	जर्जर
परिट्ठप्प	५।१।८१,८६	परिस्थाप्य	डालना, परठना
परिणय	५।१।७७	परिणत	दूसरी वस्तु के सयोग से जिसका अवस्थातर हो गया हो, वह द्रव्य
परिणाम	८।५८	परिणाम	परिणमन
परिनिव्वुड	३।१५	परिनिर्वृत्त	शान्त, मोक्ष-प्राप्त
परितप्प	चू०१।श्लो०२ से ८	परि+तप्	संताप करना
परिदेव	६।३।४	परि+देव्	विलखा होना
परिन्नाय	३।११	परिज्ञात	ज्ञानपूर्वक परित्यक्त
परिब्भट्ठ	चू०१।श्लो०२	परिभ्रष्ट	भ्रष्ट
परिभव	८।३०	परि+भू	नीचा दिखाना
परिफासिय	५।१।७२	परिस्पृष्ट	स्पृष्ट, व्याप्त
परिभस्स	६।५०	परि+भ्रंश्	भ्रष्ट होना
परिभोत्तुय	५।१।८२	परिभोक्तुम्	भोगने के लिये, खाने-पीने के लिये
परिमिय	८।३४	परिमित	सीमित
परियाय	चू०१।सू०१ ; चू०१।श्लो०९,१०,११	पर्याय	सयम
परियायजेट्ठ	६।३।३	पर्यायज्येष्ठ	पूर्व दीक्षित
परियायट्ठाण	८।६०	पर्याय-स्थान	दीक्षा-स्थान
परियाव	६।२।१४	परिताप	सन्ताप
परिवज्ज	५।१।४,१२,१६,१७,२०,२१,२५,२९ ७० , ५।२।१९,२१,२२,२४, ६।५८; ७।५५ ; १०।६	परि+वर्जय्	वर्जना
परिवज्जत	५।१।२६	परिवर्जयत्	वर्जता हुआ
परिवज्जय	७।५६	परिवर्जक	वर्जने वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
परिवुड	६।१।१५	परिवृत्त	घिरा हुआ
परिवुड्ढ	७।२३	परिवृद्ध	वलिष्ठ
परिव्वयत	२।४	परिव्रजत्	सयम मे वरतता हुआ
परिसखाय	७।१	परिसंख्याय	जानकर
परिसह	३।१३ , ४।२७	परीषह	मोक्ष-मार्ग मे स्थिर रहने के लिये और निर्जरा के लिये सहन किया जाने वाला कष्ट
परिसा	४।सू०१८ से २३	परिषद्	सभा
परिसाड	५।१।२८	परि+शाट्य्	नीचे डालना
परिहर	६।१९	परि+धा	पहनना
परिहा	६।३८	परि+धा	परिभोग करना
परीणाम	८।५९	परीणाम	परिण मन
पलब	५।१।७०	प्रलम्ब	फल
पलाइय	४।सू०९	पलायित	दौडना
पलिओवम	चू०१।श्लो०१५	पल्योपम	एक उपमा काल
पलियंकय	३।५ ; ६।५३,५४,५५	पर्यंकक	पलग
पलोअ	५।१।२३	प्र+लोक्	देखना
पवक्ख	चू०२।१	प्र+वच्	कहना
पवड	५।१।६८	प्र+पत्	पडना
पवडत	५।१।५,८	प्रपतत्	गिरता हुआ
पवड्ढ	६।२।१२	प्र+वृध्	वढना
पवड्ढमाण	८।३९	प्रवर्द्धमान	वढता हुआ
पवयण	५।२।१२	प्रवचन	जैन-शासन
पवाल	५।२।१९	प्रवाल	कोपल
पविट्ठ	५।१।१९ ; ५।२।८ , ६।५६	प्रविष्ट	प्रवेश-प्राप्त
पवियक्खण	२।११	प्रविचक्षण	प्रवक्ता
पविस	५।१।१७,२२ , ५।२।११	प्र+विश्	प्रवेश करना
पविसित्ता	५।१।८८	प्रविश्य	प्रवेशकर
पविसित्तु	८।१९	"	"
पवील	४।सू०१९	प्र+पीडय्	निचोडना
पवीलत	४।सू०१९	प्रपीडयत्	वार-वार निचोड़ता हुआ
पवुच्च	४।सू०९	प्र+वच्	कहना
पवेइय	४।सू०१,२,३	प्रवेदित	स्वय ज्ञात
पवेज्ज	१०।२०	प्र+वेदय्	उपदेश देना, कहना
पव्वइय	४।श्लो०१८,१९ ; ६।१८ ; ६।३।५२, चू०१।सू०१	प्रव्रजित	दीक्षित

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पव्वय	७।२६,३० ; ६।१।८	पर्वत	पहाड
पसत	१०।१०	प्रशान्त	प्रशांत
पससण	७।५५	प्रशंसन	प्रशसा
पसज्ज	चू०१।श्लो०१४	प्रसह्य	हठपूर्वक
पसढ	५।१।७२	प्रसृत	फैला हुआ
पसत्थ	चू०२।५	प्रशस्त	उचित, प्रशंसनीय
पसव	५।२।३५	प्र+सू	पैदा करना, जन्म देना
पसाय	६।१।१०	प्रसाद	प्रसन्न
पसारिय	४।सू०६	प्रसारित	फैलना
पसाहा	६।२।१	प्रशाखा	छोटी टहनी
पसु	७।२२ , ८।५१	पशु	पशु
पसूय	७।३५	प्रसूत	भुट्टों सहित
पस्स	५।२।३७,४३	दृ	देखना
पहाण	४।२७	प्रधान	मुख्य
पहार	६।१।८ ; १०।११	प्रहार	प्रहार
पहारगाढ	७।४२	प्रहारगाढ	गहरा घाव
पहीण	३।१३	प्रहाण	विनाश
पहोइ	४।२६	प्रधाविन्	धोने वाला
पाइम	७।२२	पाक्य, पक्त्रिम	पकाने योग्य
पाईण	६।३३	प्राचीन	पूर्व दिशा-सम्बन्धी
पाण	४।सू०९,११ , ४।श्लो०१ से ६ ; ५।१।३,५,२०,२९ ; ५।२।७ ; ६।८, १०,२३,२४,२७,३०,४१,४४,५५,५७, ६१ , ७।२१ , ८।२,१२,१५	प्राण	प्राणी
पाण	४।सू०१६ , ५।१।१,२७,३१,३९,४१, ४२,४३,४४,४८,५०,५२,५४,५८,६०, ६२,६४,७५,८९ , ५।२।३,१०,१३, १५,१७,२८,३३ ; ६।४९,५० ; ८।१९ , ६।३।५ , चू०२।६,८	पान	पानी
पाणक	५।१।४७,४९,५३,५७,५९,६१	पानक	पान
पाणग	१०।८,९	,,	,,
पाणहा	३।४	उपानह्	जूता
पाणाइवाय	४।सू०११	प्राणातिपात	प्राण-वध, हिंसा
पाणिपेज्जा	७।३८	प्राणिपेया	तट पर बैठे हुए प्राणी जिसका जल पी सकें
पामिच्च	५।१।५५	प्रामित्य	मुनि को भिक्षा देने के लिये उधार लिया हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पाय	३।४,४।सू०१८,२३ ; ५।१।७,६८ ; ८।४४,५५,६।२।१७, १०।१५	पाद	पैर
	६।१।५,१०	,,	पूज्य व्यक्ति के नाम के आगे जोडा जाने वाला एक शब्द
पाय	६।१६,३८,४७ , ८।१७	पात्र	पात्र
पायखज्ज	७।३२	पाकखाद्य	वह फल जो भूसे आदि मे रखकर पकाने के बाद खाने के योग्य हो
पायपुछण	४।सू०२३ , ६।१६,३८	पादप्रोञ्छन	रजोहरण, ऊनी धागों की फलियों से बना हुआ एक उपकरण
पायव	६।२।१२	पादप	वृक्ष
पारत्त	८।४३	परत्र	परलोक
पारेत्ता	५।१।६३	पारयित्वा	पूराकर, समाप्तकर
पाव	४।७,८,९,१५,१६ , ५।२।३२,३५ , ६।६७ ; ७।५,११ , ८।३६ , १०।१८ , चू०१।सू०१ , चू०२।२०	पाप	अशुभ, अकुशल, क्लिष्ट
पाव	६।१।१७	प्र+आप्	प्राप्त करना
पावग	४।१०,११, ६।४।सू०६श्लो०४, १०।७	पापक	अहित, पाप
पावग	६।३३ , ६।१।६,७	पावक	अग्नि
पावय	४।श्लो०१ से ६	पापक	पाप
	८।२२	,,	बुरा
पावार	५।१।१८	प्रावार	कम्बल आदि वस्त्र
पास	८।१२ , ६।२।५,६,७ , चू०२।१३,१४	दृश्	देखना
पास	४।६	पश्यत्	देखता हुआ
पासवण	८।१८	प्रश्रवण	प्रश्रवण
पासाय	५।१।६७ , ७।२७	प्रासाद	राजभवन, देवभवन
पाहन्न	६।३।५	प्राधान्य	प्रधानता
पिअ	१०।२	पा	पीना
पिउस्सिया	७।१५	पितृस्वसृ	बुआ
पिंड	६।४७	पिण्ड	भोजन
पिण्डपाय	५।१।८७	पिण्डपात	भिक्षा
पिंडेसणा	५	पिण्डैषणा	दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन
पिज्जेमाण	५।१।४२	पाययत्	पिलाता हुआ
पिट्ठ	५।१।३४ ; ५।२।२२	पिष्ट	आटा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पिट्ठओ	८।४५	पृष्ठतस्	पीछे की ओर
पिट्ठिमंस	८।४६	पृष्ठमांस	चुगली
पिण्णाग	५।२।२२	पिण्याक	सरसों की खली
पिय	२।३	प्रिय	इष्ट
पियाल	५।२।२४	प्रियाल	चिरौंजी
पियाव	१०।२,४	पायय्	पिलाना
पिव	५।१।८ ; ५।२।३६,३७	पा	पीना
पिव	८।५४	इव	तरह
पिवासा	८।२७ ; ६।२।८ ; चू०१।श्लो०१६	पिपासा	प्यास
पिवीलिया	४।सू०९,२३	पिपीलिका	चींटी
पिसुण	६।२।२२	पिशुन	चुगल
पिहिय	४।श्लो० ६,५।१।१०,४५	पिहित	ढका हुआ
पिहुखज्ज	७।३४	पृथुखाद्य	चिउडा बनाकर खाने योग्य
पिहुज्जण	चू०१।श्लो०१३	पृथग्जन	साधारण मनुष्य
पिहुण	४।सू०२१	देशी	मोर की पाँख
पिहुणहत्थ	४।सू०२१	,,	मोरपिच्छी
पीइ	८।३७	प्रीति	प्रेम
पीढ	५।१।६७	पीठ	पीढा, चौकी
पीढग	४।सू०२३	पीठक	पीढा, चौकी
पीढय	५।१।४५ ; ६।५४ , ७।२८	,,	,, ,,
पीण	१।२	प्रीणय्	तृप्त करना
पीणिय	७।२३	प्रीणित	स्निग्ध काय
पील	८।३५	पीडय्	पीडित करना
पीला	५।१।१०	पीडा	कष्ट
पुछ	८।७,१४	प्र+उञ्छ	पोंछना
पुग्गल	४।सू०२१	पुद्गल	मूर्त द्रव्य
	५।१।७३	,,	फल
पुच्छ	५।१।५६ , ६।२ , ८।७	पृच्छ्	पूछना
पुज्ज	६।३।१,२,३,४,५,६,८,९,१०,११,१२, १३,१४	पूज्य	पूजनीय
पुड	८।६३	पुट	पटल
पुट्ठ	८।२२	पृष्ट	पूछा हुआ
पुट्ठ	७।५	स्पृष्ट	छूआ हुआ, प्राप्त
पुढविकाइय	४।सू०३	पृथिविकायिक	पृथ्वी शरीर वाला जीव
पुढविकाय	६।२६,२७,२८	पृथिविकाय	,, ,, ,, ,,

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पुढविजीव	५।१।६८	पृथिविजीव	पृथ्वीकायिक जीव
पुढवी	४।सू०४,१८ ; ८।२,४ , १०।२,४,१३	पृथ्वी	मिट्टी
पुढो	४।सू०४ से ८	पृथक्	पृथक्, स्वतन्त्र
पुण	४।सू०९	पुनर्	फिर
पुणब्भव	८।३९	पुनर्भव	पुनर्जन्म
पुण्ण	४।१५,१६ , ५।१।४९ ; १०।१८, चू०१।सू०१	पुण्य	शुभकर्म
पुण्ण	७।३८	पूर्ण	पूर्ण
पुन्न	चू०२।१	पुण्य	पुण्यशाली
पुत्त	७।१८ ; चू०१।श्लो०७	पुत्र	बेटा
पुप्फ	१।२,३,४ ; ५।१।२१,५७ ; ५।२।१४, १६ , ८।१५ , ९।२।१	पुष्प	फूल
पुम	७।२१ , ९।३।१२	पुंस्	पुरुष
पुरओ	५।१।३ , ८।४५	पुरतस्	आगे
पुरक्कार	चू०१।सू०१	पुरस्कार	आदर, पूजा, सम्मान
पुरत्थ	८।२८	पुरस्तात्	पूर्व दिशा
पुराण	९।४।सू०६श्लो०४, १०।७	पुराण	पुराना
पुरिस	५।२।२९ , ७।१९,२०	पुरुष	मानव
पुरिसकारिया	५।२।६	पुरुषकारिता	पौरुष, उद्योग
पुरिसोत्तम	२।११	पुरुषोत्तम	श्रेष्ठ पुरुष
पुरेकड	६।६७ , ७।५७ , ८।६२ ; ९।३।१५	पुराकृत-पुरस्कृत	पूर्वकृत
पुरेकम्म	५।१।३२ , ६।५३	पुरः कर्मन्	भिक्षा देने से पूर्व उसके निमित्त सजीव ज से हाथ धोना आदि कार्य
पुल	१०।१६	पुल	उन्मत
पुव्व	३।१५	पूर्व	पूर्ववर्ती
पुव्वउत्त	५।२।३	पूर्वोक्त	पहले कहा हुआ
पुव्वरत्त	चू०२।१२	पूर्वरात्र	रात का पहला भाग
पूव्वि	५।१।९१ , चू०१।सू०१	पूर्व	पहले
पूअ	५।२।४५ , ९।१।१३,१५	पूजय्	पूजा करना
पूई	५।१।७८ ७९	पूति	दुर्गन्ध-युक्त
	५।२।२२	,,	पूई का साग
पूइअ	५।२।४३	पूजित	पूजित
पूइकम्म	५।१।५५	पूतिकर्मन्	वह भोजन आदि जिसमें साधु के लिये बना भोजन आदि का अंश मिला हुआ हो

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
पूइम	चू०१।श्लो०४	पूज्य	पूजनीय
पूय	५।१।७१	पूप	पूआ
पूयण	१०।१७ ; चू०२।९	पूजन	पूजा
पूयणट्ठि	५।२।३५	पूजनार्थिन्	पूजा का अर्थी
पेच्छ	८।२०	प्र+ईक्ष्	देखना
पेम	८।२६,५८	प्रेमन्	राग, प्रेम
पेह	९।४।सू०४,श्लो०२	स्पृह्, प्र+ईक्षु	चाहना, देखना
पेहमाण	५।१।३	प्रेक्षमाण	देखता हुआ
पेहा	२।४	प्रेक्षा	दृष्टि
पेहाए	७।२६,३० ; ८।१३	प्रेक्ष्य	देखकर
पेहिय	८।५०	प्रेक्षित	कटाक्ष
पोग्गल	८।६,५८,५९	पुद्गल	पुद्गल
पोय	८।५३	पोत	बच्चा
	चू०१।सू०१	,,	जहाज
पोयय	४।सू०९	पोतज	जो जन्म के समय झिल्ली से लिपटा हुआ न हो
पोरबीय	४।सू०८	पर्व-बीज	वह वनस्पति जिसका पर्व ही बीज हो

फ

फरुस	५।२।२९ , ७।११	परुष	कठोर
फल	३।७ , ५।२।२४ , ७।३२,३३; ८।१०, ९।१।१ , ९।२।१	फल	फल
	४।१ से ६ , ५।२।४७	,,	विपाक, परिणाम
फलग	४।सू०२३ ; ५।१।६७	फलक	तख्ता, काठ का पाटिया
फलिह	५।२।९ , ७।२७	परिघ	फाटक या नगर के दरवाजे की आगल
फाणिय	५।१।७१ ; ६।१७	फाणित	राव, द्रव-गुड
फास	८।२६	स्पर्श	स्पर्श
फास	४।१९,२० ; १०।५	स्पृश्	स्पर्श करना
फासुय	५।१।१९,८२,९९ , ८।१९	प्रासुक	निर्जीव
फुम	४।सू०२१	देशी फूत्+कृ०	फूंक देना
फुमत	४।सू०२१	फूत्कुर्वत्	फूंक देता हुआ

ब

बंध	४।१५,१६ , ९।२।१४, चू०१।सू०१	बन्ध	जीव और कर्म-पुद्गलों का सयोग

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
बध	४।१ से ६ , ६।६५	बध्	बांधना
बंधण	१०।२१ , चू०१।श्लो०७	बन्धन	बन्धन
बभचेर	५।१।९ , ६।५७,५८ ; ६।१।१३	ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचर्य
बमयारि	५।१।९ ; ८।५३,५५	ब्रह्मचारिन्	ब्रह्मचारी
बद्ध	चू०१।श्लो०७	बद्ध	बधा हुआ
बप्प	७।१८	वप्तृ	पिता
बलाहय	७।५२	बलाहक	मेह
बहिद्धा	२।४	बहिस्तात्	बाहर
बहु	४।सू०९,१३	बहु	बहुत
बहुअट्ठिय	५।१।७३	बह्वास्थिक	बहुत बीज वाला
बहुउज्झिय धम्मिय	५।१।७४	बहु-उज्झित-धर्मक	वह भोजन जिसका अधिक भाग फेंका जाए
बहुकटय	५।१।७३	बहुकटक	बहुत काटों वाला
बहुनिव्वट्टिम	७।३३	बहुनिर्वर्तित	वह वृक्ष जिसके अधिकाश फलों मे गुठलियां उत्पन्न हो गई हों
बहुवाहड	७।३९	बहुप्रभृत	अधिकाशतया भरा हुआ
बहुल	६।३६ , ६।६६	बहुल	प्रायः
	चू०१।सू०१ , चू०२।४	,,	प्रचुर
बहुवित्थडोदगा	७।३९	बहुविस्तृतोदका	बहुत विस्तीर्ण जल वाली
बहुविह	४।१४,१५	बहुविध	बहुत प्रकार
बहुसभूय	७।३३,३५	बहुसभूत	वह वृक्ष जिसके अधिकाश फल पक गये हों, निष्पन्न प्राय·
बहुसम	७।३७	बहुसम	अधिकाश समान, प्रायः सम
बहुसलिला	७।३९	बहुसलिला	बहुत सलिल वाली
बहुस्सुय	८।४३, चू०१।श्लो०९	बहुश्रुत	छद-शास्त्र का जानकार, आगमधर, बहुत ज्ञान वाला
बायर	४।सू०११	बादर	स्थूल
बाल	६।७ , चू०१।श्लो०१	बाल	अज्ञानी
बाहिर	४।सू०२१ , ४।१७,१८ ; ८।९	बाह्य	बाहरी वस्तु
	८।३०	,,	अपने से दूसरा
बाहु	चू०१।सू०१	बाहु	बाँह
बिंदु	चू०१।सू०१	बिन्दु	बूद
बिड	६।१७	बिड	कृत्रिम नमक
बिल्ल	५।१।७३	बिल्व	बेल का फल

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
विहेलग	५।२।२४	विभीतक	वहेडा
वीय	३।७, ४सू०२२; ५।१।३,१७, २१,२६, २९,५७, ५।२।२४, ६।२४; ८।१०,११, १५, १०।३	बीज	बीज
वीय	८।३१ ; चू०२।११	द्वितीय	दूसरा
वीयरुह	४सू०८	बीजरुह	बीज से उत्पन्न होने वाले वनस्पति
बुद्ध	१।५;५।२।५०,६।२१,२२,,३६, ५४,६६;७।२,५६	बुद्ध	तत्वज्ञ
बुद्धवयण	१०।१,६	बुद्धवचन	जैन-शासन
वुद्धि	८।३०, ९।१।३,१४,१६	वुद्धि	बुद्धि
वुद्धिम	चू०१श्लो०१८	वुद्धिमत्	बुद्धिमान्
बू	६।११, ७।१७,२०,२३,२५	ब्रू	वोलना
वेइंदिय	४सू०९	द्वीन्द्रिय	दो इन्द्रिय (स्पर्श, रसन) वाला जीव
वोघव्व	५।१।३४	वोद्धव्य	जानने योग्य
वोहि	५।२।४८, चू०१श्लो०१४	बोधि	सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति

भ

भग	४सू०२१	भङ्ग	टुकड़ा
भत	४सू०९	भ्रान्त	इधर-उधर जाना
भत	४सू०१० से १६,१८ से २३	भदन्त	पूज्य
भक्ख	९।१।७,९	भक्षय्	खाना
भक्खर	८।५४	भास्कर	सूर्य
भगव	४सू०१,२,३; ९।४सू०१	भगवत्	भगवान्
भगवत	९।४।सू०१,२,३	,,	,,
भज्जिम	७।३४	भर्जनीय	भूनने योग्य
भज्जिय	५।२।२०	भर्जित	भूना हुआ
भट्ट	७।१९	भट्ट, भर्तृ	पूजनीय व्यक्ति
भट्टा	७।१६	भट्टा, भर्त्री	पूजनीया नारी
भट्ठ	चू०१।श्लो०१२	भ्रष्ट	पयच्युत
भत्त	१।३, ५।१।१,४१,४३,४४,४८,५०,५२, ५४,५८,६०,६२,६४,८९, ५।२।३,७, १०,१३,१५,१७,२८; ९।३।५; चू०२।६	भक्त	भोजन
भद्दग	५।२।३३; ८।२२	भद्रक	श्रेष्ठ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
भमर	१।२,४	भ्रमर	भौरा
भय	८।५१	भज्	ग्रहण करना
भय	४सू०१२, ६।११, ७।५४, ८।२७,५३, १०।११,१२	भय	भय
भव	१।५	भू	होना
भवत	६।२, ८।१	भवत्	आप
भवित्ताणं	४।१८,१९	भूत्वा	होकर
भस्स	६।७	भ्रश्	भ्रष्ट होना
भाइणेज्ज	७।१८	भागिनेय	भानजा, बहिन का पुत्र
भाइणेज्जा	७।१५	भागिनेयी	भानजी, बहिन की पुत्री
भाअ	१०।१२	भी	डरना
भायण	५।१।३२,३५,३६,९६	भाजन	वर्तन
भारह	९।१।१४	भारत	भरतक्षेत्र
भाव	२।९, ७।१३, चू०२।८	भाव	अभिप्राय
भाव	९।३।१०	भावय्	भावित होना
भावतेण	५।२।४६	भावस्तेन	दूसरों की भावना या जानकारी को अपनी वताने का ढोंग करने वाला
भावसंधअ	९।४।सू०७श्लो०५	भावसन्धक	आत्मलीन
भावियप्प	९।३।१०	भावितात्मन्	आत्म-श्लाघी
	चू०१।श्लो०९	,,	जिसकी आत्मा भावना से भावित हो
भास	९।१।३	भस्म	राख
भास	७।१,२	भाष्	बोलना
भासत	४।७	भाषमाण	बोलता हुआ
भासमाण	४।६, ५।१।१४, ८।४६	,,	,,
भासा	७।१,४,७,११,२९,५६;८।४७,४८, ९।३।९	भाषा	मनोगत भावों को वचन-योग के द्वारा प्रकट करने का साधन
भासिय	५।२।४९, ६।२५, चू०२।१	भाषित	कहा हुआ
भासुर	९।३।१५	भास्वर	तेजोमय, प्रकाशयुक्त
भिंद	४सू०१८, ८।४, ९।१।९	भिद्	भेदन करना
भिंदंत	४सू०१८	भिंदत्	भेदन करता हुआ
भिक्खा	५।१।१,९९,५।२।५०	भिक्षा	भिक्षा
भिक्खु	४सू०१८ से २३, ५।१।६६,८७, ५।२।४,५,६, २५,३६,३८,५०, ६।६१, ६५, ८।१,२०, ९।१।१५; ९।२। १६, १०।१ से २१, चू०२।६,११	भिक्षु	सन्यासी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
भिक्खुणी	४।सू०१८ से २३	भिक्षुकी	साध्वी
भित्ति	४।सू०१ , ८।४	भित्ति	नदी के तट की मिट्टी
भित्तिमूल	५।१।८२	भित्तिमूल	भित्ति के पास, दो घरो का अन्तर
भिलुगा	६।६१	देशी	भूमि की दरार, फटी हुई जमीन
भीम	६।४	भीम	भयकर
भुज	२।२	भुज्	भोगना
	४।सू०१६ , ५।१।८३,९५,९६,९७,९९, ५।२।१ , ६।२५,५२ , ८।२३ ; १०।४,९	,,	खाना
भुजत	४।सू०१६ , ४।७,८ , ६।५०	भुञ्जान	खाता हुआ
भुजमाण	४।श्लो०५ , ५।१।३७,३८,८४	,,	,,
भुजाव	४।सू०१६	भोजय्	भोजन करना
भुजित्तु	चू०१।श्लो०१४	भुक्त्वा	भोगकर
भुज्ज	चू०१।सू०१	भूयस्	वार-वार
भुज्जमाण	५।१।३९	भुज्यमान	खाया जाता हुआ
भुत्त	५।१।३९	भुक्त	खाया हुआ
भूमि	५।१।२४ , ८।५२	भूमि	पृथ्वी
भूमिभाग	५।१।२५	भूमिभाग	भू-भाग
भूय	४।श्लो०१ से ६,९;५।१।५;६।३,८।१२, ३४,५१,७।११,२९,८।१२,१३,५०	भूत	जीव
	६।५	,,	हुआ
	चू०१।सू०१	,,	तुल्यार्थक अव्यय जो उत्तर पद मे प्रयुक्त होता है
भूयरूव	७।३३	भूतरूप	वह वृक्ष जिसके फलों मे गुठलियाँ उत्पन्न न हुई हो
भेत्तु	६।१।८	भेत्तुम्	भग्न करने के लिये
भेयाययणवज्जि	६।१५	भेदायतनवर्जिन्	सयम-भंग के स्थान को वर्जने वाला, मुनि का एक विशेपण
भेरव	१०।११,१२	भैरव	भयंकर
भेसज	८।५०	भेपज	भैपज
भो	६।१।१२;चू०१।सू०१	भोस्	सम्वोधन-वाचक अव्यय
भोग	२।११ ; ८।३४ ; चू०१।सू०१ ; चू०१। श्लो०१,१४,१६	भोग	भोग
भोच्चा	५।२।३३ ; १०।९	भुक्त्वा	भोगकर, खाकर

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
भोच्चाण	५।२।२	भुक्त्वा	खाकर
भोत्तु	२।६,५।१।८७	भोक्तुम्	खाने के लिये
भोय	२।३,४।१६,१७	भोग	भोग
भोयण	५।१।२७,२८,३१,३६,४२,६८,५।२,२६, ३३,६।२२,८।१६,२३,५६	भोजन	भोजन
भोयणजाय	५।१।७४	भोजन-जात	खाद्य-प्रकार
भोयराय	२।८	भोजराज	एक राजा का नाम

म

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मइ	५।१।७६,६।२।२२,चू०२।१	मति	बुद्धि
मइअ	७।२८	देशी	मतिक-- बोए हुए बीजों को ढाकने का एक काष्ठ-उपकरण, खेती का एक ओजार
मंगल	१।१	मङ्गल	मगल
मच	५।१।६७	मञ्च	मचान
	६।५३	,,	खाट
मत	८।५०,६।१।११	मन्त्र	मत्र
मंथु	५।१।६८	मथु	बैर आदि का सत्तू
	५।२।२४	,,	चूर्ण
मंद	५।१।२	मन्द	धीमे
	६।१।२,३,४	,,	अल्प बुद्धि
मगदतिया	५।२।१४,१६	देशी (मगदन्तिका)	मालती पुष्प, मेहन्दी का पत्ता, मोगरे का फूल
मग्ग	५।१।६,चू०२।११	मार्ग	मार्ग
मच्छ	चू०१।श्लो०६	मत्स्य	मच्छ
मज्ज	८।३०,६।४।सू०४श्लो०२	मद्	मद करना
मज्जग	५।२।३६	मद्यक	मादक
मज्जप्पमाय	५।२।४२	मद्य-प्रमाद	मद्यपानरूपी प्रमाद
मज्झ	७।५५,६।१।१४,१५,चू०१।सू०१ चू०१श्लो०१५	मध्य	बीच मे
मट्टिया	५।१।३३	मृत्तिका	कोचड
मड	७।४१	मृत	मरा हुआ
मण	१।१,२।४,४।सू०१० से १६,१८, से २३; ५।२।२३, ६।२६,२६,४०,४३, ८।३,१०,१६,२८, ६।१।१२; १०।७, चू०१श्लो०१५	मनम्	चित्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मणुण्ण	८।५८	मनोज्ञ	प्रिय
मणुय	४।सू०६,७।५०,चू०१।सू०१	मनुज	मनुज
मणोसिला	५।१।३३	मनःशिला	मैनसिल
मत्त	१०।१७	मत्त	मदोन्मत, मद-सहित
मत्त	६।५१	अमत्र	पात्र
मत्थयत्थ	४।२५,२६	मस्तकस्थ	अग्र भाग मे स्थित
मद्दव	८।३८	मार्दव	नम्रता
मन्न	६।३६,६६,१०।५	मन्	मानना
ममत्त	चू०२।८	ममत्व	ममकार
ममाइय	६।२१	ममायित	ममत्व
ममाय	६।४८	ममाय्	ममत्व करना, लेना
मय	६।४।सू०४श्लो०२,१०।१९	मद	गर्व
मया	६।१।१	माया	कपट
मरण	२।७,६।४।श्लो०७,१०।१४,२१	मरण	मौत
मरणत	५।२।३६,४१,४४	मरणान्त	मृत्यु-काल
मरिज्जिउं	६।१०	मर्तुम्	मरने के लिये
मल	८।६२	मल	कर्म-मल
	६।३।१५	”	मल
मल्ल	३।२	माल्य	माला
मसाण	१०।१२	श्मशान	श्मशान
मह	५।१।६९,६।१६,१०।२०;चू०१।श्लो०१०	महत्	महान्
महग्घ	७।४६	महार्घ	बहुमूल्य
महप्प	८।३३	महात्मन्	महात्मा
महब्भय	६।३।७,१०।१४	महाभय	महाभय
महल्ल	७।२६,३०	महत्	महान्
महल्लग	५।२।२९;६।३।१२	”	बडा, बूढा
महल्लय	७।२५	”	बडा
महव्वय	४।सू०११ से १५,१७,१०।५	महाव्रत	महाव्रत
महाकाय	७।२३	महाकाय	विशालकाय, बड़े शरीर वाला
महागर	६।१।१६	महाकर	महान् गुणो की खान
महाफल	८।२७	महाफल	महान् फल का हेतु
महायस	६।२।६,६,११	महायशस्	महान् यशस्वी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
महायारकहा	६	महाचार-कथा	दशवैकालिक का छट्ठा अध्ययन
महालय	७।३१	महत्	बहु विस्तार वाला
महावाय	६।१।८	महावात	तूफान
महावीर	४।सू०१,२,३,६।८	महावीर	चोवीसवे तीर्थंकर, महावीर
महि	५।१।३,६।२४	महि	पृथ्वी
महिड्ढिय	६।४।श्लो०७	महर्द्धिक	महान् ऋद्धि वाला
महिया	४।सू०१६,५।१।८	मिहिका	कुहरा, धूअर
महु	५।१।९७	मधु	शहद
महुकार	१।५	मधुकार	भौंरा
महुर	५।१।९७	मधुर	मीठा
महेसि	३।१,१०,१३,५।१।६६,६।२०,४८, ८।२,६।१।१६,चू०१।श्लो०१०	महर्षि, महैषिन्	महान् ऋषि, मोक्ष की खोज करने वाला
मा	२।८,५।२।३१,७।५०,५१	मा	मत, निषेध, नही
माउल	७।१८	मातुल	मामा, माता का भाई
माउलिंग	५।२।२३	मातुलिङ्ग	विजौरा
माउस्सिया	७।१५	मातृस्वसृ	मासी
माण	५।२।३५,८।३६,३७,३८,३९	मान	आदर
	६।४।सू०४श्लो०२	"	अहंकार
माण	६।३।१३	मानय्	सम्मान करना
माणरिह	६।३।१३	मानार्ह	पूजा के योग्य, सम्मान्य
माणव	७।५२,५४	मानव	मानव
माणस	चू०१।श्लो०१८,चू०२।१४	मानस	मन-सम्बन्धी
माणिम	चू०१।श्लो०५	मान्य	माननीय
माणिय	६।३।१३	मानित	पूजित
माणुस	४।सू०१४,४।श्लो०१६,१७	मानुष	मनुष्य-सम्बन्धी
मामग	५।१।१७	मामक	"मेरे यहाँ मत आओ", इस प्रकार निषेध करने वाले का कुल
माया	५।२।१	मात्रा	मात्रा
माया	८।३६,३७,३८,३९	माया	माया
मायण्ण	५।२।३,२६	मात्रज्ञ	भोजन-पानी आदि की मात्रा को जानने वाला
माया मोसा	५।२।३८,४९,८।४६	माया-मृषा	छलना-सहित असत्य
मायासल्ल	५।२।३५	मायाशल्य	मायारूपी शल्य
मारुय	८।२	मारुत	हवा

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मार	६।१।७	मारय्	मारना
मालोहड	५।१।६९	मालापहृत	ऊपर के माले या निचले तले से लाया हुआ
माहण	५।२।१०;६।२	माहन, ब्राह्मण	ब्राह्मण
मिअ	६।२।३	मृग	भोला, अज्ञानी
मिच्छा	६।१।२	मिथ्या	मिथ्या
मित्त	८।३७	मित्र	मित्र
मिय	५।१।२४,७।५५;८।१९,४८	मित	परिमित
मियासण	८।२९	मिताशन	परिमित आहार करने वाला, मितभोजी
मिहोकहा	८।४१	मिथ कथा	रहस्यपूर्ण बातचीत, विलास-सम्बन्धी बात-चीत
मीसजाय	५।१।५५	मिश्रजात	गृहस्थ और साधु दोनों के लिये एक साथ पकाया हुआ भोजन
मुअ	६।४।श्लो०७,चू०२।१६	मुच्	छोडना
मुंच	७४५,६।३।११	मुञ्च	छोडना
मुड	४।१८,१९,६।६४	मुण्ड	शिर-मुण्डित
मुक्क	६।१।१५	मुक्त	मुक्त
मुच्छा	६।२०	मूर्च्छा	ममत्व
मुच्छिय	चू०१।श्लो०१	मूर्च्छित	मूर्च्छित
मुणालिया	५।२।१८	मृणालिका	कमल की नाल का तन्तु
मुणि	५।१।२,११,१३,२४,८८,९३;५।२।९, ३४,६।१५,७।४०,४१,५५;८।७,८, ४४,४९,६।३।१४,१५,१०।१३,२० ; चू०२।९	मुनि	मुनि
मुत्त	१।३	मुक्त	मुक्त
मुत्त	५।१।१९	मूत्र	प्रस्रवण
मुत्तूण	६।२।२०	मुक्त्वा	छोडकर
मुम्मुर	४।सू०२०	मुर्मुर	जिसमे विरल अग्नि कण हो वह भस्म
मुसा	४।सू०१२,६।११	मृषा	असत्य
	७।२,५	,,	मृषाभाषा
मुसावाय	४।सू०१२,६।१२	मृषावाद	असत्य वचन
मुह	४।सू०२१	मुख	मुख
मुहाजीवि	५।१।९९,१००;८।२४	मुधाजीविन्	अनिदान जीवी, अनासक्त भाव से जीने वाला
मुहादाह	५।१।१००	मुधादायिन्	भौतिक फल की इच्छा किये विना देने-वाला

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
मुहालद्ध	५।१।६६	मुधालब्ध	तन्त्र-मत्र आदि किये विना प्राप्त, अनासक्त भाव से प्राप्त
मुहुत्त दुख	६।३।७	मुहूर्त दु ख	मुहूर्त मात्र दुःख देने वाला
मूल	३।७,५।१।७०	मूल	जड
	६।१६,८।१०,३६	"	मूल हेतु
	६।२।१,२	"	भूमि के नीचे वृक्ष का वह भाग जिससे इसको पोषण मिलता रहे
मूलय	३।७	मूलक	मूला
मूलग	५।२।२३	मूलक	मूली की फली
मूलगत्तिया	५।२।२३	मूलकर्तिका, मूलक-पोतिका	मूली की पतली फांक, वालमूली
मूलवीय	४।सू०८	मूलवीज	वह वनस्पति जिसका मूल ही वीज हो
मेत्त	६।१३	मात्र	प्रमाणार्थक एक प्रत्यय
मेरग	५।२।३६	मेरक-मैरेयक	वह मद्य जो पहली वार खींचा गया हो, सरका
मेह	७।५२	मेघ	मेह
मेहावि	५।१।८३,५।२।४२,४६,८।१४,६।१।१७, ६।३।१४	मेधाविन्	मर्यादा को जानने वाला
मेहुण	४।सू०१४,६।१६,६४	मैथुन	मैथुन
मोक्ख	४।१५,१६,५।१।६२,६।१।५,७,६,१०, ६।२।२,२२,चू०१।सू०१	मोक्ष	मुक्ति
मोसा	६।१२	मृषा	असत्य
मोह	चू०१।श्लो०८	मोह	श्रद्धा और चरित्र को मूढ करने वाले कर्म-पुद्गल

य

य	१।२	च	और
याण	४।१२,५।२।४७	ज्ञा	जानना

र

रइवक्का		रतिवाक्या	दशवैकालिक की प्रथम चूलिका
रक्खियव्व	चू०२।१६	रक्षितव्य	रक्षणीय

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
रज्ज	चू०१।श्लो०४	राज्य	राज्य
रण्ण	४।सू०१३,१५	अरण्य	अरण्य
रम	८।४१,९।१।१०,चू०१।श्लो०६,११	रम्	रमण करना, लगना
रय	१।३,५,४।२७,५।२।२६,६।१,१७,६७, ७।४९,८।४१,६२,९।३।५,१४,९।४। सू०५श्लो०३,९।४।सू०६श्लो०४,९।४। सू०७ श्लो०५,१०।९,१२,१४,१६; चू०१।श्लो०१०,११	रत	लीन
रय	४।२०,२१,५।१।७२	रजस्	रजकण
	९।३।१५	,,	कर्म-परमाणु
रयहरण	४।सू०२३	रजोहरण	ओघा
रस	१।२	रस	पराग, फूलों का रस
	५।२।३६	,,	मादक रस
	५।२।४२,१०।१७	,,	दूध-दही आदि स्निग्ध पदार्थ
	९।२।१	,,	फल का द्रव भाग
रसदया	७।२५	रसदा	दूध देने वाली
रसनिज्जूढ	८।२१	रसनिर्यूढ	रस-रहित
रसय	४।सू०९	रसज	रस मे उत्पन्न होने वाला जीव
रस्सि	चू०१।सू०१	रश्मि	लगाम
रह	९।२।१९	रथ	रथ
रहजोग्ग	७।२४	रथयोग्य	रथ के जुतने योग्य
रहस्स	५।१।१६	रहस्य	गुप्त स्थान
रहस्स	७।२५	ह्रस्व	छोटा
राइ	४।सू०१६	रात्रि	रात
राइणिय	८।४०,९।३।३	रात्निक	पूजनीय, दीक्षा-ज्येष्ठ
राइभत्त	३।२	रात्रिभक्त	रात्रि-भोजन
राइभोयण	४।सू०१६,१७,६।२५	रात्रिभोजन	रात मे जीमना
राओ	४।सू०१८ से २३,६।२३,२४	रात्रौ	रात मे
राग	२।४,५,८।५७,९।३।११	राग	राग
राय	५।१।१६,६।२,चू०१।श्लो०४	राजन्	राजा
रायपिंड	३।३	राजपिण्ड	राजा का आहार
रायमच्च	६।२	राजामात्य	राजा का मन्त्री
रासि	५।१।७	राशि	ढेर, समूह
रिऊ	३।१३	रिपु	शत्रु
रिद्धिमत	७।५३	ऋद्धिमत्	वैभव-युक्त

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
रीअ	१।४	री	जाना
रुक्ख	५।२।१६,७।२६,३०,३१,८।२,१०	रुक्ष	वृक्ष
रुय	४।सू०९	रुत	शब्द करना
रुप्प	८।६२	रुप्य	चादी
रूढ	४।सू०२२,७।३५	रूढ	अकुरित
रूव	८।१९	रूप	चक्षुरिन्द्रिय का विषय
	१०।१९	,	आकार, वर्ण
रूवतेण	५।२।४६	रूपस्तेन	सौन्दर्य के द्वारा अपने को उच्च जातीय बताने वाला
रोअ	५।१।७७	रोचय्	प्रिय मानना, पसन्द करना
रोइय	१०।५	रोचयित्वा	प्रिय मानकर
रोगि	७।१२	रोगिन्	रोगी
रोम	६।६४	रोमन्	लोम
रोमालोण	३।८	रुमालवण	खान का नमक
रोयंत	५।१।४२	रुदत्	रोता हुआ

ल

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
लक्ख	चू०२।२	लक्ष्य	लक्ष्य
लज्जा	५।२।५०,६।१९,६।१।१३	लज्जा	संयम
लज्जासम	६।२२	लज्जासम	सयमानुकूल
लद्ध	२।३,५।१।९७,चू०२।२	लब्ध	प्राप्त
लद्धु	५।२।३१,३३,८।१,२९,६।३।४	लब्ध्वा	पाकर
लद्धूण	५।२।४७	,,	,,
लभ	१।४,५।२।४८,चू०२।१०	लभ्	प्राप्त करना
लभित्ताï	१०।८,९	लब्ध्वा	पाकर
लभित्तु	४।२८	,,	,,
लयण	८।५१	लयन	गृह
लया	४।सू०८	लता	जमीन पर या किसी आधार पर फैलने वाला पौधा
ललिइंदिय	६।२।१४	ललितेन्द्रिय	कोमल इन्द्रिय वाला
लव	७।१७,४०,४८,८।२१,५२	लप्	बोलना, बार-बार बुलाना
लवण	५।१।९७	लवण	लवण
लविय	८।५७	लपित	बोली

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
लह	७।५५,८।४२	लभ्	पाना, लाभान्वित होना
लहुत्त	५।२।१२	लघुत्व	लघुता, हल्कापन
लहुभूयविहारी	३।१०	लघुभूत-विहारिन्	उपकरण और भावना से हल्का होकर विहार करने वाला
लहुस्सग	चू०१।सू०१	लघुस्वक	तुच्छ
लाइम	७।३४	लवनीय	काटने योग्य
लाभ	८।२२,३०; १०।१६	लाभ	प्राप्ति
लाभमट्ठिअ	५।१।६४	लाभार्थिक	आध्यात्मिक लाभ का अर्थी
लुद्ध	५।२।३२	लुब्ध	आसक्त
लूस	५।१।६८	लूषय्	तोडना
लूसिए	१०।१३	लूषित	कटा हुआ
लूहवित्ती	५।२।३४,८।२५	रूक्षवृत्ति	सयमनिष्ठ, रूक्ष भोजन करने वाला
लेलु	४।सू०१८,८।४	लेष्टु	मिट्टी का ढेला
लेव	५।१।४५,५।२।१	लेप	मिट्टी आदि का लेप
लोग	४।२२,२३,२५,६।१२,७।५७,६।२।७	लोक	ससार
	चू०२।३	,,	लोग
लोण	३।८;५।१।३३,६।१७	लवण	साभर का नमक
लोद्ध	६।६३	लोध्र	लोघ—एक सुगन्धित द्रव्य
लोभ	५।२।३१,६।१८,८।३६,३७,३८,३९	लोभ	लोभ
लोए	१।३,६।५,६,१५,७।४८,५७,चू०२।१५	लोक	लोक
लोह	४।सू०१२,७।५४	लोभ	लालच

व

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
व	५।१।५	वा	अथवा
व	१।३,८।६१,६२,६३,६।३।१३;चू०१।श्लो०३,४,७,१२,१७	इव	तरह
वइ	८।४६	वाच्	वाणी
वइमय	६।३।६	वाङ्मय	वाणीमय
वत	२।७,१०।१,चू०१।सू०१	वान्त	वमन किया हुआ
वतय	२।६	वान्तक	,, ,, ,,
वद	५।२।३०,६।२।१७	वन्द्	प्रणाम करना, स्वागत करना;
वदण	चू०२।६	वन्दन	वन्दना
वदमाण	५।२।२६	वन्दमान	नमस्कार करता हुआ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वदिअ	५।२।३०	वन्दित	वन्दना, नमस्कार पाया हुआ
वदिम	चू०१।श्लो०३	वन्द्य	वन्दनीय
वक्क	८।३;६।३।२	वाक्य	वचन
वक्ककर	६।३।३	वाक्यकर	आज्ञाकारी
वक्कसुद्धि	७	वाक्यशुद्धि	दशवैकालिक का सातवाँ अध्ययन
वच्च	५।१।१९,२५	वर्चस्	मल, उच्चार
वच्छग	५।१।२२	वत्सक	वछड़ा
वज्ज	५।१।११,५५,५।२।४२,६।१०,१६, २८,३१,३५,३९,४२,४५,४९;७।४१, १०।२०	वर्जय्	वर्जना
वज्जत	५।१।३	वर्जयत्	वर्जता हुआ
वज्जिय	५।१।९९	वर्जित	रहित
वज्झ	७।२२,३६	वध्य	मारने योग्य
वट्ट	७।३१	वृत्त	गोल
वट्ट	६।३।३	वृत्	वर्तना
वड्ढ	५।२।३८;८।३५	वर्ध	बढना
वड्ढण	५।१।११,६।२८,३१,३५,३९,४२,४५, ५८,८।३६	वर्धन	बढना
वण	७।२६,३०	वन	वन
वणस्सइ	४।सू०८,६।४०,४१,४२	वनस्पति	वनस्पति
वणस्सइकाइय	४।सू०३	वनस्पतिकायिक	वनस्पति शरीर वाला जीव
वणिमय	५।१।५१	देशी	कृपण
वणीमग	५।२।१०,१२,६।५७	देशी	कृपण
वण्ण	६।४।सू०६,७	वर्ण	प्रशंसा
वण्णिय	६।२२	वर्णित	वर्जन किया हुआ
वण्णिया	५।१।३४	वर्णिका	पीली मिट्टी
वत्तव्व	७।११	वक्तव्य	वाच्य, बोलने योग्य
वत्ति	चू०१।श्लो०१५	वृत्ति	वृत्ति
वत्थ	२।२,४।सू०१८,१९,२३,५।२।२८	वस्त्र	वस्त्र
वत्थिकम्म	३।९	वस्तिकर्मन्	एनिमा लेना
वमण	३।९	वमन	वमन
वम	८।३६;१०।६	वम्	छोडना
वय	४।सू०१२,७।६	वच	बोलना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वय	४।सू०१६,५।१।१०,६।७,६२	व्रत	व्रत
वय	५।२।२६,६।११,७।६,६,१२,२२,२५, ३१,३२,३३,३४,३६,३८,४३,४४,५०, ५१,५२,५४,५६,६।२।१६,१८,१०।१८	वद्	बोलना
वय	५।२।४६,६।१७,२६,२६,४०,४३;१०।७	वचस्	वचन
वय	७।४७	व्रज्	जाना
वयत	४।सू०१२	वदत्	कहता हुआ
वयण	२।१०,८।३३,६।२।१२,६।३।८;१०।५	वचन	वचन
वयणकर	६।२।१२	वचनकर	आज्ञाकारी
वयतेण	५।२।४६	वचस्स्तेन	वाक्-पटुता के द्वारा बहुश्रुत होने का दिखावा करने वाला
ववेय	चू०१।श्लो०१२	व्यपेत	रहित
वस	२।१,१०।१	वश	अधीन
वस	चू०२।६,११	वस्	रहना
वसत	चू०१।सू०१	वसत्	रहता हुआ
वसाणुअ	५।१।६	वशानुग	वशवर्ती
वसुल	७।१४,१६	देशी	वृषल—अपमान सूचक शब्द, शूद्र
वसुला	७।१६	देशी	वृषला, मधुर-आमंत्रण
वह	६।१०,४८,५७,६।१।१,६।२।१४, चू०१।सू०१	वध	घात
वह	६।२।१६	वह्	वहन करना
वहण	१०।४	हनन	वध
वा	४।११	वा	अथवा
वा	चू०१।श्लो०२	इव	तरह
वाउ	४।सू०७	वायु	हवा
वाउकाइय	४।सू०३	वायुकायिक	वायु शरीर वाला जीव
वाउकाय	६।३६	वायुकाय	„ „ „ „
वाय	२।६,६।३८,७।५१,चू०१।श्लो०१७	वात	हवा
वाय	४।सू०१२	वाचय्	बोलना
वाय	१०।१५	वाच्	वाणी
वायत	५।१।८	वात्	चलता हुआ
वाया	४।सू०१० से १६, १८ से २३;८।१२, ३३,६।३।७;१०।१५,चू०१।श्लो०१८, चू०२।१४	वाच्	वाणी

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वारधोयण	५।१।७५	वारधावन	गुड के घडे का धोया हुआ पानी
वारय	५।१।४५	वारक	छोटा घडा
वास	५।१।८	वर्ष	वर्षा
	चू०२।११	,,	वर्ष
वास	चू०१।सू०१	वास	रहना
वासंत	५।१।८	वर्षत्	वरसता हुआ
वाससइ	८।५५	वर्षशतिका	सौ वर्ष की स्त्री
वासा	३।१२	वर्षा	वरसात
वाहि	८।३५	व्याधि	रोग
वाहिम	७।२४	वाह्य	वहन करने योग्य
वाहिय	६।६,५६,६०,७।१२	व्याधित	रोगी
विइत्ता	६।१।२	विदित्वा	जानकर
विइत्तु	१०।१४	,,	,,
विउल	५।२।४२,६।४।श्लो०६	विपुल	विस्तीर्ण
विउलट्ठाणभाइ	६।५	विपुलस्थानभागिन्	संयम-सेवी
विउहित्ताण	५।१।२२	व्यूह्य	हटाकर
विकत्थ	६।३।४	वि+कत्थ्	प्रशंसा करना
विक्कय	७।४६,१०।४६	विक्रय	वेचना
विक्कायमाण	५।१।७२	विक्रीयमाण	वेचा जाता हुआ
विक्खलिय	८।४६	विस्खलित	स्खलित
विगप्पिय	८।५५	विकल्पित	छिन्न
विगलितेंदिय	६।२।७	विकलितेन्द्रिय	इन्द्रियहीन
विग्गहओ	८।५३	विग्रहतस्	शरीर से
विजाण	७।२१	वि+ज्ञा	जानना
विज्जमाण	५।१।४	विद्यमान	होता हुआ
विज्जल	५।१।४	विज्जल	कीचड
विज्झाय	चू०१।श्लो०१२	विध्यात	वुझा हुआ
विडिम	७।३१	विटपिन्	वह वृक्ष जिसके टहनियाँ निकल आई हों
विणय	५।१।८८	विनय	गुरु आदि बड़ों के आने पर खड़ा होना, वन्दना करना
	८।३७,४०,६।१।१,६।२।२,४,२२,२३,	,,	नम्रता, आचार
	६।३।२,३,६।४सू०३श्लो०१	,,	
	७।१		विशुद्ध प्रयोग, यथार्थ प्रयोग

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
विणय समाहि	६	विनय-समाधि	दशवैकालिक का ६ वां अध्ययन
	६।४।सू०१,२,३,४,	,,	विनय-समाधि
विणास	८।३७	वि+नाशय्	नाश करना
विणासण	८।३७	विनाशन	विनाशक
विणिगूह	५।२।३१	वि+नि+गूह्य	छुपाना
विणिच्छय	८।४३	विनिश्चय	निश्चय
विणिज्झा	५।१।१५,२३	वि+नि+ध्यै	देखना
विणित्तए	५।१।७८,७६	विनेतुम्	दूर करने के लिये
विणिय	६।२।२१	विनीत	विनीत
विणियट्ट	२।११,८।३४	वि+नि+वृत्	निवृत्त होना
विणी	२।४,५	वि+नी	दूर करना
विणीयतण्ह	८।५६	विनीततृष्ण	तृष्णा-रहित
वितह	७।४	वितथ	अयथार्थ
वित्ति	१४,५।१।६२,५।२।२६	वृत्ति	जीवन-निर्वाह का साधन
	६।२२	,,	देह-पालन
विन्नाय	४।सू०६	विज्ञात	विदित
विन्नाय	८।५८	विज्ञाय	जानकर
विप्पइण्ण	५।१।२१	विप्रकीर्ण	छितरा हुआ
विप्पमुक्क	३।१	विप्रमुक्त	वाह्य और अन्तर्परिग्रह से मुक्त
विपिट्ठिकुव्व	२।३	विपृष्टी+कृ	ठुकराना
विभूसण	३।६	विभूषण	विभूषा
विभूसा	६।४६,८।५६	विभूषा	श्रृङ्गार, शोभा
विभूसावत्तिय	६।६५,६६	विभूषाप्रत्यय, प्रत्ययिक	विभूषा के निमित्त से होने वाला
विमण	५।१।८०	विमनस्	अन्यमनस्क
विमल	६।६८, ६।१।१५	विमल	स्वच्छ
विमाण	६।६८	विमान	देवताओं का निवासस्थान
विय	८।४८	व्यक्त	प्रकट
वियक्खण	५।१।२५,६।३;८।१४	विचक्षण	पण्डित
वियड	५।२।२२	विकट	शुद्धोदक
	६।६१	,,	जल
वियडभाव	८।३२	विकटभाव	स्पष्टता
वियत्त	६।६	व्यक्त	परिपक्व अवस्था वाला
वियागर	७।३७,४५,४६	वि+आ+कृ	वोलना

I64

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वियाण	४।१३,१४,५।२।३७,१०।१५	वि+ज्ञा	जानना
वियाणत	४।१३	विजानत्	जानता हुआ
वियाणित्ता	५।१।११,६।२८,३१,३५,३६,४२,४५	विज्ञाय	जानकर
वियाणिया	८।३४,६।३।११,चू०१।श्लो०१८	,,	,,
विरय	४।सू०१८ से २३	विरत	पाप से निवृत्त, विरक्त
विरस	५।१।६८,५।२।३३,४२,१०।१६	विरस	विकृत रसवाला
विराय	८।६३,६।१।१४	वि+राज्	शोभित होना
विरालिया	५।२।१८	विरालिका	पलाश का कन्द, क्षीर विराली
विराह	४।२८	वि+राधय्	विराधना करना
विरुह	६।२।१	वि+रुह्	उगना, प्ररोहित होना
विरेयण	३।६	विरेचन	जुलाव
विलिह	४।सू०१८	वि+लिख्	विशेष रेखा खीचना
विलिहत	४।सू०१८	विलिखत्	विशेष रेखा खीचता हुआ
विवज्ज	५।१।१५,३६,७५,५।२।४१,४३,४६, ६।२४,७।४,७,८।४१,४६,५५,चू०२।१३	वि+वर्जय्	वर्जना
विवज्जइत्ता	१०।१६	विवर्ज्य	छोडकर
विवज्जत	६।४६	विवर्जयत्	वर्जता हुआ
विवज्जण	चू०२।५,६	विवर्जन	वर्जने वाला
विवज्जयत	१०।३,चू०२।१०	विवर्जयत्	वर्जता हुआ
विवज्जिय	६।५५	विवर्जित	छोडा हुआ
	८।५१	,,	रहित
विवज्जेत्ता	५।२।४	विवर्ज्य	छोडकर
विवड्ढण	८।५७	विवर्धन	वढाने वाला
विवण्ण	५।२।३३	विवर्ण	असार, विकृत वर्ण वाला, निकृष्ट
विवण्णछंद	६।२।८	विपन्नछन्दस्	परवश
विवत्ति	६।५७,६।२।२१	विपत्ति	विनाश
विवित्त	८।५२	विविक्त	एकान्त
विवित्तचरिया	चू०२	विविक्तचर्या	दशवैकालिक की दूसरी चूलिका
विविह	५।१।३६,५।२।२७,३३;६।२७,३०,४१ ४४,८।१०,१२,६।४।सू०६श्लो०४,१०।८, ६,१२,चू०१श्लो०१८	विविध	अनेक प्रकार
विस	८।५६;६।१।६,चू०१श्लो०१२	विष	जहर
विसम	५।१।४	विषम	ऊवड-खावड

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
विसय	८।५८	विषय	इन्द्रियो द्वारा गृहीत होने वाले स्पर्श, रस आदि
विसीअ	५।२।२६	वि+षद्	खिन्न होना
विसीदत	२।१	विषीदत्	खिन्न होता हुआ
विसुज्झ	८।६२	वि+शुध्	शुद्ध करना
विसुद्ध	६।३।४	विशुद्ध	विशुद्ध
विसोत्तिया	५।१।९	विश्रोतसिका	स्रोत वन्द होने के कारण प्रवाह का मुडना, चित्त-विप्लुति, सयम से मन का मुडना
विसोहिठाण	६।१।१३	विशोधि-स्थान	पवित्रता का स्थान, कर्म-मल को दूर करने का स्थान
विह	६।४।सू०४	विध	प्रकार
विहगम	१।३	विहंगम	भौरा
विहम्म	चू०१।श्लो०७	वि+हन्	सपीडित होना
विहर	४।सू०१७,५।२।५०,८।५९,चू०२।१०	वि+हृ	विहार करना
विहारचरिया	चू०२।५	विहारचर्या	रहन-सहन
विहि	५।२।३	विधि	रीति, प्रकार, व्यवस्था
विहिंस	५।१।६८	वि+हिंस्	मारना
विहिंसत	६।२७,३०,४१,४४	विहिंसत्	मारता हुआ
विहुयण	४।सू०२१,६।३७,८।९	विधुवन	पंखा
वीअ	४।सू०२१,८।९,१०।३	व्यज्	पखा झलना
वीइउ	४।सू०२१	वीजितुम्	हवा करने के लिये
वीयण	३।२	वीजन	पखा
वीयाव	१०।३	वीजय्	पखा झलाना
वीयावेउण	६।३७	वीजयितुम्	हवा करवाने के लिये
विसम	५।१।९३	वि+श्रम्	विश्राम करना
वीसमत	५।१।९४	विश्राम्यत्	विश्राम करता हुआ
वुग्गह	७।५०	व्युद्ग्रह	कलह, लडाई
वुग्गहिय	१०।१०	व्युद्ग्राहिक, वैग्राहिक	कलह-कारक
वुच्च	१।३,७।४८	वच्	वोलना
वुज्झ	६।२।३	वह्	वहाया जाना
वुट्ठ	७।५१,५२,८।६	वृष्ट	वर्षा हुआ
वुत्त	६।५,२०,४८,५४,८।२,६।२।१९	उक्त	कथित
वेणइय	६।१।१२	वैनयिक	विनय

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वियाण	४।१३,१४;५।२।३७,१०।१५	वि+ज्ञा	जानना
वियाणत	४।१३	विजानत्	जानता हुआ
वियाणित्ता	५।१।११,६।२८,३१,३५,३६,४२,४५	विज्ञाय	जानकर
वियाणिया	८।३४,६।३।११,चू०१।श्लो०१८	,,	,,
विरय	४।सू०१८ से २३	विरत	पाप से निवृत्त, विरक्त
विरस	५।१।६८,५।२।३३,४२,१०।१६	विरस	विकृत रसवाला
विराय	८।६३,६।१।१४	वि+राज्	शोभित होना
विरालिया	५।२।१८	विरालिका	पलाश का कन्द, क्षीर विराली
विराह	४।२८	वि+राधय्	विराधना करना
विरुह	६।२।१	वि+रुह्	उगना, प्ररोहित होना
विरेयण	३।६	विरेचन	जुलाब
विलिह	४।सू०१८	वि+लिख्	विशेष रेखा खीचना
विलिहत	४।सू०१८	विलिखत्	विशेष रेखा खीचता हुआ
विवज्ज	५।१।१५,३६,७५,५।२।४१,४३,४६, ६।२४,७।४,७,८।४१,४६,५५;चू०२।१३	वि+वर्जय्	वर्जना
विवज्जइत्ता	१०।१६	विवर्ज्य	छोडकर
विवज्जत	६।४६	विवर्जयत्	वर्जता हुआ
विवज्जण	चू०२।५,६	विवर्जन	वर्जने वाला
विवज्जयत	१०।३,चू०२।१०	विवर्जयत्	वर्जता हुआ
विवज्जिय	६।५५	विवर्जित	छोडा हुआ
	८।५१	,,	रहित
विवज्जेत्ता	५।२।४	विवर्ज्य	छोडकर
विवड्ढण	८।५७	विवर्धन	वढाने वाला
विवण्ण	५।२।३३	विवर्ण	असार, विकृत वर्ण वाला, निकृष्ट
विवण्णछद	६।२।८	विपन्नछन्दस्	परवश
विवत्ति	६।५७,६।२।२१	विपत्ति	विनाश
विवित्त	८।५२	विविक्त	एकान्त
विवित्तचरिया	चू०२	विविक्तचर्या	दशवैकालिक की दूसरी चूलिका
विविह	५।१।३६,५।२।२७,३३,६।२७,३०,४१ ४८,८।१०,१२,६।४।सू०६श्लो०४,१०।८, ६,१२,चू०१श्लो०१८	विविध	अनेक प्रकार
विस	८।५६,६।१।६;चू०१श्लो०१२	विष	जहर
विसम	५।१।४	विषम	ऊबड़-खाबड

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
विसय	८।५८	विषय	इन्द्रियो द्वारा गृहीत होने वाले स्पर्श, रस आदि
विसीअ	५।२।२६	वि+पद्	खिन्न होना
विसीदत	२।१	विषीदत्	खिन्न होता हुआ
विसुज्झ	८।६२	वि+शुध्	शुद्ध करना
विसुद्ध	६।३।४	विशुद्ध	विशुद्ध
विसोत्तिया	५।१।९	विश्रोतसिका	स्रोत वन्द होने के कारण प्रवाह का मुडना, चित्त-विप्लुति, सयम से मन का मुडना
विसोहिठाण	६।१।१३	विशोधि-स्थान	पवित्रता का स्थान, कर्म-मल को दूर करने का स्थान
विह	६।४।सू०४	विध	प्रकार
विहगम	१।३	विहगम	भौरा
विहम्म	चू०१।श्लो०७	वि+हन्	सपीडित होना
विहर	४।सू०१७;५।२।५०,८।५९,चू०२।१०	वि+हृ	विहार करना
विहारचरिया	चू०२।५	विहारचर्या	रहन-सहन
विहि	५।२।३	विधि	रीति, प्रकार, व्यवस्था
विहिंस	५।१।६८	वि+हिंस्	मारना
विहिंसत	६।२७,३०,४१,४४	विहिंसत्	मारता हुआ
विहुयण	४।सू०२१,६।३७,८।९	विधुवन	पखा
वीअ	४।सू०२१,८।९;१०।३	व्यज्	पखा झलना
वीइउ	४।सू०२१	वीजितुम्	हवा करने के लिये
वीयण	३।२	वीजन	पखा
वीयाव	१०।३	वीजय्	पखा झलाना
वीयावेउण	६।३७	वीजयितुम्	हवा करवाने के लिये
विसम	५।१।९३	वि+श्रम्	विश्राम करना
वीसमत	५।१।९४	विश्राम्यत्	विश्राम करता हुआ
वुग्गह	७।५०	व्युद्ग्रह	कलह, लड़ाई
वुग्गहिय	१०।१०	व्युद्ग्राहिक, वैग्राहिक	कलह-कारक
वुच्च	१।३,७।४८	वच्	वोलना
वुज्झ	६।२।३	वह्	वहाया जाना
वुट्ठ	७।५१,५२;८।६	वृष्ट	वर्षा हुआ
वुत्त	६।५,२०,४८,५४,८।२,६।२।१९	उक्त	कथित
वेणइय	९।१।१२	वैनयिक	विनय

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
वेय	६।४।सू०४	वेद	श्रुत-ज्ञान
वेयइत्ता	चू०१।सू०१	वेदयित्वा	जानकर
वेयावडिय	३।६,चू०२।६	वैयापृत्य	सेवा
वेर	६।३।७	वैर	वैर
वेरमण	४।सू०११ से १७ तक	विरमण	निवृत्त होना
वेलुय	५।२।२१	वेणुक	वश करीर
वेलोइय	७।३२	वेलोचित	अविलम्ब तोडने योग्य
वेस	५।१।९,११	वेश	वेश्या का पाडा
वेहिम	७।३२	वेध्य, द्वैधिक	दो टुकडे करने योग्य, फाक करने योग्य
वोक्कत	६।६०	व्युत्क्रान्त	उल्लघित
वोसट्ठ	५।१।९१	व्युत्सृष्ट	कायोत्सर्ग में स्थित
वोसट्ठचत्तदेह	१०।१३	व्युत्सृष्ट त्यक्तदेह	देह का व्युत्सर्ग और त्याग करने वाला
वोसिर	४।सू०१० से १६, १८ से २२,५।१।११९	वि०+उत्+सृज्	छोडना
व्व	२।९,८।४०,चू०१।श्लो०५६	इव	तरह

स

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
स	४।सू०८,४।१७,१८;५।१।८७,६।६;८।२, चू०२।१	स	सहित
सअ	५।१।१६	सत्	होता हुआ
सआ	६।६८	सदा	सदा
सइं	५।२।२०	सकृत्	एक वार
सइकाल	५।२।६	स्मृतिकाल	वह समय जब गृहस्थ भिक्षा देने के लिये मुनि को याद करे, भिक्षा का उचित काल
सइत्तु	६।५४	शयितुम्	सोने के लिये
संकट्ठाण	५।१।१५	शङ्का-स्थान	आशंका का स्थान
सकण	६।५८	शङ्कन	शका
सकप्प	२।१;चू०१।सू०१	संकल्प	सकल्प
संकम	५।१।४	सक्रम	पुल, जल को लांघने के लिये रखा गया काष्ठ या पत्थर
	५।१।६५	"	पार करना
संका	७।९	शङ्का	संदेह
सकिय	५।१।४४,७७,७।७	शङ्कित	संदेहशील

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सकिलेस	५।१।१६	सक्लेश	क्लेश
सकुचिय	४।सू०६	सङ्कुचित	सिकुडना
सखडि	७।३६,३७	सस्कृति	जीमनवार, भोज
सग	१०।१६	सङ्ग	आसक्ति
संघट्टइत्ता	६।२।१८	सघट्य	स्पर्श करके
सघट्ट	८।७	सं+घट्ट	छूना
सघट्टिया	५।१।६१	सघट्य	छूकर
सघाय	४।सू०२३	संघात	एकत्रित, सहतिरूप से अवस्थान
सजइदिय	१०।१५	सयतेन्द्रिय	जिसकी इन्द्रियाँ सयत हो
सजम	१।१,२।८,३।१,१०,४।१२,१३,२७, ६।१,८,१६,४६,६०,६७,७।४९,८।४०, ६१,९।१।१३,१०।७,१०,चू०१।सू०१	सयम	संयम—इन्द्रिय और मन का नियमन
सजमजीविय	चू०२।१५	संयमजीवित	संयम-प्रधान जीवन
सजय	२।१०,३।११,१२,४।सू०१८ से २२, ४।श्लो०१०,५।१।५,६,७,२२,४१,४३, ४८,५०,५२,५४,५६,५८,६०,६२,६४, ६६,७७,८३,८६,९७,५।२।१,८,९,१०, ११,१३,१५,१७,२८,५०,६।१४,२६, २९,३४,४०,४३,७।४९,५६,८।३,४,६, १३,१४,१६,१८,२४	संयत	व्रती, सयमी, मुनि
	४।सू०२३	,,	संयमपूर्वक
	१०।१५		सयत, गुप्त
सजाय	७।२३	संजात	शरीर से पुष्ट
सजोग	४।१७,१८	सयोग	सम्वन्ध
सठाण	८।५७	संस्थान	सस्थान
संडिब्भ	५।१।१२	देशी	वालक्रीड़ा-स्थान
सत	५।२।३१,६।१।११;६।३।५	सत्	होता हुआ
सतअ	चू०१।श्लो०८	सन्तत	वद्ध
सताण	चू०१।श्लो०८	सन्तान	परम्परा
सतुट्ठ	५।२।३४	सतुष्ट	संतुष्ट, लाभ-अलाभ मे सम
सतोस	९।३।५	सन्तोप	सन्तोप
सतोसओ	८।३८	सन्तोषतस्	तृप्ति से
सथर	५।२।२	सं+स्तृ	तृप्त होना, निर्वाह करना
सथार	८।१७,९।३।५	संस्तार	विछौना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सथारग	४।सू०२३	सस्तारक	अढाई हाथ का बिछौना
सधि	५।१।१५	सन्धि	सेंध
सपडिलेहियव्व	चू०१।सू०१	सप्रतिलेखितव्य	देखने योग्य
सपडिवज्ज	६।४।सू०४	स+प्रति+पद्	स्वीकार करना
सपडिवाइय	२।१०	सप्रतिपातित	स्थापित
सपडिवाय	६।२।२०	स+प्रति+पद्	करना
सपणोल्लिया	५।१।३०	सप्रणुद्य	हिलाकर
सपत्त	५।१।१	सम्प्राप्त	प्राप्त, आगत
सपत्ति	६।२।२१	सम्पत्ति	वैभव
संपन्न	६।१,७।४६,८।५१	सम्पन्न	सहित
सपमज्जित्ता	५।१।८३	सम्प्रमृज्य	साफ कर
सपय	७।७	साम्प्रत	वर्तमान
सपराय	२।५	समुपराय	परलोक, ससार
सपस्सिय	चू०१।श्लो०१८	सदृश्य	भलीभाति देखकर
सपहास	८।४१,१०।११	सप्रहास	अट्टहास
सपाविउकाम	६।१।१६	सप्राप्तुकाम	पाने की इच्छा वाला
सपिक्ख	चू०२।१२	सम्+प्र+ईक्ष्	देखना
सपुच्छण	३।३	सप्रश्न	कुशल पूछना
सफुस	४।सू०१९	सम्+स्पृश्	स्पर्श करना
सफुसत	४।सू०१९	सस्पृशत्	स्पर्श करता हुआ
सवाहण	३।३	सबाधन	मर्दन
सवुद्ध	२।११	सम्बुद्ध	तत्त्वज्ञ
सभिन्नवित्त	चू०१।श्लो०१३	समृभिन्नवृत्त	खण्डित चरित्र वाला
समुच्छिय	७।५२	सम्मूर्च्छित	उभरा हुआ
सरक्खण	६।२१	सरक्षण	रक्षा
सलिह	८।४,७	सम्+लिख्	कुरेदना
सलिहित्ताण	५।२।१	सलिह्य	चाट कर
सलुचिया	५।२।१४	सलुञ्च्य	छेदन कर
सलोग	५।१।२५	सलोक	देखना
सवच्छर	चू०२।११	सवत्सर	कालमान
सवर	४।१६,२०,५।२।३९,४१,४४,१०।५, चू०२।४	संवर	आश्रव-निरोध
सवर	८।३१	सम्+वृ	वापस मोडना

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सवहण	७।२५	सवहन	वहन करने वाला
सवुड	५।१।८३	सवृत	चारो ओर ढका हुआ
	६।४।सू०७ श्लो०५	,,	अनाश्रव
ससअ	५।१।१०; ६।३४	सशय	सन्देह
ससग्गि	५।१।१०, ६।१६, ८।५६	ससर्ग	सपर्क
ससट्ठ	५।१।३४,३६	ससृष्ट	लिप्त
ससट्ठकप्प	चू०२।६	ससृष्ट कल्प	खाद्य वस्तु से लिप्त कड़छी आदि से आहार लेने की विधि
ससक्त	६।२४	ससक्त	सलग्न
ससार	चू०२।३	ससार	ससार
ससारसायर	६।६५	ससार सागर	ससाररूपी समुद्र
ससेइम	४।सू०९	सस्वेदज	सस्वेद से उत्पन्न होने वाला जीव
संसेइम	५।१।७५	ससेकिम	आटे का धोवन
सक्क	६।३।६	शक्य	साध्य
सक्कणिज्ज	चू०२।१२	शकनीय	शक्य
सक्करा	५।१।८४	शर्करा	वालु-कण
सक्कार	६।१।१२, ६।२।१५	सत्+कृ	सत्कार करना
सक्कारण	१०।१७	सत्करण	सत्कार
सक्कुलि	५।१।७१	शष्कुलि	तिल पपडी
सगास	५।१।८८,९०;५।२।५०,८।४४;६।१।१	सकाश	समीप
सच्चरय	६।३।१३	सत्यरत	सत्य लीन
सच्चवाइ	६।३।३	सत्यवादिन्	सत्य वोलने वाला
सच्चा	७।२,३,११	सत्या	सत्य भाषा
सच्चमोसा	७।४	सत्यामृषा	मिश्रभाषा—जिसमे सत्यांग और असत्याश का मिश्रण हो
सच्चामोसा	७।२	,,	मिश्रभाषा—जिसमें सत्याश और असत्यांश का मिश्रण हो
सच्चित्त	३।७;४।सू०२२,५।१।३०,५।२।१३, १६,१०।३	सचित्त	सजीव
सजोइय	८।८	सज्योतिष्	अग्नि सहित
सज्झाण	८।६२	सद्ध्यान	पवित्र ध्यान
सज्झाय	५।१।९३;८।४१,६१,६२,१०।९,चू०२।७	स्वाध्याय	स्वाध्याय
सढ	६।२।३	शठ	धूर्त
सत्त	४।सू०४ से ८	सत्व	अस्तित्व

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सत्ति	६।१।८,६	शक्ति	भाला
सत्तुचुण्ण	५।१।७१	सक्तुचूर्ण	सत्तू का चूर्ण
सत्थ	६।३२,१०।२	शस्त्र	मारने व हिंसा का साधन
	६।२।८	,,	तलवार आदि
सत्थपरिणय	४।सू०४ से ८	शस्त्रपरिणत	विरोधी शस्त्र के द्वारा आहत
सद्द	८।२६,१०।११	शब्द	शब्द
	६।४।सू०६,७	,,	प्रशंसा
सद्धा	८।६०	श्रद्धा	श्रद्धा
सद्धि	५।१।६५	सर्द्धिम्	साथ में
सन्निर	५।१।७०	देशी	साकभाजी
सन्निवेस	५।२।५	सन्निवेश	गाँव
सन्निहि	३।३,६।१७,१८,८।२४	सन्निधि	खाद्य, पेय आदि वस्तुओं का संग्रह
सन्निहिओ	१०।१६	सन्निधितस्	सन्निधि से
सप्पि	६।१७	सर्पिष्	घी
सप्पुरिस	चू०२।१५	सत्पुरुष	श्रेष्ठ पुरुष
सबीय	४।सू०८	सबीज	बीज आदि दश अवस्थाओं से युक्त वनस्पति
सबीयग	४।सू०८	सबीजक	बीज आदि दश अवस्थाओं से युक्त वनस्पति
सभिक्खु	१०	सभिक्षु, सद्भिक्षुक	दशवैकालिक का दसवाँ अध्ययन
सम	१।५,२।४,६।३।११;१०।११;चू०२।१०	सम	समान
	१०।५,१३	,,	तुल्य
सम	चू०२।९	समम्	साथ
समइक्कंत	चू०१।श्लो०६	समतिक्रान्त	बीता हुआ
समण	१।३,४।सू०१,२,३,४।२६,५।१।३०,४०, ४६,५३,६७,५।२।१०,३४,४०,४५	श्रमण	साधु
समणधम्म	८।४२	श्रमणधर्म	साधुत्व
समणुजाण	४।सू०१० से १६,१८ से २२,६।४८	सम्+अनु+ज्ञा	अनुमोदन करना
समत्त	८।६१	समाप्त	सम्यक् प्रकार से प्राप्त
समाउत्त	७।४९	समायुक्त	समायुक्त
समागय	५।२।७	समागत	आया हुआ
समाण	चू०१।श्लो०१०	समान	समान
समायर	४।११,५।२।४,८।२१,३१,३५,चू०२।१२	सम्+आ+चर्	आचरण करना
समारंभ	३।४,६।२८,३१,३५,३६,३९,४२, ४५,५१	समारम्भ	आरम्भ

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
समारभ	४।सू०१०	सम्+आ+रभ्	हिंसा करना
समारभत	४।सू०१०	समारभमाण	हिंसा करता हुआ
समावन्न	५।२।२	समापन्न	आया हुआ
	चू०१।सू०१	,,	व्याप्त
समावयत	६।३।८	समापतत्	सामने आता हुआ
समासेज्ज	८।४५	समाश्रित्य	आश्रित करके
समाहि	६।१।१६, ६।४।सू०१,२,३,श्लो०६, चू०२।४	समाधि	समाधान
समाहिय	५।१।२६,६६, ८।१६,१०।१	समाहित	समाधि-सम्पन्न, समाधानयुक्त
समीरिय	८।६२	समीरित	प्रेरित
समुक्कस	५।२।३०, ८।३०, १०।१८	सम्+उत्+कृष्	अभिमान करना
समुद्धर	१०।१४	सम्+उद्+हृ	उद्धार करना
समुपेहिया	७।५५	समुत्प्रेक्ष्य	विचार कर
समुप्पन्न	७।४६	समुत्पन्न	उत्पन्न
समुप्पेह	७।३, ८।७	समुत्पेक्ष्य	विचार कर
समुयाण	५।२।२५; ६।३।४, चू०२।५	समुदान	भिक्षा
समुवे	६।२।१	सम्+उप+इ	निकलना, उगना
समुस्सय	६।१६	समुच्छ्रय	राशि
समोसढ	६।१	समवसृत	आया हुआ, प्रवेश किया हुआ
सम्म	४।६, ५।१।९१, ६।४।सू०४, चू०१।सू०१, चू०२।१३	सम्यक्	भलीभाति
सम्मद्दमाण	५।१।२९	सम्मर्दयत्	कुचलता हुआ
सम्मद्दिट्ठि	४।२८, १०।७	सम्यग्दृष्टि	सम्यक्दर्शी
सम्मद्दिया	५।२।१६	सम्मृद्य	कुचलकर
सम्मय	८।६०	सम्मत	सम्मत
सम्माण	५।२।३५	सम्मान	आदर
सम्मुच्छिम	सू०४।सू०८	सम्मूर्च्छिम	बीज बोये बिना उगने वाली वनस्पति
	४।सू०९	,,	जहाँ कही उत्पन्न होने वाला जीव
सय	५।१।६, ७।५५	सत्	सज्जन
सय	४।सू० १० से १६,५।२।३३	स्वयं	अपने आप
सय	४।श्लो०७,८, ७।४७, ८।१३	श्री	सोना
सयण	२।२; ५।२।२८; ७।२९; चू०२।८	शयन	शय्या
	८।५१	,,	शयन

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सयमाण	४।श्लो०४	शयान	सोता हुआ
सयय	५।२।३८, ८।४०, ९।१।१३, ९।३।१३, १५, चू०२।१६	सतत	निरन्तर
सयल	६।४	सकल	सम्पूर्ण
सया	१।१, ४।२८, ५।१।१४, ५।२।२५, ७।५५, ५६, ८।३२,४१,६१, ९।३।९,१०, ९।४। सू०६श्लो०४, १०।३,६,७,२१	सदा	सदा
सरीर	१०।१२, चू०१श्लो०१६	शरीर	शरीर
सरीसिव	७।२२	सरीसृप	साप
सलागा	४।सू०१८	शलाका	लोहे या काठ की सलाई
सविज्जविज्जा	६।६९	स्वविद्यविद्या	आत्म-विद्या का ज्ञान
सव्व	३।१०	सर्व	सब
सव्वओ	६।३२, ७।१	सर्वतस्	सबसे
सवक्कसुद्धि	७।५५	सद्वाक्यशुद्धि, स्ववाक्य-शुद्धि	वाणी की पवित्रता, वाणी का परिमार्जन
सव्वत्तग	४।२१,२२	सर्वत्रग	सर्वत्रगामी, सबको जानने वाला
सव्वत्थ	६।२१, ७।४४	सर्वत्र	सब जगह
सव्वभाव	८।१६	सर्वभाव	सिद्धान्त के अनुसार, सर्वथा
सव्वसो	७।१, ८।४७, ९।४।श्लो०७	सर्वशस्	सब तरह से
सव्वुक्कस	७।४३	सर्वोत्कर्ष	सबसे उत्कृष्ट
ससक्ख	५।२।३६	स्वसाक्ष्य	वीतराग की साक्षी सहित
ससरक्ख	४।सू०१८, ५।१।७,३३, ८।५	ससरक्ष	सजीव रजयुक्त
ससार	७।३५	ससार	धान्य-कण-सहित
ससि	९।१।१५	शशि	शशाङ्क, चान्द
ससिणिद्ध	४।सू०१९, ५।१।३३	सस्निग्ध	स्नेह-युक्त, जिसमे बूंदें न टपकती हों, वैसा गीला
सह	१०।११	सह	सहने वाला
सह	९।३।६,८, १०।११	सह्	सहना
सहाय	चू०२।१०	सहाय	सहारा
सहेउ	९।३।६	सोढुम्	सहन करने के लिये
सहेत्तु	३।१४	सहित्वा	सहन करके
साइ	चू०१।सू०१	साचि	माया-प्रधान
साइम	४।सू०१६, ५।१।४७,४९,५१,५३,५७, ५९,६१, ५।२।२७, १०।८,९	स्वाद्य	मेवा आदि

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सागर	६।३।१४	सागर	समुद्र
सागरोवम	चू०१।श्लो०१५	सागरोपम	दश कोडा कोडि पल्योपम परिमितकाल
साण	५।१।१२,२२	श्वन्	कुत्ता
	७।१६	,,	अपमान-सूचक शब्द
साणी	५।१।१८	शाणी	सन की वनी हुई चिक
सामत	५।१।६,११	सामन्त	निकट
सामणिय	७।५६,१०।१४	श्रामण्य	साधुत्व
सामण्ण	२।१,४।२८,५।१।१०,५।२।३०, चू०१।श्लो०६		,,
सामण्णपुव्वय	२	श्रामण्यपूर्वक	दशवैकालिक का दूसरा अध्ययन
सामिणी	७।१६	स्वामिनी	पूजनीया स्त्री
सामिय	७।१६	स्वामिक	पूजनीय व्यक्ति
सामुद्द	३।८	सामुद्र	समुद्र का नमक
साय	४।२६	सात	सुख
सायग	४।२६	स्वादक, शायक	स्वाद लेने वाला, सोने वाला
सारक्ख	५।२।३६	सरक्षत्	रक्षा करता हुआ
सारिस	चू०१।श्लो०१०	सदृश	समान
साला	७।३१	शाला	शाखा
सालुय	५।२।१८	शालूक	कमल का कन्द
सावज्ज	६।३६,६६,७।४०,४१,५४,चू०१।सू०१	सावद्य	पाप-सहित
सासय	४।२५,६।४।श्लो०७	शाश्वत	ध्रुव
सासय	७।४	स्वाशय	अपना अभिप्राय
सासवनालिआ	५।२।१८	सर्षपनालिका	सरसो की नाल
साहट्टु	५।१।३०	संहृत्य	लाकार
साहण	५।१।६२	साधन	साधन
साहम्मिय	१०।६	साधर्मिक	समान आचार वाला साधु, संविभागी साधु
साहस	६।२।२२	साहस	उतावली करने वाला
साहा	४।सू०२१,६।३७,८।६,६।२।१	शाखा	डाल
साहारण	चू०१।सू०१	साधारण	सामान्य
साहीण	२।३	स्वाधीन	स्वतन्त्र
साहु	१।३,५;५।१।५,६२,६४,६५,६६;५।२।४३, ६।१२,७।४८,४६,८।५२,६।३।११,चू०२।४	साधु	मुनि
सिअ	४।सू०२१	सित	श्वेत चवर
सिगवेर	३।७,५।१।७०	श्रृंगवेर	अदरक

मूल शब्द	स्थल	सस्कृत रूप	शब्दार्थ
सिंघाण	८।१८	शिङ्घाण	नाक का मैल
सिंच	८।३६	सिच्	सीचना
सिंधव	३।८	सैन्धव	सिन्ध के पहाड की तलहटी मे होने वाला खनिज नमक
सिंबलि	५।१।७३	शिम्बी	सेमल की फली
सिक्ख	७।१,६।१।१,१२	शिक्षय्	सीखना
सिक्खमाण	६।२।१४	शिक्षमाण	सीखता हुआ
सिक्खा	६।३,६।२।१२,२१	शिक्षा	शिक्षा
सिक्खिऊण	५।२।५०	शिक्षित्वा	सीखकर
सिग्घ	६।२।२	श्लाघ्य	प्रशसनीय
सिज्झ	३।१४	सिध्	सिद्ध होना
सिणाण	३।२,५।१।२५,६।६०	स्नान	स्नान
	६।६३	,,	स्नान करने का एक गध-चूर्ण
सिणाय	६।६२	स्ना	स्नान करना
सिणायत	६।६१	स्नात्	स्नान करता हुआ
सिणेह	८।१५	स्नेह	अत्यन्त सूक्ष्म जलकण
सित्त	६।२।१२	सिक्त	सीचा हुआ
सिद्ध	४।२५,६।४।श्लो०७	सिद्ध	मुक्त
सिद्धि	४।२४,२५,६।६८;६।१।१७	सिद्धि	मोक्ष
सिद्धिमग्ग	३।१५,८।३४	सिद्धिमार्ग	मुक्ति का मार्ग
सिप्प	६।२।१३,१५	शिल्प	कला आदि कर्म, कारीगरी
सिया	२।४,५।१।२८,४०,७४,८२,८४,५।२।१२, ३१,३३,६।१८,५२,७।२८;८।३,२५,४७, ६।१।७,६	स्यात्	कदाचित्
सिर	६।१।८,१२	सिरस्	माथा
सिरी	६।२।४,चू०१श्लो०१२	श्री	लक्ष्मी
सिला	४।१८,५।१।६५,८।४	शिला	चट्टान
	८।६	,,	ओला
सिलेस	५।१।४५	श्लेष	चपडी आदि संधायक द्रव्य
सिलोग	६।४।सू०४,५,६,७;चू०१सू०१	श्लोक	श्लोक, छन्द का एक भेद
	६।४।सू०६,७	,,	प्रशसा
सिव	७।५१	शिव	शिव
सिहि	६।१।३	शिखिन्	अग्नि

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सीईभूय	८।५६	शीतीभूत	प्रशान्त
सीओदय	६।५१,८।६,१०।२	शीतोदक	ठण्डा पानी
सीय	६।६२,७।५२,८।२७	शीत	ठण्डा
सील	६।१।१४,१६	शील	शील
सीस	४।सू०२३;६।१।६	शीर्ष	माथा
सीह	६।१।८,६	सिंह	सिंह
सु	८।५४	सु	श्रेष्ठ
सुअलंकिय	८।५४	स्वलंकृत	आभूषण से सुसज्जित
सुइ	८।३२	शुचि	पवित्र
सुउद्धर	६।३।७	सूद्धर	जो सुविधापूर्वक निकाला जा सके
सुए	१०।८	श्वस्	आगामी दिन
सुकड	७।४१	सुकृत	बहुत अच्छा किया
सुक्क	५।१।६८	शुष्क	सूखा
सुक्कीय	७।४५	सुक्रीत	अच्छा खरीदा हुआ
सुगंध	५।२।१	सुगन्ध	प्रिय गन्ध वाला
सुग्गइ	४।२६,२७	सुगति	सुगति
सुछिन्न	७।४१	सुछिन्न	बहुत अच्छा छेदा हुआ
सुट्ठिअप्प	३।१;६।१।३	सुस्थितात्मन्	संयम मे स्थिर आत्मा वाला
सुण	५।१।४७,५।२।३७,४३,६।४,६;६।१।२०	श्रु	सुनाना
सुणित्तु	चू०२।१	श्रुत्वा	सुनकर
सुतित्था	७।३६	सुतीर्था	अच्छे घाट वाली
सुतोसअ	५।२।३४	सुतोषक	सहजतया तृप्त होने वाला
सुत्त	४।सू०१८ से २३;६।१।८	सुप्त	सोया हुआ
सुत्त	१०।१५,चू०२।११	सूत्र	आगम
सुदंसण	चू०१।श्लो०१७	सुदर्शन	मेरु पर्वत
सुदुल्लह	५।२।४८	सुदुर्लभ	अत्यन्त दुर्लभ
सुद्ध	५।१।५६	शुद्ध	निर्दोष
सुद्धपुढवी	८।५	शुद्ध पृथ्वी	सचित्त पृथ्वी, जो विरोधी शस्त्र विकार-प्राप्त न हो
सुद्धागणि	४।सू०२०	शुद्धाग्नि	इन्धन-रहित अग्नि, धूम और ज्वाला- अग्नि
सुद्धोदग	४।सू०१६	शुद्धोदक	अन्तरिक्ष-जल
सुनिट्ठिय	७।४१	सुनिष्ठित	बहुत अच्छा निष्पन्न हुआ
सुनिसिय	१०।२	सुनिशित	तीक्ष्ण

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सुपक्क	७।४१	सुपक्व	बहुत अच्छा पकाया
सुपन्नत्त	४।सू०१ से ३	सुप्रज्ञप्त	सम्यक् आचरित
सुप्पणिहिदिय	५।२।५०	सुप्रणिहितेन्द्रिय	समाहित इन्द्रिय वाला
सुभासिय	२।१०,६।१।१७,६।३।१४	सुभाषित	सुभाषित
सुमिण	८।५०	स्वप्न	स्वप्न-फल
सुय	४।सू०१,८।२०,२१,६।४।सू०१, चू०२।१	श्रुत	सुना हुआ
	८।३०,६३,६।१।३,१४,१६,६।२।२,६।४। सू०३,५श्लो०३,१०।१६	,,	आगम
सुयक्खाय	४।सू०१,२,३	स्वाख्यात	भलीभाति कहा हुआ
सुयग्गाहि	६।२।१६	श्रुत-ग्राहिन्	आगम-ज्ञान पाने का इच्छुक
सुयत्थधम्म	६।२।२३	श्रुतार्थधर्मन्	गीतार्थ, बहुश्रुत
सुयसमाहि	६।४।सू०३,५,६।४।सू०५श्लो०३	श्रुत-समाधि	ज्ञान के द्वारा होने वाला आत्मिक स्वास्थ्य
सुर	६।१।१४	सुर	देवता
सुरक्खिय	चू०२।१६	सुरक्षित	सुरक्षा किया हुआ
सुरा	५।२।३६	सुरा	अनाज के पिष्ट (चूर्ण) से बना हुआ मद्य
सुरुट्ठ	६।१।५	सुरुष्ट	रूठा हुआ
सुलट्ठ	७।४१	सुलष्ट	बहुत सुन्दर
सुलभ	चू०१।श्लो०१४	सुलभ	सुलभ
सुविक्कीय	७।४५	सुविक्रीत	अच्छा बेचा हुआ
सुविणीय	६।२।६,६,११	सुविनीत	सुविनीत
सुविसुद्ध	६।४।श्लो०६	सुविशुद्ध	अत्यन्त शुद्ध
सुविहिय	चू०२।३	सुविहित	जिसका आचरण विधि-विधान सम्मत हो
सुसतुट्ठ	८।२५	सुसन्तुष्ट	सन्तुष्ट
सुसवुड	१०।७	सुसवृत	सवर-युक्त
सुसमाउत्त	६।३	सुसमायुक्त	दत्तचित्त
सुसमाहिइदिय	७।५७	सुसमाहितेन्द्रिय	वह व्यक्ति जिसकी इन्द्रियाँ पवित्र हो
सुसमाहिय	३।१२,५।१।६,६।२६,२६,४०,४३,८।४, ६।४।श्लो०६,१०।१५,चू०२।१६	सुसमाहित	समाधि-युक्त चित्त वाला
सुस्सूस	६।१।१७,६।४।सू०४	शुश्रूष्	सेवा करना
सुस्सूसमाण	६।३।१,२	शुश्रूषमाण	सेवा करता हुआ
सुस्सूसा	६।२।१२	शुश्रूषा	सेवा
सुह	४।२६,६।२।६,६, ११,१०।११,चू०२।३	सुख	सुख

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सुहड	७।४१	सुहृत	बहुत अच्छा हरण किया हुआ
सुहर	८।२५	सुभर	अल्पाहार से तृप्त होने वाला
सुहावह	६।३;६।४।श्लो०६	सुखावह	हितकर
सुहि	२।५	सुखिन्	सुखी
सुहुम	४।सू०११,६।२३,६१,८।१३,१४,१५	सूक्ष्म	सूक्ष्म
सूइय	५।१।६८	सूपिक	मसालायुक्त, व्यजन
सूइया	५।१।१२	सूतिका	नव प्रसूत
सूर	८।६१	शूर	सुभट योद्धा
से	४।सू०६,११ से १६, १८ से २३	देशी अव्यय	वाक्य का उपन्यास
सेज्जा	५।१।८७,५।२।२,६।४७,८।१७,५२, ६।२।१७,६।३।५,चू०२।८	शय्या	उपाश्रय
	४।सू०२३	,,	शरीर-प्रमाण बिछौना
सेज्जायर पिंड	३।५	शय्यातर पिंड	साधु जिसके घर मे रहें, उसका आहार
सेट्ठि	चू०१।श्लो०५	श्रेष्ठिन्	सेठ
सेडिया	५।१।३४	सेटिका	खडिया मिट्टी
सेणा	८।६१	सेना	सेना
सेय	२।७,४।सू०१,२,३	श्रेयस्	कल्याण
सेव	४।सू०१४,५।२।३४,८।६	सेव्	सेवन करना
सेवत	४।सू०१४	सेवमान	सेवा करता हुआ
सेविय	६।३७,६६	सेवित	सेवा पाया हुआ
सेलेसी	४।२३,२४	शैलेशी	मेरु पर्वत की भाँति अडोल, अयोगी अवस्था
सेस	५।१।३६,चू०२।१२	शेष	बचा हुआ
सोउमल्ल	२।५	सौकुमार्य	सुकुमारता
सोअ	५।२।६	शुच्	सोच करना
सोंडिया	५।२।३८	शौण्डिता	मदिरा-पान की आसक्ति, उन्मत्तता
सोक्ख	८।२६,चू०१।श्लो०११	सौख्य	सुखकर
सोग्गइ	५।१।१००,८।४३	सुगति	सुगति
सोच्चा	२।१०,४।११,५।१।५६,७६	श्रुत्वा	सुनकर
सोच्चाण	६।१।१७,६।३।१४	,,	,,
सोच्चाण	८।२५	,,	,,
सोय	६।२।३	स्रोतस्	प्रवाह
सोरट्ठिया	५।१।३४	सौराष्ट्रिका	सौराष्ट्र की मिट्टी, गोपी चन्दन
सोवक्केस	चू०१।सू०१	सोपक्लेश	कष्ट या चिन्तापूर्ण

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
सोवच्चल	३।८	सौवर्चल	सचल नमक
सोह	६।१।१५	शुभ्	शोभित होना
सोहि	५।२।५०	शोधि	शुद्धि

ह

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
ह	चू०१।सू०१	हम्	सवाधक अव्यय
हदि	६।४	देशी	आमत्रण अर्थक अव्यय
हड	२।६	हढ	जलकुम्भी, एक जलज वनस्पति
हण	६।६,८।३८	हन्	मारना
हत्थ	४।सू०१८,२१	हस्त	समूह, हाथा
	४।सू०२१,२३,५।१।३२,३५,३६,६८, ८५,८।४४,५५,१०।१५	,,	हाथ
हत्थग	५।१।७८	हस्तक	हाथ
	५।१।८३	,,	मुख-वस्त्रिका
हत्थि	चू०१।श्लो०७	हस्तिन्	हाथी
हय	५।१।१२,६।२।५,६,चू०१।सू०१	हय	घोडा
हय	१०।१३	हत	पीटा गया
हरतणुग	४।सू०१६	देशी	भूमि को भेदकर निकले हुए जल-विन्दु
हरिय	४।सू०२२,५।१।३,२६,२९,५७,५।२।१९, ८।११,१५,१०।३	हरित	दूव आदि घास
हरियाल	५।१।३३	हरिताल	हरताल
हल	७।१६	हल	मित्र को सम्बोधित करने का एक शब्द
हला	७।१६	हला	सखी को सम्बोधित करने का एक शब्द
हव	८।२४,२९,६।३।७,१०।१,६,१३; चू०१।श्लो०१७,चू०२।७	भू	होना
हव्ववाह	६।३४	हव्यवाह	अग्नि
हसंत	५।१।१४	हसत्	हँसता हुआ
हस्सकुहल	१०।२०	हास्यकुहक	हँसाने के लिये कुतूहल पूर्ण चेष्टा करने वाला
हाअ	८।३५,४०	हा	क्षीण होना
हाणि	चू०२।६	हानि	हानि
हाल्हल	६।१।७	हलाहल	तीव्र
हाव	८।४०		
हास	४।सू०१२		

मूल शब्द	स्थल	संस्कृत रूप	शब्दार्थ
हासमाण	७।५४	हसत्	हसता हुआ
हिंगुलय	५।१।३३	हिंगुलक	हिंगुल
हिंस	४।श्लो०१,५।१।१५;६।२६,२७,२६,३०, ४०,४१,४३,४४,८।१२	हिंस्	हिंसा-कारक
हिंसग	६।११	हिंसक	हिंसा करना
हिम	४।सू०१६,८।६	हिम	पाला, तुषार
हिय	४।मू०१७;५।१।६४,७।५६,८।३६,४३, ६।४।सू०४श्लो०२; ६।४।श्लो०६,१०।२१	हित	हित, सुख
हीणपेसण	६।२।२३	हीनप्रेषण	गुरु की आज्ञा का यथासमय पालन करने वाला
हील	६।१।२,६।३।११,चू०१श्लो०१२	हेलय्	अवज्ञा करना
हीलणा	६।१।७,६	हीलना	अवज्ञा, निन्दा
हीलयत	६।१।४	हीलयत्	अवज्ञा करता हुआ
हीलिय	६।१।३	हीलित	तिरस्कृत
हु	२।३	खलु	निश्चय
हे	७।१६	हे	सम्बोधन
हेउ	५।१।६२,६।२।२०;६।४।सू०७	हेतु	कारण
हेट्ठ	चू०१।श्लो०१३	अधस्	नीचा
हेमत	३।१२	हेमन्त	हेमन्त ऋतु
हो	२।५,८,४।श्लो०१ से ६;४।२५,५।१।६, ५७,५६,८०,६१,६४;५।२।१२,३२, ६।६०; ७।२६,५०,५१; ८।१।१४, १०।४, चू०१।सू०१; चू०१।श्लो०२ से ६, चू०२।४	भू	होना
हो	७।१६	हो	सम्बोधन-सूचक
होउकाम	चू०२।२	भवितुकाम	मुक्त होने की इच्छा वाला
होयव्वय	८।३	भवितव्य	होना
होल	७।१४,१६	देशी	पु०, अपमान-सूचक शब्द
होला	७।१६	देशी	स्त्री०, अपमान-सूचक शब्द

*

परिशिष्ट-२

टिप्पणि-अनुक्रमणिका

टिप्पणियों का अनुक्रम

परिशिष्ट-३

पदानुक्रमणिका

पदानुक्रमणिका

परिशिष्ट-४

सूक्त और

को कर या प्राप्त कर और उनका भावार्थ अगस्त्य चूर्णि के अनुसार 'अपने ऊरु से गुरु के ऊरु का स्पर्श कर'[1] तथा जिनद टीका के अनुसार 'ऊरु पर ऊरु रखकर'[2] इन शब्दों में है।

उत्तराध्ययन (१.१८) में 'न जुंजे ऊरुणा ऊरु' पाठ है। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार ने अगस्त्य चूर्णि के शब्द सरण किया है[3]। शान्त्याचार्य ने भी इसका अर्थ—'गुरु के ऊरु से अपना ऊरु न सटाए'[4]—किया है। इनके द्वारा भी के आशय की पुष्टि होती है।

श्लोक ४६ :

१२५. बिना पूछे न बोले (अपुच्छिओ न भासेज्जा क) :

यहाँ निष्प्रयोजन—बिना पूछे बोलने का वर्जन है, प्रयोजनवश नहीं[5]।

१२६. बीच में (भासमाणस्स अंतरा ख) :

'आपने यह कहा था, यह नहीं' इस प्रकार बीच में बोलना असभ्यता है, इसलिए इसका निषेध है[6]।

१२७. चुगली न खाए (पिट्ठिमंसं न खाएज्जा ग) :

परोक्ष में किसी का दोष कहना—'पृष्ठिमांसभक्षण' अर्थात् चुगली खाना कहलाता है[7]।

१२८. कपटपूर्ण असत्य का (मायामोसं घ) :

'मायामृषा' यह संयुक्त शब्द है। 'माया' का अर्थ है कपट और 'मृषा' का अर्थ है असत्य। असत्य बोलने से प प्रयोग अवश्य होता है। जो व्यक्ति असत्य बोलता है वह अयथार्थता को छिपाने के लिए अपने भावों पर भाषा का आवरण डालने का यत्न करता है जिससे सुनने वाले लोग उसकी बात को यथार्थ मान लें, इसलिए चिन्तनपूर्वक जो असत्य बो उसके लिए 'मायामृषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है[8]। इसका दूसरा अर्थ कपट-सहित असत्य वचन भी किया जाता है

१—अ० चू० : ऊरुणा ऊरुगेण सघट्टेऊण एवमवि ण चिट्ठे।

२—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'ण य ऊरु समासिज्जा' णाम ऊरुणा ऊरुस्स उवरिं काऊण ण गुरुसगासे चिट्ठेज्जत्ति।
(ख) हा० टी० प० २३५ : न च 'ऊरु समाश्रित्य' ऊरोरुपर्यूरु कृत्वा तिष्ठेद्गुर्वन्तिके, अविनयादिदोषप्रसङ्गात्।

३—उत्त० चू० पृ० ३५ : ऊरुगामूलेण सघट्टेऊण एवमवि ण चिट्ठेज्जा।

४—उत्त० बृ० वृ० १.१८ 'न युज्यात्' न सङ्घट्टयेद् अत्यासन्नोपवेशादिभि, 'ऊरुणा' आत्मीयेन, 'ऊरु' कृत्य-सबन्धि करणेऽत्यन्ताविनयसम्भवात्।

५—(क) जि० चू० पृ० २८८ : 'अपुच्छिओ' णिक्कारणे ण भासेज्जा।
(ख) हा० टी० प० २३५ : अपृष्टो निष्कारणं न भाषेत।

६—जि० चू० पृ० २८८ : भासमाणस्स अतरा ण कुज्जा, जहा ज एय ते भणित एय न।

७—(क) जि० चू० पृ० २८८ ज परंमुहस्स अवण्णोलिज्जइ त तस्स पिट्ठिमसभक्खण भवइ।
(ख) हा० टी० प० २३५ : 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपम्।

८—जि० चू० पृ० २८८ : मायाए सह मोस मायामोस, न मायामंतरेण मोसं भासइ, कह ?, पुव्विं भास कुडिलीकरेइ पच्छा भ

९—(क) जि० चू० पृ० २८८ : अहवा ज मायासहिय मोस।
(ख) हा० टी० प० २३५ : मायाप्रधानां मृषावाचम्।

श्लोक ४७ :

१२९. सर्वथा (सव्वसो ग) :

सर्वशः अर्थात् सब प्रकार से—सब काल और सब अवस्थाओं में[1]।

श्लोक ४८ :

१३०. आत्मवान् (अत्तवं घ) :

'आत्मा' शब्द (१) स्व, (२) शरीर और (३) आत्मा—इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। सामान्यतः जिसमें आत्मा है उसे 'आत्मवान्' कहते हैं[2]। किन्तु अध्यात्म-शास्त्र में यह कुछ विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्रमय हो, उसे 'आत्मवान्' कहा जाता है[3]।

१३१. दृष्ट (दिट्ठं क) :

जिस भाषा का विषय अपनी आँखों से देखा हो, वह 'दृष्ट' कहलाती है[4]।

१३२. परिमित (मियं क) :

उच्च स्वर से न बोलना और जितना आवश्यक हो उतना बोलना[5]—यह 'मितभाषा' का अर्थ है।

१३३. प्रतिपूर्ण (पडिपुन्नं ख) :

जो भाषा स्वर, व्यञ्जन, पद आदि सहित हो, वह 'प्रतिपूर्णभाषा' कहलाती है[6]।

१३४. परिचित (वियंजियं ख) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका में 'वियं जिय' इन शब्दों को पृथक् मानकर व्याख्या की गई है। 'वियं' का अर्थ व्यक्त है[7]।

१—जि० चू० पृ० २८९ : सव्वसो नाम सव्वकाल सव्वावत्थासु।

२—(क) हा० टी० प० २३६ : 'आत्मवान्' सचेतन इति।

(ख) जि० चू० पृ० २८९ : अत्तव नाम अत्तवति वा विन्नवति वा एगट्ठा।

३—अ० चू० : नाणदसणचरित्तमयो जस्स आया अत्थि, सो अत्तव।

४—(क) जि० चू० पृ० २८९ : दिट्ठं नाम ज चक्खुणा सय उवलद्धं।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'दृष्टां' दृष्टार्थविषयाम्।

५—(क) अ० चू० : अणुच्चं कज्जमेत्त च मित।

(ख) जि० चू० पृ० २८९ : मित दुविह—सद्दओ परिमाणओ य, सद्दओ अणउच्च उच्चारिज्जमाणं मितं, परिमाणओ कज्जमेत्तं उच्चारिज्जमाण मितं।

(ग) हा० टी० प० २३५ 'मितां' स्वरूपप्रयोजनाभ्याम्।

६—(क) जि० चू० पृ० २८९ : पडुप्पन्नं णाम सरवजणपयादीहि उववेअ।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'प्रतिपूर्णां' स्वरादिभिः।

७—(क) अ० चू० : विय व्यक्तं।

(ख) हा० टी० प० २३५ : 'व्यक्ताम्' अलक्षाम्।

अगस्त्यसिंह स्थविर ने 'जिय' का अर्थ मोह उत्पन्न करने वाली अर्थात् स्मृत भाषा[1] और टीकाकार ने परिचित भाषा किया है[2]। 'व्यक्त' का प्राकृत रूप 'वत्त' या 'वियत्त' बनता है। उसका 'विय' रूप बहुत प्राचीन होना चाहिए। यजुर्वेद में व्यक्त करने के अर्थ में 'विव' शब्द का प्रयोग हुआ है[3]। सम्भव है यह 'विव' ही आगे चल कर 'विव' बन गया हो।

जिनदास महत्तर 'वियजिय' को एक शब्द मानते हैं। उनके अनुसार इसका अर्थ-तथ्य है[4]। अनुयोगद्वार के आधार पर 'वियजिय' की एक कल्पना और हो सकती है। वहाँ 'सिक्खित ठित जित मित परिजित' ये पाँच शब्द एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। जो पद लिया जाता है उस पद को 'शिक्षित', जिस शिक्षित पद की विस्मृति नहीं होती उसे 'स्थित', जो पद परिवर्तन करते समय या किसी के पूछने पर शीघ्र याद आ जाए वह 'जित', जिसके श्लोक, पद और वर्ण आदि की संख्या जानी हुई हो वह 'मित' तथा परिवर्तन करते समय जिसे क्रम या उत्क्रम से—किसी भी प्रकार से याद किया जा सके वह 'परिचित' कहलाता है[5]। दशवैकालिक का प्रस्तुत प्रकरण भी भाषा से सम्बन्धित है, इसलिए कल्पना की जा सकती है कि लिपि-भेद के कारण 'ठिय जिय' के स्थान पर 'वियजिय' ऐसा पाठ हो गया हो, जिसका होना बहुत सम्भव है। चूर्णिकार और टीकाकार के सामने वह परिवर्तित पाठ रहा है और वही उनके व्याख्या-भेद का हेतु बना है।

श्लोक ४६ :

१३५. श्लोक ४६ :

प्रस्तुत श्लोक में आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—ये तीनों शब्द द्व्यर्थक हैं। चूर्णि और टीका काल तक इनका अर्थ व्याकरण से सम्बन्धित रहा। आगे चल वह आगमों से सम्बन्धित हो गया। द्वादशाङ्गी में पहला अङ्ग आचार, पाँचवाँ प्रज्ञप्ति और बारहवाँ दृष्टिवाद है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ भाषा के विनयों—नियमों को धारण करने वाला किया है[6]। जिनदास महत्तर के अनुसार 'आचारधर' शब्दों के लिङ्ग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) को जानता है[7]। टीकाकार ने 'आचारधर' का अर्थ यही किया है। प्रज्ञप्तिधर का अर्थ लिङ्ग का विशेष जानकार और दृष्टिवाद के अध्येता का अर्थ प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, काल, कारक आदि व्याकरण के अङ्गों को जानने वाला किया है[8]। दीपिकाकार टीकाकार का अनुगमन करते हैं। अवचूरिकार ने आचारधर और प्रज्ञप्तिधर का अर्थ क्रमशः आचाराङ्गधर और भगवतीधर किया है। आचार, प्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद—इनका सम्बन्ध भाषा-कौशल से है, इसलिए कहा गया है कि आचार और प्रज्ञप्ति को धारण करने वाला तथा दृष्टिवाद को पढ़ने वाला बोलने में चूक जाए तो उसका उपहास न किया जाए।

प्रस्तुत श्लोक में सैद्धान्तिक भूल का प्रसङ्ग नहीं है किन्तु बोलते समय लिङ्ग, विभक्ति, कारक, काल आदि का विपर्यास हो जाए अर्थात् वाक्य-रचना में कोई त्रुटि आए, उसे सुनकर उपहास न करने का उपदेश है, इसलिए अवचूरिकार ने आचार और प्रज्ञप्ति

१—अ० चू० : जित न वा मोहकरं मणेकाकार।

२—हा० टी० प० २३५ : 'जितां' परिचिताम्।

३—अध्याय १३.३।

४—जि० चू० पृ० २८६ . 'वियजित' णाम वियजितति वा तत्थति वा एगट्ठा।

५—अनु० द्वा० पृ० १४।

६—अ० चू० : आयारधरो-भासेज्जा तेह विणीय भासा विणयो, विसेसेण पन्नति-धरो······एत वयणलिंगवण्णविवज्जासे ण अवधसे।

७—जि० चू० पृ० २८६ : आयारधरो इत्थिपुरिसणपुंसगलिंगाणि जाणइ।

८—हा० टी० प० २३६ : आचारधरः स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवभूतम्। तथा दृष्टिवादमधीयान प्रकृति-प्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

का जो अर्थ किया है, वह प्रकरणानुसारी नही लगता। प्रसङ्ग के अनुसार दिट्ठिवाय (दृष्टिपात या दृष्टिवाद) का अर्थ नयवाद या विभज्यवाद होना चाहिए। जो बात विभाग करके कही जानी चाहिए वह प्रमादवश अन्यथा कही जाए तो उपहास का विषय बन सकता है। प्रस्तुत श्लोक में उसका निषेध है। नदी (सू० ४१) में दृष्टिवाद का प्रयोग सम्यक्त्ववाद के अर्थ मे हुआ है जो नयवाद के अधिक निकट है। आचाराङ्ग और प्रज्ञप्ति का वर्तमान रूप भाषा के प्रयोग की कोई विशेष जानकारी नही देता। दृष्टिवाद में व्याकरण का समावेश होता है। सभव है आचार और प्रज्ञप्ति भी व्याकरण-ग्रन्थ रहे हों। दशवैकालिक निर्युक्ति में भी ये शब्द मिलते हैं :

"आयारे ववहारे पन्नत्ती चेव दिट्ठीवाए य।
एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ॥"

चूर्णिकार और टीकाकार ने आचार का अर्थ आचरण, प्रज्ञप्ति का अर्थ समझाना और दृष्टिवाद का अर्थ सूक्ष्म-तत्त्व का प्रतिपादन किया है[1]। चूर्णिकारों ने यहाँ इन्हें द्व्यर्थक नही माना है। टीकाकार ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए आचार आदि को शास्त्र-वाचक भी माना है[2]। स्थानाङ्ग में आक्षेपणी कथा के वे ही चार प्रकार बतलाए हैं जिनका उल्लेख निर्युक्ति की उक्त गाथा में हुआ है[3]। इसकी व्याख्या के शब्द भी हरिभद्रसूरि की उक्त व्याख्या से भिन्न नहीं हैं। अभयदेव सूरि ने मतान्तर का उल्लेख भी हरिभद्रसूरि के शब्दों में ही किया है। व्यवहार (३) के 'पन्नत्ति कुसले' की व्याख्या में वृत्तिकार ने प्रज्ञप्ति का अर्थ कथा किया है।

भाष्यकार यहाँ एक बहुत ही रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। क्षुल्लकाचार्य प्रज्ञप्ति-कुशल (कथा-कुशल) थे। एक दिन मुरुण्डराज ने पूछा—भगवन्! देवता गतकाल को कैसे नहीं जानते, इसे स्पष्ट कीजिए? राजा ने प्रश्न पूछा कि आचार्य यकायक खड़े हो गए। आचार्य को खडा होते देख राजा भी तत्काल खड़ा हो गया। आचार्य के पास क्षीराश्रवलब्धि थी। उन्होंने उपदेश प्रारंभ किया। उनकी वाणी मे दूध की मिठास टपक रही थी। एक प्रहर बीत गया। आचार्य ने पूछा—राजन्! तुझे खड़े हुए कितना समय हुआ है? राजा ने उत्तर दिया—भगवन्! अभी-अभी खड़ा हुआ हूँ। आचार्य ने कहा—एक प्रहर बीत चुका है। तू उपदेश-वाणी में आनन्द-मग्न हो गतकाल को नहीं जान सका, वैसे ही देवता भी गीत और वाद्य में आनन्द-विभोर होकर गतकाल को नहीं जानते। राजा अब निरुत्तर था[4]। इसके अनुसार प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—आचार[5] (वचन-नियमन) के शास्त्र का अभिज्ञ बोलने में स्खलित हुआ है—वचन, लिङ्ग और वर्ण का विपर्यास किया है—यह जानकर भी मुनि उसका उपहास न करे।

१३६. जानने वाला (अहिज्जगं ख) :

इसका संस्कृत रूप 'अधीयान' किया गया है[6]। चूर्णि और टीका का आशय यह है कि जो सम्पूर्ण दृष्टिवाद को पढ लेता है, वह भाषा के सब प्रयोगों का अभिज्ञ हो जाता है, इसलिए उसके बोलने में लिङ्ग आदि की स्खलना नहीं होती और जो वाणी के सब प्रयोगों को जानता है उसके लिए कोई शब्द अशब्द नहीं होता। वह अशब्द को भी सिद्ध कर देता है। प्रायः स्खलना वही करता है,

---

१—हा० टी० प० ११० : आचारो—लोचास्नानादिः व्यवहार-कथञ्चिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः प्रज्ञप्तिश्चैव—संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना दृष्टिवादश्च—श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथनम्।

२—हा० टी० प० ११० : अन्ये त्वभिदधति—आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति।

३—स्था० ४.२.२८२ : आयार अक्खेवणी ववहार अक्खेवणी पन्नत्ति अक्खेवणी दिट्ठिवात अक्खेवणी।

४—व्य० भा० ४.३ १४५-१४६।

५—अ० चू० : वयणनियमणमायारो।

६—(क) अ० चू० : दिट्ठिवादमधिज्जगं—दिट्ठिवादमज्झयणपरं।

(ख) हा० टी० प० २३६ : दृष्टिवादमधीयानं प्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकारकालकारकादिवेदिनम्।

जो दृष्टिवाद का अध्ययन पूर्ण नही कर पाता[1]। दृष्टिवाद को पढने वाला बोलने में चूक सकता है और उसे पढ चुका वह नहीं चूकता—इस आशय को ध्यान में रखकर चूर्णिकार और टीकाकार ने इसे 'अधीयान' के अर्थ में स्वीकृत किया है। किन्तु इसका संस्कृत रूप 'अभिज्ञक' होता है। अधीयान के प्राकृत रूप—'अहिज्जत' और 'अहिज्जमाण' होते हैं[2]।

१३७. बोलने में स्खलित हुआ है (वइविक्खलियं ग) :

वागुस्खलित का अर्थ है—बोलने में स्खलित होना। जिनदास चूर्णि में इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं[3]—कोई व्यक्ति 'घडा ला' के स्थान में 'घड़ा लाता हूँ' और 'सोमशर्मा' के स्थान में 'शर्मसोम' कहता है, यह वाणी की स्खलना है[4]।

श्लोक ५० :

१३८. श्लोक ५० :

कोई व्यक्ति नक्षत्र आदि के विषय में पूछे तो उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि 'यह हमारा अधिकार क्षेत्र नहीं है' इससे अहिंसा की सुरक्षा भी हो जाती है और अप्रिय भी नहीं लगता[5]।

१३९. नक्षत्र (नक्खत्तं क) :

कृत्तिका आदि जो नक्षत्र हैं उनके विषय में—आज चन्द्रमा अमुक नक्षत्र-युक्त है—इस प्रकार गृहस्थ को न बताए[6]।

१४०. स्वप्नफल (सुमिणं क) :

स्वप्न का शुभ-अशुभ फल बताना[7]।

१४१. वशीकरण (जोगं क) :

यहाँ योग का अर्थ है औषध[8] या खाद्य आदि पदार्थों के सयोग की विधि अथवा वशीकरण[9]। सयोग की विधि, जैसे—दो

१—(क) अ० चू० . अधीतसव्ववातो गतविसारदस्स नत्थि खलितं।

(ख) जि० चू० पृ० २८९ अधिज्जियगहणेण अधिज्जमाणस्स वयणखलणा पायसो भवइ, अधिज्जिए पुण निरवसेसे दिट्ठिवाए सव्व-पयोयजाणगत्तणेण अप्पमत्तणेण य वतिविक्खलियमेव नत्थि, सव्ववयोगतवियाणया असद्दमवि सद्द कुज्जा।

२—पाइयसद्दमहण्णवो पृ० १२१।

३—जि० चू० पृ० २८९ : वायविक्खलियं नाम विविधमनेगप्पगार वइण खलिय भण्णइ, जहा घढ आणेहित्ति (भाणियव्वे घढ आणेमित्ति) भणिय, पुव्वाभिहाण वा पच्छा उच्चारयइ, जहा सोमसम्मोत्ति भणियव्वे सम्मसोमोत्ति भणिय च, एवमादि वायविक्खलिय।

४—हा० टी० प० २३६ : 'वाग्विस्खलित ज्ञात्वा' विविधम्—अनेकैः प्रकारैर्लिङ्गभेदादिभि स्खलितम्।

५—हा० टी० प० २३६ . ततश्च तदप्रीतिपरिहारार्थमित्थं ब्रूयाद्—अनधिकारोऽत्र तपस्विनामिति।

६—जि० चू० पृ० २८९ ' गिहत्थाण पुच्छमाणाण णो णक्खत्त कहेज्जा, जहा चंदिमा अज्ज अमुकेण णक्खत्तेण जुत्तोत्ति।

७—(क) जि० चू० पृ० २८९ : सुमिणे अव्वत्तदसणे।

(ख) हा० टी० प० २३६ 'स्वप्न' शुभाशुभफलमनुभूतादि।

८—अ० चू० : जोगो ओसहसमवादो।

९—(क) जि० चू० पृ० २९० : अहवा निद्देसणवसीकरणाणि जोगो भण्णइ।

(ख) हा० टी० प० २३६ : 'योग' वशीकरणादि।

पल घी, एक पल मधु, एक आढक दही, बीस काली मिर्चे और दो भाग चीनी या गुड़—ये सब चीजें मिलाने से राजा के खाने योग्य 'रसालू' नामक पदार्थ बनता है[1]। वशीकरण अर्थात् मन्त्र, चूर्ण आदि प्रयोगों से दूसरों को अपने वश में करना।

१४२. निमित्त (निमित्तं [ख]) :

निमित्त का अर्थ है अतीत, वर्तमान और भविष्य-सबन्धी शुभाशुभ फल बताने वाली विद्या[2]।

१४३. मन्त्र (मंत [ख]) :

मन्त्र का अर्थ है देवता या अलौकिक शक्ति की प्राप्ति के लिए जपा जाने वाला शब्द या शब्द-समूह[3]।

१४४. जीवो की हिंसा के (भूयाहिगरणं [घ]) :

एकेन्द्रिय आदि भूत कहलाते हैं। उन पर संघट्टन, परितापन आदि के द्वारा अधिकार करना—उनका हनन करना, 'भूताधिकरण' कहलाता है[4]।

श्लोक ५१ :

१४५. अन्यार्थ-प्रकृत (दूसरों के लिए बने हुए) (अन्नट्ठं पगडं [क]) :

अन्यार्थ—प्रकृत अर्थात् साधु के अतिरिक्त किसी दूसरे के लिए बनाया हुआ[5]। यहाँ अन्यार्थ शब्द यह सूचित करता है कि जिस प्रकार गृहस्थों के लिए बने हुए घरों में साधु रहते हैं, उसी प्रकार अन्य तीर्थिकों के लिए निर्मित वसति में भी साधु रह सकते हैं[6]।

१४६. स्त्री और पशु से रहित (इत्थीपसुविवज्जियं [घ]) :

यहाँ स्त्री, पशु के द्वारा नपुसक का भी ग्रहण होता है। विवर्जित का तात्पर्य है जहाँ ये दीखते हों वैसे मकान में साधु को नहीं रहना चाहिए[7]।

१—जि० चू० पृ० २८९-२९० : जोगो जहा—दो घयपला मधु पल दहियस्स य आढयं मिरीय वीसा। खडगुला दो भागा एस रसालू निवइजोगो।

२—(क) जि० चू० पृ० २९० : निमित्त तीतादी।
(ख) हा० टी० प० २३६ : 'निमित्त' अतीतादि।

३—(क) जि० चू० पृ० २९० मंतो—असाहणो 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण'मितिकाउं विज्जा गहिता।
(ख) हा० टी० प० २३६ : 'मन्त्रं' वृश्चिकमन्त्रादि।

४—(क) अ० चू० : भूताणि उपरोधक्रियाए अधिकयते जम्मि त भूताधिकरणं।
(ख) जि० चू० पृ० २९० : भूताणि—एगिंदियाईणि तेसिं संघट्टणपरितावणादीणि अहिय कीरति जमि तं भूताधिकरणं।
(ग) हा० टी० प० २३६ : भूतानि-एकेन्द्रियादीनि संघट्टनादिनाऽधिक्रियतेऽस्मिन्निति।

५—हा० टी० प० २३६ : 'अन्यार्थं प्रकृत' न साधुनिमित्तमेव निर्वर्त्तितम्।

६—जि० चू० पृ० २९० : अन्नट्ठगहणेण अन्नउत्थिया गहिया, अट्ठाए नाम अन्ननिमित्तं, पगडं पकप्पिय भण्णइ।

७—(क) जि० चू० पृ० २९० : तहा इत्थीहिं विवज्जिय पसूहि य महीछट्टियएडगगवादीहिं, 'एगग्गहणे गहण तज्जातीयाण'मितिकाउं णपुसगविवज्जियंपि, विवज्जिय नाम जत्थ तेसिं आलोयमादीणि णत्थि तं विवज्जियं भण्णइ, तत्थ आतपरसमुत्था दोसा भवतित्ति-काउं ण ठाइयव्वं।
(ख) हा० टी० प० २३७ : स्त्रीपशुपण्डकविवर्जितं स्त्र्याद्यालोकनादिरहितम्।

१४७. गृह (लयणं क) :

'लयन' का अर्थ है पर्वतों में उत्खनित पाषाण-गृह। जिसमें लीन होते हैं, उसे लयन कहा जाता है[1]। लयन और घर एक अर्थ वाले हैं[2]।

श्लोक ५२ :

१४८. केवल स्त्रियों के बीच व्याख्यान न दे (नारीणं न लवे कहं ख) :

'नारीणं' यह षष्ठी का बहुवचन है। इसके अनुसार इस चरण का अर्थ होता है—स्त्रियों की कथा न कहे अथवा स्त्रियों को कथा न कहे। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—मुनि जहाँ विविक्त-शय्या में रहता है वहाँ अपनी इच्छा से आई हुई स्त्रियों को श्रृङ्गार-सम्बन्धी कथा न कहे[3]। जिनदास चूर्णि और टीका में इसका अर्थ है—मुनि स्त्रियों को कथा न कहे[4]। हरिभद्र ने इस अर्थ का विचार करते हुए लिखा है—औचित्य देखकर पुरुषों को कथा कहनी चाहिए और स्थान अविविक्त हो तो स्त्रियों को भी कथा कहनी चाहिए[5]। स्थानाङ्ग सूत्र के वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों के वर्णन में 'नो इत्थीण कहं कहेत्ता भवइ' के दो अर्थ किए हैं—(१) केवल स्त्रियों को कथा न कहे (२) स्त्रियों के रूपादि से सम्बन्ध रखने वाली कथा न कहे[6]। समवायाङ्ग सूत्र की वृत्ति में उनने 'स्त्रियों को कथा न कहे'—ऐसा एक ही अर्थ माना है[7]।

मूल आगम में इसका एक अर्थ और भी मिलता है—नारीजनों के मध्य में शृंगार और करुणापूर्वक कथा नहीं करनी चाहिए[8]। अगस्त्यसिंह स्थविर का अर्थ इसीका अनुगामी है और आगे चल कर उन्होंने 'स्त्रियों को कथा न कहे'—यह अर्थ भी मान्य किया है।

देखिए अगले श्लोक का पाद-टिप्पण।

१४९. गृहस्थों से परिचय न करे,...साधुओं से करे (गिहिसंथवं न कुज्जा ग ...साहूहिं संथवं घ) :

संस्तव का अर्थ संसर्ग या परिचय है। स्नेह आदि दोषों की संभावना को ध्यान में रखकर गृहस्थ के साथ परिचय करने का निषेध किया है और कुशल-पक्ष की वृद्धि के लिए साधुओं के साथ संसर्ग रखने का उपदेश दिया है[9]।

१—(क) अ० चू० लीयते जम्मि त लेण णिलयणमाश्रय।
(ख) हा० टी० प० २३६ : 'लयन' स्थान वसतिरूपम्।

२—जि० चू० पृ० २९० . लयण नाम लयणति वा गिहति वा एगट्ठा।

३—अ० चू० : तत्थजतिच्छोवगताण वि नारीणं सिंगारातिगविसेसे ण कधे कह।

४—(क) जि० चू० पृ० २९० : तीए विवित्ताए सेज्जाए णारीण णो कहं कहेज्जा, किं कारण ?, आतपरसमुत्था बंभचेरस्स दोसा भवतित्तिकाउ।
(ख) हा० टी० प० २३७ 'विविक्ता च' तदन्यसाधुभी रहिता च, चशब्दात्तथाविधभुजङ्गप्रायैकपुरुषयुक्ता च भवेच्छय्या-वसतिर्यदि ततो 'नारीणां' स्त्रीणां न कथयेत्कथां शङ्कादिदोषप्रसङ्गात्।

५—हा० टी० प० २३७ : औचित्यं विज्ञाय पुरुषाणां तु कथयेत्, अविविक्तायां नारीणामपीति।

६—स्था० ८ ३.६६३ प० ४२२ वृ० : नो स्त्रीणां केवलानामिति गम्यते 'कथां' धर्मदेशनादिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपां यदि वा—'कर्णाटी सुरतोपचारकुशला, लाटी विदग्धप्रिया' इत्यादिकां प्रागुक्तां वा जात्यादिचातूरूपां कथयिता—तत्कथको भवति ब्रह्मचारीति।

७—सम० वृ० प० १५ : नो स्त्रीणां कथा कथयिता भवतीति।

८—प्रश्न० संवरद्वार ४ : 'वितिय नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता..........।

९—हा० टी० प० २३७ : 'गृहिसंस्तवं' गृहिपरिचयं न कुर्यात् तत्स्नेहादिदोषसंभवात्। कुर्यात्साधुभि सह 'संस्तवं' परिचयं, कल्याण-मित्रयोगेन कुशलपक्षवृद्धिभावत।

श्लोक ५३ :

१५०. श्लोक ५३ :

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! विविक्त-स्थान में स्थित मुनि के लिए किसी प्रकार आई हुई स्त्रियों को कथा कहने का निषेध है—इसका क्या कारण है ?

आचार्य ने कहा—वत्स ! तुम सही मानो, चरित्रवान् पुरुष के लिए स्त्री बहुत बड़ा खतरा है।

शिष्य ने पूछा, कैसे ? इसके उत्तर में आचार्य ने जो कहा वही इस श्लोक में वर्णित है[1]।

१५१. बच्चे को (पोयस्स क) :

पोत अर्थात् पक्षी का बच्चा जिसके पंख न आए हों[2]।

१५२. स्त्री के शरीर से भय होता है (इत्थीविग्गहओ भयं घ) :

विग्रह का अर्थ शरीर है[3]। 'स्त्री से भय है' ऐसा न कहकर 'स्त्री के शरीर से भय है' ऐसा क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर है—ब्रह्मचारी को स्त्री के सजीव शरीर से ही नहीं, किन्तु मृत शरीर से भी भय है, यह बताने के लिए स्त्री के शरीर से भय है—यह कहा है[4]।

श्लोक ५४ :

१५३. चित्र-भित्ति (चित्तभित्तिं क) :

जिस भित्ति पर स्त्री अङ्कित हो, उसे यहाँ 'चित्र-भित्ति' कहा है[5]।

१५४. आभूषणों से सुसज्जित (सुअलंकियं ख) :

सु-अलंकृत अर्थात् हार, अर्धहार आदि आभूषणों से सज्जित[6]।

१—अ० चू० : को पुण निबंधो ज विवित्तलयणत्थितेणावि
कहचि उपगताण नारीण कहा ण कप्पणीया।
भणति, वत्स ! णणु चरित्तवतो महाभयमिद
इत्थी णाम, कहं—'जहा कुक्कड'॥

२—जि० चू० पृ० २९१ : पोतो णाम अपक्खजायओ।

३—(क) जि० चू० पृ० २९१ : विग्गहो सरीर भण्णइ।
(ख) हा० टी० प० २३७ : 'स्त्रीविग्रहात्' स्त्रीशरीरात्।

४—(क) जि० चू० पृ० २९१ : आह—इत्थीओ भयति भाणियव्वे ता किमत्थ विग्गहग्गहणं कयं ?, भण्णइ, न केवल सजीवइत्थी-समीवाओ भयं, किन्तु वत्रगतजीवाएवि सरीरं ततोऽवि भयं भवइ, अओ विग्गहगहण कयंति।
(ख) हा० टी० प० २३७ : विग्रहग्रहणं मृतविग्रहादपि भयख्यापनार्थमिति।

५—(क) अ० चू० : जत्थ इत्थी लिहिता तहाविधं चित्तभित्तिं……।
(ख) जि० चू० पृ० २९१ : जाए भित्तीए चित्तकया नारी त चित्तभित्तिं।

६—(क) जि० चू० पृ० २९१ : जीवतिं च जाहे सोभणेण पगारेण हारद्धहाराईहिं अलंकिया दिट्ठा भवइ ताहे तं नारिं सुयलकियं तं।
(ख) हा० टी० प० २३७ : नारीं वा सचेतनामेव स्वलङ्कृताम्, उपलक्षणमेतदनलङ्कृतां च न निरीक्षेत।

श्लोक ५५ :

१५५. (विगप्पियं ख) :

विकल्पित अर्थात्—कटा हुआ[1]। टीका में 'कर्णनासाविकृत्ताम्' इति 'विकृत्तकर्णनासाम्'—है[2]। इसके आधार पर 'कण्णनास विकट्टिय' या विगत्तिय' पाठ की कल्पना की जा सकती है। विकट्टिय = विकृत—कटा हुआ[3]।

१५६. (अवि ग) :

यहाँ 'अपि' शब्द समावना के अर्थ में है। समावना—जैसे जिसे हाथ, पाँव कटी हुई सौ वर्ष की बुढिया से दूर रहने को कहा है, वह स्वस्थ अङ्गवाली तरुण स्त्री से दूर रहे—इसकी कल्पना सहज ही हो जाती है[4]।

श्लोक ५६ :

१५७. आत्मगवेषी (अत्तगवेसिस्स ग) :

दुर्गति-गमन, मृत्यु आदि आत्मा के लिए अहित हैं। जो व्यक्ति इन अहितों से आत्मा को मुक्त करना चाहता है—आत्मा के अमर स्वरूप को प्राप्त होना चाहता है, उसे 'आत्मगवेषी' कहा जाता है[5]।

जिसने आत्मा के हित की खोज की उसने आत्मा को खोज लिया[6]। आत्म-गवेषणा का यही मूल मन्त्र है।

१५८. विभूषा (विभूसा क) :

स्नान, उद्वर्तन, उज्ज्वल-वेष आदि—ये सब विभूषा कहलाते हैं[7]।

१५९. प्रणीत-रस (पणीयरस ख) :

इसका शब्दार्थ है, रूप, रस आदि युक्त अन्न[8], व्यञ्जन[9]। पिण्डनिर्युक्ति में 'प्रणीत' का अर्थ गलत्स्नेह (जिससे घृत आदि टपक

१—जि० चू० पृ० २६१ . अणेगप्पगार कप्पिया जीए सा कन्ननासाविकप्पिया।

२—हा० टी० प० २३७।

३—पाइयसद्दमहण्णव पृ० ६६०।

४—जि० चू० पृ० २६१ : अविसद्दो समावणे वट्टइ, किं समावयति ?, जहा जइ हत्थादिछिन्नावि वाससयजीवी दूरओ परिवज्जणिज्जा, किं पुण जा अपलिच्छिन्ना वयत्था वा ?, एयं समावयति।

५—(क) जि० चू० पृ० २६२ · अत्तगवेसिणो, अहवा मरणभयभीतस्स अत्तणो उवायगवेसित्तेण अत्ता सुट्ठु वा गवेसियो जो एएहितो अप्पाणं विमोएइ।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'आत्मगवेषिण' आत्महितान्वेषणपरस्य।

६—अ० चू० · अप्पहितगवेसणेण अप्पा गवेसितो भवति।

७—(क) जि० चू० पृ० २६१ : विभूसा नाम ण्हाणुव्वलणउज्जलवेसादी।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'विभूषा' वस्त्रादिराढा।

८—अ० चि० स्वोपज्ञ टीका ३ ७७ पृ० १७० . 'प्रणीतमुपसपन्न'—प्रणीयतेस्म प्रणीत रूपरसादिनिष्पन्नमन्नम्।

९—हल० पृ० ४५२ . पाकेन रूपरसादिसंपन्न व्यञ्जनादि।

रहा हो वैसा भोजन) किया है[१]। नेमिचन्द्राचार्य ने 'प्रणीत' का अर्थ अतिवृंहक—अत्यन्त पुष्टिकर किया है[२]। प्रश्नव्याकरण में प्रणीत और स्निग्ध भोजन का प्रयोग एक साथ मिलता है[३]। इससे जान पड़ता है कि प्रणीत का अर्थ केवल स्निग्ध ही नहीं है, उसके अतिरिक्त भी है। स्थानाङ्ग में भोजन के छह प्रकार बतलाए हैं—मनोज्ञ, रसित, प्रीणनीय, वृंहणीय, दीपनीय और दर्पणीय[४]। इनमें वृंहणीय (धातु का उपचय करने वाला या वलवर्द्धक) और दर्पणीय (उन्मादकर या मदनीय—कामोत्तेजक) जो हैं उन्ही के अर्थ में प्रणीत शब्द का प्रयोग हुआ है—ऐसा हमारा अनुमान है। इसका समर्थन हमें उत्तराध्ययन (१६.७) के 'पणीय भत्तपाण तु, खिप्पं मयविवड्ढणं' इस वाक्य से मिलता है। प्रणीत-भोजन का त्याग ब्रह्मचर्य की सातवीं गुप्ति है[५]। एक ओर प्रस्तुत श्लोक में प्रणीत-रस भोजन को ब्रह्मचारी के लिए ताल-पुट विष कहा है। दूसरी ओर मुनि के लिए विकृति—दूध, दही, घृत आदि का सर्वथा निषेध भी नहीं है। उसके लिए वार-वार विकृति को त्यागने का विधान मिलता है[६]। मुनिजन प्रणीत-भोजन लेते थे, ऐसा वर्णन आगमों में मिलता है[७]।

भगवान् महावीर ने भी प्रणीत-भोजन लिया था[८]। आगम के कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि मुनि को प्रणीत-भोजन नहीं करना चाहिए और कुछ स्थलों को देखने पर लगता है कि प्रणीत-भोजन किया जा सकता है। यह विरोधाभास है। इसका समाधान पाने के लिए हमें प्रणीत-भोजन के निषेध के कारणों पर दृष्टि डालनी चाहिए। प्रणीत-भोजन मद-वर्धक होता है। इसलिए ब्रह्मचारी उसे न खाए[९]। ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँचवीं भावना (प्रश्नव्याकरण के अनुसार) प्रणीत—स्निग्ध—भोजन का विवर्जन है। वहाँ वताया है कि ब्रह्मचारी को दर्पकर—मदवर्धक आहार नहीं करना चाहिए, वार-वार नहीं खाना चाहिए, प्रतिदिन नहीं खाना चाहिए, शाक-सूप अधिक हो वैसा भोजन नहीं खाना चाहिए, डटकर नहीं खाना चाहिए। जिससे सयम-जीवन का निर्वाह हो सके और जिसे खाने पर विभ्रम (ब्रह्मचर्य के प्रति अस्थिर भाव) और ब्रह्मचर्य-धर्म का भ्रंश न हो वैसा खाना चाहिए। उक्त निर्देश का पालन करने वाला प्रणीत-भोजन-विरति की भावना से भावित होता है[१०]। प्रणीत की यह पूर्ण परिभाषा है। उक्त प्रकार का प्रणीत-भोजन उन्माद वढाता है, इसलिए उसका निषेध किया गया है। किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए स्निग्ध-पदार्थ आवश्यक हैं, इसलिए उनका भोजन विहित भी है। मुनि का भोजन संतुलित होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से प्रणीत-भोजन का त्याग और जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उसका स्वीकार—ये दोनों सम्मत हैं। जो श्रमण प्रणीत-आहार और तपस्या का सतुलन नहीं रखता उसे भगवान् ने पाप-श्रमण कहा है[११] और प्रणीत-रस के भोजन को तालपुट-विष कहने का आशय भी यही है।

१—पि० नि० गाथा ६४५ : ज पुण गलतनेह, पणीयमिति त वुहा वेंति, वृत्ति—यत् पुनर्गलत्स्नेहं भोजन तत्प्रणीत, 'वुधा.' तीर्थकृदादयो ब्रुवते।

२—उत्त० ३०.२६ ने० वृ० पृ० ३४१ : 'प्रणीतम्' अतिबृंहकम्।

३—प्रश्न० सवरद्वार ४ : आहार पणीय निद्ध भोयण विवज्जते।

४—स्था० ६.३ सू० ५३३ : छव्विहे भोयणपरिणामे पराणत्ते—तजहा-मणुन्ने, रसिते, पीणणिज्जे, विहणिज्जे [मयणिज्जे दीवणिज्जे] दप्पणिज्जे।

५—उत्त० १६.७ : नो पणीय आहार आहरित्ता हवइ से निग्गन्थे।

६—दश० चू० २.७ : अभिक्खणं निव्विगइ गया य।

७—अन्त० ८.१।

८—भग० १५।

९—उत्त० १६.७।

१०—प्रश्न० सवरद्वार ४ : 'ण दप्पणं, न वहुसो, न नितिक, न सायसूपाहिक, न खद्ध, तहा भोत्तव्व जहा से जायामायाए भवइ, न य भवइ विब्भमो न भसणा य धमस्स। एव पणीयाहार विरति समिति जोगेण भावितो भवति।

११—उत्त० १७.१५ : दुद्धदहीविगईओ, आहारेइ अभिक्खण।
भरए य तवोकम्मं, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

१६०. तालपुट-विष (विषं तालउडं घ):

तालपुट अर्थात् ताल (हथेली) सपुटित हो उतने समय में भक्षण करने वाले को मार डालने वाला विष—तत्काल प्राणनाशक विष। जिस प्रकार जीविताकाङ्क्षी के लिए तालपुट विष का भक्षण हितकर नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए विभूषा आदि हितकर नहीं होते[1]।

श्लोक : ५७

१६१. अङ्ग, प्रत्यङ्ग, संस्थान (अंगपच्चंगसंठाणं क):

हाथ-पैर आदि शरीर के मुख्य अवयव 'अङ्ग' और आँख, दांत आदि शरीर के गौण अवयव 'प्रत्यङ्ग' कहलाते हैं। चूर्णिद्वय में संस्थान स्वतंत्र रूप में और अङ्ग-प्रत्यङ्गों से सम्बन्धित रूप में भी व्याख्यात हैं जैसे—(१) अङ्ग, प्रत्यङ्ग और संस्थान (२) अङ्ग और प्रत्यङ्गों के संस्थान। संस्थान अर्थात् शरीर की आकृति, शरीर का रूप[2]।

१६२. कटाक्ष (पेहियं ख):

प्रेक्षित अर्थात् अपाङ्ग-दर्शन—कटाक्ष[3]।

श्लोक ५८ :

१६३. परिणमन को (परिणामं घ):

परिणाम का अर्थ है वर्तमान पर्याय को छोड़कर दूसरी पर्याय मे जाना, अवस्थान्तरित होना। शब्द आदि इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ होते रहते हैं। जो मनोज्ञ होते हैं वे विशेष मनोज्ञ या अमनोज्ञ हो जाते हैं और जो अमनोज्ञ होते हैं वे विशेष अमनोज्ञ या मनोज्ञ हो जाते हैं। इसीलिए उनके अनित्य-स्वरूप के चिन्तन का उपदेश दिया गया है[4]।

१—(क) जि० चू० पृ० २६२ : तालपुड नाम जेणंतरेण ताला संपुडिज्जति तेणंतरेण मारयतीति तालपुडं, जहा जीवियकंखिणो नो तालपुडविसभक्खणं सुहावहं भवति तहा धम्मकामिणो नो विभूसाईणि सुहावहाणि भवंतित्ति।

(ख) हा० टी० प० २३७ : तालमात्रव्यापत्तिकरविषकल्पमहितम्।

२—(क) अ० चू० : अगाणि हत्थादीणि पच्चंगाणि णयणदसणादीणि संठाणं समचतुरसादि सरीरस्स अहवा अंगपच्चंगाण संठाणं अंगपच्चंगसंठाणं।

(ख) जि० चू० पृ० २६२ : अंगाणि हत्थपायादीणि, पच्चंगाणि णयणदसणाईणि, संठाणं समचउरसाइ, अहवा तेसिं चेव अंगाण पच्चंगाण य संठाणगहणं कयति।

(ग) हा० टी० प० २३७ : अङ्गानि—शिरःप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि—नयनादीनि एतेषां संस्थान—विन्यासविशेषम्।

३—अ० चू० : पेहित सावंग णिरिक्खणं।

४—(क) जि० चू० पृ० २६२-२६३ : ते चेव सुब्भिसद्दा पोग्गला दुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, दुब्भिसद्दा पोग्गला सुब्भिसद्दत्ताए परिणमंति, ण पुण जे मणुन्ना ते मणुन्ना चेव भवंति, अमणुन्ना वा अच्चंतममणुन्ना एव भवंति, एवं रूवादिसुवि भाणियव्वं।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'परिणाम' पर्यायान्तरापत्तिलक्षण, ते हि मनोज्ञा अपि सन्तो विषयाः क्षणादमनोज्ञतया परिणमन्ति अमनोज्ञा अपि मनोज्ञतया।

१६४. राग-भाव न करे (पेमं नाभिनिवेसए ख) :

प्रेम और राग एकार्थक हैं। जिस प्रकार मुनि मनोज्ञ विषयों में राग न करे, उसी प्रकार अमनोज्ञ विषयों से द्वेष भी न करे[1]।

श्लोक ५९ :

१६५. शीतल बना (सीईभूएण घ) :

शीत का अर्थ है उपशान्त[2]। क्रोध आदि कषाय को उपशान्त करने वाला 'शीतीभूत' कहलाता है[3]।

श्लोक ६० :

१६६. (जाए क) :

जिस अर्थात् प्रव्रजित होने के समय होने वाली (श्रद्धा) से[4]।

१६७. श्रद्धा से (सद्धाए क) :

धर्म, आचार[5], मन का परिणाम[6] और प्रधान गुण का स्वीकार[7]—श्रद्धा के ये विभिन्न अर्थ किए गए हैं। इन सबको मिलाकर निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—जीवन-विकास के प्रति जो आस्था होती है, तीव्र मनोभाव होता है वही 'श्रद्धा' है।

१६८. उसीका (तमेव ग) :

अगस्त्य चूर्णि और टीका के अनुसार यह श्रद्धा का सर्वनाम है[8] और जिनदास चूर्णि के अनुसार पर्याय-स्थान का[9]। आचाराङ्ग वृत्ति में इसे श्रद्धा का सर्वनाम माना है[10]।

१—(क) जि० चू० पृ० २९२ : पेम नाम पेमति वा रागोत्ति वा एगट्ठा, 'एगग्गहणे गहणं तज्जातीयाण'मितिकाउ अमणुन्नेसुवि दोसं न गच्छेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३७ : 'प्रेम' रागम्।

२—अ० चू० : सीतभूतेण सीतो उवसतो जधा निसग्गो देवो अतो सीतभूतेण उवसंतेण।

३—हा० टी० प० २३८ : 'शीतीभूतेन' क्रोधाद्यग्न्युपगमात्प्रशान्तेनात्मना।

४—अ० चू० : जाएत्ति निक्खमण समकालं भण्णति।

५—अ० चू० : सद्धा धम्मो आयारो।

६—जि० चू० पृ० २९३ : सद्धा परिणामो भण्णइ।

७—हा० टी० प० २३८ : 'श्रद्धया' प्रधानगुणस्वीकरणरूपया।

८—(क) अ० चू० : तं सद्ध पवज्जासमकालिणि अणुपालेज्जा।

(ख) हा० टी० प० २३८ : तामेव श्रद्धामप्रतिपतितया प्रवर्द्धमानामनुपालयेत्।

९—जि० चू० पृ० २९३ : तमेव परिआयट्ठाणमणुपालेज्जा।

१०—आचा० १.१.३ सू० २० : 'जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा, वृ०—'यया श्रद्धया' प्रवर्धमानसंयमस्थानकण्डकरूपया 'निष्क्रान्तः' प्रव्रज्यां गृहीतवान् 'तामेव' श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवम् 'अनुपालयेद्'—रक्षेत्।

१६६. आचार्य-सम्मत (आयरियसम्मए [घ]) :

आचार्य सम्मत अर्थात् तीर्थंकर, गणधर आदि द्वारा अनुमत[1]। यह गुण का विशेषण है। टीका में उल्लिखित मतान्तर के अनुसार यह श्रद्धा का विशेषण है। श्रद्धा का विशेषण मानने पर दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार होगा—आचार्य-सम्मत उसी श्रद्धा का अनुपालन करे[2]।

श्लोक ६१ :

१७०. (सूरे व सेणाए [ग]) :

जिस प्रकार शस्त्रों से सुसज्जित वीर चतुरङ्ग (घोड़ा, हाथी, रथ और पदाति) सेना से घिर जाने पर युद्ध में अपना और दूसरों का संरक्षण करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार जो मुनि तप, संयम आदि गुणों से सम्पन्न होता है, वह इन्द्रिय और कषाय रूप सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरों का बचाव करने में समर्थ होता है[3]।

१७१. (अलं परेसिं [घ]) :

'अल' का एक अर्थ निवारण भी है। इसके अनुसार अनुवाद होगा कि आयुधों से सुसज्जित वीर अपनी रक्षा करने में समर्थ और पर अर्थात् शत्रुओं का निवारण करने वाला होता है[4]।

१७२. संयम-योग (संजमजोगयं [क]) :

जीवकाय-संयम, इन्द्रिय-संयम, मनः-संयम आदि के समाचरण को संयम-योग कहा जाता है। इससे सत्तरह प्रकार के संयम का ग्रहण किया है[5]।

१७३. स्वाध्याय-योग में (सज्झायजोगं [ख]) :

स्वाध्याय तप का एक प्रकार है। तप का ग्रहण करने से इसका ग्रहण सहज ही हो जाता है किन्तु इसकी मुख्यता बताने के लिए यहाँ पृथक् उल्लेख किया है[6]। स्वाध्याय बारह प्रकार के तपों में सब से मुख्य तप है। इस अभिमत की पुष्टि के लिए अगस्त्यसिंह ने एक गाथा उद्धृत की है :

वारसविहम्मि वि तवे, सब्भितरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं ॥ (बृहत्कल्प भा० २ भाष्य गा० ११६६)

१—जि० चू० पृ० २६३ : 'आयरिअसमओ'त्ति आयरिया नाम तित्थकरगणधराई तेसिं समए नाम समओत्ति वा अणुमओत्ति वा एगट्ठा।

२—हा० टी० प० २३८ : अन्ये तु श्रद्धाविशेषणमेतदिति व्याचक्षते, तामेव श्रद्धामनुपालयेद्गुणेषु, किंभूताम्? आचार्यसमतां, न तु स्वाग्रहकलङ्कितामिति।

३—(क) अ० चू० : सेणा वाहिणी तीए परिवुडो…।
(ख) जि० चू० पृ० २९३ : जहा कोई पुरिसो चउरंगबलसमन्नागताए सेणाए अभिरुद्धो सपन्नाउहो अस (सूरो अ) सो अप्पाणं परं च ताओ संगामाओ नित्थारेउन्ति अलं नाम समत्थो, तहा सो एवंगुणजुत्तो अलं अप्पाणं परं च इंदियकसायसेणाए अभिरुद्धं नित्थारेउति।

४—अ० चू० : अहवा अलं परेसिं परसद्दो एत्थ सत्तुसु वट्टति, अलं सद्दो निवारणे। सो अलं परेसिं वारणसमत्थोसत्तुणं।

५—(क) अ० चू० : सत्तरसतविधं संजमजोगं च।
(ख) हा० टी० प० २३८ : 'संयमयोगं च' पृथिव्यादिविषयं संयमव्यापारं च।

६—(क) जि० चू० पृ० २९३ : णणु तवगहणेण सज्झाओ गहिओ?, आयरिओ आह—सच्चमेयं, किंतु तवभेदोपदरिसणत्थं सज्झायगहणं कयं।
(ख) हा० टी० प० २३८ : इह च तपोऽभिधानात्तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाभिधानम्।

१७४. प्रवृत्त रहता है (अहिट्ठए ख) :

टीका में 'अहिट्ठए' का संस्कृत रूप 'अधिष्ठाता' है[1] किन्तु 'तवं' आदि कर्म हैं, इसलिए यह 'अहिट्ठा' धातु का रूप होना चाहिए।

१७५. आयुधों से सुसज्जित (समत्तमाउहे ग) :

यहाँ मकार अलाक्षणिक है। जिसके पास पाँच प्रकार के आयुध होते हैं, उसे 'समाप्तायुध' कहा जाता है[2]।

श्लोक ६२ :

१७६. (सि ग) :

'सि' शब्द के द्वारा साधु का निर्देश किया गया है[3]।

१७७. सद्ध्यान में (सज्झाण क) :

ध्यान के चार प्रकार हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। इनमें धर्म और शुक्ल—ये दो सद्ध्यान हैं[4]।

१७८. मल (मलं ग) :

'मल' का अर्थ है पाप[5]। अगस्त्य चूर्णि में 'मल' के स्थान में 'रयं' पाठ है। अर्थ की दृष्टि से दोनों समानार्थक हैं[6]।

श्लोक ६३ :

१७९. (विरायई कम्मघणम्मि अवगए ग) :

अगस्त्य चूर्णि में इसके स्थान में 'विसुज्झती पुव्वकडेन कंमुणा' और जिनदास चूर्णि में 'विमुच्चइ पुव्वकडेण कम्मुणा' पाठ है। इनका अनुवाद क्रमशः इस प्रकार होगा—पूर्वकृत कर्मों से विशुद्ध होता है, पूर्वकृत कर्मों से विमुक्त होता है।

१८०. (चंदिमा घ) :

इसका अर्थ व्याख्याओं में चन्द्रमा है[7]। किन्तु व्याकरण की दृष्टि से चन्द्रिका होता है[8]।

१—हा० टी० प० २३८ : 'अधिष्ठाता' तपः प्रभृतीनां कर्ता।

२—अ० चू० : पंचवि आउधाणि जस्स सो समत्तमायुधो।

३—जि० चू० पृ० २६४ : सित्ति साहुणो निद्देसो।

४—(क) उत्त० ३०.३५ : अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं...................।

(ख) अ० चू० : सज्झाणे धम्मसुक्के।

५—जि० चू० पृ० २६४ : मलंति वा पावंति वा एगट्ठा।

६—अ० चू० : विसुज्झती जं से रय पुरेकडं.........रयो मलो पावमुच्यते।

७—अ० चू० ; जि० चू० पृ० २६४ : चंदिमा चन्द्रमाः।

८—हैम० ८.१.१८५ : चन्द्रिकायां मः।

१८१. दुःखों को सहन करने वाला (दुक्खसहे [क]) :

दुःखसह का अर्थ है शारीरिक और मानसिक दुःखों को सहन करने वाला[१] या परीषहों को जीतने वाला[२] ।

१८२. ममत्व-रहित (अममे [ख]) :

जिसके ममकार—मेरापन नहीं होता, वह 'अमम' कहलाता है[३] ।

१८३. अकिञ्चन (अकिंचणे [ख]) :

जो हिरण्य आदि द्रव्य-किञ्चन और मिथ्यात्व आदि भाव-किञ्चन से रहित होता है, वह 'अकिञ्चन' कहलाता है[४] ।

१८४. अभ्रपटल से वियुक्त (अब्भपुडावगमे [घ]) :

अभ्रपुट का अर्थ—'बादल के परत' है। भावार्थ की दृष्टि से हिम, रज, तुपार, कुहासा—ये सब अभ्रपुट हैं। अभ्रपुट का अपगम अर्थात् बादल आदि का दूर होना[५] । शरद् ऋतु में आकाश बादलों से वियुक्त होता है, इसलिए उस समय का चाद अधिक निर्मल होता है। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है—शरद् ऋतु के चन्द्रमा की तरह शोभित होता है[६] ।

१—अ० चू० : दुक्ख सारीरमाणस सहतीति दुक्खसहो।

२—हा० टी० प० २३८ : 'दु खसह' परीपहजेता।

३—अ० चू० : णिममत्ते अममे।

४—जि० चू० पृ० २६४ : दव्वकिंचण हिरण्णादि, भावकिंचणं मिच्छत्तअविरतीमादि, स दव्वकिंचणं भावकिंचणं च जस्स णत्थि सो अकिंचणो।

५—अ० चू० : कसिणमसेसं, अब्भपुड पलाहतादि। कसिणस्स अब्भपुडस्स अवगमो—कसिणपुडावगमो हिमरजोतुसारधूमिगादीण अवगमो।

६—अ० चू० : जधा सरदि विगतघणेणभसि सपुण्णमंडलोससि सोभते, सो भगवं।

नवमं अज्झयणं

विणयसमाही

(पढमो उद्देसो)

नवम अध्ययन

विनय-समाधि

(प्र० उद्देशक)

आमुख

धर्म का मूल है 'विनय' और उसका परम है 'मोक्ष'[1]। विनय तप है और तप धर्म है, इसलिए विनय का प्रयोग करना चाहिए[2]। जैन-आगमों में 'विनय' का प्रयोग आचार व उसकी विविध धाराओं के अर्थ में हुआ है। विनय का अर्थ केवल नम्रता ही नहीं है। नम्र-भाव आचार की एक धारा है। पर विनय को नम्रता मे ही बांध दिया जाए तो उसकी सारी व्यापकता नष्ट हो जाती है। जैन-धर्म वैनयिक (नमस्कार, नम्रता को सर्वोपरि मानकर चलने वाला) नहीं है। वह आचार-प्रधान है। सुदर्शन ने थावच्चापुत्त अणगार से पूछा—"भगवन्! आपके धर्म का मूल क्या है?" थावच्चापुत्त ने कहा—"सुदर्शन! हमारे धर्म का मूल विनय है। वह विनय दो प्रकार का है—(१) आगार-विनय (२) अणगार-विनय। पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ—यह आगार-विनय है। पाँच महाव्रत, अठारह पाप-विरति, रात्रि-भोजन-विरति, दस विध-प्रत्याख्यान और बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ—यह अणगार-विनय है[3]।" प्रस्तुत अध्ययन का नाम विनय-समाधि है। उत्तराध्ययन के पहले अध्ययन का नाम भी यही है। इनमें विनय का व्यापक निरूपण है। फिर भी विनय की दो धाराएँ—अनुशासन और नम्रता अधिक प्रस्फुटित है।

विनय अंतरंग तप है। गुरु के आने पर खड़ा होना, हाथ जोड़ना, आसन देना, भक्ति और सुश्रूषा करना विनय है[4]। औपपातिक सूत्र मे विनय के सात प्रकार बतलाए हैं। उनमें सातवाँ प्रकार उपचार-विनय है। उक्त श्लोक में उसी की व्याख्या है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वाणी और काय का विनय—ये छह प्रकार शेप रहते हैं। इन सबके साथ विनय की सगति उद्धत-भाव के त्याग के अर्थ में होती है। उद्धत-भाव और अनुशासन का स्वीकार—ये दोनों एक साथ नहीं हो सकते। आचार्य और साधना के प्रति जो नम्र होता है, वही आचारवान् बन सकता है। इस अर्थ में नम्रता आचार का पूर्वरूप है। विनय के अर्थ की व्यापता की पृष्ठ-भूमि मे यह दृष्टिकोण अवश्य रहा है।

बौद्ध-साहित्य में भी विनय, व्यवस्था, विधि व अनुशासन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध-भिक्षुओं के विधि-ग्रन्थ का नाम इसी अर्थ मे 'विनयपिटक' रखा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक हैं। आचार्य के साथ शिष्य का वर्तन कैसा होना चाहिए—इसका निरूपण पहले में है। "अणंतनाणोवगओ वि संतो"—शिष्य अनन्त-ज्ञानी हो जाए तो भी वह आचार्य की आराधना वैसे ही करता रहे जैसे पहले करता था—यह है विनय का उत्कर्ष। जिसके पास धर्म-पद सीखे उसके प्रति विनय का प्रयोग करे—मन, वाणी और

१—दश० ९.१ २ : एवं धम्मस्स विणओ, मूल परमो से मोक्खो

२—प्रश्न० सवरद्वार ३ पांचवीं भावना : विणओ वि तवो तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउजियव्वो

३—ज्ञातृ० ५।

४—उत्त० ३०.३२ : अब्भुट्ठाण अजलिकरण, तहेवासणदायणं।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ॥

शरीर से नम्र रहे (श्लोक १२)। जो गुरु मुझे अनुशासन देते हैं उनकी मैं पूजा करूँ (श्लोक १३), ऐसे मनोभाव विनय की परम्परा को सहज बना देते हैं। शिष्य के मानस में ऐसे संस्कार बैठ जाएँ तभी आचार्य और शिष्य का एकात्मभाव हो सकता है और शिष्य आचार्य से इष्ट-तत्त्व पा सकता है।

दूसरे में अविनय और विनय का भेद दिखलाया गया है। अविनीत विपदा को पाता है और विनीत सम्पदा का भागी होता है। जो इन दोनों को जान लेता है वही व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है (श्लोक २१)। अविनीत असंविभागी होता है। जो संविभागी नहीं होता, वह मोक्ष नहीं पा सकता (श्लोक २२)।

जो आचार के लिए विनय का प्रयोग करे, वह पूज्य है (श्लोक २), जो अप्रिय-प्रसंग को धर्म-बुद्धि से सहन करता है, वह पूज्य है (श्लोक ८)। पूज्य के लक्षणों का निरूपण—यह तीसरे का विषय है।

चौथे में चार समाधियों का वर्णन है। समाधि का अर्थ है—हित, सुख या स्वास्थ्य। उसके चार हेतु हैं—विनय, श्रुत, तप और आचार। अनुशासन को सुनने की इच्छा, उसका सम्यक्-ग्रहण, उसकी आराधना और सफलता पर गर्व न करना—विनय-समाधि के ये चार अङ्ग हैं। विनय का प्रारम्भ अनुशासन से होता है और अहंकार के परित्याग में उसकी निष्ठा होती है।

मुझे ज्ञान होगा, मैं एकाग्र-चित्त होऊँगा, सन्मार्ग पर स्थित होऊँगा, दूसरों को भी वहाँ स्थित करूँगा, इसलिए मुझे पढ़ना चाहिए—यह श्रुत-समाधि है। तप क्यों तपा जाए ? आचार क्यों पाला जाए ? इनके उद्देश्य की महत्त्वपूर्ण जानकारी यहाँ मिलती है। इस प्रकार यह अध्ययन विनय की सर्वांङ्गीण परिभाषा प्रस्तुत करता है।

इसका उद्धार नवें पूर्व की तीसरी वस्तु से हुआ है[1]।

१—दश० नि० १७।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन

विणयसमाही (पढमो उद्देसो) : विनय-समाधि (प्रथम उद्देशक)

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे[1] । सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥	स्तम्भाद्वा क्रोधाद्वा मायाप्रमादात्, गुरु-सकाशे विनयं न शिक्षेत । स चैव तु तस्याऽभूतिभावः, फलमिव कीचकस्य वधाय भवति ॥१॥	१—जो मुनि गर्व, क्रोध, माया[2] या प्रमादवश[3] गुरु के समीप विनय की[4] शिक्षा नही लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश[5] के लिए होती है, जैसे—कीचक (बांस) का[6] फल उसके वध के लिए होता है ।
२—जे यावि मंदि त्ति गुरुं विइत्ता डहरे इमे अप्पसुए त्ति नच्चा । हीलंति[7] मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूणं ॥	ये चापि "मन्द" इति गुरुं विदित्वा, "डहरो"ऽयं "अल्पश्रुत" इति ज्ञात्वा । हीलयन्ति मिथ्या प्रतिपद्यमानाः, कुर्वन्त्याशातनां ते गुरूणाम् ॥२॥	२—जो मुनि गुरु को—'यह मद[8] (प्रज्ञा-विकल) है', 'यह अल्पवयस्क और अल्प-श्रुत है'—ऐसा जानकर उसके उपदेश को मिथ्या मानते हुए उसकी अवहेलना करते हैं, वे गुरु की आशातना[9] करते हैं ।
३—पगईए मंदा वि[10] भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया । आयारमंता गुण सुट्ठिअप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥	प्रकृत्या मन्दा अपि भवन्ति एके, डहरा अपि च ये श्रुत-बुद्ध्युपेताः । आचारवन्तो गुण सुस्थितात्मानः, ये हीलिताः शिखीव भस्म कुर्युः ॥३॥	३—कई आचार्य वयोवृद्ध होते हुए भी स्वभाव से ही मन्द (प्रज्ञा-विकल) होते है और कई अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और बुद्धि से सम्पन्न[11] होते हैं । आचारवान् और गुणो में सुस्थितात्मा आचार्य, भले फिर वे मन्द हो या प्राज्ञ, अवज्ञा प्राप्त होने पर गुण-राशि को उसी प्रकार भस्म कर डालते हैं जिस प्रकार अग्नि इन्धन-राशि को ।
४—जे यावि नागं डहरं ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ । एवायरियं पि हु हीलयंतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे ॥	ये चापि नागं डहर इति ज्ञात्वा, आशातयेयुः तस्याहिताय भवति । एवमाचार्यमपि खलु हीलयन्, निर्गच्छति जातिपथं खलु मन्दः ॥४॥	४—जो कोई—यह सर्प छोटा है—ऐसा जानकर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है । इसी प्रकार अल्पवयस्क आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्द संसार में[12] परिभ्रमण करता है ।
५—[13]आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ परं नु कुज्जा । आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो ॥	आशीविषश्चापि परं सुरुष्टः, किं जीवनाशात् परं नु कुर्यात् । आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः, अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्षः ॥५॥	५—आशीविष सर्प[14] अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी 'जीवन-नाश' से अधिक क्या (अहित) कर सकता है ? परन्तु आचार्यपाद अप्रसन्न होने पर अबोधि करते हैं । अतः गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता ।

६—जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा
आसीविसं वा वि हु कोवएज्जा।
जो वा विसं खायइ जीवियट्ठी
एसोवमासायणया गुरूणं ॥

य. पावकं ज्वलितमपक्रामेत्,
आशीविषं वाऽपि खलु कोपयेत्।
यो वा विषं खादति जीवितार्थी,
एषोपमाऽऽशातनया गुरूणाम् ॥६॥

६—कोई जलती अग्नि को लांघता है, आशीविष सर्प को कुपित करता है और जीवित रहने की इच्छा से विष खाता है, गुरु की आशातना इनके समान है—ये जिस प्रकार हित के लिए नहीं होते, उसी प्रकार गुरु की आशातना हित के लिए नहीं होती।

७—सिया हु से पावय नो डहेज्जा
आसीविसो वा कुविओ न भक्खे।
सिया विसं हालहलं न मारे
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए॥

स्याद् खलु स पावको नो दहेत्,
आशीविषो वा कुपितो न भक्षेत्।
स्याद्विषं हलाहलं न मारयेत्,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥७॥

७—सम्भव है कदाचित् अग्नि न जलाए, सम्भव है आशीविष सर्प कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि हलाहल विष भी न मारे, परन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

८—जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे
सुत्तं व सीहं पडिबोहएज्जा।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं
एसोवमासायणया गुरूणं ॥

य पर्वतं शिरसा भेत्तुमिच्छेत्,
सुप्तं वा सिंहं प्रतिबोधयेत्।
यो वा दढीत शक्त्यग्रे प्रहारं,
एषोपमाशातनया गुरूणाम् ॥८॥

८—कोई शिर से पर्वत का भेदन करने की इच्छा करता है, सोए हुए सिंह को जगाता है और भाले की नोक पर प्रहार करता है, गुरु की आशातना इनके समान है।

९—सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे
सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं
न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥

स्यात् खलु शिर्षेण गिरिमपि भिन्द्यात्,
स्यात् खलु सिंहः कुपितो न भक्षेत्।
स्यान्न भिन्द्याद्वा शक्त्यग्रं,
न चापि मोक्षो गुरुहीलनया ॥९॥

९—सम्भव है शिर से पर्वत को भी भेद डाले, सम्भव है सिंह कुपित होने पर भी न खाए और यह भी सम्भव है कि भाले की नोक भी भेदन न करे, पर गुरु की अवहेलना से मोक्ष सम्भव नहीं है।

१०—आयरिय पाया पुण अप्पसन्ना
अबोहिआसायण नत्थि मोक्खो।
तम्हा अणाबाह सुहाभिकंखी
गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥

आचार्यपादाः पुनरप्रसन्नाः,
अबोधिमाशातनया नास्ति मोक्ष।
तस्मादनाबाधसुखाभिकाङ्क्षी,
गुरुप्रसादाभिमुखो रमेत ॥१०॥

१०—आचार्यपाद के अप्रसन्न होने पर बोधि-लाभ नहीं होता—गुरु की आशातना से मोक्ष नहीं मिलता। इसलिए मोक्ष-सुख चाहने वाला मुनि गुरु-कृपा के लिए तत्पर रहे।

११—जहाहियग्गी जलणं नमंसे
नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥

यथाऽहिताग्निर्ज्वलनं नमस्येद्,
नानाहुतिमन्त्रपदाभिषिक्तम्।
एवमाचार्यमुपतिष्ठेत,
अनन्तज्ञानोपगतोऽपि सन् ॥११॥

११—जैसे आहिताग्नि ब्राह्मण[15] विविध आहुति[16] और मन्त्रपदों से[17] अभिषिक्त अग्नि को नमस्कार करता है, वैसे ही शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न होते हुए भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा करे।

१२—जस्संतिए धम्मपयाइ सिक्खे
तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ
कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं॥

यस्यान्तिके धर्मपदानि शिक्षेत,
तस्यान्तिके वैनयिकं प्रयुञ्जीत।
सत्कुर्वीत शिरसा प्राञ्जलिकः,
कायेन गिरा भो मनसा च नित्यम्॥१२॥

१२—जिसके समीप धर्मपदों की[18] शिक्षा लेता है उसके समीप विनय का प्रयोग करे। शिर को झुकाकर, हाथों को जोड़कर[19] (पञ्चाङ्ग वन्दन कर) काया, वाणी और मन से सदा सत्कार करे।

१३—लज्जा दया संजम बंभचेरं
कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं।
जे मे गुरू सययमणुसासयंति
ते हं गुरू सययं पूययामि॥

लज्जा दया संयम ब्रह्मचर्यं,
कल्याणभागिनः विशोधिस्थानम्।
ये मा गुरवः सततमनुशासति,
तानहं गुरून् सतत पूजयामि ॥१३॥

१३—लज्जा[२०], दया, संयम और ब्रह्मचर्य कल्याणभागी साधु के लिए विशोधि-स्थल हैं। जो गुरु मुझे उनकी सतत शिक्षा देते हैं उनकी मैं सतत पूजा करता हूँ।

१४—जहा निसंते तवणच्चिमाली
पभासई केवलभारहं तु।
एवायरिओ सुयसीलबुद्धिए
विरायई सुरमज्झे व इंदो॥

यथा निशान्ते तपन्नर्चिर्माली,
प्रभासते केवल भारतं तु।
एवमाचार्यः श्रुत-शील-बुद्ध्या,
विराजते सुरमध्य इव इन्द्रः ॥१४॥

१४—जैसे दिन में प्रदीप्त होता हुआ सूर्य सम्पूर्ण भारत[२१] (भरत क्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य विश्व को प्रकाशित करता है और जिस प्रकार देवताओं के बीच इन्द्र शोभित होता है, उसी प्रकार साधुओं के बीच आचार्य सुशोभित होता है।

१५—जहा ससी कोमुइजोगजुत्तो
नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के
एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे॥

यथा शशी कौमुदीयोगयुक्तः,
नक्षत्रतारागणपरिवृतात्मा।
खे शोभते विमलेऽभ्रमुक्ते,
एवं गणी शोभते भिक्षुमध्ये ॥१५॥

१५—जिस प्रकार मेघयुक्त विमल आकाश में नक्षत्र और तारागण से परिवृत्त, कार्तिक-पूर्णिमा[२२] में उदित चन्द्रमा शोभित होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं के बीच गणी (आचार्य) शोभित होता है।

१६—महागरा आयरिया महेसी
समाहिजोगे सुयसीलबुद्धिए।
संपाविउकामे अणुत्तराइं
आराहए तोसए धम्मकामी॥

महाकरान् आचार्यान् महैषिणः,
समाधियोगस्य श्रुतशीलबुद्ध्याः।
सम्प्राप्तुकामोऽनुत्तराणि,
आराधयेत् तोषयेद्धर्मकामी ॥१६॥

१६—अनुत्तर ज्ञान आदि गुणों की सम्प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मुनि निर्जरा का अर्थी होकर समाधियोग, श्रुत, शील और बुद्धि के[२३] महान् आकर, मोक्ष की एषणा करने वाले आचार्य की आराधना करे और उन्हें प्रसन्न करे।

१७—सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं
सुस्सूसए आयरियप्पमत्तो।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे
से पावई सिद्धिमणुत्तरं॥
त्ति बेमि।

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितानि,
शुश्रूषयेत् आचार्यमप्रमत्तः।
आराध्य गुणाननेकान्,
स प्राप्नोति सिद्धिमनुत्तराम् ॥१७॥
इति ब्रवीमि।

१७—मेधावी मुनि इन सुभाषितों को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणों की आराधना कर अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त करता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।